वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक १२ : कार्तिक : २०२६

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]



संस्थापक एवं आद्यसंपादक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक

श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

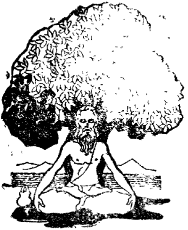
वी. पी. से रु. ७.००, विदेशके लिये रु. ८.०० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिक धर्म

मित्रदेवका विशाल संरक्षण

वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे ।
अनेहसस्त्वोतयः सत्रा वरुणशेषसः ॥
(ऋ० ५।६५।५)



(वयं) हम (मित्रस्य) मित्रदेवके (सप्रथस्तमे अवसि) विशाल संरक्षणमें (स्याम) रहें। (वरुणशेषसः) वरुण-देवकी हम सन्तानें (त्वा ऊतयः) तेरे संरक्षणोंको प्राप्त करके (अनेहसः सत्रा) पापरहित और संगठित होकर रहें।

हम सब मित्र और वरुणदेवकी सन्तान हैं। अतः हम इन देवोंका संरक्षण प्राप्त करके पापरहित हों और संगठित होकर इन देवोंके विशाल संरक्षणमें रहें।

लोकोत्तरगुणो महात्मा श्री गान्धि

(डॉ. श्री हरिदत्त पालिवाल ' निर्भय ')

卐

आसीत्पुरा भारतदेश एषो-
ऽति नन्दनः सर्वसमृद्धिरम्यः ।
पुनः पुनर्दस्युभिराहृतश्री-
रपि श्रियं प्राभृत वीरवारः ॥ १ ॥

कोई समय था जब भारत सर्वसम्पत्तियोंसे रमणीय नन्दन वनसे भी अधिक सुन्दर था । दस्युओंसे पुनः पुनः सम्पत्ति लूटे जानेपर भी वीरसेना युक्त शोभा और सम्पत्तिको बहुत कुछ धारण कर रहा था ॥ १ ॥

मुहुर्मुहुर्दाव-कठोरदग्धं
सदप्यहो यद्धरितत्वमेति ।
तदत्र मूलेषु सुधां महीयं
ददाति तान्यत्तुमना विचित्रः ॥ २ ॥

दावाग्निसे बार-बार अत्यन्त दग्ध होकर भी जो यह हरा भरा हो जाया करता है उसका कारण यह है कि यहांकी यह भूमि इसके मूलमें अमृत भर दिया करती है अतः उन मूलोंको खा डालनेका मन किये हुए विचित्र ॥ २ ॥

दृशा स गृद्ध्रोऽपि दृशा न गृद्ध्रो
नानेकवक्त्रोऽपि स भूरिवक्त्रः ।
अपि द्विपात् सञ्छतपादचारी
विनापि पुच्छाद्दति पुच्छवान् सः ॥ ३ ॥

(जो) वह आंखसे गृध्र होनेपर भी देखनेमें गृध्र नहीं था, एक मुख होनपर भी अनेकों मुखवाला था । द्विपाद (मनुष्य) रूप भी सैकडों पैरोंसे चलता था, बिना पुच्छ भी पुच्छवानोंसे बढाचढा अथवा दीर्घ पुच्छवान् था ॥ ३ ॥

स वानरात्माऽपि भुवा नरात्मा
सिताङ्गकल्पोऽप्यसिताङ्गकल्पः ।
वस्त्रावृताङ्गोऽपि विवस्त्रनृत्यः
कृत्या प्रसिद्धश्च स कृत्यसिद्धः ॥ ४ ॥

वानरात्मा (वानर सन्तान) होनेपरभी वह जन्मसे नरात्मा (मनुष्य शरीर) था, शरीरसे श्वेत वेष तथा हंस जैसा होनेपरभी कुछ कृष्ण शरीरवालों (काले पक्षियों) से मिलता-जुलता था । वस्त्रावृत होनेपरभी नग्न नृत्य करता था ॥ ४ ॥

सुराप्रसक्तः स सुरा प्रसक्तो
रजो हितोऽङ्गेषु रजोहितश्च ।
समाहितात्मा हि समाहितात्मा
कूटेषु कूटेषु विमोकदक्षः ॥ ५ ॥

वह मद्यपान-प्रसक्त, देवोंमें अप्रसक्त हस्तपादादि अङ्गोंमें नीरजस्क (उज्ज्वल) रजोगुणसे प्रेमवाला, कूट नीति प्रयोगोंमें सावधान- कूट (छल रूप) बाण छोडनेमें निपुण सर्पतुल्य अहितात्मा था ॥ ५ ॥

देवागमानामवनीं वनीं हा
काम्यां सुवर्णप्रसवां पवित्राम् ।
उपाययावुत्तर पश्चिमायाः
सत्त्वो विसत्त्वः किल भारतं नः ॥ ६ ॥

देव ज्ञान-विज्ञान-पुराण तथा देव तरुओं (कल्पवृक्षों) की वनी (अरण्य) कामनाओंके लिए हितकारिणी, सुवर्ण फल पुष्पवती पवित्र हमारी भारत भूमिमें सत्त्वगुण वर्जित सत्त्व (जीव) उत्तर पश्चिम दिशासे आया ॥ ६ ॥

उत्खाय मूलान्यति तीक्ष्णदंष्ट्रया
सोऽसिस्वदत्स्वैरचरः शनैः शनैः ।
पर्णानि जग्रास पयो मधूनि च
स्वादूनि पुष्पाणि फलानि चाग्रसत् ॥७॥

सुतीक्ष्ण दंष्ट्रासे मूलोंको उखाडकर स्वतन्त्रचारी वह शनैः शनैः उनका स्वाद लेने लगा । पत्रोंको खा गया, मधु पी गया, स्वादिष्ट फल पुष्पोंको निगल गया ॥ ७ ॥

असौ गजस्येव पदैर्महाभरे-
र्महाप्रदेशानधिकृत्य तस्थिवान् ।
नरोत्तमान् पुण्यपशून् धनं मणीन्
नृपान् प्रजां चापि स युक्ति लीढवान् ॥८॥

महा भारवान् गजतुल्य पदोंसे (भारतके) महान्-महान् प्रदेशोंपर अधिकार करके वह स्थिर हो गया था और युक्तिपूर्वक उत्तम पुरुषों, धन, मणियों, राजाओं और प्रजाको चाट गया ॥ ८ ॥

केचिद्विमुग्धां अति रक्षसं जनाः
प्रमेनिरेऽमुं जनरक्षकं बत ।
अन्ये त्वमन्यन्त जगल्लयोदयं
दयोज्झितं मानवदेहदर्शनम् ॥ ९ ॥

कुछ लोग अज्ञान वश इसको जनरक्षक माने हुए थे—यह खेदकी बात थी, यह राक्षसोंसे भी अधिक बढा-चढा हुआ था । अन्य पुरुष (जो विवेकशील थे) इसे मनुष्य शरीरमें दृष्टिगोचर होनेवाले, दयाशून्य अत्यन्त जगद् विनाशके लिए उदित मानते थे ॥ ९ ॥

कैश्चित्तु दृष्टो मधुराननोऽसौ
व्यालाननोऽन्यैर्गरलं विमुञ्चन् ।
माया-कला-कौशल-जृम्भितस्य
जनैर्हृदन्तर्विदितं न तस्य ॥ १० ॥

बहुतोंने उसे मधुर मुख देखा, अन्योंने विषवमन करते हुए उसे व्याल-मुख देखा । माया-कला-कौशलसे बढे हुए उसके हृदयका रहस्य लोगोंने जान नहीं पाया ॥ १० ॥

अथो हा हा कारम् कृतवति जने त्रस्तहृदये
भृशार्ते पीडाभिर्भगवदनुकम्पा समभवत् ।
दयामूर्तिः कश्चित् सकलहितमिच्छन्नरवरो
महात्यागी गांधीत्युपकृतसदाह्वः समुदगात् ॥११॥

अब प्रजामें हाहाकार होने लगा, प्रजाके हृदयमें भय उत्पन्न हो गया था, पीडासे अत्यन्त दुःखित थी, भगवान्‌की कृपा हुई, सर्वहितकांक्षी महान् त्यागशील, दयामूर्ति, नर श्रेष्ठ ' गांधी ' शब्दको उपकृत करनेवाले पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ११ ॥

स हि मोहनचन्द्रनामतः
पितृभिः ख्यातिपथे प्रवर्तितः ।
नवयौवनवानपि स्ववा-
नपि निर्बन्ध-धनाप्तिमानपि ॥ १२ ॥

जनतार्ति निवर्हणोत्सुकः
सकलं स्वार्थकदम्बमक्षिपत् ।
वयसेप्सितमुत्तमोत्तमं
व्यजहाद्भोगमपि व्रतीयती ॥ १३ ॥

माता-पिताने उनका नाम मोहनदास कर्मचन्द्र गांधी रक्खा था, धन सम्पन्न, युवा और निरन्तर धन लाभमान होनेपर भी वह जनकष्ट निवारणार्थ उत्कण्ठित हो गये, समस्त स्वार्थोंका उन्होंने त्याग कर दिया, यौवनके अभीष्ट उत्तमोत्तम भोगका त्याग किया, व्रत लेकर योगी हो गये । १२-१३॥

स्नेहबान्धवसुहृद्गणवाञ्छा-
मर्थकामविषयां समुपेक्ष्य ।
लोकदुःखहरणाय सहेलं
तेन यातु-पशुना समयौत्सीत् ॥ १४ ॥

स्नेही बन्धु-मित्रोंकी इच्छा थी कि वह धन और भोगोंको प्राप्त करें, उसे उपेक्षित कर लोकपीडा-निवारणार्थ वह उस राक्षसवृत्ति पशुसे सतिरस्कार भिड गये ॥ १४ ॥

अयं निरस्त्रोऽपि दृढ क्षमास्त्रोऽ-
संवर्मितश्चासहयोगवर्मा ।
सहायहीनोऽप्यसहायदीन-
सहायवान् द्वेषिणमाजुहाव ॥ १५ ॥

निरस्त्र होते हुए भी उन्होंने दृढ-क्षमा-अस्त्रको लिया, वर्महीन होते हुए भी असहयोग वर्म धारण किया, सहाय हीन होनेपर भी असहाय दीनोंको साथ लिया और शत्रुको ललकारा ॥ १५ ॥

स भारतीयासृजि वृत्तवक्त्र
आसीत्तदानीं रिपुरफ्रिकायाम्।
तत्रैव गत्वा गतभीः स गांधी
जग्राह तुण्डं सहसा तदीयम् ॥ १६ ॥

उन दिनों शत्रु अफ्रीकामें भारतीय रक्तपान कर रहा था, गांधीजी वहीं पहुँचे और निर्भयतापूर्वक उसके मुखको सहसा पकड लिया ॥ १६ ॥

रुषा रुणाक्षोऽथ स यातु जन्तु-
र्घोरारवोऽमुं नखरैः कठोरैः।
विकर्तितुं प्रावृतदात्तसत्त्वो
घातान्प्रसेहे प्रखरान्स गांधी ॥ १७ ॥

तदनंतर क्रोधसे रक्त नेत्रवाले घोर गर्जना करते हुए उस राक्षस पशुने इनपर कठोर पजोंसे प्रहार कर मांस नोचना आरम्भ कर दिया, श्री गांधीजीने सत्त्वका अवलम्बन कर उसके कठिनतम प्रहारोंको सहन किया ॥ १७ ॥

पराजितं तं प्रविधाय भग्न-
तुण्डं क्षमास्त्रेण कठोरवर्मा।
प्रशस्यमानोऽद्भुतकर्मशाली
त्रातैः स लोकैर्बहुमानितोऽभूत् ॥ १८ ॥

कठोर कवचधारी उन गांधीने उनका क्षमा अस्त्रसे मुख तोडकर उसे पराजित कर दिया, उन्होंने लोक रक्षा कर दी, अद्भुत कर्मशाली उन गांधीजीकी प्रशंसा करते हुए लोगोंने बडा सम्मान किया ॥ १८ ॥

तमाफ्रिकायामति रौद्रशत्रुं
लोकान्तकं शान्तबलं विधाय।
समागतः स्वं विषयं प्रसन्नः
कृती पुनर्भारतमेकवीरः ॥ १९ ॥

लोकान्तकारी उस अतिरौद्र शत्रुका बल अफ्रिकामें शान्त कर वह अद्वितीय वीर कृतार्थ एवं प्रसन्न होकर पुनः अपने देश भारत आ गए ॥ १९ ॥

वक्त्रैकखण्डनमहाभिभवात्ततीव्र-
रोषो महारिपुरसौ रसरक्तमांसम्।
वक्त्रैः परैर्निशितदीर्घकठोरदन्तै-
रत्तुं प्रवृत्तिमदधादथ भारतस्य ॥ २० ॥

एक मुखके खण्डनरूप महान् पराभवके कारण तीव्र रोषमें भरकर वह महान् शत्रु अन्य मुखोंसे, तीक्ष्ण दीर्घ कठोर दांतोंसे भारतके रस रक्त मांसको खाने लगा ॥ २० ॥

शान्तिप्रियोऽशेषजगद्धितेच्छु-
र्हिंसामहिंसास्त्रबलेन जिष्णुः।
घोरे हि तस्याभिनिविष्टमाया-
बलस्य दोषान्समपानिनीषुः ॥ २१ ॥

शांति प्रिय, अशेष लोक हिताकांक्षी, अहिंसास्त्र-बलसे हिंसा पर विजय पानेवाले घोर कर्मा, मायाबल पर डटे हुए शत्रुके दोषोंको खींचकर निकाल डालनेकी इच्छा वाले ॥ २१ ॥

मनुष्यतां तस्य यशोविधित्सु-
र्दयादिसौजन्यमुपानिनीषुः।
क्षमाकशाभिर्विभवः स गान्धि
रतीतडन्नाजनयन्तु पीडाम् ॥ २२ ॥

उसे पशुसे मनुष्य बना देनेकी इच्छावाले, दया आदि सज्जनता गुणोंकी ओर झुकानेके इच्छुक निर्भय उन गांधीजीने क्षमाके कोडोंसे ताडन किया तो भी पीडा नहीं होने दी अथवा पुरुष गांधीजीने क्षमाके कोडोंसे ताडन किया और पीडामात्र ही उत्पन्न की ॥ २२ ॥

जवाहराद्यैरनुगम्यमानः
स्वदेश रक्षाव्रतिभिर्नृवीरैः।
दन्तानभांक्षीत्प्रसितो विकुण्ठा-
नकल्पयद्दुर्नखपञ्जराणि ॥ २३ ॥

स्वदेश रक्षाव्रती नरवीर श्री जवाहरलाल नेहरू आदि को साथ लिए हुए श्री गांधीने तत्परतासे दांत तोड दिये और दुष्ट नखों युक्त पंजे भोथरे कर दिए ॥ २३ ॥

अन्यल्पसार्थोऽपि न जीयतेऽसौ
जीर्ये ममाङ्गानि च यान्ति भङ्गम्।
इत्येव शत्रुः प्रबलां स्वकीयां
मायां ससेनां नियुयोज युद्धे ॥ २४ ॥

इस (गांधि) के थोडेसे साथी है तो भी मै इसे हरा नहीं पा रहा हूं, मेरे अंङ्ग नष्ट हो रहे हैं। अतएव शत्रुने सेना समेत अपनी प्रबल मायाको युद्धमें नियुक्त कर दिया ॥ २४ ॥

असत्यहिंसा-दमनच्छलादिभि-
मीया ययौ तस्य रणाय गान्धिना।
सत्याग्रहाऽच्छद्म दयाः सशान्तयो
गान्धेश्च पक्ष्या अभवन् यथा पुरा ॥२५॥

उसकी माया असत्य हिंसा, दमन अथवा हिंसा द्वारा दमन, छल आदिकोंके द्वारा गांधीजीसे युद्ध करने आ गई, गाधीजीके पक्षमें पूर्ववत् सत्याग्रह, निष्कपटता, दया, शान्ति सहित बने रहे ॥ २५ ॥

हिंसाविहारी सकलापकारी
कलापकारी विविधच्छलानाम् ।
सिताङ्गरूपोऽसितकर्मधारी
स भारतारी रणमाततान ॥ २६ ॥

हिंसा विहारी, सर्वापकारी, विविध छलोंका जाल बनानेवाले, हंसवत् उज्ज्वल किन्तु काले कारनामोंवाले उस भारत-शत्रुने रण बढा दिया ॥ २६ ॥

नानाविधारण्यकहिंस्रजन्तु-
रूपैरसौ यैर्ददृशे समायः ।
क्षमायुधोऽयं किल तानि गान्धि-
र्निराकरोन्मन्त्रबलेन शान्तः ॥ २७ ॥

उस मायावीको जिन-जिन अनेक प्रकारके जंगली हिंसक जन्तुओंके रूपोंके देखा गया, उन सभीको क्षमा-शस्त्रधारी शांतस्वरूप श्री गांधीजीने मन्त्रबलसे नष्ट कर दिया ॥२७॥

कियानसि त्वं किमुतासि वस्तु
मत्संमुखे कोऽपि रणे न तिष्ठेत् ।
गांधे ! मम त्वं न विरोधमेया
मनुष्यरूपादगदीत्स जन्तुः ॥ २८ ॥

तू कितना है और क्या वस्तु है ? मेरे सम्मुख युद्ध करनेकी शक्ति कोई भी न रखे । गांधी ! तू मेरा विरोधी मत बन "—मनुष्यरूपमें उस जन्तुने कहा ॥ २८ ॥

नाहं विरोधं भवतः करोमि
निराकरोमि त्वगुणानपथ्यान् ।
अरण्यजन्तुत्वमपास्य दोषं
मनुष्यतां कर्तुमहं प्रवृत्तः ॥ २९ ॥

मैं आपका विरोध नहीं करता हूं । मैं दोषोंको दूर करता हूं । उनसे अहित होता है । जंगलीपन दोषको मिटाकर मैं मनुष्यता लानेको प्रवृत्त हूं ॥ २९ ॥

मायामयीं राक्षसवृत्तिमुज्झे-
स्त्वं भारतं मा मरुतां नयश्च ।
नये समातिष्ठ. परार्थघातः
स्वार्थाय ते नाशपथो निरूढः ॥ ३० ॥

माया प्रधान राक्षसी वृत्ति छोडो, तुम भारतको मरुभूमि मत बनाओ । नीति पर रहो, स्वार्थसिद्धिके लिए परार्थघात तुम्हारे लिये पक्का नाशका मार्ग है ॥ ३० ॥

स्वयं यदि त्वं मनुजाकृतिः सन्
मनुष्यधर्मं कुलजं स्वदीयम् ।
दधास्यमायं भवसीह मान्य-
स्त्वया तदा मे सहयोग एव ॥ ३१ ॥

मनुष्य कृतिमें रहते हुये यदि तुम अपने कुलोचित मनुष्य धर्मका पालन करो, माया छोडो तो यहां (भारतमें) माननीय बने रहोगे और तुम्हारे साथ हमारा सहयोग रहेगा ही ॥ ३१ ॥

न व्याघ्रतां धेहि जहीह्यहित्वं
मा कोलतां या महिषत्वमुज्झ ।
मातङ्गतां मुञ्च वह स्वधर्मं
त्वयाऽन्यथा मेऽसहयोग एव ॥ ३२ ॥

व्याघ्रत्व, अहित्व (सर्पत्व छोडो, शूकर मत बनो, भैंसा होना त्यागो, जंगली हाथीपन दूर करो, अपने धर्मपर रहो, अन्यथा तुम्हारे साथ हमारा असहयोग बनाही रहेगा ॥३२॥

इत्यन्वशाच्छान्तिमयैर्वचोभि
र्लोकप्रियो लोकहितो महात्मा ।
तं विद्विषन्तं विपथे चरन्तं
नयाकृतिं चानय मानयन्तम् ॥ ३३ ॥

विरुद्ध पथ गामी अनीतिको नीतिका चोला पहनानेवाले उस विद्वेषीके लिए लोकप्रिय, लोकमित्र महात्मा (श्री गांधीने) शान्तिमय वचनोंसे अनुशासन किया ॥ ३३ ॥

सोऽप्येन माह स्म न मत्पथे त्वं
पदं निधे ह्यापदवाप्तये स्वम् ।
पश्येर्भुशुण्डीर्मम दीर्घनादाः
पश्येः शतघ्नीः प्रलयानुवादाः ॥ ३४ ॥

उसने भी इनसे कहा- 'तुम आपत्तिमें पडने के लिये मेरे पथपर अपना पैर न रक्खो । गरजनेवाली हमारी बन्दूकें और प्रलयका अनुवाद करनेवाली तोपें देखो ॥ ३४ ॥'

पाथो निधौ वीतभयस्तरामि
व्योमन्यशङ्कः सजयं चरामि ।
सर्वत्र पादा मम संचरन्ति
तन्मे विरोधो गुरुहानयेऽस्ति ॥ ३५ ॥

मैं समुद्रमें निर्भय तैर सकता हूं, आकाशमें सवेग चलता हूं, मेरे पैर सर्वत्र जाते हैं अतः मेरा विरोध बडी हानिके लिए है ॥ ३५ ॥

क्षमा दया सत्यशमान्यहिंसा-
पराङ्मुखत्वाय सशैलकोटौ ।
इमा भुशुण्ड्यः प्रलयानुवादा
महाशतघ्न्यो विफला भविष्यः ॥ ३६ ॥

क्षमा, दया,, सत्य परहिंसा परांमुखता रूप लोह गिरि कोटिपर ये भशुण्डियं, प्रलयानुवादिनी बडी-बडी तोपे विफल हो जायेंगी । ३६ ॥

पादास्त्वदीया-गति भञ्जनेन
द्रक्ष्यन्ति लोका विफलानिहाशु ।
निशावसानेऽरुणरश्मिस्तरे
चारान्सहाक्षीनिव कौशिकानाम् ॥ ३७ ॥

निशावसानमें अरुण किरण सचार होनेपर नेत्रों समेत उलूकोंकी गतियोंके तुल्य गति तोड देनेसे तुम्हारे पैरोंको लोग शीघ्रही निष्फल देखेंगे ॥ ३७ ॥

उदीर्य गान्धीति तमाह सैन्यैः
कुरु प्रहारं मयि पूर्णशक्त्या ।
द्विषत्तमोऽप्येनमनीतिशस्त्रै-
र्हिंसादिभिर्योधयितुं प्रवृत्तः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार कह कर गांधीजीने उससे कहा- मुझपर सेनाओं सहित पूर्ण शक्तिसे प्रहार करो । ' अत्यन्त शत्रु भी अनीति शस्त्रधारी हिंसादिकोंके साथ इनका युद्ध करानेके लिये प्रवृत्त हो गया ॥ ३८ ॥

घोरान् प्रहारान् प्रविषह्य तेषां
क्षमायुधः सन् निचकार धीरः ।
सत्याग्रहाद्यैर्निजसैन्यमुख्यै-
स्तेषां प्रयासानफलीचकार ॥ ३९ ॥

धीर गांधीजीने उनके घोर प्रहारोंको सहन कर क्षमास्त्रसे तुच्छ कर दिया । अपनी सेनामें सत्याग्रह आदिकोंसे उनके प्रयत्नोंको निष्फल कर दिया ॥ ३९ ॥

मांचेस्टराख्यं वदनं महोग्रं
विश्वकप्रसारं लवणाख्यवक्त्रम् ।
इत्यादि वक्त्राणि बहूनि शान्ति-
रणे महात्मा द्विषतो बभञ्ज ॥ ४० ॥

शांति संग्राममें महात्मा गांधीने शत्रुके सर्वतः प्रसारी अत्युग्र मांचेस्टर और लवण आदि अनेक मुखोंको तोडा था ॥ ४० ॥

महाहवेऽस्मिन्नरिणा नरोत्तमा
देशस्य रत्नानि सुदुर्लभानि ये ।
व्यालेन जग्धा यशसस्तु विश्रुतिं
तेषां न लोकादपसितुं क्षमोऽभवत् ॥ ४१ ॥

इस महायुद्धमें, देशके जो अत्यन्त दुर्लभ रत्न उत्तम पुरुष थे उन्हें दुष्ट अथवा नागरूपी शत्रुने खा डाला, परन्तु लोकसे उनकी यशःख्यातिके निगीर्ण करनेमें वह असमर्थ रहा ॥ ४१ ॥

शान्त्यर्णवं दुस्तरमाभिमुख्ये
महात्मनोऽरिः समुदीक्षमाणः ।
सुभाष वीरेण च पार्श्वतोऽग्नि
विसृष्टमुग्रं समवेक्ष्य भीतः ॥ ४२ ॥

शत्रु सम्मुख महात्माजीके दुस्तर शांति समुद्रको देख रहा था, इधर आसपाससे वीर सुभाषकी लगाई उग्र अग्निको देखा, वह भयभीत हो गया ॥ ४२ ॥

आरोचयद् भारततः पलायनं
दन्ताभिघातेन विधाय खण्डनम् ।
स भारतेऽस्मिन् हृदयं निजं पुन-
र्विविक्षया हन्त विसृष्टवानरिः ॥ ४३ ॥

तो उसने दांतके प्रहारसे दो टुकडे कर भारतसे भाग जाना ही पसन्द किया । किन्तु इव भारतमें पुनः प्रवेश की इच्छासे अपने हृदयको यहां छोड दिया है ॥ ४३ ॥

फलं जयस्यास्य विमुक्तसंगः
स्वयं महात्मा बुभुजे न किंचित् ।
अतिष्ठि यच्छासनमत्र वीर-
जवाहराद्येषु जनप्रियेषु ॥ ४४ ॥

अनासक्त महात्माने इस विजयके किसी फलका स्वयं उपभोग नहीं किया । लोकप्रिय जवाहरलाल आदि पर यहाँ का शासन स्थापित कर दिया ॥ ४४ ॥

क्षीरकोषा इमा अस्तदोषाः सदा
वत्सदाः सस्यवल्यप्रदाः प्राणदाः ।
सर्वलोकस्य गामीयमानाः खलै-
र्वीक्षमाणो भवान्क्वास्यहिंसाव्रती ॥ ४५ ॥

सदा दोषरहित, क्षीर निधि, वत्स दायिनी; अन्नोत्पत्ति बलदायक खाद्य देनेवाली सर्व लोकप्राण दानकारिणी इन गायोंका खलोंसे वध होता देखते हुए हे अहिंसाव्रती, तुम कहाँ हो ? ॥ ४५ ॥

राममन्त्रानुरागी महात्यागवान्
धैर्यवाञ्छीलवान्सत्यवान् सक्षमः ।
सर्वलोकस्य कल्याणमिच्छन् सुधी-
र्देववाणीप्रियः क्वास्ति गांधी निधिः ॥ ४६ ॥

राममन्त्रानुरागी, महात्यागवान् धैर्यशील, सत्य सम्पन्न क्षमावान्, सर्वलोक हितकांक्षी, धीमान् संस्कृत-प्रेमी श्री गांधी निधि कहां है ? ॥ ४६ ॥

× × ×

विश्वका अद्भुत जादू ' गोदुग्ध '

(लेखक— श्री डॉ. शिवपूजनसिंह कुशवाहा)

卐

वेद और गोदुग्ध– वेदोंमें गोदुग्धकी पर्याप्त प्रशंसा की गई है। प्रत्येक मानवको गायका दूध, घृत,मक्खन, मलाई ही भक्षण करना चाहिए, गोमांसका भक्षण नहीं करना चाहिए। गोवध–निषेधका प्रबल समर्थन किया गया है। गायको अघ्न्या, अदिति, अही कहा गया है जिससे प्रकट होता है कि गौका हनन नहीं करना चाहिए।

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्या-
नाममृतस्य नाभिः। प्र णु वोचं चिकितुषे जनाय
मा गामनागामदितिं वधिष्ट।

(ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त १०१ मंत्र १५)

अर्थ – " गो वसु, रुद्र और आदित्योंकी कन्या, माता और बहिनके समान है, यह दूधरूपी अमृतकी जननी है। मैं सम्यग्ज्ञानीको कहता हूं कि तू निरपराध तथा जिसका नाम अदिति[1] है उस गौको न मार।"

इसमें प्रदर्शित किया गया है कि वसु, रुद्र व आदित्य ब्रह्मचारियोंके लिए गौ कन्या, माता व बहिनके समान हितकारिणी है; क्योंकि गौके ही सात्त्विक दूध, दही, घृत व मक्खनके सेवनसे ब्रह्मचारी रजस व तामस भावोंपर विजय पाकर अपना अपना अपना व्रत पूर्ण करते हैं। मन्त्रमें गो दुग्धको अमृत कहा गया है।

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥

(यजुर्वेद १३।४९)

महर्षि दयानन्द भाष्य-" हे (अग्ने) दयाको प्राप्त हुए परोपकारक राजन्! तू (जनाय) मनुष्यादि प्राणीके लिए (इमम्) इस (साहस्रम्) असंख्य सुखोंका साधन (शतधारम्) असंख्य दूधकी धाराओंके निमित्त (व्यच्यमानम्) अनेक प्रकारसे पालनके योग्य (उत्सम्) कुएंके समान रक्षा करने हारे वीर्यसेचक बैल और (घृतम्) घीको (दुहानाम्) पूर्ण करती हुई (अदितिम्) नहीं मारने योग्य गौको (मा हिंसीः) मत मार....।"[2]

यह मंत्र शतपथब्राह्मणमें भी आया है—

" अथ गोः। ' इमं साहस्रं शतधारमुत्सम्' इति साहस्रो वा ऽएष शतधार उत्सो यद् गौ " व्यच्यमानं सरिरस्य मध्य " ऽइत्तीमे वै लोकाः सरिरमुपजीव्यमानमेषु लोकेष्वित्येत ' द्घृतं दुहानामदितिं जनाये' ति घृतं वाऽएषादितिर्जनाय दुहेऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्नि " तीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वैनं मा हिंसीरिति।"

(शतपथब्राह्मण, का. ७, प्र. ४, अ. ५, ब्रा. २, कण्डिका ३४)[3]

---

१. ' अदिति ' शब्द निघण्टु २।११ में है। इसके निर्वचनमें निघण्टुकी टीकामें श्री देवराज यज्वा लिखते हैं " न द्यति, अखण्डनीया वा " गौका नाम अदिति इसलिए है कि वह ' अखण्डनीया ' है अर्थात् उसके अंगोंको टुकड़ोंमें नहीं करना चाहिए। अदिति = अ + दो (काटना) + ति = जो काटने योग्य नहीं। [लेखक].

२. " यजुर्वेदभाष्यम् " द्वितीयो भागः, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ २२९.

३ " शतपथब्राह्मणम्, द्वितीयो भागः, पृष्ठ ६३४–६३५ [सन् १९५०, वि. संवत् २००६ में चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी द्वारा प्रकाशित]

अर्थ— " अब गौका वर्णन करते हैं। गौ निश्चयसे सैंकडों तथा सहस्त्रोंका धारण करनेवाला दुग्धकूप है। गौ इन लोकोंमें जीवनका आधार है। यह मनुष्योंको घृत देती है। इसका नाम अदिति है। अत. इन लोकोंमें इसकी हिंसा न कर। "

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः। ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥
(अथर्व० काण्ड० १०, सूक्त १०, मंत्र ५)

अर्थ— " इस गौके पीछे सौ गोप, सौ दुहनेवाले तथा सौ मनुष्य दुग्ध-पात्र लिए खडे हैं। जो देवता गौके द्वारा जीवन धारण करते हैं, उनमेसे प्रत्येक इस वशा गौको जानता है। "

" वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥"
(अथर्व० १०।१०।३१)

अर्थ— जो साध्य और वसु नामके देव हैं, वे वशा (दुधारु गाय) गौका दुग्धपान कर सुखधामके परमोच्च स्थानमें उसके दूधकी पूजा करते हैं। गौके दूधकी पीडा आदि रहित सुखमय स्थानमें सब देव (विद्वान्) बैठकर जब बातें करते हैं, तब वे गोदुग्धकी ही चर्चा करते हैं। "

अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नगमा भवन्ति ' गोभिः श्रीणीत मत्सरम्। (ऋ० ९।४३।४) इति पयसः। मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः।
(निरुक्त अ० २।ख. ५)

इसकी व्याख्या टीकाकार श्री दुर्गाचार्य करते हैं—

अथाप्यस्यामेव पशुगवि, ताद्धितेन प्रयोगेना- कृत्स्नायां सत्वां कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति। तद्यथा गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति गोरेक- देशस्य पयसः कृत्स्नवत्प्रयोगः।

अर्थात्— वेदोंमें गौ शब्द गौके एकदेश दूधके लिए भी प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरणमें यास्काचार्यजीने " गोभिः श्रीणीत मत्सरम् " यह मंत्रभाग उपस्थित किया है। इसका अर्थ यह है कि " गौओंके साथ मत्सर (सोम) को पकाओ। " इस अर्थसे यह भाव सूचित होता है कि गोमांसके साथ सोमरसको पकाओ। परन्तु यह भाव यहां नहीं है। यास्कजी कहते हैं कि ऐसे स्थानोंमें गौका अर्थ " गोदुग्ध " हुआ करता है। इसलिए " गौओंके साथ सोमको पकाओ " इसका तात्पर्य होगा कि " गौओंके दूधके साथ सोमरसको पकाओ " न कि गो-मासके साथ। जिस नियम द्वारा गौ शब्दसे गोदुग्ध अर्थ लिया जाता है उस नियमको " ताद्धित नियम कहते हैं।

इसी प्रकार वेदोंमें गायों द्वारा यज्ञ करनेका जहां जहां वर्णन हो वहां वहां ताद्धित-नियम द्वारा गौ शब्दसे गोदुग्ध रूपी अर्थ समझना चाहिए, न कि गोमांस।

दधि मधु घृतमापो धाना भवन्त्येतद्वै पशूनां रूपम्। रूपेणैव पशूनवरुन्धे।
(यजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिता, कां. २, प्र ३, अनु. २, खं.८)

अर्थ— दही, मधु घृत, आप. (जल, दूध), भुने हुए जौ-ये निश्चयसे पशुओंके रूप हैं, इन रूपोंके द्वारा ही पशुओंका अवरोध करता हूं।

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे। वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजिनीभिर्जयेम ॥
(अथर्व० ७।५०।७)

अर्थ— हे पुरुहूत प्रभो! हम सब, दुर्व्यवहारकी उत्पादक कुमति और बुद्धिकी कमीको, गायोंके दूधके सेवनसे दूर करें। हम सब जौ आदि अन्नोंके द्वारा भूखको दूर करें। इस प्रकार हम सब नीरोगी हों तथा हम सब, सेनाओंके द्वारा राजाओंके कोषोंको जीतें।

इस मत्रमें निर्देश है कि गोदुग्ध सद्बुद्धिवर्धक है।

लाजीञ्छाचीन्यव्ये गव्यऽएतदन्नमत्त देवाऽएतद- न्नमद्धि प्रजापते। (यजुर्वेद २३।८)

महर्षि दयानन्द भाष्य— हे (देवाः) विद्वानो! तुम (यव्ये) यवोंके खेतमें उत्पन्न (गव्ये) गौके दूध, दही आदि उत्तम पदार्थमें मिले हुए (एतत्) इस (अन्नम्) अन्नको (अत्त) खाओ तथा (लाजीन्) अपनी अपनी कक्षामें चलते हुए (शाचीन्) प्रगट (भूः) इस प्रत्यक्षलोक (भुवः) अन्तरिक्षस्थलोक और (स्वः) प्रकाशमें स्थिर सूर्यादि लोकोंको प्राप्त होओ।[४]

इस मंत्रमें कहा है कि कृषिसे उत्पन्न अन्न तथा गौसे उत्पन्न हुए दुग्ध आदिका ही सेवन करें।

४. " यजुर्वेद भाष्यम् " तृतीयो भागः, द्वितीयावृत्ति, अजमेर, पृ. १२०

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ॥

(अथर्व० काण्ड १९ सूक्त० ३१, मंत्र० ५)

पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी — (अहम्) मैंने (चतुष्पदाम्) चौपाये और (द्विपदाम्) दो पाये (पशुनाम्) जीवोंकी, (च) और (यत्) जो (धान्यम्) धान्य है, [उसकी भी,] (पुष्टिम्) बढतीको (परि) सब ओरसे (जग्रभ) ग्रहण किया है। (पशूनाम्) पशुओंका (पय) दूध और (ओषधीनाम्) ओषधियों [सोमलता अन्न आदि] का (रसम्) रस (बृहस्पति.) बडे ज्ञानोंका रक्षक , सविता) सर्वप्रेरक (गृहपति वा परमेश्वर) (मे) मुझे (नि , नित्य (यच्छात्) देवे ।[5]

इस मंत्रमें स्पष्ट है कि, " महान् प्रभुने मेरे लिए पशुओं (गौ बकरी आदि) का दूध ही नियत किया है, मांस नहीं। "

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ। (अथर्व० काण्ड ४ सूक्त २७, मत्र ३)

पं. क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी :— (यं , जो तुम (कवय.) चलने फिरने वाले अथवा सुखानेवाले (मरुत् देवता) (धेनूनाम्) गौओंका (पय) दूध, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियोंका (रसम्) रस और अर्वताम्) घोडोंका (जवम्) वेग (इन्वथ) भर देते हो[6]

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ।
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनावरुन्द्धे ॥ २

(अथर्व. काण्ड ९. सूक्त ६, मंत्र १, २)

अर्थ — (स. य. एवं विद्वान्) वह जो इसप्रकार जानता हुआ श्रोत्रिय अतिथिका सत्कार करता हुआ उसके लिए (क्षीरम्–उपसिच्य–उपहरति) क्षीर–सुपक्व पाकरूप दूध, अन्य खाने योग्य भोजनके ऊपर डालकर या उसके साथ परोस कर समर्पित करता है (अग्निष्टोमेन–इष्ट्वा) वह अग्निष्टोमसे यजन करके (यावत् सुसमृद्धेन अवरुन्धे) तबतक उस सुसमृद्ध हुए अग्निष्टोमसे अपनेको यजमान अवरुद्ध करता है उसके फलसे समन्वित करता है (तावत्-अनेन अवरुन्धे) तब तक उतने समय तक इस क्षीर सुपक्व पाकभूत दूधसहित भोजन समर्पणसे अपनेको श्रोत्रियको सत्कार करनेवाला समन्वित करता फलयुक्त करता है।[7]

यहां अतिथिको गोदुग्ध तथा उनसे निर्मित पदार्थको खिलानेकी चर्चा है

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्।

(अथर्व० काण्ड ९, सूक्त ६ (३), मत्र ९)

पाश्चात्य वेदज्ञोंके चरण-चिन्होंपर चलनेवाले कतिपय भारतीय इस मंत्रका अर्थ करते है कि अतिथिको गायका मांस खानेके लिए देना चाहिए, दूध नहीं देना चाहिए परन्तु यह उन लोगोंका भ्रममात्र है।

श्री जयचन्द्रजी ' विद्यालंकार ' ने भी इस प्रकारका अर्थ अपने " भारतीय–इतिहासकी रूपरेखा " प्रथम जिल्द द्वितीय संस्करण[8] पृष्ठ २५१–२५२ में करते है। इसकी आलोचना भी मैंने की थी।[9]

श्रीस्वामी ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक विद्यामार्तण्ड ' का कथन है—

---

५ " अथर्ववेदभाष्यम्, एकोनविंशं काण्डम् प्रथमावृत्तौ, पृष्ठ ३७०७

६ वही, चतुर्थ काण्डम्, प्रथमावृत्तौ, पृष्ठ ८२०

७ स्वामी ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक, विद्यामार्तण्डकृत पुस्तिका " अथर्ववेदीय अतिथि सत्कार और मांस – शब्द विवेचन " पृष्ठ १२–१३ [सन् १९६१ ई में श्रीमती सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दयानन्दभवन, नई दिल्ली १ द्वारा प्रकाशित]. तुलना करो पं. क्षेमकरणदास ' त्रिवेदी ' कृतः अथर्ववेदः नवमं काण्डम्. पृष्ठ २११३ [१५ मई १९१७ ई. में मुद्रित तथा लेखक द्वारा प्रकाशित].

८ हिन्दुस्तानी एकेडमी, यू. पी , इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित।

९ देखो मेरी पुस्तिका " भारतीय इतिहासकी रूपरेखापर एक समीक्षात्मक दृष्टि " [जयदेव ब्रदर्स, आत्मारामपथ बडोदा १ द्वारा प्रकाशित]

+

"...श्रोत्रियके निमित्त जो सुपक्व पाकरूप दूध जो कि क्षीर नामसे कहने योग्य है जिसकारण लोकमें खीर नामसे प्रसिद्ध और सौराष्ट्रमें दूधपाक नामसे कहा जाता है उसे तथा रसमय रसवाला कालपक्व सुपक्व फल-वनस्पति फल है उससे निकला या निकाला हुआ मृदुभाग-नरम मांस शब्दसे कहा जाता है उस मानस मनःप्रसाद-मनके प्रसादकारक विशिष्ट पाक किए बादाम खजूर आदिसे बने मोहन भोग प्रसाद कड़ाह प्रसाद-कड़ा प्रसाद हलवा है उसे अवश्य न खावे। आपत्तिकालमें भी श्रोत्रिय स्तोतासे पूर्व उन दोनों अधिक, स्वादु वस्तुओंसे भिन्न साधारण अन्न भोजन तो खाने में कामाचार है यह स्पष्ट अर्थ है।"...[10]

पं० क्षेमकरणदासजी 'त्रिवेदी—

"(एतद्वै) यहाँ (उ) निश्चय करके (स्वादीयः) अधिक स्वादु है, (यत्) कि (तत् एव) उसी ही, (अधिगवम्) अधिकृतजल, (वा) और (क्षीरम्) दूध (वा) और (मांसम्) मनन साधक [बुद्धिवर्धक] वस्तुको (न) अब [अतिथिके जीमने पर-मं. ८] (अश्नीयात्) वह [गृहस्थ] खावे।"

भावार्थ-" गृहस्थको यही सुखदायी है कि अतिथिको अच्छे अच्छे रोचक बुद्धिवर्धक पदार्थ फल, बादाम, अखोट आदि जिमाकर आप जीमे, जिससे वह संस्कृत विद्वान् यथावत् उपदेश करे।"[11]

ब्रह्मचारी पं. उषर्बुधजी अपने लेख [12] में लिखते हैं—

(यत्) जो (अधिगवं क्षीरं) गायका दूध है, यही (स्वादीयः) पीने योग्य है। (एतद्वा उ अश्नीयात्) इसीको खावे (खोआ आदि बनाकर) (तदेव वा=अधिगवं) गायका (मांसं) मांस (नाश्नीयात्) कभी न खावे।

वस्तुतस्तु —इस मन्त्रमें 'एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा' यहाँ तक अर्धविराम है। एवं इस मंत्रसे पूर्व—

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय, यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्' मंत्रसे—

'अश्नीयात्' शब्दकी अनुवृत्ति है। अर्धविराम किसी भी वेदमें, प्रकट नहीं है। पाणिनीयव्याकरण अष्टाध्यायीके 'स्वरितेनाधिकारः'॥ १।३।११॥' के अनुसार मंत्रमें अर्धविराम है।..."

'गोदुग्ध' के समान पौष्टिक एवं अत्यन्त गुणवाला अन्य कोई पदार्थ विश्वमें नहीं है। यह इस लोकका अमृत है। सब दूधोंमें माताका दूध सर्वोत्तम है और माताका दूध छूटते ही गोदुग्धसे श्रेष्ठ दूसरा कोई भी नहीं हो सकता। मनुष्यको बचपनसे बुढापा तक सदैव गोदुग्धकी आवश्यकता रहती है। इससे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सभी शक्तियां विकसित एवं पोषित होती हैं।

'गोदुग्ध' में रासायनिक तत्त्व

दूधमें प्रोटीन ३.३, वसा ३ ६, शर्करा ४.९ और लवण ७.७५ तत्त्व है। दूधके प्रोटीनके मुख्य तीन विभाग हैं। (क) ऐल्ब्युमिन (ख) केसिन और (ग) लैक्टो गलोब्युमेन। ऐल्ब्युमिन वीर्यकी जातिका है और देरसे पचता है। दूधको गर्म करनेसे यह प्रथम तत्त्व उसकी मलाईके साथ अलग हो जाता है। दूसरा केसिन छेना जैसा है, जो केवल गर्म करनेसे अलग नहीं होता। उबलते हुए दूधमें खटाई (नींबूका रस या छेनेका पानी) डालनेपर उसका छेना अलग होता है। सब पशुओंमें दूधकी 'केसिन' एकसी नहीं होती। प्रोटीनोंमें दूधकी प्रोटीन सर्वोत्तम है क्योंकि इसमें सभी प्रकारके, 'एमिनोएसिड्स' का उचित एवं पूर्ण संमिश्रण है।

दूध और शर्करा

दूधमें शर्करा पायी जाती है, उसे दुग्धौज या लैक्टोज कहते है। दूधमें कुछ ऐसे विशिष्ट कीटाणु होते हैं, जो इस शर्कराको विभाजित करके 'दुग्धकाम्ल' में बदल देते हैं॥

इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

क १२, उ २२, ओ ११ + उ २, ओ = ४क, उ ३ क उ (ओ ३) क ओ ओ ३। जैसे ही दूध दुहकर अलग किया जाता है, वैसे ही यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, पर जब

---

१० "अथर्ववेदीय अतिथि-सत्कार और मांस शब्द-विवेचन" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९.

११ अथर्ववेदभाष्यम्, नवमं काण्डम् प्रथमावृत्तौ, पृष्ठ २११२.

१२ मासिक पत्र "परोपकारी" अजमेर, अक्टूबर १९६१ ई. में प्रकाशित "क्या गोमांस भक्षण वेदानुकूल है" शीर्षक लेख, पृष्ठ १६.

थोड़ासा ७.९ प्रतिशत दुग्धकाम्ल बन जाता है, तब यह प्रक्रिया बन्द हो जाती है फिर दूधका अधिक विकृत होना बन्द हो जाता है।

दूधमें अलगसे चीनी (शक्कर) मिलाकर पीना हानिकारक है, क्योंकि एक तो दूधमें स्वयं ही कुछ न कुछ सीधी न पचनेवाली चीनी होती है, फिर उसमें गन्नेकी चीनी (सुक्रोज) और मिला देनेसे उसकी अपचनशीलता और भी बढ़ जाती है। साधारण चीनी मिले हुए दूधको पचानेमें यकृतको विशेष पित्तिक रस देना पड़ता है। चीनी मिला दूध पीनेवाले बच्चोंका यकृत प्रायः खराब हो जाता है। साधारण चीनीको पचानेके लिए कैल्शियम (चूना) भी आवश्यक है और जितना कैल्शियम दूधमे होता है उतनेसे पूरा न पड़ने पर चीनी हमारी अस्थियोंका कैल्शियम लेकर पचती है। इसीलिए अधिक मीठा दूध पीनेवालोंकी हड्डियां प्रायः निर्बल हो जाती है और उनके दांतोंमें खराबी आ जाती है। दूधमें कुछ मिठास मिलाना अनिवार्य हो तो उसमें शहद या ग्लूकोज नामक शर्करा मिलानी चाहिए जो शीघ्र पचनशील होती है और फलोंमें मिलती है। दूधमें ग्लूकोज युक्त हरे तथा शुष्क मेवे जैसे मुनक्का, खजूर. किश-मिश मिलाना विशेष लाभप्रद है। दूधके साथ अंजीर मिलाकर पीनेसे लाभ होता है।

दूध पीनेसे किसी किसी व्यक्ति के पेटमें वायु (गुड़-गुड़ाहट) उत्पन्न होती है, जो पीपल या सोंठ या दोनोंको डालकर दूधको उबाल लेनेसे शान्त हो जाती है। पावभर दूधमें मीठे संतरेका एक छटांक रस मिलानेसे दूध शीघ्र पचता है।

दुग्धपान कैसे करना चाहिये ?

दूध हमारे पेटमें जाकर पेटके खट्टे रसके संयोगसे फट जाता है। उसके थक्के, लच्छे या फुटकेसे बन जाते हैं, जैसा छेना होता है। पुनः आंतोंमें इसका मंथन होता है जिससे प्रोटीन, वसा, विटामीन, लवण आदि पदार्थ अलग अलग होकर शरीरमें मिश्रण हो जाते है। दूध सदैव छोटी छोटी घूंटोंमें पीना चाहिए। जल्दी जल्दी अथवा अधिक दूध एक सांसमें गटागट पीनेसे उसके थक्के बहुत बड़े बड़े बनते हैं और लाभके बदले हानि भी कर सकता है।

नींबू चाट चाटकर दूध पीना लाभप्रद है।

जिनको धारोष्ण दुग्धपान करना हो उन्हें शहद मिलाकर पीना चाहिए। गर्म दूधमें शहद मिलाकर अथवा शहद मिलाकर दूधको गर्म करना निषिद्ध है। बहुत गर्म दुग्धपानका निषेध है।

एक पाव दूधमें बारह बूंद लहसुनका रस टपकाकर पीनेसे वायुका प्रकोप शान्त होता है और बल बढ़ता है। लहसुनका रस जीवाणुनाशक है। यक्ष्मा (टी. बी.) रोगीके लिए लहसुनका रस और बकरीका दुग्ध अत्युत्तम है।

गोदुग्धमें अन्यान्य तत्त्व

दूधमें प्रोटीनरहित नाइट्रोजनवाले पदार्थ :-लैक्टोक्रोम, क्रिएटिन, यूरिया, थियोसायनिक एसिड, औरोटिक एसिड, हाइपोक्सेन्थीन, जैन्थीन, यूरिक एसिड, कोलिन, मेथिलग्वे-निडिन, ट्राइमेथिलेमिन, एमोनियम साल्ट्स अंशांशतः पाए जाते हैं।

फास्फरसवाले पदार्थ— फ्रीफास्फेट, फास्फेट केसिनके साथ मिला हुआ, लेसिथिन और सिफेलिन, डाइमिनो मोनो-फास्फेटाइड, श्री अम्ल द्रावक सेन्द्रिय फास्फरस कम्पाउन्ड,

दूधमें कमसे कम ५० पदार्थ सदा डेढ़सौ रूपोंमें विद्यमान हैं। यह दूधका जादू है।

गाय व भैंसके दूधोंमें अन्तर तथा वैज्ञानिक विश्लेषण

गाय आर्यसंस्कृतिकी पोषक, पुण्यदर्शन तथ दैवीसम्पत्ति है। गायके शरीर पर हाथ फेरनेसे उम्र बढ़ती है। भैंस म्लेच्छ संस्कृतिकी पोषक, अशुभदर्शन तथा आसुरी सम्पत्ति है। भैंसके शरीर पर हाथ फेरनेसे मृत्यु निकट आती है। भैंस, गायसे दुगना अधिक खाती है।

गोदुग्ध मधुर, स्निग्ध, शीतल, वात-पित्त, कफ नाशक, फेफड़ेके लिए लाभकारी, क्षयरोग-नाशक तथा सुखण्डी (Rickets) से क्षीण होनेवाले बच्चेके लिए गोदुग्ध अमृत-तुल्य है। भैंसका दूध भारी, गर्म, कफ व वायुकारक, आलस्य उत्पन्न करनेवाला, मन्दाग्निकारक, तथा संक्रामक रोगोंको बुलानेवाला है। गोदुग्धमें ए, बी., सी., डी., ई. सभी प्रकारके विटामिन हैं तथा भैंसके दूधमें साधारण विटामिन है जो कैरोटिनके अभावमें सहजही नष्ट हो जाता है।

गोदुग्धको उबालने पर उसकी मलाईमें जो पीलारंग आता है, वह इस कैरोटिन पदार्थके कारण है। भैंसके दूधमें यह पदार्थ नहीं है। इसलिए उसका नवनीत, घी एकदम सफेद होता है।

आयुर्वेद और गोदुग्ध

गव्यं समधुरं किंचिद्दोषघ्नं क्रिमिकुष्ठनुत्।
कण्डूलं शमयेत्पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम् ॥ १०१ ॥
(चरकसंहिता, सूत्रस्थान अ० १)

" गायका मूत्र कुछ मधुर, दोषनाशक, कृमि और कुष्टका नाशक है। इसके पीनेसे खाज नष्ट होजाती है एवं वातादिसे उत्पन्न उदरके रोगोंमें हितकर है। "

जब ' गोमूत्र ' में इतना गुण है तब दूधमें कितना गुण हो सकता है—

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः ॥ २१६ ॥
तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ॥२१७॥
(चरक संहिता, सूत्रस्थान, अध्याय २७)

अर्थ— " दूध-मधुर, शीतल, मृदु, स्निग्ध, बहल, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्न इन दश गुणोंवाला गोदुग्ध है। ओजके भी ये ही दश गुण हैं इसलिए सामान्य होनेसे दूध ओजको बढाता है। इसलिए जीवनीय वस्तुओंमें दूध सबसे अधिक श्रेष्ठ गिना जाता है। वह रसायन है। "

" गोक्षीरमनभिष्यन्दि स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः ॥ ५० ॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम् ॥ "
(सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान अध्याय ४५) [१३]

अर्थ— ' गोदुग्ध ' दस्तको बांधनेवाला, चिकना, भारी व रसायन है। रक्त-पित्तका शमन करनेवाला, शीतल, मधुर स्वादु और परिणाममें मधुर, जीवनवर्द्धक और वात पित्तके विकारोंको नष्ट करनेवाला कहा गया है। "

मन्दाग्निनां कृशानाञ्च विशेषदतिसारिणाम्।
उत्साहदीपनं बल्यं मधुरं वातनाशनम् ॥
(आ० वि.)

अर्थात्- गोदूध, मन्दाग्नि, कृश तथा अतिसारयुक्त, रोगियोंके लिए उत्साह, अग्नि बलवर्धक, दीपन, मधुर एवं वातनाशक है।[१४]

पथ्यं रसायनं बल्यं हृद्यं मेध्यं गवां पयः।
आयुष्यं पुंस्त्वकृद्वातरक्तपित्तविकारनुत् ॥ १६४ ॥
(धन्वन्तरीय निघण्टु, सुवर्णादिः षष्ठो वर्गः)

गोदुग्धपथ्य=सब रोगों या अवस्थाओंमें सेवन करने योग्य, रसायन, बलकारक, हृदयके लिए हितकारी, बुद्धिको बढानेवाला, आयुवर्धक, वीर्यवर्धक, वातनाशक, और रक्त-पित्तके विकारोंको दूर करनेवाला है।

दूधके द्वारा रोगोंकी उत्पत्ति

दूधके द्वारा अनेकों रोगोंके फैल जानेकी आशंका रहती है, अतः बहुत ही सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। गौ रखनेके स्थान मैले-कुचैले गन्दे रहते हैं। जमीन कच्ची रहती है, वहीं उनका चारा रहता है तथा ऐसे स्थानोंपर ही दूध दुहनेवाले अपने हाथों और गौके थनोंको भलीभांति शुद्ध स्वच्छ किए बिना ही दूध दुहते हैं।

वैसे तो दूधमें स्वयं ही बहुतसे कीटाणु होते हैं; पर वे हानिकारक नहीं है, किन्तु रोगोंके अनेक कीटाणु दूधमें प्रवेश कर जाते है, जो रोग उत्पन्न कर देते हैं। यक्ष्मा, टाइफाइड ज्वर, लालबुखार, डिप्थिरिया, संग्रहणी आदिके कीटाणु दूधमें बहुधा देखनेको मिलते हैं। गौशालाओंमें यह साधारण नियम है कि सब दूधको एकपात्रमें एकत्रित करके मिलाकर ही बेचते हैं। इस प्रकार सब दूध दूषित हो जाता है।

गोपोंके अशुद्ध वस्त्र भी दूध दुहते समय दूधमें कीटाणु-प्रवेशके कारण बनते हैं। यदि गोपोंको यक्ष्मा हो तो उनके खांसनेसे भी कीटाणु दूधमें पहुंच जाते हैं।

दूध विक्रेता दूधमें अशुद्ध जल मिला देते हैं उससे भी रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

इन बातोंके सुधारनेसे ही शुद्ध दूध प्राप्त हो सकता है।

---

१३ फडके और साठे द्वारा सम्पादित " सुश्रुत, भाग १, सन् १९२१ ई. बम्बई संस्करण।

१४ श्रीविश्वेश्वास शर्मा कृत ' गा-विश्वकी-मा ' प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १४२

दुग्धपानका निषेध

भोजनके साथ-साथ, भोजनके तुरन्त बाद, केला, बेल, मछली, मांस,[१५] गुड, मूंग, मूली, पत्तेवाले शाक, जामुन, सिरका कटहल, तेल, खट्टाअनारके साथ और रात्रिमें सोते समय दुग्धपान नहीं करना चाहिए। मत्स्य भोजनके बाद ऊपरसे दूध पी लेने वालोंको प्रायः विषूचिका हो जाता है। दूध पीकर पान खाना मना है। दूधकी खीरके साथ खिचड़ी न खानी चाहिए।

दूध स्वयं एक पूर्ण भोजन है, इसलिए रात्रिमें भोजनोपरान्त दूध पीना अनुचित है। दूध पीकर सोनेसे अजीर्ण होनेका भय रहता है। स्त्रियां थोडा दूध पिलाकर शेष उच्छिष्ट दूधको पुनः पिलानेके लिए उसी बर्तनमें अथवा शीशी (फीडिंग-कप या बोतलमें) रख छोडती हैं, जो सर्वथा अनुचित एवं हानिकारक है।

गोदुग्ध औषधिके रूपमें

(१) मूत्रकृच्छ्र व मधुमेहपर — गोदुग्धमें गुड़ वा घृत डालकर उसे थोड़ा गर्म करके पिलाना चाहिए।

(२) आधा शीशीमें — गायके दूधमें बदामके टुकडे डालकर बनाई हुई खीरमें शक्कर डालकर पिलाना चाहिए।

(३) काँचके चूर्ण- असके साथ पेटमें चला गया हो तो ऊपरसे दूध पिलाना चाहिए।

(४) धतूरा व कनेरके विषपर— पावभर दूधमें एक तोला शक्कर डालकर पिलाना चाहिए।

(५) संखिया, बछनाग, नीलाथोथा, मुर्दासंखके विषपरः— जबतक उल्टी न हो जाय तबतक दूध पिलाना चाहिए।

(६) मैनसिलके विषपर— दूधमें मधु डालकर तीन दिन पिलाना चाहिए।

(७) गन्धकके विषपर— दूधमें घी डालकर पिलाना चाहिए।

(८) नेत्र उठे हों या दुखते हों— तो गोदुग्धमें रूईको भिगोकर और उसके ऊपर फिटकिरीका चूर्ण डालकर नेत्रोंके ऊपर पट्टी बाँध देनी चाहिए।

(९) पुराना ज्वर— गोदुग्धमें गोघृत, छुहारा, सोंठ व मुनक्के उबालकर पिलाना चाहिए।

(१०) प्रतिश्याय (जुकाम) पर— गर्म दूधमें काली मिर्च और मिश्री डालकर पीनेसे शीघ्र लाभ होता है।

(११) अस्थिभंग होनेपर— प्रातःकाल गायका दूध शक्कर डालकर गर्म करे और उसमें घी, लाखका चूर्ण डाल कर ठंडा होनेपर पिलावे, इससे टूटी हड्डी ठीक हो जाती है।

(१२) प्रवाहिकामें— आधा दूध और आधा पानी मिलाकर उबाले, जब पानी जल जाय तो बचे दूधका उपयोग शूल व प्रवाहिका रोगमें करे।

(१३) श्रमोपरान्त थकावटमें— दूध गर्म करके पीनेसे थकावट दूर हो जाती है और स्फूर्ति आजाती है।

(१४) सिर दर्दमें— गायके दूधमें सोंठ घिसकर सिरपर उसका लेप करे और ऊपरसे रूई बाँध दे।

(१५) पाण्डुरोग, क्षय व संग्रहणीमें— लोहपात्रमें गर्म किया हुआ दूध एक सप्ताह पिलाना और पथ्यसेवन कराना चाहिए।

(१६) मूत्रावरोधसे उत्पन्न उदावर्त वायुके ऊपर— दूध व पानी एक साथ मिलाकर पिलाना चाहिए।

(१७) वक्ष व हृदयरोगपर— दूधमें शुद्ध भिलावेका तेल १० बूंद डालकर पिलाना चाहिए।

(१८) पुष्टिके लिए— गोदुग्ध, घृत और शहद मिलाकर पिलाना चाहिए।

(१९) पुष्टि, बल और वीर्यकी वृद्धिके लिए— गर्म किए हुए दूधमें गायका घृत और शक्कर डालकर पिलाना चाहिए। इसके सदृश पथ्य, तेजोवर्द्धक और बलवर्द्धक प्रयोग दूसरा कोई नहीं है।

(२०) हिचकीके ऊपर— उबाला हुआ दूध पिलाना चाहिए।

---

१५ मांस, मछली अभक्ष्य पदार्थ हैं। वेदोंमें इनका सेवन वर्जित है। कुछ मांसाहारी गोदुग्धके साथ मांस मछलीका सेवन करते हैं, इसलिए उनके लिए चर्चा है— (लेखक)

(२१) सब प्रकारके ज्वरमें— श्वेत पुनर्नवा, बेलकी छाल, लाल पुनर्नवा तीनों मिलाकर दो तोले, दूध १६ तोले और जल ६४ तोले। सबको एकत्र करके अग्निपर पकावे। जब पानी जल जाय केवल दूध शेष रह जाय, तब उतारकर छान ले। इस दूधको पीनेसे प्रायः सभी प्रकारके ज्वर नष्ट होते हैं।

(२२) अर्श रोगमें— गोदुग्ध तलुओंपर लगानेसे लाभ होता है।

(२३) प्रमेहमें— आँवलेके रसमें हल्दीका चूर्ण छोडकर पीए। ऊपरसे गायका दूध पीना चाहिए।

(२४) रक्त स्वच्छ करनेके लिए— पावभर गर्म दूधमें एक तोला शहद छोडकर पीना चाहिए।

अतएव उपर्युक्त कारणोंसे हम 'गोदुग्ध' को विश्वका अद्भुत जादू मानते हैं।

× × ×

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज

(लेखक— श्री वेदव्रत शास्त्री)

卐

बहु-विवाह वेद-विरुद्ध है

रुड़कीके रहनेवाले नजफअली तहसीलदार स्वामीजीके पास प्रायः आया करते थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजीसे कहा हमारे पैगम्बर साहबने मनुष्यको चार स्त्रियों तकसे विवाह करनेकी आज्ञा दी है। जैसे एक राजाको कई मन्त्रियों-की आवश्यकता होती है वैसे ही एक मनुष्यको एकसे अधिक स्त्रियोंकी भी आवश्यकता होती है। महाराजने कहा कि एक पुरुषके लिये एक ही स्त्री होनी चाहिए। अनुभव और युक्तिसे भी यही बात ठीक सिद्ध होती है। देखिए एक वेश्या सैकड़ों पुरुषोंको बिगाड़ती है। जब एक घरमें कई स्त्रियां हों तो उनके लिये एक पुरुष कभी पर्याप्त नहीं हो सकता। इसलिये वेदोंके अनुसार एक पुरुषका एक ही स्त्रीसे विवाह होना चाहिये। यह युक्ति उनकी समझमें आ गई।

सदाशय— भारतीय संस्कृतिके सिद्धान्तानुसार विवाह-सम्बन्ध दो आत्माओंकी प्रेमभरी भावनाओंकी स्वीकृति है। अतः वेद भगवान् एक समयमें एक ही विवाहका विधान करते हैं। परन्तु यह नियम बहुत ही विकृत हो चुका था। हिन्दुओं तथा मुसलमानोंमे बहुविवाहकी बुरी प्रथा चल पड़ी थी। इससे मानव समाजकी जो हानि हुई, उसका साक्षी इतिहास ही है। मुसलमान १५ या इससे भी अधिक स्त्रियां रखते थे, ऐसी दशामें श्री मुहम्मद साहबने चार स्त्रियोंकी ही इजाजत दी, यह भी काफी सुधार था। परन्तु वेद तो एक समयमें एक ही विवाहकी आज्ञा देता है।

स्वामीको महाराज काश्मीरका पत्र

किसीने झूठी खबर पहुंचाई कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीका देहान्त हो गया। महाराजा काश्मीर इस सूचनाको सुनकर संशयमें पड़ गये। परन्तु उन्हें इस बातका विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने अपने किसी कर्मचारीको पत्र लेकर भेजा और उससे कह दिया कि यदि स्वामी जीवित होंगे तो कुम्भ पर अवश्य आवेंगे। यदि वह मिल जायें तो उन्हें यह पत्र दे देना और उनसे उत्तर ले आना।

उस पत्रमें महाराजने स्वामीजीसे यह प्रार्थनाकी थी कि आप एक ऐसा ग्रन्थ बनावें जिससे बिना पक्षपात और खींचा तानीके यह सिद्ध हो जाय कि जो लोग वैदिक धर्मको त्याग कर अन्य धर्मावलम्बी हो गये हैं वह यदि वैदिक धर्ममें वापस आना चाहें तो आ सकते हैं और उसमें यह भी सिद्ध किया जावे कि अन्य धर्मी ईसाई मुसलमान भी वैदिकधर्मी हो सकते हैं? और उनके साथ खान पान आदिका व्यवहार वैदिक धर्मियोंके समान किया जा सकता है। स्वामीजीने उस समय तो उस पुरुषसे केवल इतना ही कह दिया कि ऐसा ग्रन्थ शास्त्र-प्रमाण-पुष्ट सहजमें ही बन सकता है। और यह कहा कि जब आप जावें तब मुझसे मिलके जावें, मैं महाराजके लिये पत्र दूंगा।

लड़कोंने ईसाई होनेका विचार छोड़ दिया

(अप्रैल १८७९ ई०)

देहरादूनके एक रईसके दो पुत्र थे जो अंग्रेजी पढ़े हुये थे। उन पर ईसाइयोंने अपने धर्मका प्रभाव जमा रखा था और वह ईसाई होनेको तैय्यार थे। हिन्दुओंको वह तर्कमें चुटकियोंमें परास्त कर देते थे। विवश होकर उनके पिताने उनसे कहा कि तुम छः मास तकका विज्ञापन दो यदि कोई इस बीचमें ईसाई धर्मको असत्य सिद्ध न कर सकेगा तो तुम लोग ईसाई हो जाना। किसी हिन्दू धर्मा-भिमानीको यह न हुआ कि ईसाई धर्मका निकृष्टत्व और हिंदू धर्मका श्रेष्ठत्व सिद्ध करके हिन्दू धर्मकी इन क्षतियाओं

की रक्षा कर सके, जब महाराज देहरादून पधारे तो छः मासकी अवधिमें केवल दो चार दिन ही शेष रह गये थे।

महाराजको जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो उन्होंने उन दोनों भाईयोंको अपने पास बुलाया। ईसाई धर्मकी बात-चीत होने लगी। उन दोनोंने देखा कि जो तर्क शिलाके समान दीख पडते थे और विपक्षियोंके उठाय न उठते थे, वह महाराजके तर्क-वज्रसे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अन्तमें उन्हें ईसाई धर्मका असारत्व स्वीकार करना पडा और उन्होंने ईसाई होनेका विचार छोड दिया। पादरी ता महाराजके बुलाने पर भी नहीं आये। और पश्चात् उन्हें धमकी देने लगे। परन्तु सब व्यर्थ हो गया। " परन्तु दु:ख है कि पौराणिक-धर्मकी तर्क-शून्यताके कारण कितने भारतके हिन्दु-लालोंको, जो कि अंग्रेजी शिक्षा, सभ्यता और इनकी रहन सहनसे प्रभावित थे; अन्य ईसाई, मुसलमान और बौद्ध आदि अवैदिक धर्मोंकी शरण लेनी पडी "। महर्षि तू धन्य है कि तूने इस मार्गको भी प्रशस्त किया।

स्वामीजीकी निर्भीकता

एक दिन व्याख्यान आत्माके स्वरूप पर था। प्रसङ्गवश महाराजने सत्यके बल पर कथन करना आरम्भ कर दिया। पादरी स्काटको छोडकर पिछले दिन वाले सब अंग्रेज उपस्थित थे। सब लोग चुपचाप और तन्मय व्याख्यानको सुन रहे थे। महाराजने कुछ देर सत्यका महत्व वर्णन करके कहा कि कुछ लोग कहते हे सत्यको प्रकट न करो, कलक्टर क्रुद्ध होगा', कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीडा देगा। अरे चक्रवर्ती राजा क्यों न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे। इतना कहकर महाराजने एक उपनिषद् वाक्य पढा, जिसमें कहा गया था आत्माका कोई हथियार छेदन नहीं कर सकता, न उसे आग ही जला सकती है। इत्यादि और फिर गरज कर बोले कि यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षामें प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है, इसे जिस मनुष्यका जी चाहे नष्ट कर दे और चारों ओर अपने नेत्रोंकी ज्योति डाल कर सिंहनाद करते हुये कहा, परन्तु मुझे वह शूरवीर दिखलाओ जो यह कहता हो कि वह मेरे आत्माका नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर इस संसारमें दिखाई नहीं देता, तब तक मैं यह सोचनेके लिये तैय्यार नहीं हूं कि मैं सत्यको दबाऊं या नहीं।

स्वामीजीके नेत्रोंमें आंसू भर आये

" स्वराज ही देशकी दशाको सुधार कर इसे धन-धान्यसे भर देगा "

एक दिन ऐसा हुआ कि एक ग्रामवासिनी बुढिया अपने युवा पुत्रके शवको गंगा तट पर लाई। वह इतनी दरिद्र थी कि मृतकके दाहके लिये ईंधन तक भी उपस्थित न कर सकी। और उसने शवको दाह किये बिना ही गंगामें बहा दिया। स्वामीजीको जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह गद्गद कंठ होकर करुण स्वरमें बोले " हाय मेरा देश इतना निर्धन हो गया है कि मृतक शरीरोंको काष्ठ तक भी नहीं मिल सकता "। लाला मोहनलाल कहते थे कि मैंने महाराजको किसी विषय पर इस प्रकार शोक प्रकट करते नहीं देखा था, परन्तु इस घटनाका उन पर इतना प्रभाव पडा कि उनके नेत्रोंमें अश्रु भर आये थे।

एक दिन महाराजने कहा-कुछ कालसे परदेशी राजाओंने हमारे देशसे इतना धन हरण कर लिया है कि अब वह सर्वथा धनहीन हो गया है, परन्तु इस देशकी वसुन्धरा इतनी उपजाऊ है कि अधिकार (स्वराज्य) पानेके थोडे ही कालमें इस देशको पुन: धनधान्यसे पूरित कर देगी।

" लोग मुझे कहते हैं कि मुसलमानोंके विरुद्ध मत कहो '

एक दिन एक सज्जनने स्वामीजीसे कहा कि आप मुसलमानोंके विरुद्ध न कहा करें। उस समय उन्होंने कोई उत्तर न दिया, परन्तु सांयकालको उन्होंने जो व्याख्यान दिया वह आरम्भसे समाप्तितक इसलामके सिद्धान्तोंके विषयमें ही दिया। जिसमें उनकी तीव्र आलोचना थी। व्याख्यानका आरम्भ ही इन शब्दोंमें किया था कि कुछ छोकरोंके छोकरे मुझसे कहते हैं कि मुसलमानी मतका खण्डन मत करो, परन्तु मैं सत्यको नहीं छिपा सकता। जब मुसलमानोंकी चलती थी तब वह हम लोगोंका खण्डन तलवारसे करते थे। अब अन्धेर यह देखो कि मुझे उनका जिह्वा मात्रसे भी खण्डन करनेका निषेध करते हैं। मैं ऐसा अच्छा राजा पाकर किसीकी पोल खोलनेसे कभी रुक नहीं सकता हूं। डेरे पर आकर स्वामीजीने कहा कि यह समय ऐसा है कि कोई किसी दूसरे मतोंकी पोल खोलने और अपने मतकी श्रेष्ठता

सिखानेसे रोक नहीं सकता, अंग्रेजोंके राज्यमें यही बात बड़ाईकी है।

देखिये एक बार पञ्जाबके एक नगरमें मैंने (स्वामीजीने) एक दिन ईसाई मतके खण्डन पर व्याख्यान दिया और इसका विज्ञापन पहले दे दिया था कि आज अमुक विषय पर व्याख्यान होगा। इस बातको जानकर कई देशी और विलायती पादरी व्याख्यान सुनने आये। और मैंने अपनी शक्तिके अनुसार प्रबल युक्तियोंसे ईसाई मतका खण्डन किया और बाईबलके परस्पर विरोध दिखाये। घटना-चक्रसे जनरल राबर्ट्स भी व्याख्यानमें पहुंच गये थे। व्याख्यानकी समाप्ति पर उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया और कहा कि आप निःसन्देह बहुत निर्भीक हैं, जब आपने हमारे सामने हमारे मतका खण्डन निःसंकोच भावसे किया तो अन्य किसी मतका आप भय क्यों करते होंगे।

जोन्स पादरीने गोमांस न खानेकी प्रतिज्ञा की

एक दिन जोन्स साहब एक पादरीको साथ लेकर महाराज से मिलने आये। उस दिन स्वामीजीने उनसे पूछा कि आप पुण्य किसे समझते हैं। जोन्स साहबने कहा कि आप ही बताइये। तब महाराजने कहा कि " जिस कार्यसे बहुतसे लोगोंका उपकार हो "। इसे जोन्स साहबने स्वीकार किया। फिर महाराजने उन्हें समझाया कि एक गो की रक्षा करनेसे सहस्रों मनुष्योंका उपकार होता है अतः उसका वध करना पाप है वा नहीं। इस पर साहबने कहा कि हाँ सिद्ध तो ऐसा ही होता है। फिर स्वामीजी बोले कि जो सिद्ध हो जाय उसके अनुसार चलना भी चाहिये, अतः आप गोमांस खाना छोड़ दें। साहबने प्रतिज्ञा की कि हम आगेको गोमांस नहीं खायेंगे, परन्तु बकरे आदिको खायेंगे। महाराजने कहा हम आपको बकरे आदिका मांस खानेकी आज्ञा नहीं देते, परन्तु गोमांस खानेका अवश्य निषेध करते हैं।

स्वामी अछूतोंकी चिंतासे व्यग्र

एक रात्रिको महर्षि सहसा उठकर इधर उधर घूमने लगे। उनके पांवकी आहट सुनकर एक कर्मचारीकी आंख भी खुल गई। उसने महाराजसे पूछा कि कोई कष्ट है। उन्होंने एक लम्बी सांस खींची और बोले कि ईसाई लोग दलितोंको ईसाई बनानेका भरसक यत्न कर रहे हैं। इधर हिन्दुओंके धर्मके नेता हैं, जो कुम्भकरणकी नींद सो रहे हैं। यही चिन्ता मुझे विकल कर रही है।

गांधीजीके भी ये शब्द हैं

पूज्य बापूजीने " अस्पृश्यता निवारण " का धर्मसन्देश लाखों करोड़ोंके हृदयों तक पहुंचानेके लिये सारे भारतका प्रवास ७ नवम्बर, १९३३ से ३१ जुलाई सन् १९३४ तक किया था। भारतके जन जनमें गांधीजीके मुखसे यह सन्देश सुना और अन्तरमें धारण किया कि " अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म पर कलंक है; अस्पृश्यता रहेगी तो हिन्दू धर्मका नाश निश्चित है "

भ्रामयन् सर्वभूतानि आदिका अद्भुत अर्थ

एकदिन एक नवीनवेदान्ती पण्डितका महर्षिसे वार्तालाप हो रहा था। उसने गीताका श्लोक "भ्रामयन् सर्वभूतानि आदि पढ़ कर कहा कि देखो जो कुछ करता है ईश्वर ही करता है, जीव कुछ नहीं करता। महाराजने कहा इसका अर्थ यह है कि ईश्वर पृथ्वी आदि सब भूतोंको घुमा रहा है। तुम व्यर्थ ही सब दोष ईश्वरके मत्थे मढ़ना चाहते हो। इस अर्थको सुनकर सब सन्तुष्ट हो गये। और महर्षिके अर्थको स्वीकार किया।

सदाशय—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वे भूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

आधुनिक अर्थ— ईश्वर सारे प्राणिके हृदयमांहि ठहराय।
यंत्र चढ़े सब प्राणिको, मायासे भरमाय॥

यहां हृद्देश शब्दके दो अर्थ हो सकते है, मध्य, हृदय। भूत शब्दके भी दो अर्थ हो सकते हैं; प्राणी; पांच भूत, पृथ्वी, सूर्य, अग्नि आदि। स्वामीजीका सिद्धान्त है कि जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र है और फल भोगनेमें ईश्वराधीन है, या परतंत्र है। इस दृष्टिसे स्वामीजीका ही अर्थ बुद्धिसंगत है।

देश-दशा पर खेद

(सन् १८८० लेखन ३)

एक दिन व्याख्यान देकर स्वामीजी अपने स्थानको जा रहे थे। कई आर्य-सज्जन उनके साथ थे। मार्गमें एक अत्यन्त जरा-जर्जरित बुढ़िया उन्हें मिली। उसने कातर स्वरमें महाराजसे

कहा कि बाबाजी मैं भूखी हूं आजका अन्न दिला दें। महाराजने उसे कुछ पैसे दिला दिये। उसे देखकर महाराजकी आंखोंमें आंसू डबडबा आये और अत्यन्त करुणा भरे शब्दोंमें उन्होंने कहा कि इस स्वर्णमयी भूमिकी कितनी हीन दशा हो गई है कि आज इस क्षुधार्त्त वृद्धियाको यह भी विवेक नहीं रहा कि जिससे अन्न मांगती है वह स्वयं मांग कर खाता है।

स्वामीजीपर सांप फेंका गया

मैडम ब्लैवेट्सकीने अपनी पुस्तक "फ्राम दी केव्ज एण्ड जंगल्स आफ हिन्दुस्तान" में लिखा है कि एक समय महाराज बंगालके एक छोटेसे ग्राममें शैवमतका खण्डन कर रहे थे। कि एक मतान्ध शैवने एक कृष्ण सर्प उनकी टांगोंपर फेंककर कहा कि अब वासुकी देवता स्वयं ही प्रकट कर देगा कि हममें कौन सच्चाईपर है। सर्प उनकी टांगोंसे लिपट गया था, उन्होंने एक झटके ही उसे अलग फेंककर अपनी एडीसे उसका सिर कुचल दिया और बडी शक्तिसे उस शैवको उत्तर दिया कि अच्छा इसे ही निर्णय करने दो। तुम्हारा देवता बहुत शिथिल रहा, मैंने इस विवादका निर्णय कर दिया। और श्रोताओंको संबोधित करके कहा कि अब जाओ और सबसे कह दो कैसी आसानीसे झूठे देवता नष्ट हो जाते हैं।

स्वामीजीकी आपबीती उनकी जबानी

मेरठमें अपने भक्तोंसे प्रेमालाप करते हुये महाराजने अपने जीवनकी कुछ घटनायें भी सुनाईं। उन्होंने कहा कि एक स्थानपर मेरा व्याख्यान सुनकर कलक्टरने कहा कि यदि सब आपके कथनके अनुसार चलेंगे तो हमें भारत छोडना पडेगा। इसका उत्तर मैंने यह दिया कि आप मेरा अभिप्राय नहीं समझे। जब तक भारतके मनुष्य आपके समान सुशिक्षादि गुणोंसे अलंकृत न हो जायें तब तक परस्परके मेलसे सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आप इस समय आश्चर्य करते हैं कि मैं इतनी दूर तक वायुसेवनके लिये आता हूं; परन्तु अवधूत दशामें चालीस चालीस मील चलना मेरे लिये कोई बात न थी। मैं एक बार गंगोत्रीसे चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्रीसे रामेश्वर तक गया था। बद्रीनाथमें रहकर मैंने गायत्री मंत्रका अनुष्ठान किया था। रात्रिमें जब तेल न रहा था तो बाजारके दीपोंके प्रकाशमें पढा करता था। मैं लगातार कई दिन तक मध्याह्नमें तप्त-रेणु (जलती बालूपर) पडा रहा हूं। और हिमाच्छादित पर्वतोंमें और गंगा तटपर नग्न और निराहार सोया किया हूं।

स्वामीजीने मुसलमानको शुद्ध किया

मुंशी मुहम्मद उमरको पहले आगमनके अवसरपर शुद्धकरके उनका नाम अलखधारी रक्खा था। एक दिन मुसलमान दलबद्ध होकर उनके पास पहुंचे और उनसे कहा कि तेरी मुक्ति असम्भव है और तू कठोर यातनाके योग्य है। महात्मा अलखधारीने कहा कि आपका खुदा मुसलमानोंका पालन करता है या मनुष्यमात्रका। यदि पहली बात ठीक है तो आपको मेरे उद्धारकी विशेष चिन्ता करनी व्यर्थ है और यदि दूसरी ठीक है तो फिर मुझमें और आपमें कुछ भेद नहीं। उत्तम तो यह है कि आप भी पवित्र वेदोंके विश्वासी बनें। और सत्यधर्मको ही सत्य जानें अन्यथा छुटकारा पाना कठिन है।

सिर कटानेके लिये गर्दन झुका दी

एक बार स्वामीजी महाराजने मौलवी इमदाद हुसेनसे कहा था कि एक दिन शौच करने बैठा हुआ था कि एक मनुष्य नंगी तलवार लिये मेरे पीछे खडा हुआ। मैंने उससे कहा कि मैं शौचसे निवृत्त हो जाऊं, तब मेरा सिर काट डालना। इसपर वह राजी हो गया। जब मैं शौचसे निवृत्त हो चुका तब मैंने अपनी गर्दन उसके आगे झुका दी। इससे ऐसा प्रभावित हुआ कि बिना कुछ कहे मुझे छोडकर चला गया।

सदाशय— स्वामीजी महाराजको योगकी सिद्धि प्राप्त थी। स्वामीजी पूर्ण अहिंसक थे। अतः उनके अन्दर वैरका अभाव था। इस यौगिक सिद्धिसे उनके सब मित्र हो चुके थे। जैसा कि योगशास्त्रका वचन है, 'अहिंसाप्रतिष्ठायां वैर-त्यागः' बताता है। अहिंसक व्यक्तिके प्रति हिंसक प्राणी भी अपना वैरभाव छोड देते हैं।

एक लज्जास्पद प्रथा

मध्ययुगमें मुसलमान बादशाहोंके राज्यमें कुछ हिन्दू मुसलमान हो गये थे, परन्तु उनकी जातिके हिन्दू उनसे अपनी

पुत्रियोंका विवाह करते आते थे। महाराजको जब यह बात ज्ञात हुईतो उन्होंने हिन्दुओंको बुलाकर समझाया कि ऐसा अनर्थ क्यों करते हो और विधर्मियोंसे सम्बन्ध क्यों करते हो। महाराजके सदुपदेशसे उन्होंने आगेको ऐसा न करनेका प्रण किया। और यह अनिष्ट-कर प्रथा बन्द हो गई। स्वामीजीने असंख्य हिन्दू स्त्रियोंको विधर्मी होनेसे बचा लिया। संसार-भरमें यदि कोई जाति अपना अनिष्ट अपने आप करने वाली है तो यह हिन्दू जाति है। " स्वामीजीने कहीं कहीं सत्संगमें कहा है अर्थात् प्रश्नोत्तर किया है कि विधर्मियोंकी लड़कियोंको लेना चाहिये और उनके साथ अपने बालकोंका विवाह भी कर देना चाहिए, परन्तु अपनी लड़कियोंको उन्हें तब तक नहीं देना चाहिये जब तक शुद्ध हुये उनकी दो एक पीढ़ी न बीत जाय, इससे बीजमें उनके संस्कार भी शुद्ध हो जायेंगे"।

मातृ-शक्तिको प्रणाम

एक दिन स्वामीजी कई राजाओं और राजकर्मचारियोंके साथ भ्रमणको जारहे थे। एक देवालय आगया। वहाँ छोटे छोटे बालक-बालिकायें खेल रहे थे। महाराजने उन्हें देखकर सर झुका दिया। साथके लोगोंने कहा कि आप मूर्ति-पूजाका कितनाही खण्डन करें परन्तु देव-बलका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवालयके सामने आपका मस्तक अपने आप झुक गया। महाराज तत्काल खडेहो गये और कहा—देखते नहीं हो यह (लड़की) मातृ-शक्ति है, जिसने हम सबको जन्म दिया है। " धन्य है तू महर्षि ! जिसके हृदयमे मातृ-शक्तिके प्रति इतनी पवित्र-भावना थी। भारतको इस मातृ-पूजा की भावनाको तूने पुनः जगाया; अन्यथा " ढोल गंवार शूद्र पशुनारी ये सब ताडनके अधिकारी " की भावना भारतमें गूंज रही थी। एकबार एक स्त्री स्वामीजीके पास गई स्वामीजी उस समय ध्यानमें मग्न थे। स्वामीजीकी जब आंख खुली तो उस स्त्रीने स्वामीजीसे प्रार्थना कि मैं आप ऐसे पुत्रको चाहती हूँ। स्वामीजीने कहा—तू मेरी माँ है। मुझे ही अपना पुत्र मान ले "। यह थी स्वामीजीकी मातृशक्तिकी पूजा "।

मनकी एकाग्रताका उपाय

बाबू जनकधारी लालके पूछने पर स्वामीजीने कहा कि मनको एक जगह ठहरा लो। बाबूजीने कहा नहीं ठहरता, क्या इसके लिये किसी वस्तुका ध्यान करनेकी आवश्यकता है। स्वामीजीने कहा—नहीं, और यदि यह तुमसे नहीं हो सकता तो अपने भीतर किसी तिल वा सुईकी नोकके बराबर किसी वस्तुकी कल्पना कर लो और उस पर ध्यान लगाओ, फिर उसके टुकडे करके एक टुकडे पर ध्यान लगाओ। ऐसे ही टुकडे करते चले जाओ यहाँ तक कि अन्तमें अत्यन्त सूक्ष्म टुकडा रह जाय फिर उसे भी उडा दो।

' विशेष '

" संस्कृतिके चार अध्याय " में श्री दिनकर जी श्री स्वामीजी महाराजको केवल तार्किक और प्रकाण्ड विद्वान् ही मानते हैं। परन्तु यदि वे स्वामीजीके जीवनचरित्रका अध्ययन करते तो उनकी यह भावना बदल जाती और स्वामीजी-को योगसिद्ध योगी भी मानते। यह उक्त वार्तालाप इस बातकी पुष्टि करता है कि स्वामीजी योगकी क्रियाओंके भी अभ्यासी थे। इनके जीवनमें इस प्रकारकी अनेक घटनायें हैं। जिनसे उक्त विषयोंकी पुष्टि होती है।

जातीय उन्नतिके साधन

एक दिन एक सज्जनने स्वामीजीसे प्रश्न किया कि भारत का पूर्णहित और पूर्ण-जातीय उन्नति कब होगी ? स्वामी-जीने उत्तर दिया-एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना ऐसा होना दुष्कर है। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि देशके नृपगण अपने अपने राज्यमें धर्म, भाषा और भावमें एकता उत्पन्न करें। इस पर उन्होंने (पं० मोहनलालने) आपत्ति की कि जब आपका उद्देश्य एकता उत्पन्न करनेका है तो आप मतमतान्तरोंका खण्डन क्यों करते हैं ? इससे तो अनैक्य बढता है। महाराजने उत्तर दिया-कि धर्माचार्यों और नेताओंकी असावधानी और प्रमादसे जातिके आचार-विचार, रहन-सहन दूषित हो जाते हैं और भाव एक नहीं रहते। आर्य जातिकी यही दशा हुई और यदि इसे संभाला न गया तो यह नष्ट हो जायगी। धर्माचार्योंके प्रमादके कारण करोडों आर्य मुसलमान होगये और अब ईसाई हो रहे हैं। यदि जातिको कडुवे उपदेशोंके कोडोंसे जगाया न गया और कुरीतियों और कुनीतियोंको नष्ट न किया गया तो इसकी मृत्युमें सन्देह ही क्या है ? यह काम मैं किसी स्वार्थसे तो नहीं कर रहा हूँ इसके लिये मैं अनेकों कष्ट सहता हूँ, गालियाँ और ईंट पत्थर खाता हूँ, विष तक मुझे

दिया जा चुका है, परन्तु जाति और धर्मके लिये मे सब कुछ सहन करता हूं ।

राष्ट्रीय संगठनके आधार

" भाषा, धर्म और उद्देश्य, ये तीन तत्त्व हैं जिनके ऊपर राष्ट्रकी एकता कायम रह सकती है । धर्मके नामको सुनकर राजनीतिज्ञ लोग काफी परेशान हो जाते है और चिल्लाने लगते है कि भारतकी एकता अब खतरेमें है । यह बात ऐसी ही है जैसे रोगी दवाको जहर समझकर शोर मचाने लगें और खानेसे इन्कार करने लगे । इसी भयके कारण राजनीतिके, क्षेत्रमें स्वामीजीका नाम भी नहीं लिया जाता है । ऐसी कृतघ्नता जिस देशमें विद्यमान हो, यह वास्तविक उन्नति कैसे कर सकता है ? अगर सच्चे और निष्पक्षभावसे स्वामीजीकी उक्त भावनाओंको पढें तो ज्ञात हों जायेगा कि उनके हृदयमें देशके उत्थानके विषयमें कितनी उत्कट भावना थी ।

आज आरामका दिवस है

स्वामीजीको विष दिलाया गया, यह तो निश्चय है परन्तु किसने विष दिलाया ? यह अब भी अन्वेषणका विषय है । इस कुकृत्यमें हमारे गौरांग महाप्रभु अंग्रेजोंका भी हाथ था या नहीं, यह बात अनिश्चित है, तब भी कुछ लोग यह मानते है कि स्वामीजीको राजनीतिक चालसे विष दिलाया गया । परन्तु यह बात कर्ण परम्परा ही सुनाई देती है । अथवा किसी मतान्धने जुलाबके बहाने उन्हें विष दे दिया था । दीपावलीके दिन स्वामीजीका कलेवर उनका साथ छोडनेवाला था कि स्वामीजीसे किसीने प्रश्न किया कि आपका चित्त कैसा है, तो कहा कि अच्छा है, एक मासके पश्चात् आज आरामका दिवस है । लाला जीवनदासने स्वामीजीसे पूछा आप कहां हैं ? तो कहा – ईश्वर इच्छामें ।

ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !

" ३० अक्टूबर सन् १८८३ दीपावलीकी सन्ध्या "

घरके सब किवाड तथा रोशनदान खोल दिये गये और शिष्यगण पीछे खडे हो गये, उनमें केवल गुरुदत्त विद्यार्थी हो स्वामीजीके सामने खडे थे । इधर स्वामीजी आसनपर विराजमान थे उधर सूर्य भगवान् भी अस्ताचलके गोदमें आ विराजे । कृष्णपक्षका अन्त और शुक्लपक्षका आदि; अमा और मंगलवार था । महर्षिने मंत्र तथा गायत्रीका पाठ किया । और प्राणायामके द्वारा अपनी जीवनलीलाकी समाप्ति का श्रीगणेश किया । प्राणायामके बाद आंखें खोल दीं और कहने लगे, प्रभो ! तूने अच्छी लीला की । हे दयामय ! यदि तेरी यही इच्छा है तो वह पूर्ण हो; इस प्रकार कहते हुये प्रसन्नमुख होकर अपनी जीवनलीला समाप्त की और सारा आर्य–जगत् स्वमीजीकी अन्तिम जीवन–ज्योतिसे जगमगा उठा । दीपकरूपी आर्योंका कलेवर स्वामीजीके स्नेहसे जगमगा उठा और जिससे सारा विश्व जाग उठा ।

स्वामीजीकी मृत्युने नास्तिकको आस्तिक बना दिया

गुरुदत्त विद्यार्थी गणित और विज्ञानके उद्भट विद्वान् थे । स्वामीजीने अपने जीवन–कालमें इन्हें तर्कसे परास्त कर दिया था । परन्तु आत्मा या परमात्माका साक्षात्कार तर्कसे नहीं होता । गुरुदत्तजी स्वामीजीसे प्रायः कहा करते थे कि मै आपसे तर्कमें तो परास्त हो जाता हूं परन्तु मुझे ईश्वरपर विश्वास नहीं होता है । स्वामी दयानन्दजी भी कह दिया करते थे कि समय भी आयेगा जब कि तुमको ईश्वरपर पक्का विश्वास हो जायेगा । वह समय स्वामीजीके जीवनान्तका ही था । इसी कारणसे स्वामीजीने केवल गुरुदत्तको ही अपने सामने खडा होनेका आदेश दिया । इस अलौकिक दृश्यको देखकर गुरुदत्त सच्चे आस्तिक हो गये । और उनका हृदय गद्गद होकर कह उठा, जो खोज रहा था वह आज मुझे आज प्राप्त हो गया ।

आत्म-विधेयक

(लेखक— श्री रतनलाल परमार)

☆

भारतीय-संस्कृतिकी अपनी एक अद्वितीय विशेषता है और वह मूलत. अध्यात्म प्रधान है। इसके साथ ही हमारी विशाल संस्कृति मौलिक रूपसे मृदुल एवं उदार होते हुए भी विस्तृत किंवा संख्यात्मक गुणोंकी अपेक्षा सघन गुणों पर ही अपनी शक्ति केन्द्रित करनेका आग्रह करती है।

मनुष्यका शरीर अपने आपमें कुछ नहीं है और उसके जीवनका भी कुछ विशेष मूल्य नहीं है। जीवनकी प्रायः सभी अवस्थाएं तथा क्रियाएं लगभग समस्त जीवों और मनुष्योंमें एक समान ही होती हे। इन्हीं सब विषयोंको ध्यानमें रखते हुए हमारे दार्शनिक देशकी सभ्यताने उस जीवनका वास्तविक मूल्यांकन किया है, जिसका कोई सात्विक एवं महान् उद्देश्य हो। इस दिशामें भी हमारा वेदान्त उन गुणोंका महान् आदर ही नहीं करता है अपितु पूजा करके नरत्वसे देवत्वके उच्चासन पर अभिषेक करता है, जो अधिकाधिक उच्च हो।

आज विज्ञानने यह चरितार्थ कर दिया है कि, पिण्डों किंवा कणोंकी विशालता उतनी अधिक शक्तिके केन्द्र प्रतिपादित नहीं होती है, जितनी अधिक सूक्ष्माति सूक्ष्म परमाणु अपनेमें ही शक्तिका उद्घाटन करके चमत्कारिक सिद्ध हुए हैं। परमाणुओंका यह शक्ति-प्रस्फुटन ही मानव को प्रोत्साहित करता है कि, थोथा समाज और आशाके बाह्य स्तरमें उलझे हुए संसारके मोघ कार्य उसको अपने निश्चित और गन्तव्य स्थान पर नहीं ले जा सकते। जीवनके उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये : चाहे उसकी संज्ञा, मोक्ष, उद्धार, शिवत्व, कल्याण, ब्रह्मत्व, मांगल्य हो अथवा किसी शून्यमें विलीन होनेकी बात ही किंवा किसी लोककी प्राप्तिका वह विषय हो; मानवको अपनी अन्तर्शक्तिको जागृत करके स्वयं ही प्रयत्न करना होगा और अपने उद्धारका मार्ग भी स्वयं ही चरण चरणसे मापना होगा। यह सहज ही सम्भव हो सकता है कि, इसप्रकारसे प्रशस्त किया गया मार्ग, जन साधारणके लिए बादमें राजपथका काम दे जाये, जैसे शासन द्वारा निर्मित सेतुके आश्रयसे पिपिलिका जैसा लघु प्राणी भी बडी सरलतासे सरिताको पार कर जाता है।

अपने स्वयंके उद्धारके इस प्रयत्नके लिये निज वंशीरवसे भुवन भरको विमोहित करनेवाले मुरली-मनोहर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गीतामें एक सुन्दर श्लोकका गान किया है और उक्त अमोघ ध्येयकी पूर्तिके लिये समाजसे पराङ्-मुख अथवा एकाकी होनेका संकेत किया है, क्योंकि यह महान् क्लिष्ट कार्य सामूहिक रूपसे सहज ही सफल नहीं हो सकता। सम्भवतः यही कारण सर्वत्र आच्छन्न रहा है कि, इसप्रकारसे आत्मोद्धार करनेवाले सन्त-महात्मा जगत्के कोलाहलको छोडकर गिरि-कन्दराओंमें शरण लेते रहे हैं।

श्लोक इस प्रकारसे है :—

" उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ "
(गीता अध्याय ६ श्लोक-५)

हम एकसे अनेककी ओर जावें अथवा अनेकसे एककी ओर जावें, दोनोंका आशय एक ही है और परिणाम भी भिन्न नहीं हो सकता। इकाईको सिद्ध कर लेनेके पश्चात् समूहको उक्त सिद्धिका दर्शन प्रदान करना बडा सरल होता है। उदाहरणके लिए आप किसी भौतिक आविष्कारको ले लीजिये। आविष्कर्ता सर्व प्रथम अपने मन-मानसमें अनेक विविध-विधानकी बातें सोचेगा और उनपर नानाविधि असंख्य प्रयोग भी करेगा। ऐसा करते करते वह अन्तमें सिद्धिके सोपानपर पहुंचेगा और तदनन्तर वह एक व्यापक समाजके

सम्मुख प्रस्तुत करेगा। एक बार इस प्रकारसे प्राकव पूर्ण कर लेनेके पश्चात् वह असंख्य यंत्रका निर्माण बडी सरलतासे कर सकेगा। इसी प्रकारसे यदि कोई महानुभाव अपने प्रयोगात्मक आत्म-विधेयकके द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त कर लेता है, तो वह फिर शेष सम्पूर्ण संसारको भी कल्याणके मार्ग पर ले जानेके हेतु नेतृत्व कर सकता है। जैसा कि महर्षि योगी अरविन्दने श्रेष्ठ किंवा अलौकिक मानवत्वकी सिद्धिका मार्ग अपनी तपस्यासे प्रशस्त कर दिया है।

संसार संश्लिष्ट प्रणालीका एक पदार्थ पाठ है। इस जगत्से सबका सबसे सम्पूर्णतः सम्बन्ध है। हम जो कुछ सोचते, विचारते अथवा करते हैं, उनका सबका प्रभाव समस्त जगती पर समान रूपसे होता है। इसी प्रकारसे सम्पूर्ण विश्वके जन-मन-मानस जो कुछ क्रिया-कलाप करते हैं तथा जिन भाव, विचार और कल्पनाओंका मंथन करते हैं वे भी हम सब जीवों पर समान रूपसे प्रभावशील होते है। आज प्रच्छन्न महान् शक्तिका हाथ हम सब लोगोंको जिस दिशामें ले जा रहा है, वह अवश्यम्भावी है और बीज रूपसे जो सन्त-महात्मा अपने ब्रह्मकी मौलिक उपासनामें संलग्न हैं, वह भी उसी प्रबल शक्तिकी इच्छाका परिणाम है। वैसे दोनों ही प्रकारके जीव, भिन्न दिशाओंमें जा रहे हैं। किन्तु उनके मार्गमें केवल इतना ही अन्तर हो सकता है कि, एक दिशा-परिवर्तनसे ही अपने गृहमें शीघ्रतापूर्वक पहुंच जाएगा और दूसरा पर्याप्त भ्रमण करनेके पश्चात्।

हम सभी जीव परस्पर एक दूसरेको जिस प्रकारसे प्रभावित करते हैं उसका सम्यक् दिशा निर्देश भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकारसे किया है :—

" सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। "
(गीता, अध्याय ६ श्लोक २९)

वास्तविक धनी

(लेखक— भैरवदत्त शुक्ल)

卐

भारत में ही नहीं, सारे संसार में आज-कल धन ही भगवान् प्रतीत होता है। वर्तमान शिक्षा अर्थंकरी है, वर्तमान कर्म-विधानका मूल केन्द्रबिंदु धन उत्पन्न करना है और वर्तमान समाज-व्यवस्था अर्थपर आधृत है। दूसरे शब्दों में- साधन रूपमें प्रयुक्त होनेवाला धन बहुतोंके लिए साध्य बन बैठा है।

यूरोपीय सभ्य संसारमें अमेरिका धन-कुबेर समझा जाता है। कलका संपन्न भारत आजका बहुत बड़ा भिखारी बन गया है फिर भी उसके धनपति बिड़ला, डालमिया, टाटा, सिंहानिया प्रभृति अन्ताराष्ट्रिय ख्यातिलब्ध हैं। परन्तु चाहे अमेरिका हो, चाहे उल्लिखित तथाकथित भारतीय धनपति; वास्तवमें ये असली धनपति नहीं हैं। तभी अपने आप प्रश्न उद्भूत होता है कि धनी कौन ?

एक ऋचा उपर्युक्त प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देती है—

स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवा-
नमर्त्ये य आजुहोति हव्यम् ॥
स देवता वसुवनिं दधाति
यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति ॥

(ऋग्वेद ७।१।२३)

जिसका सरल तात्पर्य केवल यह है कि हे अग्रगामी ज्ञानी ! उत्तम प्रकाशपूर्ण महात्मा ! वही मृत्युलोकका निवासी मनुष्य धनी है जो, अविनश्वर परमेश्वरके प्रति भोग्य साधनोंको पूर्णरूपेण समर्पित कर देता है। वही धनके लक्षित देवोपम गुणोंको धारण करता है जिसके समीप पता लगाता हुआ या पूछता हुआ विद्वान् याचक बनकर आता है।

धनका सही अर्थ होता है वह साधन जो प्रीतिका उत्पादक हो। क्या वास्तवमें आजकल धन प्रीतिका उत्पादक है ? जिनके पास करोड़ों अरबोंकी संपत्ति है उन्हें देख कर लघु-कुटीर वासी आत्तंजन रह-रहकर जलते-भुनते हैं। समाजके समग्र धनके ट्रस्टीमात्र न बनकर, जो एकमेव उपभोक्ता, अधिकारी और नियन्ता बन बैठे है, उन्हें भी कभी शांति नहीं मिलती। उन्हें समाजके चोरों, डकैतों और कानूनी करोंका दिन-रात भय सताया करता है। वे हर समय अपनेको असुरक्षित समझते और अशान्त बने रहते हैं। शासनकी ओरसे नित्य नये लगने वाले कर तो उनकी मानसिक स्थितिमें और भी बवंडर उठाया करते हैं।

उपर्युक्त स्थितिका मूलकारण यही है कि वैदिक दृष्टिसे वर्तमान समयमें कोई धनी है ही नहीं। सभी लोग किसी न किसी रूपमें अकिंचन, असहाय और उद्विग्न हैं। धन प्रीतिका उत्पादक न रहकर, कलह, घृणा, ईर्ष्या, मद, द्वेष और विघटनका मुख्य कारण बन गया है।

धनके माध्यमसे जितनी भी सांसारिक प्रीतियाँ प्राप्त होती हैं या भौतिक आनंद मिलते हैं, वे सबके सब दुःखसे परिपूर्ण हैं; उनकी सत्ता क्षणभंगुर और अस्थायी है तथा उनकी प्रीति बनावटी और कृत्रिम है।

यहाँ यह जिज्ञासा पैदा होना स्वाभाविक ही है कि क्या कोई ऐसा भी आनंद है जो स्थायी, सहज और शाश्वत सुखद हो ? उत्तरमें निम्नलिखित औपनिषदिक खण्ड प्रस्तुत किया जा रहा है—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात् साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः ॥ २ ॥

ये ते शतं मानुषा आनन्दाः । स एको मनुष्य-गन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणां आनन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एकं आजानजानां देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानां आनन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ३ ॥

अर्थात् अब यहां आनंदकी विवेचना की जाती है । जो तरुण, सदाचारी, अधीत विद्वान् उत्साही, दृढनिश्चयी और बली हो, उसके लिए यह समस्त वसुंधरा धनसे पूर्ण भरकर मिलेगी, उससे उस मनुष्यको जो आनंद मिलेगा, वह एक मानवीय आनंद है ।

जो ये मानवीय सौ आनंद हैं, उनके बराबर मनुष्य गंधर्वों (सामगायन निपुण अनन्य प्रभुभक्तों) का एक आनंद है या निष्काम वैदिक विद्वान् का एक आनंद है ।

जो ये मानवीय गंधर्वों के सौ आनंद हैं ! उनके बराबर देवगंधर्वों (ब्रह्म वेत्ता प्रभुगायकों) का एक आनंद है या निष्काम वैदिक विद्वान् का एक आनन्द है ।

जो ये देव-गंधर्वोंके सौ आनंद हैं, उनके बराबर पितरों (सुदीर्घ अवधितक परम प्रभुके साहचर्यसे युक्त पितृसंज्ञक विद्वानों) का एक आनंद है या निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनंद है ।

जो ये पितरोंके सौ आनन्द हैं, उनके बराबर आजानज देवों (जन्मसे ही महान् मेधावी यशस्वी विद्वानों) का एक आनन्द है अथवा निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनन्द है । ये जो आजानज देवोंके सौ आनन्द हैं, उनके बराबर कर्मदेवों (उत्तम कर्मोंके कारण देव-संज्ञक जनों) का एक आनन्द है या निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनन्द है ।

जो ये कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं, उनके बराबर देवों (परंपरासे स्वयंसिद्ध विद्वानों) का एक आनन्द है या निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनन्द है ।

जो ये देवोंके सौ आनन्द हैं उनके बराबर इन्द्र (देवाधिपति) का एक आनन्द है या निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनन्द है ।

जो ये इन्द्रके सौ आनन्द है, उनके बराबर बृहस्पति (वाणीके अधीश्वर) का एक आनन्द है या निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनन्द है ।

जो ये बृहस्पतिके सौ शुभ आनन्द हैं, उनके बराबर प्रजापति (विद्वान् शिरोमणि प्रजाके अधीश्वर) का एक आनन्द है या निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनन्द है । जो ये प्रजापतिके सौ आनन्द हैं, उनके बराबर ब्रह्मका एक आनन्द है या निष्काम वैदिक विद्वान्का एक आनन्द है ।

यदि इस औपनिषदिक आनन्दकी उल्लिखित कोटियोंका विस्तृत विवेचन किया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रंथ ही तैयार करना पड़ेगा । यहां केवल आनन्द-कोटियोंकी ओर संकेत करना अधिक समीचीन है । यदि इन आनन्द-कोटियोंका परिलेखात्मक अंकन किया जाये तो निम्न लिखित स्थिति होगी—

१. तरुण, सदाचारी, स्वस्थ एवं धनसे परिपूर्ण मनुष्य का एक आनन्द ।

२. सौ मानवीय आनंद= एक मनुष्य गंधर्व आनंद या एक निष्काम वैदिक विद्वान्का आनन्द

३ सौ मनुष्य गंधर्व आनन्द = एक देव गंधर्व आनन्द या एक निष्काम वैदिक विद्वान्‌का आनन्द

४ सौ देव गधर्व आनन्द = एक पितर आनन्द या एक निष्काम वैदिक विद्वान्‌का आनन्द

५. सौ पितर आनन्द = एक आजानज देव आनन्द या एक निष्काम वैदिक विद्वानका आनन्द

६. सौ आजानज देव आनन्द = एक कर्म देव आनन्द या एक निष्काम वैदिक विद्वानका आनंद

७ सौ कर्मदेव आनद = एक देव आनद या एक निष्काम वैदिक विद्वानका आनद

८. सौ देव आनद = एक इन्द्र आनद या एक निष्काम वैदिक विद्वानका आनद

९ सौ इन्द्र आनद = एक बृहस्पति आनद या एक निष्काम वैदिक विद्वानका आनद

१० सौ बृहस्पति आनंद = एक प्रजापति आनद या एक निष्काम वैदिक विद्वानका आनद

११ सौ प्रजापति आनद = एक ब्रह्मानद या एक निष्काम वैदिक विद्वानका आनद

इस दृष्टिसे स्पष्ट हो जाता है कि इन उपर्युक्त ग्यारह आनद-कोटियोंमें यदि कोई आनंद शाश्वत, स्थायी या अविनश्वर कोटिमें हो सकता है तो वह ब्रह्मानंद ही है। शेष समस्त आनद-कोटियां क्रमशः उच्च भूमिका युक्त बनते हुए भी अन्तत काल-कवलित हो जाती हैं। हां, यदि ब्रह्मानदकी समता करनेकी क्षमता किसी अन्य आनद कोटिमें हो सकती है तो वह केवल निष्काम वैदिक विद्वानके सहज रससिद्ध आनदकी मधुर आह्लादमयी कोटिमें।

वर्तमान स्थिति तो नितान्त चिन्त्य है। आनद-कोटियोंमें जो सबसे निम्न या प्राथमिक कोटि मानवीय आनदकी है, वह भी विरल हो गयी है। आज तो मनुष्य गधर्व देव गंधर्व, पितर, आजानज, देव, देवाधिपति इन्द्र, वागीश्वर बृहस्पति, समस्त सत्ता सपन्न प्रजापति आदिके आनन्दका प्रतिबिम्ब तक देख पाना केवल कल्पना जगत्‌में ही सभव है, वास्तविक जगत्‌में नहीं।

+

अब तो संस्कार इतने दुर्बल हो गये हैं, आत्मबल इतना मृत हो चला है और अपराजेय प्रज्ञा इतनी अशक्त असहाय बन चुकी है कि ऊपर बतलाये हुए मानवीय आनन्दकी भी सभी शुद्ध विशेषताए एक साथ कहीं नहीं दृष्टिगत हो पातीं।

तनिक मानवीय आनदकी विशेषताए फिरसे देख ली जायें। उपनिषदकारने स्पष्ट रूपसे कह दिया है—

युवा स्यात् साधु युवाध्यापकः
आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः।
तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्
स एको मानुष आनन्दः।

जो तरुण, सदाचारी हो, अधीत विद्वान् हो स्वस्थ विचारोंवाला हो, पुष्टिप्रद आहार करता हो, दृढ शरीरवाला और बलवान् हो, धनधान्यसे परिपूर्ण वसुधा उसीकी है। यह एक मानुष आनन्द है।

इससे साफ पता चलता है कि मानवीय आनन्दमें—(क) तारुण्य (ख) सदाचार (ग) अध्ययन विद्वत्ता (घ) स्वस्थ विचार (ङ) सन्तुलित आहार (च) शारीरिक दृढता छ बल (आत्मिक शारीरिक दोनों) ये सात विशेषताए होती हैं जिनमेंसे एकका भी अभाव होनेपर व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अपनेको धनी कहलानेका अधिकारी नहीं रह जाता।

उपर्युक्त निकषके हल्के स्पर्शमात्रसे ही आजकलके भारतीय ही नहीं वरन समस्त ससारके बड़ेसे बड़े सर्वाधिक सभ्य योरोपीय देशोंके धन-कुबेरोंकी भी कलई खुल जाती है। समस्त भू-मंडलमें इन सातों विशेषताओंसे युक्त धनी व्यक्ति हाथमें दीपक लेकर खोजनेपर भी नहीं मिल सकता। और भारत वह तो सबसे गया गुजरा आजका महाभिक्षुक ऋणभारसे दबा निर्धन देश है। उसमें तो इन विशेषताओंसे युक्त लोग धनी हो ही नहीं सकते। धन और सदाचार यहां सांप नेवले जैसे माने जाने लगे हैं। इस समय तो धन और विद्वत्ताको एक साथ देखनेकी बात करनेवाले यदि तुरन्त पागल घोषित कर दिये जायें तो आश्चर्यकी बात नहीं होगी इसीलिए कहना पड़ता है कि भारतमें कोई धनी नहीं है।

तो अब वेदकी भाषामें यह मान लेना ही श्रेयस्कर होगा चाहिए कि वही मरणधर्मा विनाशी मनुष्य धनी है जो

अविनश्वर जगदीश्वरके लिए संपूर्ण भोग-विलासके साधन न्योछावर कर देता है—

स मर्तो... रेवान्, अमर्त्ये य आ जुहोति हव्यम्।
(ऋग्वेद ७।१।२३)

यही बुद्धिमत्ता भी है। जो कुछ भी पास हो, उसे अपना न समझकर, यदि सभी प्राणियोंपर लुटानेका यज्ञमय व्रत पाल लिया जाये तो निर्धनोंकी संख्या घटते देर न लगे। अपनी सांसें, धन-संपत्ति, सम्मान-प्रतिष्ठा-सब कुछ ईश्वर-पर जो लोग न्योछावर नहीं कर सकते, उन्हें ब्रह्मानन्द क्या, सांसारिक अस्थायी शांति भी नहीं मिल सकती।

सच बात तो यह है कि ये संस्कृतिके छलिया साधन जो अपनी चमकीली आभासे हम सबको विमुग्ध करते रहते हैं, अपने पास बने भी नहीं रह सकते। या तो इन्हें छोडकर हमें अपना चोला बदलना पडता है या ये हमें छोडकर स्वयमेव खिसक जाते हैं। इसलिए जो खिसक जानेवाले हैं उन साधनोंको बांटकर-बिखराकर संतोष-धन अर्जित करना कितना अच्छा है। इसी साधनाको सतत प्रवाहमान बनानेके लिए ही तो हमारे यहां विश्वजित् यज्ञ हुआ करते थे।

जो वास्तविक धन है, वह दानके माध्यमसे घटनेके बजाय बढता ही है। वेद उपदेश करता है

उ तो रयिः प्रणतो नोपदस्यति।
(ऋग्वेद; १०।११७।१)

दाताका धन विनष्ट नहीं होता

धनी-की-सर्वाधिक महीयसी विशेषता यह है कि उसके पास पता लगाता हुआ विद्वान् याचक जाता है। तभी तो उसे धनके शुभ गुणोंका धारक मान लिया जाता है। फिर, भला वेद क्यों न कहे-

'स देवता वसुवनिं दधाति
यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति। ऋग्वेद; (६।१।२३)

अर्थात् वही धनके ललित देवोपम गुणोंको धारण करता है जिसके समीप पता लगाता हुआ विद्वान् याचक बनकर जाता है।

उल्लिखित एक पंक्ति ही किसी भी समाजकी समृद्धिकी खोट या विशेषता का सही मापन करनेमें समर्थ है। यह वह मापक यंत्र है जो कभी भी गलत नहीं हो सकता। इसने सुदामाका सहारा लेकर कृष्णकी वास्तविक समृद्धिका मापन किया है और मरणासन्न कर्णकी दानशीलताकी ओर इंगित करके, उसे सर्वाधिक धनी घोषित किया है।

जिस विद्वान्के लिए संसारका समस्त ज्ञान - विज्ञान हस्तामलकवत् होता है, वह भौतिक एषणाओंकी तुष्टिकी आवश्यकता पडने पर श्रेष्ठ अधिकारी धनिकपात्रके ही पास आकर याचना करता है। जो धनी अपने सिक्कोंकी खनक या नोटोंकी सरसराहटसे संसार भरमें रोब गांठनेके फिराकमें रहता है, उसके पास ठोस वास्तविक विद्वान् तृषित और बुभुक्षित होनेपर भी याचना नहीं करने जाता। जिस धनीके मनमें उलूकवाहिनी अस्थिरा लक्ष्मीके झंडेके तले विद्वानोंको अवनत करनेकी दुर्भावना होती है उसके पास कोई भी विद्वान् भगवती सरस्वतीका अपमान - उपहास कराने नहीं जाता।

परन्तु वह धनी कितना सौभाग्यशाली है! जिसके पास विद्वान् अपने आप आकर याचक बने। जिसे हम मानवीय आनन्द कहते हैं उसकी प्राप्तिका सबल साधन बननेवाला धन वास्तवमें अच्छा या तुच्छ नहीं होता। संसारके समग्र व्यवहार-व्यूहमें अकेला धन ही बहुत कुछ कर लेता है। जो विरक्त हैं, जिनके लिए सांसारिक साधन विशेष आकर्षक नहीं प्रतीत होते, वे भी तो अन्न-वस्त्रके बिना अपना भरण पोषण नहीं कर सकते। इसलिए यह कहना कि धनका कोई महत्त्व नहीं वास्तविकताको नकार देना है।

यही कारण है कि वेद धनका निन्दक नहीं बनता जो धन पानेके इच्छुक हैं, जो धन एकत्र करते हैं या जो अशेष ऐश्वर्यसे परिपूर्ण होते हैं; वेद उनकी भी निन्दा नहीं करता।

साथही वेद केवल अपने लिए धन एकत्र करना उचित नहीं मानता। वह स्पष्ट रूपसे यही उद्घोषित करता है–

'शतहस्त समाहर' — अथर्ववेद; ३।२४।५)

— सैकडों हाथोंसे धनका अर्जन करो।

और—सहस्रहस्त संकिर'

—अथर्ववेद; ३।२४।५)

सहस्रों हाथोंसे वितरित करो।

जो वास्तविक धनी हैं, उनका वैशिष्ट्य इतना ही है कि वे बहुत कमाते हैं और बहुत दान कर डालते हैं। ऐश्वर्यका परिग्रह उन्हें भार प्रतीत होता है।

ऐसे वास्तविक धनी चार कोटिके होते हैं—

(क) वागीश्वर धनी–इस वर्गके धनी अपने उपाध्याय या गुरुसे जो भी ज्ञान अर्जित करते हैं, वह सबका सब निःस्वार्थ–निःशुल्क सहस्रों शिष्योंमें वितरित कर देते हैं। ऐसे धनियोंमें पुरातन भारतीय गुरुकुलोंके कुलपतियोंकी गणना की जाती है।

(ख) आयुधेश्वरधनी–इस कोटिके धनी अपने बाहु-बल, सीखे हुए दांव–पेंचों और शस्त्रास्त्रपरिचालनकी विद्याओंके संबलसे प्रवृत्त पूर्ण पराक्रम संसारके रक्षण-संरक्षण पर सहर्ष न्योछावर कर देते हैं। इस प्रकारके धनी भारतीय वर्णव्यवस्थाके स्वर्णयुगीन दौरमें उत्पन्न सभी क्षत्रियोंको माना जाता है।

(ग) वणिक् धनी–हम उन्हें वणिक धनी समझते हैं जो अन्नादिसे साधुओं–ब्रह्मचारियों विद्वानों–उपदेशकों और संसारके लोकसेवकोंका स्वागत करनेमें हिचकका अनुभव नहीं करते; सारे समाजके विद्यार्थी वर्गका भरण–पोषण शिरोधार्य करते और राष्ट्रके लिए युद्धकी आवश्यकता पडने पर रसद–आयुधादि जुटाते हैं।

(घ) सेवक धनी–इस कोटिमें वे धनी आते हैं जो बिना किसी स्वार्थ या कामनाके अपने मन, वचन, कर्मसे सदैव सारे सामाजिक घटकोंकी सेवा करनेके लिए तत्पर रहते हैं।

यदि सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाये तो इन चार कोटियोंमें भी दो कोटियोंका ही विशेष महत्त्व है :– (क) वैश्य धनी अर्थात् गृहस्थ धनी और (ख) ब्रह्मतत्त्ववेत्ता उपदेशक उपदेष्टा धनी।

इन दोनों कोटियोंमेंसे प्रथम कोटि तो सांसारिक जनोंको मानवीय आनन्द प्रदान करती है जब कि दूसरी कोटि ब्रह्मानन्दकी समुपलब्धि कराती है।

चाहे उल्लिखित चार कोटियां हों, चाहे दो, इन्हींको वास्तवमें धनी,-कोटियां स्वीकार करना चाहिए। और, जो इनमें नहीं आते, वे धनी न होकर धनके परिग्रह कर्तामात्र हैं जिनसे सामाजिक द्वन्द्वकी अभिवृद्धि होनेमें सहायता मिलती है।

अन्ततः यही कहना पडता है कि ऐ संसारके भोले धनी मानव ! सब कुछ देकर ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति कर !

आर्यसमाज और हिन्दी

(लेखक— श्री सत्यपाल शर्मा)

☆

आर्यसमाज एक क्रान्तिकारी संस्था है। इसके संस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती स्वयं एक साहसी क्रान्तिकारी थे और उन्होंने महाभारत कालसे उत्तरोत्तर पतनोन्मुख चलती हुई संस्कृतिकी धाराको बदलनेके लिए क्या धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रमें अपितु शिक्षा और समाज-व्यवस्थाके क्षेत्रमें भी एक महान् क्रान्तिको क्रियारूप दिया। आज उसी महान् आत्माकी महान् शक्तिका ही परिणाम है कि भारतमें समाज अपनी परम्पराकी दिशामें एकदम पलटकर एक नई दिशाकी ओर चल पडा। यह बात अवश्य है कि जिस तेजीसे वह उस प्राचीन एवं वास्तविक दिशाकी ओर मुडा उतनी तेजीसे वह चल नहीं पाया और यद्यपि उसकी क्रान्तिके परिणाम उसके चारों ओरके वातावरणमें स्पष्टतया लक्षित हो रहे हैं परन्तु वह स्वयं थका थका सा मन्द-मन्द घिसट रहा है और इसका परिणाम क्या हो सकता है यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है।

आज स्थान-स्थान पर सनातन धर्मसभाओंकी ओरसे 'पुत्री पाठशालाएं' जो खुली हुई हैं यह इसी क्रान्तिका ही तो परिणाम है। आज पौराणिक पंडितोंके मुखसे आर्यसमाजके प्रति वह अपशब्द नहीं सुननेको मिलते। इतना ही नहीं बहुतसे पौराणिक पंडित अपनी बातोंमें संस्कार-विधि भी लेकर चलते हैं। आप कह सकते हैं कि उसे तो धन प्राप्तिकी लालसा है इसलिए किसी भी विधिसे संस्कार करानेमें संकोच नहीं करता। यही बताता है कि अब पौराणिक पंडित भी अपनी कट्टरवादितासे अलग हो चुके हैं। यही नहीं, अब तो बहुतसे सनातनधर्मी नेताओंने भी महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा दिए गए "यथेमां वाचं कल्याणीम्" के अर्थको स्वीकारकर लिया है और वे भी शूद्रोंतकको वेद पढानेके विधानका वेदमें होना स्वीकार करते हैं। इसी तरहसे शुद्धिका क्षेत्र भी। अब शायद ही कोई ऐसा होगा जो आर्यसमाजके इस क्षेत्रमें किए गए कार्योंकी सराहना न करता हो या उसके मार्गमें बाधक बनना चाहता हो। माइकेल स्काट जैसे ईसाई मिशनरियोंकी काली करतूतोंने अब और भी आंखें खोल दी हैं।

पर आजकलका आर्य समाज अपने पूर्वजोंके बलिदानोंके फलोपभोगमें ही आनंदसे तल्लीन है। उसके क्रान्तिके ये कदम रुक तो गए ही हैं, जिस प्रकार बहता पानी कहीं इकट्ठा हो जाता है तो उसमें बहुतसे बाह्य तत्त्व मिलने लगते हैं। इसी प्रकार इस आर्यसमाजकी धारामें भी जो अब या तो वह ही नहीं रही या अगर वह भी रही है तो इतने धीमे कि प्रवाह लक्षित ही नहीं होता, बहुतसे कलुषित बाह्य तत्त्व मिलने शुरू हो गए हैं। राजनैतिक अखाडोंकी कूटनीतियां, पारस्परिक विद्वेष, आदि स्वतंत्र भारतकी राजनीतिके कलुषित तत्त्व तो इसमें घुस ही गए हैं। तेजीसे बदलती हुई संस्कृति और सभ्यताके भौतिकवादी तत्त्व भी जो वस्तुतः अस्थिर हैं और जो आर्यसमाजकी लक्ष्यप्राप्तिमें बहुत बडे बाधक हैं, इसमें घुसते चले जा रहे हैं। अतः आर्यसमाजके सभी नेताओं और इस क्रान्तिकारिणी संस्थाके क्रान्ति स्वरूपको जो जीवित और जागृत रखना चाहते हैं उनके समाजमें एक क्षेत्र ऐसा रखना चाहता हूं जिसमें आर्यसमाज एक बहुत बडी क्रान्ति ला सकता है। वह है हिन्दीका क्षेत्र। महर्षि दयानन्द सरस्वतीने स्वयं हिन्दीमें सत्यार्थ प्रकाश लिखकर इस क्रान्तिका प्रारंभ किया, परन्तु जिस दूरदर्शी महर्षिने आर्यसमाजको यह एकताका सूत्र दिया उसने इसे आगे बढाया नहीं।

यह निश्चित है कि यदि बहुतसे अन्य आन्दोलनोंके साथ हिन्दी-आन्दोलन शुरूमें ही आर्यसमाज अपनाता तो सारे दक्षिण भारतमें आज हर क्षेत्रमें आर्यसमाज ही आर्यसमाज होती। यह सोचनेकी बात है कि कोई भी धार्मिक आन्दोलन शुद्ध धार्मिक आधार पर कभी भी तेजीसे बढ़ नहीं सकता। उसको बढ़नेके लिए कुछ और भी सहारा चाहिए। उत्तर भारतमें इसके इतने प्रचारका कारण है शुद्धि आन्दोलन और शिक्षा-आन्दोलन। दक्षिण भारतमें उस समय यदि हिन्दी-आन्दोलनको अपना लिया जाता तो आज दक्षिण भारत हिन्दीप्रचार-सभाकी जो स्थिति है इससे बढ़िया स्थिति आर्यसमाजकी होती और हिन्दी आन्दोलनका रूप भी ऐसा क्रान्तिकारी होता कि दक्षिण भारतमें कोई भी हिन्दीविरोधी द्राविड मुन्नेत्र कणगम पैदा न होता। जिस प्रकार आर्यसमाजने संस्कृतका क्षेत्र बिल्कुल अछूत-छोड़ दिया है और उसमें पुराण-पंथी पंडितोंको काम करनेके लिए 'संस्कृत विश्वपरिषद्' आदिके रूपमें अनेकों संस्थाएं मिल गई हैं .. और इनसे निश्चित रूपमें संस्कृतके क्षेत्रमें अज्ञानका ऐसा सुदृढ़ किला तैयार हो रहा है कि फिर उसे भेदनेके लिए किसी महान् आचार्यकी आवश्यकता पड़ेगी... उसी प्रकार हिन्दीशिक्षाका क्षेत्र भी आर्यसमाजने अछूता ही छोड़ रखा है।

अब भी समय है कि वह इस क्षेत्रमें कुछ रचनात्मक कार्य करे। पंजाबके विभाजनसे यह अब पूर्णतः निश्चित हो गया है कि राष्ट्रभाषाकी समस्याका समाधान कभी भी राजनैतिक आन्दोलनोंकी सहायतासे नहीं किया जा सकता, इसके लिए जन जनके मानसमें बैठना पड़ेगा। जन-जन तक पहुंचना होगा। अब हमको यह जान लेना चाहिए कि ८-१० दिनोंका सत्याग्रह, भूख हड़ताल या अन्य कोई आन्दोलन करके हम भाषाको जन-सामान्यके गले नहीं उतार सकते, उसके लिए वर्षोंकी तपस्या करनी पड़ेगी। इसमें १० वर्ष भी लग सकते हैं २० और तीस भी। परन्तु "दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" योगदर्शनके इस सूत्रके अनुसार हम लोग दीर्घकाल तक निरन्तर तथा श्रद्धा एवं तत्परतासे यह काम करेंगे तो भारतमें भाषायी एकता लानेका सेहरा आर्य-समाजके सिर बंधेगा। यह काम आर्यसमाज ही कर सकता है। इसके लिए हमें अभीसे काम करना पड़ेगा। कुछ सुझाव ये हैं—

१ आर्यसमाजकी अन्तरंग सभामें एक सदस्य इसीके लिए नियुक्त हो कि वह हिन्दी-विकास तथा उसमें आर्यसमाजके प्रयत्नोंकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले।

२ आर्यसमाजोंके सभी अभिलेख आदि हिन्दीमें ही रखे जाएं।

३ जिस जिस ग्राम या शहरमें आर्यसमाजें हैं वहां वहांके व्यापारी तथा कंपनियां या फर्मोंसे मिलकर उन्हें हिन्दीमें कागज पत्र रखनेके लिए प्रेरित करें।

४ जो व्यापारी वर्गके व्यक्ति आर्यसमाजके सदस्य हों वे इस बातका दृढ़ संकल्प करें कि देशहितके लिए वे सारा काम हिन्दीमें ही करेंगे।

५ जो आर्यसमाजके सदस्य सरकारी कर्मचारी हैं वे स्वयं इसका पूर्णव्रत लें तथा अपने साथियोंको भी प्रोत्साहित करें।

६ हिन्दी विकासको ही लेकरके आर्यसमाजें अपने मन्दिरोंमें साप्ताहिक या मासिक कार्यक्रम रखें।

७ उत्सवोंमें एक हिन्दी सम्मेलन अवश्य करें और उनमें केवल कविताओं आदि तक सीमित न रहकर हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूप जनतामें प्रतिष्ठित करनेके लिए क्रियात्मक उपाय ढूंढे जाएं।

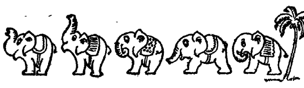
८ अपने अपने शहर और ग्राममें हिन्दीका अधिकसे अधिक विकास करनेकी पूरी जिम्मेदारी वहांकी आर्यसमाज अपने ऊपर ले।

अन्तमें मैं एक बात और कहना चाहता हूं। दिल्लीमें दिल्लीका आन्दोलन जनता और सरकारी कर्मचारियोंमें चुपके चुपके करनेवाली एक संस्था है केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद्। इसके कार्यकर्ताओंमें भी वही आग है जो आर्यसमाजके आन्दोलनके नेताओंमें थी। इस परिषद्ने सरकारी कर्मचारियोंकी सहायताके लिए बहुत सी उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित की हुई है। उदाहरणार्थः- जनता अंग्रेजीमें तार देनेकी प्रवृत्तिको बदल कर हिन्दीमें ही तार दिया करें इस आन्दोलनको चलनेके लिए उसकी ओरसे एक पुस्तक प्रकाशित की गई है "हिन्दीमें तार।" अब भारतमें २६०० ऐसे केन्द्र हैं जहां हिन्दीमें ही तार लिए दिए जाते हैं। इसका सदुपयोग हम क्यों नहीं कर सकते? आर्यसमाज इसके लिए क्या नहीं कर सकता? हिन्दी परिषद्के कार्यकर्ता

आर्यसमाजके किसी भी रचनात्मक आन्दोलनमें उनका हाथ बंटानेके लिए तैयार है। अब यदि प्रत्येक आर्यसमाजमें परिषद्की ये पुस्तकें हों और इन्हें जनतातक पहुंचाया जाए तो कितनी तेजीसे यह आन्दोलन फैल सकता है। यही नहीं यदि किसी शहर या ग्राममें कोई कंपनी या फर्म या और कोई संस्था अपना अंग्रेजी साहित्य हिन्दीमें करवाना चाहे तो उनके लिए भी पूरी व्यवस्था की जा सकती है। ऐसा साहित्य आर्यसमाजें मेरे पते पर भिजवा दें, इस साहित्यको हिन्दीमें तैयार करके भज दिया जाएगा। प्रत्येक बडी बडी आर्यसमाजें स्वयं अपना हिन्दीविभाग इन कामोंके लिए खोल सकती हैं। केवल संकेत रूपमें मैं यह सब बातें लिख रहा हूं। यदि आर्यसमाजें इस ओर प्रवृत्त हुईं और उसकी इस ओर कुछ प्रगति देखी गई तो दिल्लीमें एक प्राथमिक हिन्दी विभाग खोला जा सकता है जिसमें इस प्रकारका अधिकसे अधिक हिन्दी साहित्य तैयार हो। तथा यह सब काम बिना कोई शुल्क लिए ही किया जा सकेगा।

मुझे आशा है कि आर्यसमाजके प्रेमी उन मेरे विचारों तथा सुझावोंकी ओर ध्यान देगे तथा इस दिशामें कुछ ठोस कदम अभीसे उठायेंगे ताकि आर्यसमाज हिन्दी आन्दोलनमें अग्रणी बन कर चल सके।

स्वतंत्रताकी रक्षाके लिए भाषायी एकता और भाषायी एकताके लिए रचनात्मक–हिन्दी आन्दोलन आवश्यक है। जनतामें हिन्दी-आन्दोलन प्रारंभ करें।।। आर्यसमाजें अपने शहरों व ग्रामोंमें व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों तथा अन्य सभी वर्गोंके पुरुष और स्त्रियोंको राष्ट्रभाषाके प्रसार मे हाथ बंटानेके लिए प्रेरित करें और उनकी सहायता करें। नई दिल्ली की केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद् (एक्स० वाई० ६८ सरोजिनी नगर नई दिल्ली–३, हर क्षेत्रमें हर कार्य में हर समस्याके समाधान में आर्यसमाजोंकी सहायता करनेको तैयार है। परिषद्के प्रकाशन मंगाकर हिन्दी आन्दोलनको सबल बनाएं।



संकल्प-सिद्धिका अनुपम अनुभूत महामंत्र

(लेखक— श्री वेदपथिक धर्मवीर, आर्य ब्रह्मचारी)

卐

संकल्पसिद्धिके लिये सतत साधना, घोर तप, पुरुषार्थ ईश्वरविश्वास, आत्मविश्वास, आत्मबल श्रद्धामनोबल, आलस्य, प्रमादरहित होना एवं विवेक मेधाशक्तिका होना दैवी संपदाओंसे युक्त होना मनुष्यके लिये परम आवश्यक है।

मनुष्यको अपने जीवनका एक महान् लक्ष बनाये बिना संकल्पसिद्धिकी सुनहरी मंजिलोंके दिव्यदर्शन कदापि नही हो पाते हैं। संकल्पसिद्धिकेलिये तपोमय जीवनका होना नितान्त आवश्यक है। शिव सकल्पके सूत्रोंको बार बार लाख बार मनुष्य दुहराता रहे।

संकल्पसिद्धिमें अपने आपको बिलीन कर दे।

संकल्पसिद्धिके लिये कातर शब्दोंमें ईश्वरसे प्रतिक्षण प्रार्थना करना प्रारम्भ कर दे। अपने जीवनकी किश्तीको सर्वथा परमात्माके हाथोंमें समर्पित करके कर्मयोगी बने।

कर्मयोगकी सिद्धिमें सिद्ध हो जानेपर मन, वचन और कर्ममें एकता आ जानेपर ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, वेदज्ञान, योगज्ञान, मोक्षज्ञान, पुरुषार्थविज्ञानसे विज्ञ हो जानेपर कर्मयोगीकी दुनिया सर्वथा बदल जाती है। जब मानवदेवकी संज्ञाका अधिकारी अपने आपको मोक्ष अवस्थामें विचरण करनेका अलौकिक अकल्पनीय, अनुपम, अनुकरणीय आल्हादित, आत्मज्योति प्रकाशपूर्ण, सरल सरस मधुतर मंगलमूल हियहर्षक अपना स्वभाव बना लेता है। उस अवस्थामें दैवीशक्तियोंका अनन्त रत्नकोष प्रबल प्रवाहमें प्रतिक्षण प्रवाहित होने लग जाता है।

मोक्ष अवस्थामें विचरण करना आत्मसिद्धिको प्राप्त करना दैवीसंपदाओंका स्वामी बनना मानव जीवनका चरम लक्ष है।

मनुष्य जब अपने आपको परमात्माके साक्षात्कारका अधिकारी बना लेता है। जब परमात्मासे अनिर्वचनीय रूपसे वार्तालाप करने लग जाता है।

जब मनुष्य परमात्माकी गोदमें बैठनेका अधिकारी अपने आपको बनाकर परमात्माका अमृतपुत्र कहलानेका अधिकार प्राप्त कर लेता है। उस उपरिमित आनन्दकी सीमाकी कल्पना करना गुणगान करना लेखनी और वाणीसे सर्वथा परे की बात है।

शुभसंकल्पोंकी साधनामें प्रतिपल रत जब महर्षि योगीजन अपने तपोबलसे, मनोबलसे, आत्मबलसे, योगबलसे विद्याबल और योग तथा हठयोगकी सिद्धियोंसे विश्वके मानव समाजकी कायापलट देनेमें समर्थ हो जाया करते हैं

सृष्टिके आदिकालसे लेकर अबतकका इतिहास मथन करनेसे अवलोकन अध्ययन करनेसे यह ज्ञात होता है कि भारतवसुन्धराकी गोदमें एकसे एक ऐसे महर्षि महान् हुए थे, जो भूत, भविष्य और वर्तमानके महाज्ञाता हुआ करते थे।

मनोविज्ञान, आत्मविज्ञान, योगविज्ञान, कर्मविज्ञान, पुरुषार्थ-विज्ञान, संकल्प-विज्ञान, वेदविज्ञान, मोक्षविज्ञान, ब्रह्मविज्ञान, संकल्पसिद्धिविज्ञान, आहार-विज्ञान, सृष्टिविज्ञान, धर्म-विज्ञान, जीवविज्ञान, भूगर्भविज्ञान, कर्मगति विज्ञान, कर्मफलविज्ञान आत्मदर्शन विज्ञान, अन्तःकरणकी शुचिता विज्ञान, जीवन संग्राम विज्ञान, विश्वसेवा विज्ञान, यज्ञविज्ञान, साधना विज्ञान, प्रणव विज्ञान, सूर्य विज्ञान, चन्द्रविज्ञान, तारा विज्ञान, ग्रह उपग्रह विज्ञान, आत्मज्योति विज्ञान, कल्पना विज्ञान, शब्दविज्ञान आदि सैकड़ों विज्ञानों के महाज्ञाता कभी इस देशमें नर नारी हुवा करते थे।

इस देशके वासी कभी देव गिने जाते थे। भारतवर्ष देश कभी आत्म उन्नति और संकल्प बलमें विश्वका गुरु माना जाता है।

कभी इस देशमें आत्मज्ञानकी गंगाका संगम साकार हुवा करता था।

संकल्पसिद्धिमें सभी रत पाये जाते थे प्राचीन भारतकी पावन स्मृतियां आज यह पुकार पुकार कर कह रही हैं

कि इस देशके पशु, पक्ष, विषधर भुजंग भी परमात्माकी भक्तिमें मस्त पाये जाते थे। चतुर्दिक् ईश्वरका गुणगान हुवा करता था। कभी दशों दिशायें वेदमंत्रोंकी पावन ध्वनिसे गूंजती थीं। संस्कृत और वेदोंके महाविज्ञ विद्वान् यहांके लकडहारे और तोते मैना पाये जाते थे।

शब्द विज्ञानके आधार पर आज भी समाधि अवस्थामें समाहित होकर महर्षियोंके अरबों वर्षोंके उपदेशोंको मनुष्य हृदय आकाशामें श्रवण कर सकता है। पूर्वजन्मोंकी अगम्य विद्याओंकी खोज किया जाना सर्वथा सरल कार्य है। पूर्व जन्मोंकी विद्याओंके रत्नकोषको प्राप्त करके मालोमाल हो जाना सर्वथा सुलभ कार्य है। पूर्वजन्मोंके शुभ संकल्पों को पूरा इस जन्ममें किया जाना सर्वथा सम्भव है। पूर्व जन्मोंकी अगम्य विद्याओंकी खोज करनेपर लेखकको इस रहस्यका पता चला है। कि पूर्व जन्मोंकी विद्याओंके बोधसे अगम्य अथाह विषयोंपर धारा प्रवाह सैकडों ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। पूर्व जन्मोंकी सतत साधनाके आधारपर असंभव कार्योंको भी पूरा किया जा सकता है।

जब मनुष्य दैवी शक्तियोंके रत्नकोषका स्वामी अपने आपको बना लेता है, उस अवस्थामें संकल्प बलसे पुरुषार्थ करनेसे प्रार्थनाकी सिद्धिसे सिद्ध हो जाने पर यज्ञमय जीवनके बन जाने पर महान्से महान् कार्योंको असंभव कार्योंको योगी जन करके दिखलाकर विश्वको चकित कर दिया करते हैं।

यदि मनुष्य अपनी अन्तर आत्माके शब्दोंको, महर्षियोंके शब्दोंको, वेदों के उपदेशोंको ध्यान पूर्वक सुनने लग जाये तो उसका जीवन कुन्दन सम, रत्न मणियोंके जगमग दीप सम चमकने लग जायें।

आत्मज्ञानकी सहस्रों सूर्य सम ज्योति है। मानव अनन्त शक्तियोंका पुंज है। जब मनुष्य यह जान जाये कि मैं कौन हूं मैं कहा जा रहा हूं। मैं कहांसे आया हूं। इतना बोध प्राप्त हो जाने पर मनुष्य वेदको संज्ञाका अधिकारी बन कर जगत्को नवजीवन प्रदान कर सकता है।

हे मनुष्यो, यदि संकल्प बलका धनी बनाना चाहते हो तो अपने जीवनको आज निष्कलंक और निष्पाप बना कर आत्मचिंतनमें लग कर जगत्की सेवामें अपने आपको लगा दो।

अपने जीवन धन सर्वस्वको परमात्माकी दी हुई एक धरोहर अमानत समझो।

इस रुपया पैसा, माल खजाने स्त्री पुत्र मातापिता, इष्ट मित्र, से ममता तोड कर ईश्वरसे नाता जोड कर अपने आपको सजग कर लो।

इस संसारसे तो एक दिन चलना सबकोही है, क्या राजा क्या फकीर, आओ परमात्माकी सृष्टिमें आकर मानव योनिको प्राप्त कर हम अपने आपको पहचान लें कि हम कौन हैं।

वेद प्रचारकी दिव्य दिशा

हे विश्वके मनुष्यो, ध्यानपूर्वक सुनो जबतक वेदोक्त जीवनका निर्माण नहीं करोगे। तब तक जन्म मरणके दुःसह दुःखोंको लाख जन्मोंमें भोगते रहोगे। यह याद रहे जो नर नारी वेदज्ञानको प्राप्त कर अपना आचार विचार व्यवहार शुद्ध नहीं बना लेंगे, निश्चय समझो उन्हें नरकका अधिकारी बनना पडेगा।

अतः आजसे नित्य यज्ञ और प्रार्थना उपासना किये बिना, अतिथि सत्कारके बिना, दान दक्षिणाकी मर्यादाको पूरा किये बिना अन्न जल ग्रहण कदापि न करो। यह भारतके महर्षियोंका और वेद भगवान्का अमर उपदेश और आदेश है।

स्वर्गीय जीवनकी अलौकिक, अकल्पनीय अतुलित झांकियोंसे अपने जीवनको आज अलंकृत करो। अथाह ज्ञानके सागरमें गोता लगाना सीख लो। विचारोंकी मोतियोंको प्राप्त कर आज मालामाल बनो। पवित्र विचार शुभ संकल्प मनुष्यकी अरबों रुपयोंसे बढ कर एक अमूल्य जीवनकी निधि है।

निशदिन जप, तप, व्रत, अनुष्ठानोंको करते हुए ब्रह्मचर्य व्रतके पालनको जीवनकी बहुमूल्य निधि समझते हुवे सत्संगमें मनको लगाओ।

ईश्वरचिंतनमें जो आनन्द एक योगी को प्राप्त होता है, उसका शतांश भी भोगियोंको भोगोंमें नसीब नहीं होता है। यह याद रहे भोगोंसे रोग आकर जीवन को जर्जरित कर देते हैं। योगसे यौवनकी रक्षा होती है। इसलिए गृहस्थ जीवनमें भी रहकर ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षाका निशदिन ध्यान रखो।

संकल्पसिद्धिका महामंत्र

आप जिस संकल्पको अपने जीवनमें पूरा करना चाहते हो तो उसके लिए अपने तन, मन, धनको सादर समर्पित कर दो।

[पृष्ठ ३१२ पर देखिये—]

तमसो मा ज्योतिर्गमय

(लेखक— श्री शोभनाथ पाठक)

☆

हे प्रभो, असत्यसे सत्यकी ओर, और अंधकारसे प्रकाशकी हमें ले चलिए। वैदिक साहित्यका यह मंत्र विश्वके लिए वरदानस्वरूप संजोने योग्य थाती है। वर्तमान युगकी विषम परिस्थितिमें जब जन जीवन भौतिकतामें दिनपर दिन लिप्त होता हुआ रागात्मक प्रवृत्तिकी सुरसाको बढाता जा रहा है, जिस व्यष्टिगत स्वार्थप्रवृत्ति मानवताको समूल नष्ट करने हेतु उतारू है, ऐसे संकटके समयमें वैदिक उद्घोषोंको अमलमें लाकर समष्टिगत कल्याणकी भावनाको बलवती बनाया जा सकता है। ज्ञानकी ज्योतिसे अज्ञानान्धकारको चीरकर सचराचरमें आलोक प्रसारित किया जा सकता है जिसमें अखिल विश्व एक परिवारके रूपमें आभासित होगा, फिर भी न मालूम क्यों आज हम भटककर पश्चिमकी ओर आकर्षित हैं अपनी अनमोल थातीसे हटकर। बुद्ध और गांधीने भारतीय ज्ञान गरिमासे ही जगत्को सींचा, जिनकी महत्ताके मानसे संसारका गौरवोन्नत मस्तक सादर नत है। अतः हम अपने वैदिक साहित्यकी उस धरोहरको परखें और उससे अमृत तत्त्व लेकर संसारको संवारें जिससे जग जगमगा उठे —

अग्ने वेहोत्रं वेर्दूत्यं अवतां त्वां
द्यावा पृथिवी अव त्वं द्यावा पृथिवी।
स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा
भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः॥

(यजु. २।९)

नागरिको, तुम राष्ट्ररक्षाकी ज्योतिर्मय भावनाके दूत बनकर इसका संदेश घर घरमें फैला दो। पृथिवी और आकाशकी सब दिव्य शक्तियां तुम्हारी रक्षा करेंगी। पराक्रमी इन्द्र अपना समस्त राजकोष इस पावन राष्ट्ररक्षाके कार्यमें समर्पित कर देंगे। जन जनकी स्वाहुतिसे जागृत और प्रबुद्ध आत्मज्योति जब समग्र राष्ट्रकी तेजस्विनी ज्योतिसे संयुक्त हो जायेगी तब हमारी राष्ट्रशक्ति अपराजेय होगी। इस प्रकार मानवीय गुणोंका विकास होगा, विश्वबंधुत्वकी भावना प्रबल होगी पर हृदयमें सदा श्रद्धा और सत्यकी हिलोरें उठती रहेंगी तब। बुद्धने भी अपनी ज्ञान-ज्योतिसे आलोकितकर सृष्टिको समन्वयात्मक भावनाका अमर संदेश दिया था जिसका पानकर मानव अपने भाग्यपर इठलाकर बयान करते नहीं अघाता। ' चरति भिक्खवे बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय लोकानुकंपाय " इसी प्रकार मानवताके पोषणार्थ अमृतमय वचनावलियोंके इस ज्ञान दीपकी लौ से लाभान्वित होकर एकतामें जुट जाइये—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋग्वेद १०।१९१।२-३-४)

हे मनुष्यो, जैसे सनातनसे विद्यमान, दिव्य शक्तियोंसे सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भावसे प्रेमसे अपने अपने कार्योंको करते हैं वैसे ही तुम भी समष्टि भावनासे प्रेरित होकर एक साथ कार्योंमें प्रवृत्त हो जाओ। एकमत्यसे रहो और परस्पर सद्भावसे बरतो।

तुम्हारी मंत्रणामें, समितियोंमें, विचारोंमें और चिंतनमें समानता हो, सद्भावना हो वैमनस्य न हो तथा दुर्भावना न हो। तुम्हारे अभिप्रायोंमें, हृदयोंमें, और मनोंमें एकताकी भावना

+

रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्तिका विकास हो सके। मानव मानवताको परखे, सब लोग मिलजुलकर रहें क्योंकि—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

सारे विश्वमें अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं। कर्म करनेपर ईश्वर द्वारा जो भी फल प्राप्त हो, उसका तुम उपभोग करो। जो दूसरेको प्राप्त है, उसपर अपना मन मत चलाओ। इस सृष्टिका पालनकर्ता परमपिता परमात्मा है। वही सर्वस्व प्रदाता है अतः ईमान और सत्यके पथपर चलनेसे मानव मानवताकी तुलापर गुरुतर है। ईश्वरत्वको प्राप्त करता है। स्वार्थकी भावना और व्यक्तिगत सुख हेतु किसीको सताओ नहीं वरन उस प्रभुसे ज्ञान-ज्योति प्राप्तकर युगको अलोकित करो।

हे प्रभुवर हमें प्रकाश दीजिए, सुख, श्रेय, वृद्धि, संवृद्धि वैभवादि देकर हमें सम्पन्न कीजिये। वह संवृद्धि है चरमोत्कर्षपर पहुचानेवाला ज्ञान प्रकाश—

तमसस्परि पश्यन्तो नित्यं स्वर्वयमुत्तरम्।
अगन्मुर्वामहि तज्ज्योतिरुत्तमं यदनामयम्।

अर्थात् उस उत्कृष्टतम प्रकाशको आदर्श रूपमें देखते हुए हम सब, अज्ञानान्धकारकी वर्तमान अवस्थामें क्रमशः ऊपर उठकर, उस उत्तम प्रकाशको प्राप्त करें, जो सब प्रकारके अन्धकारसे, अज्ञानसे और अपूर्णतासे रहित है। प्रकाशके आगे अन्धकार तिरोहित हो जाता है जिसकी लौसे सत्य–शील–सौंदर्यकी किरणें फूटती हैं उससे लाभान्वित होनेपर स्वर्गीय वैभव भी तुच्छ हो जाता है उस ज्ञान लौकी प्रखरताके लिए तभी तो निर्देश दिया गया है—

सत्याधारस्तपस्तैलं दया वर्ति क्षमा शिखा।
अन्धकारप्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन वार्यताम्॥

तमोमयी अन्धकारके तिरोहित होनेके लिए ज्ञानका दीपक जलाओ जो सत्यपर आधारित हो, तप रूपी तेलसे सिक्त हो और जिसकी दयारूपी बातीसे उद्दीप्त लौ क्षमासे स्थायित्व प्राप्त कर अखिल विश्वको आलोकित करती रहे जिसमें हमारी भारतभूमि अपनी ज्ञानात्मक गौरव गरिमासे मंडित जगत्को सत्य-शील-शांतिका संबल देती हुई देदीप्यमान होती रहे।

सा नो माता भारतीः भुवि भासताम्।

[पृष्ठ ३१० का चालू—]

भूख, प्यास और नींद पर पहले विजय प्राप्त करो। आपदाओंके तूफानोंसे युद्ध करनेका अपना एक स्वभाव बना लो। अडिग बनो। समाधिमें, साधनामें, ध्यानम, गायत्री जपमें प्रणव जपमें मन लगाकर मनके मैलको धो डालो, अपनी, इन्द्रियोंको पवित्र कर लो। इस अवस्थापर अपने आपको पहुंचा देने पर भक्तोंके सामने हिमालय और आसमान भी झुक जाते है। उस भक्तकी टेर जब भगवान् सुन लेता है तो दशों दिशायें उसकी आवाजको सुननें लग जाती हैं।

ऐसी अवस्था आ जानेपर विश्वके जनमनका प्यारा वह साधक बनकर जनता जनार्दनके आंखोंका ध्रुवतारा बन जाता है।

पुनः संकल्पमात्रसे पुरुषार्थकी साधनासे महान्से महान् असंभव कार्योंको पल भरमें मनुष्य कर डालनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है।

मनुष्यके संकल्पमें अनन्त बल है।

मनुष्य यदि संकल्प बलका धनी बन जाये तो एक नई सृष्टिका निर्माण निःसंदेह कर सकता है। पापोंसे मुख मोड़कर हम धर्मवीर बनकर धर्म कमाना सीख लें। धर्मकी रक्षा हित निज सर्वस्व लुटाना सीख लो। धर्म मर्यादा चला कर जगत्के कल्याणमें जीवन लगाना सीख लो। परहित आगमें जलकर दूसरोंके दुःखोंको दूर करनेमें हम लग जायें। अपने जीवनके बहुमूल्य क्षणोंको अरबों रुपयोंसे मूल्यवान् समझकर इष्ट सिद्धिमें लगा देनेपर प्रत्येक कार्यमें अवश्य सफलता प्राप्त होगी ऐसा अपना अनुभव है।

\+ + +

तीर्थयात्रा पर विचार

(लेखक— श्री जगन्नाथजी शास्त्री)

तीर्थयात्रा करनेसे क्या लाभ होता है ? इससे पूर्व यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तीर्थ किसे कहते हैं और तीर्थ कहां कहां हो सकते हैं ? तीर्थ वह पुण्यस्थान है कि जहां यात्रा, पूजा या स्नानके लिए लोग जाते हैं। शास्त्र, अवतार, चरणामृत, गुरु, मंत्री, ब्राह्मण, कारण, संन्यासियोंके लिए प्रयोग की जानेवाली एक प्रकारकी उपाधि, योनि, दर्शन, स्थान, यज्ञ, उपाय, अवसर, तारनेवाला, ईश्वर, माता पिता, मेहमान, अग्नि, पुण्यकाल, तथा च जिसके द्वारा संसारसे तरा जाए, वह तीर्थ है। तीर्थका अर्थ जल भी है। जल सबसे पवित्र और शान्तिदाता है। तीर्थ एक देवयोनि भी है। इसमें प्रमाण यह है—

> तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति
> यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।
> अत्रादधुर्यजमानाय लोकं
> दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ —अथर्व. १८.४.७

(येन) जिस शुभ कर्म द्वारा अर्थात् जिस तीर्थ सेवनके द्वारा (यज्ञकृतः) अन्तःकरणकी शुद्धिके साधन यज्ञोंके करनेवाले (सुकृतः) पुण्यात्मा मनुष्य (यन्ति) पुण्यलोक अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होते हैं। तीर्थयात्री प्राणी (तीर्थैः) संसार सागरसे तारनेवाले तीर्थोंके द्वारा (महीः प्रवतः) बड़ोसे बडी सांसारिक आपत्तियोंको (तरन्ति) पार कर जाते हैं अर्थात् स्वर्गलोक अथवा मुक्तिधामको प्राप्त हो जाते हैं। (अत्र) इसी तीर्थस्थानमें (दिशः) सब दिशायें अथवा सब अवस्थायें और (भूतानि) पंच महाभूत (यत्) जिस पुण्यलोक अर्थात् तीर्थको (अकल्पयन्त) बनाते हैं। (यजमानाय) तीर्थ सेवन करनेवाले यजमानके लिए (लोकं) प्रकाशको अर्थात् ज्योतिःस्वरूपात्मक लोकको (अदधुः) बनाते हैं अर्थात् धारण करते हैं। तीर्थयात्री तीर्थस्थान सेवन द्वारा पापों और सांसारिक विपत्तियोंसे छूट जाते हैं।

श्रीजयदेव विद्यालंकारने अपने अथर्वभाष्यमें लिखा है— (तीर्थैः) भवसागरसे पार उतरनेके साधनभूत अध्यात्म यज्ञ तप आदि तीर्थों और तपस्वी आदि जंगमतीर्थों द्वारा (महीः प्रवतः) बडी बडी भारी विपत्तियों को भी (तरन्ति) लोग तैर जाते हैं। (इति) इस प्रयोजनसे (येन) जिस मार्गसे (सुकृतः) उत्तमकर्म करने हारे पुण्यात्मा और (यज्ञकृतः) ईश्वरोपासना करनेवाले प्रदानशील पुरुष (यन्ति) गमन करते हैं। (अत्र) उसी मार्गमें रहकर वे (दिशः) दिशा और (भूतानि) उत्पन्नलोक प्राणी (यत्) जो जो भी (अकल्पयन्त) बनाते हैं, वे (यजमानाय) परमेश्वरके उपासक यज्ञशील पुरुषके लिए (लोकं) लोकस्थानको (अदधुः) बनाते हैं। पुण्यात्माओंके मार्गगामी ईश्वरोपासकको समस्त प्राणी और दिशायें आश्रय देते हैं। यज्ञोंको कच्चा निर्बल साधन अर्थात् निर्बल जहाज माना गया है। श्री जयदेवजीके मतमें संसारसे पार होनेका पक्का साधन तीर्थ है और यज्ञात्मक जहाज कच्चा साधन है।

स्थावर तीर्थ और जंगमतीर्थ किस किस स्थानमें हों, इस विषयमें वेद कहता है—

> उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
> धिया विप्रोऽजायत ॥ —यजु. २६।१५

(गिरीणां) पर्वतोंके (उपह्वरे) प्रान्त अर्थात् गुफाओं अर्थात् पर्वतमें एकान्त स्थलमें (च) और (नदीनां) नदियोंके (संगमे) संगमस्थानवाले देशमें (धिया) स्तुत्यात्मक बुद्धि द्वारा (विप्रः) विशिष्ट ज्ञानवान् अर्थात्

सर्वज्ञ परमात्मा (अजायत) प्रकट होता है अर्थात् तीर्थ-रूप ऐसे शुद्ध स्थानोंमें परमात्माका पूर्ण रीतिसे ध्यान और भगवत् भजन और आत्मचिन्तन करनेवाला पुण्यलोक मुक्ति धामको प्राप्त होता है ।

इस मंत्रपर महर्षि दयानन्दका भाष्य भी दृष्टव्य है—

जो मनुष्य (गिरीणां) पर्वतोंके (उपह्वरे) निकट (च) और (नदीनां संगमे) नदियोंके संगममें (धिया) उत्तमबुद्धि व कर्मसे युक्त (विप्रः) विचारशील बुद्धिमान् (अजायत) होता है । इस मंत्रका साक्षात्कार महर्षिने अपने जीवनमें कर लिया था । वे पहिले परमात्मज्ञानप्राप्तिके लिए इधर उधर भटकते रहे, तो भी उन्हें सफलता न मिली । अपनी अन्तरात्मामें अपनी त्रुटि जानकर हिमालय-वर्ती उत्तराखंडमें गये और वहीं तपस्या करके कुछ सफल हुए, पुनः काशी और प्रयागराजके कुंभमेलेपर पूर्ण सफलतासे कार्य किया ।

इस शताब्दिमेंभी श्री रामकृष्ण परमहंस, श्री स्वा. विवेकानन्द तथा श्री स्वा. रामतीर्थ हिमालय प्रान्तमें गंगादि नदियोंके संगमपर भगवद्भक्तिका अभ्यास करके जीवन्मुक्त हुए हैं । और भी देखिए—

इयं शुष्मेभिः विसखा इवारुजत्
सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः ॥ —ऋ ६।६१।१॥

इस मंत्रमें कहा है कि हम सरस्वती नदीके तटपर प्रतिदिन शुभ कर्मोंको करके परमात्माकी स्तुति और शुभ कर्मोंको करते हुए वास करें । सांख्य शास्त्र कर्ता महामुनि कपिलाचार्यका आश्रम भी समुद्र तटपर था, जिसे आजकल बंगाल कहते हैं । श्री स्वा. श्रद्धानन्दजीने गुरुकुलका उद्धार करनेके लिए श्री गंगाजीका तट ही उत्तम समझा; जहां प्रतिवर्ष गुरुकुल यात्राके अवसरपर हजारों यात्री शुभकामनासे सम्मिलित होते हैं ।

प्रयाग तीर्थकी विशेषता

प्रयाग गंगायमुनाके संगमपर है । यहां भरद्वाजजीका आश्रम था । वा. रामायणके अनुसार राम, लक्ष्मण व सीता अयोध्यासे निकलकर भरद्वाजके आश्रममें पधारे थे और वहीं भरद्वाजजीने गंगायमुनाके संगमके विशेषताका वर्णन किया था । इस तीर्थका नाम प्रयाग इसलिए पडा कि यहां पूर्वकालमें ब्रह्मादि देवताओं और ऋषियोंने विशेष विशेष यज्ञ यागादि किए थे । अतः यह पवित्र स्थान है । इस तीर्थकी यात्रा पाण्डवोंने भी की थी । आश्वलायन सूत्रमें आया है–

समुद्रे पर्वसु स्नायादमायां च विशेषतः ।
पापैर्विमुच्यते सर्वैः अमायां स्नानमाचरन् ॥

स्कन्द पुराणमें भी—

पुनाति पर्वणि स्नानात्तर्पणैः सरितां पतिः ।

अर्थात् पर्वमें स्नान करने तथा तर्पण करनेसे समुद्र मनुष्यको पवित्र करता है ।

श्री राम द्वारा बांधे गये रामेश्वर सेतुकी भी विशेषता है–
न कालनियमः सेतौ समुद्रस्नानकर्मणि । –(महाभारत)

राम बंध सेतुके समुद्रमें स्नान करनेके बारेमें कोई काल या पर्वका नियम नहीं है अर्थात् वहां जब भी चाहे स्नान किया जा सकता है और वह स्नान फलप्रद होता है । सर्व तीर्थ महिमाके विषयमें महाभारतका कथन है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तमः ।
न वै योनिं व्रजन्त्येते स्नानात्तीर्थे महात्मनः ॥
—(महाभारत)

'हे राजश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी तीर्थमें स्नान करनेपर बुरी योनिको नहीं प्राप्त होते ।

तीर्थयात्रां चिकीर्षुः प्राग्विधायोपोषणं गृहे ।
पितॄन् साधूंश्च विप्रांश्च यथाशक्त्या प्रपूज्य च ।
कृतपारणको हृष्टो गच्छेन्नियमधृक् पुनः ॥
—(स्कंद पुराण)

' तीर्थयात्रा करनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रथम गृहमें उपवास करे, फिर अपनी शक्तिके अनुसार पितर, साधु और ब्राह्मणोंकी पूजा करके तथा व्रतादियोंको पूर्ण करके प्रसन्न मनसे तीर्थयात्राके लिए निकले । '

प्रायः सभी शास्त्रोंमें तीर्थकी महिमा गाई गई है, उनमें भी प्रयागराजकी विशेष कर । पाण्डवोंने अज्ञातवासके समय पंजाबप्रान्तमें कटासराज सरोवरकी यात्रा की थी, जिस स्थानपर सुप्रसिद्ध यक्ष युधिष्ठिरका संवाद हुआ था ।

स्थावरतीर्थके समानही जंगमतीर्थ अर्थात् तत्त्वज्ञानी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणसे आत्मोद्धारक ब्रह्मज्ञानका उपदेश लेनेकी आज्ञा वेदने बताई है।

ब्राह्मणेभ्यः ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सोऽघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥
—(अथर्व. ९।४।११)

तत्त्वज्ञानको जाननेवाला जिज्ञासु मनुष्य (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंको (ऋषभं) सबसे श्रेष्ठ मनको (दत्त्वा) देकर अर्थात् अपने सावधान मनको गुरुद्वारा दिए हुए उपदेशमें लगाकर (मनः) अपने मनको (वरीयः) सबसे श्रेष्ठ अर्थात् शुद्ध (कृणुते) कर लेता है। (सः) वह जिज्ञासु तीर्थस्थ गुरुसे ज्ञानोपदेशको सुनकर (अघ्न्यानां) न नष्ट होनेवाली अर्थात् सदा स्थिर रहनेवाली परमात्मोपलब्धि करानेवाली, मनकी वृत्तियोंके (पुष्टिं) पोषण पालनको (स्वे) अपने (गोष्ठे) इन्द्रियोंकी स्थितिके स्थानमें अर्थात् मनमें (अव पश्यते) देखता है अर्थात् अन्तःकरणमें परमात्माके दर्शनको पाता है।'

इस मंत्र द्वारा प्रतीत होता है कि तीर्थस्थ = तीर्थ संन्यासी अथवा ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणसे लिया हुआ उपदेश सफल होता है, अतः तीर्थयात्रासे लाभ ही है हानि नहीं। जब वैदिक-धर्मका ह्रास हुआ तब परमात्माकी दया वेदमर्यादा स्थिर रखनेके लिए श्री शंकराचार्य प्रकट हुए। उन्होंने बौद्धधर्म और जैन धर्मके विकासको अपने शास्त्रज्ञान द्वारा भारतमें "नास्ति" जैसा कर दिया और उन्होंने भारतके चारों दिशाओंमें चार मठ तीर्थरूप स्थापित किए। पूर्वमें गोवर्धन-मठ जगन्नाथ पुरीमें, पश्चिममें शारदामठ द्वारिकामें, उत्तरमें बद्रीमठ बद्रीनाथमें और दक्षिणमें शृंगेरी मठ मैसूरमें ये चार मठ उन्होंने स्थापित किए।

आचार्यने विचार किया कि पवित्र तीर्थक्षेत्रोंमें वास स्नान एवं दान, यज्ञादि सत्कर्मोंका अनुष्ठान आत्मबल बढानेमें बडा सहायक होगा। तीर्थोंमें तत्त्वज्ञानी सत्पुरुषोंका समागम भी प्राप्त हो जाता है। उनसे भी प्राणियोंको अपनी न्यूनताओंको मिटाकर इन्द्रियशक्तियोंके अन्तर्मुख विकास और इन्द्रिय संयममें सहायता प्राप्त होती है। यही सोचकर आज्ञा दी कि सारे मठोंके संन्यासी और शिष्यगण किसी एक समयपर एक ही स्थानमें एकत्रित हों, अतः उन मठोंको तीर्थ संज्ञा देकर उन्हें पवित्र स्थान माना। उन दिनों याता-यातकी सुविधा न थी, अतः सब लोग हर छठे या बारहवें वर्ष एकत्र सम्मिलित हों, इसलिए अर्ध कुंभ या कुंभमेलोंका प्रचलन हुआ। इन पर्वोंके अवसरपर सब तत्त्वज्ञानी मठाधीश सन्यासी अपना अपना वृत्त एकत्रित सभामें सुना सकें, जनता सुन सके, विचार विनिमयका उन्हें सुयोग मिले इस दृष्टिसे इन मेलोंका आयोजन किया जाता था।

मैत्रेयी उपनिषद्में श्रेय-साधनके लिए चार सोपान बताये गए हैं– (१) तत्त्वचिन्तन, (२) अध्यात्मशास्त्र-विचार (३) भगवन्नामजप तथा (४) तीर्थयात्रा। तीर्थ-यात्री किन नियमोंका पालन करनेसे तीर्थयात्राके फलको पा सकता है, इस विषयमें कहा है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सु संयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १ ॥

प्रतिग्रहात्सुनिर्वृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित्।
अहंकारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ २ ॥

श्रद्धावांश्च निरारंभो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
सर्वसंगविनिर्मुक्तः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ३ ॥

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्व जन्तुषु।
कार्याकार्यविवेकी च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ४ ॥

परापवादविमुखो वक्ता परगुणस्य च।
भगवत्यर्पितस्वान्तः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ५ ॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें तीर्थमहिमा गाई गई है।

३०४ ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधि ष्णोः ।
अन्तः पतत् पतत्र्यस्य पर्णमध यामनि प्रसितस्य तद् वेः ॥ ४ ॥

३०५ अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवा शुक्रमन्धः ।
अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत् पिबध्यै
शूरो मदाय प्रति धत् पिबध्यै ॥ ५ ॥

[२८]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवताः- इन्द्रः, इन्द्रासोमौ वा । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

३०६ त्वा युजा तव तत् सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः ।
अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धूनपावृणोदपिहितेव खानि ॥ १ ॥

अर्थ— [३०४] (ऋजिप्यः श्येनः) सरल मार्गसे जानेवाला श्येन पक्षी (इन्द्रावतः बृहतः स्नोः अधि) इन्द्रके द्वारा रक्षित महान् द्युलोकसे (ईं जभार) इस सोमको उसी तरह लाया, (भुज्युं न) जिस तरह अश्विनौ भुज्युको ले आए थे। (अध) इसके बाद (यामनि अन्तः) युद्धमें (अस्य प्रसितस्य वेः) इस बाणसे विद्ध पक्षीका (तत् पतत्रि पर्णं) वह उडनेका साधन पंख (पतत्) गिर गया ॥ ४ ॥

[३०५] (अध) इसके बादसे (श्वेतं कलशं) तेजस्वी, कलशमें रखे हुए (गोभिः अक्तं आपिप्यानं) गायके दूधसे मिश्रित, तृप्त करनेवाले (शुक्रं) तेजस्वी (अध्वर्युभिः प्रयतं) अध्वर्युके द्वारा दिए गए (मध्वः अग्रं) मधुररसोंमें सर्वश्रेष्ठ (अन्धः) अन्नरूप इस सोमको (मघवा इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् इन्द्र (मदाय) आनन्दके लिए (पिबध्यै) पीये और (प्रति धत्) धारण करे (शूरः) वह शूरवीर इन्द्र (मदाय पिबध्यै) आनन्दके लिए इस सोमरसको पीये और (प्रति धत्) धारण करे ॥ ५ ॥

[२८]

[३०६] हे सोम ! (तव तत् सख्ये) तेरी उस मित्रतामें (त्वा युजा) तेरी सहायतासे (इन्द्रः) इन्द्रने (मनवे) मनुके लिए (सस्रुतः अपः कः) बहनेवाले जलोंको उत्पन्न किया, (अहिं अहन्) अहिको मार कर (सप्त सिन्धून् अरिणात्) सात नदियोंको बहाया, तथा (अपिहिता इव खानि अपावृणोद्) बन्द किए द्वारोंको खोला ॥ १ ॥

१ अहिं अहन् सप्त सिन्धून् अरिणात्— अहिको मारा और सात नदियोंको बहाया।

भावार्थ— जिस प्रकार अश्विनीकुमार समुद्रमें पडकर डूबते हुए भुज्युको बाहर निकाल लाए थे, उसीप्रकार यह श्येन पक्षी इन्द्रके द्वारा रक्षित विशाल द्युलोकसे सोम ले आया। सोम लाते समय जो युद्ध हुआ उसमें कृशानुने एक तीर जो मारा उससे इस श्येनका एक पंख कट कर गिर गया ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यवान् इन्द्र कलशमें गायके दूधके साथ मिलाकर रखे गए, तेजस्वी, मधुर रसोंमें सर्वश्रेष्ठ अन्नरूप सोमरसको आनन्दके लिए पीये और इसकी रक्षा करे ॥ ५ ॥

सोमसे मित्रता करके तथा उसकी सहायता प्राप्त करके इन्द्रने मनुके लिए बहनेवाले जलोंको उत्पन्न किया। अहि नामक असुरको मारा, सात नदियोंको बहाया और जलके बन्द किए द्वारोंको खोल डाला ॥ १ ॥

३०७ त्वा युजा नि खिदत् सूर्यस्ये—न्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो ।
अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायु धायि ॥ २ ॥
३०८ अहन्निन्द्रो अदहदग्निरिन्दो पुरा दस्यून् मध्यंदिनादभीके ।
दुर्गे दुरोणे क्रत्वा न यातां पुरू सहस्रा शर्वा नि बर्हीत् ॥ ३ ॥
३०९ विश्वस्मात् सीमधमाँ इन्द्र दस्यून् विशो दासीरकृणोरप्रशस्ताः ।
अबाधेथाममृणतं नि शत्रू—नविन्देथामपचितिं वधत्रैः ॥ ४ ॥
३१० एवा सत्यं मघवाना युवं त—दिन्द्रश्च सोमोर्वमश्व्यं गोः ।
आदर्दृतमपिहितान्यश्ना रिरिचथुः क्षाश्चित् ततृदाना ॥ ५ ॥

अर्थ— [३०७] हे (इन्दो) सोम ! (त्वा युजा) तेरी सहायतासे (इन्द्रः) इन्द्रने (सद्यः) शीघ्र ही (बृहता स्नुना अधि वर्तमानं) विशाल द्युलोकमें चलनेवाले (सूर्यस्य चक्रं) सूर्यके चक्रको (सहसा नि खिदत्) बलके द्वारा अपने अधिकारमें किया । और (महः द्रुहः) महान् द्रोह करनेवाले सूर्यके (विश्वायुः) सब जगह जानेवाले चक्र पर (अप धायि) अधिकार किया ॥ २ ॥

[३०८] हे (इन्दो) सोम ! (अभीके) संग्राममें (मध्यंदिनात् पुरा) मध्याह्नसे पहले ही (इन्द्रः दस्यून् अहन्) इन्द्रने दस्युओंको मार डाला और (अग्निः अदहत्) अग्निने उन्हें जला दिया । (न) प्रशंसित इन्द्रने (दुरोणे दुर्गे) कठिनतासे प्रवेश करने योग्य किलेमें छिपे रहने पर भी (यातां) राक्षसोंके (पुरू सहस्रा) बहुतसे हजारों नगरोंको (क्रत्वा, शर्वा) अपने पराक्रम व बलसे (नि बर्हीत्) नष्ट कर दिए ॥ ३ ॥

१ दुरोणे दुर्गे यातां पुरू सहस्रा क्रत्वा शर्वा नि बर्हीत् — प्रवेश करनेके लिये कठिन किलेमें रहने वाले राक्षसोंके सहस्रों सैनिकोंको अपने पराक्रमसे मारा ।

२ दुरोणः दुर्गः — जिसमें प्रवेश करना कठिन है ऐसा किला ।

[३०९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तूने (सीं दस्यून्) इन दस्युओंको (विश्वस्मात् अधमान् अकृणोः) सभीसे नीचा किया, तथा (दासीः विशः अ- प्रशस्ताः अकृणोः) दासभावसे युक्त प्रजाओंको निन्दनीय बनाया । हे इन्द्र और सोम ! तुम दोनोंने (शत्रून् अबाधेथां) शत्रुओंको रोका और उन्हें (वधत्रैः अमृणतं) शस्त्रोंसे मारा, तब तुमने (अपचितिं अविन्देथां) सत्कारको प्राप्त किया ॥ ४ ॥

१ इन्द्र ! दस्यून् विश्वस्मात् अधमान् अकृणोः — हे इन्द्र ! तू दस्युओंको सबसे नीच बना देता है ।

२ दासीः विशः अप्रशस्ताः अकृणोः — दासभावसे युक्त प्रजाओंको निन्दाके योग्य करता है । दासभावसे युक्त मनुष्य हमेशा निन्दनीय होते हैं ।

[३१०] हे सोम ! (सत्यं एव) यह सत्य ही है, कि तूने (च इन्द्रः) और इन्द्रने अर्थात् (मघवाना युवं) ऐश्वर्यसे युक्त तुम दोनोंने (ऊर्वं अश्व्यं गोः) महान् घोडे और गायोंके समूहका (आदर्दृतं) आदर किया । तुम दोनोंने (अश्ना आपिहितानि) पत्थरसे छुपाये गए गौसमूहको तथा (क्षाः) भूमिको (रिरिचथुः) प्राप्त किया । और शत्रुओंको (ततृदाना) मारा ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे सोम ! तुझसे उत्साह पाकर इन्द्रने विशाल द्युलोकमें घूमनेवाले सूर्यके चक्रको अपने सामर्थ्यसे अपने अधिकारमें किया ॥ २ ॥

हे सोम ! तुझसे उत्साह लेकर इन्द्रने संग्राममें मध्याह्नसे पूर्व ही दस्युओंको मार डाला, अर्थात् इतना सामर्थ्य उसमें आ गया । इन्द्रके मार डालनेके बाद अग्निने उन दस्युओंको जला डाला । इन्द्रने उन दस्युओंके अनेक दुर्गम किलोंको अपने पराक्रम और बलसे नष्ट कर दिया ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! तूने ही इन दस्युओंको सबसे नीचा किया तथा जो प्रजायें गुलाम बनकर रहती हैं, उसे निन्दाके योग्य बनाया । हे इन्द्र और सोम ! तुम दोनोंने शत्रुओंको रोका और उन्हें शस्त्रोंसे मारा, तब तुमने सत्कारको प्राप्त किया ॥ ४ ॥

[२९]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

३११ आ नः स्तुत उप वाजेभिरूती इन्द्र याहि हरिभिर्मन्दसानः ।
तिरश्चिदर्यः सवना पुरूण्याङ्गूषेभिर्गृणानः सत्यराधाः ॥ १ ॥

३१२ आ हि ष्मा याति नर्यश्चिकित्वान् हूयमानः सोतृभिरुप यज्ञम् ।
स्वश्वो यो अभीरुर्मन्यमानः सुष्वाणेभिर्मदति सं ह वीरैः ॥ २ ॥

३१३ श्रावयेदस्य कर्णा वाजयध्यै जुष्टामनु प्र दिशं मन्दयध्यै ।
उद्वावृषाणो राधसे तुविष्मान् करन्न इन्द्रः सुतीर्थाभयं च ॥ ३ ॥

३१४ अच्छा यो गन्ता नाधमानमूती इत्था विप्रं हवमानं गृणन्तम् ।
उप त्मनि दधानो धुर्याशून् त्सहस्राणि शतानि वज्रबाहुः ॥ ४ ॥

---

[२९]

अर्थ— [३११] हे इन्द्र ! (स्तुतः, आंगूषेभिः गृणानः, सत्यराधाः अर्यः) प्रशंसित तथा स्तोत्रोंसे वर्णित तथा अविनाशी धनसे युक्त तथा श्रेष्ठ तू (मन्दसानः) आनन्दित होकर (वाजेभिः तिरश्चित्) अन्नोंके साथ प्राप्त होनेवाले हमारे (पुरूणि सवनानि उप) बहुतसे यज्ञोंके पास (नः ऊती) हमारे संरक्षणके लिए (हरिभिः आ याहि) घोडोंसे आ ॥ १ ॥

१ तिरः- चित्— प्राप्त होनेवाले ' तिरः सतः इति प्राप्तस्य ' (निरु ३ । २०)

[३१२] वह (नर्यः चिकित्वान्) मनुष्योंका हित करनेवाला, बुद्धिमान्, तथा (सोतृभिः हूयमानः) सोम निचोडनेवालोंके द्वारा बुलाया जानेवाला वह इन्द्र हमारे (यज्ञं उप आ याति) यज्ञके पास आवे । (सु- अश्वः) उत्तम घोडोंवाला, (अ- भीरुः) निर्भय तथा (सुष्वाणेभिः मन्यमानः) सोम तैय्यार करनेवालोंके द्वारा प्रशंसित (यः) जो इन्द्र है, वह (वीरैः सं मदति) वीरोंके साथ आनन्दित होता है ॥ २ ॥

[३१३] हे मनुष्य ! (अस्य कर्णा) इस इन्द्रके कानोंको (वाजयध्यै) इन्द्रका बल बढानेके लिए तथा (जुष्टां दिशं मन्दयध्यै) सब दिशामें आनन्दित होनेके लिए (श्रावयेत्) स्तोत्र सुना । (उत् वावृषाणः) सोमसे युक्त होता हुआ तथा (तुविष्मान्) बलवान् (इन्द्र) इन्द्र (नः राधसे) हमारे धनप्राप्तिके लिए (सुतीर्था) उत्तम तीर्थके समान (अभयं करत्) भयरहित करे ॥ ३ ॥

[३१४] (यः वज्रबाहुः) जो भुजाओंमें वज्रको धारण करनेवाला इन्द्र है, वह (सहस्राणि शतानि) हजारों व सैकडों (आशून्) शीघ्र दौडनेवाले घोडोंको (त्मनि धुरि उप दधानः) अपने रथकी धुरामें जोडकर (ऊती) संरक्षण करनेके लिए (नाधमानं हवमानं, गृणन्तं, विप्रं) प्रार्थना करनेवाले, बुलानेवाले, स्तुति करनेवाले तथा ज्ञानी यजमानके पास (इत्था) इसप्रकार (अच्छ गन्ता) सीधा जानेवाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र और सोम ! तुम दोनों ऐश्वर्यशाली हो । तुम दोनोंने घोडे, गाय आदि प्राणियोंका बडा आदर किया । तुम्हीं दोनोंने पहाडोंकी गुफाओंमें छिपाये गए भूमिको प्राप्त किया और शत्रुओंको मारा ॥ ५ ॥

प्रशंसित, स्तोत्रोंसे वर्णित अविनाशी धनसे युक्त तथा श्रेष्ठ इन्द्र ! तू आनन्दित होकर अन्नोंके साथ प्राप्त होनेवाले हमारे यज्ञोंके पास आ और हमारी रक्षा कर ॥ १ ॥

मनुष्योंका हित करनेवाला, बुद्धिमान् तथा सबके द्वारा बुलाया जानेवाला वह इन्द्र हमारे यज्ञके पास आवे । उत्तम घोडोंवाला, निर्भय वह इन्द्र वीरोंके साथ आनन्दित होता है ॥ २ ॥

इन्द्रका बल बढानेके लिए तथा आनन्दित होनेके लिए स्तोत्र किए जाए । तब बलवान् इन्द्र हमें धन प्राप्त करानेके लिए उत्तम तीर्थके समान अभयता प्रदान करे ॥ ३ ॥

यह इन्द्र भुजाओंमें वज्रको धारण करनेवाला, अनेकों घोडोंको अपने रथमें जोडनेवाला, रक्षा करनेवाला और सदाही सन्मार्गसे आनेवाला है ॥ ४ ॥

×

३१५ त्वोतासो मघवन्निन्द्र विप्रा वयं ते स्याम सूरयो गृणन्तः ।
भेजानासो बृहद्दिवस्य राय आकाय्यस्य दावने पुरुक्षोः ॥ ५ ॥

[३०]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः, ९-११ इन्द्रोषसौ । छन्दः- गायत्री; ८, २४ अनुष्टुप् ।]

३१६ नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् । नकिरेवा यथा त्वम् ॥ १ ॥
३१७ सत्रा ते अनु कृष्टयो विश्वा चक्रेव वावृतुः । सत्रा महाँ असि श्रुतः ॥ २ ॥
३१८ विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः । यदहा नक्तमातिरः ॥ ३ ॥
३१९ यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते । मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ४ ॥
३२० यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत् । त्वमिन्द्र वनूँरहन् ॥ ५ ॥

अर्थ— [३१५] हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (त्वा ऊतासः) तेरे द्वारा संरक्षित हुए हुए (विप्राः गृणन्तः सूरयः वयं) ज्ञानी, स्तुति करनेवाले, तथा बुद्धिमान् हम (बृहत्-दिवस्य आकाय्यस्य पुरु-क्षोः ते) अत्यन्त तेजस्वी चारों ओरसे प्रशंसित होनेवाले तथा बहुत अन्नसे युक्त तेरे (रायः दावने) धनके दानमें (भेजानासः स्याम) भाग लेनेवाले हों ॥ ५ ॥

[३०]

[३१६] हे (वृत्र-हन् इन्द्र) वृत्रके नाश कर्ता इन्द्र ! (त्वत् उत्तरः नाकिः) तुझसे अधिक श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है। (न ज्यायान्) तुझसे अधिक बडा भी कोई नहीं है। (यथा त्वं) जैसा तू है वैसा (नकिः एव) दूसरा कोई नहीं ॥ १ ॥

[३१७] हे इन्द्र ! (कृष्टयः) सब प्रजाजन (ते अनु सत्रा वावृतुः) तेरे अनुकूल और तेरे साथ साथ रहते हैं। (विश्वा चक्रा इव) सब रथोंके चक्र जैसे साथ घूमते हैं वैसे ही सब लोग तेरे साथ चलते हैं। इसकारण (सत्रा महान् श्रुतः असि) तू सचमुच बडा प्रख्यात हुआ है ॥ २ ॥

[३१८] हे इन्द्र ! (विश्वे चन इत् देवासः) सब देव (अना त्वा युयुधुः) बलके साथ तुझे प्राप्त करके असुरोंके साथ युद्ध करने लगे। उस समय (यत् अहा नक्तं आतिरः) दिनमें और रात्रोंमें तूने शत्रुओंको पूर्ण नाश किया ॥ ३ ॥

[३१९] हे इन्द्र ! (यत्र) जिस युद्धमें (उत) और (बाधितेभ्यः युध्यते कुत्साय) शत्रुके साथ युद्ध करनेवाले कुत्सके हितके लिये (सूर्यं चक्रं मुषाय) सूर्य संबंधी चक्र तूने उठाया और अपने भक्तकी सहायता की ॥ ४ ॥

[३२०] हे इन्द्र ! (त्वं एकः इत्) तू अकेलाही (यत्र) जिस युद्धमें (देवान् ऋघायतः विश्वान् अयुध्यः) देवोंका नाश करनेवाले राक्षसोंके साथ युद्ध करता रहा और (वनून् अहन्) हिंसकोंका तूने ही वध किया ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! तेरे द्वारा संरक्षित होकर ज्ञानी तथा बुद्धिमान् हम अत्यन्त तेजस्वी चारों ओरसे प्रशंसित होनेवाले तथा बहुत अन्नसे युक्त तेरे धनके दानमें हम भाग लेनेवाले हों ॥ ५ ॥

इन्द्रके समान सर्वगुण संपन्न दूसरा कोई नहीं है। इन्द्रका अर्थ प्रभु परमेश्वर, है सूर्य है, राजा है, वीर है। जगत्का इन्द्र परमेश्वर, सूर्य मालिकाका इन्द्र सूर्य, नरेन्द्र राजा, मानवेन्द्र वीर। ये गुण इनमें देखने चाहिये ॥ १ ॥

सब प्रजाजन, सब लोक लोककार प्रभुके साथ घूमते हैं इसलिये प्रभुको सबसे महान् कहते हैं। ॥ २ ॥

सब विबुधवीर ईश्वरका बल प्राप्त करके दुष्टोंके साथ युद्ध करके इन दुष्टोंको दूर करनेका यत्न करने लगे थे। तूने उनके साथ रहकर दिनगत शत्रुओंका पूर्ण नाश किया। परमेश्वर पर विश्वास रख कर उसका बल प्राप्त करके सब श्रेष्ठ पुरुषोंको उचित है कि वे दुष्टोंको दूर करें। ॥ ३ ॥

इस इन्द्रने युद्धचक्रके द्वारा अपने भक्तकी सहायता की। अकेले इन्द्रने सब देवोंका नाश करनेकी इच्छासे लडनेवाले असुरोंका पूर्ण नाश किया और सब शत्रुओंका वध किया। इस तरह वीरोंको करना उचित है ॥ ४-५ ॥

३२१ यत्रोत मर्त्याय कमरिणा इन्द्र सूर्यम् । प्रावः शचीभिरेतशम् ॥ ६ ॥
३२२ किमादुतासि वृत्रहन् मघवन् मन्युमत्तमः । अत्राह दानुमातिरः ॥ ७ ॥
३२३ एतद् घेदुत वीर्यमिन्द्र चकर्थ पौंस्यम् ।
स्त्रियं यद् दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥ ८ ॥
३२४ दिवश्चिद् घा दुहितरं महान् महीयमानाम् । उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ ९ ॥
३२५ अपोषा अनसः सरत् संपिष्टादह बिभ्युषी । नि यत् सीं शिश्नथद् वृषा ॥ १० ॥
३२६ एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या । ससार सीं परावतः ॥ ११ ॥

अर्थ—[३२१] (यत्र) जहां (उत) और हे इन्द्र! (मर्त्याय कं सूर्यं अरिणाः) मानवोंको सुख देनेके लिये सूर्यको प्रवर्तित किया तथा (एतशं शचीभिः प्र आवः) एतशको अपनी शक्तियोंसे विशेष रीतिसे सुरक्षित रखा ॥ ६ ॥

[३२२] हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले ! (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! तू (मन्यु - मत् - तमः) अत्यंत उत्साही अथवा शत्रुपर अत्यंत क्रोध करनेवाला (किं आत् उत असि) सचमुच है (अत्र अह) और यहीं तूने (दानुं आतिरः) दानवका नाश किया है ॥ ७ ॥

[३२३] हे इन्द्र (उत) और (यत् एतत्) जो यह तूने (वीर्यं पौंस्यं चकर्थ घेदुत) पराक्रम युक्त पौरुषका कर्म किया (दुः हनायुवं) मारनेकी इच्छा करनेवाली (दिवः दुहितरं स्त्रियं वधीः) द्युलोककी पुत्री स्त्री-रूपी उषाको तूने मारा ॥ ८ ॥

[३२४] हे इन्द्र ! (महान्) तू बडा है। ऐसे तूने (दिवः महीयमानां दुहितरं) द्युलोककी महिमावाली पुत्री (उषसं) उषाके रथको (संपिणक् चित् घ) पीस दिया यह सत्य है ॥ ९ ॥

[३२५] (वृषा) बलवान् इन्द्रने (यत्) जब (सीं नि शिश्नथत्) उसके रथको तोड डाला तब (बिभ्युषी उषा) डरनेवाली उषा (संपिष्टात् अनसः) टूटे हुए रथसे (अह अपसरत्) दूर हो गयी ॥ १० ॥

[३२६] (अस्याः एतत् सुसंपिष्टं अनः) इस उषाका यह टूटा हुआ रथ (विपाशि आशये) विपाशा नदीके तीर पर पडा है। और (सीं परावतः ससार) वहांसे यह उषा दूर भाग कर चली गयी ॥ ११ ॥

भावार्थ— परमेश्वरने सब लोकोंको सुख मिले इसलिये सूर्यको निर्माण करके चलाया। इस तरह राजा अपनी प्रजाको सुख देनेके लिये विविध कार्य करें ॥ ६ ॥

वीर अपने घेरनेवाले शत्रुका नाश करे, धनका संग्रह अपने पास रखे, अत्यंत उत्साह धारण करे तथा शत्रुपर क्रोध करे और दुष्टोंका पूर्ण नाश करें ॥ ७ ॥

इन्द्र सदा पुरुषार्थके कर्म करता है। इस इन्द्रने द्युलोककी पुत्री उषाका रथ तोड डाला ॥ ८ ॥

द्युलोककी पुत्री उषा मर्यादासे बाहर जा रही थी, इसलिये इन्द्रने उस स्वतंत्र होनेवाली पुत्रीके रथको विनष्ट किया। पुत्रियोंको उचित है कि वे अपनी मर्यादामें रहें। अपनी मर्यादाका अतिक्रमण न करें ॥ ९ ॥

इन्द्रने उषाके रथको तोड डाला, इसका कारण यह था कि यह उषा सबेरे ही अपना रथ लेकर भ्रमण करनेके लिये जाने लगी थी। इस तरह स्वेच्छासे पुत्रियोंका भ्रमण योग्य नहीं है, इसलिये इन्द्रने उषाका रथ तोड दिया। इससे उषा डर गयी और वहांसे दूर गयी जब इन्द्रने उषाका रथ तोड दिया, वह तब सूर्यसे डर कर भाग गई ॥ १० ॥

यहां उषाके रथका तोडना आदि आलंकारिक वर्णन है। कुमारिकाएं मर्यादामें रहें, स्वेच्छाचारी न बनें। स्वेच्छासे भ्रमण करनेपर कुमारिकाएं दण्डनीय होती हैं यह बतानेके लिये यह अलंकारिक वर्णन है। सूर्य इन्द्र है, उसके आते ही उषाका स्वैरसंचार बंद होता है। इस पर यह अलंकार रचा है ॥ ११ ॥

३२७ उत सिन्धुं विबाल्यं वितस्थानामधि क्षमि । परि ष्ठा इन्द्र मायया ॥ १२ ॥
३२८ उत शुष्णस्य धृष्णुया प्र मृक्षो अभि वेदनम् । पुरो यदस्य संपिणक् ॥ १३ ॥
३२९ उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि । अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥ १४ ॥
३३० उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः । अधि पञ्च प्रधींरिव ॥ १५ ॥

अर्थ— [३२७] हे इन्द्र ! (उत) और (वि-बाल्यं वितस्थानां सिन्धुं) पूर्ण भरपूर भरी हुई वेगसे बहनेवाली सिन्धुनदीको इस (क्षमि अधि) पृथ्वीपर (मायया परिष्ठाः) अपनी शक्तिसे स्थिर किया ॥ १२ ॥

[३२८] (उत) और, हे इन्द्र ! (धृष्णु-या) शत्रुका घर्षण करनेवाले तूने (यत् अस्य शुष्णस्य पुरः संपिणक्) जब इस शोषक शत्रुके नगरोंको चूर्ण कर दिया, तब उसका (वेदनं अभि प्र मृक्षः) धन भी तूने प्राप्त किया ॥ १३ ॥

१ 'शुष्णः'— शोषण करनेवाला शत्रु, जो प्रजाका शोषण करता है।

२ 'वेदनं'— धन, ऐश्वर्य, खजाना, धनकोश।

[३२९] इन्द्र ! (उत) और तूने (दासं कौलितरं शम्बरं) विनाश करनेवाले कुलितर पुत्र शंबरको बहुत (पर्वतात् अधि) बडे पर्वतके ऊपरसे (अवाहन्) नीचे पटक कर मार दिया ॥ १४ ॥

[३३०] हे इन्द्र ! (उत) और तूने (प्रधीन् इव) चक्रके अरोंकी तरह जुडकर रहनेवाले (वर्चिनः दासस्य) तेजस्वी दासके अर्थात् विनाशक शत्रुके (पंच शता सहस्राणि) पांच लाख सैनिकोंको (अधि अवधीः) मार दिया ॥ १५ ॥

भावार्थ— सिन्धु नदी, अथवा कोई एक नदी जो पानीसे भरपूर भरनेके कारण वेगसे बह रही थी, उस नदीको अपनी आयोजनासे इन्द्रने स्थिर किया और बाढका भय दूर किया। राजा भी अपने राज्यकी नदियोंको काबूमें रखे और बाढ आनेपर भी नदियां नाश न करें ऐसा प्रबंध करे ॥ १२ ॥

शोषक शत्रुके नगर तोडो और उसके धनकोश अपने कब्जेमें लेलो तथा इस तरह शत्रुको निर्बल करो ॥ १३ ॥

'शं-बर' यह मेघका नाम है। 'शं,' कल्याण करनेवाले जलको जो ऊपर ले जाता है और वहां संग्रहित करता है वह 'शं-बर' मेघ है। यह 'दास' है, 'दास' का अर्थ (दस् उपक्षये) क्षय करनेवाला, विनाश कर्ता। कष्ट देनेवाला। मेघ आकाशमें आनेसे नीचेके प्रदेशमें गर्मी बढती है यही मेघके क्लेश हैं। इसलिये मेघको तोडकर वृष्टि करनी आवश्यक है। यह मेघ 'कौलि- तर' है, अधिक कुलीन है 'जल' अर्थात् उदक 'कुलीन' है, (कु) पृथ्वीमें (लीन) विलीन होता है. इस कारण जल 'कु-लीन' है। 'कौलि-तर' का अर्थ (कु) भूमिमें लीन विलीन होनेमें (तर) अधिक शीघ्र विलीन होनेवाला। ऐसा 'शं' कल्याण करनेवाला जल है उसको (बरं) ऊपर लेजाता है। वह मेघ है। केवल मेघ ही रहे और वृष्टि नहीं हुई तो बडे कष्ट होते हैं। इसलिये इन्द्र मेघको तोडता है और वृष्टी करता है। यह कथा या वर्णन आलंकारिक है ॥ १४ ॥

'प्रधी' चक्रके चारों ओर रहनेवाले जैसे अरे जुडे रहते हैं। वैसे जुडे हुए रहकर लडनेवाले (पञ्च शता सहस्राणि) पांच सौ हजार अर्थात पांच लाख अथवा (सहस्राणि पंच शता) एक हजार और पांच सौ अथवा (पञ्च सहस्राणि शता) पांच हजार और सौ शत्रुकी इतनी सैन्य संख्या युद्धमें इन्द्रने मारी थी। 'वर्चिनः दासस्य' वर्चका अर्थ तेज और बल है। यह दास अर्थात् शत्रु तेजस्वी था और बलवान् भी था ॥ १५ ॥

३३१ उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः । उक्थेष्विन्द्र आभजत् ॥ १६ ॥
३३२ उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः । इन्द्रो विद्वाँ अपारयत् ॥ १७ ॥
३३३ उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः । अर्णाचित्ररथावधीः ॥ १८ ॥
३३४ अनु द्वा जहिता नयो ऽन्धं श्रोणं च वृत्रहन् । न तत् ते सुम्नमष्टवे ॥ १९ ॥
३३५ शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत् । दिवोदासाय दाशुषे ॥ २० ॥
३३६ अस्वापयद् दभीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः । दासानामिन्द्रो मायया ॥ २१ ॥
३३७ स घेदुतासि वृत्रहन् त्समान इन्द्र गोपतिः । यस्ता विश्वानि चिच्युषे ॥ २२ ॥

अर्थ— [३३१] (उत) और (शतक्रतुः इन्द्रः) सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रने (त्यं) उस (अग्रुवः पुत्रं) अग्रगामीके पुत्र (परावृक्तं) परावृक्तको (उक्थेषु आभजत्) स्तोत्र पाठोंके समयमें उच्चार करने योग्य करके मान लिया है ॥ १६ ॥

[३३२] (उत त्या) और वे दोनों (अस्नातारा) तैरना न जाननेवाले (तुर्वशा-यदू) तुर्वश और यदूको (शचीपतिः विद्वान् इन्द्रः) शचीके पति, ज्ञानी इन्द्रने (अपारयत्) पार किया ॥ १७ ॥

[३३३] हे इन्द्र !(उत) और (त्या आर्या) उन आर्य राजाओंने (सरयोः पारतः) सरयूके पार रहनेवाले (अर्णा-चित्ररथा) अर्ण और चित्ररथको (सद्यः अवधीः) तत्काल मार दिया ॥ १८ ॥

[३३४] हे (वृत्र-हन्) वृत्रका वध करनेवाले इन्द्र ! तूने (जहिता) समाजके द्वारा त्यागे हुए (अन्धं श्रोणं च) अन्धे और पङ्गु (द्वा) इन दोनोंको (अनुनयः) अनुकूल मार्गसे चलाया। (तत् ते सुम्नं) यह तेरा दिया हुआ सुख (अष्टवे न) हटानेके लिये कोई समर्थ नहीं होता ॥ १९ ॥

[३३५] (इन्द्रः) इन्द्रने (अश्मन्मयीनां शतं पुरां) शत्रुके सो किलोंवाले नगरोंको (दाशुषे दिवोदासाय) दाता दिवो दासके लिये (वि आस्यत्) दे दिया ॥ २० ॥

[३३६] (इन्द्रः) इन्द्रने (मायया) अपनी शक्तिसे (दासानां त्रिंशतं सहस्रा) दुष्ट विनाशकारियोंके तीस सहस्र वीरोंको (हथैः दभीतये अस्वापयत्) हथियारोंसे दभीतिका हित करनेके लिये मारा, सुला दिया ॥ २१ ॥

[३३७] (उत) और हे इन्द्र ! (यः ता विश्वानि) जो तू उन सब शत्रुओंको (चिच्युषे) हिला देता है। हे (वृत्रहन्) वृत्रका वध करनेवाले इन्द्र ! (गोपतिः सः) गौओंका पालन करनेवाला वह तू (समान घ) सबके साथ समान बर्ताव करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—शत-क्रतुः—सौ यज्ञ करनेवाला इन्द्र। सैंकडों उत्तम कर्म करनेवाला वीर, अग्रुवः—अग्र भागमें जानेकी इच्छा करनेवाली स्त्री । अच्छे कार्यमें पीछे न रहनेवाली स्त्री । परावृक्तं—दुष्ट कर्मसे निवृत्त होकर सत्कर्ममें प्रवृत्त होनेवाला वीर । ऐसे वीरोंका यज्ञोंमें सत्कार करना चाहिये । इनकी प्रशंसा होनी चाहिये ॥ १६ ॥

पानीमें उतर कर तैर कर जो स्नान नहीं कर सकते, ऐसे तुर्वश और यदूको इन्द्रने जलसे पार किया ॥ १७ ॥

वे आर्यवंशके होनेपर भी आचारभ्रष्ट हो चुके थे इसलिये वधके योग्य समझे गये । जो राजा आर्यवंशीय होने पर भी आचारसे भ्रष्ट हो जायं, उन्हें मारना ही चाहिए ॥ १८ ॥

हे इन्द्र ! तूने समाजके द्वारा त्यागे हुए अन्धे और पंगुजनोंको भी उत्तम मार्गसे चलाया । तू जिसे सुख प्रदान करता है, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

शत्रुका नाश करके शत्रुके सौ किले अपने अनुयायीको दिये ॥ २० ॥

दभीतिकी सहायता करनेके लिये इन्द्र गया और शत्रुके सहस्रों वीरोंका वध करके दभीतिको निर्भय किया ॥ २१ ॥

शत्रुका नाश करना और समान बर्ताव करना ये दो गुण इस मंत्रमें वर्णन किये हैं ॥ २२ ॥

३३८ उत नूनं यदिंन्द्रियं करिष्या इन्द्र पौंस्यंम् । अद्या नकिष्टदा मिनत् ॥ २३ ॥
३३९ वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा ।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती ॥ २४ ॥

[३१]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- गायत्री, ३ पादनिचृत् ।]

३४० कयां नश्चित्र आ भुव- दूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥
३४१ कस्त्वां सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः । दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥
३४२ अभी षु णः सखीना- मविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

अर्थ— [३३८] (उत) और हे इन्द्र! (यत् पौंस्यं) जो पुरुषार्थ और जो (इन्द्रियं) इन्द्रियविषयक सामर्थ्य (नूंन करिष्य) तूने प्रकट किया (अद्य नकिः) आज कोई भी (तत् आ मिनत्) उसका निराकरण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

[३३९] हे (आ-दुरे) शत्रुओंका नाश करनेवाले इन्द्र ! (अर्यमा देवः) शत्रुओंका नियमन करनेवाला देव (ते वामं वामं ददातु) तेरे पासका उत्तम धन हमें देवे ! (पूषा) पोषक देव (वामं) उत्तम धन देवे ! (भगः देवः वामं) भाग्य युक्त देव उत्तम धन हमें देवे तथा (करूळती) कारीगरोंको धन देनेवाला हमें धन देवे ॥ २४ ॥

१ आ-दुरः (आ-दुरिः) सब शत्रुओंको दूर करनेवाला इन्द्र । अर्यमा (अरीणां नियमयिन्ता) शत्रुओंका नियमन करनेवाला । (अर्यमिमीते) श्रेष्ठ कौन है, सीधा कौन है और दुष्ट कौन है इसका निर्णय देनेवाला ।

[३१]

[३४०] (सदावृधः चित्रः सखा) सदा बढनेवाला तथा विलक्षण सामर्थ्यवान् मित्र इन्द्र (कया ऊती) किस संरक्षणके साधनके साथ तथा (कया वृता शचिष्ठया) किस वरणीय शक्तिके साथ (नः आभुवत्) हमारी तरफ आएगा ? ॥ १ ॥

१ सदावृधः चित्रः सखा— सामर्थ्यसे सदा बढनेवाला विलक्षण शक्तिशाली मित्र हो ।

२ ऊती शचिष्ठया वृता नः आभुवत्— संरक्षणके सामर्थ्यसे युक्त होकर वह हमारे पास आजाय ।

[३४१] (सत्यः मदानां मंहिष्ठः कः अन्धसः) अविनाशी तथा आनन्द देनेवाले पदार्थोंमें सबसे अधिक पूज्य कौनसा अन्न (त्वा) तुझे (दृळ्हा वसु चित् आरुजे) शत्रुओंके पास सुदृढ रहनेवाले धनोंको प्राप्त करनेके लिए (मत्सत्) आनन्दित करेगा ? ॥ २ ॥

[३४२] (जरितॄणां सखीनां अविता) स्तुति करनेवाले मित्रोंका रक्षक तू (शतं ऊतिभिः) सैंकडों संरक्षण के साधनोंसे युक्त होकर (नः अभि सु भवासि) हमारे पास आ ॥ ३ ॥

भावार्थ— इन्द्रने जो भी पुरुषार्थ और इन्द्रियोंका सामर्थ्य प्रकट किया, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

पूषा— पोषक देव, पोषण करनेवाला । भगः— भाग्य जिसके पास है, धनका अधिकारी करूळती— (करुः-दती= कृतदंतः) जिसके दांत कटे हैं । (करुः कारुः, दती दाता) कारीगरोंको योग्य धन देनेवाला । इन्द्रका धन ये देव हमें देवें । यह प्रार्थना इस मंत्रमें है ॥ २४ ॥

मित्र सदा ही विलक्षण सामर्थ्यसे युक्त और शक्तिशाली हो । उसकी शक्ति वरण करने योग्य अर्थात् सज्जनोंकी रक्षा करनेवाला हो ॥ १ ॥

अन्नोंमेंसे कौनसा अन्न तुझे शत्रुके पास सुदृढ रूपसे रखे हुए धनोंको प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करेगा ? जो ऐसा करे वही अन्न तुझे सेवन करना चाहिये ॥ २ ॥

तू संरक्षण करनेकी इच्छासे सैंकडों संरक्षणके साधनोंसे युक्त होकर हमारे पास आ कर रह ॥ ३ ॥

३४३ अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः । नियुद्भिश्चर्षणीनाम् ॥ ४ ॥
३४४ प्रवता हि क्रतूना–मा हा पदेव गच्छसि । अभक्षि सूर्ये सचा ॥ ५ ॥
३४५ सं यत् त इन्द्र मन्यवः सं चक्राणि दधन्विरे । अध त्वे अध सूर्ये ॥ ६ ॥
३४६ उत स्मा हि त्वामाहुरि–न्मघवानं शचीपते । दातारमविदीधयुम् ॥ ७ ॥
३४७ उत स्मा सद्य इत् परि शशमानाय सुन्वते । पुरू चिन्मंहसे वसु ॥ ८ ॥
३४८ नहि ष्मा ते शतं चन राधो वरन्त आमुरः । न च्यौत्नानि करिष्यतः ॥ ९ ॥
३४९ अस्माँ अवन्तु ते शत–मस्मान् त्सहस्रमूतयः । अस्मान् विश्वा अभिष्टयः ॥ १० ॥

अर्थ— [३४३] (वृत्तं चक्रं अर्वतः न) जिस प्रकार गाडीका गोल पहिया घोडेके पीछे चलता है उसी प्रकार [तेरे पीछे चलनेवाले] (नः चर्षणीनां) हम मनुष्योंकी (अभि) तरफ तू (नियुद्भिः आ ववृत्स्व) घोडोंसे आ ॥ ४ ॥

[३४४] हे इन्द्र ! (क्रतूनां प्रवता हि) तू यज्ञके स्थानोंको (पदा इव गच्छसि) अपने पांवसे जानेके समान जाता है । मैं (सूर्ये सचा) सूर्यके साथ तेरी (अभाक्षि) पूजा करता हूँ ॥ ५ ॥

[३४५] हे इन्द्र ! (यत् मन्यवः दधन्विरे) जब हम तेरी स्तुति करते हैं, तो वे स्तुतियां (चक्राणि ते सं) चक्रोंके समान तेरी ओर जाती हैं । (अध त्वे) पहले तेरे पास जाती हैं, (अध सूर्ये) फिर बादमें सूर्यके पास ॥ ६ ॥

[३४६] हे (शचीपते) शक्तियोंके स्वामी इन्द्र ! (मघवानं दातारं) ऐश्वर्यशाली तथा धन देनेवाले (त्वां) तुझे लोग (अविदीधयुं आहुः इत्) तेजस्वी कहते हैं ॥ ७ ॥

[३४७] हे इन्द्र ! तू (शशमानाय सुन्वते) स्तुति करनेवाले और सोम तैय्यार करनेवालेके लिए (पुरूचित् वसु) बहुतसे धनको भी (सद्यः इत्) शीघ्रही (परिमंहसे) चारों ओरसे देता है ॥ ८ ॥

[३४८] हे इन्द्र ! (आमुरः) हिंसक शत्रु (ते शतं चन राधः) तेरे सैंकडों तरहके धनको (नहि वरन्ते स्म) नहीं पासकते, तथा (करिष्यतः) शत्रुओंकी हिंसा करते हुए तेरे (च्यौत्नानि न) बलोंको रोक नहीं सकते ॥ ९ ॥

[३४९] हे इन्द्र ! (ते शतं ऊतयः अस्मान् अवन्तु) तेरे सैंकडों रक्षाके साधन हमारी रक्षा करें, तथा (सहस्रं ऊतयः अस्मान्) हजारों रक्षणके साधन हमारी रक्षा करें, तथा (विश्वाः अभिष्टयः अस्मान्) सब प्रकारकी इच्छायें हमारी रक्षा करें ॥ १० ॥

भावार्थ— जिस प्रकार गाडीका पहिया घोडेके पीछे पीछे चलता है, उसी तरह, हे इन्द्र ! तेरे पीछे चलनेवाले हमारी ओर तू आ ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! तू यज्ञोंसे इतना प्रेम करता है कि तू इन यज्ञोंमें पैरोंसे ही जाता है । मैं सूर्यके साथ तेरी पूजा करता हूं ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! जब हम तेरी स्तुति करते हैं, तब वे तेरी स्तुतियां तेरी तरफ जाती हैं । पहले वे स्तुतियां तेरे पास जाती हैं, फिर सूर्यके पास ॥ ६ ॥

हे शक्तियोंके स्वामी इन्द्र ! तू ऐश्वर्यशाली और धनको देनेवाला है । तुझे सभी प्राणी तेजस्वी कहते हैं ॥ ७ ॥

तू स्तुति करनेवाले और सोम यज्ञ करनेवालेके लिए बहुत सारा धन बहुत शीघ्र देता है ॥ ८ ॥

अनेकों हिंसक शत्रु मिलकर भी इस इन्द्रके सैंकडों तरहके धन नहीं पासकते और जब वह इन्द्र हिंसक शत्रुओंका संहार करता है, तब शत्रु संगठित होकर भी उसके बलको नहीं रोक सकते । इसका मुकाबला नहीं कर सकते ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! तेरे पास सैंकडों और हजारों तरहके जो रक्षाके साधन हैं, वे हमारी रक्षा करें और सब प्रकारकी इच्छायें हमारी रक्षा करें ॥ १० ॥

३५० अस्माँ इहा वृणीष्व सख्याय स्वस्तये । महो राये दिवित्मते ॥ ११ ॥
३५१ अस्माँ अविड्ढि विश्वहे-न्द्र राया परीणसा । अस्मान् विश्वाभिरूतिभिः ॥ १२ ॥
३५२ अस्मभ्यं ताँ अपा वृधि व्रजाँ अस्तेव गोमतः । नवाभिरिन्द्रोतिभिः ॥ १३ ॥
३५३ अस्माकं धृष्णुया रथो द्युमाँ इन्द्रानपच्युतः । गव्युरश्वयुरीयते ॥ १४ ॥
३५४ अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य । वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ १५ ॥

[३२]

[ऋषिः— वामदेवो गौतमः । देवता— इन्द्रः, २३-२४ इन्द्राश्वौ । छन्दः— गायत्री ।]

३५५ आ तू न इन्द्र वृत्रह-न्नस्माकमर्धमा गहि । महान् महीभिरूतिभिः ॥ १ ॥
३५६ भृमिश्चिद् घासि तूतुजि-रा चित्र चित्रिणीष्वा । चित्रं कृणोष्यूतये ॥ २ ॥

अर्थ— [३५०] हे इन्द्र ! (इह) यहां (अस्मान्) हमें (सख्याय स्वस्तये) मित्रता तथा कल्याण करनेके लिए और (महान् दिवित्मते राये) महान् तेजस्वी धन देनेके लिए (वृणीष्व) स्वीकार कर ॥ ११ ॥

[३५१] हे इन्द्र ! तू (परीणसा राया) महान् ऐश्वर्यसे (विश्वहा) सब दिन (अस्मान् अविड्ढि) हमारी रक्षा कर । तथा (विश्वाभिः ऊतिभिः अस्मान्) सभी संरक्षणके साधनोंसे हमारी रक्षा कर ॥ १२ ॥

[३५२] (अस्ता इव) जिस प्रकार लोग घर खोलते हैं उसी प्रकार तू हे इन्द्र ! अपने (नवाभिः ऊतिभिः) नये संरक्षणोंके साधनोंके द्वारा (अस्मभ्यं) हमारे लिए (तान् गोमतः व्रजान्) उन गायोंके बाडोंको (अपावृधि) खोल दे ॥ १३ ॥

[३५३] हे इन्द्र ! (अस्माकं) हमारा (धृष्णुया द्युमान्, अनपच्युतः) शत्रुओंका विनाश करनेवाला, तेजस्वी-विनाश रहित (गव्युः अश्वयुः) गायों तथा घोडोंको प्राप्त करानेवाला (रथः) रथ (ईयते) आता है ॥ १४ ॥

[३५४] हे (सूर्य) सबके प्रेरक इन्द्र ! तूने (वर्षिष्ठं द्यां उपरि इव) जिस प्रकार अत्यधिक तेजस्वी द्युलोकको ऊपर स्थापित किया है, उसीतरह तू (देवेषु) देवोंमें (अस्माकं श्रवः उत्तमं कृधि) हमारे यशको उत्तम कर ॥ १५ ॥

[३२]

[३५५] हे (वृत्रहन् इन्द्र) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! (महान्) महान् तू (महीभिः ऊतिभिः) बडे बडे संरक्षणके साधनोंसे युक्त होकर (नः अस्माकं अर्धं आगहि) हमारे पास आ ॥ १ ॥

[३५६] हे इन्द्र ! तू (भृमिः चित्) पुरुषार्थी है और (तूतुजि असि) हमें बढानेवाला है । हे (चित्र) विलक्षण शक्तिमान् इन्द्र ! तू (चित्रणीषु) अनेक पुरुषार्थके काम करनेवालोंको (ऊतये) संरक्षण करनेके लिए (चित्रं कृणोषि) अनेक तरहके सामर्थ्य देता है ॥ २ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र हमें अपनी मित्रताकी छायामें रख और हमारा कल्याण कर । महान् और तेजस्वी धन देनेके लिए हमें तू अपना भक्त बना ले ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! तू महान् ऐश्वर्यसे हमेशा हमारी रक्षा कर, तथा सभी संरक्षणके साधनोंसे हमारी रक्षा कर ॥ १२ ॥

जिस प्रकार लोग अपने घरके दरवाजोंको खोलते हैं, उसी तरह, हे इन्द्र ! तू अपने नये संरक्षणके साधनोंके द्वारा हमारे लिए उन गायोंके बाडोंको खोल दे ॥ १३ ॥

हे इन्द्र ! शत्रुओंका विनाश करनेवाला, तेजस्वी, विनाश रहित तथा अनेक तरहके पशुओंको प्राप्त करानेवाला रथ हमारी तरफ आवे ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! तूने जिसप्रकार अत्यधिक तेजस्वी द्युलोकको सबसे ऊपर स्थापित किया है, उसीतरह विद्वानोंमें हमारे यशको सबसे श्रेष्ठ और ऊंचा कर ॥ १५ ॥

हे वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! महान् तू बडे बडे संरक्षणके साधनोंसे युक्त होकर हमारे पास आ ॥ १ ॥

अनेक उत्तम कर्म करनेवाली प्रजामें अपने संरक्षण करनेके लिए विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न करता है ॥ २ ॥

३५७ दुभ्रेभिश्चिच्छशीयांसं हंसि व्राधन्तमोजसा । सखिभिर्ये त्वे सचा ॥ ३ ॥
३५८ वयमिन्द्र त्वे सचा वयं त्वाभि नोनुमः । अस्माँअस्माँ इदुदव ॥ ४ ॥
३५९ स नश्चित्राभिरद्रिवो ऽनवद्याभिरूतिभिः । अनाधृष्टाभिरा गहि ॥ ५ ॥
३६० भूयामो षु त्वावतः सखाय इन्द्र गोमतः । युजो वाजाय घृष्वये ॥ ६ ॥
३६१ त्वं ह्येक ईशिष इन्द्र वाजस्य गोमतः । स नो यन्धि महीमिषम् ॥ ७ ॥
३६२ न त्वा वरन्ते अन्यथा यद् दित्ससि स्तुतो मघम् । स्तोतृभ्य इन्द्र गिर्वणः ॥ ८ ॥
३६३ अभि त्वा गोतमा गिरा ऽनूषत प्र दावने । इन्द्र वाजाय घृष्वये ॥ ९ ॥

अर्थ—[३५७] हे इन्द्र ! (ये त्वे सचा) जो तेरे साथ रहते हैं, ऐसे (दभ्रेभिः सखिभिः) थोडेसे मित्रोंकी सहायतासे तू (शशीयांसं व्राधन्तं) उछलनेवाले बडे शत्रुको (चित्) भी (ओजसा हंसि) मार देता है ॥ ३ ॥

[३५८] हे इन्द्र ! (वयं त्वे सचा) हम तेरे साथ हैं, (वयं त्वा अभि नोनुमः) हम तेरी स्तुति करते हैं। तू (अस्मान् इत् अस्मान् उत् अव) हमारी ही अर्थात् केवल हमारी ही रक्षा कर ॥ ४ ॥

[३५९] हे (अद्रि-वः) शस्त्रोंसे युक्त इन्द्र ! (सः) वह तू (चित्राभिः अनवद्याभिः अन अधृष्टाभिः ऊतिभिः) अनेक तरहके प्रशंसनीय तथा शत्रुओंके द्वारा न हराये जाने योग्य संरक्षणके साधनोंसे युक्त होकर (नः आगहि) हमारे पास आ ॥ ५ ॥

[३६०] हे इन्द्र ! (त्वावतः गोमतः सखायः) तेरे जैसे गायोंवालेके मित्र होकर हम (घृष्वये वाजाय) शत्रुका पराजय करनेवाले बलकी प्राप्तिके (युजः भूयामः) योग्य हों ॥ ६ ॥

(३६१) हे इन्द्र ! (गोमतः वाजस्य) गायोंसे उत्पन्न अन्न पर (त्वं एकः ईशिषे) तू अकेला ही स्वामित्व करता है। (सः) वह तू (महीं इषं) उस महान् अन्नको (नः यन्धि) हमें दे ॥ ७ ॥

[३६२] हे (गिर्वणः इन्द्र) स्तुत्य इन्द्र ! (स्तुतः) प्रशंसित होकर तू (यद्) जब (स्तोतृभ्यः मघं दित्ससि) स्तोताओंको धन देना चाहता है, तब (त्वा) तुझे कोई भी (अन्यथा न वरन्ते) किसी भी प्रकार रोक नहीं सकते ॥ ८ ॥

[३६३] हे इन्द्र ! (गोतमाः) गोतम तुझे (गिरा अवीवृधन्त) स्तुतिसे बढाते हैं। तथा (घृष्वये वाजाय दावने) महान् अन्नके दानके लिए तेरी (अनूषत) स्तुति करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— इन्द्र ! तू हमेशा तेरे साथ रहनेवाले थोडेसे भी मित्रोंकी सहायतासे बडे बडे पराक्रमी शत्रुओंको भी मार देता है ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! हम तेरे साथ हैं, और हम तेरी स्तुति करते हैं, इसलिए तू हमारी ही केवल हमारी ही रक्षा कर ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! शस्त्रोंसे युक्त होकर तू अनेक तरहके प्रशंसनीय और शत्रुओंके लिए अजेय संरक्षणके साधनोंसे युक्त होकर हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! तू गायोंका स्वामी है, अतः हम तेरे मित्र होकर शत्रुको हरानेवाले बलकी प्राप्तिके लिए योग्य हों ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! गायोंसे उत्पन्न होनेवाले अन्न पर तू अकेला ही स्वामित्व करता है। उस महान अन्नको तू हमें प्रदान कर ॥ ७ ॥

हे प्रशंसाके योग्य इन्द्र ! प्रशंसित होकर तू जब स्तोताओंको धन देना चाहता है, तब तुझे कोई किसी भी प्रकार नहीं रोक सकता ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! गोतम तुझे स्तुतिसे बढाते हैं, तथा महान् अन्नके दानके लिए तेरी स्तुति करते हैं ॥ ९ ॥

×

३६४ प्र ते वोचाम वीर्याई या मन्दसान आरुजः । पुरो दासीरभीत्य ॥ १० ॥
३६५ ता ते गृणन्ति वेधसो यानि चकर्थ पौंस्या । सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ ११ ॥
३६६ अवीवृधन्त गोतमा इन्द्र त्वे स्तोमवाहसः । एषु धा वीरवद् यशः ॥ १२ ॥
३६७ यच्चिद्धि शश्वतामसी न्द्र साधारणस्त्वम् । तं त्वा वयं हवामहे ॥ १३ ॥
३६८ अर्वाचीनो वसो भवा ऽस्मे सु मत्स्वान्धसः । सोमानामिन्द्र सोमपाः ॥ १४ ॥
३६९ अस्माकं त्वा मतीना मा स्तोम इन्द्र यच्छतु । अर्वागा वर्तया हरी ॥ १५ ॥
३७० पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः । वधूयुरिव योषणाम् ॥ १६ ॥

अर्थ— [३६४] हे इन्द्र ! (मन्दसानः) आनन्दित होते हुए तूने (अभीत्य) आक्रमण करके (दासीः याः पुरः आरुजः) दासके जो नगरोंको तोड दिया, हम (ते वीर्या वोचाम) तेरे उन पराक्रमोंका वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

[३६५] हे (गिर्वणः इन्द्र) स्तुतिके योग्य इन्द्र ! तूने (यानि पौंस्या चकर्थ) जिन पराक्रमोंको किया है, (ते ता) तेरे उन पराक्रमोंकी (वेधसः गृणन्ति) ज्ञानी प्रशंसा करते हैं ॥ ११ ॥

[३६६] हे इन्द्र ! ये (स्तोमवाहसः गोतमाः) स्तुति करनेवाले गौतम (त्वे अवीवृधन्त) तेरा यश बढाते हैं अतः तू (एषु वीरवत् यशः आ धाः) इनमें पुत्रोंसे युक्त यशको स्थापित कर ॥ १२ ॥

[३६७] (यत् चित् हि) जिस कारण हे इन्द्र ! (शश्वतां) बहुतसे सज्जनोंके लिए (त्वं साधारणः असि) तू साधारण परिचित ही है, इसलिये (तं त्वा) उस तुझे ही सहायार्थ (वयं हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ १३ ॥

[३६८] हे (सोम-पाः वसो इन्द्र) सोमको पीनेवाले तथा सबको बसानेवाले इन्द्र ! तू (अर्वाचीनः भव) हमारी तरफ आ और (सोमानां अन्धसः मत्स्व) सोमरूपी अन्नसे आनन्दित हो ॥ १४ ॥

[३६९] हे इन्द्र ! (मतीनां अस्माकं) स्तुति करनेवाले हमारा (स्तोमः) स्तोत्र (त्वा आ यच्छतु) तुझे इधर ले आवे तथा तू भी (हरी) अपने घोडोंको (अर्वाक् आ वर्तय) हमारी तरफ प्रेरित कर ॥ १५ ॥

[३७०] हे इन्द्र ! तू (नः पुरोळाशं घस) हमारे पुरोडाशको खा। तथा (वधूयुः योषणां इव) जिसप्रकार स्त्रीकी कामना करनेवाला स्त्रीका सेवन करता है, उसीप्रकार तू (नः गिरः जोषयासे) हमारी स्तुतियोंका सेवन कर ॥१६॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! आनन्दित होते हुए तूने आक्रमण करके जो दासासुर के नगरोंको तोड दिया, उन तेरे पराक्रमोंका हम वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तूने जिन पराक्रमोंको प्रकट किया है, उन पराक्रमोंकी ज्ञानी प्रशंसा करते हैं ॥ ११ ॥

इन स्तोताओंमें पुत्रोंवाले यशको स्थापित कर । मनुष्योंको ऐसे पुत्र प्राप्त करने चाहिए, जो अपने पिताओंको यशस्वी बना सकें॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! प्रायः सभी उत्तम जन तुझे अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए वे तुझे ही अपनी सहायताके लिए बुलाते हैं ॥ १३ ॥

हे सोमको पीनेवाले इन्द्र ! तू हमारी तरफ आ और इस सोमरूपी अन्नसे आनन्दित हो ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! हमारी स्तुतियोंसे आकर्षित होकर तू अपने घोडोंको हमारी तरफ कर अर्थात् तू हमारी तरफ आ ॥ १५ ॥

हे इन्द्र ! तू हमारे पुरोडाशको खा और हमारी स्तुतियोंका तू सेवन कर, हमारी स्तुतियोंको तू सुन ॥ १६ ॥

३७१	सहस्रं व्यतीनां युक्तानामिन्द्रमीमहे	। शतं सोमस्य खार्यः	॥ १७ ॥
३७२	सहस्रा ते शता वयं गवामा च्यावयामसि	। अस्मत्रा राध एतु ते	॥ १८ ॥
३७३	दश ते कलशानां हिरण्यानामधीमहि	। भूरिदा असि वृत्रहन्	॥ १९ ॥
३७४	भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर	। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि	॥ २० ॥
३७५	भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्	। आ नो भजस्व राधसि	॥ २१ ॥
३७६	प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात्	। माभ्यां गा अनु शिश्रथः	॥ २२ ॥
३७७	कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके	। बभ्रू यामेषु शोभेते	॥ २३ ॥

अर्थ— [३७१] हम (इन्द्रं) इन्द्रसे (सहस्रं युक्तानां व्यतीनां) हजारों योग्य शिक्षित तथा शत्रुओंको हरानेवाले घोडोंको तथा (सोमस्य शतं खार्यः) सोमके सौ खारियोंको[1] (ईमहे) मांगते हैं ॥ १७ ॥

१ खारी— एक प्राचीन कालका माप, जिसमें १६ द्रोण होते हैं। एक द्रोण=करीब एक बाल्टी।

[३७२] हे इन्द्र ! हम (ते शता सहस्रा गवां) तेरी सैंकडों व हजारों गायोंको (आच्यावयामसि) अपनी तरफ प्रेरित करते हैं, (ते राधः अस्मत्रा एतु) तेरा ऐश्वर्य हमारी तरफ आवे ॥ १८ ॥

[३७३] हे इन्द्र ! हम (ते दश हिरण्यानां कलशानां) तेरे दस सोनेसे भरे कलशोंको (अधीमहि) धारण करते हैं। हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र ! तू (भूरिदा असि) बहुत दान देनेवाला है ॥ १९ ॥

[३७४] हे (भूरि-दा) बहुत दान देनेवाले इन्द्र ! तू (नः भूरि देहि) हमें बहुत अधिक धन दे। (दभ्रं मा) थोडा नहीं, (भूरि आभर) बहुत ज्यादा धन दे, (घ) क्योंकि हे इन्द्र ! तू (भूरि दित्ससि) बहुत अधिक देना चाहता है ॥ २० ॥

[३७५] हे (वृत्रहन् शूर) वृत्रको मारनेवाले तथा शूर इन्द्र ! तू (पुरुत्रा) बहुत लोगोंमें (भूरिदा शूरः श्रुतः असि) बहुत देनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध है। तू (नः राधसि भजस्व) तू हमें ऐश्वर्यमें स्थापित कर ॥ २१ ॥

[३७६] हे (विचक्षणः, गोषणः, नपात्) बुद्धिमान्, गायोंके पालन करनेवाले तथा विनाश न करनेवाले इन्द्र ! मैं (ते बभ्रू शंसामि) तेरे भूरे रंगवाले घोडोंकी प्रशंसा करता हूँ। तू (आभ्यां गाः मा अनु शिश्रथः) इनसे हमारी गायोंको मत मार ॥ २२ ॥

[३७७] (विद्रधे नव अर्भके द्रुपदे) मजबूत नये और छोटे लकडीके टुकडेपर अंकित (कनीनका इव) पुतली जिसप्रकार शोभित होती है, उसी तरह (बभ्रू यामेषु शोभते) तेरे भूरे रंगके घोडे यज्ञोंमें शोभित होते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! तू हमें हजारों योग्य शिक्षित घोडोंको तथा बहुत मात्रामें सोमको प्रदान कर ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! हम तेरी सैंकडों और हजारों गायोंको मांगते हैं तेरा ऐश्वर्य हमारी तरफ आवे ॥ १८ ॥

हे इन्द्र ! हम तुझसे अत्यधिक धन प्राप्त करें। तू बहुत दान देनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध ही है ॥ १९ ॥

हे इन्द्र ! तू अत्यधिक दान देनेवाला है, इसलिए तू हमें बहुत ज्यादा धन दे। हमें कम धन मत दे ॥ २० ॥

हे वृत्रको मारनेवाले शूरवीर इन्द्र ! तू अत्यधिक धन देनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध है। तू हमें ऐश्वर्यमें स्थापित कर ॥ २१ ॥

हे बुद्धिमान्, गायोंके पालन करनेवाले तथा विनाश न करनेवाले इन्द्र ! मैं तेरे घोडोंकी प्रशंसा करता हूँ। तू हमारी गायोंको मत मार ॥ २२ ॥

जिसप्रकार मजबूत लकडीके टुकडेपर अंकित पुतली जिसतरह सुन्दर लगती है, उसीतरह इन्द्रके घोडे यज्ञमें शोभा देते हैं ॥ २३ ॥

३७८ अरं म उस्रयाम्णेऽरमनुस्रयाम्णे । बभ्रू यामेष्वस्रिधा ॥ २४ ॥

[३३]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- ऋभवः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

३७९ प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीळे ।
ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः ॥ १ ॥
३८० यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः ।
आदिद् देवानामुप सख्यमायन् धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै ॥ २ ॥
३८१ पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना ।
ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम् ॥ ३ ॥

अर्थ— [३७८] हे इन्द्र ! (यामेषु) यज्ञोंमें शोभित होनेवाले तेरे (अस्रिधा बभ्रू) अहिंसक घोडे (उस्रयाम्णे अरं) बैलोंके रथ पर जानेवाले मेरे लिए कल्याण करनेवाले हों (अनुस्रयाम्णे) पैरोंसे ही जानेवाले मेरे लिए (अरं) कल्याण करनेवाले हों ॥ २४ ॥

[३३]

[३७९] (ये वातजूताः अपसः) जो वायुके समान वेगवान् और कर्तृत्वशाली ऋभु अपने (तरणिभिः एवैः) चालाक और होशियार घोडोंसे (द्यां सद्य परि बभूवुः) द्युलोकको शीघ्र ही व्याप्त करते हैं, उन (ऋभुभ्यः) ऋभुओंके लिए (वाचं) स्तुतियोंको (दूतं इव इष्ये) दूतके समान प्रेरित करता हूँ और उनसे (उपस्तिरे) सोमको उत्तम बनानेके लिए (श्वैतरीं धेनुं ईळे) दुधारु गायको मांगता हूँ ॥ १ ॥

[३८०] (यदा) जब (ऋभवः) ऋभुओंने (पितृभ्यां) माता पिताओंके (परिविष्टी) सेवा करके (वेषणा) अपने महत्व और (दंसनाभिः) उत्तम कर्मोंसे स्वयंको (अरं अक्रन्) सामर्थ्यशाली बनाया (आत् इत्) उसके बाद ही (देवानां सख्यं उप आयन्) देवोंकी मित्रताको प्राप्त किया । देवोंकी मैत्री प्राप्त करके (धीरासः) उन बुद्धिमान् ऋभुओंने (मनायै पुष्टिं अवहन्) अपने मनको शक्तिशाली बनाया ॥ २ ॥

२ ऋभवः पितृभ्यां परिविष्टी दंसनाभिः अरं अक्रन्— ऋभुओंने अपने माता पिताकी सेवा और उत्तम कर्मोंको करके स्वयंको सामर्थ्यशाली बनाया ।

२ देवानां सख्यं उप आयन् मनायै पुष्टिं अवहन्— देवोंसे मैत्री स्थापित की और अपने मनको शक्तिशाली बनाया ।

[३८१] (ये) जिन ऋभुओंने (यूपा इव) पडे हुए खम्भेके समान (जरणा शयाना पितरा) जीर्ण होकर पडे हुए मातापिताको (पुनः) फिरसे (सना युवाना चक्रुः) हमेशाके लिए तरुण बना दिया, (ते) वे (वाजः विभ्वा ऋभुः) वाज विभ्वा और ऋभु (इन्द्रवन्तः) इन्द्रकी कृपासे युक्त होकर तथा (मधुप्सरसः) मधुर सोमका भक्षण करनेवाले होकर (नः यज्ञं अवन्तु) हमारे यज्ञकी रक्षा करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! तेरे अहिंसक घोडे बैलोंके रथ पर तथा पैदल ही जानेवाले मेरा कल्याण करनेवाले हों ॥ २४ ॥

ये ऋभु वेगवान् और उत्तम कार्य करनेवाले हैं । इनके घोडे द्युलोकको शीघ्र ही व्याप लेते हैं । ऐसे ऋतुओंके लिए मैं अपने स्तोत्रोंको उसीतरह भेजता हूँ कि जिसतरह स्वामी अपने दूत भेजते हैं । मैं उन ऋभुओंसे सोमयज्ञ करनेके लिए दुधारु गायें मांगता हूँ ॥ १ ॥

ऋभुओंने मातापिताकी सेवा करके तथा उत्तम उत्तम कर्म करके स्वयंको शक्तिशाली बनाया, तब वे देवोंके मित्र बने और उन्होंने अपने मनको भी शक्तिशाली बनाया । ऋभु प्रथम मनुष्य थे, पर जब उन्होंने अपने मातापिताकी सेवा की और उत्तम उत्तम कर्म किए, तब उन्हें देवत्वकी प्राप्ति हुई । वे मनुष्यसे देव बन गए । देव बननेके बाद उनके मनकी शक्ति भी बढ गई इसीतरह मनुष्य भी उत्तम उत्तम कर्म करके देव बन सकता है और अपनी मनःशक्ति को बढा सकता है ॥ २ ॥

३८२ यत् संवत्सम॒भवो गामरक्षन् यत् संवत्सम॒भवो मा अपिंशन् ।
यत् संवत्सम॑भरन् भासो अस्या॒स्ताभि॒: शमी॑भिरमृत॒त्वमा॑शुः ॥ ४ ॥
३८३ ज्येष्ठ आ॑ह चम॒सा द्वा क॒रेति॒ कनी॑यान् त्रीन् कृ॑णवा॒मेत्या॑ह ।
कनि॑ष्ठ आ॑ह च॒तुर॑स्क॒रेति॒ त्वष्ट॑ ऋभव॒स्तत् प॑नय॒द् वचो॑ वः ॥ ५ ॥
३८४ स॒त्यमू॑चु॒र्नर॑ ए॒वा हि च॒क्रु॒रनु॑ स्व॒धामृ॒भवो॑ जग्मु॒रेता॑म् ।
वि॒भ्राज॑मानांश्चम॒सा॑ अहे॒वाऽवे॑नत् त्वष्टा॑ च॒तुरो॑ ददृ॒श्वान् ॥ ६ ॥
३८५ द्वाद॑श॒ द्यून् यदगो॑ह्यस्याऽऽति॒थ्ये रण॑न्नृ॒भव॑: स॒सन्त॑: ।
सु॒क्षेत्रा॑कृण्व॒न्नन॑यन्त॒ सिन्धू॒न् धन्वाति॑ष्ठ॒न्नोष॑धीर्नि॒म्नमाप॑: ॥ ७ ॥

अर्थ—[३८२] (यत्) जब (ऋभवः) ऋभुओंने (सं वत्सं) एक वर्षतक (गां अरक्षन्) गायकी रक्षा की। (यत्) जब (संवत्सं) एक वर्षतक (ऋभवः) ऋभुओंने (मा: अपिंशन्) उस गायके अवयवोंमें मांस भर कर उसे सुन्दर रूपसे युक्त किया। (यत्) जब (संवत्सं) एक वर्षतक (अस्याः भासः अभरन्) इस गायमें तेज भरा, (ताभिः शमीभिः) अपने उन उत्तम कर्मोंके कारण ही उन ऋभुओंने (अमृतत्वं आशुः) अमरता प्राप्त की ॥ ४ ॥

[३८३] (ज्येष्ठः आह चमसा द्वा कर इति) बडा बोला कि हम चमसके दो भाग करें, (कनीयान् त्रीन् कृणवाम इति आह) छोटा बोला हम तीन करें। (कनिष्ठः आह चतुरः कर इति) सबसे छोटा बोला कि हम चार भाग करें, हे (ऋभवः) ऋभुओ ! (त्वष्टा) त्वष्टाने (वः वचः पनयत्) तुम्हारे इन बातोंकी प्रशंसा की ॥ ५ ॥

[३८४] (नरः) नर रूपी ऋभुओंने (सत्यं ऊचुः) सत्य ही कहा (हि) क्योंकि उन्होंने (एव चक्रुः) जैसा कहा था, वैसा ही किया। (अनु) उसके बाद (एतां स्वधां) इस हविको (ऋभवः जग्मुः) ऋभुओंने प्राप्त किया। (त्वष्टा) त्वष्टा देवने (अहा इव विभ्राजमानान्) दिनके समान तेजस्वी (चतुर चमसान्) चार चमसोंको (ददृश्वान्) देखा और (अवेनत्) उन्हें बहुत पसन्द किया ॥ ६ ॥

[३८५] (यत्) जब (ऋभवः) ऋभुओंने (द्वादश द्यून्) बारह दिनतक (अगोह्यस्य आतिथ्ये) जिसका तेज छिप नहीं सकता, ऐसे आदित्यके आतिथ्यमें (ससन्तः रणत्) रहते हुए आनन्द किया, तब ऋभुओंने (सुक्षेत्रा अकृण्वन्) खेतोंको उत्तम बनाया, (सिन्धून् अनयन्त) नदियोंको प्रेरित किया (धन्व ओषधीः आ अतिष्ठन्) निर्जल प्रदेशमें ओषधी वनस्पतियोंका उगाया और (आपः निम्नं) जलोंको नीचेकी ओर बहाया ॥ ७ ॥

भावार्थ — इन ऋभुओंने लकडीके खम्भेके समान निश्चेष्ट पडे हुए अपने वृद्ध मातापिताको फिरसे हमेशाके लिए तरुण बना दिया। तब वे ऋभु इन्द्रकी कृपाके पात्र हुए ॥ ३ ॥

इन ऋभुओंने एक अत्यन्त जीर्ण गायकी वर्षभरतक सेवा की। उस गायमें मांस भरा, उसके अवयवोंको सुन्दर बनाया और उसमें तेज भरा। इस प्रकार उन्होंने एक मृतवत् गायको पुष्ट किया। अपने इन उत्तम कर्मोंके कारण उन्होंने अमरता प्राप्त की। गोरक्षण करनेसे दूध घी मिलता है और दूध घीके भक्षणसे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

ऋभुओंमें सबसे बडेने कहा कि हम इसके दो भाग करें, छोटेने कहा कि हम तीन करें और सबसे छोटेने कहा कि हम इसके चार भाग करें। त्वष्टाने ऋभुओंके इन बातोंकी बहुत प्रशंसा की ॥ ५ ॥

ये नर रूपी ऋभु हमेशा सत्य ही बोलते हैं और ये जैसा बोलते हैं, वैसा ही आचरण करते हैं। अपने इस सत्य आचरणके कारण ही वे अपनी शक्तिको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

इस मंत्रमें ऋभुओंका वर्णन सूर्यकी रश्मिके रूपमें है। जब ये किरणें आदित्यके समीप तेजीसे प्रकाशित होती हैं अर्थात् ग्रीष्म ऋतुमें अत्यधिक प्रकाशित होती हैं, तब उसके बाद बरसात होती है। उस बरसातसे जल बरसाकर सूर्य-किरणें खेतोंको उपजाऊ बनाती हैं, नदियोंको बहाती हैं, निर्जल प्रदेशोंमें ओषधियोंको उत्पन्न करती हैं और जलोंको बहाती हैं ॥ ७ ॥

३८६ रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम् ।
त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः ॥ ८ ॥
३८७ अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः ।
वाजो देवानामभवत् सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा ॥ ९ ॥
३८८ ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सुयुजा ये अश्वा ।
ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवः क्षेमयन्तो न मित्रम् ॥ १० ॥
३८९ इदाह्नः पीतिमुत वो मदं धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ।
ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन् त्सवने दधात ॥ ११ ॥

अर्थ— [३८६] (ये) जिन ऋभुओंने (सुवृतं नरेष्ठां रथं चक्रुः) अच्छी तरह बन्धनोंसे बंधे हुए और मनुष्योंके लिए बैठने योग्य रथको तैय्यार किया, (ये विश्वजुवं विश्वरूपां धेनुं) जिन्होंने सबको प्रेरणा देनेवाली और अनेक रूपोंवाली गायको बनाया, (ते) वे (सु-अपसः सु-अवसः सुहस्ताः) उत्तम कर्म करनेवाले, उत्तम रक्षाके साधनोंसे युक्त और उत्तम हाथोंवाले (ऋभवः) ऋभु (नः रयिं आ तक्षन्तु) हमें ऐश्वर्य प्रदान करें ॥ ८ ॥

[३८७] (एषां अपः) इन ऋभुओंके कर्मोंको (क्रत्वा मनसा अभि दीध्यानः) कर्म और मनसे तेजस्वी (देवाः) देवोंने (अभि अजुषन्त) स्वीकार किया है। अपने कर्मोंके कारण (सुकर्मा वाजः) उत्तम कर्म करनेवाला वाज नामक ऋभु (देवानां अभवत्) देवोंका प्रिय बना, (ऋभुक्षा इन्द्रस्य) ऋभुक्षा इन्द्रका प्रिय बना, (विभ्वा वरुणस्य) और विभ्वा वरुणका प्रिय बना ॥ ९ ॥

[३८८] (ये) जिन ऋभुओंने (उक्था मदन्तः) स्तोत्रोंसे आनन्दित होकर (मेधया) अपनी बुद्धिसे (हरी चक्रुः) दो उत्तम घोडोंको बनाया, (ये) जिन ऋभुओंने (इन्द्राय) इन्द्रके लिए (सुयुजा चक्रुः) आसानीसे रथमें जुड जानेवाले घोडोंको तैय्यार किया, हे (ऋभवः) ऋभुओ ! (ते) वे तुम (क्षेमयन्तः मित्रं न) कल्याण चाहनेवाले मित्रके समान (अस्मे) हमारे लिए (रायस्पोषं द्रविणानि) धन, पुष्टि और अन्यान्य ऐश्वर्य भी (धत्त) प्रदान करो ॥ १० ॥

[३८९] हे ऋभुओ ! (इदा अह्नः) इस दिनके भागमें देवोंने (वः) तुम्हारे लिए (पीतिं मदं धुः) सोम और आनन्द प्रदान किया। (श्रान्तस्य ऋते देवाः सख्याय न भवन्ति) कष्ट उठाये बिना देवगण मित्रता नहीं करते। हे (ऋभवः) ऋभुओ ! (अस्मिन् तृतीये सवने) इस तीसरे सवनमें (अस्मे वसूनि नूनं दधात्) हमें धन निश्चयसे दो ॥ ११ ॥

१ श्रान्तस्य ऋते देवाः सख्याय न भवन्ति— कष्ट उठाये बिना देवगण मित्रता नहीं करते ।

भावार्थ— ये ऋभु शिल्पी भी हैं। इन्होंने एक मजबूत और मनुष्योंके लिए आसानीसे बैठने योग्य रथका निर्माण किया। इन्होंने गायोंको कामधेनु बनाया। वे सभी ऋभु उत्तम कर्म करनेवाले, उत्तम रक्षाके साधनोंसे युक्त और कुशल हाथोंवाले हैं। ये ऋभु हमें उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करें ॥ ८ ॥

इन ऋभुओंके कर्म इतने सुन्दर होते हैं कि इनके कर्म अपनी कर्तृत्वशक्ति तथा मानसिक शक्तिके कारण तेजस्वी देवोंको भी बहुत पसन्द आते हैं। अपने इन उत्तम कर्मोंके कारण ही ये ऋभु देवोंके प्रिय बने। उनमें उत्तम कर्म करनेवाला वाजनामक ऋभु सभी देवोंका प्रिय बना, ऋभुक्षा इन्द्रका प्रिय बना और विभ्वा वरुणका प्रिय बना ॥ ९ ॥

इन ऋभुओंने स्तुतियोंसे आनन्दित होकर अपनी बुद्धिके प्रभावसे उत्तम घोडोंको तैय्यार किया। इन्द्रके घोडोंको भी इन ऋभुओंने सुशिक्षित किया। वे ऋभु कल्याण चाहनेवाले मित्रके समान हमें धन, पुष्टि और अन्यान्य ऐश्वर्य प्रदान करें ॥ १० ॥

हे ऋभुओ ! तुम्हारे परिश्रम और कुशाग्र बुद्धिको देखकर ही देवोंने तुम्हें सोमपानका अधिकारी बनाकर आनन्द प्रदान किया, क्योंकि बिना परिश्रम किये या बिना कष्ट उठाये देवगण किसीसे मित्रता नहीं करते। जो मनुष्य परिश्रम नहीं करता या कष्ट नहीं करता, देवगण उसकी सहायता नहीं करते ॥ ११ ॥

वैदिकधर्म

नवम्बर १९६९

६० पैसे



वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक ११ : आश्विन : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]



स्थापक एवं आद्यसंपादक
ीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

⊙

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.००, विदेशके लिये रु. ८.०० डाक व्यय अलग रहेगा।

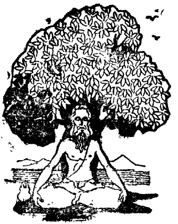
मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिक धर्म

भक्तोंका रक्षक

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो
भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः ।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने
माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥

(ऋ० ४।४।३)



हे (अग्ने) अग्ने ! (तूर्णितमः) अत्यन्त वेगवान् तू (स्पशः) अपने गुप्तचरोंको (प्रति वि सृज) चारों ओर प्रेरित कर । (अदब्धः) किसीसे न दबनेवाला तू (अस्याः विशः) इस प्रजाका (पायुः भव) पालन करनेवाला हो । (यः अघशंसः नः दूरे) जो पापी हमसे दूर है, और (यः नः अन्ति) जो हमारे पास है, उनमेंसे (व्यथिः) कोई भी दुःख देनेवाला शत्रु (ते माकिः आ दधर्षीत्) तेरे भक्तोंको दुःख न दे ।

तेजस्वी परमात्मा सर्वत्र व्यापक होनेके कारण उसकी नजरसे कोई भी पापी बच नहीं सकता । यह परमात्मा सभी प्रजाओंका पालन करनेवाला है, इसलिए जो पापी दूर अथवा पास हैं, उनके कारण इस परमात्माके भक्तोंको कुछ भी दुःख नहीं होता ।

केशवचन्द्रसेनका ईसाईमतके प्रति दृष्टिकोण

(लेखक— डॉ. भवानीलाल भारतीय, अजमेर)

☆

६ मई सन् १८६६ ई. को कलकत्ता मेडिकल कालेजके थियेटर हालमें केशवकी ईसामसीह सम्बन्धी प्रथम और प्रसिद्ध वक्तृता हुई। इसका नाम था Jesus Christ : Europe and Asia इस भाषणमें केशवने इस बातपर जोर दिया कि ईसामसीह एशियावासी थे, अतः हम एशियावासियोंको उन्हें अपने महाद्वीपका पैगम्बर मानकर ही उनके व्यक्तित्व और विचारोंसे अपना सान्निध्य स्थापित करना चाहिये। उनके इस भाषणका निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—

Was not Jesus an Asiatic ? I rejoice, yea, I am proud in that I am an Asiatic. Infact Christianity was founded and developed by Asiatics in Asia. When I reflect on this, my love for Jesus becomes a hundredfold intensified. I feel him nearer my heart, and deeper in my national sympathies. "

अर्थात् क्या ईसा एशियावासी नहीं था ? मुझे हर्ष है नहीं अभिमान है कि मैं भी एशियाई हूं। वस्तुतः ईसाइयतको ऐशियावालोंने ऐशियामें ही स्थापित और उन्नत किया है। मैं जब इस बातपर विचार करता हूं तो मेरा ईसाके प्रति प्रेम सौगुना बढ जाता है। मैं उसे अपने हृदयके अधिक निकट और अपनी राष्ट्रीय भावनामें अधिक गहरा पाता हूं।

इस वक्तृतासे लोगोंपर प्रथमबार प्रकट हो गया कि केशवका ईसाइयतकी ओर कितना झुकाव है ? अपने दूसरे व्याख्यानमें तो उन्होंने स्वयं ही प्रकट कर दिया कि वे ईसासे प्रारंभमें ही प्रभावित हो गये थे और उनके मत तथा सिद्धान्तोंके निर्माणमें ईसाका कितना अधिक प्रभाव काम कर रहा था। उन्होंने कहा-" लगभग चौथाई शताब्दी (२५ वर्ष) से मैं ईसाका अध्ययन कर रहा हूं। वह दैवी मनुष्य, अथवा जैसा कि लोग कहते हैं आधा ईश्वर और आधा मनुष्य, हिमालयसे कन्याकुमारी तक विस्तृत इस महादेशके करोडों दुखी प्राणियोंका त्राण करता हुआ और उन्हें दिव्य ज्योतिका दर्शन कराता हुआ फिर रहा है। भारतके इतिहासमें वह एक शक्तिशाली तथ्य है। वह हमारे लिए एक जीवित, जाग्रत शक्ति है। हम उसे देखते हैं और उससे सम्बन्ध स्थापित करते हैं।'[1]

ईसाके सिद्धान्तोंको केशवने सम्पूर्ण रूपसे स्वीकार कर लिया। एक स्थानपर वे अत्यन्त स्पष्ट रूपसे लिखते हैं—

" I must tell you...that I am connected with Jesus Gospel, and occupy a prominent place. I am the prodigal son of whom Christ spoke and I am trying to return to my Father in a penitent spirit. "

अर्थात् मुझे एक बात अवश्य कहनी चाहिए और वह यह है कि मैं ईसाई सिद्धान्तसे सम्बन्धित हूं और उसमें एक महत्व-

1. " Christ has been my stduy for a quarter of a century. That Godman they say half God and half Man walks daily all over this vast peninsula, from the Himalayas to cape comorin, enlightening and sanctifying its leeming millions. He is a mighty realitly in Indian history. He is to us a living and moving spirit. We see him and commune with him." Lectures in India. P. 330, India asks; who is Christ ?

पूर्ण स्थान रखता हूं। मैं वह लाडला पुत्र हूं जिसके विषयमें ईसाने कहा था और अब मैं प्रायश्चितकी भावना लेकर अपने पिताके पास जाना चाहता हूं।

ईशपुत्र ईसाके प्रति अपने भावुकता पूर्ण उद्‌गारोंको व्यक्त करते हुए केशवने कहा—

"The Father can not be an example of sonship. Only the son can show what the son ought to be. Invain do I go to the vedas or to Judaism to learn sonship. That I learn at the feet of my sweet Christ, my Father's beloved son."[2]

अर्थात् पुत्रके कर्तव्योंके लिए पिता आदर्श नहीं हो सकता। पुत्र ही बता सकता है कि पुत्रको कैसा होना चाहिए? पुत्रके कर्तव्योंको सीखनेके लिए वेदों और यहूदी मतके निकट जाना व्यर्थ ही है। यह तो मैं अपने प्यारे ईसा, मेरे पिताके प्यारे पुत्रके चरणोंमें बैठकर सीख सकता हूं।

केशवने वेदोंके विषयमें यह व्यर्थ ही कहा है हम उनसे पुत्रके कर्तव्योंको नहीं सीख सकते। वेदके अनेक मंत्रोंमें ईश्वर और जीवका सम्बन्ध पिता पुत्रके तुल्य बताया गया है। पिता ही नहीं ईश्वर तो हमारा माताके तुल्य पालन पोषण और संरक्षण भी करता है, अतः वह पिताके साथ साथ हमारी माता भी है। एक मंत्रमें कहा गया है–

त्वं हि न पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।

हे शतक्रतो परमात्मन्, आप ही हमारे पिता और आप ही हमारी माता हैं। इसी प्रकार "इन्द्रं क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा" आदि मंत्रोंमें भी इसी पिता पुत्र सम्बन्धका ही वर्णन किया गया है ऐसे उदात्त विचारोंके वेदोंमें होते हुए भी यदि केशव ईसाके चरणोंमें ही शरण ग्रहण करें तो यह उनकी स्वदेशी संस्कृतिके प्रति निष्ठाकी न्यूनता ही कही जावगी।

भावुकता पूर्ण भाषामें ईसाके प्रति प्रकट की गई। केशवकी अन्य श्रद्धाञ्जलिका नमूना देखिए—

"My Christ, my sweet Christ, the brightest jewels of my heart, the necklace of my soul- for twenty years have I cherished Him in this my miserable heart."[3]

अर्थात् ईसा, मेरे प्रिय ईसा, मेरे हृदयके अत्यन्त प्रकाशमान रत्न, मेरी आत्माके कण्ठहार, मैंने अपने उस दुःखी हृदयमें उसे २० वर्षोंसे प्रेमपूर्ण स्थान दे रक्खा है।

राममोहनरायने ईसाई सिद्धान्तोंके प्रति जिस श्रद्धापूर्ण भावको कई वर्ष पूर्व व्यक्त किया था, उसकी चरम परिणति अब हमें केशवके विचारोंमें स्पष्ट दिखाई देती है। उनके सभी व्याख्यान ईसा और ईसाईयतके प्रति अपने अटूट विश्वासको प्रकट करते हैं। सन् १८७९के जनवरी मासमें दिये गये अपने एक व्याख्यान Am I an inspired Prophet? में उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया कि ईसाके अनन्तर ईसाई संत जॉन और पालका उनपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है।

ईसा और ईसाइयतके प्रति उनके ये उद्‌गार केवल शाब्दिककथन मात्र ही नहीं थे। उन्होंने ईसाइयतके दर्शन और ईसाई आचारको भी बिना किसी झिझकके स्वीकार कर लिया था। ईसाई मतवादका आधार है पिता, पुत्र और पवित्र आत्माके त्रित्व (Trinity) में विश्वास रखना। इस त्रित्व पर ही ईसाई विश्वासका ढांचा खड़ा किया गया है। केशवने इस सिद्धान्तको हृदयसे स्वीकार कर लिया था। सन् १८८२ में उन्होंने इस पर एक व्याख्यान दिया।

That Marvellous Mystery the trinity रोमां रोलां ने लिखा है:— Keshab not only accepted and adopted it (trinity) but extolled with gladness and was enlightened by it" अर्थात् केशवने न केवल ईसाई त्रित्वको स्वीकार ही किया, अपितु प्रसन्नतापूर्वक उसकी प्रशंसा की और उससे प्रेरणा भी पाई। केशवके शब्दोंमें त्रित्ववादका सिद्धान्त विश्वकी धार्मिक चेतनाकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है।[4]

2. Lectures in India. Vol. II p. 25.
3. Lecture: India Asks, who is Christ? Easter 1879
4. The loftiest expression of the worlds religious consciousness.

फर्कुहरके एक संस्मरणसे तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि केशव द्वारा स्थापित ' नव विधान ' ने एकेश्वरवादके स्थान पर ईसाई त्रित्वके सिद्धान्तको ही अपना मत स्वीकार कर लिया था। अपनी पुस्तकमें एक स्थान पर उसने लिखा है—

Some eleven or twelve years ago, in a brief article, I had ignorantly spoken of all Brahmos as Unitarians. In a courteous note, the only letter I received from Mr. Mozoomdar, he proteshed against the statement so far as the church of the new Dispensation was concerned, declaring himself and his fellow-believers to be Trinitarians ''[५] अर्थात् लगभग ११, १२ वर्ष पूर्व एक छोटेसे लेखमें मैंने भूलसे सब ब्राह्म लोगोंको एकत्ववादी लिख दिया था। उसके उत्तरमें मुझे श्री प्रतापचन्द्र मजूमदारका एक सद्भावनापूर्ण उत्तर मिला जिसमें उन्होंने इस बातका विरोध किया था कि नव विधान समाज एकत्ववादी है। उन्होंने लिखा कि वे और उनके सहधर्मी त्रित्ववादी हैं।

अब हम रौमां रौलाके शब्दोंमें ही पूछना चाहते हं ?

Did anything still separate him from Christianiy ? ''[६] क्या अब भी वे ईसाईमतसे पृथक समझे जायेंगे। यह तो हुई दार्शनिक सिद्धान्तकी बात। इस बातको भी हम सप्रमाण कह सकते हं कि केशवने व्यक्तिगत रूपमें और अपनी नव स्थापित ' नव विधान ' समाजके कार्यक्रमके अन्तर्गत अनेक ईसाई आचारोंको स्वीकार कर लिया था। रौमां रौलांकी साक्षी प्रस्तुत की जाती है '' He celebrated Christmas by a fast within a small circle of intimate friends. ''

अर्थात् वह अपने मित्रोंकी एक छोटी मण्डलीमें उपवासके द्वारा क्रिसमसपर्व मनाते थे। उनका यह व्यक्तिगत आचरण धीरे धीरे नवविधान समाजमें भी प्रविष्ट होने लगा और धीरे धीरे हम देखते हैं कि बपतिस्मा आदि ईसाई संस्कार भी उक्त समाजमें स्थान प्राप्त करने लगे। रौमां रौलां ने लिखा है—

He instituted the sacramental ceremonies of Christianity in his Samaj, on March 6, 1881, he celebrated the Blessed Sacrament with rice and water instead of bread and wine, and three months later the Sacrament of baptism ''[७] अर्थात् उन्होंने ईसाइयतके धार्मिक संस्कारोंको अपने समाजमें स्थान दिया। ८ मार्च १८८१ को उन्होंने रोटी और शराबके स्थानपर चावल और पानीका प्रयोग करते हुये Blessed Sacrament नामक संस्कार सम्पन्न किया, इसके तीन मास पश्चात् उन्होंने बपतिस्माका संस्कार किया।

इसप्रकार हम देखते हैं कि क्या आचार और क्या विचार, सब प्रकारसे केशव ईसाइयतकी बातें ग्रहण कर रहे थे। ऐसी परिस्थितिमें यदि लोग यह धारणा बना लें कि केशव ईसाई हो गये या होनेको तैयार थे, तो उनके इस कथनको सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता। कइयोंने यह अनुमान लगाया कि केशव ईसाई बननेवाले हं।[८] मैक्समूलर जैसे मताग्रही व्यक्तियोंने तो यहांतक कहा कि केशव उन व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक अच्छे और सच्चे ईसाई हैं जो अपनेको ईसाई कहते हैं और जिनके लिये साधारण अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग होता है। ''[९]

5. Modern Religious Movements in India p. 68

6. Life of Ramakrishna.

7. His enthusiam for Christ led many to believe that he was about to become a christian. '' Modern Religious movements in India. p. 45.

8. As to Keshab chandra Sen, he was more of a true Christian than many who called themselves christians, and who are christians in the ordinary sense of the word. '' '' Ram Mohan to Ramkrishna. '' p. 61.

9 His ardour or a neophyte was such that he made his friends call him Jesudas, or the servant of Jesus. ''

कहावत है कि नया मुसलमान ऊंचे स्वरसे नमाज पढ़ता है। इसीप्रकार ईसाईके प्रति इस नवीन आकर्षणके कारण केशवने अपने आपको 'ईसुदास केशव' कहलाना पसन्द किया।[१०] जब वे इंगलैण्ड गये तो वहांके एक पत्र Daily News ने उनके ईसाइयत विषयक विचारोंको जानकर लिखा कि हमें इसी बातका आश्चर्य है कि इतनी दूर तक अग्रसर होकर भी केशवचन्द्रने ईसाई मत ग्रहण क्यों नहीं किया? नाटिंघम नगरमें जब उन्हें ईसाईमत प्रचारकों द्वारा मान-पत्र दिया गया तो उसमें यह आशा व्यक्त की गई कि परमात्मा करे ईसाई मतका सम्पूर्ण सत्य आपकी समझमें आ जाय।[१०] सत्येन्द्रनाथ ठाकुरने अपने पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुरकी आत्मकथाके अंग्रेजी अनुवादकी भूमिकामें लिखा–

"Indeed his whole character was moulded by western culture and chrisian influrence. He drew much ot his spiritfal store from the New Testament and habitually spoke of Jesus christ in a manner which made his missionary friends cling to the hope of his conversion to their faith?"

अर्थात् केशवका सम्पूर्ण चरित्र ही पाश्चात्य संस्कृति और ईसाई प्रभावमें ढला था। उनका आध्यात्मिक स्रोत न्यूटेस्टामेंट था और वे ईसाके विषयमें इस प्रकार कहते थे, जिससे उनके मिशनरी मित्रोंको यह आशा हो गई थी कि वे शीघ्र ही धर्मपरिवर्तन कर लेंगे।

जरा इस बातपर भी विचार करें कि ईसाईयतको अंगीकार करनेमें केशव किस स्थिति (Stage) तक पहुंच गये थे। फर्कुंहरने कलकत्ता विश्वविद्यालयके भूतपूर्व रजिस्ट्रार श्री के. सी. बनर्जीका यह मत उद्धृत किया है कि मरते समय केशव ईसाई थे। मैक्समूलरने अपने एक संस्मरणका उल्लेख कर लिखा है—

Once when I had asked him why he did not declare himself publicly a christian, he said in a very gurave and thoughful tone. "Suppose that thirty years hence people find out that I was a discirple of Chirst, what world he harm! Only were I to profess myself a christian now, all my influence would be gone at once."

अर्थात् एकबार मैंने उनसे पूछा कि वे सार्वजनिक रूपसे अपनेको ईसाई घोषित क्यों नहीं कर देते? तो उन्होंने गंभीर-भावसे कहा, मान लो तीस वर्ष बाद ही ये लोग जान जायें कि मैं ईसाका शिष्य था, तो क्या हानि है? यदि मैं इस समय अपनेको ईसाई घोषित कर दूं तो मेरा सारा प्रभाव ही एकदम नष्ट हो जायगा।

लगभग ऐसा ही उल्लेख फर्कुंहरने किया है। उसने लिखा है— "एक दिन श्री प्रतापचन्द्र मजूमदारकी मेरे एक मिशनरी मित्रके साथ बहुत देर तक बातें हुईं। वार्तालापके प्रसंगमें मेरे मित्रने ईसाईमतके प्रति अपने दृढ़ विश्वासको प्रकट किया। इस पर भी मजुमदारने उसे विश्वास दिलाया कि उनका और केशवका भी बिल्कुल वही मत था और कहा कि उन्होंने तथा केशवने अपने विश्वासोंको सार्वजनिक रूपमें इसलिये प्रकट नहीं किया, क्योंकि वे यह मानते हैं कि अचानक ही अपनी मान्यताओंको प्रकट कर देनेकी अपेक्षा वे धीरे धीरे ही अपने देशवासियोंको ईसाके मतके निकट ला सकेंगे।" इन साक्षियोंसे इतना तो प्रकट हो ही जाता है कि केशव प्रच्छन्न रूपसे ईसाई ही थे। यद्यपि उन्होंने अपने जीवनकालमें इस तथ्यको गुप्त रक्खा, परन्तु उनके निकट सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्ति इस बातको भलीभांति जानते थे।

The Indian Christian Herald नामक ईसाई पत्रने केशवकी मृत्यु पर लिखा—

The Christian Church mourns the death of its greatest ally. Christians looked upon him as Gods messenger, sent to awake India to the spirit of Christ. Thauks to him, hatred of Christ died out?

अर्थात् ईसाई समाज अपने सबसे बड़े मित्रकी मृत्युका दुःख मनाता है। ईसाई लोग उसे भारतको ईसाका संदेश सुनानेवाला ईश्वर प्रेषित दूत समझते थे। उसे धन्यवाद है। क्योंकि उसके कारण ही ईसाके प्रति भारतवासियोंकी घृणा नष्ट हो गई है। जिस व्यक्तिको ईसाई अपना सबसे

×   १०. केशवचन्द्र सेन.

बडा मित्र और ईसाके सिद्धान्तोंका प्रचारक मानते हों उसे यदि उनका पत्र इतनी भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

केशवके अधिकांश अनुयायियोंने ईसाई मत ग्रहण कर लिया। प्रतापचन्द्र मजूमदारको मैक्समूलरका यह प्रस्ताव बहुत पसन्द आया कि ब्रह्मसमाजका ईसाई नामकरण हो जाना चाहिये और ईसाके राष्ट्रीय चर्चके रूपमें उसका संगठन करना चाहिए। उनका एक शिष्य ब्रह्मबंधु उपाध्याय नवविधानको छोडकर ईसाईयोंके ऐंगीकलचर्चका अनुयायी बन गया। एक अन्य शिष्य मणिलाल पारिखने भी ईसाई-मतको स्वीकार कर लिया। इन दोनोंका यह विश्वास था कि यदि केशव कुछ वर्ष और जीवित रह जाते तो अवश्य ही रोमन चर्चको स्वीकार कर लेते। परन्तु रोमां रोलांकी सम्मति इसके विरुद्ध है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि ईसाइयतकी ओर केशवका कितना प्रबल आकर्षण था। महर्षि दयानन्दने अपने सत्यार्थप्रकाशके एकादश समुल्लासमें ब्राह्मसमाजकी समीक्षा करते हुये जो निम्न उद्‌गार प्रकट किये हैं, वे केशवकी प्रवृत्तियोंको लक्ष्यमें रखकर ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। स्वामीजीने लिखा " इन लोगोंमें स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयोंके आचरण बहुतसे लिये हैं। खानपान विवाहादिके नियम भी बदल दिये हैं ... व्याख्यानोंमें ईसाई आदि अंग्रेजोंकी प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियोंका नाम भी नहीं लेते।"

जहांतक स्वामी दयानन्दसे इस विषयमें उनकी तुलनाका प्रश्न है, इतना ही लिख देना अलं है कि स्वामीजीका ईसाइयतसे प्रभावित होना तो दूर, वे ईसाइयोंकी कार्यप्रणाली और उनके स्वमत प्रचारके घातक कार्यक्रमसे भलीभांति परिचित थे। अपने सम्पूर्ण जीवनमें उनकी यही चेष्टा रही कि किसी प्रकार ईसाई धर्म और सभ्यताके चगुंलसे वे अपनी मातृभूमिको मुक्त करें। उन्होंने अपने अनुयायियोंको भी ईसाई धर्म प्रचारका कडाईसे मुकाबिला करनेका आदेश दिया। यह दयानन्दका ही प्रताप था कि शताब्दियोंसे भारतके कोने कोनेमें जाकर वाक्‌जाल और अन्यान्य छल छद्मपूर्ण साधनोंसे अपने मत का प्रचार करनेवाले पादरियोंके छक्के छूट गये और उन्होंने यह अनुभव किया कि अब उनका यह कार्य उतना सहल नहीं रह गया है, जितना वे अब तक समझते रहे हैं। रोमां रोलांने ठीक ही लिखा है-" दयानन्दने अकेले ही भारतके आक्रान्ताओंके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी। दयानन्दने ईसाइयतसे युद्ध छेड दिया और उसकी भारी तलवारने उसके टुकडे टुकडे कर दिये।"

१८ 卐 卐

दी पा व ली वि ज्ञा न

(लेखक श्री रणछोडदास ' उद्धव ' रविधाम)

卐

दीपावलीसे भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मीको कब प्रसन्न करनेमें समर्थ बन सकेगा ? इस प्रश्नका विचार इस लेखमें किया है ।

श्री और लक्ष्मीकी उत्पत्ति--

" सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां ' लक्ष्मी '·र्निहिताधि वाचि । "

(ऋ० १०।८१।२)

' सत्तू छननीसे छाने, त्यों पंडित बात निकलती है।
वाणी मनसे शुद्ध करे तहं मित्रता रहती है ॥ '

माता लक्ष्मीका प्रादुर्भाव समुद्रसे हुआ है, आज भी हो रहा है और कल्पके अन्ततक होता रहेगा । कौनसा वह समुद्र है ? किसने कैसे इसे प्रकट किया ? इत्यादि रहस्य-पूर्ण प्रश्नोंके तात्त्विक स्वरूपके समाधानके लिए ही ' समुद्र-मन्थनका आख्यान ' कहा गया है । तीन सृष्टिधाराओंके भेदसे तीनों ही सृष्टिधाराओंके मूलाधार तीन महासमुद्र बने हुए हे । (१) स्वयंभूमूला सृष्टिविद्याका आधार नभस्वान् समुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी महाकाली कहलाई है, (२) क्रन्दसीत्रैलोक्यके सरस्वान् समुद्रके मंथनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी महासरस्वती कहलाई है और (३) रोदसी त्रैलोक्यके अर्णवसमुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई;विश्वलक्ष्मी महा-लक्ष्मी नामसे प्रसिद्ध हुई है । यों एक ही प्रकृति १ अव्यक्ता २ व्यक्ता-अव्यक्ता एवं ३ व्यक्ता रूपसे तीन होकर क्रमशः– १ काली २ सरस्वती और ३ लक्ष्मी के रूपसे प्रसिद्ध हो रही है । तीनोंकी मूलप्रकृतिका नाम ' महत्प्रकृति है, जो १ सत्त्व २ रज ३ तमोरूप तीन गुणोंसे युक्त है । १ सत्त्वप्रधान स्वायंभुवी महाकाली, २ रजःप्रधाना सौरिमहासरस्वती एवं ३ तमःप्रधाना पार्थिवी महा लक्ष्मी है ।

जिस कूर्म (कछुए) की पीठपर समुद्रमन्थन होता है, वह द्यावापृथिवीमण्डल ही कूर्म । सूर्यके आदित्यप्राण इस त्रैलोक्यमें कूर्माकारमें परिणत हो कर ही पार्थिव त्रैलोक्य की प्रजाके सर्जक बनते हे जैसा कि—

समुद्रमन्थनमेंसे प्रकट हुए १४ रत्नोंमेंसे एक ' महा-लक्ष्मी ' है । जिसका वरण विष्णुरूपी सूर्यनारायणसे हो जाता है । लक्षण ' व्यक्त ' का हुआ करता है एवं प्रकृति का व्यक्तस्वरूप सूर्यमें ही हुआ है अत एव उसकी कान्तिको ' लक्ष्मी ' कहते हे— अमृतलक्ष्मी ' श्री ' है और मर्त्य-लक्ष्मी ' लक्ष्मी ' है । जैसा कि निम्नलिखित मंत्रवर्णनसे प्रमाणित है—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपं, अश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥

' श्री औ लक्ष्मी ईश-पत्नियां दिन-रजनी हे दोनों ओर।
तारागण प्रभुका प्रकाश औ द्यु-भूमि मुख प्रभु चारों ओर॥
इसी रूपमें निजको देखो साधक ! स्तुति करनेवाले ।
सर्वलोककी इच्छा होगी,- विश्वरू धरनेवाले ॥ '

— यजुर्वेद ३१।२२

तैत्तिरीय-आरण्यकमें- ' ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ ' यह पाठ है । ' ह्री ' का लौकिक अर्थ लज्जा है और शास्त्रीय अर्थ विनय है । ' विनय देवभाव प्रधान है और वह अमृता श्रीरूपा लक्ष्मीसे संबंधित है ।

श्रीका अर्थ है– ' विद्या ' एवं लक्ष्मीका अर्थ है– ' भौतिक सम्पत्ति ।' विद्या ही माता शारदा ' है और भूत सम्पत्ति ही माता ' लक्ष्मी ' है शारदारूपा श्रीसे समन्विता भूत-सम्पत्तिरूपा लक्ष्मी ही भारतीय सांस्कृतिक ' लक्ष्मी ' की मौलिक स्वरूपव्याख्या है ।

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नामकी भगसम्पत्तियां ही 'श्री' है। यह अमृत सूर्यात्मिका है, जिसका अर्थ-स्वयंभुगर्भिता परमेष्ठिकी व्यक्त-अव्यक्ता 'महासरस्वती' है। सरस्वती ही 'श्री' है 'रस' को ही वेदभाषामें 'श्री' कहा गया है। जैसा कि—

'अथ या- एतेषां सतानां पुरुषाणां श्रीः, यो रसः आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्' – (शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।४)

इत्यादिसे स्पष्ट प्रमाणित है।

दीपावलीसे सम्बन्धित एकादशी आदि तिथियां

१	मार्गशीर्ष	कृष्ण-एकादशी—		उत्पन्ना	संवत्सरके देवप्राणका विकासकाल। इसमें देव जागृत हैं और असुर सुप्त हैं।
२	,,	शुक्ल	,,	मोक्षा	
१	पौष	कृष्ण	,,	सफला	
२	,,	शुक्ल	,,	पुत्रदा	
१	माघ	कृष्ण	,,	षट्तिला	
२	,,	शुक्ल	,,	जया	
१	फाल्गुन	कृष्ण	,,	विजया	
२	,,	शुक्ल	,,	आमर्दकी	
१	चैत्र	कृष्ण	,,	पापमोचिनी	
२	,,	शुक्ल	,,	कामदा	
१	वैशाख	कृष्ण	,,	वरूथिनी	
२	,,	शुक्ल	,,	मोहिनी	
१	ज्येष्ठ	कृष्ण	,,	अपरा	
२	,,	शुक्ल	,,	निर्जला	
१	आषाढ	कृष्ण	,,	योगिनी	
२	आषाढ	शुक्ल-एकादशी		पद्मा	संवत्सरके असुर प्राणका प्रधानकाल। इसमें असुर जागृत हैं और देव सुप्त हैं।
१	श्रावण	कृष्ण	,,	कामिका	
२	,,	शुक्ल	,,	पुत्रदा	
१	भाद्रपद	कृष्ण	,,	अजा	
२	,,	शुक्ल	,,	वामना	
१	आश्विन	कृष्ण	,,	इन्दिरा	
२	,,	शुक्ल	,,	पापांकुशा	
१	कार्तिक	कृष्ण	,,	रमा	
२	,,	शुक्ल	,,	प्रबोधिनी	
१	मलिम्लुच	कृष्ण	,,	कमला	
२	,,	शुक्ल	,,	सुभद्रा	

इन २६ एकादशियोंमेंसे यहां आषाढ शुक्ल पक्षकी 'पद्मा' तथा कार्तिक शुक्लपक्षकी 'प्रबोधिनी' नामकी एकादशियोंकी ओर ही विशेषरूपसे ध्यान देना है।

'आपो वै पुष्करपर्णम्।'

इत्यादि वेदवचनके अनुसार पुष्करात्मक पद्मको ही 'आपः' कहा गया है। जिससे संकेतविधिके द्वारा 'आपोमय-परमेष्ठी' आजाता है। आषाढ शुक्ल एकादशीसे आरम्भ कर कार्तिक शुक्लदशमी तक वर्षाके चार महीनोंमें भूपिण्ड अपने परिभ्रमणात्मक क्रान्तिमण्डलके साथ आपोमय (पुष्करस्वरूप) पारमेष्ठ्य समुद्रकी ओर हो जाता है। अर्थात् इन चार महीनोंमें पार्थिवजगत्में आपोमय पारमेष्ठ्य वारुणप्राणका ही प्राधान्य हो जाता है, जो कि वारुणप्राण

ऐन्द्रदेवप्राणोंका प्रतिद्वन्द्वी माना गया है, अत. इस कालमें देवताओंकी सुषुप्ति मान ली गई है। सचमुच सौरपार्थिव-मण्डलकी ज्योतिर्मयी लक्ष्मी इन चार महीनोंमें आरम्भकी आषाढ शुक्ल-एकादशी तिथिमें अप् वरुणालयरूपसे पद्मालयसे समन्वित बनती हुई तमोभावमें ही परिणत हो जाती है। इन्द्रकी लक्ष्मी यों मानो ऐन्द्राग्न देवताओंसे रुष्ट होकर अपने धाम-परमेष्ठीरूप पद्मालयका ही आश्रय ले लेती है। इसी वारुणपाद्म परमेष्ठीके भावको संकेतभावसे सूचित करनेके लिए ही पुराणपुरुष भगवान् व्यासने आषाढ शुक्लकी एकादशीको ' पद्मा ' नाम दिया है, यही ' देवशयनी ' कहलाई है।

प्राणाग्निकी वर्षाकालीन सुषुप्तिके आधार पर ही तो प्राणाचार्यों (वैद्यों) ने ' वर्षासु दोषा कुप्यन्ति –तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे। ' (अष्टांगहृदय) यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है। वर्षाऋतुमें अग्नि मंद हो जाती है, अतएव भिषग्वरोंने आहारादिकी लघुताका ही आदेश दिया है।

वर्षाकालके देव कब जगते हैं? इसी प्रश्नका समाधान वह कार्तिकमास है, जिसके आरम्भसे ही सांस्कृतिक प्रजामें देव-जागरण–महोत्सव आरम्भ हो जाता है। देव जागरणका अर्थ है— सौरपार्थिव ऐन्द्राग्नदेव प्राणोंका अपने स्वरूपमे आना। इनका स्वरूपमें आनेका अर्थ है— लक्ष्मीका पद्मालयसे विष्णुकी प्रेरणाके द्वारा पुन. पद्मासना बनना, अर्थात् पार्थिव सौरमण्डलमें प्रबुद्ध होना। इस प्रबोधनसे ही चार महीनोंके अन्तकी कार्तिकशुक्ल एकादशी ' प्रबोधिनी ' नामसे प्रसिद्ध हुई है।

देवप्राणको ही अपनी मूलप्रतिष्ठा बनानेवाली भारतीय सांस्कृतिक प्रजाके लिए इससे बड़ा मांगलिक पर्व दूसरा क्या होगा, जिसमें देवप्राण पुनः प्रबुद्ध होकर लोकलक्ष्मी-रूपसे इसकी जीवनधाराका अनुगामी बन जाता हो? फलस्वरूप जो मांगलिक विधि–विधान चार मासमें रुके हुए थे, वे प्रबोधिनीसे पुनः प्रारम्भ हो जाते हैं। अतः पुराणपुरुषने प्रबोधिनी एकादशीका अत्यन्त ही उल्लाससे यशोवर्णन किया है। जैसा कि निम्नलिखित कतिपय वचनोंसे प्रमाणित है—

तावद्गर्जति विप्रेन्द्र ! गङ्गा-भागीरथी क्षितौ।
यावन्नायाति पापघ्नी कार्तिके हरिबोधिनी ॥ १ ॥
तावद्गर्जन्ति तीर्थानि आसमुद्रसरांसि च।
यावत् प्रबोधिनी विष्णोस्तिथिर्नायाति कार्तिके ॥२॥
वाजपेयसहस्राणि अश्वमेधशतानि च।
एकेनैवोपवासेन प्रबोधिन्यां लभेन्नरः ॥ ३ ॥
दुर्लभं चैव दुष्प्रापं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
तदपि प्रार्थितं विप्र ! ददाति हरिबोधिनी ॥ ४ ॥

(स्कन्दपुराण एव हरिवंश)

लक्ष्मीका जागरण ही देवजागरणका निमित्त बनता है, अतएव देवजागरणका आधार लक्ष्मीजागरण ही बना हुआ है। लक्ष्मीके जागरणका आरम्भ कार्तिक कृष्ण-त्रयोदशीसे ही हो जाता है। आगममें वरुणात्मिका अलक्ष्मीका नाम धूमावती है। वेदमें इसका नाम ' निर्ऋति ' है। इस निर्ऋति-रूपा अलक्ष्मीके सहयोगी देवता 'वरुण' और ' यम ' हैं और श्रीरूपा कमलाके सहयोगी देवता ' इन्द्र ' और ' कुबेर ' हैं। त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या, प्रतिपदा और द्वितीया यह तिथिपंचक लक्ष्मी एवं अलक्ष्मीके प्राणदेवताओंका संक्रमण-काल मान लिया गया है। जहां वरुण, निर्ऋति और यमके सत्कारसे चतुर्दशी ' नरकचतुर्दशी ' कहलाई है; वहां इन्द्र, लक्ष्मी और कुबेरके सत्कारसे यही चतुर्दशी ' रूपचतुर्दशी ' नामसे प्रसिद्ध हो रही है।

तदनंतर अमावास्या तिथिका आगमन होता है, जो दीपावलीपर्वका प्रमुख दिवस माना गया है। अमावास्याके अनन्तर कार्तिक शुक्ल पडवा तिथिसे यम और निर्ऋतिके सहयोगी वरुणका प्रभाव तो आगे आगे शिथिल होता जाता है और कुबेर तथा लक्ष्मीके सहयोगी इन्द्रका प्रभाव आगे–आगे प्रबल बनता जाता है। अतएव यह दिवस ' इन्द्रादिन ' मान लिया है। इन्द्रके सहयोगसे उसका सहयोगी शरीराग्नि भी प्रबल होने लग पड़ता है। वरुणके चले जानेसे दूध दही, ओषधि और वनस्पति–आदि भोग्य पदार्थोंसे संबंध रखनेवाले वर्षाजनित (वरुणप्राणजनित) विकार भी निकल जाते हैं और सर्वत्र इन्द्रकी शुद्धिका साम्राज्य उदित हो जाता है। उसी उपलक्षमें इस दिन ' अन्नकूटमहोत्सव ' मनाया जाता है।

अमावस्याके बाद प्रतिपदा तिथिमें आर्षप्रजा इन्द्रपूजन–महोत्सव ही मनाती आ रही थी। किन्तु आगे जाकर इसीने

' गोवर्धनपूजन ' का स्थान ग्रहण कर लिया है। वास्तव में इन्द्रपूजनसे भी ' गोवर्द्धन ' तत्त्व परिपूर्ण बना रहता है।

इस वर्तमान कठिन समयमें महर्षि गविजातके पावन मुखकमलसे निकले हुए उस पुण्यतम उपायका स्मरण ही कर लिया जाता है। महर्षि गविजात कहते हैं।—

" अनघेया महाराज ! ' द्विजा ' वर्णेषु चोत्तमाः।
' गावश्च ' पुरुषव्याघ्र! गौमूल्यं परिकल्प्यताम् ॥ "

' हे राजन् ! जिसप्रकार चारों वर्णोंमें वेदतत्त्वविद् ' ब्राह्मण ' का कोई मूल्य नहीं आंका जा सकता, हे पुरुष-सिंह नहुष ! उसीप्रकार उनके समान ' गौमाता ' का भी कोई मूल्याङ्कन सम्भव नहीं है। ' जिसप्रकार त्रैलोक्यातीत पारमेष्ठ्य महानात्मासे युक्त ब्राह्मण लौकिक भौतिक क्रय-विक्रयात्मक मूल्याङ्कनोंकी सीमासे बाहर है, उसीप्रकार पारमेष्ठ्य वैष्णव सौम्य गौप्राणसे अभिन्न गौपशु भी अपने भीतरके आत्मभावसे भौतिक मूल्याङ्कनकी सीमाओंसे सर्वथा अलग है। मानवीय वर्णोंमें जो स्थान ब्राह्मणका है, पशव्य वर्णोंमें वही स्थान गौका है। इन दोनों विश्वप्रतिष्ठात्मक महद्भूतोंके विश्लथनसे ही धर्मविप्लव हो जाया करता है एवं उसके निरोधके लिये सगुणेश्वरको ही अवतार धारण करना पडता है। जिनके अवतारका उद्देश्य है—

' गो-ब्राह्मणहिताय च ' (महाभारत, वा. रामायण बाल. २६।५) क्योंकि इन दोनोंके सुप्रतिष्ठित होते ही विश्व अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। आज हम गवि-जात महर्षिके उपर्युक्त उपायके महत्त्वको अर्थवादपरक ही माननेकी महती भ्रान्ति करने लग पडे हैं जब कि इसके सिवा भी महात्मा भीष्मने आगे चलकर अनेक अध्यायोंमें इस गो-महिमाका यशोगान करते हुए भारतराष्ट्रको धन्य कृतकृत्य बनाया है। कहा है—

" गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कथञ्चन। "

एकबार अपने संपूर्ण साधनोंसे सज्जित होकर महालक्ष्मी गोमण्डलमें प्रणतभावसे उपस्थित हो गई। गौमाताएँ महा लक्ष्मीके इस रूपसौन्दर्य तथा गुणसौन्दर्यको देखकर विस्मित बन गईं। और कहने लगीं कि-आप कौन हैं ? कहांसे आपने ऐसा अद्भुत रूप-गुण प्राप्त किया है ? हम सब आपके इस अलौकिक रूपको तथा सम्पत्तिमहिमाको देखकर विस्मित हैं। हम यह जानना चाहतीं हैं कि- आप वास्तवमें क्या है एवं यहांसे अब कहां जायेंगीं ?

महालक्ष्मीने कहना आरम्भ किया कि- मैं लोककान्ता (लोकप्रिया) हूं मेरा नाम ' श्री ' है। हे गौमाताओ ! आपका अभ्युदय हो, यहीमेरा संक्षिप्त-परिचय है। मैंने देवके द्वेषी दैत्योंको सदाके लिए छोड दिया है और मुझसे समन्वित देव हर्षनिमग्न हैं। और सुनो गौमाताओ ! जिनमें मेरा निवास नहीं होता, वे कुछ समयके बाद सभी ओरसे विनष्ट हो जाते हैं। " पृथिवीके शरीरमूलक अर्थ, चन्द्रके मनोमूलक काम तथा सूर्यकी बुद्धिसे समन्वित धर्म " मुझ लक्ष्मीसे समन्वित होकर ही सुखी हैं। यह मेरा सर्वव्यापक प्रभाव है, गौमाताओ ! मेरी यह बडी ही कामना है कि- मैं आपमें भी निवास करूं। मेरी इस प्रार्थनासे आप भी श्रीयुक्त बन जानेका अनुग्रह करें।

गौमाताओंने लक्ष्मीके इस आकर्षक आमन्त्रणके प्रति (मानो अपने त्रैलोक्यसे अलग पारमेष्ठ्यकी तुलनामें उपेक्ष-णीय ही मानते हुए) यही कह डाला कि- हे देवि ! आप स्वरूपसे अस्थिर हैं, चंचल है और " सर्वसामान्योंके साथ आपका समागम होता रहता है। " आपके इन्हीं लौकिक साधनोंके कारण हमें आपकी कोई कामना नहीं है। कल्याण हो आपका। जहां आप स्वतंत्रतासे रमण कर सकें, वहीं पधार जाएं। हमें अपने स्वरूपके लिए जो कुछ अपेक्षित है, वह सभी हममें पहलेसे ही विद्यमान है, अतएव हमें आपसे कोई प्रयोजन नहीं है। ।

यह सुनकर लक्ष्मीदेवी पुनः कहने लगी -- हे गौमाताओ ! आप भले ही अपने किसी उत्तम शरीराङ्गमें मुझे स्थान प्रदान न करें, किन्तु मुझे तो अपना कोई निम्न श्रेणीका ही अंग बतला दें, उसमें निवास करके ही मैं अपने आपको अभिनन्दिता बना लूंगी।

जब इसप्रकार अत्यन्त दीनभावसे महालक्ष्मी गौमाताकी शरणमें ही आ गई तो करुणवत्सला गौमाताओंने सम्मिलित रूपसे मूकभावसे ही आश्वासन प्रदानकर डाला कि—

हे यशस्विनी लक्ष्मीदेवी ! आप हमारे गोबर और मूत्रमें ही आजसे निवास कीजिए।

अत एव गोवर्धन-पूजन – महोत्सवका अर्थ इन्द्रपूजन-महोत्सव है। जिसमें इन्द्रपूजनसे संबंधित गोपूजन ही विहित

है। आगे ८३ वें अध्यायमें पितामह ब्रह्मा तथा स्वर्गके अध्यक्ष इन्द्र के संवादसे इसी तथ्यका महात्मा भीष्मने यशोगान किया है। जिसका केवल एक वचन देते हैं—
भीष्म उवाच—

एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा।
गाश्चक्रे बहुमानञ्च तासु नित्यं युधिष्ठिर!
न किञ्चिद्दुर्लभं लोके गवां भक्तस्य भारत!॥
महाभारत अनुशासनपर्व अ० ८३

इन्द्रकी बात भी उस समय शिथिल हो पड जाती है, जब हम सगुणेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको स्वयं ही गोचरण-कर्ममें न केवल निरत ही सुनते हैं, किन्तु स्वयं गौमाताओं का प्रणतभावसे पूजनअर्चन करते रहनेका भी वर्णन है। इसी गौके संबधसे तो नन्दनन्दन भगवान् गोविन्द गोपाल नामसे प्रसिद्ध हुए हैं। गौ और इन्द्रप्राण एक ही है।

अमावस्याके बाद प्रतिपदाको पद्मपुराणके कार्तिकमहात्म्यके १२४ वें अध्यायके अनुसार गोपूजनात्मक इन्द्रपूजन-महोत्सवरूप–मार्गपाली सम्पन्न करनेके बाद रात्रिमें दैत्यपति बलिका पूजन किया जाता है, इससे आसुरप्राणमयी निर्ऋति का सम्मान हो जाता है। तदनन्तर द्यूतकर्मका विधान है। द्यूतक्रीडा (जुआ भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे सर्वथा निन्द्यकर्म है। 'एक लगाना और दस पाना ही ' आज के द्यूतका फल माना जाता है। उत्तरदायित्वसे शून्य मानव ही अनुकूलताकी दृष्टिसे इस महान् निन्द्यद्यूत (वर्तमानके सुप्रसिद्ध– ' सट्टा ') पंथके अनुयायी बने हुए हैं।

फिर कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको ' यमराजपूजन-महोत्सव ' मनाया जाता है, अतएव इस तिथिको ' यम-द्वितिया ' भी कहते हैं। ऋग्वेदके सुप्रसिद्ध ' यमयमीसूक्त ' में महर्षिने यमतत्त्वकी सुविशद वैज्ञानिक व्याख्या की है।

चित्रगुप्तके संबंधसे यह द्वितीया– ' मसीपात्रलेखिनी-पूजन द्वितीया (दावात–कलमपूजन) नामसे भी प्रसिद्ध है, जो चित्रगुप्त यमसदनके कर्मलेखक माने गये हैं। कहा है—

' यमञ्च, चित्रगुप्तं च यमदूतांश्च पूजयेत्।
अर्घ्यञ्चात्र प्रदातव्यं, यमाय, सहजद्वयैः॥ '
—पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० १९५

वैदिक ज्योतिर्विज्ञान और दीपावली

कार्तिकी अमारात्रि सूर्यज्योतिके प्राकृतिक विश्वप्राणसे वंचित है, चन्द्रज्योतिका अभाव तो स्पष्ट ही है, वर्षात्मक वारुणभोगकालसे पृथिवीकी अग्निज्योति भी गिरी हुई है। इन तीनों भूतज्योतियोंके बिना संस्कारलक्षणवाली आत्म-ज्योति तथा पार्थिवाग्निसे व्यक्त वाग्ज्योति भी मन्द है। यों पाँचों ही व्यक्त ज्योतिर्भाव एक प्रकारसे नहींसे ही हो रहे हैं। इसीलिए इस रात्रिमें कृत्रिमज्योति प्रकाशका समावेश हो गया है। सूर्यके इन्द्रप्रकाशका प्रतिनिधि आतिशबाजी (अग्निक्रीडा) है। वातावरणमें व्याप्त आसुरप्राणके निरोध के लिए ही कार्तिक मासमें ' आकाशदीप ' प्रज्वलित किया जाता है।

अमावास्या तिथिमें किस समय लक्ष्मीपूजन करना चाहिए? यह एक प्रासंगिक प्रश्न है, जिसके समाधानमें अनेक विकल्प हो पडे हैं। अर्थमें आसक्त कुछ मानवोंने यह मान्यता बना रक्खी है कि— " अर्धरात्रिमें ही लक्ष्मी-पूजन करना चाहिए। क्योंकि इस समय प्रायः सभी निद्रानिमग्न हो जाते हैं, अत एव सबको सोता देख कर लक्ष्मी मुझ जागते रहनेवाले पर ही अनुग्रह कर देगी। " सबको सुलाकर जो अपनी व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि केलिए श्रीविहीन लक्ष्मीका ही संचय करना जीवनका मुख्य पुरुषार्थ मानते हैं, उनपर अवश्य जडभूतरूप, परिणाम में अलक्ष्मीरूप लक्ष्मी अनुग्रह कर देती होगी।

किन्तु जो आर्यमानव ' सर्वे भवन्तु सुखिनः ' ' अत्रा सखायः सख्यानि जानते–भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ' लक्षणा श्रीसे युक्ता (सरस्वतीसे युक्ता) लक्ष्मीको ही अपनी मुख्य आराध्य देवी मानते हैं, वे सांस्कृतिक पुरुष तो सूर्यसत्तामें ही लक्ष्मीपूजन करना शास्त्रीयकर्म मानते आ रहे हैं। जैसा कि—

' प्रदोषसमये लक्ष्मीं पूजयित्वा यथाक्रमम्। '

इत्यादिसे प्रमाणित है। श्री और लक्ष्मी दोनों विष्णुरूप सूर्यकी अर्धांगिनियां हैं अतः सूर्यकी सत्तामें ही लक्ष्मीपूजन (प्रदोष समयमें) करना चाहिए।

रात्रिमेंज्योतिर्मयी लक्ष्मीका अभाव है। विकसित कमल ही इस श्रीयुक्त लक्ष्मीका आसन है। अर्ध रात्रिकी अलक्ष्मीरूप आसुरी लक्ष्मीका वाहन उल्लू माना

गया है। प्रसिद्ध है कि सूर्यास्त पर पङ्कजश्री (कमलश्री) अन्तर्मुख बन जाती है। जब कमल ही मुरझा गया तो रात्रिमें कमलासना कैसे मिल सकती है? फिर तो सरस्वती विरोधियोंको उल्लूवाहना-आसुरी लक्ष्मी ही उपास्या बन सकती है।

महामुनि दुर्वासाने एकबार प्रसन्न होकर इन्द्रको जयमाला दी। मदोन्मत्त इन्द्रने जयमालाको गलेसे निकालकर ऐरावत हाथी पर फेंक दी। हाथीने सूंडसे पृथिवीपर गिराकर पांवसे तोड दी। दुर्वासाके अन्तःकरणसे परोक्षरूपसे शाप निकला कि जिस राज्यलक्ष्मीके मदसे विजयमालाको ऐरावतसे तुडवाई है, वह लक्ष्मी तेरे पूर्वभारतादि लोकोंसे निकलकर अपनी जन्मभूमि समुद्रमें चली जायगी, जहां ऐरावतने भी जन्म लिया है। वैसा ही हुआ। यों इन्द्रकी मदोन्मत्ततासे पीडित ब्राह्मणकी उपास्या सरस्वतीके तिरस्कार से ही लक्ष्मी रुष्ट होकर देवत्रैलोक्यसे समुद्रमें चली गई। लक्ष्मीको लानेके लिए उपाय खोजे जाने लगे। अन्तमें इन्द्रको विष्णुकी शरणमें आना पडा। और विष्णुके अनुग्रह से ही लक्ष्मीका फिर इन्द्रपर अनुग्रह हुआ।

श्रीयुक्त लक्ष्मीके पति हैं भगवान् विष्णु। "यज्ञो वै विष्णुः" (शतपथ ब्रा. १।१।२।१३) 'यज्ञ ही विष्णु है।' यज्ञका मूलाधार है 'त्रयी वेदात्मक-तत्ववेद'। जैसा कि "सैषा त्रयीविद्या-यज्ञः" (शतपथ ब्रा. १।१।४।३)— "ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" इत्यादिसे स्पष्ट है। अर्थात् कर्मरूप यज्ञका ही नाम विष्णु है। जिस देशमें त्रयीवेदवाले यज्ञका प्रतिनिधि कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है, वही देश वेदात्मक यज्ञ विष्णुका घर माना गया है एवं उसी यज्ञिय नैगमिक देशमें वेदमूलक वर्णाश्रमाचार सिद्ध अर्थात् प्रकृतिसिद्ध आत्मप्रतिष्ठ धर्म (आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर समन्वयात्मक अभ्युदय और निःश्रेयस् साधक 'मानवधर्म' नामक सनातन धर्म) पुष्पित पल्लवित हुआ है। जैसा कि कहा है।

'यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्मान्निबोधत'
(याज्ञवल्क्य १।२)

'कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥'
(मनु० २।२३)

ऐसा देश जिसकी प्राणप्रतिष्ठा—

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (ऋ. १०।१८०।२) के अनुसार 'मृग' 'कृष्णमृग' नामसे प्रसिद्ध भारत अग्नि ही है। पश्चिमके समुद्रवाले देशोंको 'वारुणदेश' ही कहा जायेगा। पश्चिम दिशाके दिक्पाल तथा आपोलोकके लोकपाल वैसे ही वरुण माने गए हैं, जैसे कि– पूर्वदिशाके दिक्पाल एवं ऐन्द्राग्नज्योतिर्लोकके लोकपाल इन्द्र ही माने गए हैं। अतः पूर्व भारतवर्षको जहां लक्ष्मीका श्वशुरगृह माना जायगा, वहां वरुणरूप पश्चिमी देशोंको लक्ष्मीका पितृगृह ही कहा जायगा।

वर्तमान भारतकी आत्मबुद्धिके प्रकाशसे शून्य, केवल मनः शरीरवाली शून्यं शून्यंकी अनात्मभावसे समन्वित दुःख भाव प्रवर्तिक ऐसी अलक्ष्मीरूप यह दीपावली कब भारतीय दृष्टिसे 'सांस्कृतिक-दीपावली' के रूपमें परिणत होगी? इस प्रश्नका यथार्थ समाधान आज हम भारतवासी किससे प्राप्त करें?

इस प्रश्नके समाधानकी प्रस्तावना होगी निगमागम संस्कृतिका अनन्य स्वाध्यायव्रत। जिस प्रस्तावनाको मतवादोंसे, सत्ताश्रयसे और स्वाध्यायविरोधी सब तन्त्रोंसे सर्वथा निरपेक्ष-तटस्थ ही रखना पडेगा। तभी भारतवर्षके सांस्कृतिक-आधार और सांस्कृतिक-आयोजनोंका ज्ञान-विज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। केवल इस स्पष्टताके बलपर ही श्रीयुक्त महान् सांस्कृतिकपर्व दीपावली महोत्सवका यथार्थरूपसे आचरण करता हुआ भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मीको प्रसन्न करनेमें समर्थ बन सकेगा।

वैदिक साहित्यमें समन्वयवाद

(लेखक— श्री शोभनाथ पाठक, एम. ए.)

☆

वैदिकसाहित्यम मानवमात्रके कल्याणकी भावनाका समावेश विशदताके साथ किया गया है तभी तो विश्वमें वेदनीय यह साहित्य आज भी अपनी ज्ञानगरिमामें अग्रगण्य भूलेभटकोंको मार्गदर्शन कराती है इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हम मानवताका कल्याण करें। विश्व-बंधुत्वकी भावनासे हम आगे बढते रहें। समन्वयात्मक भावनाका एक छलकाव इन पंक्तियोंमें कितना प्रभावशील है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभागभवेत् ॥

अर्थात् विश्वके सभी प्राणी सुखी हो, निरोग हो तथा सभी मंगलदर्शी व सुखी हो। यह नहीं वरन् और भी कहा गया है—

" पुमान पुमांसं परिपातु विश्वतः। "

अर्थात् मानवकी परस्पर रक्षा और सहायता करना मनुष्यका परम कर्तव्य है तथा—

तत्कृण्मो ब्रह्मणे गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः

हम सभी मिलकर मनुष्योंमें परस्पर सुमति और सद्-भावनाके विस्तारकी उपासना करें। विश्वबंधुत्वके प्रेरक व सत्य अहिंसाके उपासक महात्मा गांधीको यह वैदिक मंत्र बहुत ही प्रिय था।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
(ईशो०)

ईश्वर द्वारा प्रदत्त मानवताके कल्याणार्थ जो भी वस्तुएं उपलब्ध कराई गई है उन सबका सभी लोग अबाधरूपसे उपयोग करे। कोई किसीके धनके प्रति अपहरणार्थ अनुचित साधनका उपयोग न करें। आज यदि विश्वभारतके इस अमृतमय उपदेश पर अमल करे तो इसमें कोई भी शक नहीं कि यह धरती स्वर्गको भी अपनी गरीमाके सम्मुख फीकी कर दे। मानवताके कल्याणार्थ आशावादकी ज्योति जगाकर पुरुषार्थकी प्रेरणा भी देनेवाली हमारी वैदिक संस्कृतिकी अमूल्य भाती युगोतक संजोने योग्य हैं। इन्हींसे हम विश्वको संवार सकते हैं देखिये यह पौरुषको जगाने-वाली अनुपम थाती :—

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते।
तां समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ॥
निराशावादितो मन्दा मोहावर्तेऽत्र दुस्तरे।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गोवायथावशाः ॥
आशा सर्वोत्तमः ज्योतिर्निराशा परमं तमः ॥

मनुष्यके लिए निराशाके समान दूसरा कोई पाप नहीं है। इसलिए पापरूपिणी निराशाको समूल हटाकर आशा-वादी बनना चाहिए। प्रगतिकी भावनासे विहीन निराशा-वादी लोग मोहके दुस्तर भंवरमें पड़े हुए दलदलमें फंसी बेबस गौवोंके समान, दुख पाते है। आशा ही सर्वोत्तम प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। अत: मनुष्यको सतत आशावान होकर प्रयत्न करना चाहिये। कहनेका तात्पर्य की किसी कामको असंभव समझें यह भावना अपने मनमें कभी नहीं लानी चाहिए। संघर्षोंसे उलझते हुए भी सतत आगे बढने हेतु प्रयत्नशील होना चाहिये।

मानव जीवनके प्रेरक नैतिक तत्त्वोंका नाम सत्य ही। वैदिक संस्कृतिमें सत्य द्वारा ही शरीरको संवारनेका उद्-बोधन हैं।

" सत्यं वद्। धर्मं चर " (तैति० उप. १।११)
" सत्यमेव जयते ना नृतम् " (मुण्ड० उप. ३।१।६)

सत्य बोलो और धर्मका आचरण करो क्योंकि सत्यकी ही विजय होती है असत्यकी नहीं। वास्तवमें यदि संसार भारतीय इस महामंत्रको अपनाए, तो उस प्रलयकारी

अणुबमोंकी विभीषिकासे बच सकता है जो आज मानवताको निगलनेके लिए सुरसाके समान मुंह फैलाए खडी हो, आजकी परिस्थितिको देखते हुए इन बातोंपर हमें गंभीरतासे सोचना है और सारे संसारको एक मंत्र पर लाना हो पर यह सब कैसे संभव है उसका यही एकमात्र उत्तर है— वैदिक संस्कृतिकी समन्वयात्मक भावनाको अपनाकर।

सर्वाङ्गीण अभ्युदय ही वैदिक साहित्यका उद्घोष है इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ-काम मोक्षकी महती गाथा गाई गई है। इस संस्कृतिकी उपमा एक स्रोतस्विनी से दी जानी चाहिए जो अपने साथ अनेक नदीनालोंको लेकर गन्तव्य स्थान पर पहुंचती है। देखिये विश्वशान्ति और विश्वबंधुत्वकी उदात्त कमनीय कल्पनाका निदर्शन इस मंत्रमें कितना सजीव हो उठा है।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानिसमीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषां समीक्षा महे॥

यही नहीं वरन् दूसरे मंत्रमें भी समाजवादसे समन्वय की भावनाका पोषण आदर्शरूपमें प्रस्तुत किया गया है।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवां भागं यथापूर्वे संजानानां मुपासते॥
(ऋग्वेद)

अर्थात् हे भगवान्! हम सब लोग समान भावसे विश्व में गति करें, श्रेष्ठ भाषण करें, हमारे हृदय भी कल्याण-कारी विचारवाले हो। सबके साथ मिले, साथ साथ रहे, एक दूसरेको मनको परखें। वैदिक साहित्यका सृजन देवता-ओ द्वारा हुआ है कहनेका तात्पर्य की उसका एक एक शब्द-समष्टिगत कल्याणकी भावनासे ओतप्रोत है। यद्यपि वर्तमान परिस्थितिमें मानव भौतिकताकी ओर अधिक आकर्षित हो, आध्यात्मिक पथसे भटकता नजर आ रहा है हमारे देशमें तो यह समस्याओ भी जटिल होती जा रही है पर जो लोग पत्र पत्रिकाओंको पढते है वे जानते होंगे कि पाश्चात्य देश विशेषता ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी आदि जहांके लोग भारतीय वैदिक साहित्यकी ओर विशेष आकृष्ट है। पाश्चात्य विद्वान इस साहित्यका गुणगान करते २ नहीं अघाते इसका कारण क्या है। साररूपमें हम यही कह सकते है कि वो इस साहित्यकी समन्वयात्मक भावना ही युगको अपनी ओर खींचनेमें सक्षम है।

यज्ञके वस्त्र

(लेखक— श्री पं. वीरसेनजी वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य)

卐

यज्ञमें रेशमी वस्त्र पहनें

यज्ञ-कार्यमें विशेष प्रकारके वस्त्रोंका विशिष्ट प्रकारसे ही परिधान अर्थात् उनको धारण करना होता है। महर्षि स्वामी दयानन्दजीने संस्कारविधिमें जो प्रमाण वस्त्रके लिये उद्धृत किया है, वह निम्न प्रकार है—

'पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम्'।

अर्थात् यजमान पत्नी और यजमानके लिये ४ रेशमीवस्त्र होने चाहिये। दो-दो वस्त्र दोनोंके लिये होते हैं जिनमें एक-एक वस्त्र अधोवस्त्र और दूसरा उपवस्त्र होता है। अधोवस्त्रको कटिके नीचे पहना जाता है वह धोती कहाती है और उपवस्त्र जिसको ऊपर शरीर पर दुपट्टा या चादरके रूपमें धारण करते हैं वह होता है।

खण्डित, फाडा या फटा हुआ वस्त्र न पहनें

पुनः ये वस्त्र कैसे हों, इसके लिये कात्यायन श्रौत सूत्र ४।७।१२ में लिखा है—

क्षौमे वस्त्रे ईषद् धोते

अर्थात् यज्ञके लिये जो दो वस्त्र धारण किये जावें वे रेशम के होने चाहिये। वे फटे हुए या फाडकर बनाये गये या काट कर सीकर बनाये न हों और वे धुले होने चाहिये। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१८।१) में भी लिखा है—

अहतं वासः परिधत्ते

अर्थात् अखंडित वस्त्र धारण करे। फाडा हुआ या फटा हुआ न हो। अहतका तात्पर्य बिना फटा हुआ अखंडित सम्पूर्ण वस्त्र है। जैसे कि चादर, धोती आदि जो बनकर अपनी सम्पूर्णताके द्योतक हैं। वे भी नवीन ही हों। गोभिल गृह्य सूत्रमें " अहतेन वससनेन" का अर्थ-अखंडित वसनेन ही श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमीने किया है। किसीके द्वारा पहने हुए भी न हों। किसी थान या बडे वस्त्रके खण्ड करके जो वस्त्र बनाये जाते हैं चाहे वे धोती एवं चादरके समान ही लम्बे, चौडे क्यों न हों परन्तु वे खण्ड भावको प्राप्त हो जाते हैं। अतः किसी भी प्रकारसे खण्डभावको प्राप्त हुए वस्त्र यज्ञमें उपयोगमें नहीं लेना चाहिए। अखंडित अर्थात् सम्पूर्ण-भाव, देवत्वका बोधक है और खण्ड-भाव, असुरभावका द्योतक है। यज्ञमें असुरभावका त्याग ही किया जाता है। जैसा कि " प्रत्युष्टं रक्षः " (यजु: १।७) मन्त्र में असुरभावको नष्ट करनेका संकेत है तभी – उर्वन्तरिक्षम-न्वेमि (यजु. १।७।१) अर्थात् उन्नतिके विस्तृत अवकाशको यज्ञ द्वारा प्राप्त होता है।

पहना हुआ वस्त्र न पहने

अहत वस्त्रका यह भी अभिप्राय है कि धोनेके पश्चात् भी किसी प्रकारसे धारण न करके उसको अविकृत या सल रहित रखा गया हो। जैसा कि निम्न श्लोकसे ज्ञात होता है-

ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम्।
अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्मसु पावनम्॥

अर्थात् जो नया श्वेत वस्त्र कुछ धोया जाकर उसके दोनों लम्बाईके प्रान्तोंसे धारण न किया गया हो अर्थात् कटि पर धोती रूपसे धारण न किया गया हो वह अहत वस्त्र सब पवित्र कार्योंमें उपयोगी होता है।

सिले हुए वस्त्र न पहनें

खंडित वस्त्रोंको सीकरके भी वस्त्र बनाये जाते हैं और उनसे विविध फेशनके सुन्दर वस्त्र बनते ही हैं। परन्तु यज्ञमें स प्रकारके सिले हुए वस्त्र अहत रूपसे मान्य नहीं हैं। वे

हत वस्त्र ही है अतः यज्ञके लिये ग्राह्य नहीं है जैसा कि कहा है -

न कुर्यात् संधितं वस्त्रं देवकर्माणि भूमिप।
न दग्धं न च वै छिन्नं पारक्यं न तु धारयेत् ॥

देवकर्म अर्थात् सन्ध्याग्निहोत्र यज्ञादि कार्योंमें सन्धिवाले वस्त्र अर्थात् सिले हुए वस्त्रोंका प्रयोग न करे। जले हुए वस्त्र, अलग किये हुए, फाडे हुए वस्त्र भी धारण न करें। दूसरोंके वस्त्र भी धारण करें। अर्थात् यज्ञ कार्यमें नवीन शुद्ध अखंडित वस्त्र ही धारण करें। इसी प्रकारके भावको अन्यत्र भी निम्न प्रकार प्रकट किया गया है—

सूचिविद्धेन वस्त्रेण आखुदष्टेन वा द्विजः।
कटिशून्येन देवेशि, सर्वस्नानफलं हरेत् ॥

अर्थात् सुईसे सिले वस्त्र, चूहे कीडे आदिके द्वारा कटे हुए वस्त्र धारण करके धार्मिक स्नानादि कार्य जो करता है और जो नग्न होकर स्नानादि कर्म करता है उसके स्नानका सब फल नष्ट ही जाता है।

यह दर्शानेका प्रयोजन यही है कि यज्ञमें बिना सिले, सम्पूर्ण, अखंडित वस्त्र ही धारण करने चाहिये। सिले हुए वस्त्र जैसे कुरता, कमीज, पाजामा, पेंट, कोट आदिको यज्ञमें धारण न करे और न वस्त्रोंके टुकडोंको ही धारण करे जैसा कि लोग यज्ञोंमें गलेमें छोटासा टुकडा डाल लेते हैं। खंडित एवं सिले वस्त्रोंके धारण करनेसे अपने मन पर तथा आचार-विहार पर भी प्रभाव पडता है और वह प्रभाव धार्मिक भावनाओंके विपरीत पडता है अत. इनका यज्ञोंमें पहननेका निषेध है।

सिले हुए वस्त्रोंका धर्म-कार्यों पर कुप्रभाव

सिले वस्त्रोंका अपने धर्म कर्म एवं शुभ विचारों पर विपरीत प्रभाव पडता है ऐसा महर्षि स्वामी दयानन्दजी मानते एवं अनुभव करते हुए जोधपुर नरेशको पत्रमें लिखते हैं— जैसे मुसलमान और ईसाई आदिके टोपी पैजामा मुंडे जूते, कोटपतलून, टोपी आदि धारणसे आप अपने उत्तम विचारोंसे पृथक् रहे हैं " ये शब्द अत्यन्त मनन योग्य है और विचार करना चाहिये कि महर्षि दयानन्द इस प्रकारके सिले हुए वस्त्रोंके कदापि पक्षमें नहीं थे। अतः क्या हमें यज्ञोंमें ऐसे वस्त्र धारण करने योग्य है ? इससे स्पष्ट है कि यज्ञमें सिले हुए वस्त्र जैसे पाजामा, कोट, पतलून, कमीज आदि नहीं धारण करने चाहिये। यज्ञके लिये सम्पूर्ण वस्त्र अर्थात् बिना सिला हुआ वस्त्र ही धारण कर यज्ञ कार्य करना चाहिए। यज्ञमें सम्मिलित होनेवाले व्यक्ति भी तंग वस्त्र, मोजे, चूडीदार पाजामा आदि नहीं पहनें और न नैनोल टेरीलीन आदिके वस्त्र या फटे, कटे, जले और मैले वस्त्र ही धारण करे।

बिना सिले अखंडित वस्त्रोंका लाभ

यज्ञमें यदि सम्पूर्ण वस्त्र अखंडित बिना सिला हुआ वस्त्र पहनकर भाग लेंगे तो शरीर ऐसा अच्छादित नहीं हो सकेगा जैसे कि शरीर पर पटी सी बांध दी हो। उसमें पर्याप्त अवकाश रहेगा जिससे कि यज्ञकी वायुका वस्त्रके भीतर प्रवेश एव निवास भी हो सके। यज्ञके द्वारा जो आरोग्य-प्रद वायु एवं धूम्र उत्पन्न होगा उसका यज्ञकर्ताके वस्त्रोंके मध्यसे शरीरके प्रचुर भागसे संपर्क हो सकेगा जिससे उसको विशेष लाभ होगा। यह लाभ तंग वस्त्र पहनने वालोंको नहीं हो सकता।

टेरीलीन आदि यज्ञमें न पहनें

टेरीलीन, आदिके वस्त्र तापको सहन नहीं कर सकते और अग्निको तो बिल्कुल भी सहन नहीं कर सकते। अतः यज्ञाग्निके पास ऐसे वस्त्रोंको पहनकर कदापि नहीं बैठना चाहिये। इसके अतिरिक्त नैनोल सदृश वस्त्रोंमें वायुके अवरोधनकी शक्ति होती है। छिद्रोंके अभावके कारण उन में यज्ञका वायु प्रवेश न होनेसे शरीरको यज्ञकी आरोग्यप्रद वायुका स्पर्शका लाभ प्राप्त होनेसे वंचित रहना पडता है।

रेशमी वस्त्रोंकी यज्ञके लिये उपयोगिता

सूती वस्त्र भी अग्निको ग्रहण करने वाले हैं। यज्ञ करते समय यदि किसी भी असावधानीसे वस्त्रमें अग्नि लग जावे तो वह ईन्धनके रूपमें प्रज्वलित होने लगता है। इससे भी यज्ञकार्यमें हानि होती है। शुद्ध रेशमी वस्त्र तथा ऊनी वस्त्रोंको अग्नि लगनेका भय नहीं रहता है। यदि कोई पतंगा आदि ऐसे वस्त्रों पर पड जावे तो वह उतने ही स्थानको जला सकेगा परन्तु स्वयं वह वस्त्र अग्नि-मय होकर शेष वस्त्रको नहीं जला सकता है। अतः यज्ञके

लिये रेशमी वस्त्रोंका जो विधान प्राचीन ऋषि-मुनियोंने लिखा है और जिसको महर्षिने भी प्रमाण रूपमें उपस्थित किया है वह अवश्य मान्य करना चाहिये और इसमें किसी प्रकारका बहाना नहीं ढूंढना चाहिये। नकली रेशमका भी व्यवहार यज्ञमें नहीं करना चाहिये। उपासनाके संबंधमें रेशमके वस्त्रकी उपयोगिता और भी है जिसका अभी यहां उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

किन वस्त्रोंको धारण करें

यज्ञके जो अधोवस्त्र और उपवस्त्र कहे है उनको कैसे धारण करें यह भी प्रश्न उपस्थित होता है। सर्व प्रथम यही सोचना चाहिये कि अधोवस्त्र किसे कहते हैं? कोई कह सकते हैं कि जो कमरके नीचे पहना जाय चाहे वह नेकर, पाजामा, पतलून, तहमत, लूंगी आदि कुछ भी हो, वे सब अधोवस्त्र ही हैं। परन्तु महर्षि स्वामी दयानन्दजी अधोवस्त्रका अर्थ संस्कारविधिके समावर्त्तन प्रकरणमें अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण यह कहते हैं। -पीताम्बर नामसे यज्ञादि कार्यके लिये एक विशेष प्रकारकी रेशमी रंगीन व सफेद धोतियां आती हैं। उससे ही तात्पर्य यहां है। अर्थात् यज्ञादि कार्यके लिये विशेष बनी हुई धोतियां जिन्हें पीताम्बरी कहते है, वह होनी चाहिये अथवा उसके अभावमें सूती धोती हों। इन्हींको अधोवस्त्र संज्ञा है। इन्हें ही धारण करके यज्ञ करना चाहिये।

उपवस्त्रसे तात्पर्य ऊपर धारण करने वाले वस्त्रसे है। संभव है कि ऊपर धारण करनेवाले वस्त्रसे कोई कमीज, कोट, बुशशर्ट आदि ग्रहण कर लें परन्तु महर्षि स्वामी दयानन्दजी संस्कारविधिमें जातकर्म संस्कारमें उपवस्त्र ओढके इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं, जिससे स्पष्ट है कि उपवस्त्र ओढा जाता है। ओढा जानेवाला उपवस्त्र चादर, शाल, दुशाला आदि होते हैं और वे इतने छोटे भी नहीं होते है कि वे केवल गलेमें लटका लिये जावे जो तौलिया या अंगोछेके तुल्य लम्बे हों।

एक ही वस्त्र पहनकर कर्म न करें

दो वस्त्रोंका विधान बताता है कि नीचेका वस्त्र ऊपर न ओढा जावे। ओढनेका वस्त्र पृथक् ही रहेगा। अतः एक वस्त्रको पहन एवं उसीको ओढकर भी यज्ञ न करे। इसी लिए गोभिलाचार्यने लिखा—

+

नान्तरीयकस्यैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम्।

अर्थात् एक ही वस्त्रको पहनकर उसीके एक अंशको ओढकर भी क्रिया न करे। इसीको निम्न श्लोकमें भी कहा है।

होमदेवार्चनाद्यासु क्रियासु पठने तथा
नैकवस्त्रः प्रवर्तेत द्विजो नाचमने जपे॥

यज्ञ होमादि देवार्चन क्रियाओंमें अध्ययनादि कार्यमें, जप एवं आचमनादि कार्योंको एक वस्त्रकोही पहनकर या उसीको ऊपर भी धारण करके नहीं करना चाहिये। अतः २ वस्त्र यज्ञोंमें होने ही चाहिये।

धोतीको कैसे धारण करें

अधोवस्त्र अर्थात् पीताम्बरी या धोतीको कैसे पहना जावे? क्या तहमत या लूंगी बांध ले जैसा कि संन्यासी पहनते है अथवा मुसलमान नमाजके समय पहनते है? या एक लांगकी धोती पहनें या दो लांगकी बांधें? इस सबके समाधानके लिये शास्त्रकारोंने यह व्यवस्था रखी है:—

वस्त्रमूलं समुद्धृत्य पृष्ठवंशे षडंगुलम्।
दशायां त्र्यंगुलं त्यक्त्वा नाभिमात्रे विनिर्दिशेत्।
दशाहीनं न कर्तव्यं परिवर्तनं कारयेत्॥

अर्थात् धोतीका एक सिरा पीछे कमरमें छः अंगुल खोंसे और सामनेका दूसरा सिरा तीन अंगुल नाभिमें इस प्रकार सामने लगावे कि आगे पीछेके दोनों सिरे जो वस्त्रकी लम्बाई को समाप्तिके सूचक है वे दीखे नहीं। दोनों सिरोंको सीकरके सिराहीन भी न करे, न लपेटे ही।

सिले वस्त्र आसुरी सभ्यताके जनक हैं

कटा, फटा, असम्पूर्ण, खंडित एवं सिलावस्त्र असुरविद्य है। वस्त्रोंको काट कर ही नाना प्रकारके फैशन, राग-रंगकी वृद्धिसे आसुर भाव एवं आसुरी सभ्यताकी वृद्धि होती है जिनसे राजसिक एव तामसिक भावनाओंका उदय तथा सात्विक भावनाओंका लोप होता है। ये ही रागजन्य प्रवृत्तियां शारीरिक एवं मानसिक रोगोंकी जनक है और जन-समाजको भी दूषित एवं प्रभावित करती हैं। यज्ञमें ये भाव त्याज्य ही है।

यज्ञमें अतिश्रेष्ठ वस्त्र धारण करें

वस्त्रोंके बारेमें महर्षि दयानन्दजीने पूर्वाचार्योंका प्रमाण

देकर रेशमी वस्त्रोंका यज्ञमें विधान प्रदर्शित किया है। महर्षिने यजुर्वेद भाष्यमें अ १९ के ८९ वें मन्त्रमें भी रेशमी व ऊनी वस्त्र शाल आदिका विधान किया है। उत्तमसे उत्तम वस्त्रोंमें रेशमी और शालोंकी गणना होती है। अतः यज्ञ में इन्हींका उपयोग करना चाहिये। ईश्वरस्तुति प्रार्थनो-पासनाके मन्त्रोंके भाष्यमें महर्षि स्वामी दयानन्दजी संस्कार विधिमें लिखते हैं "परमात्माकी उपासना अपनी सकल उत्तम सामग्रीको उसकी आज्ञापालनमें समर्पित करके भक्ति विशेष करें" "परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये सब सामर्थ्यसे विशेष भक्ति करें" इन वाक्योंमें भी उपासनाके लिये अपनी सकल उत्तम सामग्री और सब सामर्थ्यका उल्लेख प्रकट करता है कि यज्ञमें हमें सभी वस्त्र, पात्र, सामग्री आदि उत्तमोत्तम ही ग्रहण करनी चाहिये-सामान्य नहीं-अथवा अपने सामर्थ्यसे हीन कोटिके भी नहीं रखने चाहिये।

संस्कारविधिमें विविध संस्कारोंके अवसर पर भी जो वस्त्र धारण करनेका लिखा है उनसे भी अतिश्रेष्ठ, उत्तम वस्त्र ही यज्ञमें धारण करना चाहिये यह ज्ञात होता है। जैसा कि—

(१) "शुद्धवस्त्र" – (नामकरण, वेदारंभ एवं विवाह संस्कारमें)

(२) "उत्तमवस्त्र" – (चूडा कर्म एवं उपनयन संस्कारमें)

(३) अतिश्रेष्ठ वस्त्र धारण – (समावर्त्तन संस्कारमें)

(४) "सुन्दर वस्त्र" – (निष्क्रमण संस्कारमें)

त्याज्यवस्त्र

यज्ञोंमें कैसे वस्त्र नहीं होना चाहिये इस बारेमें यद्यपि ऊपरके विवेचनसे बहुत कुछ प्रकट हो जाता है तथापि इस विषयमें और भी कुछ ज्ञातव्य विशेष है ही। निम्न प्रकारके वस्त्र धर्मकार्योंमें वर्जित हैं :—

कटिवस्त्रं धृतं तु यद्वस्त्रं पुरीषा यन वा कृतः।
मूत्रमैथुनकृद्वस्त्रं धर्मकार्ये विवर्जयेत् ॥

अर्थात् जिस वस्त्रको एक बार अधोवस्त्रके रूपमें धारण किया हो उसको धोकर ही पुनः पहनना चाहिये। जिस वस्त्रको पहन कर मलमूत्रका विसर्जन किया हो उस वस्त्रको भी नहीं धारण करना चाहिये-धोनेके बाद ही उपयोगमें लिया जा सकता है। इसी प्रकार जिस वस्त्रको धारण करके मैथुन कर्म किया हो उसका धर्मकार्यमें उपयोग नहीं लेना चाहिये।

आज सार्वजनिक यज्ञोंमें उपवस्त्रके रूपमें गलेमेंएक पीलीसी चिन्दी स्कार्फ, पट्टी या टाईसदृश वस्त्र खण्ड यज्ञके अवसर पर आहुति-दाताओंके गलेमें डाल देते हैं और फिर उसीको उतारकर दूसरेके गलेमें भी डाल देते हैं, पुनः उनसे भी उतारकर औरोंको क्रमशः पहना देते हैं। यह प्रथा ठीक नहीं है। क्या इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी एकका दूसरेको पहनाया जा सकता है? शास्त्रकारोंने तो- "वस्त्रमन्यधृतं चैव सदैव परिवर्जयेत्" – अर्थात् दूसरेका धारण किया हुआ वस्त्र यज्ञमें कभी भी धारण नहीं करे यह आदेश दिया है। अतः यह प्रथा समाप्त करनी चाहिये तथा यज्ञके लिये उपवस्त्र जो कि पूर्ण चादर या शालके तुल्य हो, उसे ही धारण करना चाहिये। वह नवीन वस्त्र हो या अपने ही उपयोगमें पूर्व लिया हुआ हो।

वस्त्रोंके रंगका शरीर पर प्रभाव

रंगोंका प्रभाव अपने शरीर पर होता है। अतः यज्ञमें जिन वस्त्रोंको धारण किया जाता है उनका भी हमारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यज्ञमें ध्यान, शान्ति, सबके कल्याण आदिकी कामना, सात्त्विक भावोंका उदय इत्यादिकी प्रधानता प्रायः रहती है और दैनिक यज्ञादिकर्मोंमें भी एक ही प्रकार की भावना रहती है। अतः दैनिक सन्ध्योपासन यज्ञादि अनु-ष्ठान आदिमें इन्हीं भावनानुकूल वस्त्रोंको धारण करना चाहिये। इन पूर्वोक्त भावनाके अनुकूल श्वेतवर्णके वस्त्र हैं जो शुद्धता, शान्ति, सात्त्विकता, ध्यान एवं सर्व मांगल्यकी भावना के उद्बोधक हैं। वर्णसे अपने अन्दर भी वर्णकी उत्पत्ति होती है। पीत रंग और केसरिया रंग भी उपयोगी हैं। उनसे सत्त्व एवं रज मिश्रित प्रभाव उत्पन्न होता है। परन्तु जिनसे रज तम मिश्रित या केवल तमोभाव उत्पन्न होते हैं ऐसे रंगके वस्त्रोंको पहनकर उपासना करना निषिद्ध है। जैसा कि कहा है—

न रक्तं मलिनं चैव न नीलं च प्रशस्यते।

अर्थात् लाल, नीला और मैला वस्त्र या मैलखोर वस्त्र यज्ञमें निषिद्ध माने जाते हैं। ऐसे वस्त्रोंको पहनकर शुभ दैनिक धर्म कार्य करनेसे मनपर प्रभाव अनुकूल नहीं पड़ता है

और मलिन, तामसिक भावोंका उदय होता है अतः साधना विफल होती है जैसा कि कहा है—

नीली रक्तेन वस्त्रेण यत्कर्म कुरुते द्विजः ।
स्नानं दानं जपो होमं तत्सर्वं विफलं भवेत् ॥
(प्राणतोषिणी)

अर्थात् नीला या लाल वस्त्र पहन कर जो कर्म स्नान, दान, जप होम आदिको द्विज करते हैं वह सब निष्फल हो जाता है। चूंकि संन्यासी होमादि सबको त्याग देता है अतः वह रक्त वर्णके ही एक भेद विशेष काषाय वर्णके वस्त्रोंको धारण कर इन कर्मोंके प्रति अपनी अकर्तव्यताको विज्ञापित करता है जिससे यज्ञादि कर्मोंके प्रति उसकी असमर्थता एवं निष्फलताका ज्ञान अन्योंको भी होता रहे और वे उसे यज्ञादि कर्म करानेमें लिप्त न कर सकें। परन्तु काम्य कर्मोंमें कामनानुकूल दैनिक कार्यमें निषिद्ध वर्णके वस्त्रोंका भी उपयोग करना होता है। अतः जहां ऊपर लाल वस्त्रका सात्त्विकता शान्ति आदिकी दृष्टिसे निषेध प्रदर्शित किया था वहां अब राजसिक एवं तामसिक भावनाके काम्य कर्मोंमें उसकी उपयोगिता "वश्ये रक्तं "के द्वारा प्रकट की गई है।

वेदमें वर्ण विज्ञान

रंगीन परिधानका शरीरकी प्रकृति पर प्रभाव पड़ना है, इसका संकेत यजुर्वेदके अध्याय २४ में विशद रूपसे वर्णित है। वहां भिन्न प्रकारके रंगोंके पशुपक्षियोंके रंगोंके कारण ही उनमें भिन्न तत्त्वों एवं गुणोंकी प्रधानताका प्रतिपादन किया गया है। जिससे ज्ञात है कि उनमें तत्तत् तत्त्वोंकी एवं गुणों ी प्रधानता उनके विशिष्ट वर्णोंके ही कारण है। यथा- (यजु. अ. श २४ मं १ में)

(१) कृष्णग्रीवा आग्नेयः = काली ग्रीवावाले पशु अग्नि तत्त्व प्रधान है।

(२) सोमापौषणः श्यामोनाभ्याम् = काली नाभि॰ वालोंमें सोम और पूषा तत्त्व प्रधान हैं।

(३) सौर्यंश्यामौ श्वेतावच कृष्णाश्च पार्श्वयो := श्वेत और काली पसलियों सदृश धारीवालोंमें सूर्य और यम तत्त्व प्रधान है।

(४) वायव्यः श्वेतः = श्वेत रंगके वायुतत्त्व प्रधान पशु हैं।

मन्त्र २ में—

(५) रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या := लाल या कपिल वर्ण वाले पशु सोमशक्तिसे सम्पन्न है।

(६) बभ्रुरुणबभ्रु शुकबभ्रुस्ते वारुणा .= भूरे या लाल मिश्रित भूरे हरितवर्णके साथ भूरे वर्णवाले वरुण तत्त्व प्रधान है।

मन्त्र १९ में—

(७) श्वेता : सौर्याः - श्वेत सूर्यतत्त्व वाले हैं।

अर्थात् विविध वर्णोंके परिधानोंका अपने शरीर, प्रकृति, मन, बुद्धि, विविध प्रकारकी भावना एवं प्रवृत्तियों पर प्रभाव पड़ता है। जब वर्ण विशेषका प्रभाव पड़ता है तो उस वर्णके विपरीत या प्रतिकूल प्रभावकी उत्पत्तिका अभाव या शमन भी होता है यह भी परिणामतः ज्ञात हो जाता है। जिस प्रकारसे बाह्य वर्णके आवरणका प्रभाव अपने मन पर पड़ा है, ठीक उसी प्रकार हमारी आन्तरिक अग्नि, तेज एवं मनकी वृत्तियां जब हमारे वर्णात्मक परिधानसे विश्वके मानसिक क्षेत्रमें प्रवेश करती हैं तो उसका भी प्रभाव बाह्य जगत् या अन्य व्यक्तियों पर पड़ता है। वर्ण (रंग) का सम्बन्ध रूपसे है। रूपका सम्बन्ध अग्निसे है। इस प्रकार वर्णके रूपके माध्यमसे एक अग्निका दूसरी अग्निमें वर्ण-रंजन रूपसे प्रभाव होता है। वर्ण—शब्दमें भी वर्ण—रंग है। उसको अपनेमेंसे प्रसारित करनेके लिये विशेष रूपसे रंजित करनेके लिये शरीर पर विशिष्ट वर्णके वस्त्र धारण किये जाते हैं उनका भी प्रभाव उन पर होता है। अतः यज्ञमें वस्त्रोंके वर्णका भी अपना पृथक् महत्त्व है।

हुमायुंके इस कामको देखकर बहादुरशाह बडी चिन्तामें पड गया, क्योंकि उसके पास इतना सामर्थ्य नहीं था कि वह एक ही समयमें दो दिशाओंमें टक्कर ले सके। दिल्ली और मेवाड दोनोंसे युद्ध करनेका मतलब था अपने हाथोंसे अपनी कब्र खोदना। इसकारण बहादुरशाह विचारमें पड गया, पर उसके वजीर सद्रखानने उसे एक उपाय सुझाया और बहादुरशाहने उसी समय उस उपाय पर अमल किया। उसने हुमायुंके पास एक पत्र भेजा और हुमायुसे प्रार्थना की "आजकल मै एक काफिरसे युद्ध करनेमें लगा हुआ हूं। ऐसे समय आप जैसे दीनदार मुसलमानको मेरी ही सहायता करनी चाहिए। पर यदि वह आपके लिए संभव न हो तो जबतक में चित्तोडके युद्धसे मुक्त न हो जाऊ, तब तक आप मुझ पर हमला न करें। इस्लामी धर्मशास्त्रका इतना आदर तो आप अवश्य करें।" वजीरकी सलाहसे भेजे गए इस पत्रने हुमायुंके चित्तको डांवाडोल कर दिया। उसके सामने यही प्रश्न था कि "एक परधर्मीय बहिनकी रक्षा करना श्रेष्ठतर है या एक स्वधर्मीय शत्रुकी प्रार्थना स्वीकार करना"। आखिरकार स्वधर्माभिमानने भ्रातृत्व पर विजय पाई और हुमायुने बहादुरशाहको चित्तोडयुद्धसे मुक्त होने तक प्रतीक्षा करनेका निर्णय किया। कुछ भी न करते हुए हुमायुंने ग्वालियरमें १॥ महिने बिताये और फरवरी १५३३ के अन्तमें वह दिल्ली लौट गया। इधर कर्मवतीने दिल्लीसे आनेवाली मददकी बडी आतुरतासे प्रतीक्षा की। पर मदद आनेके जब कोई लक्षण दिखाई नहीं दिए तब कुछ प्रदेश और बहुत सारा धन बहादुरशाहको देकर कर्मवतीने बहादुरशाहका यह पहला हमला वापस किया (मार्च १५३३)

हुमायुंके इस विश्वासघातके लिए कई इतिहासकारोंने उसे दोषी ठहराया है। अनेकोंका ऐसा भी मत था कि आगे चलकर उसके लडके अकबरने राजपूतोंकी अनमोल मददसे एक बडा भारी साम्राज्य स्थापित किया उसी सिद्धान्तका सहारा यदि हुमायुंने इस समय लिया होता तो उसे शेरशाहके मुकाबले हार खाकर भारतसे भागकर जानेकी मुसीबत न उठानी पडती। कई इतिहासकारोंने इसे हुमायुं सबसे बडी गलती बताई है।'मुगल रूल इन इण्डिया' में ग्रंथकार लिखता है- जब तक चित्तोड पर घेरा बन्दी चलती रही, तब तक हुमायुने अपनी उंगली भी बहादुरशाहके विरुद्ध नहीं उठाई ... निस्सन्देह उसकी यह नीति गलत थी।[1] एक दूसरे सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव लिखते हैं जिस समय बहादुरशाह राणासे उलझा हुआ था, उस समय बहादुरशाह पर आक्रमण करना हुमायुंने पाप समझा। यह हुमायुंकी एक बडी भारी गलती थी।[2] सुप्रसिद्ध इतिहासकार मजुमदार भी इस विषयकी चर्चा करते हुए स्पष्ट रूपसे अपना मत लिखते है- जब तक बहादुरशाहने राजपूतोंको मिट्टीमें नहीं मिला दिया, तब तक हुमायुं प्रतीक्षा करता रहा। ऐसा करके हुमायुने बडी भारी गलती की। इस प्रकार हुमायुंने अपनी भलाईके लिए राजपूतोंकी सहानुभूति और मदद प्राप्त करनेका एक स्वर्णावसर खो दिया।[3] हुमायुंके चरित्रलेखक डॉ. बनर्जी 'बादशाह हुमायुं' नामक अपने एक अंग्रेजी ग्रथमे लिखते है- 'हुमायुंने यदि राजपूतोंको समयपर मदद पहुचा दी होती तो राजपूत उसके सदाके लिए मित्र बन गए होते।'

बहादुरशाहने प्रदेश और धन लेकर युद्ध बंद तो कर दिया पर चित्तोडके किले पर अधिकार करनेकी उसकी आसुरी महत्त्वाकांक्षा उसे शान्त नहीं बैठने दे रही थी। इधर विक्रमकी ऐय्याशी फिर शुरु हो गई। उससे फायदा उठाकर

(1) So long as the seize of Chittor continued, Humayun did not raise his fingure against Bahadurshah ... undoubtedly his policy was wrong (Mughal Rule in india. p. p. 21)

(2) Humayun Thought it sinful to attack Bahadurshah when he was fighting with Rana. This was Humayun's great blunder (Mughal Empire- p. p. 51)

(3) (Humayun) waited while the latter (Bahadurshah) vanquished the Rajputs ... Humayun committed a fatal blunder. He lost a golden opportunity of winning for his own cause, their sympathy and support. (An Advanced History of India- p. 434)

१५३५ की जनवरीमें बहादुरशाहने फिर दूसरी बार चढाई की। इस बार पूर्वानुभवको ध्यानमें रखकर रानी कर्मवतीने हुमायुंसे मदद नहीं मांगी, अपितु चित्तोडकी रक्षाके लिए अनेक राजपूत सामंतों, सरदारों और सैनिकोंको संगठित किया। सब लोग संगठित हो गए। विक्रमको किलेसे निकाल कर अज्ञातस्थान पर ले जाया गया। चित्तोड-रक्षा की सब जवाबदारी बाघसिंह नामक सरदारको सौंपी गई। उसी समय किन्हीं राजकीय कारणोंसे हुमायुं और बहादुरशाहके बीच मनमुटाव हो गया और अपने शत्रुको नष्ट करनेके लिए हुमा . सेना लेकर सारंगपुर तक पहुंच भी गया था। बहादुरशाहके आगे फिर वही संकट आ खडा हुआ और उसने फिर वही तुरफी चाल चली, लिहाजा वह संकट फिर दूर हो गया। इस द्वितीय आक्रमणका वर्णन करते हुए "मेवाड और मुगल" के लेखक श्री गोपीनाथ शर्मा लिखते है " ८ नवम्बर १५३४ के दिन हुमायूं बहादुरशाहसे लडनेके लिए आगरेसे चला। तब बहादुरशाहने हुमायुंसे प्रार्थना की कि "चूंकि वह (बहादुरशाह) एक काफिरके साथ युद्ध करने रूप पवित्र कार्यमें लगा हुआ है, अत. फिलहाल हुमायु उस पर आक्रमण न करे। हुमायु बहादुरशाहके इस शरीयतकी पुकारसे बडा प्रभावित हुआ और उसने बहादुरशाहकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।"[४] एक दूसरा प्रसिद्ध लेखक स्टेन्ले लेनपूल अपने ' मध्ययुगीन भारतका इतिहास " नामक ग्रंथमें लिखता है - " हुमायुंने बहादुरशाहको चित्तोडके संग्राममें मशगूल देखा, पर बजाय इसके कि हुमायुं उसी दम बहादुरशाह पर आक्रमण करके उसका राज्य छीन लेता और इसप्रकार राजपूतोंकी सहानुभूति भी प्राप्त कर लेता, चुपचाप लडाईके खत्म होने तक देखता और प्रतीक्षा करता रहा।"[५]

उस समयकी राजकीय परिस्थितिकी तरफ नजर न डालकर हुमायुने आत्मघातक तटस्थताकी नीति अपनाई। बहादुरशाहके तोपखानेके आगे राजपूत सेना टिक न पाई। अन्तिम उपाय समझकर रानी कर्मवतीने हजारों स्त्रियोंके साथ जौहरका व्रत अपनाया। राजपूत सैनिक केसरिया बाना पहनकर जान हथेली पर रखकर रणभूमिमें कूद पडे, पर राजपूतोंके पराक्रमका कुछ भी फायदा नहीं हुआ। चित्तोडके किले पर ६ मार्च १५३५ को बहादुरशाहका अधिकार हो गया, उसकी आसुरी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण हो गई। उसने किलेमें प्रवेश किया, पर वहां उसे शव, हड्डी और राखके सिवाय कुछ न मिला। चित्तोडके नाशका समाचार सुनते ही हुमायुने अपनी तटस्थता छोड दी। बहादुरशाहके साथ धार्मिक कारणोंसे रोकी गई लडाई उसने शुरु कर दी। अपनी पूरी जिन्दगीमें हुमायु सिर्फ इसी वक्त चपलतासे लडा। उसने अपनी सेना वेगसे आगे बढाई और हर जगह बहादुरशाहको धूल चटाई। हारकर बहादुरशाह गोवाकी तरफ भाग गया और वहीं उसकी मौत हो गई। बहादुरशाह और हुमायुंकी लडाईके दरम्यान बचे खुचे राजपूतोंने फिर चित्तोड पर अधिकार किया। उसके बाद ८ जून १५३५ के दिन राजपूतोंके पूर्णतया नष्ट हो जानेके बाद हुमायु चित्तोड पहुचा, पर उस समय जा कर क्या फायदा होना था ?

राजपूतोंके बारेमें हुमायुंकी नीति इस प्रकार थी। फिर भी आज सभी स्कूलोंकी किताबोंमें हुमायूंको उदार, मानवतावादी और सहिष्णु बताकर उसका गुण-गान किया जाता है। पर उसने राखीकी लाज कहां रखी और अपना भ्रातृत्व कब और कहां प्रकट किया ?

+ + +

---

(4) On 8 th November 1534 Humayun left Agra to fight Bahadurshah. Bahadurshah now requested the emperor not to attack him while he was engaged in a holy war against the infidal. Humayun was impressed by the appeal to the shariat. He decided to accept the request of Bahadurshah– (page. 77).

(5) Humayun found Bahadur busily engaged in the seize of chitor. Instead of attacking at once and ...... winning to his side ... the friendship of the Rajput chiefs he stood by till the quarrel was foughtout. (page 224)

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज

(लेखक— श्री वेदव्रत शास्त्री)

卐

मक्ककी रोटी

महाराजका भोजन उनके क्षत्रिय-शिष्योंके यहांसे आया करता था। एक दिन स्वामीजी चबूतरे पर विराजमान थे। अभीतक उनके लिए भोजन न आया था। एक कृषक मक्के की मोटी मोटी रोटियां लिये हुए उधरसे जा रहा था। जब वह चबूतरेके पास पहुंचा तो उसके जीमें रोटियोंको महाराजकी सेवामें समर्पित करने की इच्छा हुई। उसने नम्रता पूर्वक प्रणाम करके निवेदन किया कि महाराज आज तो मेरी सूखी मधूकरी पानेकी कृपा करें। स्वामीजीने कृपा पूर्वक उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उसके भोजनको बडी प्रसन्नताके साथ खाया। कृषकका हृदय गद्गद हो गया और उसके नेत्र प्रेम अश्रुसे पूर्ण हो गये।

नाईकी रोटी नहीं, गेहूंकी है।

यह उक्त घटनासे प्रथमकी घटना है कि एक दिन एक नाई अपने घरसे स्वामीजीके लिये भोजन बनवाकर लाया और उनसे प्रार्थना की कि आज तो मेरी भिक्षा स्वीकार कीजिये। महाराजने उसे सहर्ष स्वीकार किया। उपस्थित लोगोंने कहा भी कि महाराज यह तो नाईकी रोटी है, परन्तु उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया कि यह नाईकी रोटी नहीं गेहूंकी रोटी है और बडे प्रेमसे उन्हें खाया।

षड्दर्शन समन्वय

प्रश्न—सांख्य शास्त्रके कर्ताको लोग अनीश्वरवादी कहते हैं और उसमें " ईश्वरासिद्धेः " यह सूत्र भी है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर— सांख्यकर्ता अनीश्वरवादी नहीं हैं। लोग ऋषि कृत टीकाओंको छोडकर और भ्रष्ट लोगोंकी टीकाओंको पढकर ऐसा कहने लगे हैं। भागुरी ऋषिकी टीकाको पढो तुम्हारा सन्देह दूर हो जायगा। " ईश्वरासिद्धे" सूत्र पूर्वपक्ष का है। आगे उसका उत्तर दिया गया है। यदि सांख्यकर्ता नास्तिक होता तो वह पुनर्जन्म, वेद, परलोक और आत्माको क्यों मानता ? कोई दर्शन दूसरे दर्शनका विरोध नहीं करते छः कारणोंसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है—न्याय दर्शन १. परमाणुओंका; २ मीमांसा दर्शन कर्मका; ३ सांख्य दर्शन तत्त्वोंके मेलका; ४ योग दर्शन ज्ञान विचारका ५ वैशेषिक कालका; और ६ वेदान्त परमात्माका वर्णन करता है।

लडकियोंका दान करते देखकर स्वामीजीको भोजनका भी ध्यान न रहा

एक दिन पर्वका दिन था। गङ्गाके पार एक मेला था। उस दिन महाराजने संस्कृतमें व्याख्यान दिया था जिसे सुन कर बंगाली सज्जन मुग्ध हो गये थे। सांयंकालके समय महाराज घूमते हुए मेलेमें जा पहुंचे तो उन्होंने देखा कि लोग अपनी लडकियोंको पण्डोंको दान कर रहे हैं। महाराजका एक भक्त था जिसका नाम नन्दन ओझा था वही उनके लिये भोजन लाया करता था। उस दिन भोजन लाया, परन्तु महाराज डेरेपर न मिले। बहुत देरतक प्रतीक्षा करके भोजन रखकर वह अपने घर चला गया। प्रातः काल जब आया तो देखा कि भोजन ज्योंका त्यों रखा है। कारण पूछने पर महाराजने कहा लोगोंका लडकियोंका दान देना और पण्डोंकी धूर्तता देखकर हमें इतनी वेदना हुई कि भोजनका ध्यान भी न आया।

कन्यादान

" कन्यादान" शब्दका समास विच्छेद दो प्रकारसे किया जा सकता है, पहला " कन्याके लिये दान " दूसरा कन्याका

दान " है। स्वामीजीको पहला समास विच्छेद ही अभीष्ट है। बालक और बालिका दोनों विद्यार्थी जीवन बिताकर स्नातक होकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते है। अतः कन्याका बाप अपनी लडकोके गृहस्थ-जीवनमें सहायता प्रदान करनेके लिये कुछ पदार्थ देता है। इसीको "कन्यादान" कहा गया। परन्तु दूसरे अर्थसे अनर्थ हो गया।

शराब और उसके दाम

(मूर्तिपूजाके खण्डन करनेपर)

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे कि कुछ धूर्तोंने एक तलवार और एक कसाईको भेजा। उन्होंने जाकर शोरगुल मचाकर स्वामीजीसे कहना आरम्भ किया कि हमारे शराब और मांसका दाम तो दे दीजिये। स्वामीजीने हंसकर कहा कि बहुत अच्छा। व्याख्यानके पश्चात तुम्हारा भी हिसाब कर दूंगा। व्याख्यानके पश्चात स्वामीजीने एक हाथसे एकका और दूसरेसे दूसरेका सिर पकडकर कहा कि बतलाओ तुम्हारे कितने कितने दाम हैं। जब उन्होंने देखा कि स्वामीजी उनके सिरोंको आपसमें टकरा कर उनका कचूमर निकाल देंगे तो उन्होंने हाथ जोडकर क्षमा मांगी और कहा कि हमें तो अमुक पुरुषोंने सिखाकर भेजा था। उन्हे स्वामीजीने तुरन्त क्षमाकर दिया और छोड दिया।

द्वेष करना दुष्टोंका स्वभाव है

पौराणिक तथा कुछ विधर्मी स्वामीजीकी उठती हुई कीर्तिको सुनकर उसको सहन न कर सके। अत. स्वामीजीको अपवादित करनेके लिये उन्होंने अजीब उपाय तथा समय चुना। परन्तु आत्मिकशक्ति और सत्यके सामने असत्य वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे सूर्यके सामने अन्धकार और वेद-ज्ञानसे अज्ञान नष्ट हो जाता है। किसीने ठीक ही कहा है कि सांचको आंच कहां ? स्वामीजीकी उदारता देखकर उनकी महानताके सामने श्रद्धासे शिर झुक जाता है।

संस्कृत सारे हिन्दुओंकी भाषा है

(आरामें)

मजिस्ट्रेटने स्वामीजीसे संस्कृत बोलनेका कारण पूछा तो उन्होंने (स्वामीजीने) कहा कि भारत वर्षमे द्राविड प्रभृति अनेक भाषायें बोली जाती हे तब मैं किस भाषामें बोलूं ? इसके अतिरिक्त संस्कृत सारे हिन्दुओंकी भाषा है और समस्त भाषाओंका मूल है, संस्कृत बोलना ही उचित है।

वैदिक सम्पत्तिके ३०२ पृष्ठसे

संस्कृत	द्राविड (तेलगू)		अर्थ	संस्कृत	द्राविड (तेलगु)		अर्थ
अन्य	अन्नि	=	इसे; सब	देवम्	दय्यमु	=	भूत-प्रेत
मनुष्य.	मनजुडु	=	आदमी	अटवि	अडवि	=	जंगल
इह	ई	=	यहां	उडुप:	ओड	=	जहाज
मंजु:	मंछि	=	अच्छा	काकः	काकि	=	कौआ
अम्बुदः	मब्बु	=	मेघ	द्यौ	दिवसु	=	सूर्य
उष्ट्र:	वंटे	=	ऊंट	मेष.	मेक	=	बकरा

विवाहमें व्यर्थ व्यय

" फर्रुखाबाद दिनांक. २० नवम्बर १८७३ "

एक दिन पं. राधाचरण गोस्वामी वृन्दावन निवासी सेठ निर्भयराम, पं. गंगादत्त तथा अन्य लोगोंको साथ लेकर स्वामीजीके पास गये और उनके सामने कुछ मिष्टान्न रक्खा। स्वामीजीने पूछा यह कैसा है तो सेठजीने उत्तर दिया कि मेरे पुत्रके विवाहमें यह अन्न बना था, उसीमेंसे आपकी सेवामें लाया हूं। स्वामीजीने कहा कि हमने सुना है कि आपने पुत्रके विवाहमें बहुत व्यय किया है। इस प्रकार आप कंगाल हो जायेंगे। और फिर आपको कोई सेठजी नहीं कहेगा। विवाहमें इतना धन व्यय करना अनुचित है। अकर्मण्य, भोजन लोलुप ब्राह्मणको खिलाने कुछ इष्ट नहीं होता। पुलिसवालोंको खिलानेसे फल होता है, वह रात्रीमें आपके घरोंकी रक्षा करते हैं।

सुन्दर सुझाव

" स्वामी भविष्य-द्रष्टा थे, उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टिसे देखा था कि सोनेकी चिडिया भारत; जहांयहां दूध, दहीकी नदियां बहती थी वहांके लोग अपने पेट भरनेके लिये

अमेरिका आदि देशोंके सामने हाथ पसारेंगे। इस दृष्टिसे स्वामीजीने देशको मितव्ययताकी राय दी थी। दूसरी बात यह बताई कि देशका अन्न उन्हींको खाना चाहिए जिन्होंने देश और धर्मकी भलाईके लिये अपना जीवन दे दिया हो। इस समय सिपाही और सैनिक देशकी रक्षाका दायित्व रखते हैं अतः उन्हें खिलाना ही उत्तम है। यह थी स्वामीजीकी राष्ट्रीय-भावना जो आजके युगसे कितनी साम्यता रखती है।

मांस कामरिपुका वर्द्धक है

(काशी मई १८७४)

एक १४, १५ वर्षका मुसलमान नवयुवक प्रतिदिन महाराजके सत्सगमें आता और उसकी समाप्ति कर चला जाता था। एक दिन ऐसा हुआ कि जब वह स्वामीजीके पास पहुंचा तो स्वामीजी अकेले थे। स्वामीजीने उससे कहा तुम रोज हमारे पास क्यों आया करते हो? उसीपर उससे बातचीत आरम्भ हो गई। उसने महाराजसे पूछा कि मांस खाना अच्छा है या बुरा? तो महाराजने उत्तर दिया कि मांस काम रिपुका वर्द्धक है। इसीसे मुसलमान बहुत कामासक्त होते हैं। मांस खाना हानिकारक और मांसका खाना अनुचित है।

यह प्रश्न आजभी वैसे ही है

स्वामीजी अपने सत्यार्थ-प्रकाशमें आपद्-धर्म या औषध रूपमें मांस-भक्षणकी राय देते है। मांस गरीब पशु पक्षियोंकी नहीं होनी चाहिये, अपितु हिंसक-पशु जो आखेट अर्थात् शिकारमें मारे जाते हैं उनका मांस खाया जा सकता है। स्वामीजीने बताया कि मनुष्यके जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष-लाभ करना है। मांस-भक्षणसे बना हुआ मन मोक्ष-प्राप्तिमें साधक नहीं सिद्ध होता अपितु बाधक होता है, अतः मांस-भक्षण ठीक नहीं।

मुसलमानोंमें बुतपरस्ती

मौलवी साहबके चले जान पर स्वामीजीने कहा कि मुसलमानोंने औरोंकी छोटी छोटी मूर्तियोंको तोड दिया परन्तु अपने घरकी मूर्तिकी पूजा न छोडी। मुसलमानोंकी मूर्ति कृष्ण पाषाण (हजरुल् अस्वद) है। जो मक्काके मन्दिरमें बडी सुन्दरतासे लगा हुआ है। जहां मुसलमानोंके झुंडके झुंड पृथ्वीके सब मार्गोंसे जाते हैं। और मुसलमानोंमें मक्केकी यात्रा (हज्ज) मोक्षका साधन मानी जाती है।

विशेष

'श्री मुहम्मद साहबने प्रथम अपने घरकी मूर्तियोंको तोडा परिणाम स्वरूप उन्होंने बडी मुसीबतका मुकाबिला किया। इनके शिष्य और अनुयायी लोगोंने घरमे मूर्तियोंकी तो स्थापना की परन्तु अन्य मजहबवालोंकी मूर्तियोंको तोडा, मन्दिरोंको लूटा और असंख्य व्यक्तियोंको मौतके घाट उतारा। शहीदोंकी कबरोंकी पूजा, ताजियादारी, मस्जिदोंमे काबेकी तरफ मुंह करके नमाज पढना, हजकरनेवालोंका संगे असबका बोसा लेना; क्या यह सबमे बडी मूर्ति पूजा नहीं है। ईश्वर करे ये लोग अपनी गलतियोंका अब भी अनुभव करें और देशके संगठनमें सहयोग दें''।

मिठाईमें विष दिया गया

"दयानन्द प्रकाशसे"

एक दिन महाराज ध्यानसे निवृत्त होकर हंसते हुये बाहर आये तो पण्डित सुन्दरलालने हंसनेका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि एक मनुष्य मेरी ओर आ रहा है थोडी देर ठहर जाईये, उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा। थोडी देर पीछे एक मनुष्य आया और नमो नारायण करके बैठ गया। उसने कुछ मिठाई महाराजके आगे रखकर पानेकी प्रार्थना की। उन्होंने कहा थोडी सी मिठाई तुम भी लो। परन्तु उसने न ली, तब महाराजने डाटकर कहा, तो भी उसने न ली और वह कांपने लगा। महाराजने कहा कि यह हमारे लिये विषाक्त मिष्टान्न लाया है। पण्डित सुन्दरलालने उसे पकडना चाहा, परन्तु महाराजने उसे उन्हें पकडने न दिया और उसे क्षमाकर दिया। फिर उसमेंसे पण्डित सुन्दरलालने थोडी सी मिठाई एक कुत्तेको खिलाई, कुत्ता उसे खाकर मर गया।

मनोरंजक कहानी

देशके नाशका यही कारण है

(स्वामीजीने बम्बईमें सुनाई थी)

एक दिन स्वामीजीका व्याख्यान हो रहा था श्रोतागण कई सहस्रोंकी संख्यामें उपस्थित थे। स्वामीजीने राजाओंके विनाशका उल्लेख करते हुये कहा कि राजाओंके परामर्श-

वाला ऐसे लोग होते है जैसे (१) ज्योतिषी, (२) तेली (३) ऊटवाला (४) हिजडा। किसी राजा पर एक शत्रु चढ-आया और दुर्गके भीतर घुसने लगा, तब राजाको उसके आक्रमणका ज्ञान हुआ। उसने पहले ज्योतिषीसे पूछा, ज्योतिषी बोला– अभी महाराजके भद्रा है। तेलीसे पूछा तो उसने कहा कि ऐसी क्या जल्दी है ? अभी आप तेल देखिये तेलकी धार देखिये। फिर ऊंटवालेसे पूछा, उसने कहा महाराज देखिए ऊंट किस करवट बैठता है। फिर हिजडेसे पूछा, उसने कहा कि आप कनात तान लें। क्या वह पर्देके अन्दर भी घुस आयेगा। ये बातें होती रहीं और शत्रु सेना दुर्गके भीतर घुस आई। यदि हमारे राजाओंकी यह दुर्दशा न होती तो हमारी यह दुर्दशा क्यों होती ? देशके नाशका यही कारण है

आप-बीती कथा

स्वामीजीके बलिदानका यत्न

(स्वामीजीके मुखारविन्दसे)

मे जिन दिनोंमें एकाकी घूमता था, उन दिनोंमें मेरा एक ऐसे स्थान पर जाना हुआ जहां सभी शाक्त बसते थे। उन्होंने मेरी बडी सेवासुश्रूषा की। जब कई दिनके निवासके अनन्तर, मे वहांसे चलने लगा तो उन लोगोंने अत्याग्रहसे मुझे ठहरा लिया, मे समझता रहा कि ये भक्तिभावसे ठहराते है। ऐसे ही बहुत दिन बीत जाने पर उनके पर्वका दिन आ गया। उस दिन सारे शाक्त देवीके मन्दिरमें एकत्र हो कर गीत गाने लगे। उस दिन उन्होंने मुझे भी कहा कि आज हमारे मन्दिरमें उत्सव है, आप वहाँ अवश्य चलिए। मैने बहुत समझाया कि देवोके दर्शनमें मेरा निश्चय नहीं है, परन्तु वे एक न सुनते थे। पांव पकडकर वे कहने लगे कि यदि आज पर्वके दिन मन्दिरमें न पधारेंगे तो हमारा सारा उत्साह भंग हो जायगा। आप मूर्तिको नमस्कारादि कुछ भी न करना, परन्तु हमारे लिए चले तो चलिए।

वह मन्दिर नगरसे बाहर एक उजाड स्थानमें था। उनके विवश करने पर मुझे उस मन्दिरमें जाना पडा। उस समय वहां आंगनमें होम हो रहा था। और लोग उत्सव मना रहे थे। मुझे वह दुर्गाकी मूर्ति दिखलानेके बहानेसे भीतर ले गये। मे सहज स्वभावसे दुर्गाकी प्रतिमाके समक्ष खडा हुआ। मूर्तिके पास एक बलिष्ठ व्यक्ति नंगी तलवार लिये खडा था।

वहां वे लोग मुझसे कहने लगे 'महात्माजी ! माताके आगे झुक कर नमस्कार अवश्य कीजिए।' मैंने उनसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि मुझसे ऐसी आशा करना दुराशामात्र है। मेरे वचनोंसे पुजारी चिढ गया और पास आकर मेरी ग्रीवा (गर्दन) को पकडकर मेरे सिरको नीचा करने लगा। उसके इस वर्तावसे मे चकित हो गया, परन्तु ज्योंहि मेने दृष्टि फिराई तो क्या देखता हूं कि वह खड्गधारी मेरे पास आगया है। और मेरी ग्रीवा पर खड्ग बरसाना ही चाहता है।

इस दृश्यको देख कर मे तुरन्त सावधान हो गया। मेने झपट कर उसके हाथसे तलवार छीन ली। पुजारी तो मेरे बायें हाथके एक ही धक्केसे मन्दिरकी दीवारसे जा टकराया। मे तलवार लिये मन्दिरके आंगनमें आ गया। उस समय आंगनके सभी लोग कुल्हाडा छुरी आदि शस्त्र लेकर मुझ पर टूट पडे। द्वारकी ओर देखा, तो उसमे ताला लगा हुआ था। अपने आपको बलिदानसे बचानेके लिये मे उछल कर दिवाल पर चढ गया। और परलेपार कूद कर भाग निकला। दिन भर तो मे वहीं छिपा बैठा रहा, परन्तु जब रातका राज्य विस्तृत हो गया तो रातों रात ग्रामान्तरमें जा पहुंचा। उस दिनसे मेने शाक्त लोगोंका विश्वास कभी नहीं किया ?

स्वामीजीकी पर्ण कुटीमें आग लगा दी

एक बार महाराज एक पर्णकुटीमें निवास कर रहे थे। समीप ही कुछ साधुओंका डेरा भी था। साधुलोग स्वामीजीसे अकारण ही वैर रखते थे। एक दिन रात्रिके समय जब कि घोर अन्धकार छाया हुआ था यह पर्णकुटीके पास गये और स्वामीजीका वध करनेका परामर्श करने लगे। स्वामीजीने भी उनकी बातें सुन लीं उन लोगोंने थोडी देर पीछे कुटीमें आग लगा दी। जब वह जलने लगी तो स्वामीजी छप्परको उठाकर बाहर चले आये।

कंकरोंके बदले लड्डू

(दयानन्द प्रकाशसे)

एक पाठशालाके अध्यापकने एक दिन अपने छात्रोंसे कहा कि आज कथामें चलेंगे, तुम अपनी अपनी झोलियोंमें ईंट, रोडे और कंकर भर कर मेरे साथ चलना और जब मे संकेत करूं तो कथा कहने वाले पर ईंटे, रोडे और कंकरोंको फेंक देना, मे तुम्हें लड्डू दूंगा।

अबोध बालकोंने अपनी झोलियां ईंट, रोडों और कंकरोंसे भर लीं और दुष्ट अध्यापकके साथ स्वामीजीकी कथामें पहुंचे। व्याख्यान रात्रिके आठ बजे समाप्त हुआ करता था। जब कुछ कुछ अंधेरा हो गया तो अध्यापकका सकेत पाकर बालक महाराज पर ईंट, रोडे और कंकर फेंकने लगे। सभामें हलचल मच गई, परन्तु महाराजने सबको शान्त कर दिया। पुलिस सब बालकोंको पकड कर उनके सामने लाई तो बालक फूट फूट कर रोने लगे। स्वामीजीने उन्हें ढाढस बधाकर उनसे ऐसा करनेका कारण पूछने लगे तो उन्होंने सारा वृत्तान्त साफ साफ कह दिया। तब महाराजने बाजारसे लड्डू मंगा कर बालकोंको दिये और कहा कि तुम्हारा अध्यापक शायद तुम्हें लड्डू न दे, इस लिये मैं ही दिये देता हूं।

कमरेकी छत धडामसे गिर पडी

(दयानन्द प्रकाशसे)

एक दिन स्वामीजी कमरेमें बैठे हुए पण्डितोंको वेदभाष्य लिखाते लिखाते कमरेसे बाहर आगये। और कर्मचारियोंसे कहा कि झटपट कमरेकी सब चीजें बाहर ले आवो। कर्मचारियोंने आज्ञाका पालन तो किया परन्तु वह न समझ सके कि स्वामीजीने ऐसी आज्ञा क्यों दी। जब सब वस्तुयें कमरेसे हटा ली गईं तो कमरेकी छत धडामसे गिर पडी।

पवित्र हृदय रखना भी संसारका उपकार है

दयानन्द प्रकाशसे

एक साधारण स्थितिका मनुष्य महाराजके सत्संगमें आया करता था। एक दिन उसने महाराजसे निवेदन किया कि धनी लोग तो परोपकार और दान पुण्य करके संसार सागरसे पार हो सकते हैं, परन्तु मुझ जैसे निर्धनोंका निस्तार कैसे होगा? महाराजने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि तुम अपने हृदय पर अपकार और अनिष्ट चिन्तनके भावोंको निकाल दो। ऐसा करना भी संसारका उपकार है।

आप ज्ञानी हैं वा अज्ञानी

एक प्रश्न

एक दिन कुछ हिन्दुओंने आपसमें मंत्रणा (सलाह) करके स्वामीजीसे यह प्रश्न किया कि आप ज्ञानी हैं कि अज्ञानी। इससे उनका अभिप्राय यह था कि यदि वह ज्ञानी कहें गे तो हम कहेंगे कि आप अहंकार करते हैं सन्तोंको अहंकार नहीं करना चाहिए। और यदि वह अज्ञानी कहेंगे तो हम कहेंगे कि जब आप स्वयं अज्ञानी हैं तो हमें आप क्या सिखावेंगे? महाराजने उस प्रश्नका ऐसा उत्तर दिया कि वह देखते रह गये। और लज्जित होकर चले गये। स्वामीजीने कहा कि कई में बातोंमें ज्ञानी और कई बातोंमें अज्ञानी हूं। संस्कृत और धर्म विषयमें ज्ञानी और फारसी, दूकानदारीके विषयमें अज्ञानी हूं।

ब्रह्मचर्यकी महिमा

४ मार्च सन् १८७८

(स्थान—गुजरानवाला)

एक दिन महाराजने अपने व्याख्यानमें कहा था कि हरिसिंह नलवा बडा शूर था। उसका कारण सम्भवतः यही था कि वह २५-२६ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहा था। उन्होंने यही भी कहा था कि मेरी आयु इस समय ५१ वर्षकी है मेरा ब्रह्मचर्य अखण्डित है। मैं दृढता पूर्वक कहता हूं किसीको अपने बलका घमन्ड हो तो मैं उसका हाथ पकड लेता हूं छुडा लेवे अथवा मैं अपना हाथ खडा करता हूं उसे झुका देवे। उस समय लगभग ५०० की उपस्थिति रही होगी, जिनमें कई कश्मीरी पहलवान भी थे, परन्तु किसीको महाराजके आह्वानको स्वीकार करनेका साहस न हुआ।

ब्राह्मणोंकी हीन दशा

ब्राह्मणोंकी वर्तमान अवस्था पर एक दृष्टान्त

पीर, बाबरची, भिस्ती खर

एक यात्रामें एक साहूकारका साथ हो गया। साहूकारके साथ उसका एक भृत्य भी था जो ब्राह्मण था। जब प्रातःकाल होता तो साहूकार उस भृत्यसे कहता, महाराज पांव लाग, जब आवश्यकता होती तो भृत्य उसके पीने, हाथ धुलाने और स्नान करानेके लिये जल लाता, उसकी रसोई बनाता और यात्रामें उसका बोझा उठाकर चलता। एक दिन पठान आगे निकल गया और साहूकारका पीछे रह गया। पठान उसे साथ लेनेके लिये ठहर गया थोडी देरके पश्चात् साहूकार तो आ गया, परन्तु उसका भृत्य उसके साथ न था। यह देख कर पठानने कहा कहां है तुम्हारा नर, पीर, बावरची, भिश्ती, खर।

भावाशय— कुछ लोग उक्त दृष्टान्तको पढकर सोचेंगे कि स्वामीजी ब्राह्मण-जातिका उपहास करते थे। स्वामीजी

सन्यासी थे वे सभी लौकिक बन्धनों और जाति पांतिकी भावनाओंसे सर्वथा मुक्त थे। उनकी दृष्टिमें सभी मनुष्योंका कल्याण था। ब्राह्मण; जो गुण, कर्म, स्वभावसे पूर्वके समयमें पठन, पाठन, याजन, यजन, शिक्षण और उपदेशका कार्य करते थे उनकी इस अवनत दशाको देख कर स्वामीजीको महान् दुःख होता था। अतः स्वामीजीने इनकी दीन हीन दशाको उनके सामने उपस्थित किया। अगर कोई इसे ब्राह्मणोंकी निन्दा समझता तो वह स्वामीजीकी सुहृदयताके साथ न्याय नहीं करता। जैसे शरीरमें मस्तिष्क शरीरका संचालक होता है वैसेही समाज और राष्ट्रमें ब्राह्मणत्व अर्थात् अध्यापकत्व, गुरुत्व, शिक्षकत्व आदि गुणवाले व्यक्ति ही समाज और राष्ट्रके संचालक होते हैं। स्वामीजीने देखा भारतमें ब्राह्मणत्वका ह्रास हो चुका है; अतः क्षत्रियत्वादि गुण भी भारतसे लुप्त हो गये हैं। ब्राह्मणत्व ही देश, समाजकी आत्मा है, यही संस्कृति और सभ्यताका मूल आधार है। अगर इस गुणका पुनर्विकास न किया जायगा तो देशकी संस्कृति ही नष्ट हो जायगी। इसलिये स्वामीजीने देशमें ब्राह्मणत्वके पुनरुद्धारके लिये वर्तमान ब्राह्मणत्वके हामी भरनेवाले अयोग्य ब्राह्मणोंके गुण-दोषोंकी विवेचना की। इस विवेचना में द्वेष या शत्रुताकी कोई भावना नहीं थी; इस विवेचनामें स्वामीजीका सद्भाव ही कार्य कर रहा था।

एक बात यहां विशेष ध्यान देनेकी है वह यह है कि स्वामी दयानन्द ब्राह्मणत्वका पुनरुद्धार कर रहे थे। ब्राह्मणकी तमाम विशिष्टताओंको ब्राह्मणत्व कहते हैं, यह गुण विशेष है न कि ब्राह्मण-जाति। जिसका अधिकारी मानव-मात्र हो सकता है। जैसे प्रत्येक नेत्रवाला मनुष्य सूर्यके प्रकाशका अधिकारी होता है उसी प्रकार विशिष्ट प्रभा तथा आचरण-वाला व्यक्ति भी ब्राह्मणत्वका अधिकारी हो सकता है। स्वामी शंकराचार्यजीने जिस ब्राह्मणधर्मका प्रचार किया था उसमें ब्राह्मजातिका ही अधिकार था उसमें सार्वभौमिता नहीं थी। परन्तु स्वामीजीने जिस ब्राह्मणत्वको उद्बोधित किया वह सार्वभौमिक तथा सार्वजनिक था। अविद्याका अभाव करना ही ब्राह्मणत्व है। ब्राह्मणत्वमें सात्विक और कर्मका समन्वय होता है। ज्ञान भी सात्विक, राजसी और तामसी होता है, गीता तथा उपनिषदोंमें इसकी विशेष विवेचना है। अतः महर्षिने ब्राह्मणत्वको संसारमें प्रश्रय देनेका प्रयास किया। आर्यसमाज इस कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायी है।

मांस भक्षणसे आत्मोन्नति असम्भव

एक दिन पण्डित कृष्ण नारायणने स्वामीजीसे कहा कि मांस भक्षणसे कोई हानी होती हुई प्रतीत नहीं होती, तो महाराजने कहा कि ईश्वरकी आज्ञायें हमें लाभदायक हैं। और वेद मांस-भक्षणके विरुद्ध है। वेदकी (ईश्वरकी) आज्ञाका उल्लंघन हानि कारक है। मांस-भक्षण शरीरके लिये यदि हानिकारक न भी हो, परन्तु आत्मोन्नतिके लिये अवश्य हानिकारक है। मांसाहारीको योग विद्या नहीं आती और उसे सिद्धि अर्थात् परमेश्वरका साक्षात्कार नहीं होता। महाराजने पण्डित कृष्णनारायणसे कहा कि यदि आपको विश्वास न हो तो मैं आपको एक विधि बताता हूं। निरामिष भोजन कीजिये और ४० दिन तक उनके अनुसार कार्य कीजिये। पण्डितजी कहते हैं कि मैंने ३० दिन तक उस विधिको किया तो मेरे शरीरमें बल और स्वास्थ्य बढ गया। जिसके आनन्दको मैं शब्दोंमें वर्णन नहीं कर सकता और मेरा मस्तिष्क इतना प्रकाशयुक्त हो गया जैसे सूर्योदयसे सब संसार हो जाता है। और मुझमें भविष्य ज्ञान लेनेके ज्ञान प्रकट होने लगे। परन्तु ३१ वें दिन मैंने मांस खा लिया जिससे तुरन्त ही मेरा मस्तिष्क अन्धकारमय हो गया और जो कुछ मैंने प्राप्त किया था वह सब जाता रहा।

निर्धन होनेकी चिन्ता मत करो

एक दिन स्वामीजीने व्याख्यानमें कहा था कि लोग कहते हैं कि अंग्रेज लोग धनी और देशी निर्धन होते जाते हैं। इसकी चिन्ता न करनी चाहिए, क्योंकि अंग्रेज जितने अधिक धनी होते जायेंगे उतने ही इन्द्रियाराम होते जायेंगे। इससे वह आलसी होंगे और आलसी निर्बल होते हैं। देशी लोग जितने ही निर्धन होंगे उतने ही परिश्रमी बनेंगे, इससे देशी लोग लाभमें रहेंगे।

सदाशय— धनका परोपकारार्थ सदुपयोगही त्याग है। त्यागकी स्थितिमें संचयकी मात्रा स्वल्प होती है। परन्तु जब धनका त्याग नहीं होता तो वह धन भोगोंको विषयी बनाकर उसे नष्ट कर देता है। अंग्रेज हमारे देशको दासता की बेडीमें जकडे हुये थे, स्वामीजीके हृदयमें सन १८५७ की असफल क्रान्ति खटक रही थी। अत स्वामीजीने अंग्रेजों के प्रति भावकी अभिव्यक्तिकी थी। स्वामीजी अंग्रेजों का अशुभ नहीं चाहते थे, चूंकी उनकी बुद्धि देशको गुलाम बनानेकी थी अतः स्वामीजीने उक्त बातें कहीं।

हिन्दू युवक ईसाई होनेसे बचे

अमृतसरमें लगभग चालीस हिन्दू नवयुवकोंके विचार मिशन स्कूलमें ईसाई धर्मकी शिक्षा पाने और ईसाईयोंके संसर्गसे ईसाई धर्ममें शरण लेने वाले थे। वह नाममात्रके हिन्दू रह गये थे, यहाँतक कि वह अपनेको unbaptised Christians (बपतिस्मा न पाये हुए ईसाई) कहने लगे थे और उन्होंने अपनी एक सभा अलग बना ली थी। जिसका नाम Prayer Meeting (उपासना सभा) रख छोड़ा था और प्रति रविवारको उनका अधिवेशन हुआ करता था। जब उन्होंने महाराजके उपदेश सुने तो वैदिक धर्मकी सच्चाइयोंसे अवगत हुये और ईसाई धर्मके भ्रम-मूलक सिद्धान्त भी उन पर प्रकट हो गये। तब वह ईसाई होनेसे बचे।

डारविनकी कल्पनाका खण्डन

डारविनकी कल्पनाके विरुद्ध स्वामीजीने यह युक्ति दी थी कि जिस समय वानरसे नर उत्पन्न हुआ, कोई बन्धन इस प्रकारका नहीं लगाया था कि आगेको वानर उसी प्रकारका कर्म करके नरको फिर उत्पन्न नहीं करेगा, फिर क्या कारण है कि उस कालके पश्चात् अबतक एक भी नर वानरसे उत्पन्न नहीं हुआ, जब कि वह सब नर पशु और नारी पशु, जिनके संयोगसे पशु हुआ था, पृथ्वी पर उपस्थित रहे। दूसरे यह कहा जाता है कि दो भिन्न जातियोंके नर और नारीके मेलसे एक नई जातिके पशु उत्पन्न हुए और फिर उनके अन्य जातियोंके पशुओंसे समागम करनेसे एक और नई जाति उत्पन्न हुई और इस प्रकार होते होते मनुष्यका पृथ्वी पर अविर्भाव हुआ। इस पर महराजने कहा कि दो भिन्न जातियोंके पशुओंके मेलसे सन्तान ही नहीं होती और जब अब नहीं होती तो पहले भी नहीं हो सकी होगी।

आगे चल कर स्वामीजीने कहा कि सूर्यका न घूमना, पृथ्वीका परिभ्रमण, अमेरिकाका वर्णन, मेघ आदिका वर्णन, आकर्षणके सिद्धान्त आदि बातोंके अन्वेषण कर्त्ता योरोपीय लोग माने जाते हैं। परन्तु संस्कृत ग्रन्थोंमें इन विषयोंका वर्णन प्रथम सेही विद्यमान था। महाराजने उक्त विषयोंको वेद मंत्रों (आकर्षणके सिद्धान्त) तथा अन्य ग्रन्थोंके प्रमाणसे उसकी प्राचीनताको सिद्ध करके विद्वानोंको सन्तुष्ट कर दिया।

मनोरञ्जक प्रश्नोत्तर

(नशेमें ध्यान नहीं लगता।)

लाला कन्हैयालालने प्रश्न किया कि नशेकी दशामें ध्यान खूब लगता है। और मनुष्य उसीमें मग्न हो जाता है अतः-जैसा अच्छा ध्यान परमेश्वरका नशेकी दशामें हो सकता है, वैसा अन्य दशामें नही हो सकता। महाराजने उत्तर दिया कि यह तो ठीक है, परन्तु उसे उस वस्तुका तात्त्विक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ऐसा ज्ञान एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ यथार्थ सम्बन्ध स्थिर करनेसे होता है और यह नशेकी दशामें होना असम्भव है। उसमें गुणीका गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी दशामें ईश्वरका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस उत्तरको सुनकर वह बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए।

सर सय्यद अहमद खांके घर पर भोजन करने नहीं गये

' २३ अगस्त सन् १८७८ को सर सय्यद अहमद खांने महाराज तथा बम्बईके सज्जनोंको सन्ध्याके समय अपने गृह पर भोजनार्थ निमंत्रित किया। उन्होंने समझा था कि महाराज जाति-भेद नहीं मानते हैं और कहते हैं कि सबके हाथका पकाया हुआ भोजन खाया जा सकता है, अतः उन्हें हमारे घर पर भोजन करनेमें कोई आपत्ति न होगी, परन्तु महाराज भोजन करने न गये और कहा कि यद्यपि मुसलमानोंके भोजनमें सम्मिलित होने और भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है परन्तु ऐसा करनेसे हमारे देशवासियोंमें हमारे प्रति अश्रद्धाका उदय होगा और हमारे उद्देश्योंकी सिद्धिमें बाधा पड़ेगी, परन्तु श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि भोजनमें सम्मिलित हुये थे।

अन्य जाति या धर्मवालोंके हाथका पका या छुवा हुआ भोजन खानेमें वैदिकधर्मियोंकी कुछ हानि या भलाई बुराई है या नहीं ? यह प्रश्न कुंवर ज्वालाप्रसादने महाराजसे किया था, तो उन्होंने उत्तरमें कहा था कि न कुछ भलाई है, न बुराई।

सदाशय–इस घटनासे हिन्दूलोग स्वामीजीकी भावनाको अनुचित मानते होंगे। परन्तु न्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो मांस बिना कष्ट दिये नहीं प्राप्त हो सकता। गाय और बकरीको हलाल करने पर दोनोंको समान ही दुःख होता है।

यह दूसरी बात है कि गाय बकरीसे बहुत ज्यादा उपयोगी है। परन्तु इस भावनामें स्वार्थकी प्रधानता है। हिन्दू भी गायको छोड कर अन्य प्राणियोंकी मांस रखते हैं। देखा जाता है कि एक ही परिवारमें मांसाहारी और शाकाहारी दोनों प्रकारके व्यक्ति होते हैं परन्तु उनका खानपान आपसमें एक साथ होता है। अगर मुसलमान शुद्ध और मांसरहित भोजन स्वच्छतासे खिलाते हैं तो स्वामीजीकी रायमें खानेमें कोई दोष नहीं।

प्राचीन भारतकी महिमा

एक दिन कुछ अंग्रेजी भी महाराजके पास आये। महाराजने उनसे कहा कि आप लोग भारतकी अवनति और फूटके समय यहां आये हैं यदि उसकी उन्नतिके समय यहां आते तो देखते कि यहां कैसे कैसे शूरवीर और योद्धा विद्यमान थे और आप उनकी विद्या और कलाकी प्रशंसा करते।

क्यों देश नष्ट हो गया ?

एक दिन बैठे हुये थे कि सहसा लेट गये। लोगोंको इस पर बहुत आश्चर्य हुआ। थोडी देर पश्चात् महाराज उठे और दीर्घ श्वास खींचकर कहा कि विधवाओं और गौओंकी हायसे देश नष्ट हो गया।

समीक्षा— स्वामीजी तथा उनके आर्य-समाजके द्वारा विधवाओंकी कुछ थोडीसी दशा सुधरी है। परन्तु स्वतंत्र भारतमें जब कि गोभक्तोंकी संख्या अधिकाधिक है तब भी गायोंका वध बहु संख्यामें हो रहा है। इसका मुख्य कारण हिन्दुओंकी मांस खानेकी अभिरुचिकी वृद्धि भी है, और गोरक्षाके कानूनका ढीलापन तो है ही।

एक धर्ममें ही मेल और एकता संभव

एक दिन ईश्वरसिंह और एक अन्य साधु महाराजके पास बैठे थे। महाराजने देखा कि बहुतसे साधु एक ओरको जा रहे हैं। स्वामीजीने उस साधुसे पूछा कि साधु लोग कहां जा रहे हैं। उसने कहा कि एक प्रसिद्ध उदासी साधु आये हैं उन्हींसे मिलने जा रहे हैं। महाराजने इस पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि देखो भारतवर्षमें सनातन वेद- विरुद्ध कितने मत मतान्तर चल गये हैं, कोई उदासी है, तो कोई निर्मला है कोई बैरागी है तो अन्य सम्प्रदायका, मूल धर्म सबने छोड दिया। ईश्वरसिंहने कहा कि महाराज एक धर्म होना तो कठिन है। महाराजने कहा— पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए, इससे बहुत कुछ मेल और एकता हो सकती है।

सद्राशय— स्वामीजीका विश्वास था कि बुद्धिपूर्वक किए गये पुरुषार्थसे सब कुछ साध्य है। जिन कर्तव्योंसे मानव-मात्रकी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति साध्य है वे कर्तव्य-कर्म ही धर्म हैं। और ये सबके लिए सामान्य हैं। अतः सबका धर्म एक है। और धर्मके द्वारा ही मेल और एकता हो सकती है, और मजहब, मत सम्प्रदायके द्वारा एकता नष्ट भी हो सकती है। + + +

२४८ सत्रा यदीं भार्वरस्य वृष्णः सिषक्ति शुष्मः स्तुवते भराय ।
गुहा यदीमौशिजस्य गोहे प्र यद् धिये प्रायसे मदाय ॥ ७ ॥
२४९ वि यद् वरांसि पर्वतस्य वृण्वे पयोभिर्जिन्वे अपां जवांसि ।
विदद् गौरस्य गवयस्य गोहे यदी वाजाय सुध्योऽ वहन्ति ॥ ८ ॥
२५० भद्रा ते हस्ता सुकृतोत पाणी प्रयन्तारा स्तुवते राध इन्द्र ।
का ते निषत्तिः किमु नो ममत्सि किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ ॥ ९ ॥
२५१ एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः ।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य ॥ १० ॥

अर्थ— [२४८] (यत् ईं) जब इस इन्द्रको (भार्वरस्य सत्रा) भार्वरके यज्ञमें तथा (यत् ईं औशिजस्य गोहे) जब इसको उशिक् ऋषिके पुत्रके घरमें (धिये, अयसे, मदाय) बुद्धि बढानेके लिए, शत्रुपर आक्रमण करनेके लिए और आनन्दके लिए (वृष्णः सिषक्ति) बलवर्धक सोम सींचता है, तब यह (भराय) भरण पोषणके लिए (स्तुवते) स्तोताको (गुहा) गुहामें रखे हुए धनको (प्र) देता है ॥ ७ ॥

[२४९] इन्द्रने (यत्) जब (पर्वतस्य वरांसि वि वृण्वे) पर्वतके दरवाजोंको खोल, दिया, तथा (यदि) जब (अपां जवांसि पयोभिः जिन्वे) नदियोंके वेगोंको जलोंसे पूर्ण किया, तब उसने (गौरस्य गवयस्य विदद्) हिरण और गायके समूहको प्राप्त किया। (सुध्यः) बुद्धिमान् ऋत्विज् (गोहे) यज्ञशालामें (वाजाय) इस बलवान् इन्द्रके लिए (वहन्ति) सोम पहुंचाते हैं ॥ ८ ॥

[२५०] हे इन्द्र ! (ते हस्ता भद्रा) तेरे हाथ कल्याण करनेवाले हैं, (उत) और (पाणी सुकृता) तेरे पंजे उत्तम कर्म करनेवाले हैं, तथा वे (स्तुवते राधः प्रयन्तारा) स्तोताको धन देनेवाले हैं। (ते निषत्तिः का) तेरे रहनेका स्थान कौनसा है ? (उत) और तू हमें (किं न ममत्सि) क्यों नहीं आनन्दित करता ? (उत) और हमें (दातवै) धन देनेके लिए (किं न हर्षसे) क्यों नहीं हर्षित होता है ? ॥ ९ ॥

[२५१] (एवा) इस प्रकार (सत्यः वस्वः सम्राट्) अविनाशी, धनोंका सम्राट् (वृत्रं हन्ता) वृत्रको मारनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र (पूरवे वरिवः कः) यजमानके लिए धन देता है। हे (पुरुस्तुत) बहुतोंके द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! तू (क्रत्वा) अपने पराक्रमसे (नः रायः) हमें धनसे (शग्धि) समर्थ कर, मैं (ते दैव्यस्य अवसः भक्षीय) तेरे दिव्य संरक्षणका उपभोग करूं ॥ १० ॥

१ सत्यः वस्वः सम्राट्— यह सच्चे धनोंका सम्राट् है।

२ पूरवे वरिवः कः— यज्ञ करनेवालेको धन देता है।

३ ते दैव्यस्य अवसः भक्षीय— तेरे दिव्य संरक्षणको हम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ— जब किसी भरणपोषण करनेवाले अथवा किसी पदार्थकी कामना करनेवालेके घरमें इस इन्द्रके लिए बलवर्धक सोम सींचा जाता है, तब यह इन्द्र बुद्धिके लिए, शत्रुपर आक्रमण करनेके लिए अपने भक्तको अत्यन्त गुप्त धनकोभी बता देता है ॥ ७ ॥

इन्द्रने जब पर्वतोंके दरवाजोंको खोल दिया, तो जलके प्रवाह भरपूर वेगसे बहने लगे। तब जब सर्वत्र धान्यकी बहुतायत हो गई, तब गायें और हिरण आदि पशु समृद्ध और हृष्टपुष्ट हो गए ॥ ८ ॥

इस इन्द्रके हाथ कल्याण करनेवाले और उसके पंजे भी उत्तम कर्म करने वाले हैं। इस पर भी वह हमें आनन्दित क्यों नहीं करता तथा हमें धन देते समय वह हर्षित क्यों नहीं होता, यह विचारणीय है ॥ ९ ॥

वह इन्द्र धनोंका सच्चा सम्राट् है। वह यज्ञ करनेवालोंको धन देता है। इस धनसे वह मनुष्य समर्थ बनता है। हे इन्द्र ! तेरे दिव्य संरक्षणको हम प्राप्त करें ॥ १० ॥

२५२ नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

[२२]

(ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।)

२५३ यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि तन्नो महान् करति शुष्म्या चित् ।
ब्रह्म स्तोमं मघवा सोममुक्था यो अश्मानं शवसा बिभ्रदेति ॥ १ ॥

२५४ वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन्नुग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान् ।
श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णां यस्याः पर्वाणि सख्याय विव्ये ॥ २ ॥

अर्थ— [२५२] (नद्यः न) जिसप्रकार नदियां जलसे भरी जाती हैं, इसीप्रकार हे इन्द्र ! (स्तुतः गृणानः) स्तुत और प्रशंसित होकर तू (जरित्रे इषं पीपेः) स्तोताको अन्न भरपूर दे। हे (हरि-वः) घोडोंवाले इन्द्र ! मैंने (ते) तेरे लिए (धिया नव्यं ब्रह्म) बुद्धिपूर्वक नये स्तोत्र (अकारि) बनाये हैं, हम (रथ्यः सदासाः स्याम) रथसे तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

१ रथ्यः सदासाः स्याम— हम रथोंसे तथा सेवकोंसे युक्त हों अर्थात् हमारे पास रथ हों और नौकर भी हों।

[२२]

[२५३] (यः) जो (अश्मानं शवसा बिभ्रत् एति) वज्रको बलसे धारण करता हुआ आता है, वह (इन्द्रः) इन्द्र (नः यत्) हमारा जो कुछ है (च) और (यत् वष्टि) जो चाहता है उसका (जुजुषे) सेवन करता है। वह (महान् शुष्मी मघवा) महान् और बलवान् इन्द्र (नः ब्रह्म, स्तोमं, सोमं, उक्था) हमारे अन्न, स्तुति, सोम और स्तोत्रको (आ करति) स्वीकार करता है ॥ १ ॥

१ यः अश्मानं शवसा बिभ्रत् एति— जो वज्रको धारण करके आता है। वह वीर है। (महान् शुष्मी मघवा) वह बडा बलवान् और धनवान् है।

[२५४] (वृषा) बलवान् (उग्रः) वीर (नृतमः शचीवान्) उत्तम नेता, शक्तिशाली इन्द्र (बाहुभ्यां वृषन्धिं चतुरश्रिं अस्यन्) बाहुओंसे बिजलीके समान तेजको धारण करनेवाले तथा चार धाराओंवाले वज्रको शत्रुओं पर फेंकते हुए (श्रिये) ऐश्वर्यके लिए (परुष्णीं उषमाणः) परुष्णी नदीका उपयोग करता है (यस्याः पर्वाणि) जिस नदीके प्रदेशोंका वह इन्द्र (सख्याय विव्ये) मित्रताके लिए संरक्षण करता है ॥ २ ॥

१ वृषा उग्रः नृतमः शचीवान् बाहुभ्यां वृषन्धिं चतुरश्रिं अस्यन् श्रिये— बलवान् उग्र श्रेष्ठ नेता बलवान् वीर अपने बाहुओंसे चार धारोंवाले वज्रको यशके लिये शत्रुपर फेंकता है।

भावार्थ— हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं, अतः तू, जैसे नदियां मनुष्योंको पानी देती हैं, इसीतरह हमें अन्न दे हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते है। तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥११॥

जो वज्रको धारण करके आता है, वह वीर, बडा बलवान् और धनवान् है। इसीलिए वह हमारे ऐश्वर्योंका यथेच्छ उपभोग करता है ॥ १ ॥

बलवान्, उग्र, श्रेष्ठनेता, बलवान् वीर अपने बाहुओंसे चार धाराओंवाले वज्रको यश प्राप्त करनेके लिए शत्रुपर फेंकता है। वह नदियोंके प्रदेशका संरक्षण करता है ॥ २ ॥

२५५ यो देवो देवतमो जायमानो महो वाजेभिर्महद्भिश्च शुष्मैः ।
दधानो वज्रं बाह्वोरुशन्तं द्याममेन रेजयत् प्र भूम ॥ ३ ॥
२५६ विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वी — द्यौर्ऋष्वाज्जनिमन् रेजत क्षाः ।
आ मातरा भरति शुष्म्या गो — र्नृवत् परिज्मन् नोनुवन्त वाताः ॥ ४ ॥
२५७ ता तू त इन्द्र महतो महानि विश्वेष्वित् सवनेषु प्रवाच्या ।
यच्छूर धृष्णो धृषता दधृष्वा — नहिं वज्रेण शवसाविवेषीः ॥ ५ ॥
२५८ ता तू ते सत्या तुविनृम्ण विश्वा प्र धेनवः सिस्रते वृष्ण ऊध्नः ।
अधा ह त्वद् वृषमणो भियानाः प्र सिन्धवो जवसा चक्रमन्त ॥ ६ ॥

अर्थ — [२५५] (यः देवः देवतमः) जो तेजस्वी श्रेष्ठ देव (जायमानः) उत्पन्न होकर (महः वाजेभिः महद्भिः शुष्मैः) बडे सामर्थ्योंसे और बडी शक्तियोंसे युक्त है, वह (बाह्वोः उशन्तं वज्रं दधानः) भुजाओंमें सुन्दर वज्रको धारण करता हुआ (अमेन) अपने बलसे (द्यां भूम रेजयत्) द्युलोक और भूमिको कंपाता है ॥ ३ ॥

[२५६] (जनिमन्) जन्मते ही (ऋष्वात्) इस महान् इन्द्रसे (विश्वा रोधांसि) सभी पहाड (पूर्वी प्रवतः) पूर्ण भरी नदियां (द्यौः क्षाः) द्युलोक और पृथ्वीलोक (रेजत) कांपने लगे। (शुष्मी) बलवान् यह इन्द्र (गोः मातरा) सूर्यकी माताओंको–द्यावापृथिवीको (आ भरति) धारण करता है। तथा (वाताः) वायु (नृवत्) मनुष्यके समान (परिज्मन् नोनुवन्त) अन्तरिक्षमें शब्द करते हैं ॥ ४ ॥

[२५७] हे (शूर धृष्णो इन्द्र) शूर और शत्रुओंका धर्षण करनेवाले इन्द्र ! (यत्) जो तूने (दधृष्वान्) लोकोंको धारण करते हुए (शवसा) बलसे (धृषता वज्रेण) शत्रुओंको मारनेवाले वज्रके द्वारा (अहिं अविवेषीः) अहिको मारा (महतः ते) महान् तेरे (ता महानि) वे महान् कर्म (विश्वेषु इत् सवनेषु) सभी यज्ञोंमें (प्रवाच्या) वर्णन करने योग्य हैं ॥ ५ ॥

१ महतः ते ता महानि विश्वेषु इत् सवनेषु प्रवाच्या — महान् इस इन्द्रके वे महान् कर्म सभी उत्तम उत्सवोंमें वर्णन करने योग्य हैं।

[२५८] हे (तुविनृम्ण) अत्यधिक बलशाली इन्द्र ! (ते ता विश्वा) तेरे वे सब कर्म (सत्या) यथार्थ हैं। हे (वृष्णः) बलवान् इन्द्र ! (धेनवः) गायें तेरे लिए (ऊध्नः सिस्रते) थनोंसे दूध चुआती हैं। (अध) और हे (वृषमनः) बलवान् मनवाले इन्द्र ! (त्वद् भियानाः) तुझसे डरती हुई (सिन्धवः) नदियां (जवसा चक्रमन्त) वेगसे बहती हैं ॥ ६ ॥

१ ते ता विश्वा सत्या — इन्द्रके वे सभी कर्म सत्य हैं, काल्पनिक नहीं।

भावार्थ — जो तेजस्वी श्रेष्ठ देव इन्द्र उत्पन्न होनेके साथ ही सामर्थ्यों और शक्तियोंसे युक्त हो जाता है। वह इन्द्र भुजाओंमें सुन्दर वज्रको धारण करके अपने बलसे द्युलोक और भूमिको कंपाता है ॥ ३ ॥

जन्मते ही इस महान् इन्द्रके बलसे पहाड, जलसे भरी हुई नदियां तथा सभी लोक कांपने लगे। यह बलवान् इन्द्र द्युलोक और पृथ्वी लोकको धारण करता है ॥ ४ ॥

हे शूर और शत्रुओंको हरानेवाले इन्द्र ! जो तूने लोकोंको धारण किया और अपने बल और वज्रसे अहिको मारा। महान् इन्द्रके ये महान् कर्म सभी उत्सवोंमें वर्णन करने योग्य हैं ॥ ५ ॥

अत्यधिक बलशाली इन्द्रके सभी कर्म सत्य हैं। इन्हें असत्य या काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। इसी इन्द्रसे प्रेरित होकर गायें अपने थनोंसे दूध चुआती हैं। हे मनस्वी इन्द्र ! नदियां भी तुझसे डरकर वेगसे बहती हैं ॥ ६ ॥

×

२५९ अत्राह ते हरिवस्ता उ देवी—रवोभिरिन्द्र स्तवन्त स्वसारः ।
यत्‌ सीमनु प्र मुचो बद्बधाना दीर्घामनु प्रसितिं स्यन्दयध्यै ॥ ७ ॥
२६० पिपीळे अंशुर्मद्यो न सिन्धु—रा त्वा शमी शशमानस्य शक्तिः ।
अस्मद्र्यक्‌ शुशुचानस्य यम्या आशुर्न रश्मिं तुव्योजसं गोः ॥ ८ ॥
२६१ अस्मे वर्षिष्ठा कृणुहि ज्येष्ठा नृम्णानि सत्रा सहुरे सहांसि ।
अस्मभ्यं वृत्रा सुहनानि रन्धि जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्य ॥ ९ ॥
२६२ अस्माकमित्‌ सु शृणुहि त्वमिन्द्रा—ऽस्मभ्यं चित्राँ उप माहि वाजान्‌ ।
अस्मभ्यं विश्वा इषणः पुरंधी—रस्माकं सु मघवन्‌ बोधि गोदाः ॥ १० ॥

अर्थ— [२५९] हे इन्द्र ! (यत्‌) जब तूने (सीं प्रसितिं दीर्घां) इस शक्तिशाली बडी नदीको (स्यन्दयध्यै प्र मुचः) बहनेके लिए मुक्त किया, तब हे (हरि-वः) घोडे रखनेवाले इन्द्र ! (बद्बधानाः ताः देवीः स्वसारः) [वृत्रके द्वारा] बांधे हुए उन दिव्य जलोंने (अवोभिः) रक्षण करनेके कारण (ते स्तवन्तः) तेरी स्तुति की ॥ ७ ॥

[२६०] हे इन्द्र ! (त्वा मद्यः अंशुः पिपीळे) तेरे लिए आनन्ददायक सोम पीस दिया गया है। (न सिन्धुः आ यम्याः) अब नदी सोमके पास आवे अर्थात्‌ सोमरसमें नदीका पानी मिलाया जावे (आशुः गोः तुवि- ओजसं रश्मिं न) जिस प्रकार तेजीसे जानेवाले घोडेके मजबूत लगाम सारथी अपनी तरफ खींचता है उसी तरह (शमी शक्तिः) शत्रुओंका नमन करने वाला शक्तिशाली यह सोम (शुशुचानस्य शशमानस्य अस्मद्र्यक्‌) तेजस्वी और स्तुतिके योग्य इन्द्रको हमारी तरफ आनेवाला करे ॥ ८ ॥

[२६१] हे (सहुरे) शत्रुका पराभव करनेवाले इन्द्र ! तू (अस्मे) हमारे लिए (सहांसि, वर्षिष्ठा, ज्येष्ठा) शत्रुका पराभव करनेवाले, श्रेष्ठ और प्रशस्त (नृम्णानि) पराक्रम (कृणुहि) कर। तथा (अस्मभ्यं सु-हननानि वृत्रा रन्धि) हमारे लिए अच्छी तरह मारने योग्य शत्रुओंका नाश कर और (वनुषः मर्त्यस्य वधः जहि) हिंसक मनुष्यके शस्त्रको भी नष्ट कर ॥ ९ ॥

१ हे सहुरे ! अस्मे सहांसि वर्षिष्ठा ज्येष्ठा नृम्णानि कृणुहि— हे शत्रुका पराभव करनेवाले वीर ! हमारे हितके लिए शत्रुको पराभूत करनेवाले श्रेष्ठ और प्रशंसित पराक्रम तू कर।

२ अस्मभ्यं सुहननानि वृत्रा रन्धि— हमारे लिये वध्य शत्रुओंको मार।

३ वनुषः मर्त्यस्य वधः जहि— हिंसक मनुष्यके शस्त्रको नष्ट कर।

[२६२] हे इन्द्र ! तू (अस्माकं इत्‌ सु शृणुहि) हमारी ही प्रार्थनाको अच्छी तरह सुन तथा (त्वं अस्मभ्यं चित्रान्‌ वाजान्‌) तू हमारे लिए अनेक तरहके अन्न (उप माहि) दे। (अस्मभ्यं विश्वाः पुरन्धिः इषणः) हमारी तरफ सब बुद्धियोंको प्रेरित कर, हे (मघवन्‌) ऐश्वर्यवान्‌ इन्द्र ! (गो-दाः) गायोंको देनेवाला तू (अस्माकं सु बोधि) हमें ज्ञानवान्‌ कर ॥ १० ॥

१ त्वं अस्मभ्यं चित्रान्‌ वाजान्‌ उप माहि— तू हमारे लिये अनेक प्रकारके अन्न, भोग तथा बल दे।

२ गोदाः अस्माकं बोधि— हमें गायें और ज्ञान दे।

भावार्थ— जब इन्द्रने अपरिमित शक्तिसे सम्पन्न नदियोंके प्रवाहोंको बहनेके लिए मुक्त किया, तब वे शब्द करती हुई बहने लगीं, मानों इस ध्वनिसे वे इन्द्रकी स्तुति कर रही हों ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! तेरे लिए यह सोमरस निकालकर उसमें पानी मिलाकर तैय्यार कर दिया गया है। यह सोमरस इन्द्रको हमारी तरफ उसी तरह खींचकर लाये कि जिसप्रकार तेजीसे जानेवाले घोडोंकी लगाम सारथी अपनी तरफ खींचता है ॥ ८ ॥

हे शत्रुको परास्त करनेवाले वीर ! हमारे हितके लिए शत्रुको पराजित करनेवाले श्रेष्ठ और प्रशंसित पराक्रम तू कर। तू हमारी रक्षा करनेके लिए हमारे वध्य शत्रुओंको मार। हिंसक मनुष्यके शस्त्रको नष्ट कर ॥ ९ ॥

२६३ नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

[२३]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः, ८-१० ऋतं वा । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

२६४ कथा महामवृधत् कस्य होतु-र्यज्ञं जुषाणो अभि सोममूधः ।
पिबन्नुशानो जुषमाणो अन्धो ववक्ष ऋष्वः शुचते धनाय ॥ १ ॥

२६५ को अस्य वीरः सधमादमाप समानंश सुमतिभिः को अस्य ।
कदस्य चित्रं चिकिते कदूती वृधे भुवच्छशमानस्य यज्योः ॥ २ ॥

अर्थ— [२६३] (नद्यः न) जिसतरह नदियां जलसे पूर्णकी जाती हैं, उसीतरह हे इन्द्र ! (स्तुतः गृणानः) स्तुत और प्रशंसित होकर तू (जरित्रे इषं पीपेः) स्तोताको अन्न भरपूर दे । हे (हरिवः) घोडोंको पालनेवाले इन्द्र ! मैंने (ते) तेरे लिए (धिया नव्यं ब्रह्म अकारि) बुद्धिपूर्वक नये स्तोत्रको बनाया है । हम (रथ्यः सदासाः स्याम) रथसे तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

[२३]

[२६४] (महा कथा अवृधत्) उस महान् इन्द्रको कैसे बढाया ? वह (कस्य होतुः यज्ञं जुषाणः अभि) किस होताके यज्ञका सेवन करेगा ? तथा (ऊधः सोमं पिबन्) गौ दूधसे मिश्रित सोमको पीता हुआ और (उशानः अन्धः जुषमाणः) इच्छापूर्वक अन्नका सेवन करता हुआ वह (ऋष्वः) महान् इन्द्र (शुचते धनाय ववक्ष) तेजस्वी धनको प्राप्त कराता है ॥ १ ॥

[२६५] (अस्य सधमादं) इस इन्द्रके साथ बैठनेके आनन्दको (कः वीरः आप) कौन वीर प्राप्त करता है ? (कः अस्य सुमतिभिः सं आनंश) कौन इसकी उत्तम बुद्धियोंसे युक्त होता है ? (अस्य चित्रं कद् चिकिते) इसके अनेक तरहके धनको कौन जानता है ? तथा यह इन्द्र (शशमानस्य यज्योः) स्तुति करनेवाले यजमानको (वृधे) बढानेके लिए (ऊती) संरक्षणके साधनोंसे युक्त (कद् भुवत्) कब होगा ? ॥ २ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! तू हमारी प्रार्थनाको अच्छी तरह सुन और हमारे लिए अनेक तरहके अन्न दे । हमारी बुद्धियोंको उत्तम मार्गमें प्रेरित कर । तू हमें ज्ञानवान् कर ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं, अतः तू, जैसे नदियां मनुष्यको पानी देती हैं, उसी तरह हमें बचा दे । हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते हैं । तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

उस महान् इन्द्रको किस तरह बढाया जाए, और वह किस भक्तकी हविका सेवन करेगा, यह जानने योग्य बात है । वह जिस भक्तके द्वारा दिए गए सोमको पीता है, उस भक्तको वह तेजस्वी धन प्रदान करता है ॥ १ ॥

इस इन्द्रके साथ बैठनेके आनन्दको कौनसा वीर प्राप्त करता है ? कौन इसकी उत्तम बुद्धियोंसे युक्त होता है ? कौन इसके अनेक तरहके धनको जानता है ? यह इन्द्र अपने स्तोताकी रक्षा करनेके लिए साधनोंसे युक्त कब होता है ? यह सभी बातें कठिनतासे जानी जाती हैं ॥ २ ॥

२६६ कथा शृणोति हूयमानमिन्द्रः कथा शृण्वन्नवसामस्य वेद ।
का अस्य पूर्वीरुपमातयो ह कथैनमाहुः पपुरिं जरित्रे ॥ ३ ॥

२६७ कथा सबाधः शशमानो अस्य नशदभि द्रविणं दीध्यानः ।
देवो भुवन्नवेदा म ऋतानां नमो जगृभ्वाँ अभि यज्जुजोषत् ॥ ४ ॥

२६८ कथा कदस्या उषसो व्युष्टौ देवो मर्तस्य सख्यं जुजोष ।
कथा कदस्य सख्यं सखिभ्यो ये अस्मिन् कामं सुयुजं ततस्रे ॥ ५ ॥

अर्थ— [२६६] (इन्द्रः) इन्द्र (हूयमानं) बुलानेवालेकी प्रार्थनाको (कथा शृणोति) कैसे सुनता है ? तथा (शृण्वन्) प्रार्थनाको सुनकर वह इन्द्र (अस्य अवसां कथा वेद) इस स्तोताके संरक्षणके मार्गको कैसे जानता है ? (अस्य पूर्वीः उपमातयः काः) इसके बहुतसे दान कौन कौनसे हैं ? तथा (जरित्रे पपुरिं एनं) स्तोताकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले इसका लोग (कथं आहुः) किस प्रकार वर्णन करते हैं ? ॥ ३ ॥

[२६७] (सबाधः शशमानः दीध्यानः) आपत्तियोंमें पडा हुआ और स्तुति करनेवाला तेजस्वी यजमान (अस्य द्रविणं कथा अभिनशत्) इस इन्द्रके धनको कैसे प्राप्त करेगा ? (जगृभ्वान्) शत्रुओंको पकडनेवाला इन्द्र (यत् नमः जुजोषत्) जब अन्नका सेवन करता है, तब वह (देवः) देव इन्द्र (मे ऋतानां नवेदाः भुवत्) मेरे यज्ञोंको अच्छी तरह जाननेवाला होता है ॥ ४ ॥

[२६८] (देवः) यह देव इन्द्र (अस्याः उषसः व्युष्टौ) इस उषःकालके उदय होने पर (मर्त्यस्य सख्यं) मनुष्यकी मित्रताको (कथा कद् जुजोष) कैसे और कब प्राप्त करेगा ? (ये अस्मिन् सु- युजं कामं ततस्रे) जो इस इन्द्रके पाससे सुयोग्य इच्छाको सफल करना चाहते हैं उन (सखिभ्यः) मित्रोंके लिए (अस्य सख्यं कत् कथा) इसकी मित्रता कब और कैसे प्राप्त होगी ? ॥ ५ ॥

१ ये अस्मिन् सुयुजं कामं ततस्रे, सखिभ्यः अस्य सख्ये कथा — जो भक्त इसमें अपनी सुयोग्य कामना सफल करना चाहते हैं, उन मित्रोंके लिये इसकी मित्रकी कब प्राप्त होगी ?

भावार्थ— वह इन्द्र बुलानेवालेकी प्रार्थनाको कैसे सुनता है ? प्रार्थनाको सुनकर भी वह स्तोताकी रक्षा किस तरह करता है ? स्तोताओंको दिए जानेवाले इसके दान कौन कौनसे हैं ? कामनाओंको पूरा करनेवाले इस इन्द्रका लोग किस तरह वर्णन करते हैं ? यह भी आश्चर्यकारक बातें हैं ॥ ३ ॥

जब कोई भक्त आपत्तिमें पड जानेके कारण सच्चे हृदयसे इन्द्रकी प्रार्थना करता है, तब वह इन्द्रके धनको किस तरह प्राप्त करता है, अर्थात् इन्द्र अपने इस भक्तकी रक्षा कैसे करता है, यह जानना कठिन है। शत्रुओंको पकडनेवाला यह इन्द्र भक्तोंके द्वारा दिए गए अन्नका सेवन करता है, तब वह यज्ञोंको अच्छी तरह जानता है ॥ ४ ॥

जो इस इन्द्रके पाससे सुयोग्य इच्छाको सफल करना चाहते हैं, उन मित्रोंके लिए इसकी मित्रता कब और कैसे प्राप्त होगी और यह देव इन्द्र भी मनुष्यकी मित्रता किस तरह प्राप्त करेगा इसका मार्ग खोजना चाहिए ॥ ५ ॥

२६९ किमादमंत्रं सुख्यं सखिभ्यः कदा नु ते भ्रात्रं प्र ब्रवाम ।
श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्व१र्ण चित्रतममिष आ गोः ॥ ६ ॥
२७० द्रुहं जिघांसन् ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका ।
ऋणा चिद् यत्र ऋणया न उग्रो दूरे अज्ञाता उषसो बबाधे ॥ ७ ॥
२७१ ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥ ८ ॥

अर्थ— [२६९] हम (सखिभ्यः) मित्रोंके सामने तेरी (अमत्रं सख्यं) शत्रुके आक्रमणसे रक्षा करनेवाली मित्रताका (किं आत् प्रब्रवाम) किस तरह वर्णन करें, तथा (ते भ्रात्रं) ते भ्रातृत्वका वर्णन हम (कदा) कब करें ? (सुदृशः अस्य) सुन्दर दीखनेवाले इस इन्द्रकी (सर्गाः श्रिये) सृष्टियां सबके आश्रयके लिए हैं। (स्वः न) सूर्यके समान तेजस्वी और (गोः) सब जगह जानेवाले इस इन्द्रके (चित्रतमं वपुः) अत्यन्त सुन्दर तेजको सब (आ इषे) चाहते हैं ॥ ६ ॥

१ अस्य सुदृशः सर्गाः श्रिये— इस सुन्दर इन्द्रकी रचनाएं सबके आश्रय करनेके लिये हैं।
२ अम-त्रं सख्यं प्र ब्रवाम— शत्रुसे रक्षण करनेवाली मित्रताका हम वर्णन करते हैं।
३ स्वः न, गोः चित्रतमं वपुः आ इषे— सूर्यके समान तेजस्वी और सब जगह जानेवाले इस इन्द्रके अत्यन्त सुन्दर तेजको सब चाहते हैं।

[२७०] (द्रुहं, ध्वरसं, अन्-इन्द्रां जिघांसन्) द्रोह करनेवाले और इन्द्रको न माननेवाले अर्थात् नास्तिकोंको मारनेकी इच्छा करते हुए इन्द्रने (तुजसे) उन्हें मारनेके लिए (तिग्मा अनीका) तीक्ष्ण शस्त्रोंको (तेतिक्ते) और ज्यादा तीक्ष्ण किया। (ऋण-या उग्रः) ऋणको दूर करनेवाला और वीर इन्द्र (अज्ञाताः उषसः) आनेवाली उषाओंमें (नः ऋणा चित्) हमारे ऋणोंको भी (दूरे बबाध) दूरसे ही नष्ट करता है ॥ ७ ॥

१ द्रुहं, ध्वरसं, अनिन्द्रां जिघांसन् तुजसे तिग्मा अनीका तेतिक्ते— द्रोही, विनाशक और नास्तिकको मारनेके लिये इन्द्रने तीक्ष्ण आयुधों को अधिक तीक्ष्ण किया।
२ ऋणया उग्रः नः ऋणा दूरे बबाध— ऋण दूर करनेवाले इन्द्रने हमारे ऋणोंको दूर किया।

[२७१] (ऋतस्य शुरुधः पूर्वीः सन्ति) ऋतकी शक्तियां बहुत हैं, (ऋतस्य धीतिः वृजनानि हन्ति) ऋतकी बुद्धि पापोंको नष्ट कर देती है। (ऋतस्य बुधानः शुचमानः श्लोकः) ऋतके ज्ञानयुक्त और तेजस्वी स्तोत्र (आयोः कर्णा बधिरा ततर्द) मनुष्यके कानोंको बहरा कर देते हैं ॥ ८ ॥

१ ऋत— सत्य, ठीक, यज्ञ, पानी, आदरणीय, उचित
२ ऋतस्य शुरुधः पूर्वीः सन्ति— उचित कर्तव्यकी शक्तियां अनन्त हैं, पहिलेसे हैं।
३ ऋतस्य धीतिः वृजनानि हन्ति— उचित बुद्धि पापोंको नष्ट करती है।
४ ऋतस्य बुधानः शुचमानः श्लोकः आयोः कर्णा बधिरा ततर्द— सत्यके ज्ञानमय और शुद्ध स्तोत्र मनुष्यके कानोंको बधिर करते हैं। इतने वे स्तोत्र बडे होते हैं।

भावार्थ— सुन्दर दीखनेवाले इस इन्द्रकी सृष्टिभी सुन्दर है। यह सृष्टि त्यागने योग्य नहीं है, यह सबके आश्रय लेनेके योग्य है। इसी सृष्टिमें रहकर इन्द्रके सुन्दर तेजको प्राप्त किया जा सकता है ॥ ६ ॥

द्रोह करनेवाले, हिंसा करनेवाले और इन्द्रको न माननेवाले अर्थात् नास्तिकोंको मारनेके लिए इन्द्र अपने शस्त्रोंको तीक्ष्ण करता है। वह इन्द्र ऋणोंको दूर करनेवाला है। वह हमारे ऊपर लदे हुए ऋणोंको भी दूर करे ॥ ७ ॥

उत्तम कर्तव्यमें अनन्त शक्तियां भरी होती हैं। उत्तम बुद्धियां पापोंको नष्ट करती हैं। उत्तम स्तुतियां दुष्ट मनुष्योंके कानोंको बहरा कर देती हैं अर्थात् उत्तम स्तुतियां दुष्ट मनुष्योंके कानोंको अच्छी नहीं लगतीं, इसलिए वह मानों उन स्तुतियोंके प्रति बहरा बन जाता है ॥ ८ ॥

२७२ ऋतस्यं दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥ ९ ॥
२७३ ऋतं येमान ऋतमिद् वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः ।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते ॥ १० ॥
२७४ नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्योऽ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

[२४]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप्, १० अनुष्टुप् ।]

२७५ का सुष्टुतिः शवसः सूनुमिन्द्रमर्वाचीनं राधस आ ववर्तत् ।
ददिर्हि वीरो गृणते वसूनि स गोपतिर्निष्षिधां नो जनासः ॥ १ ॥

अर्थ—[२७२] (वपुषे ऋतस्य वपूंषि) बलवान् ऋतके शरीर (दृळ्हा, धरुणानि चन्द्रा पुरूणि) दृढ, धारण करनेवाले, आनन्ददायक और बहुतसे (सन्ति) हैं। लोग (ऋतेन) ऋतसे (दीर्घं पृक्षः इषणन्त) बहुत अधिक अन्न चाहते हैं। (ऋतेन गावः ऋतं आ विवेशु) ऋतकी सहायतासे गायें यज्ञमें प्रविष्ट होती हैं ॥ ९ ॥

१ ऋतस्य वपूंषि दृळ्हा, धरुणानि, चन्द्रा पुरूणि सन्ति— सत्यके शरीर सुदृढ, धारणक्षम, आनंददायी और अनेक होते हैं।

२ ऋतेन दीर्घं पृक्षः इषणन्त— सत्यसे बहुत अन्न लोग चाहते है। सत्यके पालनसे बहुत लाभ होते हैं।

[२७३] (ऋतं येमानः ऋत इत् वनोति) ऋतका पालन करनेवाला ऋतकी ही भक्ति करता है, (ऋतस्य शुष्मः तुरया उ गव्युः) ऋतका बल घोडे और गायोंको देनेवाला है। (ऋताय बहुले गभीरे पृथ्वी) ऋतके लिए विस्तीर्ण और गभीर द्यावापृथिवी और (ऋताय परमे धेनू दुहाते) ऋतके लिए ही उत्कृष्ट गायें दुहती हैं ॥ १० ॥

[२७४] (नद्यः न) जिस प्रकार नदियां जलसे पूर्ण होती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र ! (स्तुतः गृणानः) तेरी स्तुती और प्रशंसा करनेपर तू (जरित्रे इष पीपेः) स्तोताको अन्नसे पूर्ण करता है। मैंने (ते) तेरे लिए (धिया नव्यं ब्रह्म अकारि) बुद्धिपूर्वक नया स्तोत्र बनाया है। हम (रथ्यः सदासाः स्याम) रथ और दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

[२४]

[२७५] (का सु- स्तुतिः) कौनसी उत्तम स्तुति (शवसः सूनुं अर्वाचीनं इन्द्र) बलके लिये प्रसिद्ध और हमारी तरफ आनेवाले इन्द्रको हमें (राधसे आ ववर्तत्) धन देनेके लिए प्रवृत्त करेगी ? हे (जनासः) मनुष्यो ! (वीरः गोपतिः इन्द्रः) वीर और गायोंका पालन करनेवाला वह इन्द्र (निष्षिधां वसूनि) शत्रुओंके धनोंको (गृणते नः ददिः हि) स्तुति करनेवाले हमें देगा ! ॥ १ ॥

१ वीरः निः षिधां वसूनि गृणते ददिः— शूरवीर शत्रुके धनोंको स्तुति करनेवालेको देता है।

भावार्थ— सत्य अर्थात अविनाशी देवके शरीर दृढ, धारण करनेवाले, आनन्ददायक और अनेक हैं। मनुष्य इस अविनाशी देवको प्रसन्न करके बहुत अधिक अन्न चाहते हैं। इस अविनाशी देवकी सहायतासे गायें अर्थात् इन्द्रियां उत्तम कर्मोंकी तरफ प्रवृत्त होती हैं ॥ ९ ॥

ऋतका पालन करनेवाला ऋतकी ही भक्ति करता है। इस अविनाशी देवका बल घोडे और गायोंको देनेवाला है। इसी देवसे प्रेरित होकर द्युलोक और पृथ्वीलोक विस्तीर्ण और गंभीर हुए हैं। इसी देवसे प्रेरित होकर गायें उत्तम पदार्थ दुहती हैं ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं, अतः तू जैसे नदियां मनुष्योंको पानी देती हैं, उसी तरह हमें अन्न दे। हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते हैं। तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

हे ज्ञानियो ! वीर और गायोंका पालन करनेवाला वह इन्द्र हमें शत्रुओंका धन देगा भला ? यदि देगा तो वह कौनसी स्तुति है, जो इन्द्रको हमें धन देनेके लिए प्रवृत्त करेगी ? ॥ १ ॥

२७६ स वृत्रहत्ये हव्यः स ईड्यः　स सुष्टुत इन्द्रः सत्यराधाः ।
स यामन्ना मघवा मर्त्याय　ब्रह्मण्यते सुष्वये वरिवो धात्　॥ २ ॥
२७७ तमिन्नरो वि ह्वयन्ते समीके　रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत त्राम् ।
मिथो यत् त्यागमुभयासो अग्मन्　नरस्तोकस्य तनयस्य सातौ　॥ ३ ॥
२७८ क्रतूयन्ति क्षितयो योग उग्रा ऽऽशुषाणासो मिथो अर्णसातौ ।
सं यद् विशोऽववृत्रन्त युध्मा　आदिन्नेम इन्द्रयन्ते अभीके　॥ ४ ॥

अर्थ— [२७६] (सः वृत्रहत्ये यामन् हव्यः) वह इन्द्र वृत्रको मारनेवाले युद्धमें सहायार्थ बुलाने योग्य है, (सः ईड्यः) वह प्रशंसनीय है, (सः सु-स्तुतः इन्द्रः सत्यराधाः) वह इन्द्र उत्तम प्रकारसे स्तुति करने पर सच्चे ऐश्वर्यको देनेवाला होता है, (सः मघवा) वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (ब्रह्मण्यते सुष्वये मर्त्याय) स्तुति करनेवाले तथा सोम तैय्यार करनेवाले मनुष्यके लिए (वरिवः धात्) श्रेष्ठ धन देता है ॥ २ ॥

१ सः सुस्तुतः इन्द्रः सत्यराधाः— वह इन्द्र उत्तम प्रकारसे स्तुति करनेपर सच्चे ऐश्वर्यको देनेवाला होता है ।

[२७७] (नरः) मनुष्य (समीके तं इत् विह्वयन्ते) युद्धमें उसी इन्द्रको अपने सहायार्थ बुलाते हैं । (यत्) जब (रिरिक्वांसः) तपसे तेजस्वी मनुष्य इन्द्रको (तन्वः त्राम् कृण्वत) अपने शरीरका रक्षक बनाते हैं तब (उभयासः नरः मिथः) दोनों तरहके मनुष्य संगठित होकर (तोकस्य तनयस्य सातौ) पुत्र और पौत्रकी प्राप्ति (त्यागं अग्मन्) करानेवाले इस इन्द्रके पास जाते हैं ॥ ३ ॥

१ नरः समीके तं विह्वयन्त— मनुष्य युद्धमें अपनी सहायताके लिये उस वीरको बुलाते हैं ।
२ रिरिक्वांसः तन्वः त्रां कृण्वत— तेजस्वी लोग अपने शरीरकी सुरक्षा करते हैं ।
३ उभयासः नरः मिथः तोकस्य तनयस्य सातौ त्यागं अग्मन्— दोनों प्रकारके लोग परस्पर पुत्र पौत्रोंके लाभके लिये त्याग करते हैं अपने बालबच्चोंके लाभ करनेके लिये स्वयं त्याग करते हैं ।

[२७८] (उग्राः अशुषाणासः क्षितयः) वीर और प्रयत्न करनेवाले मनुष्य (मिथः) मिलकर (अर्णसातौ योगे) धनादिकी प्राप्ति होनेवाले युद्धमें (क्रतूयन्ति) पराक्रम करते हैं । (यत् युध्माः विशः अभीके अववृत्रन्त) जब युद्ध करनेवाली प्रजायें युद्धमें संगठित होती हैं (आत् इत् नेमे) तब युद्ध ही करनेवाले (इन्द्रयन्ते) इन्द्रको अपने सहायार्थ बुलाते हैं ॥ ४ ॥

१ उग्राः आशुषाणाः क्षितयः मिथः अर्णसातौ योगे क्रतूयन्ति— उग्र प्रयत्नशील वीर मिलकर युद्धमें यश मिलनेके लिये प्रयत्न करते हैं ।
२ युध्मा विशः अभीके अववृत्रन्त आत् इत् नेमे इन्द्रयन्ते— युद्ध करनेवाले वीर युद्धमें संगठित होते हैं, तब वे अपनी सहायताके लिये इन्द्रको बुलाते हैं ।

भावार्थ— वह इन्द्र वृत्रको मारनेवाले युद्धमें सहाय्यार्थ बुलाने योग्य है, वह प्रशंसनीय है । वह उत्तम स्तुति करनेवालेको सच्चे तथा अविनाशी ऐश्वर्य प्रदान करता है । वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र स्तुति तथा सोम तैय्यार करनेवालेको श्रेष्ठ धन देता है ॥ २ ॥

मनुष्य युद्धमें अपनी सहायताके लिए उस वीरको बुलाते हैं । तेजस्वी जन अपने शरीरकी सुरक्षा करते हैं । शिक्षित और अशिक्षित दोनों तरहके लोग पुत्र- पौत्रोंके लाभके लिए त्याग करते हैं । अपने बालबच्चोंके सुखके लिए अपने सुखोंका त्याग करते हैं ॥ ३ ॥

वीर और प्रयत्न करनेवाले मनुष्य संगठित होकर धनप्राप्तिके लिए युद्धमें पराक्रम करते हैं । जब प्रजायें पहले स्वयं संगठित होकर अपना पराक्रम दिखाती हैं, तभी इन्द्र भी उनकी सहायताके लिए आता है ॥ ४ ॥

२७९ आदिद्ध नेमं इन्द्रियं यजन्त आदित् पक्तिः पुरोळाशं रिरिच्यात् ।
आदित् सोमो वि पपृच्यादसुष्वी-नादिज्जुजोष वृषभं यजध्यै ॥ ५ ॥
२८० कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थे-न्द्राय सोममुशते सुनोति ।
सध्रीचीनेन मनसाविवेनन् तमित् सखायं कृणुते समत्सु ॥ ६ ॥
२८१ य इन्द्राय सुनवत् सोममद्य पचात् पक्तीरुत भृज्जाति धानाः ।
प्रति मनायोरुचथानि हर्यन् तस्मिन् दधद् वृषणं शुष्ममिन्द्रः ॥ ७ ॥

अर्थ— [२७९] (आत् इत्) इसके बाद (नेमे) योद्धागण (इन्द्रियं यजन्ते) इन्द्रकी शक्तिका यजन करते हैं, (आत् इत्) इसके बाद (पक्तिः) पकाने वाला (पुरोळाशं रिरिच्यात्) पुरोडाशको पकाता है, (आत् इत्) इसके बाद ही (सोमः) सोमयज्ञ करनेवाला (असुष्वीन् पपृच्यात्) सोमयाग न करनेवालोंको दूर करता है। (आत् इत्) इसके बाद (यजध्यै वृषभं) यज्ञके लिए बलवान् इन्द्रकी (जुजोष) सेवा करते हैं ॥ ५ ॥

१ नेमे इन्द्रियं यजन्ते— कई वीर इंद्रियशक्तिसे सम्पन्न वीरको संमानित करते हैं।
२ वृषभं जुजोष— बलवान्‌की सेवा करते हैं।

[२८०] (इत्था) इस प्रकार (यः) जो हित करनेकी (उशते इन्द्राय) इच्छा करनेवाले इन्द्रके लिए (सोमं सुनोति) सोम निचोडता है, (अस्मै) इसके लिए यह इन्द्र (वरिवः कृणोति) धन देता है। यह इन्द्र (सध्रीचीनेन मनसा अविवेनन्) उत्तम मनसे [उस मनुष्यकी] हित करनेकी इच्छा करता हुआ (समत्सु) युद्धोंमें (तं इत् सखायं कृणुते) उसीको मित्र बनाता है ॥ ६ ॥

१ सध्रीचीनेन मनसा अविवेनन् समत्सु तं सखायं कृणुते— उत्तम मनसे जनहित करनेकी इच्छासे युद्धोंमें उसको ही वह मित्र करता है। सदिच्छावालेको मित्र करता है।

[२८१] (अद्य) आज (यः) जो (इन्द्राय सोमं सुनवत्) इन्द्रके लिए सोम निचोडेगा, (पक्तीः पचात्) पुरोडाश पकायेगा, (उत) और (धानाः भृज्जाति) धानकी खीलोंको भूनेगा, (तस्मिन्) उसके लिए (मनायोः) उत्तम मनवाला (इन्द्रः) इन्द्र (उचथानि हर्यन्) स्तोत्रोंको सुनता हुआ (वृषणं शुष्मं दधत्) अत्यन्त उत्तम बलको देगा ॥ ७ ॥

१ मनायोः वृषणं शुष्मं दधत्— मननशील वीर बलिष्ठको अधिक बल देता है। जो मननशील वीर अपना बल बढानेका यत्न करता है उसका बल वह बढाता है।

भावार्थ— इन्द्रकी पूजा सभी करते हैं, पर पूजा करनेके ढंग अलग अलग हैं। योद्धागण इन्द्रके शक्तिकी पूजा करते हैं और याजक गण सोम रसको प्रदान करके इन्द्रकी पूजा करते हैं। ये याजकगण सोमयज्ञ न करनेवाले नास्तिकोंको दूर करते हैं। तब वे बलवान् इन्द्रकी सेवा करते हैं ॥ ५ ॥

जो मनुष्य हित करनेकी इच्छा करनेवाले इन्द्रके लिए सोम निचोडता है, उसे यह इन्द्र भी धन प्रदान करता है यह इन्द्र उत्तम मनसे हित करनेकी इच्छा करता हुआ युद्धोंमें उसी सोमयज्ञ करनेवालेको मित्र बनाता है। उसीकी वह सहायता करता है ॥ ६ ॥

जो इन्द्रके लिए सोम निचोडकर, पुरोडाश पकाकर उसे देगा, उसे इन्द्र उसकी प्रार्थनाओंको सुनकर अत्यन्त उत्तम बल देगा ॥ ७ ॥

२८२ यदा समर्यं व्यचेदृघावा दीर्घं यदाजिमभ्यख्यदर्यः ।
अचिक्रदद् वृषणं पत्न्यच्छा दुरोण आ निशितं सोमसुद्भिः ॥ ८ ॥

२८३ भूयसा वस्नमचरत् कनीयो ऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन् ।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् ॥ ९ ॥

२८४ क इमं दशभिर्ममे न्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ।
यदा वृत्राणि जङ्घन दथैनं मे पुनर्ददत् ॥ १० ॥

२८५ नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

अर्थ— [२८२] (यदा) जब (ऋधावा) शत्रुओंको मारनेवाला इन्द्र (समर्यं वि अचेत्) अपने युद्धके वीरोंको विशेषरीतिसे जानता है, (यदा) जब (अर्यः) श्रेष्ठ इन्द्र (आजिं अभि अख्यत्) युद्धका वर्णन करता है, तब (दुरोणे) घरमें (पत्नी) इस इन्द्रकी पत्नी (सोमसुद्भिः निशितं) सोम इस निकालनेवालोंके द्वारा उत्साहित किए गए तथा (वृषणं) बलवान् इन्द्रके (अचिक्रदत्) यशका वर्णन करती है ॥ ८ ॥

[२८३] किसीने (भूयसा कनीयः वस्नं अचरत्) बहुत धन देकर थोडीसी चीज प्राप्त की, जब वह चीज (अविक्रीतः) कहीं बिकी नहीं, तो (पुनः यन्) उसने फिर जाकर (अकानिषं) पैसे वापिस मांगे, (सः भूयसा कनीयः न अरि रेचीत्) वह बेचनेवाला बहुत धन देकर थोडीसी चीज लेनेको तैय्यार न हुआ। (दीनाः दक्षाः) असमर्थ और चतुर (वाणं) जो कुछ बोल देते हैं, उसीको (वि प्र दुहन्ति) प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

[२८४] (मम इमं इन्द्रं) मेरे इस इन्द्रको (दशभिः धेनुभिः कः क्रीणाति) दस गायोंसे कौन खरीद सकता है ? हे खरीदनेवालो ! (यदा) जब यह इन्द्र (वृत्राणि जंघनत्) शत्रुओंको मार देगा (अथ) तब (एनं मे पुनः ददत्) इस इन्द्रको मुझे फिर वापस कर दो ॥ १० ॥

[२८५] (नद्यः न) जिसतरह नदियां जलोंसे पूर्ण हो जाती हैं, उसी तरह हे इन्द्र ! (स्तुतः गृणानः) स्तुत और प्रशंसित हुआ तू (जरित्रे इषं पीपेः) स्तोताको अन्नसे पूर्ण कर। मैंने (ते) तेरे लिए (धिया) बुद्धिसे (नव्यं ब्रह्म) नये स्तोत्रको (अकारि) किया है, हम (रथ्यः सदासः स्याम) रथ और दासोंसे युक्त हो ॥ ११ ॥

भावार्थ— जब कोई वीर योद्धा युद्धके तरीकोंको विशेष रीतिसे जान जाता है और वह युद्धका वर्णन करता है, तब घरमें बैठी हुई उसकी पत्नी भी अपने पराक्रमी पतिका वर्णन करती है, उसकी प्रशंसा करती है ॥ ८ ॥

मनुष्य अपनी आत्मारूपी अपार धनके बदलेमें संसारसुख रूपी अल्पसे पदार्थको ले लेते हैं, पर जब संसारसुख उन्हें किसी कामका प्रतीत नहीं होता, तब वे फिर संसारसुखके बदलेमें आत्मरूपी धनको लेना चाहते हैं, पर वह उन्हें नहीं मिल पाता, क्योंकि वे जो कुछ वाणीसे बोलते या कर्मसे करते हैं, उसीका फल वे प्राप्त करते हैं। यह मंत्र प्रतीक वादी है ॥ ९ ॥

मेरे इन्द्रको इस गायोंके बदलेमें कौन खरीद सकता है ? जो खरीदे, वह अपना काम करनेके बाद इन्द्र मुझे लौटा दे। मंत्रका रहस्य अस्पष्ट है ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं अतः तू जैसे नदियाँ मनुष्योंको पानी देती हैं उसी तरह हमें अन्न दे। हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते हैं। तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

x

[२५]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

२८६ को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्यं जुजोष ।
को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे ॥ १ ॥
२८७ को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥ २ ॥
२८८ को देवानामवो अद्या वृणीते क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे ।
कस्याश्विनाविन्द्रो अग्निः सुतस्यांऽशोः पिबन्ति मनसाविवेनम् ॥ ३ ॥
२८९ तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यंसज्ज्योक् पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम् ।
य इन्द्राय सुनवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् ॥ ४ ॥

[२५]

अर्थ— [२८६] (अद्य) आज (देवकामः उशन्) देवोंकी इच्छा करता हुआ तथा कामना करता हुआ (कः नर्यः) कौन मनुष्य (इन्द्रस्य सख्यं जुजोष) इन्द्रकी मित्रता प्राप्त करता है (वा) अथवा (सुतसोमः कः) सोमयज्ञ करनेवाला कौन यजमान (अग्नौ समिद्धे) अग्निके प्रज्वलित होने पर (पार्याय महे अवसे) दुःखोंसे पार होनेके लिये तथा बडे संरक्षणके लिए इन्द्रकी (ईट्टे) स्तुति करता है ॥ १ ॥

[२८७] ((सोम्याय) सोमको पीनेवाले इस इन्द्रकी (कः वचसा ननाम) कौन अपनी वाणीसे स्तुति करता है ? (वा) अथवा कौन इसका (मनायुः भवति) भक्त होना चाहता है ? कौन (उस्राः वस्त) गायोंको पालता है ? (इन्द्रस्य युज्यं कः) इन्द्रकी सहायताको कौन चाहता है, (सखित्वं कः) उसकी मित्रताको कौन चाहता है, (कः भ्रात्रं वष्टि) कौन उसके भाईपनेकी कामना करता है, तथा (कवये) उस दूर दर्शी इन्द्रको (कः ऊती) कौन अपने संरक्षणके लिये चाहता है ? ॥ २ ॥

[२८८] (अद्य) आज (देवानां अवः कः वृणीते) देवोंके संरक्षणको कौन पाता है ? तथा (आदित्यान्, अदितिं ज्योतिः) आदित्यों, अदिति और ज्योति रूपी उषाकी (कः ईट्टे) कौन स्तुति करता है ? (अश्विनौ, इन्द्रः अग्निः) अश्विनौ, इन्द्र और अग्नि (कस्य सुतस्य अंशोः) किसके निचोडे हुए सोम रसका (मनसा अविवेनं पिबन्ति) मनसे इच्छानुसार पीते है ? ॥ ३ ॥

[२८९] (यः) जो (नरे नर्याय नृणां नृतमाय) आगे ले जानेवाले, मनुष्योंका हित करनेवाले तथा नेताओंमें सर्वोत्तम नेता (इन्द्राय) इन्द्रके लिए (सुनवाम इति आह) सोम रस निकाले, ऐसा कहता है, (तस्मै) उसके लिए (भारतः अग्निः) भरणपोषण करनेवाला अग्नि (शर्म यंसत्) सुख देवे, तथा वह मनुष्य (उच्चरन्तं सूर्यं) उदय होते हुए सूर्यको (ज्योक् पश्यात्) बहुत कालतक देखे ॥ ४ ॥

१ उच्चरन्तं सूर्यं ज्योक् पश्यात्— उदय होनेवाले सूर्यको दीर्घ कालतक देखे । दीर्घायु हो ।

भावार्थ— देवोंकी इच्छा और कामना करता हुआ कौनसा मनुष्य इन्द्रकी मित्रता चाहता है ? अथवा सोमयज्ञ करनेवाला कौन यजमान अग्निके प्रज्वलित होने पर दुःखोंसे पार होनेके लिए इन्द्रकी स्तुति करता है ? ॥ १ ॥

सोम पिलानेसे पूर्व इस इन्द्रकी स्तुति कौन करता है ? इसका भक्त कौन हो सकता है ? इन्द्रका मित्र कौन है ? उसकी मित्रताको कौन प्राप्त करना चाहता है ? उसके भ्रातृत्वको कौन प्राप्त करना चाहता है ? उस दूरदर्शी इन्द्रको कौन अपने संरक्षणके लिए बुलाना चाहता है ? यह बातें मननीय हैं ॥ २ ॥

देवोंके संरक्षणको कौन प्राप्त करता है ? आदित्य, अदिति और ज्योति अर्थात् प्रकाशकी कौन स्तुति करता है ? अश्विनौ, इन्द्र और अग्नि आदि देव किसके द्वारा तैय्यार किए गए सोमरसको मनःपूर्वक पीनेकी इच्छा करते हैं ? ॥ ३ ॥

२९० न तं जिनन्ति बहवो न दुभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत् ।
प्रियः सुकृत् प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी ॥ ५ ॥
२९१ सुप्राव्यः प्राशुषाळेष वीरः सुष्वेः पक्तिं कृणुते केवलेन्द्रः ।
नासुष्वेरापिर्न सखा न जामिर्दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः ॥ ६ ॥
२९२ न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते ।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत् ॥ ७ ॥

अर्थ— [२९०] (तं) उस मनुष्यको (दभ्राः बहवः) थोडे और बहुतसे शत्रु भी (न जिनन्ति) नहीं जीत सकते, तथा (अदितिः) अदिति (अस्मै उरु शर्म यंसत्) इसके लिए महान् सुख देती है। (इन्द्रे) इन्द्रके लिए (सुकृत् प्रियः) उत्तम कर्म करनेवाला प्रिय होता है, (मनायुः प्रियः) यज्ञ करनेवाला प्रिय होता है, (सु-प्र-अवीः प्रियः) उत्तम मार्गसे जानेवाला इसे प्रिय होता है, तथा (सोमी अस्य प्रियः) सोम यज्ञ करनेवाला इस इन्द्रका प्यारा होता है ॥ ५ ॥

१ तं दभ्राः बहवः न जिनन्ति— उसको थोडे या बहुत शत्रु नहीं जीत सकते।

२ अदितिः अस्मै उरु शर्म यंसत्— प्रकृति उसको बडा सुख देती है।

३ इन्द्रे सुकृत्, मनायुः, सुप्रावीः प्रियः— इन्द्रको उत्तम कार्य करनेवाला, मननशील और उत्तम रक्षण करनेवाला प्रिय होता है।

[२९१] (प्राशुषाट् एषः वीरः इन्द्रः) शत्रुओंको मारनेवाला यह वीर इन्द्र (केवला) केवल (सु-प्र-अव्यः सुष्वेः) उत्तममार्ग पर चलनेवाले तथा सोम तैयार करनेवाले मनुष्यके ही (पक्तिं कृणुते) पुरोडाशको स्वीकार करता है। यह इन्द्र (असुष्वेः आपिः न) सोमयाग न करनेवालेका मित्र नहीं होता (न सखा) न सखा होता है (न जामिः) न भाई होता है अपितु (दुष्प्राव्यः अ-वाचः अवहन्ता इत्) बुरे मार्ग पर चलनेवाले और स्तुति न करनेवालेको यह मारनेवाला ही होता है ॥ ६ ॥

१ दुष्प्राव्यः अवाचः अव हन्ता वीरः — बुरे मार्गसे जानेवालेका, स्तुति न करनेवालेका मारनेवाला यह वीर है।

२ प्राशुषाट् एषः वीरः इन्द्रः केवला सु-प्र-अव्ययः पक्तिं कृणुते — शत्रुओंका संहारक यह वीर इन्द्र केवल उत्तम मार्ग पर चलनेवालेकी हविको ही स्वीकार करता है।

[२९२] (सुत-पाः इन्द्रः) सोमरसको पीनेवाला यह इन्द्र (असुन्वता रेवता पणिना) सोम न निचोनेवाले धनवान् पर कंजूस मनुष्यके साथ (सख्यं न सं गृणीते) मित्रता नहीं जोडता। वह इन्द्र (अस्य नग्नं वेदः खिदति) इस कंजूसके निरर्थक धनको नष्ट कर देता है, (हन्ति) और कंजूसको मार देता है, वह (केवला) केवल (सुष्वये पक्तये वि भूत्) सोमयज्ञ करनेवाले तथा पुरोडाश पकानेवालेका ही मित्र होता है ॥ ७ ॥

१ इन्द्रः रेवता पणिना सख्यं न सं गृणीते — यह इन्द्र धनवान् होकर भी कंजूसी करनेवाले मनुष्यके साथ मित्रता नहीं जोडता।

२ अस्य नग्नं वेदः खिदति — ऐसे कंजूस मनुष्यका धन निरर्थक होनेके कारण खेद करता है।

भावार्थ— जो मनुष्य ऐसा कहता है कि 'हम इन्द्रके लिए सोम तैय्यार करें' ऐसे नेता, मानवोंके हितकारी मनुष्योंको भरणपोषण करनेवाला अग्नि सुख प्रदान करे और ऐसा सर्वोत्तम मनुष्य उदय होते हुए सूर्यको चिरकाल तक देखे अर्थात् वह दीर्घकाल तक जीवित रहे ॥ ४ ॥

जो श्रेष्ठ नेता और प्रजाओंका हित करनेवाला मनुष्य है, उस मनुष्यको थोडोंकी तो बात ही क्या, बहुत सारे शत्रु भी मिलकर नहीं जीत सकते। अदिति अविनाशी माता ऐसे मनुष्यको महान् सुख देती है। इन्द्रको उत्तम कर्म करनेवाला, यज्ञ करनेवाला, उत्तम मार्गसे जानेवाला मनुष्य ही प्रिय होता है ॥ ५ ॥

शत्रुओंका विनाशक यह इन्द्र केवल उन्हींकी हवियोंको स्वीकार करता है, जो उत्तम मार्गसे जाते हैं। यह इन्द्र यज्ञ आदि उत्तम कर्म करनेवालेका न मित्र होता है और न भाई, वह तो ऐसे बुरे मार्ग पर चलनेवाले नास्तिकोंको मारनेवाला ही होता है ॥ ६ ॥

२९३ इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम् ।
इन्द्रं क्षियन्तं उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाज'न्तो हवन्ते ॥ ८ ॥

[२६]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः १-३ इन्द्रो वा । देवता- १-३ इन्द्रः, आत्मा वा, ४-७ श्येनः । छन्दः-त्रिष्टुप् ।]

२९४ अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥
२९५ अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥

अर्थ— [२९३] (परे अवरे मध्यमासः) उत्तम अधम और मध्यम कोटिके लोग (इन्द्रं हवन्ते) इन्द्रको सहायार्थ बुलाते हैं । (यान्तः अवसितासः इन्द्रं) चलते हुए और बैठे हुए लोग भी इन्द्रको बुलाते हैं । (क्षियन्तः युध्यमानाः इन्द्रं) घरमें बैठे हुए और युद्ध करते हुए लोग भी इन्द्रको सहायार्थ बुलाते हैं, तथा (वाजयन्तः नरः इन्द्रं हवन्ते) अन्नकी इच्छा करनेवाले मनुष्य भी इन्द्रको बुलाते हैं ॥ ८ ॥

[२६]

[२९४] (अहं मनुः अभवं) मैं मनु हुआ हूँ (अहं सूर्यः च) मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही (विप्रः कक्षीवान् ऋषिः) बुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि हूँ । (अहं आर्जुनेयं कुत्सं नि ऋंजे) मैंने अर्जुनीके पुत्र कुत्सको समर्थ किया है, (अहं कविः उशना) मैं ही दूरदर्शी उशना ऋषि हूँ, (मा पश्यत) मुझे देखो ॥ १ ॥

[२९५] (अहं आर्याय भूमिं अददां) मैंने श्रेष्ठ पुरुषोंके लिए भूमि दी, (अहं दाशुषे मर्त्याय वृष्टिं) मैंने दानशील मनुष्यके लिए पानी बरसाया । (अहं वावशानाः अपः अनयं) मैं ही शब्द करते हुए जलोंको आगे ले गया, और (देवासः मम केतं अनु आयन्) देव मेरे संकल्पके पीछे चले ॥ २ ॥

१ अहं आर्याय भूमिं अददां— मैंने श्रेष्ठ पुरुषोंके लिए भूमि दी ।
२ अहं दाशुषे मर्त्याय वृष्टिं— मैंने दानशील मनुष्यके लिए पानी बरसाया ।

भावार्थ— सोमको पीनेवाला यह इन्द्र यज्ञ न करनेवाले, धनवान् होकर भी कंजूसी करनेवालेके साथ मित्रता नहीं जोडता । ऐसे कंजूस मनुष्यका धन पडा पडा रोता रहता है । इन्द्र ऐसे कंजूसके धनको नष्ट कर देता है और उस कंजूसको भी मार देता है । वह इन्द्र तो केवल यज्ञ करनेवाले और हवि देने वाले मनुष्यसे ही मित्रता करता है ॥ ७ ॥

उत्तम, अधम और मध्यम कोटिके लोग, चलते हुए बैठे हुए, और युद्ध करते हुए लोग भी इन्द्रको बुलाते हैं, इसी तरह अन्नकी इच्छा करनेवाले मनुष्य भी इन्द्रको बुलाते हैं ॥ ८ ॥

मैं इन्द्र या आत्मा ही मनु हुआ हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही बुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि हूँ । मैंने ही अर्जुनीके पुत्र कुत्सको समर्थ किया है । मैं ही दूरदर्शी उशना कवि हूँ ॥ १ ॥

मुझ इन्द्रने ही श्रेष्ठ पुरुषोंके निवास करनेके लिए भूमि दी । मैंने ही दानशील मनुष्यके लिए पानी बरसाया । मैंने ही शब्द करते हुए बहनेवाले जलोंके प्रवाहोंको प्रेरित किया । सभी देव मुझ इन्द्रके पीछे चलते हैं । इन्द्र परमात्मा है, इसी परमात्माकी आज्ञाके अनुसार सभी देव चलते हैं ॥ २ ॥

२९६ अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य ।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ३ ॥
२९७ प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा ।
अचक्रया यत् स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम् ॥ ४ ॥
२९८ भरद् यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि ।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र ॥ ५ ॥
२९९ ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम् ।
सोमं भरद् दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय ॥ ६ ॥

अर्थ— [२९६] (अहं मन्दसानः) मैंने आनन्दसे (शम्बरस्य नवः नवतीः पुरः) शम्बरासुरके निन्यानवे नगरोंको (साकं वि ऐरं) एक साथ नष्ट किया। तथा (यत्) जब (सर्वताता) यज्ञमें मैंने (अतिथिग्वं दिवोदासं) अतिथियोंको गौवें देनेवाले दिवोदासकी (आवं) रक्षा की, तब उसके लिए (शततमं वेश्यं) सौवे नगरको रहने योग्य बनाया ॥ ३ ॥

१ अहं शंबरस्य नवनवतीः पुरः साकं वि ऐरं— मैंने शंबरासुरकी निन्यानवे पुरियोंको एक साथ तोडा।

२ शततमं वेश्यं— सोवे नगरको रहने योग्य बनाया।

[२९७] (यत् सुपर्णः) जो उत्तम शक्तिशाली पंखोंवाला पक्षी (अचक्रया स्वधया) अपनी कभी भ्रान्त न होनेवाली शक्तिसे (मनवे) मनुके लिए (देव जुष्टं हव्यं) देवोंको प्रिय लगनेवाली हविको (भरत्) ले आया, हे (मरुतः) मरुतो ! (सः विः) वह सुपर्ण पक्षी (विभ्यः प्र) अन्य पक्षियोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली (अस्तु) हो। वह (श्येनः) श्येन पक्षी (श्येनेभ्यः आशुपत्वा) अन्य श्येनपक्षीयोंसे शीघ्रगामी हो ॥ ४ ॥

[२९८] (यदि) जब (विः) पक्षी (वेविजानः) सब लोकोंको कंपाता हुआ सोमको (अतः भरत्) उस लोक अर्थात् द्युलोकसे ले आया, तब वह (उरुणा पथा) विस्तृतमार्गमें (मनोजवा असर्जि) मनके वेगसे उडा। (उत) और वह पक्षी (सौम्येन मधुना) शान्ति प्रदान करनेवाले तथा मधुर रसको लेकर (तूयं ययौ) शीघ्रतासे आया, तब (श्येनः) उस श्येन पक्षीने (अत्र श्रवः विविदे) इस लोकमें यशको प्राप्त किया ॥ ५ ॥

[२९९] (परावतः अंशुं ददमानः) दूर देशसे सोमको लेकर (ऋजीपी) सरल मार्गसे जानेवाला, तथा (देवावान्) देवोंके साथ रहनेवाला (श्येनः शकुनः) श्येन पक्षी (मन्द्रं मदं सोमं) मधुर और आनन्ददायक सोम (अमुष्यात् उत्तरात् दिवः) उस ऊंचे द्युलोकसे (आदाय) लेकर (दृदहाणः) दृढ होकर (भरत्) ले आया ॥ ६ ॥

भावार्थ— मैंने आनन्दसे शम्बरासुरकी निन्यानवे नगरियोंको तोडा। जब मैंने अतिथियोंको गायें देनेवाले दिवोदासकी रक्षा की, तब उसके लिए सौवें नगरको रहनेके योग्य बनाया ॥ ३ ॥

उत्तम शक्तियोंवाली यह जीवात्मा जब देवों अर्थात् विद्वानोंको प्रिय लगनेवाले उस परमात्मतत्त्व रूप अमृतको प्राप्त कर लेती है, तब वह आत्मा अन्य आत्माओंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और शीघ्रगामी हो जाती है ॥ ४ ॥

जब यह जीवात्मा द्युलोक रूपी ब्रह्मरन्ध्रमें प्रविष्ट होकर वहां अमृततत्त्वको प्राप्त कर लेता है, तब उसके लिए असाध्य ऐसी कोई भी चीज नहीं रह जाती। इस अमृततत्त्वको प्राप्त कर लेनेके बाद उसका जीवन शान्त और मधुर हो जाता है और वह महान् यशको प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

यह श्येन पक्षी रूपी जीवात्मा सदा सरल मार्गसे जानेवाला, देवोंके साथ रहनेवाला है। यह द्युलोकसे सोम लाकर जब उसका आस्वादन करता है, तब वह बहुत शक्तिशाली हो जाता है ॥ ६ ॥

३०० आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् ।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ ७ ॥

[२७]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- श्येनः, ५ इन्द्रो वा । छन्दः- त्रिष्टुप्, ५ शक्वरी ।]

३०१ गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥ १ ॥

३०२ न घा स मामप जोषं जभाराऽभीमास त्वक्षसा वीर्येण ।
ईर्मा पुरंधिरजहादरातीरुत वाताँ अतरच्छूशुवानः ॥ २ ॥

३०३ अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद् यदि वात ऊहुः पुरंधिम् ।
सृजद् यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन् ॥ ३ ॥

अर्थ— [३००] (श्येनः) श्येन (सहस्रं अयुतं च सवान्) हजारों यज्ञोंके (साकं) साथ (सोमं आदाय अभरत्) सोमको लेकर उडा । (अत्र) इसके बाद (पुरंधिः अमूरः) अनेकों उत्तम कर्मोंको करनेवाले तथा बहुत ज्ञानवान् इन्द्रने (सोमस्य मदे) सोमके आनन्दमें (मूराः) मूर्ख (अरातीः) शत्रुओंको (अजहात्) मारा ॥ ७ ॥

[२७]

[३०१] (गर्भे नु सन्) गर्भमें रहकर (अहं) मैंने (एषां देवानां) इन देवोंके (विश्वा जनिमानि अवेदम्) सब जन्मोंको जान लिया । (शतं आयसीः पुरः मा अरक्षन्) सौ लौहमय नगरियोंने मेरी रक्षा की । (अधः) इसके बाद (श्येनः) श्येन होकर मैं (जवसा निः अदीयम्) वेगसे बाहर निकल आया ॥ १ ॥

[३०२] (सः) वह (मां जोषं न घ अप जभार) मुझे अच्छी तरह घेर नहीं पाया । मैंने ही (इदं) इसे (त्वक्षसा वीर्येण) तीक्ष्ण सामर्थ्यसे (अभि आस) घेर लिया । (ईर्मा) सबका प्रेरक (पुरंधिः) प्रज्ञावान् परमात्माने (आरातिः अजहात्) शत्रुओंको मारा । (शूशुवानः) परिपूर्ण परमात्माने (वातान्) वायुके समान वेगवान् शत्रुओंको भी मारा ॥ २ ॥

[३०३] (अध) तब सोम लानेके समय (यत्) जब (श्येनः) श्येनने (द्यौः) द्युलोकसे (अव अस्वनीत्) गर्जना की, तब (पुरंधिं) बुद्धिको बढानेवाले सोमको सोमरक्षकोंने (अतः वि ऊहुः) इस श्येनसे छीनना चाहा, तब (मनसा भुरण्यन्) मनोवेगसे जानेवाले (अस्ता) धनुर्धारी (कृशानुः) कृशानुने (ज्यां क्षिपत्) डोरी चढाई, और (अस्मा अव सृजात्) इस श्येन पर तीर छोडा ॥ ३ ॥

भावार्थ— जब श्येन पक्षी द्युलोकसे इस सोमको लाया, तब उसके साथ ही वह अनेकों तरहके यज्ञ भी लेता आया । उन यज्ञमें इन्द्रको सोम दिया जाने लगा, तब उसने उस सोमके आनन्दमें बहुतसे, मूर्ख शत्रुओंको मारा । इन्द्र स्वयं ज्ञानी है, इसलिए वह अज्ञानियोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

जहां सोम रखा हुआ था, वह देवोंकी नगरी थी, और वह स्थान सौ लोहेके नगरोंसे सुरक्षित था, पर श्येन उन देवोंकी कोई परवाह न करके उन सौ नगरियोंको पार कर गया और वहां जाकर सोम लेकर वेगसे उन नगरियोंसे बाहर निकल आया ॥ १ ॥

श्येन रूपी यह जीवात्मा जब सोम लानेके लिए द्युलोककी तरफ जाता है, तब उसे अनेक विघ्न घेर लेते हैं और उसके मार्गमें रोडे अटकाते हैं, पर वे विघ्न उसे घेर नहीं पाते, इसके विपरीत वही आत्मा अपनी शक्तिसे इन विघ्नों पर विजय प्राप्त कर लेती है । ऐसे समय सबके प्रेरक परमात्मा भी इसके सहायक होते हैं ॥ २ ॥

सोम लाते समय श्येन और सोमरक्षकोंमें युद्ध छिड गया, तब श्येनने गर्जना की और दूसरी तरफ सोमरक्षक श्येनसे सोम छुडानेकी कोशिश करने लगे । तब उन सोमरक्षकोंमेंसे एकने अपने धनुष पर डोरी चढाई और श्येनकी तरफ एक तीर चला दिया ॥ ३ ॥

Regd. No. G. 71

मुद्रक और प्रकाशक– व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसार]

वैदिकधर्म

अक्टूबर १९६९

५० पैसे



महात्मा गांधी जन्मशताब्दि

वैदिक धर्म



वर्ष ५० : अंक १० : भाद्रपद : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.००, विदेशके लिये रु. ८.०० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]

अल्प मूल्यमें] [अमूल्य उपहार

हमारा उद्देश्य

और

आपकी सहायता

आपकी यह लोकप्रियसंस्था स्वर्णजयन्ती मनाकर ५१ वें वर्षमें प्रविष्ट हुई है। इस शुभ अवसर पर "वेदोंका सर्वत्र प्रचार करके वैदिकधर्मके पांचजन्यका घोष गुंजाने" के उद्देश्यको पूरा करनेके लिए हमने श्री पं. श्री. दा. सातवलेकरजीके द्वारा सम्पादित चारों वेदसंहिताओंको रु. २०.०० के बजाय रु. १२.०० में देनेका निर्णय किया है। यह सुविधा चारों वेदोंके सम्पूर्ण सेटको खरीदनेवालेको ही मिल सकेगी। ग्राहकोंकी मांगपर अल्पमूल्यकी इस सुविधाकी अन्तिम तारीख बढाकर ३०-१०-१९६९ तक कर दी गई है।

साइज डबल क्राऊन १६ पेजी, पृ. सं. १९००। मूल्य १२.०० रु. केवल (डा. व्य. २.५० पृथक्)। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा। आज ही मंगाइये।

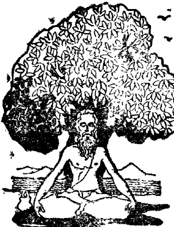
व्यवस्थापक,
स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
(जि. बलसार)

ऑर्डर भेजते समय इस विज्ञापनका उल्लेख अवश्य करें।

वैदिक धर्म

हम ऐश्वर्यके स्वामी बनें

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो
विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥



हे (प्रजापते) प्रजाओंका पालन करनेवाले देव ! (एता जातानि विश्वा) इन उत्पन्न हुए सब लोकोंको (परि बभूव) व्याप ले, ऐसा (त्वत् अन्यः न) तेरे सिवाय और कोई नहीं है। हम (यत्कामाः) जिन कामनाओंसे (ते जुहुमः) तुझे हवि देते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमारी अभिलाषायें पूर्ण हों, (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी हों।

उत्पन्न हुए सभी लोकोंको वही एक परमात्मा व्यापता है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस जगको व्याप नहीं सकता। उसकी उपासना और प्रार्थना करनेसे भक्त सब ऐश्वर्योंके स्वामी हो सकते हैं, इसलिए उस परमात्माकी उपासना करनी चाहिए।

मनपर विजय प्राप्त करनेका महामंत्र

(लेखक— श्री धर्मवीर आर्य, झंडाधारी)

卐

मन पर विजय प्राप्त करना आजकल इस युगमें तलवार-की धारसे भी कठिन अगम्य अद्भुत अलौकिक अकल्पनीय कार्य है।

मनको वशमें करना महर्षियों और शूरवीरों और ब्रह्मज्ञानियों, धर्मवीरों, धर्मात्माओं, पुराण आत्माओं नरनाहरों विश्ववंदनीय, अनुकरणीय नररत्नोंका ही काम है। इस संसारमें कंचन और कामिनीको देखकर रूप और सौन्दर्य-को देख कर निस्संदेह मनको वशमें करना सर्वथा असम्भव साही कार्य प्रतीत होता है।

यह ध्यान रहे मनको वशमें करलेना अति सुगम है। साथ ही यह भी याद रहे कि मन पर विजय प्राप्त किये बिना मानव जीवनमुक्त होता नहीं है।

मानव इसी जीवनमें मोक्ष अवस्थामें विचरण तभी कर पाता है, जब वह मनस्वी बनकर देवकी संज्ञाका अधिकारी बन जाता है।

मनपर विजय प्राप्त कर लेन पर मनुष्यके हृदय आकाशमें अभद्र कल्पनाओं और कुविचारोंका शूल भूल कर भी उठता नहीं है।

सिद्ध साधकोंकी आँखोंके सामने चाहे इन्द्रकी अप्सरायें अपना मनमोहक रूप क्यों न लेकर आयें उनके हाव भाव और सौन्दर्यकी ओर आत्मदर्शियों महात्माओं योगियोंकी आंखें उठती ही नहीं हैं।

मन पर विजय प्राप्त करने वाले महात्माओंकी दृष्टिमें इतनी पवित्रता आ जाती है, कि अमोघ आत्मतेज आत्म-बल, आत्मप्रकाश, आत्म अनुराग, अपरिमित आत्म उल्लास आत्म ओज, आत्म ज्योतियोंकी तरंगें प्रबल प्रवाहमें प्रवाहित होने लग जाती हैं। वह साधक संसारकी प्रत्येक वस्तुओंमें सुन्दर पदार्थोंमें दृष्टिके कण कणमें रूप और यौवनमें परमात्माका विश्व दर्शन करनेमें निमग्न हो जाता है. उसी ऊंची अवस्थामें मोक्ष अवस्थामें विचरण करनेवाले महात्माओंके दर्शनसे पापी भी पवित्र आत्मा होते देखे गये हैं।

आर्य समाजके जन्मदाता विश्व वंदनीय आदित्य ब्रह्मचारी महर्षि स्वामी दयानन्दके जीवनकी एक घटना है।

महर्षि दयानन्दके ब्रह्मचर्य बलको नष्ट करनेके लिये एक दिन कुछ दुष्टोंने एक अत्यन्त रूप और सौन्दर्यकी मूर्ति वेश्याको महर्षि दयानन्दके सामने भेजा पर इस समय महर्षि समाधिमें मस्त थे। मुखमंडल पर योगका तेज सूर्यकी किरणोंको भी मात करने वाला वास कर रहा था। स्वामीजीके पास आकर आभूषणोंको उतार कर वह वेश्या रोने लग जाती है।

जब उस आदित्य ब्रह्मचारीकी समाधी खुलती है तो महर्षि यह शब्द बोलते हैं कि वह गहने मेरे किस कामके है। बेटी परमात्मा करे तेरा जीवन आगे पवित्र बने।

बौद्धकालमें भी इसी प्रकारकी वेश्याओंका हृदय परि-वर्तन महात्मा बुद्धके उपदेशोंसे हुआ था।

मन पर विजय प्राप्त करनेका यह है मूंह बोलता जादू। मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर कामवासनायें भस्मसात् हो जाया करती हैं।

पराई स्त्रियोंको देखने पर माता बहिन और पुत्रीकी भद्रभावना जब तक नहीं आ जाती है, तब तक मनुष्य मनुष्य कहलाने योग्य नहीं बन पाता है।

मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर मोक्ष अवस्थाका सुख प्रतिपल साधकोंको महात्माओं और योगियोंको मिलने लग जाता है।

ऐसे जीवन-मुक्त जनोंके दर्शन कर लेनेसे मानवके भाग्य-का सितारा चमक जाता है।

मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर मनुष्य भूत भविष्य और वर्तमानका ज्ञाता बन जाता है।

मन पर विजय प्राप्त करने वाले महर्षि महात्मा योगी जन मनुष्यकी मुखाकृतिको देख कर उसके मनकी गुप्त सभी भावनाओंको संकल्प विकल्पोंको एक क्षणमें ही बतला दिया करते हैं। मन पर विजय प्राप्त करलेने पर चित्तवृत्तियां अति अतुलित शान्त और निरुद्ध हो जाती हैं।

मन पर विजय प्राप्त करने पर परमानन्दमें विचरण करनेमें मानव लग जाता है।

मन पर विजय प्राप्त करनेवाले महापुरुषोंको कोई आसक्ति नहीं रह जाती है।

विषय भोगोंसे इतना वैराग्य हो जाता है कि दुनियाके काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममतासे न्यारे महात्माजन हो जाया करते हैं।

विषय भोग उनके जीवनमें अति नीरस हो जाते हैं।

ऐसे महात्माओंको वैराग्य हो जाता है। अब एक प्रश्न यह है कि क्या गृहस्थाश्रममें भी रह कर कोई स्त्री या पुरुष मन पर विजय प्राप्त कर सकता है या नहीं?

इसका उत्तर यह है कि मन पर विजय प्राप्त एक गृहस्थी भी कर सकता है।

नगरोंमें रहकर हजारों स्त्री और पुरुषोंके बीचमें भी रहकर मनस्वी बन कर चित्तकी वृत्तियोंको निरुद्ध कर लेने पर मनमें कुवासनायें समाप्त हो जाने पर मनुष्य समाधि अवस्थामें समाहित हो जाने पर अपार आनन्दका अनुभव करने लग जाता है। और मन पर विजय सदाके लिये कर लेता है।

मनके हारे हार है मनके जीते जीत

जिस मनुष्यने अपने अति चंचल मन पर विजय प्राप्त कर लिया और यत्र, तत्र, सर्वत्र परमात्माकी दिव्य लीलाओं-का अवलोकन करने लग गया उसके आनन्दकी कोई सीमा नहीं रह जाती।

यह याद रहे कुलषित अपवित्र अभद्र भावनाओंमें रहकर मनुष्य मानसिक रोगोंसे ग्रसित हो जाया करते हैं।

अभद्र विचारोंके कारण मनुष्यको स्वप्नदोष जैसे भयंकर रोग ग्रसित कर लेते हैं।

मनको वश करलेने पर मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर मनुष्यकी काया कुन्दन और हीरा, मोती, नीलम पोखराजके समान होकर सूर्य और चंद्रके समान चमकने लग जाती है।

मनको वशमें कर लेने पर

मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर पूर्वजन्मोंकी विद्याओं-का प्रतिभा-प्रकाश पुंजका स्वामी मानव बन जाया करता है।

पूर्वजन्मोंकी संचित विद्याओं और विवेकके आधार पर अगम्य अथाह अकल्पनीय अद्भुत अलौकिक जटिल विषयोंपर लेखनी और वाणी धाराप्रवाह प्रवाहित होने लग जाती है।

पूर्वजन्मोंकी विद्याओंके आधार पर जीवन दर्शन, आत्म-दर्शन, तत्त्वदर्शन मोक्ष अवस्थाका पारावार ज्ञान गंगाका उमड़ता महासागरका दृश्य दृष्टिगत होने लग जाता है।

मन स्वयं मंगल बने। विश्व रमणीय है।

मन मंगल युक्त बन जाने पर विश्व रमणीय प्रतीत होने लग जाता है।

मनस्वी महापुरुषोंके जीवन सदनमें आनन्द उल्लासकी अमृत वर्षाकी सावन मनभावन जैसी झड़ियां लग जाती हैं।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

शिव संकल्पोंके सूर्यके उदित हो जानेपर मानवमें आत्म ज्योतियोंकी मोतियोंका प्रकाश चमक जाता है।

वेदोक्त जीवनके निर्माणके बिना कोई भी मनुष्य लाख जन्मोंमें भी मनपर विजय प्राप्त न कर सकेगा। वेद ही जीवनकी उन्नतिका मार्ग दिखलाते हैं। मनपर विजय प्राप्त किये बिना जीवन-मुक्त कोई होता नहीं है।

मन पर विजय प्राप्त किये बिना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सुखोंका अधिकारी सृष्टिके आदि कालसे अब तक कोई हुआ ही नहीं है।

मोक्ष अवस्थामें महर्षियोंकी स्वर्गत आत्माओंका दिव्य दर्शन मनस्वी पुरुषोंको होने लग जाता है। मनपर विजय प्राप्त कर लेनेपर ही मनुष्य परमात्माका अमृतपुत्र कहलाने-का अधिकारी अपने आपको बना पाता है।

मनपर विजय प्राप्त किये बिना यह याद रहे पुनः चौरासी लाख योनियोंके महाचक्रमें दारुण दुःखोंके साथ घूमना पड़ेगा।

यह याद रहे कि मनपर विजय प्राप्त किये बिना मनुष्यका कोई मूल्य नहीं है।

ज्ञान गंगामें गोता लगाकर परमात्माके ध्यानमें आसन लगाकर मनपर विजय प्राप्तकर हम यह कह सकें कि अब हम मोक्ष अवस्थामे विचरण कर रहे हें ।

मनपर विजय प्राप्त कर लेनेपर चिंताओंसे मनुष्य मुक्त होकर परमात्माकी सत्ताकी महत्तामें विचरण करने लग जाता है ।

मनपर विजय प्राप्त करनेका मूलमंत्र

मनपर विजय प्राप्त करनेवालोंके लिये यह आवश्यक है कि वह नित्य प्रति कमसे कम ३ बजे या २॥ बजे रात्रीमें उठकर मुखधोकर एक घन्टा बिना नागा आलस्यको त्यागकर परमात्माके चिंतनमें भजनमें गायत्रीमन्त्रके जापमें लगाया करे ।

लेखकका अपना अनुभव है कि गायत्रीमें मन्त्रमें वह शक्ति है कि जो जन इस मंत्रका जप करते हं वह मोक्षको प्राप्त अवश्य कर लेते हं ।

गायत्री मंत्रके जपसे मेधा शक्तिका उदय होता है । मेधा शक्तिको प्राप्त करलेने पर दैवी संपदाका अधिकारी सुगमतासे मानव बन जाता है साथ ही मनकी चंचलता दूर हो जाती है । मनुष्य मनका गुलाम नहीं होता है । अपितु मनुष्य अपने मनका स्वामी मनस्वी बनकर जगत्के उपकार हित अपना निज सर्वस्व निछावर कर देता है । मनुष्यका मन जब उसके वशमें हो जाता है, तो उसमें महान् संकल्प साधना की विलक्षण शक्तिका विपुल रत्नकोष प्राप्त हो जाता है ।

मनःशक्ति

मनुष्यकी मनःशक्तिमे वह अपरिमित बल आ जाता है, जिस बलको प्राप्त कर चक्रवर्ती साम्राज्यका विधि विधान बनाया जाता है । मनस्वी पुरुष जन ही तो चक्रवर्ती साम्राज्यका सूत्र संचालन किया करते हं ।

मनपर विजय प्राप्त करनेवाले नरनारी जन-जनके मनके प्यारे बना करते है ।

मनपर विजय प्राप्त करनेवाले जन विश्व वंदनीय और अभिनन्दनीय दिव्य दर्शनीय हुआ करते हे ।

मन पर विजय प्राप्त कर आवागमनके बन्धनोंसे नस और नाडियोंके बन्धनोंसे मुक्त होकर मुक्तात्मा बनो, यह वेद भगवान्का और सृष्टिके आदिकालसे महर्षियोंका उपदेश और जीवन संदेश है ।

मन पर विजय प्राप्त करनेका महामंत्र यह है कि ओ३म् नामका जप करते रहो, इससे मन वशमें अवश्य हो जाता है । यह मेरा अनुभव है ।

म न

(लेखक— श्री शोभनाथ पाठक)

☆

" संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । "
(ऋ० १०।१९१।२)

(अर्थात् आपसमें मिलो, किसी विषयका विवेचन करो तथा दूसरेके मनको जानो) इन्हीं प्रवृत्तियोंका प्रभाव वैदिक युगमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मन क्या है, उसका स्वरूप कैसा है उसकी चंचलताकी गहराईको क्या आंका जा सकता है ? मनकी चंचलताही विनाशका कारण बनती है, जिसे स्पष्ट ही प्रसादजीने कामायनीमें बताया है। जब चचल मन ही विनाशका कारण है तो फिर हम उसमें दृढता क्यों न लाएं। तभी तो हमारा वैदिक धर्म हमें प्रेरित करता है :—

" तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु "

अर्थात् हमारे मनका स्थायित्व ही सम्पूर्ण सुखोंका स्रोत है। आजके भौतिक विलासमें लिप्त मनकी दृढता अति आवश्यक है। तो आवश्यक है कि हम उसके विविध स्वरूपको परखें :—

सांख्यदर्शनके अनुसार " मन " ग्यारहवीं इन्द्रिय है। तथा :—

उभयात्मकं मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाच्च ॥

मन नामक इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों स्वरूपोंमें हैं क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय दोनोंही मनके आधार ही से अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं। इस मनका लक्षण है, संकल्प विकल्प करना। अर्थात् बाह्येन्द्रियोंसे पदार्थोंका सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष होनेके बाद " यह ऐसा है ऐसा नहीं " इस प्रकार अच्छी तरहसे विशेषण विशेष्यभावका विवेचन मन ही करता है, इसलिए संकल्परूप विशेष धर्मसे मन भी एक उभयात्मक इन्द्रिय है।

वैशेषिक दर्शनमें ' मन " अन्तिम द्रव्य है जिसकी सहायतासे आत्मा सुख—दुःखका अनुभव करती है। मनके अस्तित्वको माननेके लिए प्रमुखतः दो प्रमाण हैं। प्रथम यह कि हमारे अनुभवके अनुसार आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय इन तीनोंके रहनें पर भी कभी तो ज्ञान होता है और कभी ज्ञान नहीं होता। जैसे जब हम अन्यमनस्क होते हैं तब वस्तु हमारे सामनेसे होकर निकल जाती है परंतु उसका ज्ञान हमें तनिक भी नहीं होता, इसका कारण क्या है ? प्रत्यक्षके लिए आत्मा इन्द्रिय तथा विषय ही पर्याप्त साधन नहीं है अपितु मनकी भी सहायता सदा अपेक्षित रहती है। प्रत्यक्षके अवसर पर विषयके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होता है, इन्द्रियका मनसे और मनका आत्मासे, जब तक ये तीनों सम्बन्ध प्रस्तुत नहीं रहते, किसी भी वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। जब आत्माके साथ मन सम्बद्ध है, तब तो वस्तुका ज्ञान हमें होता है परन्तु यदि हमारा मन दूसरी ओर लगा हुआ है तो सुन्दर गुलाब हमारे सामने पड़ा ही रह जाता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानके साधन होनेसे मनकी सत्ता सिद्ध होती है।

मन ही एकमात्र अन्तरिन्द्रिय है। यह प्रति शरीरमें भिन्न भिन्न होनेसे अनेक क्रियकारिता रखनेसे मूर्त तथा अणु परिमाण माना जाता है। लोकानुभव मनके अणुत्व सिद्ध करनेमें प्रधान साधन है। ज्ञान युगपत् नहीं होता वरन् वह क्रमशः होता है। जिन इन्द्रियोंके साथ मनका संयोग होगा उस क्षणमें उसके द्वारा उसके विषयका ही अनुभव प्राप्त हो सकेगा। इसप्रकार मन अणु है विभु नहीं।

पाश्चात्य विचारकोंने भी "मन" विषयक विशद विवेचन किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेलने समग्र विश्वकी मीमांसा व व्याख्या करनेका श्लाघनीय प्रयत्न किया। मनकी व्याख्या करते समय वह स्वातंत्र्य और ज्ञानको चित्तका धर्म मानता है। हीगलके मतमें मन तीन प्रकारका होता है. व्यक्तिगत, समाजगत, तथा निरपेक्ष मन। सृष्टिके आरंभिक कालमें व्यक्तिगत मनका समय रहता है, जब व्यक्ति अंधविश्वास तथा पशु प्रवृत्तियोंका शिकार बना रहता है, बुद्धितत्त्वके उदय होने पर वह मन सामाजिक मनके रूपमें परिणत हो जाता है।

मनकी व्याख्या करना साधारण काम नहीं है जितनी गहराईमें प्रवेश किया जाये उतने ही तथ्य प्राप्त होते हैं। आज सबसे अधिक आवश्यकता है मन पर नियंत्रण रखना, इसीमें मानव और विश्वका कल्याण संभव है।

जब मारीशसमें

महात्माजीका स्वागत हुआ था

(लेखक— श्री वा. विष्णुदयाल, मारीशस)

☆

विगत शतीके पूर्वार्द्धमें सन् १८३४ में भारतीय श्रमिक भारतीय महासागरके लघुद्वीप मारीशसमें भेजे गये।

इनमें हिन्दू और मुस्लिम थे। एक भी ईसाई न होनेसे यहा लोगोंकी यही धारणा हुई कि भारतमें कोई भी ईसाई नहीं है।

श्रमिक धर्मनिष्ठ थे। वे खाली हाथ आये थे और कष्ट झेलते थे। उनकी ओरसे धर्मस्थानकी स्थापना होनेका सवाल ही न था। वे अपने घर घर ही प्रार्थना और रामायणका पाठ करते थे।

उन्नीसवीं सदीका अन्त आया और उनके पास छोटेसे छोटा मुद्रण यंत्र भी न था। वे सुन भी न पाये कि दयानन्द सरस्वती भारतमें छोटा मुद्रण यंत्र खरीद कर अपने ग्रन्थ मुद्रित करवाने लगे थे। स्वामीजीका देहावसान कब हुआ, यह तो जान ही नहीं सकते थे।

भारतीय ज्ञानकी झलक

भारतसे उन्हें कोई सहारा मिलता न था, पर भारतीय ज्ञानकी झलक मिलती थी। आर्यसमाजकी स्थापनासे सात वर्ष पूर्व यहां ल्वी जाकोल्योका ग्रन्थ "भारतमें इंजील" प्रकाशित होते ही पहुंचा। इसमें वेदकी प्रशंसा खूब की गई थी, यह प्रवासियोंको गोरोंसे मालूम हुआ कि कुछ गोरे ईसाई धर्मसे विमुख हो गये थे और जाकोल्योको पढते थे।

१८७० में या दो साल बाद दक्षिण भारतसे एक व्यापारी पधारे, जिन्होंने लिखा कि दक्षिण भारतमें वेद समाजका बोलबाला था।

मारीशसके निकट पड़े हुए फ्रेञ्च टापू रेइन्योंमें उन्हीं दिनोंमें श्रमिक आये थे, जब यहां उनका आना आरंभ हुआ था। इन्हीं दो द्वीपोंमें सबसे पहले भारतीय श्रमजीवी भेज गये थे। फ्रेञ्चद्वीपके भारतीय द्रुत गतिसे ईसाई बना दिये गये।

इधर भी भारतीयोंका ईसाई करण होने लगा।

बीसवीं शती

बीसवीं शतीका आगमन हुआ और प्रवासियोंको देखनेमें आया कि नयी सदी पुरानी सदीसे अच्छी होगी।

१९०१ में युवा बैरिस्टर गांधी यहां पधारे। उनका राजधानी पोर्ट लुईमें मुस्लिम और हिन्दू व्यापारियोंने भव्य स्वागत किया।

किसी मुस्लिम सोसाइटीने रोषकुत नामक एक गोरेसे उसका पुराना बंगला खरीदा था। वह घर एक बागके बीचमें था। गांधीजीके चले जाने पर घरका नाम ताहेर बाग पड गया। जब उसका चित्र श्री एमृत विरचिन "मारीशसीय मुस्लिमोंका इतिहास" में देखा जाता है तो चित्त प्रसन्न होता है।

हमारे मेहमानका भी चित्त प्रसन्न हुआ होगा। वे प्रकृतिकी गोदमें रह कर आनंदानुभव करने वाले थे। वे अफ्रिकामें मारीशस यात्रा हो जाने पर आश्रम खोलनेवाले थे। ताहेर बाग एक आश्रमसे कम सुन्दर न था।

बैं० गांधीको प्यारमें 'भाई गांधी' नामसे पुकारा जाता था। वे तीन सप्ताह यहां ठहरे। दिनमें कभी अलप्रपात देखने जाते थे तो कभी ग्रामीणोंसे मिलने। पाई नामके ग्राममें एक युवक रहता था जिसका नाम भोला था। उससे भी भाई गांधी मिले।

उन्होंने देखा कि सम्पूर्ण मारीशस एक आश्रम था। हरियालीसे भरे देशमें पक्षी बोल रहे थे, गायें और बैल गाडी खींच रहे थे, ग्रामीण खेतमें काम करते थे।

प्रवासियोंके मध्य रह कर भाई गांधी दक्षिण अफ्रीकाकी याचिका तैयार करते थे। एक याचिकामें उन्होंने लिखा कि दक्षिण अफ्रीकाके प्रवासी मारीशसके प्रवासी ही के समान हैं। मारीशसमें वे शांतिसे काम करते हैं, उन्होंनें अपने अधिकारकी मांग तक नहीं की। अंग्रेज अफ्रीका और मारीशसमें शासक है, उन्हें ऐसे मजदूरोंके कार्यसे संतुष्ट होना चाहिए था।

जिस रात्रिमें भाई गांधीका ताहेर बागमें स्वागत हुआ बम्बई विश्वविद्यालयके स्नातक अब्दुल कादिरने एक लघु भाषण दिया जिससे प्रकट हुआ कि गांधी एक ज्योति स्तम्भ थे। कादिर उन्हीं दिनों यहां पहुंचे थे जब महर्षि सातवलेकर बापूजी तलपदेके विद्यालयके छात्र थे। उत्तरमें गांधीजीने गुजराती और अंग्रेजीमें भाषण दिया। वे जानते थे कि किसी युगमें मारीशस निर्जन और अनाम था। उन दिनों उस एक घने जंगलको बागमें परिवर्तित करनेका श्रेय भारतीय मजदूरोंको ही था। बैरिस्टरने इस तथ्यका उल्लेख किया जब कहा कि इस देशमें भारतीयोंके ही परिश्रमके फलस्वरूप मारीशसका मुख्य व्यवसाय या शक्करका व्यवसाय फूलने फलने लगा।

जिस भारतसे केवल मजदूर आते रहे वहांके एक महापुरुष पधारे जो मजदूरोंकी सेवासे संतुष्ट हुए।

न भारतीय और न भारतसे ही यहांके गोरे और रंगीन जातिके लोग सहानुभूति प्रकट करते थे। स्वागतकी रात ता १३ नवम्बर १९०१ को उन भारतीय मजदूरोंमेंसे एक भी उपस्थित न था।

भारतीयोंको फटकारा जाता था, उन्हें असभ्य बताया जाता था। इस बातको दोहराया जाता था कि भारतीय साफ सुथरे न थे, कजूस थे, इत्यादि। जब अखबारोंमें स्वागतका विवरण प्रकाशित हुआ एक रंगीन जातिके कवि और पत्रकारने ये आक्षेप फिर किये।

भारतीयोंका अपना पत्र न था। होता तो भी प्रवासी लेखकोंके अभावमें परिस्थिति पर पूरा प्रकाश डाला न जा सकता।

दूसरे बैरिस्टर

भाई गांधीने स्व० मणिलाल डाक्टर नामके युवा बैरिस्टर से मारीशसमें पधारनेका आग्रह किया। बापूजीका मत था कि यदि शिक्षित जन प्रवासियोंके बीचमें रहना स्वीकार करें तो उनको जगा सकेंगे।

युवा बैरिस्टरने एक छोटा मुद्रण यंत्र मंगाया और "हिन्दुस्तानी" नामके दैनिक पत्रको जन्म दिया जिसके ५०० ग्राहक थे। तहलका मचने लगा।

डा० भारद्वाजका युग

जब चार वर्ष व्यतीत करके हमें छोडकर चले गये तब उन्होंनें स्व० डा० चिरञ्जीव भारद्वाजसे यहां आनेका आग्रह किया। स्व० डा० भारद्वाज कर्मठ धर्म प्रचारक सिद्ध हुए। उनके आने पर बच्चा बच्चा जान गया कि हिन्दुओंका पवित्रतम एवं प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ वेद है। वेदोंका उद्धार करनेवाले महर्षि दयानन्द हुए

१० अप्रैल १९१० को स्वयं मणिलालजीने आर्यसमाजकी स्थापना की थी। उनके पास स्व०डा० गोकुलचंद नारंगका वेदविषयक ग्रन्थ "वेदोंका संदेश" था जिसे पढ कर कोई प्रवासी समझ न पाया। ज्यों ही उन्हें विदित हुआ कि पोर्ट लुईके सबसे बडे सरकारी स्कूलके रेने नामक व्यक्ति मुख्याध्यापक हैं, तो उन्होंने उनको यह ग्रन्थ प्रदान किया। स्व० रेन उदार विचार वाले थे। वे पुस्तक पढ कर उसके कुछ अंश समझ गये। अन्तिम घडी तक उन्होंने यह ग्रन्थ अपने पास रखा था।

"सत्यार्थप्रकाश" के अनुवादक डा० भारद्वाज पधारे हुए थे। अनुवाद अभी प्रकाशित हुआ तो न था, पर सारा विषय अंग्रेजीमें समझानेके लिए धर्म प्रचारक देशका दौरा करने लगे। गैर ईसाई आदरके साथ उनके भाषण सुनने लगे। भोला नामक युवक जो भाई गांधीसे मिला था, डा. भारद्वाजका साथ देने लगा।

इस युवकको जो सौभाग्य प्राप्त हुआ वह बिरले लोगोंको ही प्राप्त हुआ करता है। वह विश्ववंद्य गांधीके निकट आया-और आर्यसमाजके गगनमें चमकनेवाले तारे डा. भारद्वाज की तन, मन, धनसे सेवा करके कृतकृत्य हुआ। यह जान कर कि डा. भारद्वाज अंग्रेजीके भी विद्वान थे ईसाई भी उनकी ओर खिंच गये।

तीन सप्ताहका प्रवास

बापूजी कुल ३ सप्ताह यहाँ ठहरे थे, वे मारीशसीयोंको प्यार करने लगे। उन्होंने कहा था कि ज्ञानका प्रसार होना आवश्यक था। अब ज्ञानका प्रसार होने लगा।

पर डा. भारद्वाज भी बहुत दिन ठहर न पाय और मारीशसीयोंकी वही हालत हुई जो पहले थी।

यही नहीं, लोग भूल गये कि कभी महात्माजी इस देशमें पधारे थे।

अधूरा काम देख कर कई गरीब युवक चिन्तित हो गये अन्तमें गांधीवादकी उन्हें इस देशमें प्रवेश करानेका संकल्प करना पड़ा।

नवीन युग

एक नवीन युगका संचार हुआ। शिक्षित प्रवासी मातृ-भाषा हिन्दी न बोलनेके लिए और न सुननेके लिए तैयार थे। वे मानते थे कि प्रचलित विचार अर्थात् गैर ईसाई असभ्य हैं, इनका सामना करना पड़ा। उस युगमें सारी जनताने कार्यकर्ताका पदानुसरण किया। हिन्दी घर घरमें पढायी जाने लगी। सामाजिक कुरीतियों पर हमला किया गया। प्रवासी श्रमिकोंको फुसलानेके लिए उन्हें घुड़दौड़देखनेका अवसर दिया गया। जब वे बेचारे घुड़दौड़ देखने लग गये तो उन्हें लूटा गया, उनकी माता-बहिनोंकी बेइज्जती की गई। जब कभी कोई प्रवासी घुड़दौड़ देखने राजधानीमें आता था तो उसका बरेसे बुरे नामसे स्मरण किया जाता था। जन सेवकने सेवा करके देखा कि जनता आदेश पाकर चलनेको तैयार होगी तब मौका हाथमें आते देख उसे जाने न दिया। स्त्री-पुरुष धूमधामसे त्योहार मनाने लग गये। दिवाली मनायी जाने लगी। अब श्रोताओंको कहा गया कि अब दूसरा जमाना आया हुआ है, धार्मिक मेले लगे हैं, बच्चे मातृभाषा सीख रहे हैं, अब अपनी इज्जत खोनेके लिए घुड़दौड़ देखनेका युग न रहा, महात्मा गांधीने साफ कहा है कि घुड़दौड़ उतनी ही खराब है जितनी शराब खोरी है। घुड़दौड़ देखने कोई न जाय। इन शब्दोंका अचूक असर हुआ। घुड़दौड़के रोज १ लाख प्रवासी घर पर रह गये। अप्रवासी अपनी आंखों पर विश्वास न कर पाये।

संघटित हो कर छोटे और बड़े, स्त्री और पुरुष चलने लग गये। वेदोंके विद्वान् आशीर्वाद देने लगे। वे कहने लगे अब वेदोंका प्रचार होने लगा है। वेदने ही मिलकर चलनेका मानवोंको आदेश दिया है। अन्य धर्मग्रन्थोंने वेद वचनकी व्याख्या की जब यह बताया कि चलते रहना चाहिए; जिस दिन चलना बंद होगा उसी दिन विनाश होगा।

ईसाइयोंका पदानुसरण करनेवाले शिक्षित प्रवासी विस्मित हुए।

जनताने समक्ष रखा था कि इनके सिवा कोई नेतृत्व कर ही नहीं सकता। अब स्वस्थ नेतृत्व करनेवाले मिल गये जो सुनाने लगे कि गांधी भी उच्च शिक्षित थे, बैरिस्टर थे, पर उन्होंने अपनी संस्कृति, भाषा, धर्मकी रक्षा की। उन्होंने मदिरा पान न किया, अपना आचरण शुद्ध रखा।' जो शिक्षित होकर उनका अनुकरण नहीं करता वह अपने देशवासियोंको गुमराह करता है।

गांधीवादी विजय पर विजय पाने लगे। अधिकारी उनके सामने नत मस्तक हुए। प्रवासी युगोंसे सताये जा रहे थे। अब उनका उद्धार होने लगा। शासकोंके समर्थक भयभीत हो गये। वे महात्माजीको तुच्छ बताते थे और शासकोंको खुश रखते थे। अब वे भी पैंतरे बदलने लगे।

ठाकुर और गांधी

यदि कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरका ही आदर करते तो भी अपनी संस्कृतिसे भली भांति परिचित हो जाते।

अप्रवासी लोगोंमें ठाकुरके प्रशंसक उत्पन्न हो गये थे क्योंकि उनमें कविवरको समझनेकी क्षमता थी। १९२५ में यहांके एक पत्रकार और कविने ठाकुरकी प्रशंसामें एक लेख लिखा था जिससे विदित हो गया था कि अप्रवासी गुणवान् भारतीयोंकी इज्जत करते हैं। शिक्षित प्रवासी समझ ही न सके कि लिखा क्या गया था। १९२५ से १९३६ तक प्रवासी तत्वके मध्य कुछ न हुआ।

तत्पश्चात् बड़े बड़े मेलेमें ध्वजारोहण होने लगे। बच्चा बच्चा स्व० स्वामी समर्पणानन्द द्वारा लिखित यह कविता गाने लगा.

> "यह ओ३म्का झण्डा आता है,
> सोनेवालो जाग चलो!"

शिक्षित प्रवासी मेलेमें आने लगे, फिर भी अपनी संस्कृति भाषा आदिसे विमुख रहते थे। भेद इतना ही था कि अब वे

जोर शोरसे अपने गांधीविरोधी विचार प्रकट करते न थे जैसे इस वर्गके लोग भारतमें प्रकट किया करते हैं।

३० साल बीत गये जबसे अपूर्व जागरण लाया गया, किन्तु ये अभी तक हिन्दी बोल नहीं पा रहे हैं जब कि लाखसे अधिक युवक और युवतियां इस भाषाको बोल और लिख रहे हैं।

अपनी संस्कृतिसे विमुख प्रवासी ईसाइयोंका अनुकरण करना दिन रात सीखते हैं। एक बार किसी महानुभावने लाट पादरीका हाथ चूमना चाहा। बेचारे फटकारे गये। वे जान न पाये कि केवल ईसाई ही हाथ चूमते हैं।

ईसाई हिन्दू पर प्रहार करते रहे। आरंभमें उन्हें उत्तर देनेके लिए फ्रांससे ईसाई धर्मकी जिन पुस्तिकाओंमें आलोचना की जाती है, वे मगायी जाती थीं। जाते जाते यह सूझने लगा कि वेदोंका प्रचार करना चाहिए और फ्रेञ्च, अंग्रेजी तथा हिन्दीमें ऐसे ग्रन्थ रचकर जिनमें हिन्दू धर्म पर प्रकाश डाला गया हो, घर घरमें पहुंचाने चाहिए। महात्माजीके भाषण, लेख, ग्रन्थ, पत्र-सब काम आये। ईसाई हिन्दुओंके प्रशंसक बनने लगे।

इस देशमें दासताकी प्रथाका जब अन्त लाया गया था तो अफ्रीकियोंके वंशजोंको जंगली बताया गया। जब ये अपमानित हुए और अपमानसे बचनेका रास्ता खोजने लगे इनका ईसाईकरण किया गया, किन्तु इन्हें गोरोंके समान पद दिलवानेके लिए कोई पादरी तैयार हुआ ही नहीं।

प्रवासियोंको अपने रंगीन जातिवाले पडोसियोंकी हालत देखकर चेतना चाहिए था। पर वे अपने धर्मको त्यागकर ईसाई बने। उन्होंने अपनी मातृभाषा भी त्यागी। फ्रेञ्चोंकी भाषा और धर्मको अपना कर वे अपनेको धन्य मानते थे। उनमे अच्छे कवि, लेखक, बैरिस्टर, डाक्टर पैदा हुए, पर आजतक किसी भी गोरेने उन्हें अपने यहां बुलाकर उनके साथ एक मेज पर बैठकर भोजन नहीं किया।

वे गोरों द्वारा प्रचारित विचारोंके शिकार बन गये। वे भी मानने लगे कि प्रवासी भारतीय असभ्य हैं। अब गांधीवादियोंके परिश्रमके परिणामस्वरूप मारीशस स्वतंत्र हुआ तो पांच हजार रंगीन जातिके लोग देश छोडकर आस्ट्रेलिया चले गये।

बडा भारी परिवर्तन तो तब हुआ कि जब प्रथम बार एक काले मारीशसीय सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश बनाये गये। वे मारीशसीय स्व० रामप्रसाद निरञ्जन थे, जो हिन्दू थे।

हिन्दू और मुस्लिम अपने धर्म और भाषा त्याग कर ईसाई न बने और अन्ततः ईसाई बनाये गये रंगीन जाति-वालोंसे आगे निकल गये।

फ्रेञ्च ट पू रेइन्योंमें प्रवासियोंने ईसाई बनना मंजूर किया वे वो लाखकी सख्यामें हैं पर वे अपनी जन्मभूमिको आजाद कर न पाये।

मारीशसके प्रवासियोंने उनकी भी सुध ली। यहां संध्या और हवनकी पुस्तकका फ्रञ्चमें उल्था किया गया जो रेइन्योंमें खूब अपनाया गया। अब वहांके प्राचीन हिन्दु मन्दिरोंका जीर्णोद्धार होने लगा है।

धर्मकी उपेक्षासे हानि

प्रवासमें भारतकी अपेक्षा धर्मकी रक्षा करने पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। बापूजी प्रवासमें अपने धर्मका पालन करते थे। भारतमें लौटकर बार बार कहते रहे कि धर्मसे शून्य राजनीतिसे देश कल्याण हो नहीं सकता।

दासोंको मारीशसमें १८३५ में मुक्त किया गया। उससे एक ही वर्ष पूर्व भारतीय श्रमजीवियोंका आगमन हुआ था। पादरी इन्हें भी अपने धर्मकी दीक्षा देने पर तुले थे। जो ईसाई नही बनते थे उनके साथ अन्याय किया जाता था।

कोई प्रवासी किसी परीक्षामें उत्तीर्ण होता था तो उसे हिन्दु या मुस्लिम रहना नामुमकिन था क्योंकि गैर ईसाई रहनेसे वह अच्छी नौकरी नहीं पा सकता था।

जिस सरकारी स्कूलके मुख्याध्यापक स्व० रेने थे, उसमें आजसे १०४ साल पहले अर्थात् १८६५ में तम्बी नारायणन् नामका प्रवासी छात्र था। अध्यापकोंकी परीक्षामें वह देशभरमें उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंमें सर्व प्रथम निकला जब कि तब वह १४ सालकी उम्रका ही था।

उसे हिन्दु रहने न दिया गया। ज्योंही तम्बी वह नाम त्याग कर पॉंल बना वह बडे पद पर नियुक्त कर दिया गया।

ऐसे सुशिक्षित युवकको लगता था कि अशिक्षित माता-पिता, बन्धु-बान्धवके मध्यमें रहना असंभव है।

बापूजीने कदाचित् इस प्रकारके लोगोंको ही ध्यानमें रख कर यह मत बनाया था कि शिक्षित जन प्रवासियोंके समाजमें रहें तो उस समाजका उद्धार हो सकता है।

महात्माजी स्वयं शिक्षित भारतीय थे । प्रवासी समाजको न त्याग कर उसकी सेवा नारायणनको बापूजीके जन्मसे ४ वर्ष पूर्व सफलताकि लीथी । वह किसीसे सुन न सकता कि बडेको छोटोंके मध्यमें रह कर उन्हें उगाना चाहिए ।

हमने देखा कि स्वतन्त्र भारतमें महात्माजीके मतके प्रतिकूल कुछ शिक्षित शासक अपनेको औरोंसे अधिक शिक्षित समझकर भारतका किस तरह पतन लाते रहे हैं । स्वतंत्र भारतमें हर साल सात लाख हिन्दू ईसाई न बनते यदि यह निन्दनीय मनोवृत्ति न होती ।

धर्मकी रक्षा करनेवाले प्रवासी अशिक्षितोंके निकट सम्पर्क में आये इनकी देखा देखी शिक्षित प्रवासी अपने संबधी, भाई बहिन, माता-पिताका तिरस्कार करना छोडकर धर्म ग्रन्थ पढने लगे ।

नारायणनके समयसे द्वितीय विश्वयुद्धके दिनों तक प्रवासी समाज क्षीण होता रहा । जहां पहले वे जनसंख्याका ७० प्रतिशत भाग थे वहां वे घट कर ६३ प्रतिशत रह गये। नव जागरणके कालमें ईसाई करणकी बाढ रुक गई और अब ६३ प्र. श. की जगह प्रवासी ६८ प्र. शत हो गये ।

पहले गैर ईसाइयों पर क्रूर आक्रमण होता था । अब ईसाइयोंके मुखपत्र " कथलिक जीवन " मे ही नहीं, बल्कि ईसाइयोंके दैनिक पत्रमें भी महात्माजी विषयक सुन्दर लेख छप रहे हैं । ता. २ अक्टूबर १९६८ से लगभग १० लेख प्रकाशित हो गये हैं । लूथर किंगकी हत्याके पश्चात् ईसाइयोंने अपने मुखपत्रमें लिखा कि इन्होंने अहिंसासे काम लिया और बताया कि हिंसासे अहिंसा कहीं अधिक अच्छी है ।

स्वतंत्रताकी लडाई

अप्रवासी फ्रांस और विलायतके पत्रकारोंको अपने हकमें करके लिखवाते रहे कि अब प्रवासियोंका प्रभुत्व रहेगा। प्रवासी आजादीकी लडाई लडते आ रहे थे । अप्रवासियोंने १९६७ में स्पष्ट कहा कि हमें स्वतंत्रता नहीं चाहिए ।

स्वतंत्रता न चाहनेवाले गांधीको कैसे पसंद करते ? कमसे कम कवियोंसे आशा की जा सकती थी कि वे महामानव गांधीका गुणानुवाद करनेसे न डरते । हार्ट नामक कविका जन्म उसी ताहेर बागके निकट हुआ था, जहां ता. १३. ११. १९०१ को गांधी पधारे थे, उन्होंने एकबार रेइन्योंसे पधारे हुए राज्यपाल मेखारके स्वागतके अवसर पर जो दयानन्द धर्मशाला, पोर्टलुई, में हुआ था, इस घटनाका उलेख किया था वे उन मारीशसीयोंके बीच आते थे जो जानते थे कि ताहेर बागमें गांधी पधारे थे । कवि हार्टने ताहेर बाग पर कविता रची है । गांधीजीके आगमनको उन्होंने महत्त्व न दिया । उनके इस रुखको देखकर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि १९६७ में जीवित होते तो वे भी स्वतंत्रताके विरुद्ध अपनी आवाज उठाते

अप्रवासी नगरोंमे निवास करते हे । ये नगरवासी ग्रामवासियोंका पदानुसरण न कर सके । ग्रामवासियोंने अपने श्रमसे देशको समृद्ध किया । इनकी मेहनतसे सबको लाभ हुआ । इनकी देशभक्तिने इस लघु द्वीपको ता १२ मार्च १९६८ को स्वतंत्र राष्ट्र बना छोडा ।

इन्हें गांधीवादसे जो सहायता मिली वह बहुमूल्य है । प्रवास का कोई भी देश मारीशसकी भांति ऐसी प्रेरक शक्ति पाकर १९६८ में स्वतंत्र न हुआ । यहां स्वतंत्रताका उत्सव और गांधी जन्मशती एक ही वर्षमें मनानेका शुभ अवसर मिला। महात्माजी इस लोकमें होते तो मारीशसको आशीर्वाद दिये बिना न रहते । जिस बीसवीं सदीने उपनिवेशोंको परतन्त्रता का जूआ फेंकते देखा उसके प्रथम वर्षमें मारीशसमें गांधीका पदार्पण हो और वह देश स्वतंत्र न हो, यह मारीशसीय देशभक्तोंको कब अच्छा लगता ?

मारीशसका प्रवासी–तत्त्व

प्रवासी–तत्त्व ही इस देशको आत्मा है। सर्वप्रथम १७२१ मे भारतसे लोग यहाँ आये । इनका स्मरण करके दि. २६. ७ ६९ को मारीशसके विश्वविख्यात चिन्तक श्री माल्कोलम दे शाजालने लिखा है कि यह द्वीप भारतका स्मरण करानेवाला है । वे ही पेड–पौधे, वही वातावरण यहां है जिसे छोड कर उन्होंने यात्रा की थी । जब वे पूजा करने लगे, यज्ञ संपादित करने लगे यहांके लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए । यहांकी लोकवार्ताकी श्रीवृद्धि हुई । इसमें जरा भी संदेह नहीं कि मारीशस नन्हा सा भारत है ।

ये चिन्तक गोरे हैं। जिस ग्रन्थके कारण इनकी ख्याति हुई है, वह एक पहाडी पर उन्होंने लिखा था । उस पहाडीका नाम पितरबोथ है जिसके साथ पादरियोंकी तराई लगी हुई है । शाजाल लिखते हैं कि मैंने इनको क्या देखा, समस्त आश्चर्यजनक भारतको देखा ।

ये शब्द महान् फ्रेञ्च लेखक बेरनार्दे बे सें प्येरके मुखसे भी निकले थे। २०१ वर्ष पूर्व वे इस द्वीपमें आकर ३ वर्ष बसे थे और इसी पहाडी पर और इसी तराईमें अपना समय आनंदसे व्यतीत करते थे। अपने उपन्यास ' पॉल और विर्जिनी " में इनको ही नहीं, अपितु इनके समीप वाली नदीको चित्रित करके मारीशसको अमर बना दिया था।

विगत वर्ष इनके आगमनकी याद दिलानेके लिए स्मारक टिकट जारी किये गये थे जिस प्रकार इस साल युवा बैरिस्टर गांधीके आगमनकी स्मृतिमें ६ डाक टिकट जारी किये गये हैं जब कि भारतमें ४ ही बिक रहे हैं। पुत्र (मारीशस) ने माता (भारत) को मात कर दिया है।

आगे शाजाल लिखते हैं कि भारतीय आये कि यहाका तालाब गंगाका स्मरण करानेवाला सिद्ध हुआ।

शाजालका यह कहना है कि इस देशको लघु अफ्रिका न कहा गया। अफ्रिकासे आगत व्यक्तियोंके वशज भुला देना चाहते हैं कि उनके पूर्वज अफ्रिकासे किसी युगमें यहां आये थे, जब कि भारतीय इसके विपरीत, इस बात पर गर्व करते हैं कि मारीशस लघु भारत है।

शाजालने यह भी लिखा कि केवल यह देख कर कि भारतमें और यहां वेद और उपनिषद्का प्रचार और पठन होता है हम इस नतीजे पर नहीं पहुचे कि वास्तवमें हमे एक छोटे भारतमें बसे हैं। यहांका वातावरण ही भारतीय वातावरण है। यह मत पहले व्यक्त नहीं किया जाता था।

इस चिंतकने कभी भारतयात्रा न की। यहां बैठे बैठे ारतके दर्शन कर रहा है।

क्या ऐसे देशमें महात्मा गांधी जो शत प्रतिशत भारतीय थे, का पदार्पण होना नहीं चाहिए था? वे न आते तो सबको एक भारी कमीका बार बार भान होता। रह रह कर याद आता है कि " नौशेरा " नामक जहाजसे आये थे जिसके नाममें " नौ " शब्द सम्मिलित है।

वेद और उपनिषद्का प्रचार

यह कम आनन्ददायक नहीं है कि जिस साल बापूजीकी जन्मशताब्दी मनायी जा रही उसी साल एक अप्रवासीने प्रवासियोंको आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रगति करता पाया। वहां आजकल उपनिषत्कथा होती है, वेद पर प्रवचन दिये जाते हैं। जिस दिन " वेदमें वर्णमाला, " इस विषय पर प्रवचन सुननेका मौका मिला श्रोता अपने कानों पर विश्वास न कर सके। गांधीजयन्ती हो तो उपनिषदोंका पाठ करना चाहिए। उन्होंने कारागृहमें जहां ब्रह्मर्षि सातवलेकरके ग्रन्थकी सहायतासे संस्कृतका जो उनका ज्ञान था उसे बढाया समस्त ईशोपनिषदको कण्ठाग्र किया। × आगे चल कर उसके प्रथम मंत्रकी व्याख्या करके संसारको कहा कि हिन्दू धर्मग्रन्थोंका निचोड इसमें है।

उपनिषद्की कथा सुननेवाले मारीशसीयोंने महात्माजी की वर्षगांठका उत्सव मनानेके औचित्यका प्रमाण दिया। मारीशसमें उक्त उपनिषद्का फ्रेञ्च अनुवादका प्रकाशन करके भक्तोंने अपने देशवासियोंकी सामयिक सेवा की।

+I have fixed upon one mantra that I am going to recite to you as containing the whole essence of Hinduism. Many of you I think, know the *Ishopanishad*. I learnt it by heart in Yervada Jail. But it did not then capativate me, as it has done during the past few months, and I have now come to the final conclusion that if all the Upanishads and all the other scriptures happened all of a sudden to be reduced to ashes, and if only the first verse in the Ishopanishad were left intact in the memory of the Hindus, Hinduism would live forever.

Now this mantra divides itself in four parts. The first part is :

All this that we see in this great Universe is pervaded by God.

Then comes the second and third parts which read together, as I read them

I divide these into two and translate them thus . *Renounce it and enjoy it.* There is another rendering which means the same thing. *Enjoy what He gives you* Even so you can divide it into two parts. Then follows the final and most important part which means. *Do not covet anybody's wealth or possession* All the other mantras of that ancient Upanishad are a commentary or an attempt to give

us the full meaning of the first mantra. As I read the mantra in the light of the Gita or the Gita in the light of the mantra I find that the Gita as commentary on the mantra. It seems to me to sasify the craving of the socialist and the communist. I venture to suggest to all who do not belong to the Hindu faith that it satisfies their cravings also. And if it is true— and I hold it to be true — you need not take anything in Hindusm which is inconsistent with or contrary to the meaning of this mantra. What more can a man in the steet want to learn than this that the one God is the Creator and Master of all that lives and pervades the Universe? The 3 other parts of the Mantra follow directly from the first. If you believe that god pervades everything that He has created, you must believe that you cannot enjoy anything that is not given by Him. And seeing that He is the Creator of his numberless children, it follows that you cannot covet anybody's possession. If you think that you are one of his numerous creatures, it behoves you to renounce eyerything and lay it at His feet. That means the act of renunciation of every thing is not a mere physical renunciation but represents a second or new birth. It is a deliberate act, not done in ignorance. It is therfore a regeneration. And then since he who holds the body must eat and drink and clothe himself, he must naturally seek all that he needs from Him. And he gets it as a natural reward of that renunciation. As if this was not enough the mantra closes with this magnificent thought- *Do not covet anybody's possession* The momet you carry out these precepts, you become a wise citizen of the world, living at peace with all that lives. It satisfies one's highest aspirations on this earth and hereafter. No doubt it will not satisfy the aspirations of him who does not believe in God and His undisputed sovereignty.

In the midst of my struggle with untouchability I have been asked by several workers as to the essence of Hinduism, We have no simple Kalema, they said, that we find in Islam, nor have we John. chapters 3-16 of the Bible. Have we or have we not something that will answer the demands of the most philosphic among the Hindus or the most matter-of-fact among them? As you are aware I have, for years past, been swearing by the Bhagavad Gita, and have said that it answers all my difficulties and has been my Kamadhenu, my guide, my open sesame, on hundreds of moments of doubts and difficulty. I cannot recall single occasion when it has failed me. But it is not a book that I can place before the whole of this audience. It requires a prayerful study before the Kamadhenu rich milk she holds in her udders.

(This is why) I have fixed upon the first mantra of the Ishopanishad.

Quoted by Dagobert D. Runes
in his 'Treasury of Philosophy'
(Philosophical Library, New York)

क्रांतिकारी सामाजिक वर्णव्यवस्थाकी और प्रस्थान

(लेखक — श्री भगवानराव आर्य भोसीकर)

卐

पिछले दिनों जाति, वर्ण और स्पृश्यास्पृश्यता पर वृत्त-पत्रों, मासिकों आदिमें समालोचनाएं प्रकाशित होती रहीं। अनेक विद्वानों पंडितों और सम्मान्य जनता द्वारा अपने मतोंका प्रचार किया गया। मैं इस लेखद्वारा अपने विचार पाठकोंके सामने विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहता हूं।

वैसे तो अनेक सम्प्रदायोंमें जातियां उपजातियां हैं। उनमें आपसी कटुता तीव्रता इतनी नहीं जितनी हिन्दू समाजकी जातियों उपजातियोंमें है। अत अन्य सम्प्रदायोंमें समस्या इतनी विषम और जटिल नहीं।

हिन्दू समाजकी अनेक जातियोंके नाम उपजीविकाके और उद्योग धन्दोंके नाम पर हैं। यथा सुतार, लोहार, चमार, भंगी आदि। कुछ नाम अनादि कालसे चलते आ रहे हैं यथा भिल्ल, गोंड, कोलाम, कोली, योटी, गवारी आदि। कुछ जातियोंके नाम पंथभेद पर आधारित हैं। यथा, लिंगायत, रामदासी, जैन, बौद्ध आदि। वेदका पठन पाठन और उन्हें कण्ठस्थ करने तथा धार्मिक विधि-विधानके करने करानेके लिए ब्राह्मण जाति है।

इन उपरोक्त जातियोंमें उपजातियां भी हैं। ये रोटी बेटीका व्यवहार नहीं करती। यदि जाति रिवाज या रूढिके विरुद्ध कुछ किया गया तो वह व्यक्ति या उसका समस्त परिवार जातिबहि किया जाता है। इस प्रकार और अन्य प्रकारोंसे जातिसंख्यामें वृद्धि होती आ रही थी। आज ऐसी वृद्धिका होना अवरुद्ध हुआ है।

कहा जाता है कि पुराकालमें वर्ण-व्यवस्था थी। उसीकी परिणति जातियोंमें हुई। आज जातियां शेष हैं। वर्णव्यवस्था का एक सामाजिक विचार ही रह गया है। अब संभ्रम होता है वर्णव्यवस्था जगतमें अस्तित्वमें आयी थी या नहीं, अथवा केवल एक आदर्श विचार ही विद्यमान था।

स्पृश्यास्पृश्यताके उद्गमका पता नहीं। वर्णव्यवस्थाका स्रोत जैसे वेद सिद्ध होता है वैसे ही स्पृश्यास्पृश्यताका स्रोत भी वेद है ऐसा देखनेमे आया। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीका भी मत ऐसा ही है और वे ऐसी बातके अस्तित्वको ठीक समझते हैं, मान्यता देते हैं यह भी देखनेमें आया। यह मिथ्या है ऐसा अन्तःप्रेरणा तो कहती ही है इसके साथ ही इसका मण्डन भी किया जा सकता है. मेरे विचारसे स्पृश्या-स्पृश्यता जित जेताकी भावनाका प्रादुर्भाव है। वैसे ही अमंगल अशुचितापूर्ण व्यवसाय करनेके कारण भी इसका जन्म हुआ हो। धार्मिक शुचिता अशुचिताकी पराकष्ठा और अतिरेकके कारण भी इसका जन्म हो सकता है। और कई कारण इसके प्रादुर्भावके लिए हो सकते हैं और हैं, पर कुछ यहां बताये हैं। आज जातिविशेषके साथ ही स्पृश्या-स्पृश्यता सम्बद्ध है चाहे वह जाति कितनी भी पवित्र हो गयी हो प्रगत हो गयी हो।

जातिभेदके हिन्दूसमाजमें होनेसे ही आज हिन्दुस्तानका नाम जगत् चित्रमे दिखता है। यूनान, मिश्र और रोमकी संस्कृतियां नष्ट हो गयीं फिर भी हमारा नाम जातिभेदके कारण बाकी है ऐसा कहा जाता है। जातिभेदको कायम रखनेवाले कई लाभोंके साथ यह भी लाभ जोड देते हैं। पर अधिक विचार करनेपर कुछ पृथक बातही और कारण भी ज्ञात होता है। मेरे विचारसे हमारा पांडित्य ही संस्कृति-

को कायम रख सका है। हमारे उदात्त सत्यशास्त्रोंने ही संस्कृतिको अनुप्राणित किया है और वह स्वयम् स्थिर है। पुराकालमें शास्त्र, शस्त्र और संगठनने यहांकी संस्कृतिकी धाक जगत् पर बिठायी थी। मध्यकालमें शास्त्र ही रहा और शस्त्र तथा संगठन छूट गये। इसमें हिन्दुसमाजके संकोचके बीज थे और आज भी हे। अतः संकोच हुआ। शास्त्र और संगठनके अभावमें विदेशी शस्त्र ही कारगर अस्त्र लगा सका। शास्त्र, समाज संकोचको अवरुद्ध करनेमें असमर्थ था। अर्वाचीन कालमें शास्त्र, शस्त्र, संगठन विस्मृत हो गये और अनुकरणवादी बन गये। समाजकी मानसिक विफलताके कारण प्रगत राष्ट्रोंको इसका और अधिक संकोच करनेके लिए पर्याप्त अवसर है। इस अवसरका लाभ अन्य राष्ट्र ले सकते हें ऐसी परिस्थिति समाजमें विद्यमान है ऐसा प्रतीत होता है। उदात्त सत्यशास्त्रोंका स्थान अनुदात्त पुस्तकों ने लिया।। शास्त्रका तो काम ही नहीं और संगठनकी कल्पना भी आजकी जातिबद्धतामें नहीं की जा सकती। विदेशीतंत्र, सक्रिय सहानुभूति और प्रेमके दिखावे समाजके संकोचमे सफलता प्राप्त कर रहे हे। यदि परिस्थिति ऐसी ही रही तो यूनान व मिश्र रोमकी संस्कृतियों जैसी स्थिति हो जायेगी।

सत्यशास्त्र, संगठन, सहानुभूति और प्रेम भारतीयसंस्कृति को जीवित रखनेमें समर्थ हे। हमारे आचार विचार इनके अनुकूल होते रहें तो मे नहीं समझता कि भारतीयता और भारतीयसंस्कृतिको कोई भी भय है।

आजका स्पृश्यास्पृश्यता युक्त जातिबद्धसमाज ऊपर दर्शाये तत्त्वोंका परिपालन करेगा इसमें शंका है। एकात्मता प्रस्थापित होनेमें मुख्यतः स्पृश्यास्पृश्यता और जातिभेद बाधक है। अस्पृश्योंमें भी स्पृश्यास्पृश्य और जाति जातिमें उच्चनीचकी भावना भी है। स्पृश्यास्पृश्यता, जातिभेद, अस्पृश्योंमें स्पृश्यास्पृश्यता और उच्चनीचकी भावनाये संगठनमें मूलतः बाधक हें। इनके दूर होनेसे ही सत्यशास्त्रोंका प्रचार प्रसार, संगठन, सहानुभूति और प्रेम क्रियात्मकरूप धारण कर सकते हें।

स्मरण रहे आर्थिकविषमता जन्य उच्चनीचताने विद्वेषको जन्म दिया और साम्यवादका प्रादुर्भाव हुआ है। इसीप्रकार स्पृश्यास्पृश्यता और जातिपरक उच्चनीचता असंगठन तथा असामञ्जस्यको जन्म देनेवाले हैं। जिससे हम भारतीय छिन्नविछिन्न हो सकते हें। इतनाही संकेत देना मैं यहां पर्याप्त समझता हूं। इससे अधिक स्पष्ट करना है तो यह दर्शाया जा सकता है कि स्पृश्यास्पृश्यता और जातिजन्य उच्चनीच व्यक्तिके आत्मसम्मानको ठेस पहुंचाते हें जिससे विद्वेष और प्रतिशोधके भयंकर विषका प्रादुर्भाव होता है। सत्यशास्त्र, संगठन सहानुभूति और प्रेमको विस्मृतकर सामाजिक कलहमें परिणति कर लेता है। सामाजिक कलह निश्चय ही भयावह है।

वर्णव्यवस्थाका मूलाधार गुणकर्म स्वभाव है। जैसे जिसका गुणकर्म स्वभाव होगा वैसा उसका वर्ण होगा। वर्णकी प्राप्ति पैतृक नहीं होती। वह व्यक्तिके व्यक्तित्व पर आधारित होती है। जैसा जिसका व्यक्तित्व होगा वैसा उसका वर्ण होगा। यह तत्त्व जातिभेदके सर्वथा विरुद्ध है। वर्णव्यवस्था व्यक्तिको स्वतंत्रता देती है। व्यक्तित्वको यहां दबाया नहीं जाता। उसके विकासके लिए छूट मिलती है। व्यक्ति जहां स्वयम् प्रगति करता है सम्मान पाता है समादृत होता है वहां देशका नाम भी जगत्में चमकता है।

वेदके पुरुषसूक्तमें जगत्की मानवताको एक पुरुषके रूपमें दर्शाया है। यहां राष्ट्ररूप समाजको एक पुरुषकी दृष्टिसे हमारी सुविधाके लिए ले सकते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अर्थात् ज्ञान, संरक्षण, व्यापार और श्रम ये उस पुरुषके अंग हैं। वैदिक शब्द सांकेतिक या प्रतीकात्मक संज्ञायें होती हैं। अर्थ गहन होता है और विस्तार पूर्वक लिखनेकी आवश्यकता होती है। संक्षेपमें स्पष्टीकरण ऐसे किया जाता है। ज्ञानमें, विज्ञान, शास्त्र, संशोधन, परीक्षण प्रयोग, संश्लेषण, विश्लेषण, रेखा द्वारा प्रारूप आदिका समावेश होता है। संरक्षणमें, सामाजिक और राष्ट्रीय सुरक्षात्मक प्रत्येक प्रकारके उपाय तथा साधन सामग्री पर क्रिया करनेकी क्षमता और आवश्यकता पडने पर उसका उपयोग किया जाता है। व्यापारमें, सामग्री, निर्मिती, वितरण, विनियोग अर्थ आदि होता है। श्रममें साधन सामग्रीके उपयोग करनेकी क्षमता, सहयोग, साहचर्य द्वारा उपरोक्त सब कामोंको सम्पन्न कराने और गति देने हेतु कार्य।

उच्चनीचता, स्पृश्यास्पृश्यताको वर्णव्यवस्थामें स्थान नहीं। सब समान होते हैं और आपसमें सहायक होते हे। सबमें यहां एकात्मता है क्योंकि पुरुष एक है। समय विशेष पर किसी अंगको प्राथमिकता मिलेगी यह अलग बात है। पर

सबमें समानताकी भावना है, भ्रातृभाव है, और स्वतंत्रता है। सबमें संगठन, सहानुभूति प्रेमके भाव हैं। किसी एक अंगकी कमीसे कार्य पूरा करनेमें कठिनायी होगी। प्रगति नहीं हो पायेगी। पुरुषका प्रत्येक अंग सक्षम होना आवश्यक है।

अब यहां यह बताना होगा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन प्रतीकात्मक संज्ञाओंके अन्तर्गत किसप्रकारके व्यक्ति आयेंगे।

ब्राह्मण वही व्यक्ति होगा जो विज्ञान शास्त्रतन्त्र, यंत्र, रेखाद्वारा प्रारूप तैयार करने आदिकी निर्मिती कर पाये संक्षेपमें ज्ञान-विज्ञानमेंही विचरण करनेकी जिसकी मस्तिष्क में क्षमता हो, वही ब्राह्मण है। चाहे कार्यका कोई भी क्षेत्र हो ज्ञान, विज्ञान विधि, विधान द्वारा सहायक बने, या बननेकी क्षमता रखे वह ब्राह्मणसंज्ञान्तर्गत आयेगा।

क्षत्रिय वही व्यक्ति होगा जो अपने धैर्य, शक्ति आदि द्वारा संरक्षणात्मक उपाय करनेमें कटिबद्ध हो, सहायक हो और ऐसा करनेकी मस्तिष्ककी और शारीरिक क्षमता रखता हो। सत्य, न्याय आदि समाजकी धारणा शक्तियोंकी और समाजके शेष अंगोंकी सुरक्षाका प्रबंध करे, प्रवृत्त हो वह क्षत्रिय है।

वैश्य वही व्यक्ति होगा जो साधन, सामग्रीका संकलन करे, निर्माण करे और वितरण करे। अर्थका केवलयोग करने और राशी बनानेवाला वैश्य नहीं अपितु जो उसका विनियोग अभिवृद्धि और वितरणके लिए करे वह वैश्य है। उद्योग, व्यवसाय, विनियोग, वितरण, वाणिज्यमें ही जिसका मस्तिष्क लगा रहे और इस ओर नैसर्गिक प्रवृत्ति हो वह वैश्य है।

शूद्र वह व्यक्ति होगा जो स्वयमके मस्तिष्कसे कुछ न कर सकता हो। उपरोक्त तीनों प्रवृत्तियोंका जिसमें अभाव हो। शारीरिक श्रमकी क्षमता हो केवल उसके पास हो, इसीमें नैसर्गिक प्रवृत्ति हो वह इस संज्ञाके अन्तर्गत आयेगा।

वर्णव्यवस्थामें किसी भी व्यक्तिको यह अधिकार नहीं कि वह अपने पैतृक वर्णका ही स्वयमको समझे। गुणकर्म स्वभावानुसार ही वह अपना कार्यक्षेम निर्धारित करेगा। यहां यह स्पष्ट हो कि नैसर्गिक प्रवृत्ति शारीरिक तथा मानसिक बौद्धिक बलके विरुद्ध कोई भी कार्य थोपा या सौंपा नहीं जाना चाहिए। अन्यथा वह स्वतंत्रता पूर्वक विकास नहीं कर पायेगा। ईश्वर प्रदत्त नैसर्गिक गुणोंके विरुद्ध थोपा या सौंपा गया तो उस क्षेत्रका विकास होगा नहीं और जगत् उस क्षेत्रमें नयी अभिवृद्धिसे वंचित रह जायेगा।

आजकलकी शिक्षाप्रणालीमें वैकल्पिक विषय रखे होते हैं। विद्यार्थी अनेक विषयोंमेंसे कोई एक चुन सकता है और अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। पर विषयको विद्यार्थीके स्थान पर पिता या अभिभावक ही चुनते हैं और उसकी क्षमता के प्रतिकूल विषय प्राप्त करा देते हैं। अपना पुत्र क्या बने यह पिता या अभिभावक ही निर्धारित करते हैं। चुने विषयमें विद्यार्थीकी गति है या नहीं इसका विचार नहीं किया जाता। पिता या अभिभावक यह जानते हैं कि विद्याश्रेणी तथा तत्सम श्रेणी परीक्षा उत्तीर्ण व्यक्तिको शासकीय सेवामें विषम वेतन श्रेणियां प्राप्त होती हैं। दो पृथक् विषयोंको लेकर स्नातकको एक जसी वेतन श्रेणी नहीं मिलती। विषय विशेषको लेकर हुए स्नातकको बढिया आकर्षक वेतनश्रेणी मिलती है तो अन्य विषयको लेकर हुए स्नातकको कम वेतन। इसी कारण पिता या अभिभावक वही वैकल्पिक लेनेके लिए बाध्य करते हैं जिसमें स्नातक होनेपर वेतन आकर्षक मिले। यदि शासन समान वेतन प्राप्तिका अनुसरण करे तो समस्या सुलझ जायेगी। दैनिक व्यवहारमें विद्यार्थीकी नैसर्गिक प्रवृत्ति किस ओर है इसका लेखाजोखा तैयार किया गया और उसके अनुसार विषय चुना गया तो विद्यार्थी सफल होता रहता है। विषय पर अधिकार प्राप्त होता है और भावी जीवनमें वह क्षेत्र उपजीविकाका साधन भी बन सकता है।

विदेशोंमें विषयोंके संस्थान होते हैं। वहां विद्यार्थी प्रशिक्षार्थी होता है। अपनी अभिरुचि, प्रवृत्ति, क्षमताके अनुसार कर्म द्वारा शिक्षण प्राप्त करता है। वाचनालयमें सन्दर्भ ग्रंथोंको उपलब्ध करता है जहां वह जानकारी स्वयम् प्राप्त करता है। मार्गदर्शक मार्गदर्शन करते हैं। प्रत्यक्ष कर्म द्वारा शिक्षाकी पद्धति वहां होनेसे तंत्रज्ञान होता है और सन्दर्भग्रन्थों द्वारा विधिविधान ज्ञात होता है। यह प्रणाली बहुतांशमें वर्णव्यवस्थाके क्रियात्मक रूपके संचालनकी ओर महान पग है। भलेही ये वर्णसंज्ञायें वहां न हों।

आजकी शिक्षाप्रणालीमें कर्म द्वारा शिक्षण, मार्गदर्शन तंत्रशास्त्र, यंत्रशास्त्र सन्दर्भ ग्रंथोंकी उपलब्धि और मार्ग-दर्शनकी सुविधा, विधि विधानका प्रत्यक्ष क्षेत्र पर ज्ञान और विषयोंके संस्थान और उन्हें वैकल्पिक आधारपर चुननेकी सुविधा ये तत्त्व अपनाये गये तो यह वर्णव्यवस्थाके निर्मित्त खिडकी होगी। वैज्ञानिक, औद्योगिक औव तांत्रिक क्षत्रमें हम प्रगति कर पायेंगे।

\+ + +

अंतरात्माद्वारा अपने भविष्य स्वरूपका चुनाव

(लेखक— श्रीमाताजी, श्री अरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी— २)

卐

प्र.— *जब अंतरात्मा संसारमें प्रवेश करनेको आती है तब क्या जो रूप वह यहां लेगी उसे पहलेसे ही चुन लेती है?*

उ.— यह एक मनोरंजक प्रश्न है। यह कई बातों पर *निर्भर करता है।... कुछ ऐसी अंतरात्माएं हैं जो निमित* एवं प्रगतिकी राहमें हैं, ये सामान्यतः बिलकुल आरंभमें बहुत चुनाव नहीं कर सकतीं, किंतु जब ये विकास तथा चेतनाकी एक विशेष मात्रापर पहुंचती हैं (सामान्यतः जब ये अभीतक किसी भौतिक शरीरमें रहती हैं और कुछ अनुभव बटोर चुकी होती हैं) उस क्षण ये निर्णय करती हैं कि उनकी अगली अनुभूतिका क्षेत्र क्या होगा।

मैं तुम्हें जरा कुछ बाहरी उदाहरण दे सकती हूं। जैसे कि, किसी अंतरात्माको सत्ताधिकारकी, प्रभुत्वकी अनुभूतिकी आवश्यकता हुई, यह जाननेके लिये कि उसकी प्रतिक्रियायें क्या होती हैं और उन सब क्रियायोंको भगवानकी ओर कैसे मोडा जा सकता है यह जाननेके लिये कि अधिकारका जीवन तुम्हें क्या शिक्षा दे सकता है। ऐसी अंतरात्माओंने राजा या रानीका शरीर धारण किया। उन्होंने कुछ सत्ताधिकारका भोग किया, और तब उस कालमें उन्होंने अपनी अनुभूति की। उन्होंने अपनी अनुभूतिके क्षेत्रके लक्ष्यको प्राप्त कर लिया। अब उन्हें जो जानना था उसे वे जान गयी हैं। वे अब जानेको है, वे अपने शरीरको छोडने चली हैं जो अब कामके योग्य नहीं रह गया, और वे आगेकी अनुभूतिकी तैयारी करने जा रही है। तब, उस क्षण, जब अंतरात्मा अभी शरीरमें ही होती है, वह अगले समयके विषयमें निर्णय लेती है। और कभी कभी वह क्रियायों तथा प्रतिक्रियायोंकी मतिविधि होती है क्योंकि वह एक सारे क्षेत्रका अध्ययन कर चुकी होती है, उसे उसके विपरीत क्षेत्रके अध्ययनकी आवश्यकता पडती है। और तब वह बहुप्रायश जिस जीवनको वह जी चुकी होती है उसके बहुत उलटा होता है। तब, जानेसे पहले वह कहती है: "अगली बार मैं उस क्षेत्रमें जन्म लूंगी।" जैसे कि मानलो कि *अंतरात्मा प्रगतिकी एक ऐसी अवस्था- तकपहुंच गयी है कि* वह इच्छा करे कि उसे भौतिक शरीर पर क्रिया करनेका अवसर प्राप्त हो जिसमें वह उसे सचेतन रूपसे भगवानके संबंधमें ला सके और उसे रूपांतरित कर सके। तब वह उस शरीरको छोडनेको आती है जहां उसे प्रभुता, सत्ताधिकार, क्रिया प्राप्त थी, उस शरीरको जिसे उसने अपनी प्रगतिके लिये व्यवहार किया था। वह कहती है "अगली बार मेरा जन्म एक मध्यम परिवेशमें होगा न अधिक नीचा, न अधिक ऊंचा, वहां जहां बहुत बाहरी, जीवन जीनेकी आवश्यकता न हो, जहां मुझे न अधिक प्रभुता होगी न अधिक दरिद्रता-तुम जानते हो, यों बिलकुल तटस्थ, मध्यका जीवन।" वह उसे चुनती है। वह आवश्यक विश्रामके लिये, जो अनुभूति उसे हुई है उसे पचानेके लिए, भविष्यकी अनुभूतिकी तैयारी करनेके लिये अपने आंतरात्मिक लोकमें लौट जाती है। वह स्वभावतया अपने चुनावकी याद रखती है, और तब, फिर नीचे आनेसे पहले, जब उसकी परिपाचनकी क्रिया समाप्त हो जाती है, *जब पृथ्वी पर लौटनेका समय आ जाता है,* तब वह उस जगतसे भौतिक वस्तुओंको तो उस प्रकार नहीं देख पाती है जिस तरह कि हम लोग देखते है वे उसे किसी दूसरे ही रूपमें दिखलायी पडती हैं। किंतु फिर भी ये भिन्नताएं आगेसे देखी जा सकती हैं: परिवेशकी भिन्नताएं परिवेशके क्रिया कलापकी भिन्नताएं खूब दिखलायी पडती हैं, बडे स्पष्ट रूपसे दिखलायी पडती हैं। उसे पूर्ण अथवा करतल आमलकवत दृष्टि प्राप्त हो सकती है। वह चुन सकती है। कभी कभी वह देश चुनती है; जब वह किसी

विशेष प्रकारकी शिक्षा, संस्कृति, प्रभावकी इच्छा करती है, तब वह अपना देश चुन सकती है। कभी-कभी वह नहीं भी चुनती, कभी कभी वह केवल अपना परिवेश तथा जिस प्रकारका जीवन वह जियेगी उसे ही चुनती है। और तब, वहां ऊपरसे उतरनेसे पहले, वह उस प्रकारके स्पंदनोंका देखती है। जिन्हें वह चाहती है; वह उन्हें बडे स्पष्ट रूपसे देखती है। और यह ऐसा होता है मानो वह जहां उतरेगी उस जगह पर लक्ष्य साध रही हो। किंतु यह एक अति-निकट संधान ही सिद्ध होता है, इस तथ्यके कारण कि एक अन्य शर्तकी आवश्यकता पडती है केवल उसका चुनाव ही नहीं, किंतु नीचेसे एक ग्रहणशीलता भी चाहिए। जिस परिवेशको उसने चुना है उसमें कोई ऐसा होना चाहिए सामान्यतः माता (कभी-कभी माता-पिता दोनों, किंतु सबसे अनिवार्य है माता) जिसके भीतर ग्रहणशीलता हो, कोई ऐसी वस्तु, जो पर्याप्त रूपसे अप्रतिरोधी और खुला हो, अथवा किसी उच्चतर वस्तुके प्रति सचेतन अभीप्सा हो। और वह, आंतरात्मिक सत्ताके लिये एक छोटीसी आग जला देती है। उस संघातके भीतर, जो उसके लिये उस परिवेशका प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें वह जन्म लेना चाहती है, यदि उसके संकल्पके प्रक्षेपके प्रभावसे एक छोटीसी आग जल जाती है, तब वह जान जाती है कि उसे वहीं जाना है।

यह आवश्यक है, यही कारण कई महीनोंका अथवा कई दिनोंका, इतना नहीं कि वर्षोंका, अंतर ला देता है, किंतु अंततः यह एक तरलता ला देता है, जिससे वह ठीक नहीं कह सकती: " अमुक तिथिको, अमुक दिन, अमुक क्षणमें जन्म लूँगी। " उसे एक ग्रहणशीलता ढूंढनेकी आवश्यकता पडती है। जब उसे वह देख लेती है तब वह वेगसे उसकी ओर दौड पडती है। किंतु होता यह है, यह जरा रूपकके जैसा है यह ठीक ठीक वही नहीं है, किंतु उससे बहुत कुछ मिलता जुलता है। वह एक अचेतनाके भीतर वेगसे प्रवेश करती है, क्योंकि भौतिक जगत्, किसी भी प्रकारकी मानव चेतना भी, आंतरात्मिक चेतनाके सामने बहुत ही अचेतन है और वह एक अचेतनाके भीतर प्रधावित होती है। यह ऐसा होता है मानो वह सिरके बल गिर पडी। इससे उसमें जडता आ जाती है। और तब सामान्यतः किन्हीं बहुत विरल अपवादोंको छोडकर लंबे समयतक वह कुछ नहीं जानती। उसे इस बातका ज्ञान नहीं रह जाता कि वह कहां है या क्या कर रही है, या वहां क्यों है, या किसी भी बातका उसे पता नहीं रह जाता। और उसे अपनेको अभिव्यक्त करनेमें बडी कठिनाई होती है, विशेषतः एक छोटे बच्चेके भीतर जिसे मस्तिष्क नहीं होता; बच्चेके भीतर तो मस्तिष्क भ्रूणकी दशामें रहता है न, जिसका कठिनाईसे अभी निर्माण हुआ हो, और उसमें अपनेको अभिव्यक्त करनेके तत्व नहीं होते। अतः ऐसा विरले ही होता है कि बच्चा यह व्यक्त करे कि उसके भीतर कोई असाधारण सत्ता है...... । किंतु ऐसा होता है। ऐसी वस्तुओंकी कहानी हमने सुनी है। ऐसा होता है, किंतु सामन्यतः इसमें थोडा समय लगता है। धीरे-धीरे ही वह अपनी जडतासे जागता है और समझ पाता है कि वह किसी कारणसे तथा चुनाववश वहां है। और साधारण तथा यह प्रगाढ मानसिक शिक्षाके साथ साथ होता है, जो तुम्हें आंतरात्मिक चेतनाके प्रति बिलकुल बंद कर देती है। तब आंतरिक द्वारोंको खोलनेके लिये तथा फिरसे यह याद आने लगनेके लिये, कि अंततः तुम यहां किसी दूसरे जगत्से आये हो और किसी विशेष कारणसे आये हो परिस्थितियोंके एक ढेर, अनेकों प्रकारकी घटनाओं, भावावेगों, अनेकों प्रकारकी वस्तुओंकी आवश्यकता पडती है।

अन्यथा, यदि सब कुछ स्वाभाविक ढंगसे चले तो बहुत शीघ्र, बहुत ही शीघ्र संबंध जुड सकता है। यदि उसे कोई ऐसा मिल जाय जिसे थोडा-सा ज्ञान हो, और अज्ञानके जगत्में आ गिरनेके स्थानपर वह थोडेसे ज्ञानके भीतर गिरे तो यह काम बडा शीघ्र हो जाय।

किंतु आंतरात्मिक संकल्प तथा प्रगति मानव समझके न्याय, पुरस्कार और दण्डकी सामान्य धारणाओंसे पूर्णतः परेकी वस्तु हैं। कितने धर्म, कितने दर्शन शास्त्र तुम्हें अनेकों प्रकारकी कहानियां सुनाते हैं, जो केवल अदृश्य जगत्के ऊपर मानवन्यायकी धारणा लागू करता है, और तब ये सब मूर्खतापूर्ण बातें लगने लगती हैं। क्योंकि बात ऐसी है नहीं।

बहुतसे लोग मुझसे आकर पूछते हैं: " मैंने किसी पिछले जन्ममें क्या किया कि अब मैं इतनी कठिन परिस्थितियोंमें हूं, मेरी इतनी दुर्गति हो रही है ? " और तब अधिकांश समय में उन्हें यह कहनेको बाध्य होती हूं: " किंतु तुम देखते नहीं कि तुम्हारे ऊपर यह एक आशीर्वाद है, भगवान्की एक कृपा है ! और शायद पिछले जन्ममें तुमने मांगा था कि ऐसा हो, जिसमें तुम एक महानतर प्रगति कर सको...... । ' ये सब बडे प्रचलित विचार हैं: " आह ! मैं बीमार हूं। आह ! मेरे शरीरकी अवस्था बुरी है, मैंने क्या किया है ? पिछले जन्ममें मैंने कौनसा अपराध किया था कि इस जन्ममें .. " ये सब बचकानी बातें हैं।

× × ×

व्रतकर्म

(लेखक— श्री पं. वीरसेनजी वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य)

☆

आर्यजीवन व्रतोंसे परिपूर्ण है

आर्यजीवन व्रतोंका जीवन है। जीवनको उच्चादर्शों पर चलानेके लिये व्रतोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद मं. १०।६५।११ में कहा है :—

" आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि "

अर्थात् आर्यजन भूमि पर व्रतोंको धारण करते हैं एवं अन्योंको भी व्रतादि धारण कराके व्रती बनाते हैं। व्रती बनानेके लिये या बननेके लिए दूसरों पर एवं अपने ऊपर भी शासन करना पडता है। व्रतोंके स्वशासन एवं स्व पर राज्यसे ही व्यक्ति एवं समाजमें उच्चादर्श स्थापित होते हैं तथा उच्च संस्कृतिका निर्माण होता है जिससे प्राणिमात्रको सुख प्राप्त होता है।

व्रतका शासन

जो व्यक्ति अव्रती हैं वे समाजमें अव्यवस्था, असभ्यता एवं अनाचारको प्रोत्साहित करते हैं। अतः ऋग्वेदमें कहा है—

" शासदव्रतान् " (१।५१।८)

अर्थात् जो अव्रती पुरुष हैं, जिनमें संयम, नियम एवं आदर्श आदिकी उच्च भावनायें नहीं हैं और श्रेष्ठ कर्मोंसे रहित हैं उन पर शासन करना चाहिये। सब प्रकारके शासन अव्रतियोंके लिये ही हैं। शासनका श्रेष्ठ मार्ग सेना, सुरक्षा, पुलिस आदि नहीं है, अपितु व्रतमार्ग ही श्रेष्ठ है। व्रत धारण कराकर ही धार्मिक शासन चलता है। व्रतोंमें श्रद्धाका प्रहरी, व्रती की अनुशासनहीन, उच्छृंखल वृत्तियों, वासनाओं और चेष्टाओंसे रक्षा करता है और उसमें व्रतकी सुदृढ स्थापना करके व्रतका स्वशासन स्थिर करता है। अतः वेदमें ' व्रतं कृणुत ' का आदेश दिया है।

व्रतके लिये प्राथमिक तैयारी

व्रतोंको धारण करनेके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है.—

" विहाय दौष्कृत्यम् - (ताण्ड्य ब्राह्मण १।१।३)

अर्थात् दुष्ट कर्मोंका परित्याग सर्वप्रथम आवश्यक है। जब तक दुष्ट कर्मोंका परित्याग नहीं होता यज्ञका अधिकारी नहीं हो पाता है। मनसे जब तक बुरी भावनाओंका त्याग नहीं होता तब तक दुष्कर्मोंका त्याग भी नहीं हो सकता है। अतः मनसे दुष्कर्मोंकी भावनाओंका त्याग सर्वप्रथम आवश्यक है। यही सर्वप्रथम व्रतोंका मूल व्रत है। यही व्रतोंकी आधार भूमि है।

ऋत्विज् व्रती होना चाहिये

यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है। अतः जो यज्ञके यजमान एवं ऋत्विजादि हैं उनको व्रती होना चाहिये। यज्ञमें अव्रती पुरुष अग्राह्य है जैसा कि—

" नाव्रतो ब्राह्मणः स्यात् " (गोभिल गृह्यसूत्र)

अर्थात् यज्ञका अनुष्ठान करने-करानेवालोंको अव्रती-व्रतरहित नहीं होना चाहिये।

ब्रह्मचर्यव्रतसे सफलता

दुष्टकर्मोंके त्यागके लिये और श्रेष्ठ कर्मोंके धारण करनेके लिये सर्वप्रथम व्रत ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि इसके ही धारण करनेसे अनेक व्रत इसके अंगभूत बनकर आचरणमें आ जाते हैं और सब देव भी अनुकूल हो जाते हैं जिससे यज्ञोंकी सफलता होती है। जैसा कि—

" तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति "

(अथर्व. ११।७।१)

अर्थात् उस ब्रह्मचर्यव्रती पुरुषमें सब देव एक मन होकर सुप्रतिष्ठित होते हैं तथा अथर्ववेद (११।७।२) में—

" ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः
पृथक् देवा अनुसंयन्ति सर्वे "

अर्थात् ब्रह्मचारीका पितर, देवजन आदि सब अनुसरण करते हैं इसीलिये कहा है :—

' क्रियासु सकलास्वेव ब्रह्मचर्यं विवर्धयेत् ' (स्कन्द)

अर्थात् समस्त क्रियानुष्ठानोंमें ब्रह्मचर्यकी ही वृद्धि करनी चाहिये ।

ब्रह्मचर्य व्रत धारण न करनेसे असफलता

ब्रह्मचर्य ही सब व्रतोंका सार है और सब व्रतोंमें उत्तम है । इस पर यदि आचरण नहीं किया जाता है तो उससे यज्ञके फलका नाश होता है जैसा कि गोपथ ब्राह्मण (पू. प्र. १।१३) में कहा है :—

यद्वै यज्ञे अकुशला ऋत्विजो भवन्ति अचरितिनो ब्रह्मचर्यमपराग्या वा तद्वै यज्ञस्य विरिष्टि-मित्याचक्षते । "

अर्थात् जब यज्ञमें अकुशल, ब्रह्मचर्य व्रतका पालन न करनेवाले रागी-विषयी ऋत्विज् होते हैं तो यज्ञका नाश ही कहा जाता है । अतः यज्ञकी सफलताके लिये ब्रह्मचर्य व्रत अत्यन्त आवश्यक है ।

ब्रह्मचर्य व्रतके अनुष्ठानके नियम

इस सर्वश्रेष्ठ व्रतका अनुष्ठान करनेके लिये प्राचीन ऋषि मुनियोंने कुछ नियम बनाये हैं, उनके अनुसार यज्ञके दिनोंमें निम्न प्रकार आचरण करना चाहिये :—

१ दिवा मा स्वाप्सीः ।

जो ब्रह्मचर्यका व्रत ग्रहण करते हैं और ब्रह्मचर्यको धारण करते हैं उनको दिनमें शयन नहीं करना चाहिये । आयुर्वेदमें भी दिनमें सोनेसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है, ऐसा निम्न श्लोकमें कहा है :—

" दिवा स्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते ।
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः ॥

अर्थात् दिनमें सोने आदि दोषोंसे प्रतिश्याय (सर्दी-जुकाम) की उत्पत्ति होती है और उससे कास-खांसी, खांसी से क्षयकी उत्पत्ति होती है । अतः दिनमें नहीं सोना चाहिये और यज्ञके व्रती जनोंको इसका पालन करना चाहिये ।

२ क्रोधानृते वर्जय

क्रोध और असत्यका भी त्याग व्रतीको करना चाहिये क्योंकि—

" क्रोधान्मोहः प्रजायते मोहाच्च स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

अर्थात् क्रोधसे मोह उत्पन्न होता है । मोहसे स्मृतिमें भ्रम उत्पन्न होता है । स्मृतिके भ्रमित होनेसे बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नष्ट हो जानेसे सर्वस्व नाश हो जाता है । अतः व्रती पुरुषको क्रोध नहीं करना चाहिये ।

असत्यभाषणका त्याग

इसी प्रकार असत्य भाषणको अत्यन्त निकृष्ट कर्म-पाप माना गया है और सत्यको परम धर्म माना गया है । जैसा कि मनुने—

" नाहिंसायाः परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् "

इस श्लोकमें कहा है (असत्य) भाषणमें चोरीका भी बोध होता है- जैसा कि मनुने—

" वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला विनिस्सृताः ।
तां तु यः स्तेनयेत् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ "

अर्थात् वाणीसे उच्चारित होनेवाले शब्दोंका अर्थ नियत है । उस वाणीकी चोरी, असत्यभाषण, अन्यथा भाषणादि द्वारा जो करता है वह सब प्रकारकी चोरियोंका कर्ता होता है । इसलिये असत्यभाषण न करे ।

सत्यसे मन एवं मेधाकी शुद्धि

सत्यभाषण तप है जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषदमें कहा है-

ऋतं तपः सत्यं तपः ।

क्योंकि तपसे ही ऋत अर्थात् सापेक्ष ज्ञान जो प्रकृतिके पदार्थोंसे प्राप्त होता है और सत्य अर्थात् त्रिकालाबाधित ब्रह्मका सत्य ज्ञान प्राप्त होता है । जैसा कि- " ओ३म् तपः । ' के पश्चात् ' ओ३म् सत्यम् '-का क्रम है । तपसे ही " ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत "- ऋत और सत्य प्रकट होते हैं । उसी सत्यसे- " सत्यं पुनातु पुनः शिरसि "- अपनी मेधाकी शुद्धि होती है और उसी सत्यसे " मनः सत्येन शुध्यति "- मनकी भी शुद्धि है । तथा इस सत्य विद्यारूपी तपसे " विद्यातपोभ्यां भूतात्मा आत्माकी भी शुद्धि होती है अतः वेदमें—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि (यजु. १।५)

इस मन्त्रसे– मैं अनृत–असत्यको त्याग कर सत्यको प्राप्त करता हूं– यह प्रतिज्ञा–व्रत करनेका विधान किया गया है।

सत्यसे देवत्वकी प्राप्ति

शतपथमें कहा है—

सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः। एतद्वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात् ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति "–

अर्थात् देव सत्य बोलते हैं और मनुष्य असत्य बोलते हैं। इस सत्यभाषणके व्रतका पालन देव करते हैं, अतः उनकी सर्वत्र यश – कीर्ति प्रतिष्ठा निश्चयसे होती है। ऐसा सुनिश्चित जान कर जो इस व्रत पर आचरण करते हैं उनको भी यश प्राप्त होता है।

यज्ञसे देवत्वकी साधना

यज्ञमें देवभावको प्राप्त करनेके लिये सत्य बोलना चाहिये। इसलिये वेदने कहा- वाचं ते शुन्धामि (यजु. ६।१४) – यज्ञके द्वारा तेरी वाणीको शुद्ध करता हूं। वाणीकी शुद्धि असत्यके त्यागसे ही होती है। इसी प्रकार " सत्यं च मे श्रद्धा च मे · यज्ञेन कल्पन्ताम् (यजु १८।५) " ऋतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् "- (यजु १८।६) वाक् च मे मनश्च मे-यज्ञेन कल्पन्ताम्-आदि मन्त्रोंमें यज्ञके द्वारा सत्यभाषण वाणी, मन, श्रद्धा आदिको समर्थ बनानेके लिये कहा गया है। यह सब यज्ञके व्रत कर्मोंकी साधनासे ही सम्पन्न होता है।

(३) मैथुनं वर्जय

मैथुनका त्याग तो ब्रह्मचर्यके लिये परमावश्यक है। शास्त्रकारोंने मैथुन आठ प्रकारका कहा है; यथा—

" दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निवृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ "

अर्थात् रागपूर्वक स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्शन, उनके साथ परिहास, उनके सौन्दर्य प्रेमादिका वर्णन, उनके साथ एकान्तमें गुप्त वार्ता करना, उनके प्रति यह संकल्प कि यह मेरी हो और इसके लिये प्रयत्न करना और विषयानुभव करना आदि आठ प्रकारका मैथुन त्याग करना मनीषियोंने कहा है। इसी मैथुनत्यागके लिये अन्य प्रकारसे कहा है—

कायेन मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् शरीर, मन और वाणीसे सब अवस्थाओंमें सदा सब स्थानोंमें मैथुनका त्याग ब्रह्मचर्य कहाता है। अतः यज्ञके व्रतीको इसके पालन करने पर प्रमुख रूपसे ध्यान देना चाहिये।

(४) उपरिशय्यां च वर्जय

पलंग, खाट आदि पर न सोवे। यज्ञके दिनोंमें नीचे भूमि पर ही शयन करना चाहिये। शतपथमें भी– "अधः–शयीत " – यह आदेश यजमान एवं यजमानपत्नीके लिये यज्ञके दिनोंमें आहवनीयाग्निकी वेदीके पास नीचे भूमि पर शयन करनेके लिये लिखा है। क्योंकि यज्ञका अनुष्ठान करने पर देवगण यज्ञशालामें आते हैं। उनसे ऊपर अपनी स्थिति नहीं होनी चाहिये, अतः नीचे भूमि पर ही शयन और उपस्थिति रहनी चाहिये।

(५) कौशीलवगन्धनांजनानि वर्जय–

गाना बजाना, नृत्य,गन्ध लगाना तथा आंखोंमें अंजनादिके प्रयोगको छोडना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि व्यर्थका गाना, बजाना एवं नृत्य जिसका यज्ञ, उपासना आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, जो केवल रागकी ही तृप्तिके लिये है और जो यज्ञकी क्रियाका अंग नहीं है उसको छोडना चाहिये। अर्थात् लोक-नृत्य, गीत, वाद्यश्रवण एवं दर्शनमें मनोरंजनार्थ भाग नहीं लेना चाहिये।

इसी प्रकार यज्ञक्रियाके अंग-भूत चन्दनादि सुगन्ध लेपन आदि कार्योंको छोडकर अन्य प्रकारके गन्ध जो शौकिया ही लगाये जाते हैं, उनका यज्ञमें त्याग करना चाहिये। इसी प्रकार भस्मलेपनादिके अतिरिक्त शृंगारिक पाउडर, लिप-स्टिक रंजक आदि तथा अंजनादिका प्रदर्शनार्थ प्रयोग त्याग कर सात्त्विकवृत्ति युक्त रहना चाहिये।

(६) अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय—

अधिक स्नान, अधिक भोजन, अति निद्रा, अति जागरण आदि यज्ञके व्रतीको नहीं करना चाहिये। किसीकी निन्दा मनसे भी नहीं करनी चाहिये। लोभ-वश भी कार्य नहीं करना चाहिये तथा शोक आदिमें भी लिप्त नहीं रहना चाहिये।

(७) क्षुरकृत्यं वर्जय–

यज्ञके दिनोंमें क्षौर कर्म (हजामत बाल, दाढी आदि बनवाना) नहीं करना-करवाना चाहिये अपितु इनको धारण

करना चाहिये। यजुर्वेद अ. १९ मं. ८१ में- " लोमानि शष्पैर्बहुध वपुः "- शब्द है। इनका भाव यज्ञके लिये दाढी बढानेसे भी है, जैसा कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती इस मन्त्रके भाष्यमें लिखते हैं—

" जो बहुतकाल पर्यन्त दाढी मूछ धारणपूर्वक ब्रह्मचारी अथवा पूर्ण विद्यावाले जितेन्द्रिय भद्रजन है, वे ही यज धातुके अर्थको जानने योग्य अर्थात् यज्ञ करने योग्य होते हैं। अन्य बालबुद्धि, अविद्वान् नहीं हो सकते। " अतः " क्षुरकृत्यं वर्जयः "- पूर्वाचार्यों द्वारा उपदिष्ट आदेश वेदानुकूल है इसलिये यज्ञके लिये जिन यजमान एवं ऋत्विजोंको दीक्षित किया जाता है उनको जब तक यज्ञानुष्ठानादि कार्य पूर्ण न हो जावे तब तक क्षौरादि नहीं कराना चाहिये।

यदि क्षौर कराते हैं तो व्रतभंग हो जाता है। व्रतभंग नहीं करना चाहिये। ये क्षौरादि कर्म भी ब्रह्मचर्यके लोप करनेमें परोक्ष रूपसे सहायक होते हैं। इसीलिये- " अचरितिनो ब्रह्मचर्य अपराध्या वा " - जो अब्रह्मचारी हैं और राग शृंगारादिमें लिप्त है ऐसे ऋत्विजोंसे- " यज्ञस्य विरिष्टिमित्याचक्षते - यज्ञका नाश होता है, ऐसा गोपथ ब्राह्मणमें लिखा है।

(८) " मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय "

मांस, रूखा-सूखा, अस्निग्ध भोजन, मादक द्रव्य, तमाखू, बीडी, सिगरेट, गांजा, भांग, ताडी, मद्यादिका सेवन या पान किसी भी प्रकारसे नहीं करना चाहिये। यज्ञके दिनोंमें " भोजनं मधुरं स्निग्धम् " - मधुर रस युक्त और स्निग्धतासे युक्त घृत मक्खनादि पदार्थोंसे युक्त होना चाहिये और सात्त्विक होना चाहिये।

(९) अत्यन्त-अम्लातितिक्त-कषाय-क्षार- रेचन- द्रव्याणि मा सेवस्व

अत्यधिक खट्टे पदार्थ इमली आदि, चरपरे पदार्थ लालमिर्च आदि, अत्यन्त कसैले पदार्थ, क्षार, लवण आदि और रेचक द्रव्य इनका भी यज्ञके दिनोंमें सेवन नहीं करना चाहिए।

यज्ञके दिनोंमें नमकरहित भोजन करें

संस्कारके लिये व्रतीको नमक आदिसे युक्त भोजनका निषेध महर्षि स्वामी दयानन्दजीने संस्कारविधिमें निम्न-प्रकार किया है :-

(१) ' तीन दिन तक क्षार, लवण रहित पदार्थका भोजन ब्रह्मचारी किया करें। '- (वेदारंभ संस्कार)

(२) ' वधू वर क्षार आहाररहित व्रतस्थ होकर - (विवाह संस्कार)

(३) ' जिस दिन बालकका यज्ञोपवीत करना हो उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालकको करना चाहिये। उन व्रतोंमें ... दुग्ध-पान, ... यवागू... और आमिक्षा . इन तीन ही पदार्थोंका सेवन करे। अन्य पदार्थ कुछ न खावें पीवें। ' (उपनयन संस्कार) ये तीनों ही पदार्थ नमक रहित एवं मीठे ही हैं।

इन लेखोंसे ज्ञात होता है कि यज्ञके लिये व्रती होना चाहिये और व्रतीको नमकरहित भोजन करना चाहिये। शास्त्रकारोंने भी कहा है " क्षारं क्षौरं च लवणं मधु मांसं च वर्जयेत्। "

(१०) " अन्तर्ग्रामनिवासोपच्छत्रधारणं च वर्जय "

अर्थात् ग्रामके अन्दर निवास, जूतेका पहनना एवं छत्रादिका धारण नहीं करना चाहिये। यज्ञके अनुष्ठान करनेवालोंको ग्रामके अन्दर भी निवास नहीं करना चाहिये जिससे वे ग्रामकी लौकिक प्रवृत्तियोंके वशीभूत या उनसे प्रभावित न होकर यज्ञके ही अनुष्ठान कार्यमें पूर्णरूपसे लगे रहें। यजमान एवं ऋत्विजोंका सम्पर्क अनुष्ठानके दिनोंमें यज्ञादिमें ही लगा रहना चाहिये। अतः अपने व्यवसायसे भी अवकाश लेनेके लिये ग्रामका निवास त्यागकर यज्ञप्रदेशमें ही निवास करना उचित है। इसप्रकार साधनाकी सिद्धिमें ही मन लगाना उद्देश्य है।

यज्ञके दिनोंमें चर्मादिके जूते, चप्पल, बूट आदिका त्याग करना चाहिये और उन दिनोंमें काष्ठकी पादुका, खडांऊ या कपडेके जूते आदि चर्म रहित पगरखाओंकाही धारण करना चाहिये। ब्रह्मचर्यके नियमोंमें जूता पहिनना वर्जित है अतः यज्ञके दिनोंमें चमडेके जूते एवं अन्य भी चर्ममय वस्तुओंका परित्याग ही करना चाहिये।

(११) " सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव "

अर्थात् उत्तम स्वभाववाला, अनावश्यक न बोलनेवाला और सभ्य होना चाहिये। अतः यज्ञके दिनोंमें हास-परिहास, क्रीडा, ताश, चौपड आदि खेलना, अनावश्यक एवं अधिक बोलना, अनावश्यक गाना तथा किसी भी प्रकारकी कुचेष्टा

या असभ्यता, अनादर, अशान्ति आदि नहीं करनी चाहिये तथा सभ्यताका वर्ताव सबसे करना चाहिये।

(१२) "प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थाय आवश्यक कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर"

अर्थात् प्रतिदिन रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें जागकर आवश्यक कर्म शौच, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर स्तुति प्रार्थना और उपासना तथा योगाभ्यासका आचरण नित्य किया कर। अर्थात् ब्राह्म मुहूर्तमें ही यजमान एवं ऋत्विज उठें। तभी स्नानादिसे निवृत्त होकर केवल सन्ध्योपासना कार्यमें ही लग जावें। उन्हें प्रात काल ब्राह्ममुहूर्तमे शयन नहीं करना चाहिये और उठनेके बाद अन्य बाह्य किसी भी चर्चामें संलग्न नहीं होना चाहिये। प्रातः उठते ही रेडियो सुनना या लौकिक प्रवृत्तियोंमें लगना उचित नहीं है। मौन होकर जप, उपासना आदिमें लग जाना चाहिये।

पूर्वोक्त नियम ब्रह्मचारीके लिये ऋषियोंने पालन करनेके लिये लिखे हैं। यज्ञानुष्ठाता यजमान एवं ऋत्विजोंको भी ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है अतःब्रह्मचर्यकी साधनाके अंग-भूत पूर्वोक्त नियमोंका भी पालन उन्हें करना चाहिये। इनके अतिरिक्त यज्ञके लिये अन्य भी नियमोंका पालन शास्त्रकारोंने बताया है। यथा—

नैवाश्नीयात्

यज्ञके व्रती जनोंको आवश्यक है कि वे यज्ञसे पूर्व कुछ न खावें अर्थात् उपवास करें। उपवासका यहां तात्पर्य प्रधान रूपसे अनशनसे ही है। यही व्रत है। इसीलिये शतपथमें यज्ञ करनेवालेके लिये लिखा है कि - "अनशनमेव व्रतं मेने" अर्थात् अनशन - न खाने - निराहार रहनेको ही व्रत माना है। शरीर, इन्द्रियों तथा मनको अपने अपने दैनिक प्रवृत्तिमय आहारोंसे पृथक् रखकर उन्हें निराहार बनानेके लिये ही कहा है - नैवाश्नीयात्"। - यज्ञमें देवोंको आहुति देनेसे पूर्व भी कुछ भी नहीं खाना चाहिये।

यज्ञसे पूर्व खानेसे दोष

यदि यज्ञानुष्ठाता यज्ञसे पूर्व खा लेते हैं महर्षि याज्ञवल्क्यने शतपथमें लिखा है- "यद्येतदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेन देवान्नात्यश्नाति" - अर्थात् यदि यजमान यज्ञसे पूर्व खा लेता है तो उसकी हविको देवता ग्रहण नहीं करते हैं। अपने यज्ञको इस प्रकार नष्ट होनेसे बचानेके लिये और उसकी सफलताके लिये बिना खाये ही यज्ञमें देवोंको हवि अर्पित करनी चाहिये।

अतिथिसे पूर्व न खावें

बिना खाये ही यज्ञमें आहुति देनेका अन्य प्रयोजन यह भी है कि वेदमें अतिथिको खिलानेके बाद ही खानेका विधान है। यदि अतिथिसे पूर्व खा लेता है तो उसको पापका भागी बनना पडता है।

यज्ञाग्नि भी अतिथि है

यज्ञकी अग्निकोभी अतिथि माना गया है। वह अतिथि रूपमें ही उपस्थित होती है। यह देव अतिथि है। मानुषी अतिथिसे दैवी अतिथि और अधिक पूजनीय होता है। वेदने

"समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्"

इस मंत्रमें अग्निको अतिथि कहा है। अत. इस अतिथि रूप यज्ञाग्निको हवि प्रदान करके ही जो खाता है वह गीताके शब्दोंमें—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः"

अर्थात् यज्ञाग्निको आहुति प्रदान करनेके उपरान्त जो भोजन करता है वह सब पापोंसे मुक्त होता है। और इसके विपरीत आचरण करने वाला—

भुंजते ते त्वघं पापः ये पचन्त्यात्मकारणात्।

अर्थात् जो स्वार्थपरायण होकर अतिथिको यज्ञको आहुति प्रदान न करके स्वयंमें ही आहुति प्रदान करने वाले अपने ही उदरको भरनेवाले हैं, वे पापके ही भागी होते हैं अतः यज्ञाग्निमें आहुति देनेसे पूर्व यज्ञ करने करानेवालोंको कुछ नहीं खाना चाहिये।

यज्ञसे पूर्व खाना आसुरी सभ्यता है

यज्ञसे पूर्व खानेकी प्रवृत्ति आसुरी प्रवृत्ति या आसुरी सभ्यता है। यह अपने यज्ञको नष्ट करनेवाली और स्वयंके लिये भी अनिष्टकारक है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये शतपथ ब्राह्मण (५।१।१।१) में लिखा है :—

"ततः असुरा अतिमानेन एव कस्मिन् जुहुयाम इति स्वेषु आस्येषु जुह्वतः चेरुः। ते अतिमानेन एव पराबभूवुः।"—

अर्थात् असुर अपनेको सबसे श्रेष्ठ मानने एवं अभिमानसे यह सोचकर कि अन्य किसको हम खिलावें, वे अपने मुखमें ही भोजनप्रदानरूप यथेच्छ आचरण करने लगे। वे इसी

अतिमानसे ही अग्निमें पहले आहुति न देकर अपनेको ही उससे श्रेष्ठ समझकर खानेके कारण ही पराभवको प्राप्त हो गये।

इस आसुरी सभ्यता या व्यवहारसे मानव जातिको पृथक् रखनेके लिये, स्वयं पर संयमका अंकुश स्थापित करनेके लिये पूर्वाचार्योंने लिखा—

अस्नात्वा स्त्वमलं भुंक्ते ह्यजप्त्वा पूयशोणितम्।
अजुह्वंश्च कृमीन्कीटानदत्वा च शकृत्तथा॥

अर्थात् भोजन करनेसे पूर्व अन्य अतिथि कृमि, कीट, पशु पक्षियोंको भोजन, अन्नादिका दान करना चाहिये–इसके भी पूर्व अग्निमें हविको अर्पित करना चाहिये। यज्ञसे पूर्व सन्ध्या जपादि करना चाहिये और इससे पूर्व स्नान करना चाहिये। इस प्रकार स्नान, सन्ध्याजप होम और अतिथि यज्ञ करके जो भोजन करता है वह पवित्र भोजन- भगवत्प्रसादको प्राप्त करता है। जो बिना स्नान किये, बिना सन्ध्या किये, होम किये और बिना अतिथिको भोजन कराये भोजन करते हैं वे अन्य नहीं अपितु मल, पीप, कीट, विष्ठादिको खाते हैं ऐसा समझना चाहिये। अतः यज्ञसे पूर्व कुछ नहीं खाना चाहिये।

उपवासमें खाना चाहिये क्या ?

उपवासमें निराहार भी रहना पडता है और स्वशरीरके बलको क्षीण न होने देनेके लिये नियत आहार भी करना पडता है। इसीलिये गोभिल गृह्यसूत्रमें लिखा है —

" उपवासदिननियतखाद्यं औपवसथिकम् "

अर्थात् यज्ञके दिनोंमें उपवासके समय केवल नियत आहार – खाद्य जो उपवासके नियमोंके अनुकूल है वही थोडी मात्रामें ग्रहण करना चाहिये।

उपवासमें क्या खाना चाहिए ?

उपवासके दिनोंमें हविष्यान्न, फल, दूध, दही, यवागू, आमिक्षा आदि लेना चाहिये। बिलकुल निराहार नहीं रहना चाहिये। हविष्य अन्नमें यज्ञ शेष, जौका सत्तू तथा जौ आदि है। अन्य भी ग्रन्थोंमें यज्ञके दिनोंमें किन अन्नादि पदार्थोंका ग्रहण करना चाहिये इस बारेमें लिखा है—

व्रीहिषष्टिकमुद्गश्च कलायः सतिलं पयः
श्यामाकाश्चैव नीवारा गोधूमाद्या व्रते हिताः॥

अर्थात् व्रतादिमें जौ, चावल, मूंग, मटर, तिल, प्रियंगु-पतईके चावल, गेंहू आदि, कुलथी, कन्दमूल आदिका ग्रहण करना चाहिये। यह आहार व्रतोंमें हितकर है क्योंकि व्रत कर्मोंमें सात्त्विक, लघु एवं सुपाच्य आहार ही होना चाहिये। यह आहार सूर्यास्तके पश्चात् रात्रिके प्रारम्भमें किया जाता है। अर्थात् दिनमें अन्न ग्रहण न करें। अनुष्ठान कर्ताओंको 'नक्ताशिनः' (ऋग्विधान) सक्तुयावकभैक्षाशि नक्तं मनुजसत्तम (ऋग्विधान), हविष्यव्रतनक्तादेः" आदि कार्यकी सफलताके लिये रात्रीमें भोजन करनेका संकेत करते हैं और 'नोरू रात्रे कथंचन रात्रिके मध्यमें खानेका निषेध भी करते है। ऐसी स्थितिमे व्रतमें दिवसके मध्य दूध, आमिक्षा आदिका ग्रहण एक या अनेक बार थोडी मात्रामें किया जा सकता है।

परन्तु जो बीमार हैं उनके लिये यज्ञसे पूर्व न खानेका नियम नहीं है। वे आवश्यकतानुसार स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये यज्ञसे पूर्वभी औषध, पथ्य आदि ले सकते हैं और जो संस्कार्य बालक हैं उनकोभी यज्ञसे पूर्व कुछ खिलाकर बैठाना चाहिये जिससे वे शान्तचित्त होकर यज्ञमे बैठ सकें।

यज्ञके दिनोंमें त्याज्य आहार

यज्ञके दिनोंमें जो आहार ग्रहण किया जाता है वह नमक क्षार, आदि रहित होना चाहिये। जैसा कि-

लवणं मधु मांसं च क्षारांशो येन भूयते।
उपवासे नैव भुंजीत नोरूरात्रे कथंचन'

में आदेश है। इसी प्रकार महर्षि दयानन्दजीने संस्कार विधिमें लिखा है कि "क्षार लवण रहित पदार्थका भोजन करें।' इसी प्रकार जो पदार्थ तामसी प्रकृतिके तथा वात-वर्धक हैं उनका भी त्याग करना चाहिये। व्रतमें निषिद्ध शाकादिके बारेमें एक ग्रन्थमें लिखा है :-

'कूष्माण्डालाबुवार्त्ताकिपालंकीज्योत्स्निकांस्त्यजेत्।

अर्थात् व्रतादिके अवसरोंपर कद्दू, तूंबी, बैंगन, कुंदरू, घचेडा आदिका सेवन न करें।

यज्ञके दिनोंमें मिट्टीके पात्रोंमें भोजन न करें

यज्ञके दिनोंमें मिट्टीके पात्रोंमें भोजन आदि नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो यजमान या ऋत्विज् हैं उनको गायत्रीका उपदेश हो चुका होता है उनको उसके पश्चात् मिट्टीपात्रम खान पान वर्जित है जैसा कि गोभिल गृह्यसूत्रमें लिखा है-

' आदेशनात् प्रभृति न मृण्मये अश्नीयात् न पिबेत्

अर्थात् सावित्रीके उपदेशके पश्चात्से ही मिट्टीके पात्रोंमें न खावे और पीवे ही। अतः यज्ञके अवसरपर तो इसका आचरण करना ही चाहिये।

आत्माकी अमरता

(लेखक— श्री भैरवदत्त शुक्ल)

卐

विश्व वैचित्र्यका केन्द्र है। तत्वज्ञानोंकी विविधता, दर्शनोंकी विभिन्नता और लोकाचारोंकी अनेकता तनसे थके, मनसे हारे और धनसे हीन कट्टु वर्तमानयुगीन अनास्था ग्रस्त जनोंको भयंकर द्विविधा-संकुल मानसिक द्वन्द्वसे विमूढ़ बना डालती है। यही कारण है कि वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् प्रभृति ज्ञान-भण्डारोंसे परिपूर्ण भारतका बुद्धिजीवी वर्ग अपनी मानसिक अशांतिके निवारणार्थ हेगेल, काण्ट डेकार्टे, बॉर्ज रसेल आदि पाश्चात्य विचारकोंके भारी भरकम ग्रन्थोंकी शरणमें जाता है और समयके अमूल्य क्षणोंके अपव्ययोपरांत श्रान्त, क्लान्त और अवसन्न स्थितिमें सिर लटकाये लौटता है।

विविध प्रश्नों-संप्रश्नोंके बीच एक प्रश्न यह भी उठाया जाता रहा है कि क्या आत्मा अमर है? इस प्रश्नका उत्तर कई प्रकारसे देनेके बहुतसे प्रयत्न किये गये हैं। इसी प्रश्नसे संबद्ध उत्तर पानेके लिए हम यहां पर केवल एक ऋचा उद्धृत करते हैं—

> ओ३म्। अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्। स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः॥
>
> (१।१६४।३१)

इसका तात्पर्य यह है कि अविनश्वर ऋजु और वक्र (आगे और पीछे) भी मार्गोंसे चलने-फिरनेवाले और व्यवहार करनेवाले इन्द्रियोंके अधीश्वर (आत्मा) को मैंने देखा है, उसका अनुभव किया है, उसे जान लिया है। वह सरल स्थितियों-विषम स्थितियोंको धारण करते हुए लोकोंके मध्य बार-बार आता है।

इतनी छोटी ऋचाके भाव कितने महार्घ और प्रभावपूर्ण हैं! इसमें आत्माका विशेषण 'अनिपद्यमानम्' है जो स्पष्टरूपेण अविनश्वरता – अमरताका सशक्त-द्योतक है।

परन्तु, अमरता या अविनश्वरताके बहुत-से विशिष्ट लक्षण होते हैं। जबतक उन्हें सामने न प्रस्तुत किया जाय तबतक आत्माकी अमरता पर हरएक व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता। उन विशिष्ट लक्षणोंमेंसे कुछकी चर्चा इस ऋचामें भी की गयी है—

इन्द्रियोंका प्रभु और रक्षक आत्मा

आत्मा 'गोपा' अर्थात् इन्द्रियोंका अधीश्वर है। शासक शासितसे, राजा प्रजासे, नेता अनुयायीसे भिन्न होता है। इसलिए इन्द्रियोंका अधीश्वर होनेके कारण आत्मा भी उनसे भिन्न है। जो लोग इन्द्रियोंको ही आत्मा समझते हैं, वे बहुत बड़े भ्रममें हैं। वस्तुतः इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं। आत्मा तो इन्द्रियोंका पति है, अधीश्वर है। 'पा' का अर्थ रक्षक भी होता है। इससे हम आत्माको इन्द्रियोंका रखवाला भी मान लेते हैं।

जबतक शरीर-दुर्गमें आत्मा-अधीश्वरका अस्तित्व है, तभी तक नेत्र देख सकनेमें समर्थ होते हैं; कान सुन पाते हैं, पैर गतिशील रहते हैं और हाथ कार्य करते हैं। जहां आत्मा-अधीश्वर बाहर निकला, शरीर-दुर्ग भरभराकर गिर पड़ता है और सभी इंद्रियोंकी कार्यक्षमता अदृश्य हो जाती है। इस प्रकार वेदमें अधीश्वरके लिए रक्षक होनेकी विशेष अनिवार्यता घोषित कर दी गयी है।

अमर अविनाशी आत्मा

आत्माका कभी अन्त नहीं होता। इन्द्रियां नष्ट हो जाती हैं। एक न एक दिन—चाहे जितने योग, औषधि आदिके प्रयोग किये जायें ये एक निश्चित अवधिके अनन्तर विनाश-गति प्राप्त ही करती हैं। इनका घर या निवास-देह भी विनष्ट हुए बिना नहीं रहती। परंतु 'देही' अर्थात् आत्मा चाहे इन्द्रियां चल बसें, चाहे देहका अन्त हो जाये; किसी भी दशामें नहीं मिटती। ऐन्द्रिय विकारोंसे भी आत्मा निर्लिप्त रहती है। इसीलिए तो उच्चस्वरसे उद्घोषित किया गया है कि यह आत्मा अमर-अविनाशी, सदैव रहनेवाली है। इसका कभी भी उच्छेद नहीं होता—

अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा
बृहदारण्यकोपनिषद्; (४।५।१४)

यह आत्माकी अविनश्वरता उन तमाम झंझटोंसे विवेकियों-विचारकोंको परित्राण प्रदान कर देती है जो प्राची और पाश्चात्य दार्शनिक परंपरामें आज भी अनिर्णीत और जटिल समझी जाती है।

आत्माको अनित्य माननेसे निम्न लिखित उलझनोंका पैदा हो जाना संभव है—

(क) यदि आत्माको विनाशी मान लिया जाये तो यह स्वीकार करना स्वाभाविक ही होगा कि आत्माका भी शरीरकी भांति जन्म होता है। तब दरिद्रता-समृद्धि, पुष्टांगता विकलांगता - आदि उन विभेदोंका सही कारण ज्ञात करना कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी हो जायगा जो कर्मानुसार फल मिलनेके कारण उद्भूत हो जाया करते हैं।

(ख) अगर आत्मा अनित्य हुई तो किये हुए कर्मोंका किसी व्यक्ति या प्राणीपर कोई प्रभाव ही नहीं पडेगा। मरणकालिक अन्तके कर्मोंका फल न भोगकर आत्माका नष्ट हो जाना भयंकर अव्यवस्थाका जनक होगा। तब तो फिर, सांसारिक व्यवस्थाका हेतु ही समझमें नहीं आ पायेगा।

(ग) बिना कारण ही भले-बुरे, लबे-बौने, काले-गोरे शरीरका पाना और सुख-दुःख भोगना उस समय तो दार्शनिक जगतमें एक ऐन्द्रजालिक कार्यमात्र माना जाने लगेगा जिससे संस्कारोंके प्रभाव, पूर्वजन्मके कर्मोंके सुपरिणाम या दुष्परिणाम और पुनर्जन्मवाद प्रभृति उन भारतीय दार्शनिक तत्त्वोंकी आधारशिला ही ध्वस्त हो जायगी जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक आस्थाहीन कुण्ठाग्रस्त संसार भी कुछ सीमातक मानने लगा है।

इसीलिए वेदमें आत्माको अविनाशी स्वीकार किया गया है। इससे विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण समझनेमें युक्तिशीलता भी सहायिका बन जाती है। आत्मा को पैदा होनेवाला मानकर, उसे अविनाशी न स्वीकार करनेसे तो बेचारे तर्क असहाय बनकर रह जायेंगे। अतएव यह बात पूर्ण युक्तिसिद्ध और तर्कसंगत है कि आत्मा 'अनिपद्यमान' है।

कर्म करनेमें स्वाधीन आत्मा

उपर्युक्त ऋचामें स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा सीधे टेढे-मेढे मार्गोंसे विचरण करती है-

आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
(ऋग्वेद; १।१६४।३१)

सम-विषम वीथियोंमें वही घूम-फिर सकता है जिसके सामने कोई अवरोध या बाधा न हो। दूसरे शब्दोंमें वेदके अनुसार आत्मा कर्म करनेमें पूर्ण स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता के ही आधारपर उसके कर्म दो प्रकारके हो जाते हैं—

(क) ऊर्ध्वगामी और (ख) अधोगामी कर्म

(क) ऊर्ध्वगामी कर्म- वह है जो आत्माको निरन्तर ऊपर अर्थात् परमप्रभु जगन्नियन्ताकी ओर बढाता है। हम इसे अधिक स्पष्ट करनेके लिए यों कह सकते हैं कि संसारमें तीन अविनाशी, अनादि और नित्य तत्त्व हैं- प्रकृति, आत्मा और परमात्मा। इनमें प्रकृति केवल 'सत्' स्वरूप है, अर्थात् उसकी सत्ता भर है; आत्मा 'सत्' और 'चित्'

स्वरूप अर्थात् ' सच्चित् है जिसका अर्थ यही है कि आत्मामें सत्ता और चेतना– दोनों तत्त्व निहित हैं तथा परमात्मामें ' सत् ' ' चित् ' और ' आनन्द ' तीनों गुण साथ–साथ रहते हैं जिनसे ही उसे पूर्ण ' सच्चिदानन्द ' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

ऊर्ध्वगामी कर्म वे कर्म हैं जो आत्मा ' सत्ता 'का संबल लेकर चेतनाकी भाव भूमिकापर क्रमशः साधनाशील बनकर ' आनन्द ' की उपलब्धि या प्रभुमें लीन हो जानेके लिए करती है। तप, स्वाध्याय, सुसंस्कार प्रभृति उपादानोंके माध्यमसे आत्माको आनन्दकी ओर पूर्णोन्मुख होनेका अवसर मिलता है · इसीको ' नि श्रेयस् ' की प्राप्ति भी कहा जाता है।

(ख) अधोगामी कर्म— वह कर्म है जो आत्मा चेतनाके बल पर संस्कारोंकी विपथगामिताके कारण ' सत्ता ' या जड प्रकृतिकी ओर उन्मुख होनेके लिए संपादित करती है। इससे यह परिणाम निकलता है कि आनन्दकी उपलब्धिसे आत्मा बाहर हो जाती है और राग, वासना एवं आसक्ति की अधिकताके कारण उसे अविद्याके तिमिराच्छादित कूपमें भटक-भटक कर सिसकना पडता है। इसीलिये गीतामें कहा गया है कि कर्म करना ही तेरे अधिकारमें है, फल तेरे अधिकार की वस्तु नहीं है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(श्रीमद्भगवद्गीता; २।४७)

कुछ भी हो, आत्माको इस विषयमें पूर्णरूपेण स्वाधीनता है कि वह भले बुरे, शिव–अशिव जैसे चाहे, वैसे कर्म करे। उस पर किसी प्रकारकी रोक नहीं हो सकती। यह केवल उसी पर निर्भर है कि वह चाहे तो ' निःश्रेयस् ' आनन्द या ऊर्ध्वगामिताका वरण करे और यदि चाहे तो जड प्रकृति, राग–विरागसे संबद्ध भयंकर द्वन्द्व या अधोगामिता को स्वीकार करे।

कर्मफल भोगनेमें पराधीन आत्मा

यहां जैसा बोया जाता है, वैसाही काटना पडता है। जो किया जाता है उसीका कुफल–सुफल अंगीकार करना अनिवार्य होता है। भाव यह है कि आत्मा कर्म करनेमें तो स्वतंत्र है परन्तु फल पानेमें पूर्ण परतंत्र। यदि कहीं उसे कर्म-स्वातंत्र्यकी ही भांति फल-स्वातंत्र्य भी प्राप्त होता तो उसके दोनों हाथोंमें लड्डू होते। तब तो प्राकृतिक नियमबद्धता, सामाजिक व्यवस्था और नैतिक विकासोन्मुखताका कोई नाम लेवा भी न होता और शायद सृष्टिके अनादि प्रवाह तथा परब्रह्मकी मधुर सरस लीलाओंका अता-पता भी न होता। पर उस दयालु विधाताने अपने न्याय और नियम-पालनको ध्यानमें रखकर आत्माकी फल-व्यवस्था पर अपना अनिवार्य अंकुश लगाये रखा। यही कर्मवाद है। आत्माके अच्छे कर्मका अच्छा परिणाम मिलता है और बुरे कर्मका बुरा फल। स्वातंत्र्यके सदुपयोगसे वह ऊर्ध्वगामी बन कर निःश्रेयस् लाभ करती है किन्तु उसीके दुरुपयोगसे अधोगामिता का शिकार होकर उसे ' अभ्युदय ' से भी वंचित रह जाना पडता है और आवागमनकी कुत्सित परंपरा ओढनी पडती है।

बार-बार जन्म लेनेवाली आत्मा

ऊपर संकेत किया गया है कि आत्माको प्रभु द्वारा प्राप्त स्वातंत्र्यके सदुपयोग या दुरुपयोगके अनुसार सरल या विषम स्थिति-व्यूहसे पार होना पडता है। यह पार होनेकी प्रक्रिया या कर्म–फल भोगनेकी पावन परंपरा बार-बार विभिन्न लोकोंमें आत्माके जन्म लेने पर ही गतिशील रह पाती है। इसीका स्पष्ट संकेतक ऋचाका यह भाग है कि— आ वरी-वर्ति भुवनेष्वन्तः ' (ऋग्वेद; १।१६४।३१)– (आत्मा) विभिन्न लोकोंमें बार-बार जन्म लेता या चक्कर काटता है।

इस व्यवस्थाके ही आधार पर संसारमें यह बात प्रकट होते देर नहीं लगती कि किसके कर्म अच्छे थे और किसके बुरे? क्योंकि अतीतकालीन कर्मोंकी अच्छाई या बुराईके ही आधार पर वर्तमान समयका भला या बुरा समय प्रतिभासित होता है। स्वतंत्रताका सदुपयोग न करनेसे ही तो बेचारी आत्मा अच्छे कर्म करती हुई भी दर-दरकी ठोकरें खाती है। उसे अच्छे कुल, परिस्थिति और वंशमें जन्म लेकर भी विफलता, निराशा और आधि-व्याधिजन्य भयंकरतासे आंखें चार करनी पडती है।

साथ ही, इसे भी न भूलना चाहिए कि अतीतके कुकर्मों-की आधारशिला पर विनिर्मित कुफलकी विराट् अट्टालिकामें रहकर जो आत्मा पुण्य कमाने या सुकृत करनेका प्रयत्न करती है, उसका भावी परिणाम–प्रासाद शिवतत्त्व–संवलित सफलताप्रद बन जाता है।

इसी आधारपर यह निस्संकोच स्वीकार करना पडता है कि जगन्नियन्ता परमेश्वरकी ओरसे मनमाने ढंगसे किसीको न तो सुगति मिलती है और न दुर्गति ही ।

दो शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि आत्माके अधिकारमें कर्म करना मात्र है; उसका फल अधिकृत करना या स्वयं प्राप्त कर लेना नहीं और प्राप्तफलके आधारपर ही उसके वर्तमान तथा आगामी जीवनका ताना-बाना तैयार किया जाता है ।

साक्षात्कार गर्भिता

उपर्युक्त विवेचनसे आत्माकी वास्तविक स्थितिका स्पष्टीकरण हो जाता है । उसे अयुक्त या निस्सार सिद्ध करनेके सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए बिना नहीं रह सकते । पर, वेदमें तो और भी आगे कह दिया गया है कि मैंने (या हमने) देख लिया है, जान लिया है और भलीभांति अनुभव कर लिया है ।

' अपश्यम् '

(ऋग्वेद; १।१६४।३१)

इस वैदिक कथनके माध्यमसे प्रभुने प्रत्येक विवेकशील व्यक्तिपर यह उत्तरदायित्व आरोपित कर दिया है कि वह जानवरोंकी भांति सिर्फ खा पीकर मौज ही न उडाये वरन् प्रज्ञाकी पारदर्शिताके सहारे आत्मसाक्षात्कार करे । यह तभी संभव हो सकता है जब कि आत्मविषयक उल्लिखित तत्त्वोंको हृदयंगम करते हुए तर्क-तुलापर तोलकर श्रद्धाके सान्निध्यसे देखा जाये, अनुभवमें लाया जाये और साक्षात्कारकी खरादपर चमकाया जाये ।

यह आत्मसाक्षात्कारकी प्रक्रिया भी कई कोटियोंको पार करनेपर ही परिपूर्ण हो पाती है । उन कोटियोंमें प्रमुखता तीन की है-

(क) आत्मज्ञान-आत्माके विबोधार्थ हमें अनिवार्य रूपसे वेद तथा वैदिकसाहित्यका अध्ययन और स्वाध्याय करना चाहिए । यदि अवसर हो परिस्थिति प्रतिकूल न हो और अवकाशके क्षण पास हो तो गुरुकी कृपाका संबल प्राप्त करना चाहिए आत्मतत्त्वका जैसा सुन्दर और स्पष्ट प्रतिपादन वेदमें किया गया है, वैसा अन्यत्र संसारके किसी भी तत्त्वज्ञान विबोधक ग्रंथमें शायद ही मिल सके । जिन्हें आत्माके विषयमें जिज्ञासा है, उनके लिए तो येन केन प्रकारेण स्वाध्याय- यह भी वेदों अथवा वेदसंबद्ध साहित्यका स्वाध्याय अमृततुल्य सिद्ध होता है-

' श्रोतव्यः '-(बृहदारण्यक; ४।५।६)

वेदवाक्य सुनने अपेक्षित हैं (आत्मज्ञानार्थ)

(ख) पूर्णमनन- केवल सुन, पढ या जान लेनेपरसे संसारके तुच्छातितुच्छ तृण आदिका तो वैशिष्ट्य ज्ञात नहीं होता, फिर भला सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्व किस प्रकार स्पष्ट हो सकेगा ? इसीलिए दूसरा सोपान बतलाया गया है— मनन ।

मन्तव्यः (बृहदारण्यक ४।५।६)

युक्तियोंसे युक्त मनन करना उचित है । जो कुछ भी पढा, जाना या सुना जाये उस पर श्रद्धाके साथ तर्काश्रित होकर पूर्ण मनन करना चाहिए । मननमें

(१) सुन जान या पढ लेनेके पश्चात् कोई बात पूर्ण रूपसे हृदयंगम करना

(२) उसके औचित्य और अनौचित्य, गुण और दोष' याथार्थ्य और अयाथार्थ्यके सही आधार और मापदंड निर्धारक उपादान तथा सक्षम निकष खोजना

(३) उसकी शाखाओं-प्रशाखाओंसे परिचित होना और

(४) उसे अवास्तविकताकी परिधिसे छुटकारा दिला कर ठोस धरातल पर अधिष्ठित करना-ये चार स्थितियां स्वभावतः समाविष्ट हो जाती हैं ।

(ग) बार-बार आचरण

किसी भी सुंदर तत्त्वको जान लेना और जाने हुए पर भलीभांतिसे मनन कर लेना ही पर्याप्त नहीं है जानना और मनन करना तो केवल सैद्धांतिक या आदर्शात्मक पक्ष है । उसका सही लाभ तो तभी मिल सकता है जबकि आचरण-वह भी बार-बार किया जाय—

' निदिध्यासितव्यः ' (बृहदारण्यक० ४।५।६)

जानी हुई और मननकी हुई अच्छी सीख या बात पर आचरण करना व्यावहारिक पक्ष कहलाता है जिसके बिना कोई लाभ नहीं हो पाता ।

इस विषयका एक छोटा सा उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है । मानलो कि हमें रसगुल्ला बनानेकी पद्धतिका पता चल गया, ज्ञात पद्धतिको हर पक्ष तर्कोंसे तौल कर

परख लिया गया परन्तु यदि स्वयं बार-बार बनानेका प्रयत्न न किया जाय तो उसका पता लगाना और परखना अलाभकर ही रहेगा। लाभ तो तभी मिलेगा जब अच्छे न बनने या बिगड़ने पर भी रसगुल्ले बार-बार बनाये जायें यही स्थिति आत्मसाक्षात्कारकी है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्म-विद्या पलायनोन्मुखी न होकर ठोस व्यावहारिकता पर प्रतिष्ठित है। यह प्रवाद व्यर्थ है कि अध्यात्म वास्तविक जीवनसे कोसों दूर है। सच बात तो यह है कि वे तत्त्व जो हमें वास्तविक जीवनकी ओर सार्वजनीन हितकी दृष्टिसे परिपूर्ण बना कर मोड़ देते हैं, वे सबके सब शुभ्र परम आध्यात्मिक होते हैं। अन्तर केवल स्थूलता और सूक्ष्मता काही होता है। यह हृदयंगम किये बिना कोई भी सभ्य, समृद्ध और शिक्षित राष्ट्र वास्तविक उन्नतिकी सुसज्जासे परिचित नहीं हो सकता। उसके सामने समुपस्थित छोटीसे छोटी समस्या भी भयंकरी कृत्यावत् प्रतीत होने लगती है।

दूसरी ओर जिनकी आध्यात्मिकता ठोस वास्तविक जीवनसे असंपृक्त है, वे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र और चाहे जो कुछ हों, अध्यात्मवादी नहीं कहे जा सकते। उन्हें घोर पलायनवादी और आत्मतत्त्वज्ञानके पथके अवरोधके रूपमें स्वीकार करना चाहिए : किसी प्रकारका भी अतिवाद हानिकर होता है। मध्यम स्थिति ही तो स्थितप्रज्ञताका अभिधान पाकर जीवनोपयोगिनी ऊर्ध्वगामिनी साधनाके सही छोर छू पाती है।

चाहे कोई आस्तिक हो या नास्तिक पर यदि उसे उल्लिखित आत्मज्ञानकी वास्तविक अनुभूति हो गई, तो उसमें निम्नलिखित प्रमुख गुणोंका समावेश अवश्य हो जायगा—

(क) साहस — वह भीरु या पलायनवादी नहीं होगा। उसके कार्यमें उत्कट लगन और उद्दाम सक्रियताका सम्मिश्रण परिलक्षित होगा। भयंकरसे भयंकर आपदाके समुपस्थित होने पर भी उसका साहस पूर्ववत् बना रहेगा। उसमें पस्तहिम्मती तो होगी ही नहीं। वह उच्चादर्शोंकी प्राप्तिके लिए अपने प्राणके उत्सर्ग करनेका सुअवसर खोजता रहेगा। जीवनकी कठिनाइयां उसे विचलित न कर सकेंगी।

(ख) धैर्य— वह छोटे या बड़े संघर्षोंमें आकुल-व्याकुल व्यग्र-अधीर और अशान्त-विक्षुब्ध हो जानेकी भूल कभी कभी न करेगा। वह लाजवन्तीका नाजुकमिजाज पौधा न बनकर समय पड़ने पर कुलिशवत् कठोर बन जायगा। उसका मस्तक हिमगिरिके सर्वोच्च शिखरके सदृश उन्नत रहेगा। उसकी रिमतिमें तड़िताकी तड़प भले हो पर उसका हृदय सागरकी मर्यादा और गंभीरतासे भरा रहेगा।

(ग) निर्भीकता—जब उसमें यह अनुभूति हो जायगी कि वह अजर, अमर, अविनाशी देही (आत्मा) है, क्षणभंगुर, मर्त्य, विनाशी देह नहीं; तभी उसमें असीम निर्भीकताकी अत्यंत प्रखरधारा प्रवाहित हो चलेगी। चाहे परिस्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल, चाहे स्वजन समर्थक हों या विरोधी, चाहे भोग्य साथ हो या अलग और चाहे सफलताका सर्वाधिक स्नेह मिले या अछोर घृणा; वह किसी बाधा या अवरोधकी चिन्ता न करके नित्य निर्भीक बना रहेगा। वह धनको मिट्टीके ढेलेसे अधिक महत्त्व नहीं देगा; तनको परिवर्तित हो जानेवाले वस्त्रोंसे बढ़कर न मानेगा; प्राणको अतिथिके प्रति अर्पित किये जानेवाले पानसे अधिक महत्ता नहीं प्रदान करेगा और जीवनको सारे समाजकी धरोहर स्वीकार करेगा। फिर, उसे कुछ नष्ट हो जानेकी चिंतामें तो कभी घुलना ही न पड़ेगा। अशफाक, आजाद और सुभाष जैसी महती विभूतियोंका कण्ठहार बना यह गुण अपनी महत्ताके अमिट रंगसे किसी भी राष्ट्रको उन्नतिके उच्चातिउच्च तोरन पर पहुंचानेकी क्षमता रखता है

शाश्वत प्रश्न

संसारमें कुछ शाश्वत और सार्वभौमिक प्रश्न मानवोंके मस्तिष्कोंमें प्रादुर्भूत होते हैं । इन प्रश्नोंके समाधानमें महात्मायें कृतसंकल्प होती हैं और अपना जवानी भरा जीवन और सम्पत्ति आदिका त्याग कर तप तथा अनुसन्धान के द्वारा कृतकार्य होती हैं । संसारकी समस्त पवित्रात्मायें एक स्वरसे मानवोंके कल्याणका सन्देश देते हैं । प्रथम प्रश्न मृत्युभयका होता है । मनुष्य तथा अन्य-चेतन-प्राणी सभी मृत्युके भयसे भयभीत देखे जाते हैं, चाहे आस्तिक हों, चाहे नास्तिक, चाहे डाक्टर हों, चाहे वैज्ञानिक, चाहे राजा हो या रंक, विद्वान् अथवा मूर्ख हों सबके सिरपर मौतका भय सवार रहता है । मूलशंकर शिवरात्रीकी घटनासे सच्चे शिवके विषयमें प्रश्न करने लगे । परन्तु ज्ञान तथा वैराग्यके बिना यह प्रश्न कैसे हल हो सकता था ? कुछ दिनोंके पश्चात् इनके प्रिय चचा तथा बहनकी मृत्युकी घटना घटी । इस घटनाके द्वारा वैराग्यका अंकुर इनके हृदयमें अंकुरित हुआ और मृत्युसे छुटकारा पानेका उपाय सोचने लगे । ईश्वर-भक्ति इनमें प्रथमसे ही थी, ज्ञानका भी प्रादुर्भाव हो चुका था । निष्कर्ष यह है कि शुद्धचैतन्यने जिन प्रश्नोंको मनमें लेकर संसारमें विचरण किया वे ये हैं कि हम क्या हैं? ईश्वर क्या है ? इस नश्वर संसारमें हम मृत्युसे कैसे मुक्त हो सकते हैं ? ये प्रश्न ही संसारके शाश्वत प्रश्न कहलाते हैं। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, गीता, कुरान, बाईबल तथा संसारके महामानव इन्हीं प्रश्नोंका समाधान करते हैं । इन्हीं प्रश्नोंने कितनोंको संसारसे मुक्त करा दिया, कितनोंको जीवनमें ही मुक्त कर दिया ।

शुद्ध चैतन्यसे दयानन्द बने

शुद्ध चैतन्य इक्कीस वर्षकी आयुमें, यौवनके प्रथम उच्छ्वास में, गुरुओंकी तलाशमें, विद्वानों, संन्यासियोंका सत्सङ्ग प्राप्त करनेके लिये इधर उधर घूमने लगे । उस समयके विद्वान्, संन्यासी तथा सभी सम्प्रदायके लोग शंकराचार्यके अद्वैत-वादसे पूर्णतया प्रभावित थे । सब कर्मको हेय समझते हुये संसारको मिथ्या समझते थे । और मिथ्याज्ञानके अहंकारमें अपनेको ब्रह्म कहते थे । हालांकि उनमें संसार तथा आत्म-ज्ञानका भी अभाव था । मूलशंकर शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी थे अतः इनको अपने हाथसे ही भोजनादि पकाना पड़ता था तथा भोजनादिका प्रबंध भी करना पड़ता था। इससे इन्हें पढ़नेमें असुविधायें भी उठानी पड़ती थीं । अतः इन्होंने संन्यास ग्रहण करनेका निश्चय किया । परन्तु इस नवयुवकको कौन संन्यासाश्रममें दीक्षित करे ? यह एक जटिल प्रश्न था। बडे बडे आत्मज्ञानी यही सोचते थे कि इस नवयुवकको कैसे संन्यासी बनावें; उन्हें शंका हो रही थी कि यह इस कठिन व्रतसे कहीं च्युत न हो जाये ? अतः इन्हें कई संन्यासियोंके पास जाकर निराश होना पड़ा । दूसरे संन्यासियोंमें सम्प्रदायगत नियम भी थे जो देशगत-नियमोंमें आबद्ध थे । इस विषयमें स्वामी दयानन्दजी स्वयं कहते हैं " इस घटनाके कई मास पीछे दो विरक्त पुरुष दक्षिणापथसे आकर एक टूटे हुये घरमें, जो जंगलमें था, ठहरे थे । जहां मैं रहता था वहांसे वह घर प्रायः एक कोस दूर था । उन विरक्त पुरुषोंमेंसे एक ब्रह्मचारी दूसरा संन्यासी था । पूर्वोक्त दक्षिणी पण्डितको इन नवागत साधुओंके दर्शनकी अभिलाषा हुई और वह मुझे साथ लेकर उनके पास पहुंचे । मेरे मित्र वेदान्तशास्त्रमें विशेष रूपसे पारदर्शी थे । उन्होंने साधुओंके साथ ब्रह्मविद्याकी आलोचना प्रारम्भ की । उनकी परस्परकी आलोचनासे ज्ञात हुआ कि उन दोनोंमेंसे हरएक प्रगाढ पण्डित था । उन लोगोंने कहा कि हम शृंगेश्वरी मठसे आ रहे हैं जो दक्षिणापथमें शङ्कराचार्यका स्थापित किया हुआ है और द्वारिकाको जा रहे हैं । उनमेंसे एकका नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। उनसे अपने लिये (संन्यासके लिये) सविशेष उपरोध करनेके लिये मैंने दक्षिणी पण्डितसे कहा । उसके अनुसार उक्त पण्डितने मेरे सम्बन्धमें पूर्णानन्दसे कहा कि यह एक युवक ब्रह्मचारी है । इनकी यह बहुत इच्छा है कि मैं निर्विघ्न होकर वेदान्तशास्त्र पढूं । पण्डितजीने कहा कि मैं साक्षी दे सकता हूं कि इनका स्वभाव, चरित्र बहुत ही शुद्ध और निर्मल है। इन सब कारणोंसे मेरे विचारमें यह संन्यास-ग्रहण करने योग्य हैं, यद्यपि संन्यासाश्रम अतीव कठिन और श्रेष्ठ है । यह कह कर उन्होंने पूर्णानन्दसे मुझे संन्यासकी दीक्षा देनेका अनुरोध किया और इसके साथ यह भी कहा कि संन्यासाश्रममें प्रवेश करके यह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जायेंगे और ब्रह्म-विद्याकी आलोचनाके मार्गपर बिना रुकावटके आगे बढ सकेंगे । दक्षिणी मित्रके अनुरोध करनेपर पूर्णानन्दने प्रथम तो आपत्ति की और कहा दीक्षार्थीकी आयु अधिक नहीं है और यह गुजराती और मैं महाराष्ट्री हूं, फिर मैं इन्हें कैसे दीक्षा दे सकता हूं । इन्हें किसी गुजराती स्वामीसे ही दीक्षा ग्रहण

करनी चाहिए। यह सुनकर मेरे दक्षिणी मित्रने कहा कि जब दक्षिणी स्वामी गण गौडादिको दीक्षितकर सकते हैं तो इन दीक्षार्थीको क्यों नहीं दीक्षा दे सकते? क्योंकि यह तो पञ्चद्राविडोंके ही अन्तर्गत हैं। पूर्णानन्द इसपर सहमत हो गये और तीसरे दिन दीक्षित करके मुझे दयानन्द सरस्वती नाम प्रदान किया।" उस समय स्वामीजीकी आयु चौबीस वर्षकी थी।

स्वामी विरजानन्दसे भेंट

शुद्ध चैतन्य जब संन्यासी होकर स्वामी दयानन्द सरस्वतीके रूपमें हो गये तो इन्हें योग सीखनेकी तीव्र इच्छा हुई। इस प्रकार योगाभ्यास तथा अध्ययन और भ्रमण करते हुए इन्हें बड़े बड़े संकटोंका मुकाबिला करना पड़ा। ये नर्मदाके तटों, आबूपर्वत और दूसरे स्थानोंमें घूमते रहे। इन्होंनेअपने जीवनमें प्रथमवार हरिद्वारके कुम्भमेलेका विशाल दृश्य देखा। यहाँ पर इन्होंने बड़े-बड़े विद्वानों साधुओं और संन्यासियोंका सत्सङ्ग प्राप्त हुआ। योगविद्याके ग्रन्थोंकी तलाशमें इन्हें तन्त्रादि ग्रन्थोंको भी पढ़नेका अवसर मिला। और व्याकरण साहित्य, ज्योतिष, तन्त्रादि विषयोंका भी सम्यक् अध्ययन किया। जब स्वामीजी इधर उधर भ्रमण करके श्रान्त हो गये और शारीरिक क्लेशके निवारणार्थ ओरवी मठमें ठहरे। अलखनन्दा तथा उत्तराखण्ड आदि स्थानों में भ्रमण करते हुये उन्होंने अपना १२–१३ वर्ष योगियोंके अनुसंधान और योगविद्याके अनुशीलनमें लगाया। भ्रमणावस्थामें स्वामीजीने तुषाराकीर्ण पर्वतोंकी नदियोंके किनारे महान् संकटोंका मुकाबिला किया। जैसा कि स्वयं कहते हैं "एक बार मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि इसी हिमराशिमें पड़े रहकर ही मैं अपने प्राणोंका अन्त कर दूँ, किन्तु थोड़ी ही देर पीछे मेरी ज्ञानलालसा इतनी प्रबल हो उठी कि मैंने यह विचार छोड़ दिया"।

भ्रमण करते हुए स्वामी दयानन्दको ज्ञात हुआ कि मथुरामें दण्डी विरजानंद नामक प्राचीन व्याकरण तथा आर्षग्रन्थोंके मर्म और कुशल विद्वान् संन्यासी रहते हैं। इसीलिये वह काशी आदि स्थानोंमें घूमने और नर्मदाके उद्गम स्थानको देखनेके पश्चात् ही मथुरामें दण्डी विरजानन्द प्रज्ञाचक्षुकी सेवामें शिष्य भावसे उपस्थित हुये। स्वामी दयानन्द सम्वत् १९१७से १९२० तक मथुरामें आर्षग्रन्थों तथा वेदोंका अध्ययन करते रहे। स्वामी विरजानन्दने जब इन्हें अपनी पाठशालामें प्रविष्ट किया तो इन्हें दो बातोंका आदेश दिया। प्रथम आदेश था कि तुम अपने रहने और भोजनादिका प्रबन्ध कर लो। दूसरा आदेश इन्हें यह दिया गया कि तुमने अब तक जो कुछ अध्ययन किया है उसे सर्वथा भूल जाओ।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि दण्डी विरजानन्दने मनुष्यप्रणीत ग्रन्थोंके ज्ञानको भूलनेका क्यों आदेश दिया? दण्डीजीका दृढ़-विश्वास था कि मनुष्य-प्रणीत-ग्रन्थ अनार्ष भावनाओंसे भरपूर एवं साम्प्रदायिक पक्षपातसे युक्त तथा दुर्बोध भी है। अनार्ष ग्रन्थोंसे अर्थात् अवैदिक और मनुष्य रचित ग्रन्थोंसे पाखण्ड फैलता है जिसके कारण जनता वैदिक पवित्र ज्ञानसे वञ्चित हो जाती है। और दण्डीजी कहा करते थे कि ऋषिप्रणीत ग्रन्थ ही सच्चा ज्ञान प्रदान करते हैं। उस समय भारतमें पाखण्डियोंने वैदिक सूर्यको अपने विचारप्रचारके बादलोंसे ढक रखा था। इन्हीं कारणोंको ध्यानमें रखकर दण्डीजीने स्वामी दयानन्दको उत्तम आदेश दिया, वह यह भी जानते थे कि इनका हृदय ऋषि ग्रन्थोंके ज्ञानसे शून्य तथा अनार्ष-ग्रन्थोंके ज्ञानसे प्रभावित है। नियम है कि पवित्रको रखनेसे पूर्व पात्रको भी सर्वथा पवित्र करना नितान्त आवश्यक है अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे दण्डीजीने पूर्वके अभ्यसित विषयोंको भूलनेका आदेश दिया।

दण्डीजी एक ऐसे शिष्यकी तलाशमें थे जो उनके मनोभावों तथा विद्याओंको ग्रहण करके वैदिकधर्मके मार्तण्ड पर आच्छादित अनार्ष-अज्ञानके मेघोंको अपने प्रबल तर्कके पवन थपेड़ोंसे छिन्न-भिन्न करनेमें सक्षम हो। प्रज्ञाचक्षुने अपनी दिव्य-दृष्टिसे दयानन्दके हृदय एवं बुद्धिका परीक्षण किया और उसे अपनी भावनाओंके अनुरूप पाया। क्योंकि स्वामी दयानन्दजी भी अब तक सुयोग्य गुरुकी तलाशमें तीर्थों, वनों और पर्वतकी कन्दराओंमें भ्रमण कर रहे थे। भारतके सौभाग्यसे सुयोग्य गुरु-शिष्यका मिलन हो गया। इस प्रकार स्वामी दयानन्दका तीन वर्षमें पाठ समाप्त हुआ। और वेदोदयका बीजारोपण भी सुसम्पन्न हो गया। वेदोदय ही भारतोदय है। भारतोदयके इस महान्-कार्यमें मथुराके श्री दुर्गाप्रसाद तथा श्री अमरलालजीने ऋषिको जो आर्थिक सहयोग प्रदान किया उसके लिये भारतकी जनता कृतज्ञ है। श्री अमरलालजीके विषयमें एक स्थान पर ऋषि स्वयं उनका आभार प्रकट करते हैं "आहार और गृह आदिकी मुक्त हस्तसे सहायता करनेके कारण मैं अमरलालका नितान्त आभारी हूँ"।

मैं यहां एक बात और भी बता देना आवश्यक समझता हूं कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध किस प्रकार होना चाहिए ? यह ज्ञान ऋषिके इस अध्ययनकालसे जाना जा सकता है। इस समय स्वामीजीकी आयु उन्तालीस वर्षकी थी। सम्भवतः यही अवस्था कृष्णकी भी थी जब कि उन्होंने गुरु सन्दीपनका शिष्यत्व प्राप्त किया। दोनोंने इस समय तक पूर्ण शारीरिक बौद्धिक और आत्मिक विकास कर लिया था। ऋषि गुरुजीके आश्रममें झाड़ू लगाते, यमुनासे बहंगीमें गुरुके स्नानके लिये पानी लाते थे। दण्डीजीका ऊपरी व्यवहार बड़ा कटु था, परन्तु उनका हृदय शिष्योंके प्रति बड़ा ही कोमल था। ऋषिको कई बार गुरुका कोप तथा दण्ड-भाजन भी बनना पड़ा। आप स्वयं सोचिये कि इतने बड़े शिष्यको मार बैठना तथा बुरी तरहसे फटकार देना और शिष्यका उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना कितना अपूर्व गुरु-शिष्यका आदर्श था। दण्डीजीने अपनी समग्र-विद्या तथा मनोगत-भावनाओंको दयानन्दको अवगत करा दिया। जैसे पुत्रके स्वभावके भीतर पिताका स्वभाव भी प्रकट रूपसे विद्यमान रहता है, वैसे ही शिष्यकी प्रवृत्तिमें आचार्य्य भी निगूढभावसे स्थित रहता है।

विचित्र गुरु-दक्षिणा

भारतमें यह वैदिक प्रथा प्राचीनकालसे चली आ रही है कि विद्या-समाप्ति पर शिष्यको गुरुदक्षिणा देनी चाहिए। जैसा कि महाभारतमें ऐकलव्य, कौरव पाण्डवोंकी द्रोणाचार्यके लिये दक्षिणा और कालिदासके रघुवंशमें कौत्सकी वरतन्तुकी गुरुदक्षिणा प्रसिद्ध है। परन्तु यह गुरुदक्षिणा सर्व विशिष्ट और अपूर्व है। दयानन्दजी विद्या समाप्त कर चुके तो सोचने लगे कि गुरुजीको दक्षिणामें क्या दूं ? इनके सामने यह एक जटिल प्रश्न था। इनकी बुद्धिमें आया कि गुरुजीको लवंग बहुत प्रिय है अतः इन्हें यही पदार्थ भेंट करूं। परन्तु यह भी लाये कहांसे, फूटी कौड़ी तो पास में है ही नहीं ? यह निश्चय करके स्वामीजी बाजार गये और भिक्षा करके आधासेर लवङ्ग ले आये। दूसरे दिन प्रातःकालीन सभी क्रियाओंको समाप्त करके लवङ्गका पात्र हाथमें लेकर गुरुजीके सम्मुख उपस्थित हुये और अवरुद्ध-कण्ठसे कहने लगे कि "मेरा अध्ययन समाप्त हो चुका, मैं आपसे विदा लेना चाहता हूं" यह कर स्वामीजीने लवङ्गका पात्र गुरुके सामने रख दिया। इस संदर्भमें स्वामीजी अपनी आत्मकथामें स्वयं कहते हैं।

"मैं एक संबलहीन संन्यासी हूं, मैं दक्षिणा देनेका सामर्थ्य कहांसे लाऊं ? इतना सुनकर गुरुदेव बोले "मैं तुमसे धन नहीं मांगता बल्कि तेरा जीवन चाहता हूं, तू अपना जीवन मुझे दक्षिणामें दे और प्रतिज्ञा कर कि जितने दिन जीवित रहेगा उतने दिन तक वैदिक-धर्मको प्रतिष्ठित करने और भीतरके अज्ञानांधकारको दूर करनेका यत्न करेगा। इसके अनुसार गुरुदेवसे प्रतिज्ञाबद्ध होकर मैंने यह व्रत धारण किया। मैं ज्ञानके अनुसन्धानमें बहुत स्थानोंमें बहुत दिनोंतक फिरा हूं, परन्तु मेरी तृप्ति अन्तमें गुरु विरजानन्दके चरणोंमें बैठकर ही हुई है"।

दयानन्दका कर्तव्य-क्षेत्रमें प्रवेश

स्वामी दयानन्द श्री दण्डीजीके गुरुतम-आदेशको शिरोधार्य करके मथुरासे आगराको रवाना हुए। इस समय भी स्वामी दयानन्दजी पक्के शैव थे। इस महान् कार्यके श्रीगणेश करनेके पूर्व स्वामीजीने आत्मनिरीक्षण किया, तो उन्होंने यह अनुभव किया कि संसारमें आत्मिक-बल और स्वाध्याय ही मेरी सफलताके सच्चे साधन हैं। अतः सर्व प्रथम इनको प्राप्त करना आवश्यक है। वह प्राणायामादि योगके अङ्गोंके साधनमें विशेष रूपसे रत रहने लगे, कभी कभी वह अठारह अठारह घण्टे तक एक आसन पर ध्यानावस्थित हो कर बैठे रहते थे। उस समय यह अनार्ष ग्रन्थोंकी निकृष्टता प्रतिपादन करने और भागवतके खण्डनके अतिरिक्त और किसी प्रकारका खण्डन मण्डन नहीं करते थे। स्वामीजीसे उनके पूर्व परिचित पण्ड्याजीने प्रश्न किया कि गुरुजीके आदेश अर्थात् समाज सुधारका कार्य आपने कहां तक किया ? इसपर स्वामीजीने उत्तर दिया कि जब तक मैं सम्पूर्ण रूपसे वेदोंकी आलोचना नहीं कर लूँगा, तबतक गुरुदेवके आदेशोंको पूर्णतया कार्यमें नहीं परिणत कर सकता। इसके पश्चात् स्वामीजी ऋषिग्रन्थों तथा वेदोंके अनुसन्धान तथा मननमें लग गये। वेद-मन्त्रोंका मनन वे समाधि लगा कर किया करते थे।

इस प्रकार स्वामीजीका कार्य प्रारम्भ हुआ। उनका स्वभाव था कि वह सत्यके ग्रहण करने और असत्यके छोड़नेमें सदा उद्यत रहते थे। अतः उन्होंने आगे चल कर शैव-मतका भी खण्डन प्रारंभ कर दिया। कुछ दिनों बाद आप गौ रक्षा और वेदके पठन पाठन पर बल देने लगे। सन् १८६६ तक यह ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर, अजमेर, मेरठ आदि स्थानोंका भ्रमण कर चुके थे। और बड़े बड़े राजाओं तथा विद्वानोंका

इन्होंने परिचय प्राप्त कर लिया था। इसी बीचमें ईसाई और मुसलमानोंके मतोंका स्वामीजीने खण्डन प्रारम्भ कर दिया। पादरी जानराबसनसे भी स्वामीजीका धार्मिक विषय पर वाद-विवाद हुआ। इसका उल्लेख पादरीसाहेबने अपनी पुस्तक Hinduism and Christianity "हिन्दू धर्म और खिस्तधर्ममें किया है। इन्होंने इस पुस्तकमें यह भी बताया है कि स्वामी दयानन्दके विचारोंमें क्रमिक विकास हुआ है।

"हाथमें पाखण्ड-खण्डनी पताका धारण की"

स्वामी दयानन्दजी सन् १८६७ ई० में सप्त सरोवर पर ठहरे। यह स्थान हृषीकेश और हरद्वारके बीच तीन कोसकी दूरी पर है। यहां पर "पाखण्ड खण्डनी" पताका गाड़ दी। इस समय भी स्वामीजीका वेश शैव-सम्प्रदायके अनुसार ही था। इस समय स्वामीजी मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तिलक, कण्ठी आदि बाह्याडम्बरोंका ही खण्डन करते थे। यह समाचार बड़े जोरसे साम्प्रदायिक संसारमें फैलने लगा। दर्शकों, श्रोताओं तथा विरोधियोंकी भीड़ लग गई। सच्चे-हृदयके व्यक्ति इनके उपदेशोंसे प्रभावित होते थे, परन्तु सम्प्रदायोंके ठेकेदार, पुजारी, पण्डे, पुरोहित इन्हें नास्तिक कहते हुये लौट जाते थे। इस समय स्वामीजी जन्मसे वर्ण-व्यवस्था नहीं मानते थे। वह गुण, कर्म, स्वभावके अनुसार ही वर्ण-व्यवस्थाका प्रतिपादन करते थे क्योंकि जन्मना वर्ण-व्यवस्था अतर्क संगत तथा समाजके लिये हानिकारक भी थी।

वर्ण—व्यवस्था और समाज—संगठन

वेदोंने समाजको समझानेके लिये एक विराटपुरुषका रूपक बांधा है। समाजकी स्थिति तीन विशेषताओं पर आधारित है। जिसे शिक्षा, रक्षा और उत्पादनके नामसे अवगत किया सकता है। समाजको शिक्षित करनेका जिन्होंने बीड़ा उठाया है उन्हें ब्राह्मण नामसे, जिन्होंने समाजकी रक्षा का उत्तरदायित्व संभाला है वे क्षत्रिय नामसे विख्यात हुये। शेष दो वर्ग वैश्य और शूद्र अपने उत्पादनके द्वारा समाजको स्थिर रखते हैं। यह व्यवस्था वैदिक और प्राचीन है जो किसी न किसी रूपमें सर्वत्र और प्रत्येक राष्ट्रोंमें देखी जाती है। जन्मना वर्णव्यवस्था माननेसे समाजमें मिथ्याभिमान और ऊंचनीचकी भावना भी उत्पन्न होती है। इसकी वजहसे समाजमें दल-गत-जातीय भावनायें उठती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रमें पक्षपातका बाजार गर्म होता है और परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता पीछे पड़ जाती है। परन्तु जब हम इसे गुण, कर्म, स्वभावानुसार मानते हैं तो उक्त बुराइयोंके प्रादुर्भावका अवसर नहीं मिलता। सभी राष्ट्रमें टीचर, सैनिक, उत्पादक और श्रमिक वर्ग हैं। इन वर्गोंको शास्त्रोंमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा गया है। सब मनुष्योंमें सभी प्रकारके कार्योंके सम्पादनकी क्षमता नहीं होती, लोगोंमें कार्य करनेकी अभिरुचियां भी असमान होती हैं। अतः योग्यता-सम्पादनके पश्चात् जिसकी जिस कार्यके सम्पादनमें अभिरुचि हो, उसको इसी कार्यके सम्पादनका अवसर मिलना चाहिए, वर्ण-व्यवस्थाका भी यही मूल सिद्धान्त है। अतः जो वर्ग समाजको शिक्षित बनाता है वह ब्राह्मण, जो वर्ग समाज तथा राष्ट्रकी सुरक्षाकी व्यवस्था करता वह क्षत्रिय, इसी प्रकार जो वर्ग पूंजी तथा श्रमके द्वारा राष्ट्रकी आर्थिक उन्नति करते हैं उन्हें वैश्य और शूद्र कहते हैं। कुछ नये विचारकोंका कहना है कि अब इन शब्दोंका भी अभिनवीकरण करना चाहिए क्योंकि ये शब्द काफी अपवादित हो चुके हैं।

कुम्भके मेलेपर स्वामीजीने क्या देखा ?

इन्होंने देखा कि समाजमें अविद्याका अन्धकार सर्वत्र फैला हुआ है, सभी मतके लोग अर्थात् हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन सबके सब अपने सम्प्रदायगत अन्धविश्वासों में कसे हुए हैं। सभी सम्प्रदायोंके विद्वान् अपनी अपनी योग्यतासे जनतासे धन कमा रहे हैं। साधुओं और उपदेशकोंने भी समाजको अपने उदर-पूर्तिका साधन बना लिया है। समाजमें सभी प्रकारकी कुरीतियां मौजूद हैं। हिन्दुओंमें सम्प्रदायोंकी भरमार है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायके कट्टर विरोधी हैं। हिन्दुओंको हड़पनेके लिये ईसाई और मुसलमान कोशिश कर रहे हैं। धर्मका स्थान आडम्बरने ले रखा है। ऐसी दशामें स्वामीजीके मनमें देशहित और समाजकल्याणकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई।

इस स्थितिमें उन्होंने सोचा कि इस प्रकार अन्य साधुओंकी भांति रहने सहनेसे देश या संसारका कल्याण नहीं हो सकता। उन्हें संसारकी मोह-वासनासे सर्वथा ऊंचा उठाना होगा, जो ज्ञान उन्हें गुरु विरजानन्दकी कृपा, वेदादि सत्यशास्त्रोंके अवगहन एवं अनुशीलनसे प्राप्त हुआ है, उसका निर्भय होकर प्रचार करना चाहिये। इन विचारोंका स्फुरण उनके मनमें हो ही रहा था कि एक दिन व्याख्यान देते देते यद्-

गद हो गये और "सर्वं वै पूर्णं स्वाहा" कह कर उठ खड़े हुए और उठनेके साथ ही जो कुछ सामग्री उनके पास थी उसे लोगोंको बांटने लगे उन्होंने निश्चय किया कि संस्कृतमें ही भाषण करेंगे।

माझीकी आधी रोटी

कुछ दिन स्वामीजीने मौन रहनेका व्रत धारण किया। परन्तु एक दिन उनके समीप एक पण्डित आकर भागवतका यह श्लोक पढने लगा "निगम-कल्पतरोर्गलितं फलम्" अर्थात् वेदरूपी कल्प वृक्षका फल गल यानी सड गया है अतः शुकदेवके मुंहसे निर्गत भागवतके मीठे फलका आस्वादन करो।" इसे सुनकर स्वामीजीने मौन-व्रत भङ्गकर दिया और भागवतका खण्डन करने लगे। इस प्रकार जब स्वामीजी सहारनपुर पहुंचे, वहां इन्हें तीन दिन तक निरा-हार रहना पडा। एक खेतवालेको संकेत किया। उसने उन्हें तीन बैंगन दिये। उन्हींको खाकर अपनी भूख मिटाई। वहांसे चलकर मुजफ्फरनगर पहुचे। वो पण्डितोंसे शास्त्रार्थ किया। एक दिन मुहम्मदपुर जिला बिजनौरमें एक पीपलके वृक्षके नीचे बसेरा किया। वहांसे चलकर गढमुक्तेश्वर पहुंचे, वहां कई दिन रहे। वहां भी तीन दिन तक निराहार रहे, तब एक माझीने अपनी रोटीमेंसे आधी रोटी तोडकर दी और वह उसे खाकर रह गये।

चपत द्वारा नवीन वेदान्तका खण्डन

एक दिन खंदोई ग्रामका छत्रसिंह स्वामीजीके पास आया और स्वामीजीसे नवीनवेदान्तपर वादविवाद करने लगा। वह अपनेको ब्रह्म बताता था। जब वह स्वामीजीकी युक्तियोंका कुछ उत्तर न दे सका तो कहने लगा कि महाराज आप जो कुछ कहें, हम तो "सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या" ही मानते हैं। स्वामीजीने इसका कुछ उत्तर न दिया, परन्तु आगे बढकर उसके गालपर एक चपत लगा दिया। इसपर क्रुद्ध होकर वह कहने लगा आप ऐसे व्यक्तिको मत-भेदके कारण ऐसा नहीं करना चाहिए। स्वामीजीने कहा कि चौधरीजी ! जब जगत् मिथ्या है और ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं तो वह कौन है जिसने आपके मुंहपर थप्पड लगाया। छत्रसिंह जो युक्ति से न मानता था चपत खाकर सीधा हो गया। उसकी ज्ञानकी आंखें खुल गईं और उसने स्वामीजीके चरण पकड़कर कहा कि महाराज आपने मेरी आँखें खोल दीं। वेदान्तवाद अनुभव – विरुद्ध है। मनुष्यकी बडबडाहट है।

तपस्वी दयानन्द

संसारका कल्याण करना कठिन बात है। इसके लिये अपूर्व साहस और साधनाकी आवश्यकता होती है। इन दोनों विशेषताओं द्वारा ही मानवको दैवीशक्तियां प्राप्त होती हैं। इन्हीं दैवी अद्भुत शक्तियोंके द्वारा ही लोक-हित सम्पादित किया जाता है। दैवी शक्तियां तपस्या द्वारा अर्जित की जाती हैं। स्वामी दयानन्दने भी तपस्याके द्वारा सभी द्वन्द्वों अर्थात् सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, हानि-लाभ, मानापमान आदि पर विजय प्राप्त कर ली थी। ऐसे साधकको ही द्वन्द्वातीत कहा गया है। माघमें एक दिन प्रातःकाल शीतलवायु चल रही थी। कडाकेका जाडा पड रहा था। लोग लिहाफोंको छोड कर बाहर नहीं निकल सकते थे। परन्तु स्वामीजीके कुछ भक्त ऐसे थे जो वर्षा हो या आंधी, जाडा हो या गर्मी स्वामीजीके उपदेशके अलभ्य लाभसे वञ्चित होना नहीं चाहते थे और स्वामीजी भी उपदेश कार्यसे छुट्टी नहीं लेते थे। उस दिन भी हमेशाकी तरह स्वामीजी पद्मासन लगाये उपदेश दे रहे थे। उनके स्वर तथा शरीरमें कोई प्रकम्पन न थी। उन पर शीतातिशयका कोई प्रभाव न था, परन्तु श्रोता लोगोंकी बत्तीसी कटकटा रही थी। लोगोंके पूछने पर स्वामीजीने बताया कि ब्रह्मचर्य और योगाभ्यासके द्वारा इनका सहन किया जा सकता है। इतनेमें एक भक्त श्री गोपालसेनने स्वामीजीसे कहा कि इस बातका क्या सबूत है। महाराजने अपने हाथके अंगूठे दोनों घुटनों पर रख कर दबाया और उसी समय उनके सारे शरीरसे पसीना चू निकला।

अभ्यासकी महनीयता

कर्णवासकी संभवतः घटना है कि एक दिन जो जीमें आई तो स्वामीजी किसीको सूचना दिये बिना कर्णवाससे चल पड़े हुए और गंगातटपर भ्रमण करने लगे। बहुत दिनों तक इधर उधर विचरते रहे। रात्रिके समय चांदनी छिटक रही थी, शीताधिक्य अपना साम्राज्य जमाये हुए था। संयोगवश दो अंग्रेज उधर आ निकले। इतनी रात्री बीतनेके समय उनका वहां आना आखेटके कारण ही हो सकता था। वे एक साधुको ऐसे शीतमें विवस्त्र दशामें गङ्गाकी ठण्डी बालुकामें बैठा हुआ

देखकर आश्चर्यमें निमग्न हो गये और टकटकी लगा कर उनकी ओर देख रहे थे। जब साधुने (स्वामीजीने) आंखें खोलीं तो उसके पास गये। उनमेंसे एक बदायूंका कलक्टर था और दूसरा उसका मित्र पादरी था। कलक्टर साहबने कहा कि हमें बड़ा आश्चर्य है कि आप नदीके तट पर ठण्डी रेत पर रात्रिके समय, केवल एक लंगोट लगाये ऐसे शीतलमें बैठे हैं। स्वामीजी अभी कुछ कहनेवाले थे कि उनका मित्र पादरी बोल उठा कि यह माल खाकर मुटा गये हैं, इन्हें जाड़ा कैसे लग सकता है। ? स्वामीजीने कहा कि हम दाल रोटीके खानेवाले क्या माल खा सकते हैं ? मांस तो आप खाते हैं, मांस मदिरा और अण्डे उड़ाते हैं। यदि शीतका न लगना माल खाने न खाने पर निर्भर हो, तो आइये वस्त्र उतार कर थोड़ी देर मेरे साथ बैठ जाइये। इस पर वे लज्जित होकर, अन्य बातें करने लगे। स्वामीजीने कहा इसका मुख्य कारण अभ्यास है। जिस प्रकार आपका मुख खुला रहता है और जाड़ा नहीं लगता उसी तरह यदि सारा शरीर खुला रहे तो सारे शरीरको जाड़ा नहीं लगेगा।

अहिंसाका अद्भुत प्रभाव

एक दिन स्वामीजी उपदेश कर रहे थे। सभा मण्डपमें श्रोतागण खचाखच बैठे थे कि एक जाट क्रोधमें भरा हुआ एक मोटा लट्ठ लिये हुये आया और आते ही स्वामीजीको सम्बोधित करके बोला अरे साधु ! तू मूर्तिका खण्डन करता है, गङ्गा मैयाकी निन्दा करता है, देवी देवताओंको बुरा कहता है। झटपट बता यह लट्ठ तेरे कहां मार कर तुझे समाप्त करूं ? यह सुन कर एक बार सारी सभा विचलित हो गई, परन्तु स्वामीजीकी शान्ति व धैर्य भङ्ग न हुआ। उन्होंने गम्भीरतापूर्वक उससे कहा यदि तू समझता है कि मेरा धर्म-प्रचार करना अपराध है, तो इसका अपराधी मेरा मस्तिष्क है। वही मुझसे यह कार्य कराता है। इसलिये यदि तू अपराधीको दण्ड देना चाहता है, तो अपना लट्ठ मेरे सिर पर मार। यह कह महाराजने अपनी दृष्टि उस पर डाली। स्वामीजीकी आंखें ज्यों ही उसकी आंखोंसे मिलीं त्यों ही उसका हिंसा-भाव विलुप्त हो गया और वह महाराज के चरणों पर गिर पड़ा और वह रोकर अपना अपराध क्षमा कराने लगा। स्वामीजीने कहा तुमने हमारा अपराध नहीं किया है। यदि तुम मुझे मारते तो भी कोई बात थी। अब व्यर्थ क्यों रो रहे हो जाओ ईश्वर तुम्हें सन्मार्ग दिखावे।

आत्माकी अमरताका विश्वासी दयानन्द

(कर्णसिंह और स्वामी दयानन्द)

कर्णवासके बरौली गांवमें रावकर्णसिंह अकस्मात् स्वामीजी का प्राणघातकशत्रु बन गया। उसकी शत्रुताका कारण उसका अज्ञान ही था। मानव अज्ञानसे मित्रको भी शत्रु समझ बैठता है। वास्तवमें यही स्थिति कर्णसिंहकी भी थी। कर्णसिंहको बल, धन, जन सभी प्रकारका मद था। घर निहत्था संन्यासी साधु था। एक दिन राव कर्णसिंह उस स्थल पर गये जहां स्वामीजी मत मतान्तरोंका खण्डन कर रहे थे। कुछ क्षण बाद स्वामीजीके खण्डनको सुनकर वह आग बबूला होकर बोले कि अब तुम खण्डन करोगे तो इसी तलवारसे तुम्हारा सिर काट डालूंगा। स्वामीजीसे कहने लगे महाराज रङ्गाचारीके सामने तू कीड़ेके तुल्य है, तुम जैसे उसके आगे जूतियां उठाते हैं। स्वामीजीने गम्भीरतासे कहा कि रङ्गाचारीकी मेरे सामने क्या गति है। अब क्या था ? कर्णसिंह गालियोंकी झड़ी लगाने लगा, स्वामीजी बैठे हुये हंस हंस कर उसकी गाली सुन रहे थे। इतनेमें वह तलवार म्यानसे निकालकर स्वामीजी पर झपटा, तब महाराजने गरज कर उसकी तलवार हाथसे छीन कर उसे जमीन पर रोककर तोड़ डाला।

पापका फल

दुष्ट अपनी दुष्टतासे नष्ट हो जाता है और साधु अपनी साधुतासे आत्म-रक्षा कर लेता है। कर्णसिंह जैसे घर पहुंचा वैसे ही उसका प्यारा घोड़ा रोगग्रस्त होकर मर गया। यह एक संयोग हो या, परन्तु लोगोंने कर्णसिंहसे कहा कि तुमने साधु दयानन्दको कुवाक्य कहा है उसीका कुफल है कि तुम्हारा घोड़ा मर गया। कर्णसिंहके एक शूल उठा जिसके कारण उसे बड़ा कष्ट हुआ। एक पण्डितने कहा यह सब तुम्हारे एक महात्माको कुवाक्य कहनेका परिणाम है। इस पर उसने कई रुपयोंका मिष्टान्न स्वामीजीके पास भेजा और अपने अपराधके लिये क्षमा मांगी। परन्तु स्वामीजीने वह मिष्टान्न यह कह कर वापस कर दिया कि उसने हमारा कोई अपराध नहीं किया।

स्वामीजीके प्राण-घातकी कर्णसिंहकी दुबारा कुचेष्टा

कर्णसिंहको अपने रावपनका नशा सवार था। वह इस

लिये चिढ़ रहा था कि स्वामीजी हमारे सामने हमारे मतका विरोध क्यों करते हैं, हमारे धमकानेसे खण्डन करना क्यों नहीं बन्द करते ? स्वामीजीको अपनी अमरता पर विश्वास था वह मानवकी धमकी की परवाह नहीं करते थे, वह डरसे अपने उद्देश्यसे कब विचलित होनेवाले थे ? स्वामीजी वहां आकर पुनः ठहरे और धुवाधार भागवतादि पुराणोंका खण्डन करने लगे। अब क्या था उसके मनमें स्वामीजीके कतल करवानेकी बात उत्पन्न हुई। उसने वैरागियोंको उकसाया और कहा कि दयानन्दका सिर काट डालो, मैं रुपया व्यय करके तुम्हें छुड़ा लूंगा। परन्तु वे स्वामीजी का कतल करनेके लिये उद्यत नहीं हुये।

मनुष्य नहीं, देव हमारा रक्षक है

उस समय स्वामीजी कपड़े नहीं पहनते थे जब जाड़ा लगता था तो ऊपर पयाल डालकर सो जाया करते थे। एक दिन कर्णसिंहने रात्रिके दो बजे अपने तीन सेवकोंको स्वामीजीका सिर काटनेके लिये भेजा। इतना ही नहीं स्वय भी साथ हो लिया। उस समय स्वामीजीके स्थानपर कंथलसिंह नामक एक व्यक्ति भी रहता था। ये दोनों उस समय सो रहे थे, परन्तु स्वामीजी लोगोंकी आहटसे जग गये। स्वामीजीको जगा हुआ समझकर तीनों आदमी लौट गये। करणसिंह ने इस बार अपने आदमियोंको गालियां दीं और पुनः उन्हें मारनेके लिये उत्साहित किया। बदमाश कुटीके द्वारपर गये और पुकारकर कहने लगे कि कुटीके भीतर कौन है ? स्वामीजी यह सुनकर खड़े हो गये। और कुटीके द्वारपर इतने जोरसे हुंकार लगाई कि बदमाश उलटे पांव भगे और आपके धक्केसे गिर पड़े, उनके हाथसे तलवार छूट गई। महाराजकी हुंकार सुनकर कंथल भी जग गया। उसने स्वामीजीको सलाह दी कि वे दूसरी जगह चले जायें। स्वामीजीने गीताका यह श्लोक पढ़ा "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। और कहा मुझे कोई नहीं मार सकता, फकीर कहीं गढ़ों और घरोंमें घुसते हैं ? हमारा मनुष्य नहीं, देव रक्षक है।

स्वामीजीकी सहनशीलता

स्वामीजी एक समय अपने शिष्य गंगादासको मनुस्मृति पढ़ा रहे थे। संयोगसे इसी समय दो युवक स्वामीजीके पास आकर "नमस्ते" करके खड़े हो गये, स्वामीजी "आयुष्मान् भव" आशीर्वाद देकर, पाठ पढ़ानेमें दत्तचित थे। उनकी तरफ कुछ ध्यान न दिया। इसे उन उद्दण्ड युवकोंको असन्तोष हुआ। थोडी देर बाद उन्होंने स्वामीजीको लक्ष्य करके कहा कि अहङ्कारी चाण्डाल होता है। महाराज इसपर कुछ न बोले। जब पाठ समाप्त हो गया तो स्वामीजीने उन युवकोंसे पूछा कि आप लोगोंने क्या कहा ? उन्होंने फिर वही वाक्य दुहराया। स्वामीजीने कहा कि तुम जानते हो कि अहकार क्या वस्तु है ? क्या तुमने मुझे अहंकारी कहनेमें स्वयं अहंकार नहीं किया ? भद्र मनुष्यको मिथ्याभिमान नहीं करना चाहिए। इसपर युवकोंने कहा, आप ऐसे व्यक्तिको अभिमान नहीं करना चाहिए। स्वामीजीने बड़े प्यारसे उन्हें समझाया कार्यमें दत्तचित्त होना अभिमान नहीं है। संसारमें जितने भी कार्यकुशल व्यक्ति हुए हैं, क्या श्रीराम, क्या श्रीकृष्ण, सब ही प्रवृत्त-कर्तव्य-पालनके पश्चात् अन्य कार्य आरम्भ करते थे।

अपूर्व शारीरिक–बल

एक दिन कुछ पहलवान भी लोगोंके साथ स्वामीजीके आश्रमपर बैठे थे। स्वामीजी गंगा स्नान करने गये थे। जब स्नान करके आये तो एक पहलवानने हंसते हुये कहा, यदि स्वामीजीने व्यायाम करें तो बलमें भी किसीके हिलाये न हिलें। स्वामीजीने यह सुनकर अपना कौपीन निचोड़ा और फिर पहलवानसे कहा कि हम तो आपके बलकी तब प्रशंसा करें जब इसमेंसे जलकी एक बूंद भी निकाल दो। पहलवानोंमेंसे हरेकने कोपिनको बहुत कुछ ऐंठा मरोड़ा परन्तु एक भी जलकी बूंद न निकाल सके। सब पहलवान स्वामीजीका बल देखकर दंग रह गये।

प्रेमसे हृदयपर विजय

एक दिन प्रातःकाल स्वामीजी भ्रमण करने जा रहे थे। मार्गमें उन्हें एक हट्टा-कट्टा और उजड्ड प्रकृतिका मनुष्य मिला। उसने उन्हें अनेक दुर्वचन कहने आरम्भ किये कि "तू ईसाईयोंका नौकर है और हिन्दुओंको ईसाई बनाने आया है"। महाराज दुर्वाक्यको सुनकर मुसकराते हुए आगे बढ़ गये। उसका नाम सद्दू था। परन्तु था वह निरक्षर और कोरा लट्ठ। जब स्वामीजीने उसकी गालियोंपर कुछ न कहा तो उसका साहस और भी बढ़ा और जब वह भ्रमण करके अपने स्थानपर आये तो उस गंवारने चाहा कि उनके स्थानपर आकर भी गालियां दे। अतः वह वहां गया।

स्वामीजीने उसे देखकर अत्यन्त प्रेम भरे स्वर और कोमल शब्दोंमें उसका स्वागत करके उसे बैठनेके लिए कहा। इस शिष्टाचारसे उसका कठोर हृदय भी पिघल गया और उसका जी भर आया। वह महाराजके चरणोंपर गिर गया और रोकर अपना अपराध क्षमा कराने लगा। स्वामीजीने उसे सान्त्वना देते हुये कहा कि तुम्हारे दुर्वचन हमतक नहीं पहुंचे, वह आकाशसे प्रकट हुए थे और उसीमें विलीन हो गये। तुमसे हमारा कोई अपराध नहीं किया, तुम्हारे शोकका कोई कारण नहीं, तुम सन्तोष करो।

काशीमें मुसलमान चिढे

स्वामीजीने वेद प्रचार करते हुए काशीमें पदार्पण किया वहांके पण्डितोंके साथ उन्होंने शास्त्रार्थ भी किया। वहां एक दिन मुसलमानी मतका भी खण्डन किया। इससे मुसलमान कुछ चिढ गये। एक दिन महाराज गंगा तट पर अकेले बैठे थे एक ओरसे मुसलमानोंकी एक टोली गंगा तट पर टहलती हुई उनके समीपसे होकर जाने लगी। उनमेंसे किसीने महाराजको पहचान कर अपने साथियोंसे कहा कि यही बाबा है जो दीने इसलामके खिलाफ बोला करता है। इस पर दो व्यक्ति आगे बढे। एकने महाराजकी एक बगलमें और दूसरेने दूसरी बगलमें हाथ देकर उन्हें ऊपर उठा लिया। उन्होंने चाहा कि महाराजको गंगामें डाल दें। महाराज भी उनके दुष्ट संकल्पको जान गये। उन्होंने अपनी दोनों कांखें इस प्रकार चपटा लीं कि दोनों यवनोंके हाथ मानों शिकंजेमें फंस गये। फिर महाराज उन दोनों व्यक्तियोंके लिये हुये गङ्गामें कूद पडे। वह चाहते तो दोनों यवनोंको जलमग्न कर देते, परन्तु दया करके उन्होंने जलमें डूबते छोड दिया और आप जलके नीचे ही नीचे तैरते हुए दूर निकल गये। दोनों मुसलमान ज्यों त्यों करके जलसे बाहर निकल आये। बहुत देर तक हाथोंमें ढले लिये हुए लोग उनकी प्रतीक्षामें खडे रहे कि कब बाबा जलसे बाहर निकले और कब हम उस ढेले बरसावें। जब बहुत देर हो गई और महाराजने जलसे बाहर सिर न निकाला तो उन्होंने समझा कि बाबा डूब गया और वह चले गये। महाराज भी रात्रि होने पर अपने स्थल पर आ गये।

लडते हुये सांडोंको युद्धसे छुडाया

एक दिन अपराह्न स्वामीजी जंगलकी ओर शौचके लिये जा रहे थे और कई विद्यार्थी और अनुरागी जन उनके साथ थे। थोडी दूर चल कर गुलजारीलाल खत्रीके बागके सामने देखा कि मार्ग रुका हुआ है। कुछ आगे बढे तो देखा कि मार्ग दूसरी ओरसे भी रुका हुआ है, न इधरके लोग उधर जा सकते हैं और न उधरके लोग इधर आ सकते हैं। कारण यह था कि बीचमें दो सांड आपसमें लड रहे थे। दोनों सांडोंके मुंह एक दूसरेसे मिल रहे थे और वह एक दूसरेको धकेलनेका यत्न कर रहे थे। यह द्वन्द्व युद्ध निरन्तर दो घन्टेसे चल रहा था। जिन लोगोंको अधिक आवश्यक कार्य्य था वह फेर खाकर बागके पार्श्वसे निकल जाते थे। थोडी देर तक स्वामीजी भी उस युद्धकी समाप्तिकी प्रतीक्षा कर रहे थे। तब लोगोंने उनसे कहा कि दूसरे मार्गसे निकल चलें। इस बातको स्वामीजीने "हु" कहके अस्वीकार कर दिया। और तुरन्त ही उन रणमस्त सांडोंकी ओर चलने लगे। उनके साथियोंने भी उन्हें रोका और अन्य लोग चिल्लाये कि बाबाजी क्या करते हो, परन्तु उन्होंने कुछ नहीं सुना और उन उन्मत्तसांडोंके पास जाकर दोनोंके एक एक सींग एक एक हाथसे पकड लिया और इस जोरसे उन्हें धक्का दिया कि दोनोंका मुख आकाशकी ओर उठ गया और दोनों-को एक दूसरेसे अलग अलग कर दिया। सांड इतने डर गये कि मार्ग छोड कर चले गये और लोगोंका आने जानेका मार्ग खुल गया।

मैं कैद कराने नहीं बल्कि छुडवाने आया हूं

एक ब्राह्मणने स्वामीजीके मूर्तिपूजाके खण्डनसे रुष्ट होकर उन्हें पानमें विष दे दिया था। उन्होंने न्योली कर्म करके उसे अपनी शरीरसे निकाल दिया और स्वस्थ हो गये। सैयद मुहम्मदको यह वृत्त ज्ञात हुआ तो उसने उस ब्राह्मण पर अभियोग लगा कर कैद कर लिया। वह समझता था कि स्वामीजी उसके इस कार्यसे प्रसन्न होंगे, परन्तु जब वह उनके सामने आया तो उन्होंने उससे बोलना बंद कर दिया। उसने अप्रसन्नताका कारण पूछा तो स्वामीजीने कहा "मैं दुनियाको कैद कराने नहीं बल्कि उसे कैदसे छुडाने आया हूं" वह अपनी दुष्टता नहीं छोडता तो हम अपनी श्रेष्ठ-ताको क्यों छोडें ? फिर तहसीलदारने उस ब्राह्मणसे अपील करा कर छुडवा दिया।

१८९ सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौ-रिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत् ।
य ईं जजान स्वर्यं सुवज्र-मनपच्युतं सदसो न भूम ॥ ४ ॥
१९० य एक इच्च्यावयति प्र भूमा राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः ।
सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो मघोनः ॥ ५ ॥
१९१ सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः ।
सत्राभवो वसुपतिर्वसूनां दत्रे विश्वा अधिथा इन्द्र कृष्टीः ॥ ६ ॥
१९२ त्वमध प्रथमं जायमानो ऽमे विश्वा अधिथा इन्द्र कृष्टीः ।
त्वं प्रति प्रवत आशयान-महिं वज्रेण मघवन् वि वृश्चः ॥ ७ ॥

अर्थ— [१८९] (यः) जिसने (स्वर्यं) स्तुत्य, (सुवज्रं) उत्तम वज्र धारण करनेवाले तथा (सदसः अनपच्युतं) अपने स्थानसे न हटाये जा सकनेवाले (भूम) तथा ऐश्वर्यसे युक्त (ईं जजान) इस इन्द्रको उत्पन्न किया। वह (इन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमः अभूत्) इन्द्रको उत्पन्न करनेवाला प्रजापति उत्तम कर्म करनेवाला था। हे इन्द्र ! (ते जनिता) तुझे उत्पन्न करनेवालेने तुझे (सुवीरः मन्यत्) उत्तम वीर माना ॥ ४ ॥

यः ईं जजान, इन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमः अभूत्— जिसने इस इन्द्रको उत्पन्न किया, वह इन्द्रका जन्मदाता उत्तम कर्म करनेवाला था।

[१९०] (कृष्टीनां राजा पुरुहूत यः इन्द्रः) मनुष्योंका राजा तथा बहुतों द्वारा सहायार्थ बुलाये जानेवाला जो इन्द्र (एकः इत्) अकेला होते हुए भी (भूम च्यावयति) बहुतसे शत्रुओंको अपने स्थानसे हटा देता है। (विश्वे मघोनः) सब ऐश्वर्यवान् मनुष्य (देवस्य गृणतः रातिं) दिव्य गुणवाले तथा स्तुति करनेवालेको धन देनेवाले (एनं अनु मदन्ति) इस इन्द्रको आनन्दित करते हैं ॥ ५ ॥

१ कृष्टीनां राजा इन्द्रः— प्रजाओंका राजा इन्द्र है।

२ एकः भूम च्यावयति— वह अकेलाही बहुत शत्रुओंको स्थानभ्रष्ट कर देता है।

[१९१] (सत्रा सोमाः अस्य) सब सोम इसी इन्द्रके हैं, (विश्वे मदासः) सब आनन्द देनेवाले सोम (बृहतः) इस महान् इन्द्रको (सत्रा मन्दिष्ठाः) एक साथ आनन्दित करते हैं। वह (वसूनां वसुपतिः अभवः) सब धनोंका स्वामी है, हे इन्द्र ! तू (विश्वाः कृष्टीः) सारे मनुष्योंको (दत्रे अधिथाः) ऐश्वर्यमें स्थापित करता है ॥ ६ ॥

विश्वाः कृष्टीः दत्रे अधिथाः— हे इन्द्र तू सब मनुष्योंको ऐश्वर्यमें स्थापित करता है।

[१९२] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (जायमानः प्रथमं) उत्पन्न होते ही सबसे पहले (त्वं) तूने (अमे) युद्धमें (विश्वाः कृष्टीः) सब प्रजाओंको (अधिथा) धारण किया, (त्वं) तूने (प्रवतः प्रति) बहनेवाले जल प्रवाहोंको रोककर (आशयानं अहिं) सोनेवाले अहिको (वज्रेण विवृश्चः) वज्रसे मारा ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिसने अपने स्थानसे च्युत न होनेवाले सामर्थ्यशाली इन्द्रको उत्पन्न किया, वह उत्तम कर्म करनेवाला पुण्यशाली था। ऐसे सामर्थ्यशाली वीरको जो स्त्री उत्पन्न करती है, वह सचमुच पुण्यशालिनी होती है। ऐसे सामर्थ्यशालीकी सभी प्रजायें सत्कार करती हैं ॥ ४ ॥

वह इन्द्र मनुष्योंका पालक होनेसे सबका राजा है, इसीलिए सब इसे अपनी सहायता के लिए बुलाते हैं। वह अपनी वीरताके कारण बहुतसे शत्रुओंको भी अपने स्थानसे च्युत कर देता है। अतः सब दिव्यगुणवाले मनुष्य इस इन्द्रको आनन्दित करते हैं ॥ ५ ॥

सब सोम इसी इन्द्रके लिए निचोडे जाते हैं, और वे इसीको एक साथ आनन्दित करते हैं। वह सब धनोंका स्वामी है, इसीलिए वह सब मनुष्योंको ऐश्वर्यमें स्थापित करता है ॥ ६ ॥

१९३ सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम् ।
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः ॥ ८ ॥

१९४ अयं वृतश्चातयते समीचीर्य आजिषु मघवा शृण्व एकः ।
अयं वाजं भरति यं सनोत्यस्य प्रियासः सख्ये स्याम ॥ ९ ॥

१९५ अयं शृण्वे अध जयन्नुत घ्नन्नयमुत प्र कृणुते युधा गाः ।
यदा सत्यं कृणुते मन्युमिन्द्रो विश्वं दृळ्हं भयत एजदस्मात् ॥ १० ॥

अर्थ— [१९३] (यः वृत्रं हन्ता) जो वृत्रको मारनेवाला, (वाजं सनिता) अन्न देनेवाला, (मघानि दाता) ऐश्वर्योंको देनेवाला (सुराधाः मघवा) उत्तम धन युक्त तथा ऐश्वर्यवान् है, उस (सत्राहणं) शत्रुओंको एक साथ मारनेवाले, (दाधृषिं) शत्रुओंका धर्षण करनेवाले (तुम्रं) प्रेरणा देनेवाले, (महां अपारं वृषभं सु-वज्रं) महान् अपार बलवान्, उत्तम वज्र धारण करनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रकी हम स्तुति करते हैं ॥ ८ ॥

[१९४] (यः मघवा) जो ऐश्वर्यवान् इन्द्र (आजिषु एकः शृण्वः) युद्धोंमें अकेला ही प्रसिद्ध है, (अयं) ऐसे इस इन्द्रने (समीचीः वृतः) संगठित हुए हुए शत्रुओंको (चातयते) हटाया है। (अयं) यह इन्द्र (यं वाजं भरति) जिस अन्नको देना चाहता है, (सनोति) उसे देता ही है, हम (अस्य सख्ये प्रियासः स्याम) इसकी मित्रतामें प्रिय होकर रहें ॥ ९ ॥

अस्य सख्ये प्रियासः स्याम— इस इन्द्रकी मित्रतामें हम इसके प्रिय होकर रहें।

[१९५] (अध) तब (अयं) यह इन्द्र (जयन् घ्नन्) शत्रुओंको जीतता हुआ और मारता हुआ (शृण्वे) प्रसिद्ध होता है, (उत) और (युधा गाः प्र कृणुते) युद्धसे गायोंको प्राप्त करता है (यदा इन्द्रः सत्यं मन्युं कृणुते) जब इन्द्र वास्तवमें क्रोध करता है, तब (विश्वं एजत् दृळ्हं) सारा जंगम और स्थावर जगत् (अस्मात् भयत) इससे डरता है ॥ १० ॥

यदा इन्द्रः सत्यं मन्युं कृणुते, विश्वं एजत् दृळ्हं अस्मात् भयत्— जब इन्द्र वास्तवमें क्रोध करता है तब सारा जंगम और स्थावर जगत् इससे डरता है।

भावार्थ— इस इन्द्रने उत्पन्न होते ही सबसे पहले युद्धमें सब प्रजाओंको धारण किया और जल प्रवाहको रोककर सोनेवाले अहि नामक राक्षसको मारा। अहि मेघ है। जब मेघ बरसता नहीं और पानीको रोककर पड़ा रहता है, तब सूर्यकी किरणें बिजलीके रूपमें परिवर्तित होकर मेघोंको फोड़कर पानी बरसाती हैं ॥ ७ ॥

वह इन्द्र वृत्रको मारनेवाला, अन्नको देनेवाला, ऐश्वर्योंको देनेवाला, उत्तम धन युक्त और ऐश्वर्यवान् है। वह शत्रुओंको एक साथ मारनेवाला, शत्रुओंको हरानेवाला, सबको प्रेरणा देनेवाला, और अत्यन्त बलवान् है ॥ ८ ॥

यह ऐश्वर्यवान् इन्द्र युद्धोंमें अकेलाही शत्रुओंको मारनेके कारण अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह जिस पर प्रसन्न होकर अन्नको देना चाहता है, उसको वह देता ही है। अतः हम भी इसकी मित्रतामें इसके प्रिय होकर रहें ॥ ९ ॥

जब यह इन्द्र शत्रुओंके विजेता और नाशकके रूपमें प्रसिद्ध होता है, तब युद्धमें उसका वास्तविक क्रोध प्रकट होता है और तब उसके क्रोधको देखकर सारा चर और अचर जगत् इससे डरने लगता है ॥ १० ॥

१९६ समिन्द्रो गा अजयत् सं हिरण्या समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः ।
एभिर्नृभिर्नृतमो अस्य शाकै रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः ॥ ११ ॥
१९७ कियत् स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत् पितुर्जनितुर्यो जजान ।
यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः ॥ १२ ॥
१९८ क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्ति रेणुं मघवा समोहम्।
विभञ्जनुरशनिमाँ इव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात् ॥ १३ ॥
१९९ अयं चक्रमिषणत् सूर्यस्य न्येतशं रीरमत् ससृमाणम् ।
आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ॥ १४ ॥

अर्थ— [१९६] (मघवा इन्द्रः गाः सं अजयत्) ऐश्वर्यवान् इन्द्रने गायोंको अच्छी तरह जीता, तथा (हिरण्या सं) सोनेको भी जीता (अश्विया सं) घोडोंको जीता तथा (यः पूर्वीः) जिस इन्द्रने बहुतसी सेनाओंको जीता, वह (शाकैः नृतमः) शक्तियोंसे युक्त तथा उत्तम नेता इन्द्र (एभिः नृभिः) इन मनुष्योंसे प्रशंसित होकर (अस्य रायः विभक्ताः) अपने धनको बांट देता है, पर (वस्वः संभरः) फिर भी अनेक प्रकारके धनोंको धारण करता है ॥ ११ ॥

अस्य रायः विभक्ताः, वस्वः संभरः— यह इन्द्र अपने धनको बांट देता है, पर फिर भी इसके पास भरपूर धन रहता है।

[१९७] (यः जनितुः जजान) जो इन्द्र अपने उत्पन्न करनेवालेसे उत्पन्न होता है, तथा (स्तनयद्भिः अभ्रैः जूतः वातः न) गर्जनेवाले मेघोंके साथ प्रेरित वायुके समान (यः अस्य मुहुकैः इयर्ति) जो अपने बलको बारबार प्रेरित करता है, ऐसे (इन्द्रः) इन्द्रने (मातुः कियत स्वित् अधि एति) मातासे कितना बल प्राप्त किया और (पितुः कियत्) पितासे कितना बल प्राप्त किया ॥ १२ ॥

[१९८] हे इन्द्र ! (त्वं) तू (अ- क्षियन्तं क्षियन्तं कृणोति) आश्रयरहितको आश्रयसे युक्त करता है। वह (मघवा) ऐश्वर्यवान् इन्द्र (समोहं रेणु इयर्ति) किये हुए पापको नष्ट करता है। (द्यौः इव अशनिमान्) द्युलोकके समान वज्र धारण करनेवाला, (विभंजनुः) शत्रुओंको तोडनेवाला (मघवा) ऐश्वर्यवान् इन्द्र (स्तोतारं वसौ धात्) स्तोताको धनोंमें स्थापित करता है ॥ १३ ॥

अक्षियन्तं क्षियन्तं कृणोति— वह इन्द्र आश्रय रहितको आश्रय प्रदान करता है।

[१९९] (अयं सूर्यस्य चक्रं इषणत्) इस इन्द्रने सूर्यके चक्रको प्रेरित किया, तथा (ससृमाणं एतशं नि रीरमत्) युद्धके लिए आते हुए एतशको वापस भेजा ! (जुहुराणः कृष्णः) कुटिल गति करनेवाला काला मेघ (त्वचः अस्य रजसः बुध्ने योनौ) तेजस्वी इस जलके मूल भूत स्थान अन्तरिक्षमें (ईं जिघर्ति) इस इन्द्रको रखता है ॥ १४ ॥

भावार्थ— उत्तम शक्तियोंसे भरपूर यह इन्द्र गाय, घोडे तथा अनेक तरहके ऐश्वर्योंको जीत कर जो धन प्राप्त करता है, उन्हें वह सब मनुष्योंमें बांट देता है फिर भी उसके पास भरपूर धन रहता है। इसीप्रकार राजा भी युद्ध आदिमें जो धन प्राप्त करे उसे वह प्रजाओंकी उन्नतिके कामोंमें खर्च करे, तब प्रजा भी उन्नत होकर राज्यकोषको भरपूर करेगी ॥ ११ ॥

यह इन्द्र जिसे उत्पन्न करता है, उसीसे फिर यह उत्पन्न होता है, और वायुके समान अपने बलको प्रेरित करता है। यह इन्द्र कुछ शक्ति अपनी मातासे प्राप्त करता है, तो कुछ शक्ति अपने पितासे। यह इन्द्र राजा है, जो प्रजाका पालन होनेसे प्रजाको उत्पन्न करता है, फिर प्रजाओंके द्वारा चुने जानेके कारण उससे फिर उत्पन्न होता है। प्रजाओंकी सहायता पाकर वह अपने बलको शत्रुओंकी ओर प्रेरित करता है। प्रजा उसकी माता है और राष्ट्र या राज्यशासन उसका पिता है। राजाके रूपमें वह थोडेसे अधिकार प्रजासे प्राप्त करता है, तो थोडेसे अधिकार राज्यशासनसे प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

वह इन्द्र आश्रयरहितको आश्रय प्रदान करता है और किए हुए पापको नष्ट करता है। वह वज्रधारी इन्द्र अपने स्तोताओंको धन प्रदान करता है। राजा भी अपने राष्ट्रमें जो आश्रयरहित हो उसे सहारा दे। अनाथको सुखप्रदान करे और अपनी प्रजाओंको ऐश्वर्यसे युक्त करके उन्हें अपराध करनेका अवसर न दे ॥ १३ ॥

२०० आसिक्न्यां यजमानो न होता ॥ १५ ॥

२०१ गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ।
जनीयन्तो जनिदामक्षितोति॒मा च्यावयामोऽवते न कोशम् ॥ १६ ॥

२०२ त्राता नो बोधि ददृशान आपि॒रभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम् ।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥ १७ ॥

२०३ सखीयतामविता बोधि सखा गृणान इन्द्र स्तुवते वयो धाः ।
वयं ह्या ते चकृमा सबाध आभिः शमीभिर्महयन्त इन्द्र ॥ १८ ॥

---

[२००] (आसिक्न्यां न यजमानः होता) रात्रीमें प्रशंसित यजमान अग्निका रक्षण करता है ॥ १५ ॥

[२०१] (अवते कोशं न) जिसप्रकार लोग कुंएमेंसे जलसे भरे बर्तनको निकालते हैं, उसी प्रकार (गव्यन्तः अश्वायन्तः, वाजयन्तः जनीयन्तः) गायकी इच्छा करनेवाले, घोडोंकी इच्छा करनेवाले, अन्नकी इच्छा करनेवाले तथा स्त्रियोंकी इच्छा करनेवाले (विप्राः) बुद्धिमान् हम (वृषणं जनिदां अक्षितोतिं) बलवान्, स्त्रियोंको देनेवाले, क्षीण न होनेवाले संरक्षणके साधनोंसे युक्त (इन्द्रं) इन्द्रको (आच्यावयामः) अपनी तरफ लाते हैं ॥ १६ ॥

[२०२] हे इन्द्र ! (ददृशानः) सबको देखनेवाला तू (नः त्राता आपिः बोधि) हमारा रक्षण करनेवाला भाई हो कर हमें जान । वह इन्द्र (अभिख्याता) सब तरफ प्रसिद्ध, (सोम्यानां मर्डिता) सोम यज्ञ करनेवालोंको सुखी करनेवाला (सखा) मित्र (पिता) पालन करनेवाला (पितॄणां पितृतमः) पालन करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ (ईं लोकं कर्ता) इस लोकका बनानेवाला तथा (उशते वयोधाः) स्तोताके लिए अन्नको धारण करनेवाला है ॥ १७ ॥

[२०३] हे इन्द्र ! (सखीयतां अविता बोधि) तेरी मित्रता चाहनेवाले हमारा तू रक्षक हो, हे (गृणानः इन्द्र) प्रशंसित होनेवाले इन्द्र ! तू (सखा) हमारा मित्र हो, तथा (स्तुवते वयः धाः) स्तोताके लिए अन्नको धारण कर । हे इन्द्र ! (सबाधः वयं) आपत्तिमें पडे हुए हम (आभिः शमीभिः महयन्तः) इन स्तोत्रोंसे स्तुति करते हुए (ते आ चकृम) तेरी प्रार्थना करते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ— इस इन्द्रने सूर्यके चक्रको प्रेरित किया तथा चारों ओरसे घिरकर आते हुए अन्धकारको दूर किया, जब काले काले मेघ छाते हैं, तब उन जलोंमें सूर्यकी किरणें प्रविष्ट होती हैं और बादल जब रगड खाते हैं, तब उनमें बिजली चमकती है वही इन्द्रका रूप है ॥ १४ ॥

दिनमें यज्ञ करनेके समय अग्निकी रक्षा ऋत्विग्गण करते हैं, पर रात्रीमें ऋत्विग्गणोंके अभावमें यजमानको ही अग्निकी रक्षा करनी पडती है । इसी लिए यजमनाको " अग्नीध्र " कहा जाता है ॥ १५ ॥

जिस प्रकार मनुष्य कुवेंमेंसे पानी भरते हैं, उसी तरह ऐहिक सुखकी कामना करनेवाले ज्ञानी जन इस इन्द्रको अपनी ओर बुलाते हैं ॥ १६ ॥

इन्द्र सबके कार्यको देखनेवाला और सबका भाई होकर सबकी रक्षा करनेवाला है । यह सर्वत्र प्रसिद्ध सोम यज्ञ करनेवालोंको सुखी करनेवाला, मित्रके समान हितकारी सबका पालन करनेवाला और पालन करनेवालोंमें भी सर्वश्रेष्ठ और लोकोंका बनानेवाला है ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! हमारी मित्रताको चाहते हुए तू हमारा रक्षक हो । हम आपत्तिमें पडे हुए हैं अतः हम तेरी प्रार्थना करते हैं ॥ १८ ॥

२०४ स्तुत इन्द्रो मघवा यद्ध वृत्रा भूरीण्येको अप्रतीनि हन्ति ।
अस्य प्रियो जरिता यस्य शर्मन्नकिर्देवा वारयन्ते न मर्ताः ॥ १९ ॥
२०५ एवा न इन्द्रो मघवा विरप्शी करत् सत्या चर्षणीधृदनर्वा ।
त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे अधि श्रवो माहिनं यज्जरित्रे ॥ २० ॥
२०६ नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ २१ ॥

[१८]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः, १ इन्द्र, ४ (उत्तरार्धर्चस्य), ७ अदितिः । देवता- १ वामदेवः, २-४ (पूर्वार्धर्चस्य), ८-१३ इन्द्रः, ४ (उत्तरार्धर्चस्य), ७ वामदेवः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

२०७ अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे ।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः ॥ १ ॥

अर्थ— [२०४] (यत् ह) जब (मघवा इन्द्रः स्तुतः) ऐश्वर्यवान् इन्द्रकी स्तुति की जाती है, तब वह (एकः) अकेला ही (अप्रतीनि भूरीणि वृत्रा हन्ति) पीछे न हटनेवाले बहुतसे वृत्रोंको मार देता है। (यस्य शर्मन्) जिस इन्द्रके आश्रयमें रहनेवाले (अस्य प्रियः जरिता) इसके प्रिय स्तोताको (नकिः देवाः वारयन्ते न मर्ताः) न देव नष्ट कर सकते हैं और न मनुष्य नष्ट कर सकते हैं ॥ १९ ॥

यस्य शर्मन् अस्य प्रियः न किः देवाः वारयन्ते न मर्ताः— इस इन्द्रके आश्रयमें रहनेवाले इसके मित्रको न देव मार सकते हैं न मनुष्य ।

[२०५] (विरप्शी, चर्षणीधृत्, अनर्वा मघवा इन्द्रः) शक्तिशाली, मनुष्योंको धारण करनेवाला, प्रतिबन्ध रहित और ऐश्वर्यवान् इन्द्र (एव) ही (नः सत्या करत्) हमारी कामनाओंको सत्य करनेवाला है। (जनुषां राजा त्वं) जन्मलेनेवाले प्राणियोंका राजा तू (यत् माहिनं श्रवः) जो यशस्वी अन्न (जरित्रे) स्तोताको देता है, वह (अस्मे अधि धेहि) हमें भी दें ॥ २० ॥

[२०६] (नद्यः न) जिस प्रकार नदियोंको जल पूर्ण करते हैं उसीप्रकार हे इन्द्र ! (स्तुतः गृणानः) प्रशंसित तथा स्तुति किया हुआ तू (जरित्रे इषं पीपेः) स्तोताको अन्नसे पूर्ण कर। हे (हरि-वः) घोडोंवाले इन्द्र ! हमने (धिया) अपनी बुद्धिसे (ते नव्यं ब्रह्म अकारि) तेरे लिए नया स्तोत्र बनाया है, हम (रथ्यः सदासाः स्याम) रथवाले तथा दासोंसे युक्त हों ॥ २१ ॥

[१८]

[२०७] (अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः) यह मार्ग ऐश्वर्य दिलानेवाला सनातन है। (यतः विश्वे देवाः उत् अजायन्त) जिस मार्गसे सब देव उन्नत हुए हैं, (अतः चित् प्रवृद्धः जनिषीष्ट) इसीसे मनुष्य उन्नत होकर बडा हुआ है हे मनुष्य ! (अमुया) अपनी उत्पत्तिसे (मातरं पत्तवे मा कः) माताको नष्ट मत कर।

१ अमुया मातरं पत्तवे मा कः— अपनी कार्य प्रवृत्तीसे अपनी मातृभूमिकी गिरावट न कर।

२ अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः— यह मार्ग अनुकूलतासे धन देनेवाला सनातन है।

३ अतः चित् प्रवृद्धः जानषीष्ट— इस मार्गसे निश्चयसे बडे होते हैं।

भावार्थ— जब इन्द्रकी स्तुति की जाती है, तब इन्द्रका बल बढता है और वह अकेला ही अनेक शत्रुओंको मारता है। जो मनुष्य इसके आश्रयमें रहता है और इसका प्रेम प्राप्त करता है, उसे न देव मार सकते हैं और न मनुष्य ॥ १९ ॥

शक्तिशाली, मनुष्योंको धारण करनेवाला, तथा किसीसे भी न रुकनेवाला ऐश्वर्यवान् इन्द्र ही हमारे मनोरथोंको पूर्ण कर सकता है। हे इन्द्र ! तू सारे प्राणियोंका राजा है तू जो उत्तम अन्न स्तोताको देता है, वही हमें भी दे ॥ २० ॥

हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं अतः तू जैसे नदियाँ मनुष्योंको पानी देती हैं उसी तरह हमें अन्न दे। हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते हैं। तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥ २१ ॥

२०८ नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥ २ ॥
२०९ परायतीं मातरमन्वचष्ट न नानु गान्यनु नू गमानि ।
त्वष्टुर्गृहे अपिबत् सोममिन्द्रः शतधन्यं चम्वोः सुतस्य ॥ ३ ॥
२१० किं स ऋधक् कृणवद् यं सहस्रं मासो जभार शरदश्च पूर्वीः ।
नही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः ॥ ४ ॥

अर्थ— [२०८] (अहं अतः न निरय) मैं इस मार्गसे नहीं जाऊंगा, (एतत् दुः गहा) यह मार्ग बहुत दुर्गम है, इसलिए मैं (तिरश्चता पार्श्वात् निगर्माणि) तिरछे बाजूसे निकलूंगा, (मे) मेरे (बहूनि अकृता कर्त्वानि) बहुतसे न किए हुए करने योग्य कर्म हैं। (त्वेन युध्यै) किससे युद्ध करना है, यह मैं (त्वेन संपृच्छै) किससे पूछुं ॥२॥

१ एतत् दुर्गहा, अतः अहं न निरय— यह दुर्गम मार्ग है अतः मैं इससे नहीं जाऊंगा।

२ तिरश्चता पार्श्वात् निर्गमाणि— दूसरे मार्गसे जाऊंगा।

३ बहूनि कर्त्वानि अकृता— बहुतसे कर्तव्य किये नहीं हैं।

४ त्वेन युध्यै, त्वेन संपच्छै— एकसे लडूंगा और पूछूंगा।

[२०९] मैंने (परायतीं मातरं अनु अचष्ट) आसन्नमरण हुई माताको देख लिया है, और मैं (न अनु गानि न) उसके सहायार्थ नहीं जाता हूँ ऐसी बात नहीं, अपितु (गमानि नु) जाता ही हूँ। (इन्द्रः) इन्द्रने (चम्वोः सुतस्य त्वष्टुः) लकडीके पात्रोंमें सोमरस निचोडनेवाले त्वष्टाके (गृहे) घरमें (शत धन्यं सोमं अपिबत्) सैकडों प्रकारके धन्यता देनेवाले सोमको पिया ॥ ३ ॥

[२१०] (यं) जिसका (सहस्रं मासः पूर्वीः शरदः च) हजारों महिनों और बहुत वर्षों तक (जभार) भरणपोषण किया है, (सः) वह (ऋधक् किं कृणवत्) विरुद्ध कर्म क्यों करेगा ? (ये जनित्वाः) जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उनके और (जातेषु) उत्पन्न हुओंके (अन्तः) बीचमें (अस्य प्रतिमानं न हि) इस इन्द्रकी उपमा कोई नहीं है ॥ ४ ॥

१ यं सहस्रं मासाः पूर्वीः शरदः च जभार सः ऋणक् किं कृणवत्— जिसका बहुत मासों और वर्षोंतक भरणपोषण किया गया है, वह अपने पोषण करनेवालेके विरुद्ध कोई काम क्यों करेगा ? अर्थात् कभी नहीं कर सकता।

२ जनित्वाः जातेषु अस्य प्रतिमानं नहि— उत्पन्न होनेवालों और उत्पन्न हुए हुओंमें इस इन्द्रके समान कोई नहीं है।

भावार्थ— मनुष्य उत्पन्न होकर ऐसा कर्म करे कि जिससे उसके कुल और उसकी मातृभूमिका अपयश होकर उसकी अवनतिन हो। यही उत्तम मार्ग ऐश्वर्यको दिकानेवाला है। इसी उत्तम मार्गपर चलकर सब देव उन्नत हुए हैं और इसीप्रकार चलकर मनुष्य भी उन्नत हो सकता है ॥ १ ॥

मातृभूमिको तथा स्वयंको गिरानेवाले मार्ग बहुत खतरनाक होते हैं, अतः मनुष्यको चाहिए कि वह इस मार्गसे न जाए। इसके विपरित वह इस मार्गको बगल करके निकल जाए। उसके सामने हमेशा आगे बढनेका ही आदर्श हो, क्योंकि उसके सामने ऐसे कई काम पडे रहते हैं जो अभी करने बाकी है। मनुष्य जीवनभर कर्म करता रहे फिर भी काम खतम होनेवाले नहीं है। मनुष्य मरणशील हैं। पर कर्म अमर है इसलिए मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गपर ही चले ॥ २ ॥

मनुष्यको चाहिए कि जब उसकी मातृभूमि अवनत हो रही हो, तब उसकी सहायताके लिए वह अवश्य जाए। अपनी मातृभूमिकी उपेक्षा न करे। ऐसा मनुष्य ही इन्द्रका प्रिय होकर धन्य होता है ॥ ३ ॥

मनुष्यको चाहिए कि वह अपने आश्रितोंका बडे प्रेमसे भरणपोषण करे और जिनका भरणपोषण किया जाता है, उन्हें भी चाहिए कि वे अपने स्वामीके विरुद्ध कोई काम न करे। आश्रयदाता और आश्रित दोनों बडे प्रेमसे रहें ॥ ४ ॥

२११ अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकु—रिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम् ।
अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ॥ ५ ॥

२१२ एता अर्षन्त्यललाभवन्ती—र्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः ।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति ॥ ६ ॥

२१३ किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्ते—न्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः ।
ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून् ॥ ७ ॥

२१४ ममच्चन त्वा युवतिः परास ममच्चन त्वा कुषवा जगार ।
ममच्चिदापः शिशवे ममृड्यु—र्ममच्चिदिन्द्रः सहसोदतिष्ठत् ॥ ८ ॥

अर्थ— [२११] (माता) माताने (गुहा इन्द्रं अवद्यं इव मन्यमाना) गुहा (गर्भ) में स्थित इन्द्रको निन्दनीय मानकर (वीर्येण न्यृष्टं अकः) बलपूर्वक बाहर निकाल फेंका। (अथ) तब इन्द्र (अत्कं वसानः स्वयं उत् अस्थात्) तेजको आवरण धारण करता हुआ स्वयं उठ खडा हुआ और (जायमानः) उत्पन्न होते ही उसने (रोदसी अपृणात्) द्यावा पृथिवीको अपने तेजसे भर दिया ॥ ५ ॥

[२१२] (अललाभवन्तीः) हर्षसे शब्द करती हुई (ऋतावरीः) पानीसे भरी हुई (एताः) ये नदियां (संक्रोशमानाः इव) मानों चिल्लाती हुई (अर्षन्ति) बह रही हैं। (आपः इदं किं भनन्ति) ये जल यह क्या कह रहे हैं, (एताः वि पृच्छ) इनसे यह पूछ। इन्द्रके शस्त्र (कं परिधिं अद्रिं रुजन्ति) जलको घेरनेवाले मेघकों फोडते हैं ॥ ६ ॥

[२१३] (नि विदः अस्मै किं उ भनन्त) स्तुतियां इस इन्द्रसे क्या कहती हैं तथा (आपः) जल (इन्द्रस्य अवद्यं दिधिषन्तेः) इन्द्रके निर्दोषपनको स्तुतियां धारण करती हैं। (मम पुत्रः) मेरे पुत्रने (महता वधेन वृत्रं जघन्वान्) बडे शस्त्रसे वृत्रको मारा और (एतान् सिन्धून् वि असृजत्) इन नदियोंको बहाया ॥ ७ ॥

[२१४] हे इन्द्र ! (ममत् चन त्वा) एक बार तुझे (युवतिः परास) स्त्री (अदिति) ने दूर रखा, (ममत् चन त्वा कुषवा जगार) एक बार तुझे कुषवा नामक नदीने निगल लिया था, तथा (ममत्- चित् आपः) वहां पर एक बार जलोंने (शिशवे ममृड्युः) शिशुके रूपवाले तुझे सुखी किया और तब (ममत्- चित् इन्द्रः) दूसरी बार इन्द्र (सहसा उत् अतिष्ठत्) अपने बलसे उठ खडा हुआ ॥ ८ ॥

भावार्थ— प्रकृति माताके गर्भमें रहता हुआ यह इन्द्ररूपी सूर्य अत्यन्त तेजस्वी होनेके कारण माताके लिए इसे गर्भमें धारण करना असह्य हो गया, तब प्रकृति माताने बलपूर्वक इसे अपने गर्भसे बाहर निकाल फेंका। तब वह गर्भ सूर्यके रूपमें बाहर आकर द्युलोकमें स्थित हो गया और उत्पन्न होते ही उसने द्युलोक और पृथ्वी लोकको अपने प्रकाशसे भर दिया ॥ ५ ॥

बहनेवाली नदियां अत्यन्त हर्षसे युक्त होकर कल कल करती हुई बहती हैं, और हर्षसे युक्त शब्दको प्रकट करती हुई बह रही हैं। वे मानों यह कह रही हों कि हमारे जलको मेघ घेरे रहते हैं, पर जब अपने शस्त्रसे इन्द्र उन्हें फोडता है, तब पानी बरसता है और तब हम भी बहना शुरु कर देती हैं ॥ ६ ॥

ऋत्विजोंके द्वारा की गई स्तुतियां इन्द्रके बलको बढाती है इस प्रकार मानों वे इन्द्रको उत्पन्न ही करती हैं। वे स्तुतियां कहती हैं कि हमारे पुत्र इन्द्रने बडे शस्त्रसे मेघोंको मारा और इन जल प्रवाहोंको बहाया, और जल प्रवाहोंसे भरी हुई नदियां इन्द्रकी शक्तिको धारण करती हैं ॥ ७ ॥

माताने बालक इन्द्रको प्रथम दूर रखा, वह बालक नदीमें एक बार डूब गया, वहीं एक बार जलमें खेलने लगा। पश्चात् वह बडा हुआ और अपने पांवपर खडा रहा। यह बाल इन्द्रका आलंकारिक वर्णन है।

२१५ मच्चनचन ते मघवन् व्यंसो निविविध्वाँ अप हनू जघान ।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाञ्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन ॥ ९ ॥

२१६ गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम् ।
अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम् ॥ १० ॥

२१७ उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः ।
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व ॥ ११ ॥

अर्थ— [२१५] हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र! (ममत्- चन) एक बार तुझपर (नि विविध्वान्) आक्रमण करते हुए (व्यंसः) व्यंस नामक राक्षसने (ते हनू अप जघान) तेरी ठोढी पर प्रहार किया (अधः) बादमें (निविद्धः उत्तरः बभूवान्) वींधा गया तू अधिक बलशाली हुआ और तूने (दासस्य शिरः वधेन सं पिणक्) उस दासके सिरको शस्त्रसे काट दिया ॥ ९ ॥

[२१६] (गृष्टिः वत्सं) जिस प्रकार गाय बछडेको उत्पन्न करती है, उसीप्रकार (माता) माता अदितिने (स्वयं गातुं तन्वं इच्छमानं) स्वयं चलनेके लिए शरीरकी इच्छा करनेवाले, (स्थविरं तवागां) बडे, बलशाली, (अनाधृष्यं वृषभं) शत्रुओंसे न हारनेवाले बलवान् (तुम्रं अरीळहं इन्द्रं) प्रेरक और न मारे जानेवाले, इन्द्रको (चरथाय ससूव) विचरनेके लिए उत्पन्न-प्रकट किया ॥ १० ॥

[२१७] (उत) और (माता) माताने (महिषं अनु अवेनत्) महान् इन्द्रकी प्रशंसा की कि हे (पुत्र) पुत्र! (अमी देवाः त्वा जहति) ये देव तुझे छोड रहे हैं। (अथ) तब (वृत्रं हनिष्यन्) वृत्रको मारनेकी इच्छा करते हुए (इन्द्रः) इन्द्रने [विष्णुसे] (अब्रवीत्) कहा कि हे (सखे विष्णो) मित्र विष्णो! (वितरं विक्रमस्व) तू उत्तम पराक्रम कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— व्यंस राक्षसने युद्धमें इन्द्रकी ठोडी पर प्रहार किया। इसके पश्चात् इन्द्र बडा होकर अधिक शक्तिशाली हुआ और उसी दासके सिरको उसी इन्द्रने काटा ॥ ९ ॥

इन्द्र शत्रुपर हमले करनेके लिये आक्रमण करना चाहता था। इसलिये बलवान् इन्द्रको माताने बलशाली स्थितिमें उत्पन्न किया ॥ १० ॥

एक बार इन्द्र जब शक्तिरहित होने लगा, तब उसकी माताने कहा कि तुझे ये देवगण छोड रहे हैं, तब वृत्र असुर को मारनेकी इच्छासे इन्द्रने विष्णुसे कहा कि तू अपना पराक्रम प्रकट करके उस असुरका नाश कर। यह एक आध्यात्मिक अलंकार है, इस मंत्रमें शरीरकी अवस्थाका वर्णन है। जब इन्द्र-आत्मा निर्बल हो जाती है, तब उसे सब देवरूपी इन्द्रियां छोडने लगती हैं, अर्थात् आत्मशक्ति कमजोर पड जाती है, तब इन्द्रियोंकी शक्ति भी कमजोर पडने लगती है, तब आत्माको शक्ति देनेवाली उसकी माता अर्थात् उसे सजग करता है कि देख इस शरीरमेंसे इन्द्रियोंकी शक्ति कम हो रही है, तब आत्मा भी सजग होकर विष्णु अर्थात् प्राणशक्तिको प्रेरित करती है और वह प्राणशक्ति प्रेरित होकर फिर इन्द्रियोंको पुष्ट करती है ॥ ११ ॥

२१८ कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम् ।
कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत् प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य ॥ १२ ॥

२१९ अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम् ।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार ॥ १३ ॥

[१९]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

२२० एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः ।
महामुभे रोदसी वृद्धमृष्वं निरेकमिद् वृणते वृत्रहत्ये ॥ १ ॥

अर्थ— [२१८] हे इन्द्र ! (यत्) जब तूने (पितरं पादगृह्य प्राक्षिणाः) पिताको पैर पकड कर फेंका तब (कः ते मातरं विधवां अचक्रत्) तेरी माताको किसने विधवा बनाया ? और (शयुं चरन्तं त्वां) सोनेवाले और चलनेवाले तुझे (कः जिघांसत्) किसने मारनेकी इच्छा की और (कः देवः मार्डीके ते अधि आसीत्) कौन देव सुख देनेमें तुझसे अधिक था ? ॥ १२ ॥

[२१९] मैंने (अवर्त्यां शुनः आंत्राणि पेचे) नबर्तने योग्य कुत्तेकी अंतडियोंको पकाया, (देवेषु मार्डितारं न विविदे) देवोंमें सुखी करनेवालेको मैंने नहीं जाना, और (जायां अमहीयमानां अपश्यं) अपनी स्त्रीको अप्रशंसनीय स्थितिमें देखा, (अध श्येनः मे मधु आ जभार) तब श्येन मेरे लिए मधुर अन्न लाया ॥ १३ ॥

[१९]

[२२०] हे (वज्रिन् इन्द्र) वज्रधारी इन्द्र ! (सु-हवासः ऊमाः विश्वे देवासः) उत्तम प्रकारसे सहायार्थ बुलाने योग्य, रक्षा करनेवाले सम्पूर्ण देव तथा (उभे रोदसी) दोनों द्यावापृथिवी (वृद्धं ऋष्वं) वृद्ध, महान् (त्वा) तुझे (एकं इत्) अकेलेको ही (अत्र वृत्रहत्ये) इस युद्धमें (वृणते) स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— यह मंत्र भी आध्यात्मिक भावार्थको लिए हुए है। जब इन्द्ररूपी जीवात्मा अपने पिता परमात्माको दूर फेंक देता है अर्थात् भुला देता है, तब आत्माको उत्पन्न करनेवाली शक्तिरूप उसकी माता विधवाके समान शक्तिरहित हो जाती है। परमात्माकी शक्ति ही आत्माको शक्तिसम्पन्न करती है। इसलिए वह मानों आत्माको उत्पन्न ही करती है। जब यह आत्मा सोती रहती है, सजग नहीं रहती, तो मानों उसकी मृत्यु ही हो जाती है। जितना सुख यह जीवात्मा देती है, उससे ज्यादा सुख सुखस्वरूप परमात्मा देता है ॥ १२ ॥

इस मंत्रमें नीच प्रवृत्तिके मनुष्यके विषयमें विधान है। जब मनुष्य अत्यन्त नीच स्थितिमें पहुंचकर कुत्ते आदि पशुओंके मांस पर अपना जीवन निर्वाह करने लगता है, तब उसे कोई भी देव सुख प्रदान नहीं करता, उसके शरीरमें स्थित इन्द्रियां रूपी देव शक्तिहीन होकर दुःख भोगने लगते हैं। उसकी स्त्री आदि उसके परिवारके सदस्य भी अप्रशंसनीय स्थितिमें ही रहते हैं। उनकी स्थिति भी बडी दयनीय होती है। तब एक विद्वान् आकर उसे मीठा प्रशंसनीय अन्नका महत्त्व बताकर उसे पशुमांसको छोडनेका आदेश देता है, तब उसका स्थिति सुधरती है। शारीरिक स्थिति मधुर अन्न खानेसे ही सुधरती है, पशुमांसको खानेसे नहीं ॥ १३ ॥

इस वज्रधारी इन्द्रको सभी देव और सभी लोक असुरोंको मारनेके लिए बुलाते हैं और अपने नेताके रूपमें स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥

२२१ अवासृजन्त जिव्रयो न देवा भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः ।
अहन्नहिं परिशयानमर्णः प्र वर्तनीररदो विश्वधेनाः ॥ २ ॥
२२२ अतृप्णुवन्तं वियतमबुध्य—मबुध्यमानं सुषुपाणमिन्द्र ।
सप्त प्रति प्रवत आशयान—महिं वज्रेण वि रिणा अपर्वन् ॥ ३ ॥
२२३ अक्षोदयच्छवसा क्षाम बुध्नं वार्ण वातस्तविषीभिरिन्द्रः ।
दृळ्हान्यौभ्नादुशमान ओजो—ऽवाभिनत् ककुभः पर्वतानाम् ॥ ४ ॥
२२४ अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भं रथा इव प्र ययुः साकमद्रयः ।
अतर्पयो विसृत उब्ज ऊर्मीन् त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून् ॥ ५ ॥

अर्थ— [२२१] (जिव्रयः न) जिस प्रकार वृद्ध तरुणोंको प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार (देवा) देवगण तुझे (अवाअसृजन्त) प्रेरित करते हैं। हे (सत्ययोनिः इन्द्र) सत्यके आश्रयस्थान इन्द्र ! तू (सम्राट् भुवः) सम्राट् हुआ है, तूने (अर्णः परिशयानं अहिं) पानीके चारों तरफ सोनेवाले अहि राक्षसको (अहन्) मार कर (विश्वधेनाः प्रवर्तनी अरदः) सबको तृप्त करनेवाली नदियोंको प्रेरित किया ॥ २ ॥

[२२२] (अतृप्णुवन्तं अबुध्यं) तृप्त न होनेवाले, कठिनतासे जाने जानेवाले, (अबुध्यमानं) स्वयं कुछ न जाननेवाले, (सुषुपाणं) सोनेकी इच्छा करनेवाले (सप्त प्रवतः) सात नदियोंको (प्रति आशयानं) घेर कर बैठनेवाले (वियतं) तथा अन्तरिक्षमें रहनेवाले (अहिं) अहिको, हे इन्द्र ! तूने (अपर्वन्) संधियोंसे रहित करते हुए (वज्रेण विरिणाः) वज्रसे मारा ॥ ३ ॥

१ अ- पर्वन्— संधियोंसे रहित, जो पर्वका दिन नहीं, ऐसे पौर्णमासी अष्टमी और चतुर्दशी। पर्वके दिन छोडकर दूसरे दिन मारा।

[२२३] (वातः तविषीभिः वार्ण) जिस प्रकार वायु अपने बलोंसे पानीमें हलचल पैदा करता है, उसी तरह (इन्द्रः) इन्द्रने (शवसा) बलसे (बुध्नं क्षाम) द्युलोक और पृथ्वीलोकको (अक्षोदयत्) हिला दिया। (ओजः उशमानः) बलकी कामना करते हुए इन्द्रने (दृळ्हानि औभ्नात्) अत्यंत दृढ शत्रुओंको भी मार दिया, तथा (पर्वतानां ककुभः अवाभिनत्) पर्वतोंके पंखोंको भी काट डाला ॥ ४ ॥

[२२४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (जनयः गर्भं न) जैसे मातायें अपने गर्भकी रक्षा करती हैं उसी तरह (अद्रयः) शस्त्र (अभि प्रदद्रुः) तेरे पीछे पीछे चलते हैं, (रथाः इव) तथा जिसप्रकार रथ युद्धमें साथ जाते हैं उसी तरह वे शस्त्र तेरे (साकं ययुः) तेरे साथ चलते हैं। तूने (विसृतः अतर्पयः) नदियोंको तृप्त किया (ऊर्मीन् उब्ज) मेघोंको फोडा तथा, हे इन्द्र ! (त्वं) तूने (वृतान् सिन्धून्) रुकी हुई नदियोंको (अरिणाः) बहाया ॥ ५ ॥

भावार्थ— जिसप्रकार वृद्ध तरुणोंको उत्तम उपदेश देकर उत्तम मार्गमें प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार देवगण इस इन्द्रको वीरतापूर्ण कर्म करनेके लिए प्रेरित करते हैं। यह इन्द्र सदा सत्यका ही पक्ष लेता है। इसलिए अहि आदि असुर असत्यका पक्ष लेकर प्रजाको दुःख देते हैं, उन्हें मारकर इन्द्र सबको तृप्त एवं सुखी करता है ॥ २ ॥

कभी न तृप्त होनेवाले, सदा ही असन्तोषकी वृत्ति धारण करनेवाले, स्वयं कुछ न जाननेवाले अज्ञानसे भरपूर मनुष्य असुर कहलाते हैं, इन्द्र उनका वध करता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार हवा अपने बलसे पानीमें हलचल पैदा करती है उसी प्रकार इन्द्रने अपने बलसे द्युलोक और पृथ्वीलोकको क्षुब्ध किया। वह बहुत शक्तिशाली है ॥ ४ ॥

जिस प्रकार मातायें अपने गर्भकी रक्षा करती हैं उसी प्रकार शस्त्र भी इस इन्द्रकी रक्षा करते हैं अथवा जिस प्रकार रथयुद्धमें रथ वीरोंके साथ साथ जाते हैं, उसी प्रकार वे शस्त्र भी इन्द्रके साथ साथ चलते हैं। इस इन्द्रने मेघोंको तोडकर जलप्रवाह चलाकर नदियोंको तृप्त किया ॥ ५ ॥

२२५ त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम् ।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून् ॥ ६ ॥
२२६ प्राग्रुवो नभन्वो३ न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद् युवतीर्ऋतज्ञाः ।
धन्वान्यज्राँ अपृणक् तृषाणाँ अधोगिन्द्रः स्तर्यो३ दंसुपत्नीः ॥ ७ ॥
२२७ पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून् ।
परिष्ठिता अतृणद् बद्बधानाः सीरा इन्द्रः स्रवितवे पृथिव्या ॥ ८ ॥
२२८ वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ ।
व्य१न्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित् समरन्त पर्व ॥ ९ ॥

अर्थ— [२२५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वं) तूने (तुर्वीतये वय्याय) तुर्वीति और वय्यके लिये (विश्वधेनां क्षरन्तीं महीं अवनिं) सबको तृप्त करनेवाली, धान्यको देनेवाली विस्तृत पृथ्वीको (एजत् अर्णः नमसा) बहनेवाले पानीसे और अन्नसे (अरमयः) आनन्दित किया, तथा तूने (सिन्धून् सुतरणान् अकृणोः) नदियोंको उत्तमता से पार करने योग्य बनाया ॥ ६ ॥

[२२६] इन्द्रने (नभन्वः वक्वाः न) हिंसक सेनाओंके समान (ध्वस्राः) किनारोंको ध्वस्त करनेवाली (युवतीः ऋतज्ञाः) जलसे भरी हुई तथा अन्नको उत्पन्न करनेवाली (अग्रुवः अपिन्वद्) नदियोंको पूर्ण किया। (धन्वानि) मरुस्थलोंको तथा (तृषाणां अज्रान्) प्यासी भूमियोंको (अपृणक्) तृप्त किया तथा (दंसुपत्नीः स्तर्यः) शक्तिशाली स्वामियोंवाली गायोंको (इन्द्रः अधोक्) इन्द्रने दुहा ॥ ७ ॥

[२२७] इन्द्रने (वृत्रं जघन्वान्) वृत्रको मारा और (गूर्ताः पूर्वीः उषसः शरदः च) अन्धकारमें डूबी हुई बहुतसी उषाओंको और वर्षोंको तथा (सिन्धून्) नदियोंको (असृजत्) प्रकट किया। (परिष्ठिताः) बादलोंमें स्थित (बद्बधानाः) वृत्रके द्वारा रोकी गई (सीराः) नदियोंको (पृथिव्या स्रवितवे) पृथिवीपर बहनेके लिए (अतृणत्) प्रेरित किया ॥ ८ ॥

[२२८] हे (हरि-वः) घोडोंको रखनेवाले इन्द्र ! तूने (वम्रीभिः अदानं) चींटियोंके द्वारा खाये जानेवाले (अग्रुवः पुत्रं) अग्रुके पुत्रको (निवेशनात् आ जभर्थ) उसके घरसे बाहर निकाला। (आददानः अन्धः अहिं अख्यत्) बाहर निकल कर उस अन्धे अग्रुके पुत्रने अहिको देखा। (निर्भूतः) वह घरसे बाहर निकला, तब इन्द्रने (उखाच्छित् पर्व) बर्तनके समान टूट जानेवाले उसके जोडोंको (समरन्त) अच्छी तरह जोडा ॥ ९ ॥

भावार्थ— इस इन्द्रने वीरके लिए सारी पृथ्वीको विस्तृत, धान्यसे सम्पन्न और तृप्त करनेवाली बनाया और नदियोंको भी सरलतासे पार करने योग्य बनाया ॥ ६ ॥

इन्द्रने, जिसप्रकार हिंसक सेनायें अपनी प्रतिपक्षी सेनाओंका नाश करती हैं, उसीप्रकार किनारोंको ध्वस्त करनेवाली जलसे पूर्ण नदियोंको प्रवाहित किया, उससे मरुस्थलों और प्यासी भूमियोंको तृप्त करके उर्वरा बनाया तब उन भूमियोंको बनाकर उनको दुहा अर्थात् उससे अनेक रस प्राप्त किए ॥ ७ ॥

इन्द्रने अन्धकारमें डूबी हुई उषाओंको प्रकट किया, उन उषाओंके कारण सूर्य प्रकट हुआ, सूर्यके प्रकट होनेके साथही वर्षों, मासों और दिवसोंकी गणना होने लगी। सूर्यके उगनेसे बर्फ पिघलने लगी, तो नदियोंमें प्रवाह तेज हो गया ॥ ८ ॥

इन्द्रने अग्रुवके पुत्रकी रक्षा की, वह अन्धा था, अतः उसे दृष्टि देकर देखने योग्य बनाया और उसकी टूटी हुई सन्धियोंको जोडकर फिर उसे स्वस्थ कर दिया ॥ ९ ॥

×

२२९ प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्रा॒ऽऽविद्वाँ आह विदुषे करांसि ।
यथायथा वृष्ण्यानि स्वगूर्ता॒ऽपांसि राजन् नर्याविवेषीः ॥ १० ॥

२३० नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो॒ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

[२०]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

२३१ आ न इन्द्रो दूरादा न आसा॒दभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः ।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः संगे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ १ ॥

२३२ आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छा॒ऽर्वाचीनोऽवसे राधसे च ।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शी॒मं यज्ञमनु नो वाजसातौ ॥ २ ॥

अर्थ— [२२९] हे (राजन्) तेजस्वी इन्द्र ! (यथा यथा) जैसे जैसे तू (स्वगूर्ता) स्वयं प्रशंसित तथा (नर्या) मनुष्योंके लिए हितकारक और (वृष्ण्यानि अपांसि) पराक्रमसे युक्त कर्मोंको (आ विवेषीः) करता है, वैसे वैसे हे (विप्र) विद्वान् इन्द्र ! (विदुषे ते) ज्ञानसे युक्त तेरे द्वारा किए गए (पूर्वाणि करणानि) बहुतसे कर्मोंको (आ विद्वान्) जाननेवाला मैं (करांसि आह) तेरे कर्मोंका वर्णन करता हूँ ॥ १० ॥

[२३०] हे इन्द्र ! (स्तुतः गृणानः) स्तुत और प्रशंसित हुआ तू (जरित्रे) स्तोताके लिए (इषं) अन्नको (नद्यः न) नदियोंके समान (पीपेः) भर दे । हे (हरि- वः) घोडोवाले इन्द्र ! मैं (धिया) अपनी बुद्धिसे (ते) तेरे लिए (नव्यं ब्रह्म) नये स्तोत्रको (अकारि) करता हूँ, हम (रथ्यः सदासाः) रथसे तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

[२०]

[२३१] (समत्सु संगे पृतन्यून् तुर्वणिः) बडे बडे संग्रामोंमें और छोटे संग्राममें हिंसकोंको मारनेवाला (वज्रबाहुः) वज्रके समान कठोर बाहुओंवाला, (नृपतिः) मनुष्योंका पालन करनेवाला (ओजिष्ठेभिः) सामर्थ्योंसे युक्त तथा (अभिष्टिकृत् इन्द्रः) अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाला इन्द्र (नः अवसे) हमारे संरक्षणके लिए (दूराद्- आसाद् नः यासत्) दूरसे और पाससे हमारे पास आवे ॥ १ ॥

[२३२] (अर्वाचीनः इन्द्रः) हमारी तरफ आनेवाला इन्द्र (अवसे राधसे) हमारे संरक्षणके लिए तथा हमें धन देनेके लिए (हरिभिः नः अच्छ आ यातु) घोडोंसे हमारी तरफ सीधा आवे । (वज्री, मघवा, विरप्शी) वज्र धारण करनेवाला, ऐश्वर्यवान् और महान् इन्द्र (वाजसातौ) अन्नप्राप्तिके लिए यज्ञोंके शुरु होनेपर (इमं यज्ञं तिष्ठाति) हमारे इस यज्ञमें ही बैठता है ॥ २ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी इन्द्र सुखदायक मनुष्योंके लिए हितकारक और पराक्रमसे युक्त कर्मोंको करता है, इसी कारण इस इन्द्रके कर्मोंकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं, अतः तू, जैसे नदियां मनुष्योंको पानी देती हैं, उसी तरह हमें अन्न दे । हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते हैं । तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

यह इन्द्र संग्रामोंमें शत्रुओंको मारनेवाला, वज्रके समान कठोर बाहुओंवाला, मनुष्योंका पालन करनेवाला, सामर्थ्योंसे युक्त और अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाला है ॥ १ ॥

हमारी तरफ आनेवाला इन्द्र हमारी रक्षाके लिए तथा हमें धन देनेके लिए हमारी ओर आवे । वह वज्रधारी और ऐश्वर्यवान् इन्द्र हमारे यज्ञमें आकर बैठे और हमें अन्न प्रदान करे ॥ २ ॥

२३३ इमं यज्ञं त्वमस्माकमिन्द्र पुरो दधत् सनिष्यसि क्रतुं नः ।
श्वघ्नीव वज्रिन् त्सनये धनानां त्वया वयमर्य आजिं जयेम ॥ ३ ॥
२३४ उशन्नु षु णः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः ।
पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः समन्धसा ममदः पृष्ठ्येन ॥ ४ ॥
२३५ वि यो ररप्श ऋषिभिर्नवेभिर्वृक्षो न पक्वः सृण्यो न जेता ।
मर्यो न योषामभि मन्यमानोऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम् ॥ ५ ॥
२३६ गिरिर्न यः स्वतवाँ ऋष्व इन्द्रः सनादेव सहसे जात उग्रः ।
आदर्ता वज्रं स्थविरं न भीम उद्नेव कोशं वसुना न्यृष्टम् ॥ ६ ॥

अर्थ— [२३३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वं) तू (नः पुरः दधत्) हमें आगे रखकर (अस्माकं इमं क्रतुं यज्ञं) हमारे इस किए जानेवाले यज्ञका (सनिष्यसि) सेवन कर। हे (वज्रिन्) वज्रधारी इन्द्र ! (श्वघ्नी इव) शिकारी जिसप्रकार पशुओंको ढूंढता है, उसी तरह (अर्यः वयं) तेरी स्तुति करनेवाले हम (धनानां सनये) धनकी प्राप्तिके लिए (त्वया) तेरी सहायतासे (आजिं जयेम) संग्रामको जीतें ॥ ३ ॥

[२३४] हे (स्वधावः) अन्नवान् इन्द्र ! (सुमनाः) उत्तम मनवाला तू (उशन्) हमारी कामना करता हुआ (नः उपाके) हमारे पास आकर (नः सु-सुतस्य) हमारे द्वारा निचोडे गए (मध्वः सोमस्य नु पाः) मीठे सोमको पी। (पृष्ठयेन अन्धसा) अपने पीछे रखे हुए अन्नरूप सोमसे (सं ममदः) आनन्दित हो ॥ ४ ॥

[२३५] (पक्वः वृक्षः न) जिसप्रकार पके हुए फलोंवाला वृक्ष प्रशंसित होता है, अथवा (सृण्यः जेता न) शस्त्र चलानेमें कुशल विजेता जिसप्रकार प्रशंसित होता है, उसी प्रकार (यः नवेभिः ऋषिभिः ररप्श) जो नये ऋषियोंके द्वारा प्रशंसित होता है। (योषां मर्यः न) जिस तरह अपनी स्त्रीकी पुरुष प्रशंसा करता है, उसी तरह (अभि मन्यमानः) अच्छी तरह जानता हुआ मैं (पुरुहूतं इन्द्रं) बहुतोंके द्वारा सहायार्थ बुलाये जानेवाले इन्द्रका (अच्छा विवक्मि) उत्तम रीतिसे वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

[२३६] (गिरिः न स्वतवान्) पहाडके समान बलवान् (यः ऋष्वः उग्रः इन्द्रः) जो महान् और वीर इन्द्र (सहसे) शत्रुओंको जीतनेके लिए (सनात् एव जातः) प्राचीनकालसे ही उत्पन्न हुआ है, वह इन्द्र (उद्न कोशं इव) पानीसे भरे हुए बर्तनके समान (वसुना न्यृष्टं) धनसे युक्त (स्थविरं वज्रं) महान् वज्रको (आदर्ता) स्वीकार करता है ॥ ६ ॥

१ ऋष्वः उग्रः इन्द्रः सहसे सनात् एव जातः— वह महान् और वीर इन्द्र शत्रुओंको जीतनेके लिए प्राचीनकालसे ही उत्पन्न हुआ है।

भावार्थ— हे इन्द्र ! हमारे इस यज्ञमें आकर तू यज्ञका सेवन कर। तेरी स्तुति करनेवाले हम धनकी प्राप्तिके लिए तेरी सहायतासे संग्रामको जीतें ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! उत्तम मनसे युक्त होकर हमारे पास आनेकी इच्छा करता हुआ तू हमारे दिए गए अन्नका सेवन कर ॥ ४ ॥

जिसप्रकार पके हुए फलोंवाला वृक्ष अथवा शस्त्र चलानेमें कुशल विजेता सर्वत्र प्रशंसित होता है, अथवा जिसप्रकार एक स्त्री अपने पतिके द्वारा प्रशंसित होती है उसीप्रकार यह इन्द्र भी सबके द्वारा प्रशंसित होता है ॥ ५ ॥

महान् और वीर इन्द्र शत्रुओंको जीतनेके लिए प्राचीनकालसे ही उत्पन्न हुआ है। वह इस कामके लिए महान् वज्रको धारण करता है ॥ ६ ॥

२३७ न यस्य वर्ता जनुषा न्वस्ति न राधस आमरीता मघस्य ।
उद्वावृषाणस्तविषीव उग्रा ऽस्मभ्यं दद्धि पुरुहूत रायः ॥ ७ ॥
२३८ ईक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीना मुत व्रजमपवर्तासि गोनाम् ।
शिक्षानरः समिथेषु प्रहावान् वस्वो राशिमभिनेतासि भूरिम् ॥ ८ ॥
२३९ कया तच्छृण्वे शच्या शचिष्ठो यया कृणोति मुहु का चिदृष्वः ।
पुरु दाशुषे विचयिष्ठो अंहो ऽथा दधाति द्रविणं जरित्रे ॥ ९ ॥
२४० मा नो मर्धीरा भरा दद्धि तन्नः प्र दाशुषे दातवे भूरि यत् ते ।
नव्ये देष्णे शस्ते अस्मिन् त उक्थे प्र ब्रवाम वयमिन्द्र स्तुवन्तः ॥ १० ॥

अर्थ— [२३७] (जनुषा यस्य वर्ता न आस्ति) जन्मसे ही जिसका कोई नाश करनेवाला नहीं है। तथा (राधसः मघस्य न आमरीता) जिसके ऐश्वर्यसे युक्त धनका भी नाश करनेवाला कोई नहीं है। हे (तविषीवः उग्र पुरुहूत) बलवान्, वीर और बहुतोंके द्वारा सहाय्यार्थ बुलाये जानेवाले इन्द्र! (वृषाणः) अत्यन्त बलशाली तू (अस्मभ्यं रायः दाद्धि) हमें धन दे ॥ ७ ॥

१ जनुषा (अस्य) वर्ता न अस्ति— जन्मसे ही इस इन्द्रका नाश करनेवाला कोई नहीं है।

[२३८] हे इन्द्र! तू (चर्षणीनां रायस्य क्षयस्य) मनुष्यों पर, धन पर, तथा घर पर (ईक्षे) शासन करता है (उत) और (गोनां व्रजं अपवर्तासि) गायोंके बाडेको खोलनेवाला है। (शिक्षानरः) शिक्षाके द्वारा लोगोंको उन्नत करनेवाला तथा (समिथेषु प्रहावान्) युद्धोंमें शत्रुओं पर प्रहार करनेवाला तू (भूरिं वस्वः राशिं) बहुतसी धनकी राशिको (अभिनेता आसि) प्राप्त करानेवाला है ॥ ८ ॥

[२३९] (शचिष्ठः ऋष्वः) अत्यन्त बलवान् और महान् इन्द्र (कया शच्या शृण्वे) किस शक्तिके कारण प्रसिद्ध है? तथा (यया मुहु कृणोति) जिससे बारबार काम करता है वह शक्ति (का चित्) कौनसी है? वह इन्द्र (दाशुषे) दान देनेवालेके लिए (पुरु अंहः विचयिष्ठः) बहुतसे पापका नाश करनेवाला है। (अथ) और (जरित्रे द्रविणं दधाति) स्तोताके लिए धन देता है ॥ ९ ॥

[२४०] हे इन्द्र! तू (नः मा मर्धीः) हमें न मार, अपितु (आ भर) हमारा भरण पोषण कर। (ते यत् भूरि) तेरे जो बहुत साधन (दाशुषे दातवे) दान देनेवालेको देनेके लिए हैं (तत् नः दद्धि) वह हमें दे। हे इन्द्र! (स्तुवन्तः वयं) तेरी स्तुति करते हुए हम (अस्मिन् नव्ये देष्णे शस्ते उक्थे) इस नये, दान जिसमें दिया जाता है ऐसे तथा अनुशासित यज्ञमें (प्र ब्रवाम) तेरा बहुत गुणवर्णन करते है ॥ १० ॥

भावार्थ— यह इन्द्र ऐसा वीर है कि जन्मसे ही इसका कोई नाश नहीं कर सकता। इसके ऐश्वर्यका भी कोई नाश नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यह इन्द्र मनुष्यों पर, धन पर और घर पर भी शासन करता है और गायोंकी भी रक्षा करनेवाला है। यह इन्द्र शिक्षाके द्वारा लोगोंको उन्नत करनेवाला, युद्धमें शत्रुओं पर प्रहार करनेवाला और धनकी राशिको प्रदान करनेवाला है ॥ ८ ॥

वह इन्द्र अपने बल और महानताके कारण ही प्रसिद्ध है, उसमें सतत काम करनेकी शक्ति है। वह दान देनेवालेके बहुतसे पापोंका नाश करता है ॥ ९ ॥

हे इन्द्र! तू हमें मार मत, इसके विपरीत हमारा पालन पोषण कर। जो पदार्थ तू दानशीलोंको देता है, वही हमें भी दे। हम भी अनुशासित यज्ञमें बैठकर तेरा गुणगान करें ॥ १० ॥

२४१ नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

[२१]

[ऋषिः— वामदेवो गौतमः । देवता— इन्द्रः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।]

२४२ आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः ।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ १ ॥

२४३ तस्येदिह स्तवथ वृष्ण्यानि तुविद्युम्नस्य तुविराधसो नॄन् ।
यस्य क्रतुर्विदथ्यो३ न सम्राट् साह्वान् तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टीः ॥ २ ॥

अर्थ— [२४१] हे इन्द्र ! (नद्यः न) जिस प्रकार नदियां पानीसे भरी जाती हैं, उसी तरह (स्तुतः गृणानः) स्तुत और प्रशंसित हुआ तू (जरित्रे इषं पीपेः) स्तोताको अन्नसे पूर्ण कर । हे (हरि-वः) घोडोंवाले इन्द्र ! मैंने (ते धियां नव्यं ब्रह्म अकारि) तेरे लिए बुद्धिसे नया स्तोत्र बनाया है । हम (रथ्यः सदासाः स्याम) रथ और दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

[२१]

[२४२] (द्यौः न) द्युलोकके समान तेजस्वी (यस्य तविषीः पूर्वीः) जिस इन्द्रके बल बहुतसे हैं, वह (इन्द्रः) इन्द्र (अवसे नः उप आयातु) संरक्षणके लिए हमारे पास आवे तथा (स्तुतः) प्रशंसित होकर वह (इह सधमात् अस्तु) इस यज्ञमें हमारे साथ आनन्द प्राप्त करनेवाला हो, और (अभिभूति क्षत्रं पुष्यात्) शत्रुको हरानेवाले बलको पुष्ट करे ॥ १ ॥

[२४३] (साह्वान् तरुत्रः विदथ्यः सम्राट् न) शत्रुको हरानेवाले तथा उनकी हिंसा करनेवाले, युद्धके योग्य सम्राट्के समान (यस्य क्रतुः) जिस इन्द्रकी शक्ति (कृष्टीः) प्रजाओंपर (अभि अस्ति) शासन करती है, ऐसे (तुविद्युम्नस्य तुविराधसः तस्य इत्) बहुत तेजस्वी और बहुत धनोंवाले उस इन्द्रके (वृष्ण्यानि) बलोंकी तथा (नॄन्) अन्य नेताओंकी (इह स्तवथ) यहां तुम स्तुति करो ॥ २ ॥

१ साह्वान् तरुत्रः विदथ्यः सम्राट्— शत्रुओंका पराजय करनेवाला, शत्रुको नष्ट करनेवाला, युद्धमें कुशल सम्राट हो ।
२ तरुत्रः— शत्रुका नाश तथा प्रजाका रक्षण करनेवाला ।
३ तुविद्युम्नस्य तुविराधसः वृष्ण्यानि स्तवथ— तेजस्वी और साधन संपन्नके बलोंकी प्रशंसा करो ।
४ नॄन् स्तवथ— नेताओंकी प्रशंसा करो ।

भावार्थ— हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं, अतः तू जैसे नदियां मनुष्योंको पानी देती हैं, उसी तरह हमें अन्न दे । हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते हैं । तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥ ११ ॥

यह इन्द्र द्युलोकके समान तेजस्वी है, इसीलिए इस इन्द्रके बल बहुतसे हैं । ऐसा यह तेजस्वी इन्द्र संरक्षणके लिए हमारे पास आवे । वह हमारे यज्ञमें आकर आनन्द प्राप्त करे ॥ १ ॥

यह इन्द्र एक ऐसा सम्राट् है कि जो शत्रुओंका पराजय करनेवाला, शत्रुको नष्ट करनेवाला और युद्धमें कुशल है । ऐसे तेजस्वी और साधनसम्पन्न इन्द्रके बलोंकी सब प्रशंसा करते हैं । ऐसे नेताओंकी प्रशंसा सर्वत्र होती है ॥ २ ॥

२४४ आ यात्विन्द्रो दिव आ पृथिव्या मक्षू समुद्रादुत वा पुरीषात् ।
स्वर्णरादवसे नो मरुत्वान् परावतो वा सदनादृतस्य ॥ ३ ॥
२४५ स्थूरस्य रायो बृहतो य ईशे तमु ष्टवाम विदथेष्विन्द्रम् ।
यो वायुना जयति गोमतीषु प्र धृष्णुया नयति वस्यो अच्छ ॥ ४ ॥
२४६ उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन् यजध्यै ।
ऋञ्जसानः पुरुवार उक्थैरेन्द्रं कृण्वीत सदनेषु होता ॥ ५ ॥
२४७ धिषा यदि धिषण्यन्तः सरण्यान् त्सदन्तो अद्रिमौशिजस्य गोहे ।
आ दुरोषाः पास्त्यस्य होता यो नो महान् त्संवरणेषु वह्निः ॥ ६ ॥

अर्थ— [२४४] (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंको साथमें रखनेवाला इन्द्र (नः अवसे) हमारे संरक्षणके लिए (दिवः पृथिव्याः समुद्रात् पुरीषात्) द्युलोकसे, पृथिवीसे, अन्तरिक्षसे, जलसे (स्वर्णरात्) स्वर्गलोकसे (परावतः) दूर देशसे (उत वा) और (ऋतस्य सदनात्) यज्ञके स्थानसे (आयातु) आवे ॥ ३ ॥

१ समुद्रः— समुद्र, अन्तरिक्ष " समुद्र इति अन्तरिक्षनाम " (निघं १ । ३ । १५)

२ पुरीषं— शौच, पानी " पुरीषमित्युदकनाम " (निघं १ । १२ । १२)

३ मरुत्वान् इन्द्रः नः अवसे आयातु— सेनाके साथ इन्द्र हमारे संरक्षणके लिये हमारे पास आवे ।

[२४५] (यः) जो इन्द्र (स्थूरस्य बृहतः रायः ईशे) बहुत बडे धन पर शासन करता है, (यः वायुना गोमतीषु जयति) जो वायुकी सहायतासे गायोंकी प्राप्ति होनेवाले युद्धोंमें जय प्राप्त करता है तथा (धृष्णुया) जो शत्रुओंका धर्षण करनेवाला (वस्यः अच्छ नयति) धनको अच्छी तरह प्राप्त कराता है, (तं इन्द्रं विदथेषु स्तवाम) उस इन्द्रकी यज्ञोंमें हम प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

१ यः बृहतः रायः ईशे, धृष्णुया वस्यः, तं विदथेषु स्तवाम— जो वीर बडे धनको अपने आधीन रखता है शत्रुओंका धर्षण करके जो धन प्राप्त करता है, उसकी हम यज्ञोंमें तथा युद्धोंमें प्रशंसा गाते हैं ।

[२४६] (नमः ऋंजसानः उक्थैः पुरुवारः) नमन करने योग्य, कर्मोंको सिद्ध करनेवाला और स्तोत्रोंके द्वारा बहुत बार वरण करने योग्य (यः) जो इन्द्र (स्तभायन्) लोकोंको आधार देता है तथा (यजध्यै वाचं जनयन्) यज्ञ करनेके लिए स्तुतिके स्तोत्र करता हुआ यजमानको (नमसि इयर्ति) अन्नप्राप्तिके कार्यमें प्रेरित करता है, उस (इन्द्रं) इन्द्रको (होता सदनेषु) होता यज्ञोंमें (कृण्वीत) आनन्दित करे ॥ ५ ॥

[२४७] (औशिजस्य गोहे) उशिक् ऋषिके पुत्रके घरमें (सदन्तः धिषण्यन्तः) बैठे हुए स्तुति करनेवाले ऋत्विक् (यदि) जब (धिषा) बुद्धिपूर्वक (अद्रिं सरण्यान्) [सोम पीसनेके लिए] पत्थरके पास जाएं, तब इन्द्र (आ) आवेगा । (यः नः संवरणेषु वह्निः) जो हमें युद्धोंमें पार ले जानेवाला तथा (महान्) महान् है, वह (दु-रोषाः) शत्रुपर भयंकर क्रोध करनेवाला (होता) बुलाने पर (पास्त्यस्य आ) यजमानके घर आवेगा ॥ ६ ॥

१ यः संवरणेषु नः वह्निः— जो युद्धोंमेंसे हमें पार ले जाता है ।

२ दुरोषाः— शत्रुपर भयंकर क्रोध करनेवाला ।

भावार्थ— मरुतोंकी सहायता प्राप्त करनेवाला इन्द्र, हमारी रक्षा करनेके लिए द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष और जल प्रदेशोंसे हमारे पास आवे ॥ ३ ॥

यह इन्द्र बहुत बडे धन और ऐश्वर्यों पर शासन करता है । यही वायुकी सहायतासे गायोंकी प्राप्ति होनेवाले युद्धोंमें जय प्राप्त करता है । यह इन्द्र शत्रुओंको अच्छी तरह परास्त करके धनको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

यह इन्द्र नमन करने योग्य, उत्तम कर्मोंको सिद्ध करनेवाला, वरणीय और लोकोंके लिए आधार देनेवाला है ॥ ५ ॥

यह इन्द्र शत्रुओंपर भयंकर क्रोध करनेवाला और महान् है । जब यजमानके घरमें ऋत्विक् गण सोम पीसनेके लिए पत्थरोंके पास जाते हैं, तब इन पत्थरोंकी आवाज सुनकर इन्द्र वहां आता है ॥ ६ ॥

Regd. No. G. 71

कम कीमतमें भरपूर साहित्यकी
स्वर्णिम योजना

सब सत्यविद्याओंसे सम्पन्न वैदिक–साहित्यको और अधिक लोकप्रिय बनानेके लिए हमने एक नवीन योजना बनाई है। इस योजनाके अन्तर्गत हमारे अमूल्य वैदिक प्रकाशनोंको बिल्कुल ही कम कीमत पर आप प्राप्त कर सकेंगे। इस योजनामें आनेवाली पुस्तकें निम्न हैं।

	पृष्ठ संख्या	पहलेका मूल्य	योजनान्तर्गत मूल्य
१ अथर्ववेद– पांच भागोंमें	१५००	रु. ६४	रु. ४४
२ सामवेद	८००	रु. ३०	रु. १४
३ दैवतसंहिता (मूलमात्र)	१०००	रु. ३३	रु. २३
४ गीता पुरुषार्थबोधिनी	१०००	रु. ३३	रु. २३
		१६०	१०४

उपर्युक्त सभी पुस्तकोंमें (दैवत संहिताको छोडकर) देवनागरी लिपिमें मूलमंत्र अर्थ, भावार्थ, स्पष्टीकरण तथा व्याख्या है। ये पुस्तकें हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओंमें उपलब्ध हैं। यह स्वर्णिम योजना ३१ दिसम्बर १९६९ तकही रहेगी। अतः शीघ्रता करें और आज ही अपना आर्डर भेजें। पुस्तकोंके मूल्यमें डाकव्यय भी शामिल है। पर इन चारों पुस्तकोंको एक साथ मंगवाने वाले सिर्फ ९२ रु. भेजें। उनके लिए रेलभाडा और डाकव्यय मुफ्त होगा।

साइज डबल क्राउन आठ पृष्ठ, टाइप और छपाई सुन्दर। आज ही इन पुस्तकोंके लिए लिखें।

व्यवस्थापक,
स्वाध्याय–मण्डल, पारडी
पारडी (जि. बलसार) (गुजरात)

(१) पुस्तकोंका ऑर्डर भेजने समय इस विज्ञापनका उल्लेख अवश्य करें।
(२) ऑर्डरमें मराठी या हिन्दी भाषाका भी उल्लेख अवश्य करें।
(३) पुस्तकोंको रेलसे मंगवाने पर खर्च कम पडेगा।

मुद्रक और प्रकाशक– व. श्री. सातवलेकर, [illegible]

वैदिक धर्म

सितम्बर १९६९
५० पैसे



कृतान्तसमधान्विषणक्षमा च यस्यास्ति भारतवर्षमनुमता ।
ब्रह्मर्षिपदवीमभिभूषिताय नमोऽस्तु श्रीपादमहोदयाय ॥

वैदिक धर्म

जागरूक अग्नि

तॉं उंशतो वि बोंधय
यदंग्ने यासिं दूत्यंम् ।
देवैरासंत्सि बर्हिषिं ॥

(ऋ. १।१२।४)



हे (अग्ने) अग्ने ! (यत् दूत्यं यासि) जब तू देवोंका दौत्यकर्म करनेके लिए उनके पास जाता है, तब (उशतः तान् वि बोधय) हविकी कामना करनेवाले उन देवोंको ज्ञानसे युक्त कर और (बर्हिषि देवै. आसत्सि) इस यज्ञमें आकार देवोंके साथ बैठ ।

जिस प्रकार यह अग्निदेव देवोंको जागकर उन्हें यज्ञ कर्ममें बुलाता है, उसी तरह राजदूत राष्ट्रकी प्रजाओंमें जागृति फैलाता हुआ उन्हें एक स्थान पर राष्ट्रकी रक्षाके लिए संगठित करे ।

वैदिकधर्मके उन्नेता, वेदोद्धारक, संस्कृतभाषाकी महिमाके प्रचारक, आधुनिक वेदमहर्षिके रूपमें विख्यात श्री पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीका कार्य " यावच्चन्द्रदिवाकरौ " प्रशंसा पाता रहेगा। जिस समय भारतीय प्रजा वेदोंके महत्त्वसे अपरिचित होकर अपने पूर्वजोंके इस अपूर्व ज्ञानकोषको भूलती जा रही थी, उसी समय पं. सातवलेकरजीने वेदोंकी जो शंखध्वनि की, उससे सारा भारतीयसमाज चैतन्य हो गया। उसने वेदोंके महत्त्वको पहुंचाना और वैदिक-संस्कृतिके उन्नतम तत्त्वोंके मूल्यको जाना।



पू. पण्डितजीने अपने जीवनभर वेदप्रचारके मिशनको चलाया। वह मिशन आज भी उनकी अनुपस्थितिमें सुचारुरूपसे चल रहा है। १९ सितम्बरके दिन उन पवित्र वेदमहर्षिका १०२ वां जन्मदिन है। इस अवसर पर हम वैदिकधर्म-परिवारकी ओरसे श्री पं. सातवलेकरजीको अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

विचारानुकूल आचरण

(लेखक— श्री भैरवदत्त शुक्ल)

⊙

हमारे जीवनका प्रत्येक कार्य, कार्मोंकी प्रत्येक सरणि, सरणियोंका प्रत्येक मोड़ और मोड़ोंका हर एक रुझान तभी सार्थक, सुखद और सशक्त बन सकता है, जब उसका आधार विचार हो। मननात्मिका मतिका महान् संबल लेकर संकल्प-विकल्प परक द्वन्द्वसे ऊपर उठते हुए जब मनुष्य सुनियोजित रूपसे कुछ सिद्धांत-मुक्ताओंका पालन कर लेता है, उसी समय विचारका प्रादुर्भाव होता है।

संस्कारोंके शिव-अशिव प्रभावके सहारे विचार भी भले-बुरे प्रकारोंमें विभक्त हो जाते हैं। अशिवध्वंसमयी परंपराओं और स्वार्थकेन्द्रित क्षुद्रस्थितियोंमें बन संवरकर घुमड़नेवाले विचार ही उच्चाटन, व्यभिचार, रक्तपात आदि कुकृत्योंके संवाहक कहलाते हैं जब कि शिव सर्जनातुर रिक्थ और परमार्थ-पालित मूल्योंकी वीथिसे घूम फिर कर व्यापक हो जानेवाले विचार ' मंत्र ' का अभिधान पा लेते हैं।

उपरिसंकेतित विचार या मंत्रके अनुकूल आचरण ही सच्चा मानवीय आचरण है जिसके बलबूते पर दैविक आधारशिलाकी प्रतिष्ठापना की जा सकती है। विचार और आचरण-जन्य असन्तुलन, कथनी करनीसे संबद्ध आपा-धापी और सिद्धान्त-व्यवहारकी विघटित परंपरा पतनको बुलावा देती है।

ऋग्वेदकी एक ऋचा है

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपि कक्षेभि""रत्राभि सं रभामहे
(ऋ १०।१३४।७)

जिसका आशयमात्र इतना है कि हे दिव्यगुणपूर्ण महात्माओ! न तो हम हिंसा करते हैं और न कलह ही उत्पन्न करते हैं बल्कि मंत्रके सुननेके अनुसार या भगवती श्रुतिके लोकोपकारी पवित्र मन्त्रके वास्तविक उपदेशकी भांति अपना चालचलन ढालते हैं। यही नहीं तृणवत् तुच्छ सखासह योगियोंके साथ भी एकमत सुसंघटित होकर इस कर्मक्षेत्र संसारमें तीव्रताके साथ अपने कार्य संपादित करते हैं।

कितनी उदात्त भावना है उल्लिखित ऋचामें! इसका एक एक खंड जीवननिर्माणके पवित्र उपादानोंकी ओर संकेत करता है। ये सर्जनात्मक बोल किसी जातिविशेष, क्षेत्रविशेष या मतविशेषके लिए नहीं वरन् उस समस्त मानवसामुदायके लिए हैं जिसमें अभ्युदयसे भरी अलौकिक तड़प हो; उन्नति-मुख चुंबनार्थ संचित साध हो और परमार्थ संवलित सर्वाधिक सजग सक्रियता हो, अब यदि इन उपादानों पर विहंगम दृष्टिपात कर लिया जाय तो अधिक समीचीन होगा।

(१) हिंसाका विरोध— वेदकी दृष्टिमें हिंसासे बढ़ कर संसारमें अन्य कोई दुर्गुण है ही नहीं। हिंसा ही एक वह घुन है जो सर्जनोन्मुख उत्थानका अन्त कर देता है। यदि इस घुनसे मुक्ति न पायी जा सकी, तो फिर देश, राष्ट्र या समाजका अभ्युदय भी आकाशकुसुमसे अधिक महत्त्व नहीं रख सकेगा।

व्यावहारिक जीवनमें इस हिंसाके कई रूप होते हैं जिनमें प्रमुखता तीन कोटियोंकी है—

(२) मानसिकहिंसा— अपने मनसे औरोंका अमंगल अहित या अकल्याण करनेकी कुत्सित, योजना बनाना इस कोटिकी हिंसा है। वास्तवमें हिंसाकी यह कोटी अप्रत्यक्ष होनेके कारण अत्यधिक खतरनाक होती है। इसे उस व्यक्तिके अतिरिक्त, जिसके मानसिक धरातलपर यह हावी होती है, अन्य व्यक्ति मिटा नहीं सकता।

आर्य-संस्कार विधानमें जितने भी व्यूहसंव्यूह विनिर्मित हुए थे, उनके मूलमें इस मानसिक हिंसाके समूलोच्छेदनकी प्रमुखता थी। पर, आजकल वे संस्कार या तो स्वयं दम तोड़ रहे हैं, या रूढि अथवा मिथ्याभिनयके प्रतीकमात्र बनकर हास्यास्पद स्थिति तक पहुंच गये हैं।

इसी कारणसे आजका भारतीयसमाज मानसिक हिंसासे अपनेको विरत नहीं कर पाता। उसके घटक व्यक्तियोंके मानसिकतन्तु इसी अवगुणसे ओतप्रोत रहते हैं जिसका दुष्परिणाम गली गली कूचे कूचेमें प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। मानसिक दृढ़ताका विलोप, संशयका अतिरेक, और अविश्वासकी अतिशयता, अविवेकका आधिक्य आदि असंख्य अवगुण इस मानसिक हिंसाकी ही बदौलत हैं।

(ख) वाचिक हिंसा—भारतका शायद ही कोई ऐसा सार्वजनिक स्थान हो, जहां वाचिक हिंसाका नग्न प्रदर्शन न होता हो। घर-बाहर, वीथि, राजमार्ग, मनोरंजक केन्द्र देवालय— सभी स्थान वाचिक हिंसाके आधिपत्यके कारण मलिन दृष्टिगत होते हैं। अनावश्यक गाली गलौज, एक दूसरेको बुरा भला कहना, व्यंग्य बाणोंसे किसीके मर्म पर वज्रपात करना आदि अवगुण वाचिक हिंसाके प्रतीक भर हैं जिनसे छुटकारा पाये बिना, किसी भी व्यक्तिका चरित्र-गत विकास नहीं हो सकता।

वेदमें स्थान-स्थान पर और आर्य-सामाजिक परंपराके छोटेसे छोटे नियम-विधानमें इस वाचिक हिंसाके निरा-करणके प्रभूत निर्देश परिलक्षित होते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम इससे आपादमस्तक आप्लावित बने हुए अवनतिकी थपकियां खाकर पुलकित हो रहे हैं।

(ग) कायिक हिंसा - प्रत्यक्ष रूपसे किसी भी व्यक्तिका अंगच्छेद करना, वध करना, येनकेन प्रकारेण उसे कार्य करनेकी शक्तिसे हीन कर देना आदि अवगुण कायिक हिंसाके ज्वलन्त रूप हैं। पाश्चात्य समाजोंके संपर्कके कारण इस कोटिकी हिंसा भारतमें बहुत प्रचलित हो गयी है। आयेदिन किसीकी आंखें निकाल ली जाती है, किसीके हाथ पैर-काट डाले जाते हैं; किसीके चाकू-छुरा भोंक कर उसका प्राणान्त कर दिया जाता है और किसीके गुह्य अंगों पर अमानुषिक आघात करके अपने आन्तरिक क्रोधका परिशमन किया जाता है।

घर-घरमें भाई-भाई, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, सास-बहूके बीच नित्य सिरफुटौवलकी नौबत आती है। रही-सही कमी वर्तमान पुलिस व्यवस्थामें पूर्ण परिव्याप्त घूसखोरी, कानूनकी एकांगिता और न्यायविधिकी अपव्यय-प्रमुखताकी बदौलत दूर हो गई है।

अब तो पैसेके जोर पर किसीकी कहीं भी हत्या कर देना या करवा डालना बायें हाथका खेल हो गया है। सर्व श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी, दीनदयाल उपाध्याय, प्रतापसिंह कैरों आदिकी हत्या कर दी गयी और हत्यारोंका कुछ भी बिगाड़ न किया जा सका। गरीब जनता तो अपनी असहायावस्थाके कारण जीवित रहते हुए मृतवत् बन गयी है। देहात या शहरके किसी भी कोनेमें गुंडों या नर-पिशाचों द्वारा गरीबोंकी बहू-बेटियोंकी अस्मत लूटना और प्रतिरोध किये जाने पर उन्हें कीड़ोंकी मौतका शिकार बना देना वर्तमान सभ्यताका फैशन बन गया है।

समाज निरीह दिखायी पड़ता है। उसका संघटन एवं नियंत्रण बिखर गया है। किसीकी भी आर्थिक, शारीरिक या मानसिक दृष्टिसे सुरक्षा नहीं हो पा रही है। कल्याण-कारी समाजवादके इजारेदार अपनी कुर्सियोंकी खींचतानमें ही उलझे हुए हैं। उन्हें इतनी फुरसत ही कहां है कि वो वे जनजीवनमें परिव्याप्त भयंकरी हिंसाके मौलिक कारणों की खोज करके, उनका अन्त या विनाश करनेकी सोचें।

इसीलिए आजकी आपत्तिमयी परिस्थितिमें वेदके हिंसा-विरोधका विशेष महत्त्व स्वीकार करना केवल अपेक्षित ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है। आजकल—

'न किः मिनीमसि'— (ऋ. १०।१३४।७) [न तो हम हिंसा करते हैं] को हृदयंगम करनेकी महती आवश्यकता है।

वैसे हिंसा जैसा दुर्गुण विशेष परिस्थितियोंमें सद्गुण भी बन जाता है। समाज, देश व्यक्तिकी जिन्दगी इज्जत या दौलतसे खुल खेलनेवाले नराधम आततायियों, विदेशी आक्रामकों और देशके अन्दर छिपेहुए पंचमांगी जयचन्दों-मीरजाफरोंके विरोध या अन्तके लिए की गयी हिंसा हिंसा ही नहीं मानी जाती। इसके लिए ही तो कहा गया है कि—

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'

हमारी वेद-प्रतिपादित अहिंसा व्यावहारिक अहिंसा है। उसमें 'एक गालपर तमाचा जड़नेपर दूसरा गाल भी आगे कर देने' की नपुंसकभावनाको प्रश्रय नहीं दिया गया है। यही कारण है कि भारतीय देवगण ही नहीं वरन् आव-श्यकता पड़ने पर काली, तारा, दुर्गाप्रभृति देवियोंको भी शस्त्रास्त्र उठाने पड़े हैं। इसीलिए पराधीन-पददलित भारतमें भी झांसीकी रानी लक्ष्मीबाई, कैप्टेन लक्ष्मीबाई जैसी शौर्यकी साकार प्रतिमाएं विद्युत सी चमकीं और शत्रुओंको चमत्कृत करते हुए देशपर सर्वस्वाहुतिके लिए सन्नद्ध हो गयीं।

सौ बातकी एक बात यह है कि अस्तित्वरक्षण, स्वातंत्र्य रक्षण और मातृभूमि-रक्षणकी पुनीत आवश्यकता पड़नेपर की जानेवाली हिंसाको अपवादरूप मानकर सदैव अहिंसाका पालन किया जाना चाहिए। किन्तु यह अहिंसा शेरकी अहिंसा हो, बकरीकी नहीं; क्षमताकी अहिंसा हो, विवशता-की नहीं।

(२) कलहका परित्याग— सक्षम अहिंसाका महत्त्व तभी सार्थक है, जब समाजमें कलह न हो। वेदमें स्पष्टरूपसे कलहके परित्यागका उपदेश किया गया है। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि वेदानुयायी होनेका दम भर कर

भी हम जीवनके समग्र क्षेत्रोंमें कलहकी घुट्टी पीते दिखायी पडते हैं।

वास्तविकता यह है कि विवेकशील सामाजिक प्राणीकी हैसियतसे मनुष्य अपनी जीवन-यात्राको सरल सुगम तथा सुविधाप्रद बनाये रखनेके लिए कुछ नियमविधान विनिर्मित करता है। उन्हीं नियमविधानोंका सुन्दर संबल पाकर समाजकी विकसनशील प्रक्रिया शनैः शनैः सुसंचालित हो पाती है। परन्तु रुचि प्रकृति और परिस्थितिके पार्थक्यके कारण मानव-मानवमें सहयोगके स्थान पर विरोधका बोल बाला होनेकी प्राय. संभावना रहती है।

जिस समाजमें इस प्रकारके अन्तर्विरोधोंको महदुद्देश्य पर न्योछावर करना सिखाया जाता है अर्थात् संस्कारोंके सुपुष्ट संबलसे मानवकी पाशविक प्रवृत्तियोंको नियंत्रित, संतुलित और कल्याणकर बनाया जाता है, उसी समाजमें राम, भरत सदृश नरशार्दूल और सीता सावित्री जैसी महती विभूतियोंका अवतरण हुआ करता है। ऐसा समाज रावण और कंसकी परंपराको पनपनेका अवसर ही नहीं देता।

वस्तुतः कलहके प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

(क) भूमिसंबद्ध-कलह— यह जानते हुए कि इस धरतीको दारा, सिकन्दर, नेपोलियन, हिटलर, समुद्रगुप्त सरीखे विश्व-विजेता और महान् योद्धा भी अपने साथ नहीं ले जा सके, हम लोग भूमिके छोटे छोटे टुकडोंके लिए लडने-झगडनेकी विनाशकारी प्रक्रिया स्वीकार करते हैं। यह भूमि-संबद्ध कलह सार्वभौमिक और सार्वदेशिक है। कोई भी सभ्यसे सभ्य और उन्नतसे उन्नत देश यह कहनेका साहस नहीं कर सकता कि उसके घटक इस रोगसे पूर्ण मुक्त हैं। किन्तु, हम भारतीय ऐसी कलहके सर्वाधिक दासानुदास बन गये हैं।

हमारी तो यह स्थिति है कि खेतकी मेडके प्रश्न पर, दो या तीन बीघे जमीनके टुकडेके निकल जानेकी आशंकासे या अच्छी या बुरी कोटिकी भूमि हडपने या छोडनेके अवसर पर विवेकका पल्ला परे हटाकर, हम पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहिन, चाचा-भतीजे आदि संबंधोंकी पावनता पर धूल डालते हुए बात-बात पर एक-दूसरेका प्राणान्त करने जैसे कुकृत्यके संपादनमें हिचकका अनुभव नहीं कर पाते। इसी कारण, हमारे दिव्य राष्ट्रकी सीमाएं असुरक्षित हैं। उसकी जाने कितनी वर्गमील भूमि पडोसी शत्रु देशोंके बाजूमें दबी हुई है। हमें राष्ट्रिय भूमि-संरक्षणकी अपेक्षा वैयक्तिक अथवा क्षेत्रीय भूमि-संरक्षणकी अधिक चिन्ता रहती है। इसी मूलभूत दोषके कारण, महाराष्ट्र-मैसूर-सीमा-विवाद, उत्तरप्रदेश-बिहार-सीमा-विवाद, तेलंगानाके पृथक्करण, विशाल हरियाणा प्रदेश और पहाडी राज्यके संस्थापनके तुच्छातितुच्छ स्वप्न देखनेके प्रयत्न आये दिन होते रहते हैं।

(ख) संपत्तिसंबद्ध-कलह—संपत्ति, धन-दौलत, आदिसे संबद्ध कलह भी हमारे राष्ट्रमें चरमतम है। वकीलोंका अधिकांश वर्ग और न्यायालयका सारा अहलकार-समुदाय इसी कोटिकी कलहके बल-बूते पर लाखों रुपयेकी कोठियां खडी कर पाता है और पुलिस-विभाग, राजस्वविभाग, सेचन-विभाग प्रभृति राजकीय विभागोंके अधिकारी अपनी मुट्ठी गर्म करनेका सुअवसर हस्तगत करते हैं।

वर्तमान भारतीय समाजमें सुग्रीव, आंभीक, माहिल, जयचंद्र मीरकासिम, मीरजाफर जैसे नर-पिशाच सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं-किन्तु राम, भरत, भीष्म, कृष्ण सरीखे त्यागी-निःस्पृह व्यक्तियोंका पूर्णतया अभाव हो गया है। चारों ओर आपा-धापी मची हुई है।

इसी प्रकारकी कलहके कारण, हमारे समाजके पवित्र संबंध विघटनके कगार पर खडे होकर सर्वनाशकी बाढसे उलझ जानेकी स्थितिमें परिलक्षित होने लगे हैं।

(ग) नारीसंबद्ध कलह — आजकल शायद ही कोई भारतीय गांव या नगर ऐसा हो जिसमें आयेदिन नारी-विषयक कलहकी झांकी न दिखायी पडती हो। बलात्कार अपहरण, विक्रय, वध आदि सारे वे पाप या अपराध जिनका नारीवर्गसे सीधा या अप्रत्यक्ष संबंध है, हमारे समाजके अनिवार्य अंग बनते जा रहे हैं।

यदि ध्यानसे देखा जाये तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि हमारे राष्ट्रिय रंगमंच पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय नारी विषयक कलहका ही है। ' मातृवत् परदारेषु ' जैसे सिद्धांत वाक्यकी गरिमा क्षुण्ण हो जानेके कारण और परिवार-नियोजन, मनोविज्ञान आदिके पाश्चात्यरूपके अतिशय प्रचलनसे हमारा जीवन भोगवादी, विलासी और कामुक बन चुका है। अधिकांश उच्चाधिकारियोंसे लेकर लघुकुटीरके वासियोंतक इंद्रिय लंपटताकी विनाशक सत्ता परिव्याप्त हो चुकी है। ' भोगो और भूलो ' की शिश्नपरायण परंपराके अतिरेकसे भतीजी, भांजी, बहिन, फूफू जैसे संबंध भस्मसात् हो चुके हैं और येनकेन प्रकारेण वासनाकी भट्टी धधकाये रखनेके प्रयास जारी हैं। ऐसी कलहके वृत्तको विस्तृत बनाये रखनेमें राष्ट्रिय या राज्योंकी सरकारोंका सबसे बडा योगदान स्वीकार करनेमें हमें संकोच

न करना चाहिए। यह 'वलर्डों' का भोग-परक जीवन, 'ब्रॉल डांस' की विपथगामिनी परंपरा, अखाद्य, तामसिक पदार्थोंके सेवनके प्रचार और यौनसंबंधोंसे संबद्ध खुली कामुकताके प्रसारमें हमारी सरकारें सर्वाधिक सहायक सिद्ध हो रही हैं।

(ग) लोकैषणासंबद्ध कलह— हमारे देशके दुर्भाग्यके मूलमें और राष्ट्रिय नियोजनकी विफलताके पीछे लोकैषणा-संबद्ध कलहका बहुत बडा हाथ है। शिक्षाकी सीढियों पर चढते हुए राष्ट्रपतिके सर्वोच्चपद पर पहुँचनेकी उद्दाम स्पृहा रखना कोई अनुचित कार्य नहीं है। परन्तु, हमारे राष्ट्रिय दुर्भाग्यकी विडंबना यह है कि उच्चपदोंकी प्राप्ति या सार्वजनिक जीवनकी वाहवाही मिलनेके परम-लक्ष्यका पन्थ अत्यन्त वक्र और शूलपूर्ण हो गया है। वैसे तो साधना, त्याग और सार्वजनिक सेवाका मार्ग असि-धारसे भी अधिक प्रखर होता है पर उसे बुतकार कर जैसे-तैसे उखाड-पछाड, कुत्सित टीका-टिप्पणी, व्यक्तिगत निन्दा, जोड-तोड, सांठ-गांठ आदि ओछे और सस्ते साधनोंका सहारा लेते हुए जिस लोकैषणाकी पूर्तिका प्रयत्न किया जाता है, वह हमारे राष्ट्रिय जीवनके लिए अत्यन्त विघातक सिद्ध हुई है।

आजकल तो मूर्ख, भ्रान्त और भटके हाथों तथा औंधे शिरोंकी संख्याका सहारा लेकर नेतागिरीकी हविस पूरी करनेकी जिस दुर्बुद्धिका हमारे देशमें प्रसार हुआ है। उसीसे लोकैषणा संबद्ध कलहकी अधिकता हो चली है। इस कोटिकी कलहके सामने अन्य कलह कोटियां फीकी पड गयी है।

आये दिन नवीन दलगठन, दलपरिवर्तन, बोगस सदस्यता आदि नदोंका संस्पर्श पाकर जिस कलहापगाकी कलुषित लहरें उठी है, उसमें सारा राष्ट्र डूबा जा रहा है। राजनैतिक अस्थिरता, हेयप्रचारोन्मुखता, प्रशासनिक अक्षमता इत्यादि दोषोंके मूलमें यही कलह है।

कोई भी कलह-कोटि हो, उससे व्यक्तिगत-संस्थागत, सामाजिक और राष्ट्रिय क्षति अवश्य होती है। इसी बातको ध्यानमें रख कर, वेदमें स्पष्ट घोषित किया गया है—

नकिरा योपयामसि (ऋग्वेद, १०।१३४।७)
—नहीं हम कलह पनपने देते हे

(३) मंत्रानुकूल आचरण— फिर भी, चाहे हिंसा-अहिंसाका विवेक हो, चाहे कलहके परित्यागकी धारणा हो, हमें सफलता तबतक नहीं मिल सकती, जब तक हम भगवती श्रुतिके मंत्रोंके अनुसार अपना आचरण भी न करें।

यह तो कृपासिंधु परमेश्वरकी महती कृपा है कि उन्होंने हमारे परोपकारके लिए शाश्वत सहस्त्राक्षरा वेदवाक्' प्रदान किया है।

वेदमें समस्त समस्याओंके समाधान दिये गये हे। यह तो हमपर निर्भर करता है कि उन समाधानोंका सहारा लें या न लें। वर्तमान भारतके चारित्रिक पतनका सबसे बडा कारण यह भी है कि हम प्लेटो, अरस्तु, मार्क्स, फ्रायड, मिल, जेम्सकी पाश्चात्य परंपराका अंधानुकरण करनेके लिए तो उत्सुक-अधीर रहते हे परन्तु वेदकी ओर आंख उठाकर देखना भी ठीक नहीं समझते।

वस्तुतः भगवती श्रुतिका मंत्र गुरु होता है। वह गुरु होना भी चाहिए—

'मंत्रो गुरुः पुनरस्तु'' (ऋ. १।१४७।४)

इसका स्पष्ट तात्पर्य इतना ही है कि जब कभी राष्ट्रिय जीवनमें भयंकर आन्दोलनकी आंधी उठी हो, राजनैतिक अस्थिरताका कुचक्र परिव्याप्त हो चुका हो, सामाजिक संघटन, सहयोग और संबंध विघटित होने लगे हों तथा नैतिक मूल्योंका अवमूल्यन चरम सीमा पर पहुच गया हो तो हमें मंत्रका आश्रय लेना चाहिए।

मंत्रके आश्रयमें केवल उसे कंठाग्र करने या बार-बार रटनेकी विधि ही नहीं निहित है वरन् उसके अनुसार अपने कार्य-व्यापार, चाल-चलन, आचार-व्यवहारके ढालनेकी व्यवस्था भी पूर्णरूपसे जुडी हुई है। दूसरे शब्दोंमें जबतक हमारी कथनी-करनीमें संतुलन न होगा, सिद्धांत व्यवहारकी एकता न होगी और आदर्श यथार्थका समुचित संयोग न होगा, तबतक और हम चाहे कुछ हों, उन्नति नहीं कर सकते; हमारा ऊर्ध्वगमन नहीं हो सकता और हमारे लिए अभ्युदय गलरका फूल ही बना रहेगा।

अभ्युदयकी प्राप्तिके लिए, उत्थानके स्थैर्यके लिए उन्नतिकी रक्षाके लिए हमें मंत्रका-विचारका संबल ग्रहण करना चाहिए। जिस राष्ट्रके अपने विचार नहीं होते, वह राष्ट्र अधिक समयतक स्वतंत्र बना नहीं रह सकता।

वैसे भी नीति-वाक्य है—
बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछिताय।
काज बिगारें आपनो, जगमें होत हंसाय॥

इसकी पुष्टिके लिए हमें कहीं दूर नहीं जाना पडेगा। तिब्बतकी हत्या, नागालैंडका जन्म, भाषावारराज्योंका निर्माण पंजाबका विभाजन, तेलंगानाका आन्दोलन, रवीन्द्रसरोवर का लज्जाजनक काण्ड आदि राष्ट्रिय घटना-चक्रके आरे इसका साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

(४) सहयोगियोंका ऐकमत्य— जब हम अहिंसा का वास्तविक रूप समझ लेते हैं, कलह-कर्दमसे निकल जाते हैं और मंत्रानुकूल आचरण ढाल लेते हैं तब हममें विवेककी वे रश्मियां जागृत हो जाती हैं। तृणवत् तुच्छ सहयोगियोंके साथ भी एकमत होकर त्वराके साथ कार्य करनेकी ओर प्रेरित करती है।

कथनी करनीके अन्तरका अंत होते ही, हमें उन तीन उपादानोंका विबोध हो जाता है जो सामाजिक उत्थानके लिए प्रथम आवश्यक होते हैं। वे हैं—

(क) तृणवत् तुच्छ संगियोंका भी संग— संसार के समस्त उपादानोंके अवलोकनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां छोटे-बडे, बौने-लंबे, हिंसक-अहिंसक, शांत-अशांत विभिन्न प्रकारके प्राणी हैं। परन्तु उन सबमें प्रमुख विभाजक रेखा उच्चता-निम्नताकी है। लाख प्रयत्न किये जायें फिर भी उच्चता-निम्नताका यह विभेद विलुप्त नहीं हो सकता। उपाय केवल यही है कि निम्न या तुच्छ जनोंके भी महत्वको स्वीकार किया जाये। उन्हें केवल इस आधार पर कि वे नीच हैं, मूर्ख हैं, अशिक्षित-असभ्य हैं; उपेक्षित समझ लेना खतरेसे खाली नहीं होता। हिन्दू-समाजमें अपने एक बहुत बडे अंगको उपेक्षाकी धधकती आगमें जलाकर अपने पतनको निमंत्रित करते हुए पराजयका प्यार पाल लिया गया था और आज भी उसमें अधिक अंतर नहीं आया है।

कितनी अच्छी चेतावनी दी गयी है—

रहिमन देखि बडेनको, लघु न दीजिए डारी।

जहां काम आवै सुई, कहा करे तरवारी ॥ १

इसका स्पष्ट आशय इतनाही है कि समाजमें प्रत्येक घटकका महत्त्व स्वीकार करना चाहिए। कर्मानुसार विभेदको आवश्यकतानुसार नकार देना बुद्धिमत्ताका प्रबल प्रतीक है।

(ख) तुच्छजनोंके साथ भी एकमत होना— कोई कितना ही तुच्छ क्यों न हो परन्तु हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसके साथ एकमत होना या उसका सहयोग प्राप्त करना उन्नतिके वायुयानकी उडान के लिए आवश्यक और अनिवार्य है।

भारतीय राजनैतिकदलोंके पतन और पराजयके मूलमें तुच्छ जनोंकी उपेक्षा और उनका सहयोग न लेना ही, सन्निहित है। प्रभाव, धन और पदकी उच्चताके सामने उस निम्नताको ठुकराकर सभी राजनैतिक दल पथभ्रष्ट, मर्माहत और मस्तसे दिखायी पडते हैं जो समस्त संसारका मूलाधार होती है। इसीलिए सभी दलोंमें नेताओंकी तो बाढ है पर अनुगामियों-अनुयायियोंका अभाव है। अधिकांश ग्रामोंके निवासी दलोंकी सदस्यता तकसे या तो वंचित हैं या अछूते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि राजनीति शासनव्यवस्था, निर्वाचन-प्रणाली, न्याय-व्यवस्था, कार्य पद्धति सभीमें खोट और खामी मिलती है और राष्ट्रकी आधार-भूत शिक्षा पतन-दुरापगामें डूबने-उतराने लगी है।

(ग) वेगपूर्वक कार्य करना— वही समाज या राष्ट्र उन्नति कर पाता है जिसमें ' चरैवेति, चरैवेति। चलते रहो। चलते रहो। का उद्घोष उच्च होता है

जहां स्पष्ट रूपेण कहा जाता है—

' कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ' कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर।] वहीं विकासका परिवार पनपता है।

जिस समाजमें व्यक्तियोंका बहुत बडा वर्ग बेकार रहता है, अयोग्यजनोंके हाथोंमें शासनके सूत्र होते हैं; शिक्षासम्पन्न नयी पीढीका भविष्य अधरमें लटकता रहता है और ' अर्जन अध्ययन ' की सम्यक् सुविधा नहीं मिलती, वह समाज पतनके महागर्तमें लुढके बिना नहीं रहता। जिस राष्ट्रमें निठल्लू भिखारी, काम किये बिना पेट भरने वाले लोग और जीवनका अधिकांश समय व्यर्थ नष्ट करने वाले युवक मिलते हैं, वह राष्ट्र सच्चे अर्थमें राष्ट्र ही नहीं होता।

हमारे देश भारतकी वर्तमान स्थिति ऐसी ही है। वेगके साथ कर्म करना तो दूरकी बात है, यहां वैज्ञानिक और इंजीनियर तक बेकार रहते हैं; भले कलाकारोंका उचित मूल्यांकन तक नहीं किया जाता; छात्र निरुद्देश्य शिक्षा पानेमें जीवन का बहुत बडा उपयोगी अंश बेकार नष्ट कर देते हैं; विद्यालय दूकानोंमें बदल गये हैं प्रमाणपत्र उस सौदेकी भांति हो गये हैं जो रुपये प्रभाव या चाटुकारिताके बदले लिया जा सके। पदोंके दायित्ववाहक तुष्टीकरण पर आधृत होनेके कारण प्रायः अयोग्य होते हैं और कहीं भी किसी प्रकारका अनुशासन नहीं है।

[शेष कवरपृष्ठ ३ पर]

वेदोंका पृथ्वीपर प्रचार

पृथिवी पर वेद, जेन्दावस्था, बायबल, कुरान और बौद्ध धर्मके अनेक धर्म्मपिटक आदि ग्रन्थ और चीन जापानमे प्रचलित कनफ्युशियन, शिन्तो धर्मके ग्रन्थ, ये सब ही धर्मके मुख्य ग्रन्थ माने जाते हैं। और प्रायः इनके ही नियम पर कतिपय जांगलिक जातियोंको छोड पृथिवी परके सब मनुष्य चल रहे हैं। आज इंगलिश भाषामें इन सब धर्म्म पुस्तकोंका प्रामाणिक अनुवाद, इन पर वादानुवाद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ और अनेक शास्त्रार्थ मिलते है। इनसे प्रतीत होता है कि कभी सम्पूर्ण पृथिवी पर वैदिक धर्म्मका राज्य था। प्रथम तो विद्वानोंने स्थिर किया है कि वैदिक-संस्कृत भाषासे अनेक भाषायें (इण्डिक, इरानी, स्लावोनिक, केल्टिक, हेलिनिक, इटैलिक, ट्युटौनिक। इनके ही भेद संस्कृत, जेन्द, ग्रीक, रोमेन, लाटिन आदिक हैं) निकलती हैं और देवताओंके नाम भी प्रायः समान पाये जाते हैं। " ७५-७६ "।

संस्कृत, ईरानी, ग्रीक, लेटिन आदि भाषायें परस्पर बहुत सम्बन्ध रखती हैं। इससे स्पष्ट है कि इन भाषाओंके बोलनेवाले कभी एक थे। कभी एक ही स्थानमें रहते होंगे। काल पाकर ये-सब वियुक्त हुये होंगे। एवं वियुक्त होने पर भी बहुत दिनों तक परस्पर गमनागमन होता रहा होगा। एक दूसरेको स्मरण करते होंगे। परस्पर सम्बन्ध भी होता होगा। परन्तु धीरे धीरे परस्पर सम्बन्धकी बातें भूल गई होगीं। नवीन साहित्य उत्पन्न होते गये देश, काल और दशाके अनुसार धीरे धीरे परिवर्तन होता गया। कभी ऐसा समय आया कि एक दूसरेके लिये सर्वथा अज्ञात हो गये " ७७ "।

जेन्दा अवस्था

सम्पूर्ण पृथिवी पर की सभ्य जातियोंमें इनका (ब्राह्मण-ग्रन्थोंका) सिद्धान्त विस्तृत हो गया था। इसका उज्ज्वल और जागृत प्रमाण प्रथम जेन्दावस्था नामका ग्रन्थ हैं। जोरोएस्टर इसके रचयिता हैं। इसमें जो कुछ वर्णन है ब्राह्मणोंसे बहुत मिलते हैं। मित्र, वरुण, पवन, अग्नि, वृषहन्ता आदि सहस्रों शब्द कुछ परिवर्तनके साथ मिलते हैं। ऋचाओंका अनुवाद, समान गाथा, समान पूजा या यज्ञ मिलते हैं। भारतवासियोंको अवश्य ऐतिहासिक दृष्टिसे यह ग्रन्थ पढना चाहिए।

योरोपके साहित्य

ग्रीक और लेटिन भाषाके जो साहित्य ग्रन्थ हैं वे भी वदिक ब्राह्मण साहित्यके समान हैं। यहां तक कि संयुक्त वैदिक शब्दका भी अपभ्रंश इन साहित्योंमें विद्यमान है। जुपिटर एक प्रसिद्ध देव है। यह " द्यौष्पिता " शब्दका ही अपभ्रंश है ऐसा विद्वान् लोगोंने स्थिर किया है।

भारतवर्ष उस समयमें सर्वत्र विदित था। फारस-देशी भारतसे व्यापार करते हुये योरोप तक जाते आते थे। मिस्र-देशका व्यापार भी भारतसे सम्बन्ध रखता था। और ग्रीस देशवासी फारसी और मिस्रीसे घनिष्ट सम्बन्ध रखते थे। इनके द्वारा भारतवर्ष इनको अविदित तो नहीं था। तथापि सिकन्दर (अलेग्जेण्डर) के समय तक ग्रीक इतिहासमें भारतकी कोई चर्चा नहीं है। होमरमें संदिग्ध चर्चा देखी गई है। संभव है कि इस समय ग्रीसवासी अपने देशसे इधर न आते हों। फारस देशका सम्बन्ध इस देशसे प्रायः सदा बना रहा। इनको वेद भी विदित होगा।

फारस देशके राजा खुसरो और नवशेर खां

करीब इस्वी षष्ठ शताब्दीमें खुसरो और नवशेर खांने संस्कृतके अनेक ग्रन्थोंका अनुवाद पहलवी भाषामें करवाया। वे यहांके साहित्य पर अतिमोहित थे। इन ग्रन्थोंका अनुवाद अष्टम शताब्दीमें अरबी भाषामें हुआ।

पण्डित अलबिरुनी १००० ई०

दशम शताब्दीके अन्तमें ये सुप्रसिद्ध विद्वान् हुये हैं। ये खुरासानके रहनेवाले थे। गजनीके महमूदने इनको अपने दरबारका भूषण बनाया था। इन्होंने १०१७ ई० से लेकर १०३० तक भारतमें रहकर पूरी संस्कृतकी शिक्षा पाई। इन्होंने संस्कृतके ग्रन्थोंका अनुवाद फारस देशकी पहलवी भाषामें किया। वेदसे लेकर कुराण तक इन्हें विदित था।

दाराशिकोह और उपनिषदें

दाराशिकोह शाहजहांका भाग्यहीन राजकुमार था। इस-को ब्राह्मणोंने संस्कृत भाषा पढाई। इसने बडे परिश्रमसे तन, मन, धन, लगा कर उपनिषदोंका अनुवाद फारसीमें किया। ज्योंही इसका यह महान् कार्य समाप्त हुआ त्योंही इसके सहोदर औरङ्गजेबने इसको मरवा दिया। १७९५

ई० में ऐंक्वेटिल डुपेरन महाशयने इन अनुवादित उपनिषदोंका अनुवाद लेटिन भाषामें किया। शोपनहारको यही लेटिन उपनिषदें मिली थीं। जिनको देख उनको इतनी प्रसन्नता हुई कि मरण तक कहते रहे जगत्में इससे बढ कर शान्तिप्रद ग्रन्थ नहीं " It has been the solace of my life, it will be the solace of my death. "

चीन

भारतसे बौद्ध-धर्म चीन देशमें गया। बौद्ध धर्मके माध्यमसे वैदिक शिक्षा, चीन, जापान, लङ्का आदि देशोंमें गई। ४०० ई० से लेकर १००० ई० तक चीन यात्रियोंके भारतमें आगमनके अनेक प्रमाण है। फायीयान ३९९-४१४ ई० में, ह्वीयानसंग ६२९-६४५ में, और हसीङ्ग ६७३-६९५ में थे। तीनों महात्मा यहां रह चुके हैं। ये यहांकी बहुत सी विद्यायें सीख यहांका उस समयका रोचक इतिहास लिख ले गये। इनके ग्रन्थोंका अनुवाद फ्रेंच और इंग्लिश भाषामें बडे बडे विद्वान्, स्टानिसलास जूलियन, प्रोफेसर लेग, डाक्टर बील प्रभृतियोंने किया है।

योरोप देश और वेद

ग्रीस देश निवासी एलेग्जेण्डर (सिकन्दर) ने भारत आक्रमण किया था। परन्तु न इसने और न इसके साथियोंने वेदकी कहीं चर्चा की है। १४९८ सन्मे जब पोर्चुगीज वास्कोडिगामा कालिकटमें पहुंचा और उसके पश्चात् डच, फ्रेंच, डेन्स और इंग्लिस आने लगे तबसे इनमें वेदोंकी चर्चा फैली। गोआमें इन्होंने कुछ पढे ब्राह्मणोंको क्रिस्तान बनाया। इससे कुछ पादरी संस्कृत सीख सके। षोडश शताब्दीमें फ्रांसिस जेवियर पादरीने संस्कृत सीखी। इन्होंने संस्कृत भाषामें नवीन वेद बनाया और उसका नाम यजुर्वेद रखा। १७६१ में पेरिसकी रायल लायब्रेरीमें रखी गई। मैक्समूलर इसके विषयमें अपनी सम्मति इ प्रकार प्रकट करते हैं " In plain English the whole book is a childish drivel " सन् १७४० में फादरपीन्सने संस्कृत साहित्यका बहुत कुछ परिचय अपने देश-वासियोंको दिया। १७८९ ई० में, जब सर विलियमजोन्सने शकुन्तला नाटकका अनुवाद इंग्लिश भाषामें प्रकाशित किया, तब योरोप निवासियोंकी आंखें खुल गईं। बंगालकी एशियाटिक सोसायटीकी ओर से हेनरी टामस कोलब्रुकने १८०५ ई० में, वेदों पर ट्रेक्ट प्रकाशित किया, जिसका आदर योरोपमें बहुत हुआ।

जर्मनी और वेद

रोसेन महाशय १८३० ई० मे, सात वर्ष तक निरन्तर प्रयास करके ऋग्वेदके प्रथम अष्टकका लेटिन अनुवाद कर १८३७ ई० परलोक सिधार गये। फ्रांसके बर्नूफ ये यथार्थमें वेदके जिज्ञासु थे। आप कालेज डी-फ्रांस नामके विद्यालयमें वेद विषय पर व्याख्यान दिया करते थे। योरोप देशके सब प्रदेशोंसे बडे विद्वान् इनके व्याख्यान सुननेको आते थे। योरोपमें बडी हलचल मच गई थी। उनके विद्यार्थियोंमें मुख्य मैक्समूलर, नेबी, गोरेशिओ, रौथ, गोल्डस्टकर, बारथेलिमी बार्डेली इत्यादि थे। इनमें श्रीमान् मैक्समूलर, रौथ और गोल्डस्टकरने संस्कृत साहित्य का खूब मन्थन किया है। वेदों पर तो ऐसा तीक्ष्ण प्रहार किया है कि योरोपमें कई शताब्दी तक वेद भगवान् अपने वास्तविक रूप प्रकट करनेमें असमर्थ रहेंगे।

वेदों पर महा प्रहार—१९०० शताब्दी

पण्डित मैक्समूलरने वेदोंकी हड्डी हड्डी जैसी उडाई है ऐसा किसीने नहीं किया। ये अनेकमें वक्ष्यमाणभाव दिखला गये:- of sacrificial animals we find goats, sheep, oxen for later and greater sacrificer horses and even men और कहते हैं—

There are dark tradition of human sacrifices but in the recognised ceremonial of the veda a man is never killed...As to the almost childish thoughts, surely they abound in the veda. इसी प्रकार विलसन, म्यूर, मेकडोनल्ड, वेबर, ग्रिफिथ, आदि शतशः योरोपीयन विद्वानों ने वेदोंकी खूब खबर ली है।

वेदों पर देशी विद्वानोंका प्रहार

बौद्ध और जैनके समय वेदों पर बडे बडे आक्षेप हुये। बृहस्पति, चार्वाक आदिके नामसे कई एक जन वेद-विदूषक थे। परन्तु आज-काल तो एक दो नहीं शतशः पुरुष वेदों पर प्रहार कर गये हैं, और कर रहे हैं। परन्तु इनका समाधान नहीं होता। श्रीयुत् राजेन्द्रलाल मित्रने वेदों और शास्त्रोंका जैसा उपहास किया, वैसा प्रायः कोई न कर सका। इसी कारण इनका नाम योरोप तक विख्यात हुआ। पाश्चात्य विद्वानोंने अपनी पुष्टिमें इनको पुष्ट साक्षी बनाया है। महा

शय भाण्डारकर भी इसी कक्षामें हैं। श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्तजी ने ऋग्वेद का अनुवाद बङ्ग भाषामें किया है। इंग्लिश-भाषा-में भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने वेदोंकी कोई गति बाकी नहीं छोडी। कृष्ण कमल भट्टाचार्य, शिवनाथ, रमानाथ स्वथी, हरप्रसाद आदि महापुरुषोंने भी वेदों पर महाक्रूर दृष्टिपात किया है। ये सब योरोपीय विद्वानोंके शिष्य-मात्र हैं, स्वयं इन लोगोंने कोई वेदों पर परिश्रम नहीं किया, और न ये संस्कृत भाषाके ही विशेषज्ञ थे।

ऐसी परिस्थितिमें स्वामी दयानन्दजीने वेदोंके सत्यार्थ-प्रकाशन करनेके लिये प्रथम ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका लिखी, तदनन्तर वेदोंकी उपादेयताका सर्वाधिक समर्थन किया है। वास्तवमें उन्होंने इसी कार्यके लिये ही जीवन ग्रहण किया था। परन्तु दुःखकी बात तो यह है कि यहांके विश्व-विद्यालयोंमें अब भी उन्हीं अंग्रेजोंकी विषाक्त पुस्तकें एम० ए. के पाठ्यक्रममें निर्धारित हैं।

प्राचीन संसार पर वैदिक-सभ्यताका प्रभाव

पुरातन ईरानियोंका धर्म-ग्रन्थ 'जन्द आवेस्ता' एक प्रकारसे वेदोंकी नकल प्रतीत होता है। उसकी लेख-प्रणाली सर्वथा वैसी ही है। शब्द और नाम भी वैसे ही आते हैं वेदोंके कई मंत्रोंकी नकल इसमें मिलती है। इसके अतिरिक्त कई विद्वानोंने खोज करके यह प्रकाशित किया है कि होम करने, पवित्र अग्नि रखने और यज्ञोपवीत डालनेकी रीतिया ईरानियोंने आर्य-जातिसे ही ली हैं।

मनुस्मृति संसारमें धर्मकी प्रथम पुस्तक है। फ्रांसीसी चीफ जस्टिस "जैकोलेट" ने अपनी पुस्तक "बाईबल इन इण्डिया" में यह सिद्ध किया कि "तौरेत" के नियम और रीतियां सब मनुस्मृतिकी नकल हैं; क्योंकि यहूदियोंने उन नियमोंको मिश्रसे सीखा और मिश्रके लोगोंने जातिका विभाग और नियम सब मनुस्मृतिसे लिए हैं।

चाइल्डियाके पुरातन खण्डहरोंमें जो लेख मिले हैं वे ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी रीतियोंसे सर्वथा मिलते हैं और उनके देवताओंके नाम वैदिक शब्दोंसे मिल गये हैं। ज्यों ज्यों प्राचीन संसारका अन्वेषण होता जायेगा त्यों त्यों इस बात पर प्रकाश पडता जायगा कि प्राचीन वैदिक कालकी सभ्यता का पुरातन संसार पर कितना प्रभाव पडा है" एक इतिहास प्रेमी"।

+

ए० ओ० ह्यूम साहब जो कि नैशनल काग्रसके जन्मदाता थे, उन्होंने स्वामीजीके विषयमें कहा "स्वामी दयानन्द इतना बडा आदमी है कि मैं उसके पैरके बूटोंके तस्में खोलने की योग्यता नहीं रखता"। देखिये वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ५३९। इस प्रकार वैदिक-धर्म सर्वदा साम्प्रदायिक आक्रमणोंसे आक्रान्त रहा। स्वामी दयानन्दने अपने प्रयासोंसे वैदिक-धर्मको विशुद्ध रूपसे संसारमें प्रस्तुत किया। सत्यार्थ प्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिकाकी रचना करके साम्प्रदायिक मेघोंसे आच्छन्न वेद-भानुको पुनः उन्मुक्त किया। वेद-व्यासके पश्चात् स्वामी दयानन्द ही वेदोंके पूर्ण हिमायती हुये हैं।

स्वामी दयानन्दकी वेद-भक्ति अद्वितीय थी। महर्षिकी नीति वेदोंके विषयमें सुस्पष्ट थी। इन्होंने अपना समग्र-जीवन वेदोंके प्रचारमें लगा दिया। श्रद्धानन्दको छोड कर विरोधियों से गालियां और लाठियां सहीं। कई बार विष-पान किया। बम्बेमें नकली दयानन्दको गदहे पर बिठा कर जलूस निकाला गया और गर्दभानन्दकी जय बुलाई गई जबकि इनका जलूस सामने आ रहा था। इस घटनाको इस महान् आत्माने हंस कर टाल दिया। क्योंकि उसे संसारमें वेदोंका प्रचार करना था।

भारतके अधःपतनके कारणोंका अनुसन्धान

महर्षिने कुशल-वैद्यकी तरह पराधीन भारतकी नाडी-परीक्षा की। उनकी दिव्य-दृष्टिने पराधीनताके प्रधान कारणोंको खोज निकाला। वेदों तथा आर्षग्रन्थोंके स्थान पर अनार्षग्रन्थोंका प्रचार सम्प्रदायोंके प्रचारके कारण मूर्ति-पूजाका प्राबल्य' विलासिताके कारण नैतिकता तथा ब्रह्मचर्यका अभाव, देशमें अंग्रेजी शिक्षा-प्रणालीका प्रचार, विदेशियों द्वारा भारतीय आदर्शों और इतिहासोंको तुच्छ रूपमें नवयुवकोंके समक्ष उपस्थित किया जाना, आदि भारत-दुर्दशाके प्रधानतम कारण बतलाये। महर्षिने अपने जीवनको इन्हीं कारणोंको दूर करनेमें लगाया। जिसका परिणाम यह हुआ कि १८५७ के गदरके बाद भारतकी आहत आत्मा उसी तरह जागृत हो गई जिस प्रकार लङ्काके समरमें आहत लक्ष्मण ब्रह्मचारी हनुमानकी संजीवन बूटीके द्वारा जागृत हुये थे।

स्वामी दयानन्द ने भारतमें पुनः वेदों तथा आर्षग्रन्थोंके प्रचारके लिए क्रान्तिकारी कदम उठाया। वेदोंका पढनापढाना आर्योंका परम कर्तव्य ठहराया। वेदोंका आर्षभाष्य करनेका

अपूर्व कार्य किया। वेदों, वेदाङ्गों और आर्ष-ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये अजमेरमें परोपकारिणी सभाकी स्थापना की है। अंग्रेजी-शिक्षाके प्रतिरोधके लिये गुरुकुल प्रणालीको प्रचलित किया। सामाजिक कुरीतियों: बाल विवाह, बहु विवाह, वृद्धविवाह, छुआ-छूतकी घृणित भावना, मूर्ति-पूजाका घोर विरोध किया। उनके आर्यसमाजने भी अनाथालयों और विधवाश्रमोंकी स्थापना की। स्वामीजीने विधर्मियोंकी शुद्धिका एक अपूर्व अस्त्र निकाला। ब्रह्मचर्य और नैतिकता पर पुनः पुन प्रकाश डाला। सभी सम्प्रदायकोंको वैदिक-धर्मके झण्डेके संरक्षणमें आनेकी प्रेरणा दी, इसके द्वारा भारतकी चिरकालीन कलहको मिटाना चाहा। राष्ट्र-भाषा आर्य-भाषा (हिन्दी) की व्यवस्था की। संस्कृत भाषाको हिन्दी-भाषाके साथ अनिवार्यता प्रदान की। पुराणों द्वारा अपवादित ऋषि मुनियोंके चरित्रको मिथ्या प्रतिपादित किया और पुराणोंको सर्वथा त्याज्य ठहराया। गुरुकुल महाविद्यालय कांगड़ीके प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० रामदेवजीने तीन बृहद् भागोंमें भारतका सच्चा इतिहास लिखा। परन्तु अंग्रेजी-शिक्षाकी डिगरियोंके व्यामोहने, तथा जीविकाकी असुविधाने मेकालेकी पूतनाने गुरुकुलोंको अपने विकराल जबड़ोंमें रख लिया। महर्षिके जीवनसे एनीबिसेन्ट और ए० ओ० ह्यूम साहब भी काफी प्रभावित थे।

महर्षि दयानन्दको यह दिव्य दृष्टि प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दसे प्राप्त हुई थी। स्वामी विरजानन्द महर्षिके क्रान्ति-दर्शी गुरु थे। इनकी पाठशाला मथुरामें चल रही थी। प्रज्ञाचक्षु गुरुने इन्हें भारतकी दुर्दशाका स्वरूप समझा दिया था। और गुरु-दक्षिणामें स्वामी दयानन्दके जीवनको माँग लिया। पूर्व उल्लिखित कारणोंको स्वामी विरजानन्दने अपने योग्य शिष्यको समझा दिया। इस महान् उद्देश्यको कन्धे पर रखकर स्वामी दयानन्द कार्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण हुये।

धन्य है भारत-भूमि तथा धन्य हैं मातायें जिनकी गोदमें ये दिव्यात्मायें पलीं। स्वामी दयानन्दने अपनेको तपस्याकी आगमें डाल दिया। तपस्याकी अग्निसे स्वामी दयानन्द कुन्दन हो कर निकले। ईश्वरकी प्रेरणाओंको प्राप्त करनेके लिये स्वामीजी नित्य रात्रिमें समाधिस्थ हो जाते थे। जब भी कोई समस्या इनके सामर्थ्यके परे हो जाती तो ये समाधिस्थ होकर उसे सुलझा लेते थे। इस प्रकार महर्षिने भारतमाता तथा वेदभगवान्की सेवा की। वेदोंकी महत्तासे ही भारतकी महत्ता है। अतः जब तक भारतमें एक भी वेदमंत्र अवशिष्ट रहेगा तब तक भारत सम्मानके साथ जीवित रहेगा।

महर्षिकी विचारपद्धति

स्वामीजीकी विचार-पद्धति आर्ष-शैली पर आधारित थी। वेदों, आठ-प्रमाणों, प्रकृतिके नियमों तथा ईश्वर और जीवके गुणकर्म-स्वभावानुकूलताओंपर आधारित स्वामीजीकी विचार शैली उनके ग्रन्थों, प्रवचनों और शास्त्रार्थोंमें परिलक्षित होती है। वेदोंको स्वामीजी सर्वमान्य समझते थे। वेदोंके पक्षोंको स्वामीजी तर्कपूर्वक सिद्ध करते थे। वेदोंकी विजय उनको सर्वथा अभिप्रेत थी। वेदोंके पक्षोंको न तो वे छोड़ना स्वीकार करते थे और न वेदोंकी हीनताको स्वीकार करके किसीसे संधि ही करना चाहते थे। आठ प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। संक्षेपमें पांच प्रकारकी परीक्षाओंके आधार पर किसी बातको मान्य अथवा अमान्य ठहराते थे।

इस शैलीके द्वारा स्वामीजीने सत्य न्याय और धर्मको आंका और आर्यसमाजके नियमोंमें एक नियम भी रखा कि मनुष्यको असत्यके छोड़ने और सत्यके ग्रहण करनेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। सत्य और असत्यको पहचाननेके लिये आर्ष-ग्रन्थोंका अनुशीलन करना चाहिए। स्वामीजीका अटल विश्वास था कि वेद मानवमात्रके हितके लिये जैसे सूर्य-चांद, वायु सबके लिये बराबर हितकारी हैं उसी प्रकार वेद भी हैं। स्वामीजीकी विचारशैलीमें किसी प्रकारका पक्षपात नहीं था। कुछ लोग रीतियों प्रथाओं और कुलाचारोंको भी धर्म मान बैठे थे। धर्मको स्वामी इनसे परे मानते थे। सनातनी पण्डितोंने वेदोंको लोकरीतियोंके पीछे घसीटना शुरु कर दिया था। और कहने लगे थे "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्" स्वामी दयानन्दने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि वेदविरुद्ध लोकाचार कदापि आचरणीय नहीं है। लोकाचारको इतनी प्रधानता प्रदान करना स्वामीजीके मतसे महामूर्खता थी। वेदोंके अनुसार लोकका निर्माण करना चाहिए, न कि वेदोंको लोकाचारके पीछे घसीटना चाहिए। महर्षि ईश्वर, जीव और कारण प्रकृतिको अनादि मानते थे।

भारतके इतिहासमें स्वामी दयानन्दका एक नया और सुन्दर दृष्टिकोण

किसी इतिहासकारका कथन है कि किसी जातिके भावको बलहीन करनेकी एक यह विधि बर्ती जाती है कि उसका प्राचीन इतिहास न केवल उलट पुलट किया जावे, प्रत्युत सर्वथा नष्ट कर दिया जावे। यदि आर्योंके अन्दर राम और कृष्ण दो नामों की प्रतिष्ठा न होती तो मुसलमानी आक्रमणके समय उनकी जातीयताकी समाप्ति हो गई होती। जब यवनों के आक्रमण हुए तो इन दोनों नामोंने देशके समस्त प्रान्तोंमें पुनरुत्थानकी शक्ति उत्पन्न की। उनका प्रेम और प्रतिष्ठा ही इस जातिकी जीवन शक्ति थी। आर्यजातिके लिये ये नाम आत्माका काम दे रहे थे। उनको निकाल देना जातिकी आत्मा निकाल कर उसे निर्जीव बना देना है। उनके प्रेमने दैवी शक्ति बनकर स्थान-स्थान पर जातिकी रक्षाके लिये शक्ति उत्पन्न की, इससे उनकी पूजा ईश्वरके समान होने लगी।

उक्त कथनमें कहा गया है कि "किसी जातिके भावको बलहीन करनेकी एक यह विधि बर्ती जाती है कि उसका प्राचीन इतिहास उलटपुलट किया जावे, प्रत्युत सर्वथा नष्ट कर दिया जावे।" उल्लिखित नीतिका अनुसरण मुसलमान तथा अंग्रेज शासकोंने किया। भारतके इतिहासको नष्ट और भ्रष्ट किया और उसमें काफी मिश्रण भी कराया गया। स्वामीजी उक्त नीतिको भली भांति समझ गये थे। अतः उन्होंने भारतीय इतिहासकारोंकी नीतिमें कुछ दोष बताया और अपनी उपदेशमंजरी के १०१ पृष्ठसे १६८ तक; और अपने सत्यार्थप्रकाशमें भारतके सच्चे इतिहासका एक सुन्दर विषय उपस्थित किया है।

अंग्रेजोंने हमें बताया कि राम और कृष्ण नामके व्यक्ति इतिहास जगत्में नहीं हैं, इनका अस्तित्व तो केवल वाल्मीकि और व्यासकी कोरी काव्य-कल्पनामें ही है। आर्य जंगली और असभ्य थे। वेदोंमें कुछ ज्ञानसम्बन्धी बातें नहीं है यह तो केवल गडरियोंके गीत-मात्र हैं। शिवाजी जंगली लुटेरोंके सरदार थे। आर्योंको आत्मा एवं परमात्माका कुछ भी ज्ञान नहीं था। ये प्रकृतिके तत्त्वोंको ही देवता मानकर उनकी उपासना करते थे। आर्योंके ऋषि कहा करते थे कि किसी देवताके लिये हविका विधान करें "कस्मै देवाय हविषा विधेम।" और यह भी बताया कि भारतमें कभी भी एक राजाका साम्राज्य नहीं था। छोटे छोटे राजे थ जो आपसमें सदा लडा करते थे। प्रजाके समक्ष उनका कोई अपना आदर्श नहीं था। परन्तु स्वामीजीने अपने सत्यार्थ-प्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। सत्यार्थ प्रकाशमें तो भारतके चक्रवर्ती राजाओंकी एक लम्बी सूची ही दे रखी है। जो कि प्रत्येक देशाभिमानीके लिये आत्माभिमानकी बात है और दृष्टव्य भी है।

स्वामीजीने कहा कि वाल्मीकि रामायण और महाभारतमें राम और कृष्णके आदर्शज्योतिके परम-पुनीत अमर इतिहास-काव्य हैं। ये व्यक्ति भारतीय संस्कृति और सभ्यताके समुज्ज्वल और देदीप्यमान प्रकाश-स्तम्भ हैं। शिवाजी, महाराणा प्रताप और दुर्गाकी मूर्ति महारानी लक्ष्मीबाई भारतीय जन-जनके हृदयके देवता हैं। इन्हें कुछ कहना हमारे हृदय पर वज्रपात करना है। वेद ही भूमण्डलके मानव जातिके धार्मिक एवं ईश्वरीय ज्ञान हैं, जिनमें समस्त विद्यायें मूलरूपमें विद्यमान हैं।

स्वामीजी कृत भारतके इतिहासकी रूपरेखा

(उपदेश-मंजरीके व्याख्यानोंके आधार पर)

इतिहास अर्थात् "इतिहासो नाम वृत्तम्" वृत्त अर्थात् अतीत वर्णन (अतीत आदर्श वर्णन) को इतिहास कहते हैं। इतिहास जगदुत्पत्तिसे प्रारम्भ होकर आजके समयतक चला आता है। सब जगत्का बीज (निमित्त कारण) ईश्वर है। सभी (जगत्के पूर्णरूपसे बन जाने पर, पशुपक्षी, फल-फूलके उत्पन्न हो जाने पर) के पश्चात् मनुष्य-प्राणीको उत्पन्न किया गया। वे मनुष्य बहुतसे थे। अन्यान्य मतोंमें तो दो ही मनुष्य थे ऐसा मानते हैं, सो ठीक नहीं है। इस प्रकार हिमालयके किसी भाग अर्थात् त्रिविष्टप या तिब्बत पर सृष्टिकी उत्पत्तिका इतिहास है। यही मनुष्य आर्य कहलाते थे, कुछ दिनोंके पश्चात् आर्योंके दो भेद हो गये। एक आर्य दूसरे दस्यु; जो वैदिकमर्यादामें चलते थे वे आर्य कहलाये और जिन्होंने इस मर्यादाका उल्लंघन किया, वे दस्यु या अनार्य अर्थात् अनारी कहलाये।

आर्योंने वेदोंके यौगिक शब्दोंको लेकर उन्हींके नामों पर देश और शरीरके नामकरण किये। वेद इतिहासकी पुस्तक नहीं है बल्कि वेदके शब्दोंका ही प्रचलन रूढि-रूपमें संसारमें हुआ, अतः वेदोंमें मानव-सम्बन्धी इतिहासकी सामग्री नहीं है। स्वामीजीने कहा वेद इतिहासग्रन्थ नहीं अपितु विधान तथा विद्या-ग्रन्थ है । क्योंकि निम्न श्लोक ब्राह्मण-ग्रन्थोंका इस विषयमें साक्षी है।

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

इस वचनके अनुकूल आर्यलोगोंने वेदोंका अनुकरण करके जो व्यवस्था की वह सर्वत्र प्रचलित है। उदाहरणार्थ सब जगत्‌में सात ही वार है बारह ही महीने है और बारह ही राशियां है, इस व्यवस्थाको देखो। अब भिन्न-भिन्न भाषायें कैसे उत्पन्न हुई इसका विचार करना अति अवश्यक है। इस सम्बन्धमें यहूदी लोगोंमें एक ऐसी कहानी है कि उनके पूर्वज स्वर्गमें इतना ऊंचा एक बुर्ज बना रहे थे कि उसके द्वारा ईश्वर तक पहुंचा जा सके। इससे ईश्वर उन पर अप्रसन्न हुआ और उसने उनकी बोलीमें गडबडी मचा दी। बस इसीसे जगत्‌में अनेक भाषायें उत्पन्न हो गई। पर यह कल्पना बिलकुल अप्रशस्त है। देशकालके भेद, आलस्य, प्रमादके कारण एक मूलभाषासे व्यवहारमें भेद पड कर भिन्न-भिन्न भाषायें उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् आश्रम तथा वर्णव्यवस्थाका आविष्कार वेदोंके द्वारा हुआ और धीरे धीरे राज्य-व्यवस्था भी कायम हो गई। समाज और राज्यके संचालनार्थ वर्णोंके पृथक-पृथक् धर्म, जो विशेष धर्म कहलाता है उसका निर्माण हुआ, सामान्य-धर्म अर्थात् " धृतिः क्षमा दमोस्तेयम् " आदि भी बनाये गये।

स्वायंभुव मनुके दस पुत्र; मरीचि, अत्रि,अंगिरा, पुलस्त्य, पुल, ऋतु, प्रचेतस, वशिष्ठ, भृगु, नारद। स्वायंभुव मनुका बेटा मरीचि यह प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ। इसके पश्चात् हिमालयके प्रदेशमें छः क्षत्रिय राजाओंकी परम्परा हुई। अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करने लगा। कलाकौशल्यकी व्यवस्था करनेवाला विश्वकर्मा नामक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा परमेश्वरका भी नाम है और एक शिल्पकारका भी था, अस्तु, विश्वकर्माने विमानकी युक्ति निकाली। ब्रह्मदेवका पुत्र विराट; उसके पुत्र विष्णु सोमसद् थे और अग्निष्वात्ता का पुत्र महादेव था। हिमालयकी ऊंची चोटी पर विष्णु वास करने लगे। उसीको वैकुण्ठ भी कहते हैं। हिमाच्छादित दूसरे ऊंचे प्रदेशमें महादेव वास करने लगे और वह स्थान कैलाश कहलाया।

इसके पश्चात् इक्ष्वाकु राजाने विद्वान् लोगोंको अपने साथ लेकर इस भारत-खण्डमें प्रथम वास किया। और इस देशका नाम इन्होंने आर्यावर्त रखा। इक्ष्वाकुकी ब्रह्मासे छठी पीढी है। यहां पीढीका अर्थ बाप या बेटासे नहीं है, अपितु अधिकारीसे है। प्रथम अधिकारी स्वायम्भुव था। ब्रह्मा तक विश्वसृष्टि थी पश्चात् मैथुनीसृष्टि उत्पन्न हुई। उससे विराट् हुआ और विराट्‌के पीछे मनु हुआ।

" इक्ष्वाकु राजाके पश्चात् सगर राजा हुआ। उस समय प्रजायें भी पुत्रके नामसे पुकारी जाती थी। गंगाके रूपमें सगरने हिमालयसे एक बडी नहर निकाली। जो आज भारतमें समादर प्राप्त कर चुकी है। सगरके बाद अग्नीध्वर राजा हुआ। यह गुब्बारेकी विद्यामें बहुत निपुण था। कौषीतकीय ब्राह्मण-ग्रन्थमें बहुतसे सम्राट राजाओंका वर्णन है। अयोध्यामें ऋतुपर्ण नाम राजा राज्य करता था, इधर दक्षिणमें राजा नल राज्य करता था। गुप्त रूपसे राजा नल ऋतुपर्ण नामक राजाके यहां नौकर थे। इसके पश्चात् भरत-कुल राजा होते रहे इसी कारण उस समयसे आर्यवर्त्तका नाम भारतवर्ष भी हो गया। इसके बाद राजा रघुका राज्य हुआ। यह बडा प्रतापी राजा था रघुके पीछे राम राजा हुए। " यहा पर स्वामीजीने आदर्श प्रतापी राजाओंका ही उल्लेख किया है। " इस तरहकी उन्नतिका समय व्यतीत होते हुये राजा शान्तनुका समय आया। इस वक्त आर्यावर्तमें बल बहुत बढ गया था। द्रव्यके नशेके कारणसे सहज ही इस आर्यावर्त्तकी दशा बिगडनी शुरू हुई।

काश्मीरसे लेकर नेपाल तक हिमालयकी ऊंची-ऊंची चोटियां हैं वहां आर्योंका राज्य था। देहलीमें इन्द्रप्रस्थ नामी स्थान था। वहां इन्द्रका राज्य था। पुष्कर और ब्रह्मावर्त्तमें ब्रह्माने राज्य किया। काशी व उज्जैन और हरिद्वार आदिमें महादेवजीका राज्य था। " इस प्रकार स्वामीजीने अपने व्याख्यानका उपसंहार करके वहीं पर अपना विषय समाप्त किया। " इस प्रकार महर्षि प्रतिपादित भारतीयेतिहासकी संक्षिप्त रूपरेखा है।

ऋषिके जीवनघटनाओंकी झलक

सर्व साधारणकी भलाईके जितने कर्त्तव्य हैं वे सब महर्षिके जीवनके प्रधान अङ्ग थे। देशभक्तको महर्षि देशभक्तिके आदर्श मालूम होते हैं, धर्म-भक्तको वह धर्मभक्तिके गुणोंसे अलंकृत ज्ञात होते हैं। समाज सुधार तथा आचरण-सुधार दोनों ही स्वामीजीके जीवनके समान लक्ष्य थे। शिक्षा कैसे ग्रहण की जावे, शिक्षा कैसे दी जावे, शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट कैसे बनाया जावे, लोगोंके जीवनमें कैसे सदाचारका सन्निवेश किया जावे, किन-किन ग्रन्थोंकी शिक्षा कितने-कितने समय तक दी जाये, मानव-मात्रके जीवनका क्या लक्ष्य होना चाहिए, देश कैसे अपने प्राचीन गौरवको पुनः प्राप्त करे, इत्यादि प्रश्नोंका समाधान महर्षिके जीवन और उनके प्रवचनों तथा ग्रन्थोंसे हो सकता है। प्रत्येक मनुष्यके लिए जो अपना तथा अपने देशका ही नहीं अपितु मानव-मात्रका कल्याण देखना चाहता है, ऋषिके जीवन-चरित्रका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। जो व्यक्ति महर्षिको समझना चाहता है उसे चाहिए कि वह प्रथम ऋषिके जीवनका अध्ययन करे पश्चात् सत्यार्थप्रकाश आदि ऋषिके ग्रन्थोंका।

प्रायः लोग महर्षिके उपकारोंसे इसलिए अनभिज्ञ रहते हैं कि उन्हें स्वामीजीके जीवनचरित्रके अध्ययनका सु-अवसर नहीं मिलता। दूसरे, सम्प्रदायोंके ठेकेदारोंने स्वामीजीके विषयमें स्वकल्पित एवं मनगढन्त अपवादोंका प्रचार कर दिया है। जैसे स्वामी दयानन्द नास्तिक थे। आज भी कुछ लोग हम आर्योंसे प्रश्न कर बैठे हैं कि क्या आप ईश्वरको मानते हैं। कुछ लोगोंने तो इन्हें ईसाई-धर्मका प्रचारक तक कह डाला। कतिपय लोगोंने स्वामीको केवल खण्डन मण्डन करनेवाला समझकर उन्हें सम्प्रदायोंके दंगोंका कारण बताया है। इतना ही नहीं जिस कांग्रेसके लिए महर्षिके हजारों शिष्योंने अपनी कुर्बानी की, उस कांग्रेसके बड़े-बड़े कर्णधार अपने लेखों तथा व्याख्यानोंमें महर्षिका नाम लेते हुए डरते हैं, उन्हें भय लगता है महर्षिका नाम लेने पर साम्प्रदायिक लोग हमें अपना मत नहीं प्रदान करेंगे। इससे भी बढ़ कर तो यह आश्चर्य है आर्यसमाजी कांग्रेसी भी दबी जबानसे ही महर्षिका यदाकदा नाम लेनेका साहस करते हैं। परन्तु मेरा दावा है कि महर्षि जैसा मानवताप्रेमी मनुष्य न था, न है और न होगा। उक्त शंकाओंका निराकरण तभी हो सकता है जब ऋषिके जीवनका निष्पक्ष-भावसे अध्ययन और मनन करनेके पश्चात् उनके ग्रन्थोंका स्वाध्याय करें।

यदि हम महर्षिके जीवनका अनुशीलन करेंगे तो हमें ज्ञात होगा कि दयानन्द वास्तवमें दयानन्द ही थे। अहिंसा प्रेमियोंमें बुद्ध, ईसा और गांधी मूर्धन्य माने जाते हैं परन्तु यदि इनके जीवनचरित्रको पढेंगे तो ज्ञान होगा कि स्वामी दयानन्दमें सबसे अधिक सहिष्णुता और अहिंसा-प्रियता थी। और यह भी अनुभव करेंगे कि वह केवल वेदोंके ही हिमायती थे। उनकी दृष्टिमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्य सम्प्रदायके लोग समान थे, वे सबका कल्याण देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सभी मतमतान्तरोंका बलपूर्वक खण्डन किया। उन्होंने जैसे ईसाई और मुसलमानोंके सम्प्रदायोंके दोषोंको खुल कर विरोध किया वैसे ही हिन्दुओंके पुराणोंका भी खुल कर खण्डन किया और सबको वैदिक धर्मी बननेकी प्रेरणा दी तथा अपने जीवनकालमें ही उक्त कार्यका उत्तर-दायी आर्यसमाजको ठहराया।

महर्षिके सिद्धान्तोंसे भयभीत होकर भारतने अपनी छाती पर सम्प्रदायोंका विष-वृक्ष लगा रखा है। यही कारण है कि भारतमें पाकिस्तान बना, ईसाइस्तान बनानेका अनुचित दुःसाहस किया जा रहा है। भारत यह कभी नहीं भूल सकता कि पाकिस्तानकी साजिशसे चीनने भारत पर भयङ्कर आक्रमण किया। चीनकी साजिशसे ही आज पाकिस्तान भारतकी छाती पर तोपों, टैंकों और वायुयानोंसे भयङ्कर आक्रमण कर रहा है। इस समय भारत भीतरी पाकिस्तानके हिमाइतियोंसे स्वयं आशंकित है। संसारका युद्ध पूंजी पतियों और साम्यवादियोंका है परन्तु भारत और पाकिस्तान का युद्ध खुदा और कुरानका नाम लेकर किया जा रहा है। भारत सब धर्मोंको समान अधिकार प्रदान करता है परन्तु पाकिस्तान इस सिद्धान्तके नितान्त प्रतिकूल है। यद्यपि दोनों देश साम्प्रदायिकताके भयङ्कर दृश्य सन् १९४७ में देख चुके हैं परन्तु मजहबकी आड़में पश्चिमी पाकिस्तानके सर्वेसर्वा हिटलरशाही बर्त रहे हैं। इन्हीं कारणोंको दृष्टिमें रखते हुए भविष्य द्रष्टा दयानन्दने साम्प्रदायिक दुर्गों पर सत्यार्थ प्रकाशकी चौदह तोपोंसे आक्रमण किया और उन्हें ध्वस्त कर दिया।

अब हम अपने पाठकोंके समक्ष ऋषिका पावन जीवन-चरित्र संक्षेपमें उपस्थित करना चाहते हैं। भारतमें जो गौरव अयोध्या, काशी, मथुरा आदि तीर्थस्थानोंको राम कृष्णके द्वारा प्राप्त है वही महनीयता ऋषि दयानन्द, गांधी

और लोहपुरुष पटेल आदिके द्वारा भारतके गुजरात प्रान्तको भी प्राप्त है। ऋषिका आर्यसमाज, गांधीका स्वतंत्रतासंग्राम, पटेलका भारतसरकारमें भी रियासतोंका विलयन और दक्षिण हैदराबाद पर विजय इत्यादि महान् कार्य भारतके इतिहासमें चन्द्र सूरजकी तरह देदीप्यमान रहेंगे। इसी प्रकार गुजरातमें एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवारमें ऋषिने संवत् १८८१ में जन्म ग्रहण किया। इनका बचपनका नाम मूलशंकर था क्योंकि इनके पिता शिवजीके उपासक थे। बचपनमें इन्हें गुजराती तथा संस्कृतका अभ्यास कराया गया। मूलशंकरकी बुद्धि बहुत तीव्र थी अतः अध्ययन कालमें ही वे बडे प्रतिभाशाली थे। इनकी विवेचनात्मक बुद्धि किसी बातको तर्क पूर्वक ही स्वीकार करती थी।

इनके पिता पक्के शैव थे अतः वे प्रति वर्ष शिवरात्रिका व्रत रखते थे। एक वर्ष इनके पिताजीने १४ वर्षीय बालक को शिवरात्रिका व्रत रखनेके लिए बाध्य किया। पिताकी आज्ञा मान कर मूलशंकरने उपवास-व्रत रखा। शिवरात्रिके दिन मन्दिरमें रातजागरण करनेके लिए गये। रातमें उनके पिताजी वगैरह नींदके वशीभूत होकर सो गये। परन्तु होनहार बालक मूलशंकर आंखों पर पानीके छींटे मारकर जगता रहा। संयोगसे बिलसे एक चूहा निकल कर शिवकी मूर्ति पर चढा और उस पर पडे हुए अक्षतोंको खाने लगा। इस दृश्यको देखते ही मूलशंकरकी अन्तरात्मा प्रबुद्ध हो गई। उसे शिव-पुराणकी शिव सम्बन्धी तमाम सुनी हुई कथाएं स्मरण आने लगीं, उसने तर्क-वितर्कसे निश्चय किया कि यह मूर्ति शिवपुराणका शिव नहीं है क्योंकि उसने तो अपने त्रिशूलसे बडे-बडे राक्षसोंका वध किया था यह मूर्तिका शिव तो अपने सिरसे चूहा भी नहीं हटा सकता तो यह मेरा क्या कल्याण करेगा ?

इस प्रश्नका समाधान पानेके लिए उन्होंने पिताको जगाया और उत्तर पानेका प्रयास किया परन्तु बदलेमें फटकार मिली। मूलशंकरको उनके पिताने घर भिजवा दिया। घर आकर मूलशंकरने माताजीको रजामंदीसे कुछ मीठा खाकर अपनी भूख मिटाई। परन्तु सच्चे शिवके समझने और प्राप्त करनेकी लालसा घर कर गई। संसारमें ईश्वरकी जिज्ञासा शाश्वत प्रश्नके रूपमें सदा विद्यमान रहती है। इसी शाश्वत प्रश्नको दिलमें धारण बालक मूशलकर सो गया। परन्तु इस घटनाने इनके अन्तःकरणमें निहित सस्कारोंको प्रबुद्ध कर दिया। हम और आप प्रायःऐसे दृश्योंको देखा करते हैं परन्तु उनका प्रभाव हम पर क्यों नहीं पडता ? क्योंकि हमारे और आपके हृदयोंमें वैसे निर्मल सस्कार नहीं हैं। मानव अपनेमें निहित संस्कारोंके कारणही किसी घटना या वातावरणसे प्रभावित हुआ करता है। अतः मूलशंकर स्वसंस्कार-वश इस प्रश्नकी छानबीनमें लग गये कि शिव क्या है, तथा उसका सच्चा स्वरूप क्या है ?

शिक्षा-दीक्षाके क्षेत्रमें षोडशवर्षीय मूलशंकर प्रगति कर रहे थे, कि इनके सामने दो घटनायें और घटीं। ये घटनायें इनके चाचा तथा बहनकी मृत्यु ही थीं। इनके चाचा इनको बेहद प्यार करते थे, इनका वियोग मूलशंकरको असह्य था। परन्तु मौतने उन्हें इनसे सदाके लिए वियुक्त कर दिया। प्रथम मृत्युके अवसर पर मूलशंकर जरा भी नहीं रोये परन्तु चाचाकी मृत्युने इन्हे फूट-फूट कर रोनेके लिए विवश कर दिया। जवानीके विकासकालमें भी ये घटनाये उनके हृदय-पटल पर बद्धमूल हो गईं। इन्हें जवानीका प्रारम्भिक झंझावात उन्मूल नहीं कर सका। इनके हृदयमें वैराग्यका बीज अंकुरित हो गया। इस समयतक संस्कृत तथा संस्कृत-व्याकरणका इन्हें पूरा ज्ञान हो चुका था। वंश परम्पराके अनुसार इन्हें यजुर्वेद पूरा कण्ठाग्र करा दिया था। इस समय इनकी आयु १९ वर्षकी थी।

मूलशंकरके हावभावने स्पष्ट कर दिया कि इनका मन संसारसे विरत हो रहा है। यह बात कर्णपरम्परया इनके मात-पितातक पहुंच गई। फिर क्या शादीकी तैय्यारी शुरू कर दी गई। परन्तु मूलशंकर भी सावधान हो गये थे। इन्होंने निश्चय कर लिया था कि विवाहके बन्धनमें नहीं फंसना है अतः सुअवसर पाकर सांसारिक मोहके प्रबल बन्धन-को वैराग्यके सबल झटकेसे तोड डाला और २२ वर्षकी अवस्थामें ज्ञानवैराग्यके दुर्गम-पथके पथिक बने। ब्रह्मचारी-का वेश धारण कर इधर उधर सच्चे गुरुकी तलाशमें घूमने लगे। और नाम बदल कर शुद्ध चैतन्य रख लिया।

शरीरमें बसे हुए तीन गुण

(लेखक— श्री वा. विष्णुदयाल, मारीशस)

卐

हम स्कूलोंमें अब भी पश्चिमीय पद्धतिसे ही शिक्षा पाते हैं। पश्चिममें सिखाया जाता है कि जो हमारे बाहर है वह विद्यमान है, उसीका ज्ञान रखकर ज्ञानी होना चाहिए।

हम पेड पर लगे हुए फल देखते हैं, सूर्यको उगते और अस्त होते पाते हैं, मुर्गेको बांग देते सुनते हैं या कुत्तेको भूंकते। हमारा शरीर भी दीखता है, इस लिए हम उसे सुगंधित करके चलाते हैं, सुन्दर परिधानसे सजाते हैं।

इस शरीरके भीतर क्या हो रहा है, इसे भी पश्चिमीय जानते हैं। पश्चिममें पधारकर युवक और युवतियां डाक्टरी विद्या सीखती हैं। उनके ज्ञानकी यहीं इतिश्री होती है।

भारतीय ज्ञानका तो यहां आरंभ या श्रीगणेश होताहै। संत विनोबाके कथनानुसार हम भारतीय होकर पश्चिमीय ज्ञानसे तृप्त हो जाये तो कहना चाहिए कि विदेशी राज्यको हम खूब पसन्द करते हैं अर्थात् बाहरसे आकर राज्य करनेवाले हमारी दृष्टिमें पूज्य हैं। जबतक हम अपना ज्ञान स्थूल शरीरके अंग अंगके ज्ञान तक ही सीमित रखते हैं और आत्मासे परिचित नहीं होते हम अज्ञानी होते हैं; अपने संबंधमें कुछ नहीं जानते। भारतको स्वराज्य मिला, पर भारतीयोंको सुराज्य अभी प्राप्त न हो पाया। उन्हें सुराज्य तब मिलेगा जब गीताकी दृष्टिमें स्वदेशी होंगे।

इस ग्रन्थका चौदहवां अध्याय बताता है कि भगवान् कृष्ण एक वैद्य बनकर हमें इस बातसे परिचित कराते हैं कि कौन-कौन सी व्याधियां हैं जिनको दूर करना चाहिए। तेरहवें अध्यायमें शरीरका उल्लेख हुआ था। "चौदहवां अध्याय एक अर्थमें तेरहवें अध्यायका पूरक ही है।"

खेतोंमें बीजके लिए थोडा ही स्थान चाहिए। फिर क्यों उत्तम खेतिहर जो इस बातको भलीभांति जानता है, अथक परिश्रम करके नीचे पडी हुई मिट्टीको ऊपर रखता है और ऊपरकी मिट्टीको नीचे ढकेल देता है? यही नहीं, वह अपनी जमीनमें यथावसर खाद भी डालता है। वही जमीन उपजाऊ बनती है जिसे तैयार किया जाता हो।

तेरहवें अध्यायमें शरीरकी क्षेत्रसे उपमा दी गई है। अब इस क्षेत्रको उपजाऊ बनानेका उपाय बताया गया है। भगवान् इस चौदहवें अध्यायमें शरीरके तीन गुणों पर-सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण पर प्रकाश डालते हैं।

जो खेतिहर जमीनमें हल चलाना जानता है वह श्रेष्ठ कृषक कहलाता है और जो शरीररूपी क्षेत्रको संभालनेका ज्ञान रखता है वह मुनि बनता है।

क्षेत्रमें खाद उचित मात्रामें न पडे तो उसमें अन्न पैदा होगा तो बहुत कम। रूस देशमें जिस जमीनमें पहले ५० टन अन्न उत्पन्न होता था उसमें आज कमसे कम २०० टन पैदा किया जाता है।

जमीनमें पत्थर रहता है पत्थरको हटा कर ही कृषक बीज बोते हैं। इसी तरह तमोगुण, जो पत्थरके समान है, हटाया न जा सके तो उसे दबाना चाहिए। तमो गुणसे रजोगुण कुछ अच्छा है और दोनोंसे सतोगुण उत्तम है।

ये तीन गुण शरीरमें रहते हैं। एकको दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। "ये गुण पृथक्-पृथक् कभी भी नहीं रहते, तीनों सदैव एकत्र रहा करते हैं। उदाहरणार्थ, कोई भी भला काम करना यद्यपि सत्वका लक्षण है, तथापि भले कामको करनेकी प्रवृत्ति होना रजका धर्म है, इस कारण सात्त्विक स्वभावमें भी थोडेसे रजका मिश्रण सदैव रहता ही है।" +

यह तीन गुणोंका ज्ञान उत्तम ज्ञान है। ये गुण उसी वक्त शरीरमें आते हैं जब प्रकृतिमें, जो योनि है, परमात्मा जीवको

+ गीतारहस्य.

डाल देते हैं। हमने सुना कि ईसाई भाई कहते हैं कि जब शरीर बन गया था उसमें परमात्माने प्राणको फूका था। यह विचार शुद्ध रूपमें हम गीतामें पाते हैं। भूतोंको हमेशा उत्पन्न किया जाता है नकि एक बार।

ये गुण शरीरको बांधते हैं। तीन गुण वह रस्सी है जिसमें तीन बल है। सत्त्वगुण मनुष्यको सुखसे बांधता है। रजो गुणका काम है मनुष्यको कर्मसे बांधते रहना और तमोगुण उसे प्रमादमें लगा देता है।

ये गुण एक कक्षामें पढनेवाले छात्रके समान है। जो छात्र सबसे अधिक बुद्धिमान् होता है, उसका नाम चलता है। वह दूसरोंको छायामें डाल रखता है। सत्त्व प्रधान होता है जब उसमें तम और रजको दबानेकी शक्ति आती है। रज प्रधान होता है जब वह सत्त्व और तमको दबाता है और तम प्रधान होता है जब वह सत्त्व और रजको दबाता है।

कैसे मालूम होगा कि कौन गुण किन अन्य दो गुणोंको दबा चुका है? जब मनुष्यमें ज्ञानही ज्ञान विद्यमान होता है तब यह जानियें कि उसमें सत्त्व प्रधान हो गया।

रजो गुण उस मानवमें प्रधान होता है जो लालचमें फंसा रहता है और जो कर्मोंको आरम्भ करनेके लिए तत्पर है। वह लोभी हो जाता है। वह नहीं देखेगा कि जिन उपायोंसे मैं धन कमा रहा हूं वे उचित हैं या अनुचित। उसमें अशान्ति और स्पृहा भी रहती है। अशान्ति उस आदमीमें आ ही जायेगी जिसके मनमें तरह तरहके कर्म करनेके लिए नये नये भाव उठते हैं।

जैसे ज्ञान, प्रकाश सत्त्वके होनेसे विद्यमान होता है वैसे ही तमके प्रधान हो जाने पर अप्रकाश अर्थात् प्रकाशका अभाव होता है। जिसमें तमोगुण प्रधान है वह गलतियां करता है, समझता नहीं है कि कौन मुझे उत्तम परामर्श दे रहा है, कौन नहीं। वह कर्म करनेके लिए तैयार नहीं होता है. आवश्यक कामोंकी भी उपेक्षा करता है।

जो मनुष्य इस संसारमें आकर, देहधारी बनकर रहता है उसे कमसे कम ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि वह सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरे। ऐसा व्यक्ति उस लोकमें जाता है जो मलरहित होता है। जब उसका पुनर्जन्म होता है वह देवतुल्य होता है।

यदि वह रजमें लय प्राप्त हो तो वह कर्मसङ्गियोंमें उत्पन्न होगा, तममें लीन हुआ तो मूढयोनिको प्राप्त होगा। दूसरे प्रकारके लोग मनुष्यजन्मको मर जाने पर फिर प्राप्त करते हैं। तीसरे प्रकारके लोगोंको जडयोनि मिलती है।

जो आवश्यकसे आवश्यक कर्मकी भी उपेक्षा करता वह वृक्षमें भेजा जाता है जहां कर्म करना नहीं पडता।

मानव तन वारम्वार मिलता नहीं। यह मिल जाय तो मृत्युपर्यन्त हमें रज तमको दबाना चाहिए।

जो सहर्ष लाठीसे अपनेको पिटवाता या, जेल जाता या वह अब धर्मका नाश लानेके सब उपायोंसे काम लेता है। किसीकी हत्या करवाता है तो किसीकी बेइज्जती करवा कर उसे कार्यक्षेत्रसे बाहर ठेलता है। अन्तकालमें ऐसे व्यक्तिमें चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, तमोगुणकी वृद्धि (हो गई हुई) होती है।

सत्त्वगुणमें स्थित नर ऐसोंसे ऊपर उठते हैं, रजोगुणी भी इनसे ऊपर ही हैं, पर सत्त्वगुणीसे नीचे होते हैं। सबसे नीचे वही नराधम होते हैं जो मृत्युके पश्चात् पशु, पक्षी, कीडे, वृक्षादि बन जाते हैं।

उठनेवाला अकर्मण्य नहीं रहता। कर्मसे प्रेम करने लगता है। जाते जाते वह ज्ञानकी खोज करने लगता है। वह तीन अवस्थाओंसे गुजरता है। + जब तक हममें आसक्ति रहती

+ The soul evolves through these three stages, it rises from dull inertia and subjection to ignorance, through the struggle for material enjoyments to the pursuit of knowledge and happiness. But so long we are attached, even thoug it may be to very noble objects, we are limited and there is always a sense of insecurity since rajas and tamas may overcome the sattva in us. The highest ideal is to transcend the ethical level and rise to the spiritual. The good man (sattvika) should become a saint (trigunattita) : Until we reach the stage, we are only in the making, our evolution is incomplete— (Radhakrishnan)

है चाहे यह आसक्ति किसी उत्तम पदार्थके लिए ही क्यों न हो, हम सीमित रहते हैं। यह डर बना रहता है कि कहीं हम स्खलित न हो जायें। सत्वके आधिक्यका हो जाना भी इसीलिए बन्धन ही माना जाता है।

मानवका उद्देश्य जन्मसे छुटकारा पाना है। तीन गुणोंमेंसे चाहे कोई भी गुण प्रधान हो तो पुनर्जन्मके चक्करमें पड़ना होगा, इसलिए आदर्श अवस्था उसीकी है जो त्रिगुणातीत हो जाये। प्रथम श्लोकमें ही कह दिया गया है कि जो ज्ञान इस अध्यायमें दिया जायेगा उसे उपलब्ध करके अर्जुन या उसके समान निष्पापलोग न प्रलयकालमें दुःखी होते हैं और न सृष्टिकालमें उत्पन्न होते हैं। यह ज्ञान अमर बनानेवाला है।

गीताके इस अन्तिम षट्कमें प्रथम दो षट्कोंका विषय दोहराया जाता है। जैसा स्थितप्रज्ञके विषयमें अर्जुनने प्रश्न किया था वैसा यहां भी करते हैं—

"हे प्रभो! किन लक्षणोंसे इन तीन गुणोंके पार चला जाता है? वह आचार क्या है, और वह इन तीन गुणोंके परे कैसे जाता है?"

उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

"हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होनेसे जो उनका द्वेष नहीं करता, और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा नहीं रखता; जो उदासीन सा रहता है; गुण जिसे चल विचल नहीं कर सकते; जो इतना ही मान कर स्थिर रहता है कि गुण काम करते है जो डिगता नहीं है अर्थात् विकार नहीं पाता है; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समान है अर्थात् विकार नहीं पाता है; जिसे सुख-दुःख एकसे ही हैं; जो स्वस्थ है अर्थात् अपनेमें ही स्थिर है; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समान है; प्रिय-अप्रिय निन्दा और अपनी स्तुति जिसे सम समान है; जो सदा धैर्यसे युक्त है; जिसे मान-अपमान या मित्र और शत्रु दल तुल्य हैं अर्थात् एकसे हैं, और जिसके सब उद्योग छूट गये हैं;— उस पुरुषको गुणातीत कहते हैं।"

बापूजी स्थितप्रज्ञके सम्बन्धमें जो द्वितीय अध्यायके अन्तमें श्लोक पाये जाते हैं उनका नित्य पाठ करते थे। वे स्थितप्रज्ञ हो भी गये। स्थितप्रज्ञ विषयक ज्ञान इतना उत्तम है कि आज भी कोई उसे स्वीकार कर ले तो बापूजीके समान अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर सकता है। गीतामेंसे अगर यही एक विषय लिया जाय तो मनुष्यको बहुत कुछ प्राप्त हो जायेगा। गीताकार भी जानते थे कि यह महत्वपूर्ण है। तीन बार यह विषय आया है। भगवान्ने जो उत्तर दिया वह यही मतलब रखता है कि "त्रिगुणातीत पुरुषके लक्षण क्या हैं, और आचार कैसा होता है। ये लक्षण, और दूसरे अध्यायमें बतलाये हुए स्थित प्रज्ञके लक्षण (२ ५५-७२), ए बारहवें अध्याय (१२-१३-२०) में बतलाये हुए भक्तिमान् पुरुषके लक्षण सब एक से ही हैं। अधिक क्या कहें 'सर्वारम्भपरित्यागी' 'तुल्यनिन्दास्म संस्तुति' और 'उदासीन' प्रभृति कुछ विशेषण भी दोनों या तीनों स्थानोंमें एक ही है।"

स्थितप्रज्ञ ही भक्तिमान पुरुष है और साथ साथ ज्ञानी है।

हम जब कभी असंयम या किसी और कारणसे बीमार पड़ते हैं व्याकुल हो जाते हैं। आस्तिक और नास्तिक-दोनों मानते हैं कि स्वास्थ्य सबसे बड़ी सम्पति है जो किसीके भी हाथ लग सकती है। महात्माजीने स्वास्थ्य पर पूरा ध्यान दिया था जब कि उनके इर्द गिर्द रहनेवाले ओठोंपर रंग चढ़ाना अंग्रेजोंके साथ शराब ग्रहण करना आदि सभ्यताके चिन्ह मान रहे थे। उन्होंने स्वास्थ्यसम्बन्धी पुस्तकें भी लिखी जिनमें दी गई सलाहोंको मान कर कई व्याधिग्रस्त लोगोंको आरोग्य लाभ हुआ। * पूरी तरहसे स्वस्थ वही है जिसे मानसिक रोग भी नहीं होता। अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित रहनेवालेको स्वस्थ कहा जाता है।"

अर्जुनने तीन बार सुन लिया कि किस तरह व्यवहार करना चाहिए, दुनियामें रहकर कैसा दृष्टिकोण रखना चाहिए, अपनेको वशमें रखकर कैसे चञ्चलताको त्यागना

* जो स्वस्थ रहता है वह मृत्युसे डरता नहीं। उसे केवल बीमारीसे डर होता है क्योंकि वह उसे चोट पहुंचा सकती है और मृत्यु नहीं। गुरुदेवने कहा :—

"Death does not hurt us, but disease does, because disease constantly reminds us of health and withholdsit from us" Tagore, The Religion of man.

+

चाहिए। अपने मनसे जब उसने पूछा कि क्या ऐसा हो सकता है? मनने जवाब दिया, नहीं-यह कठिन है। बापूजीके जीवनमें ऐसा समय आया था जब वे सोचते थे कि क्या गीता मार्ग स्वीकार किया जा सकेगा? वे अपनी आत्मकथामें लिखते हैं— "गीताके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दोंने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यह धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूं, कैसे उसका पालन करूं? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर हैं, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं, जो कलके साथी हैं, उनमें और उन सज्जनोंमें जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है? अपरिग्रहका पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है? स्त्री पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं है तो फिर क्या है? क्या पुस्तकोंसे भरी इन अलमारियोंमें आग लगा दूं? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ! अन्दरसे तुरन्त उत्तर मिला-'हां, घर-बारको खाक किये बिना तीर्थ नहीं किया जा सकता।'" ऊपर उठनेवालोंको योगाभ्यास करना पडता है, सच्चा ज्ञान प्राप्त करना होता है। परन्तु जिसमें यह सब करनेका सामर्थ्य नहीं वह भी किसी और मार्गका अवलम्बन करके कीचडसे निकल कर ऊपर आ जा सकता है। जो पाप रहित है वह सहजमें उठ जाता है गीतामें सैंकडों बार भगवान इस विषयका अर्जुनको याद दिलाते हैं कि वह भरतवंशज है, वह निष्पाप है, कुरुनन्दन है। तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक तौरपर अर्जुन जैसोंको प्रगति करनेकी आशा है। वे विमल होते हैं, वे मानवोंमें श्रेष्ठ होते हैं।

सब आरंभोंका त्याग केवल बडे ज्ञानियोंके ही द्वारा होता है। 'आरंभ' का अर्थ है 'कर्म'। कर्म करते हुए भक्त समझते हैं कि मैंने कोई कर्म किया ही नहीं, करनेवाला ईश्वर है।

अर्जुन अपनेको इतना बडा ज्ञानी न मानकर कोई सरल उपाय जानना चाहता है। इसी उपायको बतानेके लिए भगवान्‌ने अन्तमें कहा कि भक्त ईश्वरकी शरणमें जाकर केवल उन्हें सर्वस्व मानें। पिता परमात्माही तो है

जो अपने हृदयमें ईश्वरके प्रति ऐसी भक्ति धारण करता है जो कभी बदलती या घटती नहीं, वह भक्त गुणातीत@ हो जाता है। ऐसा भक्त ईश्वरको क्या प्राप्त करता है अमृत पान करने लगता है। उसके लिए जन्म और मृत्यु कोई चीज नहीं रहती। उसके आत्माको गुणोंके संगमे रहना विषतुल्य हो जाता है×। आत्मा अपने रूपको धारण करता है, असङ्ग बन जाता है। ज्ञानसे शून्य होनेके कारण मानव समझता रहा कि आत्माका गुणोंके साथ सम्बन्धित होना स्वाभाविक है। ज्ञानोदयके होते ही यह प्रकट हो गया कि गुण रहेगा, चाहे वह सत्त्व ही क्यों न हो, जन्मोंके चक्कर में पडा रहना पडेगा।

सांख्यशास्त्रमें बन्धनसे मुक्त होनेके लिए प्रयत्नशील होनेकी आवश्यकता पर जोर दिया गया है। इस अध्यायमें सांख्यशास्त्रकी झलक मिलती है। स्व. प्रिंसिपल दिवानचन्दजीने लिखा है :—

"The Bhagavadgita links the concept of moral evolution to the concept of general, cosmic evolution. In regard to-

@ जेहि हित तुल्य मान-अपमाना,
शत्रुमित्र-जेहि समकारी जाना,
जेहि एकहु आरंभ न भावा,
गुणातीत सोई पार्थ ! कहावा।

× गुणोंके संगमें रहनेका मतलब है अपने नाशको आमंत्रित करना। "रजो गुण व तमोगुण परस्पर- सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते हैं! फुटबालका जन्म जैसे चारों ओरसे लात ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीव रजोगुण व तमोगुणकी ठोकरें खानेमें ही जाता है।"

यद्यपि रजोगुण तमोगुणसे कुछ अच्छा है वह हमसे कर्तव्य कर्म नहीं कराता। "पंछी आकाशमें उडता है, हम भी आकाशमें क्यों न उडें? मछली पानीमें रहती है, हम भी पनडुब्बी बना कर जलमें क्यों न रहें? इस तरह, नर-देहमें आकर पशु-पक्षीकी बराबरी करनेमें कृतार्थता मालूम होती है। पर-काया-प्रवेश की तथा दूसरे देहोंके आश्चर्यका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है-चलो, मंगलकी सैर कर आवें व वहांकी आबादी देख आवें। चित्त एक-सा भ्रमण करता रहता है। मानो अनेक वासनाओंका भूत ही हमारे शरीरमें बैठ गया है जो जहां है, वह वहां देखा ही नहीं जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए।

the latter, it unreservedly adopts the Sankhya view. *Prakriti*, in its primordial Condition, is the state of eqoilibrium or balance of the three *gunas* – *sattva*, *rajas* and *tamas* When this equilibrium, is disturbed, indivridual objects are formed and start acting on one another. Human beings are psychological organisms, as they and their activities are affected by the interplay of the three gunas, in relation to human character and conduct. "

इस अध्यायने बापूजीको एक अंग्रेजी पुस्तकका स्मरण कराया था :- गीताज्ञान उपयोगी है, अत सब देशोंमें इस ज्ञानकी तरफ किसी न किसी तरह लोगोंका ध्यान खिंच ही जाता है । बापूजीने लिखा—

" Chapter fourteen and the threefold division of the qualities of nature remind one of Henry Drummond's book I read about thirty years ago, " The natural law in the spiritual World. " The laws are many but they have been broadly classified under three heads The 14 th ohap. describes the laws to which man is subject and the fifteenth describes Purushottam, the perfect man. The ' ascent of man ' is what we have to learn from these chapters. There is no man who is governed exclusively by one of the 3 gunas sattva, rajas or tamas. We have each of us to rise to a state in which we are governed predominontly by the satva principle, until at last we rise beyond the three and are perfect man. I can think of an illustration from the physical world. Take water, which in its solid state remains in the earth; it cannot ascend until it is rarefied into steam. But once it is rarefied into steam, it rises up in the sky where at last it is transformed into clouds which drop down in the

---

रजोगुण तत्काल फल चाहता है । अत: जरा-सी विघ्न बाधा आते ही वह अंगीकृत मार्ग छोड देता है । रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड, ऐसा करता है । उसका चुनाव रोज बदलता रहता है । इसका परिणाम अंतमें यह आता है कि उसके पल्ले कुछ भी नहीं पडता ।

" राजसं चलमध्रुवम् "

रजोगुणकी सारी कृति चंचल व अनिश्चित रहती है, छोटे बच्चे गेहूं बोते हैं और उसी समय खोद कर देखते हैं– वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है । झट-झट सब कुछ उसके पल्ले पडना चाहिए । यहां जरासा काम किया, वहां कुछ प्रसिद्धि हुई कि चलो तीसरी जगह । आज मद्रासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें व परसों बंबई–नागपुरमें !

रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धन्धों-कार्योंमें टांग अडाता रहता है । स्वधर्म जैसा उसके लिए कुछ नहीं रहता । वास्तविक स्वधर्माचरणका अर्थ है इतर नाना कर्मोंका त्याग । गीताका कर्मप्रयोग रजोगुणका रामबाण उपाय है । मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगोंमें न लगा कर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमें सुव्यवस्थित रूपसे लगावे तो ही उसके हाथसे कुछ कार्य होगा । इसलिए स्वधर्मका बडा महत्त्व है ।

थोडी देरके लिए हमें ऐसा लगा भी कि हमने इन तीन गुणोंको जीत लिया तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे । अतः सतत जाग्रत रहना चाहिए ।

जब सत्त्व गुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्माको अपने शुद्धस्वरूपसे नीचे खींच लाता है । लालटेनकी ज्योतिकी प्रभाको स्वच्छ रूपमें बाहर फैलाना हो तो उसके अंदरका सारा काजल पोंछ ही देना पडता है; परंतु यदि कांच पर धूल जम गई हो तो वह भी धो डालनी चाहिए । इसी तरह आत्माकी प्रभाके आस पास जो तमोगुण-रूपी काजल जमी रहती है उसे अच्छी तरह दूर कर डालनी चाहिए, उसके बाद रजोगुण–रूपी धूलको भी साफ कर देना है । इस तरह जब तमो गुणको धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला तो अब सत्त्व गुण–रूपी कांच बाकी रह गया । ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए कांचकी तो जरूरत रहेगी ही । "

form of rain and fructify and bless the earth. We are all like water, we have to strive so to rarefy ourselves that all the ego in us perishes and we merge in the Infinite to the eternal good of all."

इस अध्यायमें साथ साथ वह ज्ञान भी विद्यमान है जिसे लाप्लास नामक फ्रासीसीको उपलब्ध हुआ था।

" फ्रांसके प्रसिद्ध गणितज्ञ लाप्लासने जब नीहारिकावाद को जन्म दिया तो उसने विश्वकी मूल कारण तेजोमय वाष्पराशिकी विभिन्न गतियोंका सामंजस्य, पश्चिमसे पूर्वकी ओर प्रयाण, तापकी विकीर्णतासे छोटे छोटे आग्नेय खण्डों का सूर्य, पृथिवी आदिमें परिणमन, सूर्यके पुत्ररूप ग्रह और पौत्ररूप उपग्रहोंका निर्माण आदि ऐसे ढंगसे उपस्थित किया कि वह विश्व रचनामें एक निर्धारित नियमकी ओर स्पष्ट संकेत करने लगा।

नीहारिकावादसे मिलता-जुलता भारतीय मनीषियोंका हिरण्यगर्भ वाद है जिसका उल्लेख अथर्ववेद १०-७-२८, मनुस्मृति १-९, श्रीमद्भागवत २-५ तथा ३-२६ तथा गीता १४-३, ४ के अन्दर है।"

त्रिगुणातीत होकर हम क्यों ब्रह्मसे मिलनेका प्रयत्न न करें जिनके अस्तित्व या नियमकी सूचना पृथिवीके अङ्ग अङ्ग से मिलती है?

यज्ञके लिये व्रती बनना चाहिए

(लेखक— श्री पं. वीरसेनजी वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य)

☆

व्रतोंसे शुद्धता एवं पवित्रता

यज्ञ करने-करानेके अधिकारियोंको या इच्छुकोंको यज्ञानुसार व्रतादि धारण करके अपनेको यज्ञका व्रती बनाना चाहिये। यजमान, यजमान पत्नी, यजमानके पारिवारिक जन समस्त ऋत्विजगण तथा जो यज्ञमें भाग लेना चाहते हों, उन सबको यज्ञके पूर्व दिनोंसे ही व्रतादिका धारण और पालन करना चाहिये। व्रतोंसे ही शारीरिक आन्तरिक तथा मानसिक शुद्धता और पवित्रता होती है। वेदने कहा है:—

" शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः "। (अथर्व १२।२।२०)

अर्थात् शुद्ध-पवित्र होकर यज्ञके योग्य बनो। इस प्रकार यज्ञके लिये बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकारकी शुद्धता और पवित्रताकी आवश्यकता होती है। बाह्य अर्थात् शारीरिक शुद्धता आवश्यक है ही, परन्तु उसके साथ आंतरिक पवित्रता भी परमावश्यक है। आन्तरिक पवित्रताके बिना केवल बाह्य शुद्धिका कोई महत्त्व नहीं है। इसीलिये कहा है—

"अन्तःस्नानविहीनस्य बहिःस्नानेन किं फलम्"

अर्थात् जिसकी आन्तरिक शुद्ध नहीं हुई है, जिसके अन्दर के मलोंका नाश नहीं हुआ है उसकी बाह्य शुद्धतासे यज्ञादि अनुष्ठान या योगादि कार्योंमें कुछ भी फल या लाभ नहीं। इसीलिये वेदने " शुद्धाः पूताः " ये शब्द कह कर शुद्ध और पवित्र होकर यज्ञके अनुष्ठान करने योग्य बननेको कहा। शुद्धताका सम्बन्ध शरीरकी बाह्य स्वच्छतासे है और पवित्रताका सम्बन्ध शरीरके अन्दर प्राण, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकारादिकी पवित्रतासे है। इन दोनों प्रकारकी शुद्धता और पवित्रतासे यह शरीर यज्ञसम्बन्धी बनता है।

यह शरीर भी यज्ञ है

शतपथ ब्राह्मणमें " पुरुषो वाव यज्ञः " -पुरुष निश्चयसे यज्ञ है कह कर जीवनको यज्ञमय बनानेका संकेत किया है, क्योंकि वेदने इस शरीरको यज्ञके लिये बताया है जैसा कि—

" इयं ते यज्ञिया तनूः "। (यजुः अ. ४।१४)

अर्थात् यह शरीर यज्ञके निमित्त है – यज्ञ सम्बन्धी है। मनुने भी " स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैः०"— श्लोक द्वारा अपने शरीरको ब्रह्म सम्बन्धी बनानेके लिये इस शरीर द्वारा व्रतानुष्ठान एवं यज्ञादिके लिये आदेश दिया है।

व्रतका आदेश

इस शरीको यज्ञ योग्य बनानेका उपाय वेदने निम्न शब्दोंमें कहा है :—

व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत "। (यजुः अ. ४।११)

अर्थात् व्रत करो- व्रत करो। क्योंकि ब्रह्माण्डमें प्रवृत्तिसे ब्रह्म पर्यन्त सभी देव अपने अपने व्रत पर स्थिर हैं। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि सभी अपने अपने व्रतों पर आरूढ होनेसे व्रतपति बने हुए हैं और व्रतपति होनेसे ही अपने व्रत पर दृढ एवं अटल होनेसे ही वे देवसंज्ञक हैं।

व्रतोंसे देवत्वकी प्राप्ति

यदि मनुष्य भी व्रतों पर आरूढ हो जावे तो यह भी देवत्वको प्राप्त कर सकता है। जैसा कि कहा है:—

" देवान्वा एष उपावर्तते यो व्रतमुपैति "। (शतपथ)

अर्थात्:— जो व्रत धारण करता है, वह देवोंको सब ओरसे प्राप्त करता है। क्योंकि व्रतादि कर्मोंसे ही मन, इन्द्रियादिकी पवित्रता एवं शरीरकी शुद्धता होती है। शुद्धता एवं पवित्रतामें ही देवभावोंका वास होता है और अपवित्र भावोंमें ही असुरोंका निवास होता है। आसुरी भावोंकी निवृत्तिसे ही हमारी देवी पवित्रता सम्पादित होती है। अतः यज्ञकर्मके लिये व्रतादि द्वारा अपनी शारीरिक एवं मानसिक शुद्धता पवित्रता सम्पादन करनी चाहिये– जैसा कि वेदके निम्न शब्दोंमें आदेश है।

दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देव यज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि "। (यजुः अ १।१३)

अर्थात्— दिव्य कर्मोंके लिये तथा यज्ञादि कर्मोंके लिये यज्ञ द्वारा शुद्ध होओ जिससे तुममें जो अशुद्ध तत्व हैं वे दूर या नष्ट हो जावें। इससे तुमको यज्ञ द्वारा शुद्ध करता हूं।

व्रतके लिये तपकी उपयोगिता

यज्ञके लिये व्रतानुष्ठान कर्ता-व्रती पुरुषको व्रतमें मानसिक एवं शारीरिक तप ही करनेसे शुद्धता एवं पवित्रता प्राप्त होती है। जो शुद्धता एवं पवित्रता है वही सत्य है- वही ऋत है। जो अशुद्धि है वही अनृत है- असत्य है। तपकी अग्निसे ही ऋत और सत्यका उद्भव या उपलब्धि होती है। इस ध्रुव सत्यको वेद निम्न शब्दोंमें प्रकट कर रहा है—

" ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत "।

(ऋग्वेद मं० १०।१९०।१)

इसी रहस्यका " ओ३म् तपः। ओ३म् सत्यम् "– में भी दर्शन हो रहा है। अर्थात् तपसे ही सत्यका उद्भव होता है। वह सत्य दो प्रकारका है। एक जो प्रकृतिसे संबंधित है। इसका ज्ञान पदार्थ-विद्या है। यही ऋत है। यही अपरा विद्या है। दूसरा जो इससे भिन्न ज्ञान परमात्मासे संबंधित है। वह सत्य-विद्या है। इसीको परा-विद्या कहते हैं। ऋत और सत्य, अपरा और परा, असंभूति और अविद्या और विद्या संज्ञक है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनोंका सत्य ज्ञान तप पूर्वक यज्ञानुष्ठानसे देवत्व सम्पादन द्वारा होता है। अत. यज्ञके व्रती व्यक्तियोंको विविध प्रकारके व्रतों द्वारा- " व्रतं चरिष्यामि " - का संकल्प लेना ही पड़ा है।

अन्य व्रतीजनोंको भी यज्ञके फलकी प्राप्ति

काम्य यज्ञोंमें यजमानकी कामनाके समान ही कामना-वाले अन्य जन भी व्रती बनकर सम्पूर्ण यज्ञमें श्रद्धापूर्वक शान्त चित्तसे, परमात्मामें ध्यान लगाकर अपनी एवं यजमान की कामनाकी सफलताकी इच्छा मनसे, मन्त्रसे या मन्त्रान्तमें स्वाहाकी ध्वनिके साथ स्वयं भी " स्वाहा " शब्दको उच्च स्वरसे उच्चारण करके सम्पूर्ण यज्ञमें भाग लेते हुए फल प्राप्तिके अधिकारी बन सकते हैं। इस प्रकारका यज्ञानुष्ठान भौतिक यज्ञके आश्रयसे अन्य व्रतियोंको भी यज्ञका फल-प्राप्त करनेमें अधिकारी बनाता है। क्योंकि वेदमें—

" स्वाहा यज्ञं मनसः "। (यजुः अ. ४।६)

कहा है। जिससे मनसे भी श्रद्धापूर्वक यज्ञसम्पादन हो सकता है यह ज्ञात होता है। श्रद्धाकी हविसे मनरूपी अग्नि में जो आहुति प्रदान करता है तो उसका मानस यज्ञसम्पादन होता है। मानस यज्ञ आदि बाह्य यज्ञके साथ संयुक्त हो जावे तो अत्यधिक फलदायक हो जाता है। अत. भौतिक एवं मानसिक यज्ञोंके लिये अपने शरीरको भी यज्ञमय बनाना चाहिये और इसके लिये व्रती बनना अत्यन्त आवश्यक है।



वैदिक विश्वसंस्कृति एवं पर्वविज्ञान

(लेखक— श्री रणछोडदास ' उद्धव ')

(गताङ्कसे आगे)

सूर्य, चन्द्र, अग्नि, ओषधि वनस्पति, नक्षत्र, ग्रह, कृमि, कीट, पक्षी, मनुष्य, धातु, रस, विष आदि सभी पदार्थ सञ्चित–संस्कारके उक्थरूप होनेसे संस्कारयुक्ता ' विद्या ' उपाधिसे समन्वित हैं। इन सब छोटी–बडी विद्याओंको जहां उक्थविद्यात्मिका 'अणुविद्याएं' कहा जायेगा, वहां इन समस्त उक्थ विद्याओंकी समष्टिरूपा–महाविद्यात्मिका विश्वविद्याको निगमदृष्टिसे 'महदुक्थविद्या'–लक्षणा विराट् विद्या ' एवं आगम दृष्टिसे इसीको ' दशमहाविद्या ' कहा जायगा। ' निगममूला विश्वविद्या तथा आगममूला विश्वविद्यारूप विद्याविभेद भी केवल निरूपणीय आधार क्षेत्रोंसे संबंध रखनेवाला सोपाधिक भेदमात्र ही है; वस्तुतः निगमागमतत्त्व अभिन्न वस्तुतत्त्व हैं, जैसा कि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

स्वयम्भूरूप निगम तथा सूर्यरूप निगमको आधारबिन्दु मानकर विश्वात्मिका महाविद्याका स्वरूप विश्लेषण करनेवाली विराट्विद्या भी विश्वविद्या ही है एवं परमेष्ठिरूप आगम तथा पृथिवीरूप आगमको आधारबिन्दु मानकर महाविद्याका स्वरूप विश्लेषण करनेवाली दशमहाविद्या भी विश्वविद्या ही है। दोनों अपने दश-अवयव भावसे दश विस्तारके भावोंमें विभक्त है। तभी तो निगमविद्याको- ' विराट्विद्या ' एवं आगमविद्याको ' दशमहाविद्या ' कहना युक्त बन रहा है। विश्वका स्वरूप क्या है ? विश्वका आधार कौन है ? विश्वके स्वरूपबोधसे मानव अपनी आचार पद्धतियोंमें क्या और कैसे उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है ? इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नोंके समाधानके लिए ही निगमागमके आचार्य महर्षियोंके द्वारा निगमशास्त्र और आगमशास्त्रके भेदसे नियमात्मिका विराट्विद्याका तथा आगमात्मिका दशमहाविद्याका स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

लक्ष्य है विजयदशमीपर्व, जिसके प्रसंगसे ही निगम और आगमकी चर्चा चल पडी है एवं निगमागमके प्रसंग से ही ' विद्या ' शब्दका प्रासङ्गिक समन्वय उपस्थित हो पडा है। विजयदशमीपर्वका अर्थ है– नवरात्रके अन्तमें सम्पन्न होनेवाला विजया–दशमी महान् पर्व। यों ' दशरात्रिभाव ' इस पर्वके नामसे ही स्वतः ज्ञात होता है। शक्ति उपासनात्मक एवं शक्तिपूजनात्मक यह महापर्व वस्तुतः आगमपर्व ही माना जायेगा। क्योंकि शक्तिरूप मातृभाव आगम शास्त्रका ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। निगमशास्त्र जहां पुरुषरूपसे विश्वविद्याका स्वरूप विश्लेषक है, यथा—

' पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् '

(यजु संहिता)

वहां आगमशास्त्र प्रकृतिरूपसे विश्वविद्याका स्वरूप-विश्लेषक बना हुआ है। वही आगमशास्त्रीया महाविद्या ' दशमहाविद्या ' नामसे प्रसिद्ध है, जो विजयदशमी–पर्वकी मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है। निगममूला विराट् विद्या एवं आगममूला दशमहाविद्या ' दश–अवयवा ' क्यों ? कैसे बन गई ? यह प्रासङ्गिक प्रश्न भी समाधानकी अपेक्षा रख रहा है। अतएव इसकाभी समन्वय कर लेना अनुरूप ही होगा।

दशमहाविद्या एवं नवरात्रविज्ञान—

' तत्तु समन्वयात् ' लक्षणवाले वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार जिस पुरुषके साथ प्रकृतिदेवीका समन्वय होता है, उस पुरुषके दो प्रधान विवर्त हैं— कालपुरुष और यज्ञपुरुष। भगवान् ऐतरेयने जिन चार पुरुषोंकी मीमांसा की है—

' चत्वारः पुरुषा ? इति बाध्वः शरीरपुरुषः (मानवः), छन्दः पुरुषः (पुरभावः), वेदपुरुषः (अपौरुषेयः), महापुरुषः (ईश्वरः) – इति।

(ऐतरेय – आरण्यक ३।२।३)

उनमें छन्द पुरुष तथा वेदपुरुष, इन दो का तो ' कालपुरुष ' में अन्तर्भाव है एवं महापुरुष और शरीरपुरुष (ईश्वरीय यज्ञपुरुष और मानवीय यज्ञपुरुष) इन दोनोंका

यज्ञपुरुषमें अन्तर्भाव है। दोनोंमें कालपुरुष अनादि तथा व्यापक है और यज्ञपुरुष सादि एवं सीमित है मन्त्रसंहिताओंमें 'काल' नामसे प्रसिद्ध पुरुषतत्त्व उपनिषदोंमें 'परात्पर' नामसे प्रसिद्ध है। सर्व मृत्युधन (सर्वबलविशिष्ट) सर्व अमृततत्व (सर्व रसतत्त्व) मूर्तितत्त्व ही परात्परका तटस्थ यशोवर्णन है। अमृत तत्व सत् है एवं मृत्युतत्व असत् है।

अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृतमाहितम्।

(शतपथ ब्रा. १०।५।२)

तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः।

(ईश उपनिषद्)

उक्त वचनोंके अनुसार रसात्मक सत्– अमृत तथा बलात्मक असत्– मृत्यु, दोनों परस्पर ओतप्रोत हैं। इसी आधार पर—

"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।" (गीता) सिद्धान्त स्थित है। उस अनिर्वचनीय मायातीत मायाप्रवर्तक कालपुरुषात्मक परात्परके लिए रहस्यपूर्ण भाषामें दिग्दर्शन कराते हुए ऋषिको कह देना पड़ा—

नासदासीत् नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्
अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च नास ॥ २ ॥

सृष्टि प्रथम नहि बनी हुई थी एवं न शून्य–स्थितिमें थी।
नहि ऊपरका नीला नभ था, नहि आरंभिक–स्थितिमें थी ॥
कहाँ और क्या ढक रक्खा था ? किसके आश्रयमें यह था ?
दुष्प्रवेश औ अगाध जलका समुद्र क्या था ? क्या वह था ? ॥१॥
उस समय मृत्यु नहि थी एवं किसी चीजका जन्म न था।
तथा रात्रिका पता नहीं था, दिखनेवाला दिवस न था ॥
श्वासोच्छ्वास–रहित औ एक हि उपादानसे जीवित था।
उससे कुछ भी परे नहीं था एवं कुछ भी भिन्न न था ॥ २ ॥

(ऋग्वेद १०।१२९-१-२)

उस महाकालात्मक परात्पर ब्रह्ममें प्रतिक्षण विलक्षण मायाबलोंका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। परात्परकाही बल भाग 'माया' तत्त्व है, जो परात्परवत् ही सत् और असत्से विलक्षण बनता हुआ अनिर्वचनीय तत्त्व ही प्रमाणित हो रहा है। आगमाचार्योंने 'नासदासीन्नो सदासीत्' इत्यादि निगमवचनके आधार पर ही मायाके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त स्थापित किया है—

न सती सा, नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते ॥

अनन्त असंख्य विश्वका अधिष्ठाता वह परात्पररूप कालपुरुष सातलोक, चौदह भूतसर्ग, संपूर्ण विश्वचक्रका नियतिके दण्डरूपसे प्रचण्ड शासन कर रहा है। उसीकी गोदमें ये सब प्रकट और लीन होते रहते हैं। इसी सर्वेसर्वा कालपुरुषका यशोवर्णन करते हुए महर्षि कह रहे हैं—

" कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः
सहस्राक्षो अजरो भूतिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चित
स्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ "

(अ. वेद १९।५३।१)

'कालपुरुष सातकिरणवाले घोड़े पर चढ़ता है, वह अनन्त आंखोंवाला बुढ़ापेसे रहित और बड़ा बलवान् है। उसके चक्र सब लोक हैं। उसे दिव्यदृष्टिवाले विद्वान् प्राप्त करते हैं।'

वह असत् किन्तु तत्वतः सत् कालपुरुष महामायासे सीमित हो जाता है। मायामय पुरुषकी हृदयबलवाली कामनासे ही विश्वसृट् पञ्चजन एवं पुरंजनादि धाराबाहिक क्रमसे सबसे पहले वेदपुरञ्जनका जन्म होता है। ऋक् साम, यत् एवं जू भेदसे चार पर्ववाला निगमपुरुष और अप्, वायु, सोम एवं अग्नि, यम, आदित्यरूप छह प्रकारकी भृगु अङ्गिरामय आगम प्रकृति, इन दोनों स्त्रीपुरुषोंकी दशकलाओंसे ही ही विराट्मूर्ति अर्थात् दश-अवयववाले विराट् सूर्यनारायण प्रकट हुए हे। अतएव ये (अग्नि–सोमके दाम्पत्यभावसे) 'यज्ञपुरुष' कहे जा सकते हैं।

'यद्वै न्यूनं, तत् पूर्णम्' 'यत् पूर्णं, तत् न्यूनं' 'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्त' (शतपथ ब्रा० ११।१।२।४)

इत्यादि श्रौत सिद्धान्तके अनुसार न्यूनविराट्रूप यज्ञपुरुष ही सृष्टिके प्रवर्तक बना करते हैं। कदापि पूर्णसे सृष्टि नहीं होती। इसी लिए यहांके सांस्कृतिक आधारोंमें

अपूर्णको पूर्णभाव मान लिया है पूर्णतामें अवसानात्मक वह यमभाव (मृत्युभाव) आक्रमण कर बैठता है, जिसका ' ददात्-यमोऽवसानं पृथिव्याः ' इत्यादि वचनसे स्पष्टिकरण हुआ है। अपूर्णतामें आगे आनेवाली समृद्धि लगी रहती है, अतएव दक्षिणा-विधानमें ११, २१, ५१, १०१ इत्यादि रूपसे अपूर्णभाव ही रख लिए गए हैं।

श्राद्धकर्म प्रकृतिसे यमकर्म या अवसानहीन है अतएव दक्षिणा पूर्ण ही होती है। पुरुष-पुरुषके संयोगसे या स्त्री-स्त्रीके संयोगसे कदापि सृष्टि नहीं होती। पुरुषके वृषाप्राण तथा स्त्रीके योषाप्राणके दाम्पत्यसे ही सृष्टि होती है। स्त्री सौम्या होनेसे ' भोग्या ' है और पुरुष आग्नेय होनेसे ' भोक्ता ' है, अतएव स्त्रीभाव पुरुषभावसे ' न्यून ' है। इस न्यूनसम्बन्धसे ही प्रजाकी उत्पत्ति होती है। उधर विराट् संस्थामें भी त्रयी ब्रह्म आग्नेय होनेसे भोक्ता है और सुब्रह्म सौम्य होनेसे भोग्य है। ब्रह्म प्राण है और सुब्रह्म रयि है। प्रश्नोपनिषद्में प्राणरयिका वर्णन है। सारांश यही है कि- दशाक्षरवाले पूर्ण विराट्से सृष्टि नहीं होती, किन्तु नवाक्षर (९) युक्त न्यूनविराट् ही प्रजासर्गका अधिष्ठाता है। एक-अक्षरकी न्यूनतासे विराट्के विराटत्वकी हानि नहीं होती। जैसे- " न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम् ' इत्यादि छन्दके सिद्धान्तसे स्पष्ट है।

ज्योतिषशास्त्र शून्यबिन्दुको ' पूर्ण ' कहता है। पहले अनिर्वचनीय तमके सिवा कुछ न था। वह महाकालपुरुष पूर्ण था। यह पूर्ण ही ' शून्यभाव ' बना। इसीसे नवाक्षरवाले विराट्पुरुषरूप यज्ञ पुरुषका सबसे पहले जन्म होता है। यत् और जूकी गुप्त-अवस्था ' यजु ' है, अतएव १ ऋक् २ साम, ३ यत्, एवं ४ जू इन पर्वोंके स्थानमें १ ऋक्, २ साम, और ३ यजु ये तीन पर्व ही प्रधान बन जाते हैं। तथा ६ पर्व सुब्रह्मके मिलनेसे (३-६) विराट्पुरुष नवाक्षरभावमें परिणत होता हुआ ' न्यूनविराट् ' भावसे ही शेष रह जाता है। अर्थात् १० संख्याके स्थानमें " ०-१-२-३-४-५-६-७- ८-९ " यह नवाक्षरका विस्तार ही प्रमुख बन जाता है।

भारतीय संख्याविज्ञानमें- ' नवो नवो भवति जायमानः ' इत्यादि मंत्रश्रुतिके अनुसार नवभावात्मिका (नवीनभावात्मिका) नव संख्या (९) को ही प्रधानता दी है। मूल संख्या ' ९ ' पर ही समाप्त हो जाती है। १० वाँ वही शून्यरूप पूर्णभाव होगा, जो मूलाधार होनेसे सबसे प्रथम माना जायगा। अतएव भारतीय परिभाषामें गिनतीका प्रकार १ से १० तकका नहीं है, किन्तु शून्यसे ९ तकके ही यहाँ प्रधानता दी गई है। इस संख्यासम्पत्तिके विज्ञानको वैदिकविद्याओंमें अत्यन्त ही महत्त्व माना गया है। सर्वाधारभूत पूर्णरूप शून्यभाव (बिन्दु) ही महाकालका प्रतीक है। इस शून्यरूप पूर्ण महाकालके महिमामय महान् उदरमें नवाक्षर मूर्ति विराट्पुरुष समाविष्ट है। इनमें शून्यरूप पूर्णरूपको ही दसवाँ (पहला) ' प्रतिष्ठा ' नामक ' अहः बतलाया है- ' प्रतिष्ठा वा दशममहः ' (कौ ब्रा. उप० १४।२) ' अन्तो वा एव यज्ञस्य-यद्दशममहः ' (तै. ब्रा. १।२।६।१) इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है। श्रुतिने कहा है—

" यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चि-
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ "
(श्वेताश्वतर० ३।९)

' जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है, तथा जिससे छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है वह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक महिमामें वृक्षके समान निश्चलभावसे स्थित है, उस पुरुषने ही इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है। '

पुरुषतत्त्व प्रकृतितत्त्वसे अलग नहीं है। निगम मूलक आगमशास्त्र सृष्टि विद्यात्मिका इन दशविध शक्ति या प्रकृतिके विवर्तोंका ही स्वरूप दिखा रहा है, जो ' दशमहाविद्या ' नामसे प्रसिद्ध हुई है। ये दसों महाविद्याएं क्रमशः- १ महाकाली, २ उग्रतारा, ३ षोडशी, ४ भुवनेश्वरी, ५ छिन्नमस्ता, ६ भैरवी, ७ धूमावती, ८ वल्गामुखी (वर्तमानमें बगलामुखी), ९ मातङ्गी एवं १० कमला नामसे प्रसिद्ध हैं। ' परात्पर ' नामसे प्रसिद्ध विश्वातीत महाकालपुरुषकी महामायारूपा महाशक्ति प्रकृतिदेवीका ही नाम ' महाकाली ' है। शक्ति शक्तिमान्से अभिन्न है, तभी तो भगवान् शिव ' अर्द्धनारीश्वर ' नामसे प्रसिद्ध हैं इसी अभेदको लक्ष्य बनाकर आगमशास्त्र कह रहा है—

सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी ।
यथात्म च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता ॥१॥
अतएव हि योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते ।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् सदपि नारद ! ॥२॥
(देवीभागवत ९।१।१०-११)

अहमेवास तु पूर्वं तु नान्यत् किञ्चिन्नगाधिप ।
तदात्मस्वरूपं चित्संवित् परब्रह्मैकनामकम् ॥ ३ ॥
तस्य काचित् स्वतःसिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता ।
पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः ॥
स्वशक्तेश्च क्षमायोगादहं बीजात्मतां गता ॥ ४ ॥
(देवीभागवत् ७।४२।६)

यन्माशक्तिसङ्कल्प्तं जगत्सर्वं चराचरम् ।
सापि मत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः ॥ ५ ॥
(देवीभा० ७।३३।५)

' वही प्रकृति ब्रह्मस्वरूपा, नित्या और सनातनी है। परब्रह्म परमात्माके सभी अनुरूप गुण इस प्रकृतिमें निहित हैं। जैसे अग्निमें दाहिकाशक्ति सदा रहती है। इसीसे परम-योगीपुरुष स्त्री और पुरुषमें भेद नहीं मानते हैं। नारद ! वे कहते हैं कि ' सत्-असत् ' जो कुछ भी है, सब ब्रह्ममय है।' देवी कहती है—

' पहले मैं ही थी। दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं थी। उस समय मेरा रूप सत्, चित् एवं आनन्दमय परब्रह्म था। वह रूप अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य, अनौपम्य और अनामय है। उसी रूपसे कोई एक शक्ति स्वयं प्रकट हो गयी। उसका ' माया ' नाम पड गया। अग्निमें जो प्रकाश और चन्द्रमामें जो चन्द्रिका है, वह उस मेरी शक्तिका ही अंश है। ' मेरी मायाशक्तिने संपूर्ण चराचर जगत्की रचना की है। परमार्थ दृष्टिसे विचार किया जाय तो वह माया भी मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। '

वह परात्पर-शक्तिरूप महाकाली ' प्रथमा—आद्या ' कहलाई है। महाकालीका ध्यान यह है।

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम् ।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥ १ ॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ।
एवं सञ्चिंतयेत्कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥ २ ॥
(शाक्तप्रमोद, कालीतन्त्र)

' सौरत्रैलोक्यात्मक संवत्सरचन्द्ररूप कालकी माता, विश्वातीत महाकालकी सहचारिणी महाशक्ति वह आद्या भगवती मुर्दे पर खडी है। उसके शरीरकी आकृति घोर घोर तमोरूपा बनती हुई, आसुर–दुष्टबुद्धियोंके लिए (जहां) अत्यंत ही भीमा-भयावहा है, (वहां) उसके उपासकोंके लिए माताका यही स्वरूप परम आकर्षक तथा अभयप्रद है। उसकी डाढें अत्यंत विस्तीर्ण अतएव घोरा हैं। ऐसी भयावह आकारको धारण करनेवाली वह महामाया-आदि-माया हास्योन्मुखा बनी रहती है। इसके चार हाथ हैं, जिनमेंसे एक हाथमें खड्ग है, एकमें नरमुण्ड है, एक अभयमुद्रासे युक्त है और एकमें ' वर ' है। गर्दन मुण्ड-मालासे सुशोभित है। वह कराल कालके समान जीभ हिलाती हुई मुखसे बाहर निकल रही है। वह दिगम्बरा (नग्न) है और प्रचण्डतम श्मशान ही उसका क्रीडाका स्थान है। '

कालको ' कलन ' (संख्यात्मक गिनती) के लिए यह शक्ति ही प्रेरित करती है, अतएव यह शक्तितत्त्व ' महाकाली ' कहलाया है। इस परमेष्ठीके महाशक्तिरूपा सोमाहुतिसे अलग होते ही सौर ब्रह्माण्ड शक्तिशून्य बन जाता है, यही ब्रह्माण्डकी शवरूपता है। इसीका संकेत ' शवासन ' है। प्रलयकाल ही इसकी विशुद्धावस्था है। ' स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ' (यजुर्वेद) इत्यादि मन्त्रके चतुर्भुज आकाश वृत्तके द्वारा चार भुजाओंको स्पष्ट कर रहा है। नाश-शक्तिका संकेत ' खड्ग ' है, नष्ट होनेवाले प्राणियोंका संकेत ' छिन्नमस्तक ' है, स्थितिसे हटना ही भय है, अभयपदप्राप्ति भी इसीके अनुग्रह पर अवलम्बित है, ' अभयमुद्रा ' इसी अभयभावका संकेत है। विश्वसुख परिवर्तन शील है, परमशिवरूपा तो वही है, ' वर ' भाव इसीका संकेत है। सबकी अंतिम गति वही है, इसी परम-परायणका संकेत ' मुंडमाला ' है। प्रलयावस्थामें वह इस विश्ववस्त्रसे अलग ही हो जाती है, इस अवस्थाका संकेत ' दिगंबरा ' है। जब संपूर्ण विश्व सूर्यके प्रचण्डतापमें भस्मसात् बनकर शवरूप बन जाता है और स्वयं सूर्य भी

परमेष्ठीके समुद्रमें बाष्परूपसे विलीन हो जाता है, उसी अवस्थाका संकेत 'श्मशान' है।

मध्यरात्रिसे आरम्भ कर सूर्योदयसे पूर्व (सूर्योत्पत्तिसे पूर्व) महाकालीका साम्राज्य है। बाद इसीके द्वितीय महिमारूप 'तारा' तत्वका साम्राज्य आ जाता है। भगवान् हिरण्यगर्भ-सूर्यनारायणका ब्रह्म (महाकाल) और सुब्रह्म (महाकाली) रूप प्रथम शिवशक्तिके दाम्पत्यसे जन्म हुआ है। जैसा कि निम्नलिखित श्रुतिमे स्पष्ट है।

" हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ "

(य० १३।४)

'प्रथम हिरण्यगर्भ प्रकटा था, वह भूतोंका स्वामी एक।
वह भू- नभ धारण करता है, पूजें सुखमय देव ही एक ॥'

सृष्टि विद्याके क्रममें उग्रताराका प्राधान्य था अतएव आगमाचार्योंने 'तारा' रूपसे उसकी पुर्वरूपा 'उग्रतारा' को ही आराध्य मान ली है। रुद्रशक्ति उग्रतारात्मिका अक्षोभ्यपुरुषकी महाशक्ति 'तारा' थी तो शिवशक्ति तीसरी महाविद्या 'षोडशी' है क्षरात्मक भुवनोंकी आधारावस्था पञ्चमुखशिवकी शक्ति षोडशी है। और क्षरात्मक भुवनोंकी स्वरूपावस्थाकाही नाम त्र्यम्बक शिवकी शक्ति चौथी 'भुवनेश्वरी' है। यज्ञमें महावन अपने स्वरूपका संरक्षण होता है और प्रवर्ग्य (त्यक्त) से विश्वका आदान-विसर्गात्मक यज्ञकर्म चलता रहता है। इस 'प्रवर्ग्यको ही आगमशास्त्र 'कबन्धपुरुष' कहता है एव इसकी महाशक्ति ही पांचवीं 'छिन्नमस्ता' भगवती है।

दक्षिणदिशाके रुद्र 'दक्षिणामूर्ति कालभैरव' है और इनकी नित्यसंहारिणी शक्तिका नाम 'भैरवी' नामकी छठी महाविद्या है। महावन बननेके धर्मसे अलग होनेकी दशामें नि:स्वरव प्रवर्ग्य 'निऋति' लक्षणा सातवीं 'धूमावती' महाशक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। निगमशास्त्रकी अथर्वप्राणशक्ति जहां- 'कृत्यावल्गा' कहलाई, वहां आगमशास्त्रमें आठवीं 'वल्गामुखी' कहलाई है। जो 'वल्गा' शब्द आज आगममें 'बगलामुखी' नामसे प्रसिद्ध है। तमोमयी दितिपृथिवीकी आठ दिशाओंसे संबंधित तमोमय सर्पणशील (चलनेवाले) वायुमय प्राण ही 'नाग' हैं, ये ही दिग्गज है, जिन एमूषवराहात्मक इन दिग्गज नागोंसे ही धराका पिण्डभाव सुरक्षित है। नागोंके विकम्पित होनेसे ही धरा विकम्पित हो जाती है यही 'मातङ्ग' या मतङ्गभाव है, मतङ्गशिवकी तमोमयी पृथिवीकी वायव्या शक्ति ही नवमी 'मातङ्गी' नामसे प्रसिद्ध हुई है। सातवीं धूमावतीमें तथा दशमी महाविद्या 'कमला' भगवतीमें प्रचण्ड प्रतिस्पर्धा चलती रहती है। वह ज्येष्ठा थी, यह कनिष्ठा है। यह अवरोहिणी थी, यह आरोहिणी या राहिणी है। वह दरिद्राथी, यह सम्पन्ना लक्ष्मी है। रोहिणीनक्षत्रसे ठीक षड्भान्तर पर (१८० अंश पर) अवरोहिणी-ज्येष्ठा है। जिसका रोहिणीमे जन्म होता है, वह समृद्धिशाली बना रहता है। सदाशिवरूप विष्णु की यह कमला अर्धाङ्गिनी है।

उपर्युक्त दश महाविद्याओंका १ स्वयंभू, २ परमेष्ठी, ३ सूर्य, ४ चन्द्रमा, ५ अदितिपृथिवी और ६ दितिपृथिवीके साथ भी समन्वय मान सकते हैं। स्वयम्भूप्रधान परमेष्ठीकी जोडीका १ 'महाकाली' से परमेष्ठीप्रधान बीजात्मक सूर्यका उग्रतारात्मिका 'तारा' से यज्ञात्मक व्यक्त सूर्यके साथ ३ 'षोडशी' का सौर त्रिलोकी रूप सौर ब्रह्माण्डके साथ ४ 'भुनेश्वरी' का सौर प्रवर्ग्यरूप प्रवृक्त (त्यक्त) सूर्यके साथ ५ 'छिन्नमस्ता' का नित्यप्रवर्ग्यरूप त्रिलोकमें रहनेवाले पार्थिव भूतोंके साथ ६ 'भैरवी' का यज्ञसम्बन्धसे बञ्चित्त पृथिवीकी अग्निके साथ ७ 'घूमावती' का, पृथिवीकी प्रतिष्ठारूप घोराङ्गिराके साथ ८ 'वल्गामुखी (बगलामुखी)' का, सूर्यके विरुद्ध दिशावाली तमोमयीदिति पृथिवीके साथ ९ 'मातङ्गी' का एवं दिति और अदितिरूपा पद्मात्मिका पृथिवीके साथ १० 'कमला' का सम्बन्ध माना जायगा। निम्न लिखित नक्शा भी देखिए—

विराट् क्रम

सख्या	संख्या	शक्तिके नाम	अन्य नाम	रात्रिभाव	विद्याभाव	शिवभाव
०	१	महाकाली	आद्या	महारात्रि	महाविद्या	महाकाल पुरुष
१	२	तारा	उग्रतारा	कोपरात्रि	श्रीविद्या	अक्षोभ्यपुरुष
२	३	षोडशी	त्रिपुरसुन्दरी	दिव्यरात्रि	सिद्धविद्या	पञ्चवक्त्रशिव
३	४	भुवनश्वरी	राजराजेश्वरी	सिद्धरात्रि	सिद्धविद्या	त्र्यम्बकशिव
४	५	छिन्नमस्ता	कबन्धा	वीररात्रि	विद्या	कबन्धशिव
५	६	भैरवी	त्रिपुरभैरवी	कालरात्रि	सिद्धविद्या	दक्षिणामूर्ति–कालभैरव
६	७	धूमावती	अलक्ष्मी	दारुणरात्रि	विद्या	केवलाशक्ति
७	८	वल्गामुखी	बगलामुखी	कृत्यारात्रि	सिद्धविद्या	एकवक्लमहारुद्र
८	९	मातङ्गी	श्यामा	विमोहनरात्रि	विद्या	मतङ्गशिव
९	१०	कमला	लक्ष्मी	मोहरात्रि	विद्या	सदाशिव विष्णु

विजयादशमी पर्वका मूलाधार तत्त्व शक्ति–उपासनात्मक, शक्ति पूजनात्मक 'नवरात्र' ही माना गया है, अतएव इस पर्वका अनुष्ठान वसंतऋतुमें नवरात्रके अन्तमें तथा शरद्ऋतुमें नवरात्रके अंतमें ही होता है। जिन दोनों पर्वोंमें प्रधानता शारद–नवरात्रसे युक्त विजयादशमीकी ही मानी गई है। क्योंकि शक्तिसंग्राहक वर्षकी ४० नवरात्रोंमेंसे ४, चारमेंसे २ तथा इनमें भी एक शारदनवरात्र ही प्रमुखरूपसे माना गया है। तभी तो इसे 'महापूजा' कहते हैं। 'नवरात्र' का विशेष वैज्ञानिक विवरण हमारी सत्साहित्य सुमनमालाके ९ वें सुमन 'दुर्गाशप्तशती विज्ञान' में किया है। १

विजयादशमी विधान—

नवरात्रपर्यन्त भगवतीकी मट्टीकी प्रतिमाओंका पूजन, उपवास, व्रत, कन्या-वटुकपूजन और शमीवृक्षपूजन होता हैं। शमीको 'खेजडा' कहते हैं। इस शमीको अग्निगर्भ भी माना गया है। इस वृक्षमें विष्णुशक्ति महालक्ष्मीका निवास माना गया है, अतएव इसे 'लक्ष्मी' भी कहा गया है। निगम भाषामें यही 'विश्वजन्या' नामसे प्रसिद्ध है। शत्रुशमनपूर्वक विजयलक्ष्मीका संस्थापन इसी शमीशक्तिसे संबंधित है। निम्न लिखित निगम वचन इसीका यशोवर्णन कर रहा है—

स वै शमीमयीं प्रथमामादधाति। त एतां शमीमपश्यन्। तयैनं–अग्नि–अशमयन्। तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।

(शतपथ ब्रा. ९।२।३।३७)

" शमीगर्भस्य यो गर्भस्तस्य गर्भस्य यो रिपुः।
रिपुगर्भस्य यो गर्भः स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥ "

इत्यादि सूक्तिसे वर्णित पारमेष्ठ्य विष्णुसे अभिन्ना आगमीय शक्ति ही शमीवृक्षके द्वारा संकेतिता है। अतएव नवरात्रसे युक्त विजयदशमीपर्वमें क्षत्रियराजाके द्वारा प्रजासहित उत्सव यात्रापूर्वक नगरके निकटके वनमें स्थित शमीवृक्षका पूजनभी इस उत्सवका अङ्ग बन गया है। विजयदशमी पर्वके सकल अनुष्ठाता भगवान् रामका गौरवसंस्मरणमें रामकी मूर्तिकी यात्रा आदि आदि अनेक सांस्कृतिक भाव इस पर्वात्मक सांस्कृतिक आयोजनमें समाविष्ट हो गए है। जैसा कि निम्नांकित कतिपय वचनोंसे प्रमाणित है—

अश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां विजयोत्सवः।
कर्तव्यो वैष्णवैः सार्द्धं सर्वत्र विजयार्थिना ॥ १ ॥

रथमारोप्य देवेशं सर्वालङ्कारशोभितम्।
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तञ्चरान्तकम् ॥ २ ॥

स्वलीलया जगत्त्रातुमाविर्भूतं रघूद्वहम्।
राज्योपचारैः श्रीरामं शमीवृक्षतलं नयेत ॥ ३ ॥

सीताकान्तं शमीयुक्तं भक्तानामभयङ्करम्।
अर्चयित्वा शमीवृक्षमर्चयेद्विजयाप्तये ॥ ४ ॥

गृहीत्वा साक्षतामादौ शमीमूलगतां मृदम्।
गीतवादित्रनिर्घोषैस्ततो देवं गृहं नयेत् ॥ ५ ॥

कैश्चिद् ऋक्षैस्तत्र भाव्यं, कैश्चिद् भाव्यञ्च वानरैः ।
कैश्चिद्रक्तमुखैर्भाव्यं कोशलेन्द्रस्य तुष्टये ॥ ६ ॥
निर्जिता रक्षा सा दैत्य वैरिणो जगतीतले ।
रामराज्यं रामराज्यं रामराज्यमिति ब्रुवन् ॥ ७ ॥
आनीय स्थापयेद्देवं निजसिंहासने सुखम् ।
ततोनीराज्य देवेशं प्रणमेद्दण्डवत् भुवि ॥
महाप्रसादवस्त्रादि धारयेद्वैष्णवैः सह ॥ ८ ॥
विविधः श्रीराम विजयोत्सवस्योत्सवकृत्सताम् ।
सीता दृष्टेति हनुमद्वाक्यं श्रुत्वाकरोत्प्रभुः ।
विजयं वानरैः सार्द्धं वासरेऽस्मिन् शमीतलात् ॥ ९ ॥

यह है उस 'विजयादशमीपर्व' नामक सांस्कृतिक-आयोजनकी लोकविधि, जो संकेतविधिके माध्यमसे प्रतिवर्ष पूरी तो कर ली जाती है, किन्तु जिससे संबंध रखनेवाला 'विजयभाव' तो विगत तीन हजार वर्षोंसे महासरस्वतीके उपासक ब्राह्मणके द्वारा, महाकालीके उपासक क्षत्रियके द्वारा एवं महालक्ष्मीके उपासक वैश्यके द्वारा उपहास्यास्पद ही प्रमाणित होता आ रहा है।

राष्ट्रकी पौरुषशक्तियाँ, वीरशक्तियाँ साहसशक्तियाँ और कर्मठशक्तियां इस शून्यवादके जालमें आबद्ध होकर 'जाने दो जाने दो'– पाप लगेगा, –आदि नपुंसकभावोंकी ही अनुगामिनी बन गई है। राष्ट्रका ब्रह्मवर्चस्व गुप्त हो गया, क्षत्रियका भ्राजतेय भग गया, वैश्यका सुम्नभाव सो गया और चतुर्थ वर्णवाला शुम्भभाव दयाका पात्र बन गया है। हम अहिंसा और दयाकी भीख माँगते ही रहे और हिंसक आततायी हम पुरुषार्थ शून्योंका सर्वस्व लूटते ही रहे। संस्कृति गई, साहित्य गया, धर्म गया साहस गया, उद्यम गया पराक्रम गया, बलवीर्य सब कुछ चले गये और रह गए केवल दयनीय-दासभाव।

क्या यही स्वरूप था इस राष्ट्रकी शक्तिपूजनका? क्या यही परिणाम थे इन उत्सव-पर्वोंके आयोजनोंके? क्या नाचगानका ही नाम सांस्कृतिक-आयोजन था? ऐसे ही कुछ प्रश्न इन पर्वोत्सवोंकी यशोगाथाके साथ-साथ प्रत्येक प्रज्ञाशीलके अन्तर्मनमें महती वेदना उत्पन्न कर रहे होंगे। कैसे यह वेदना शान्त हो? कैसे हमारा राष्ट्र सशक्त बने? कैसे यह शक्ति-भक्तिपूर्वक विजयलाभ प्राप्त करें? इत्यादि प्रश्नोंका समाधान इस समय तो सत्तानिरपेक्ष बनकर या सर्वनिरपेक्ष बन कर सबसे पहले भारतीय मूल संस्कृतके स्वरूपका प्रकट होना ही माना जायगा। तदनन्तर इस मूलके माध्यमसे ही अन्यवेनाओंकी निवृत्तिके उपाय भी ढूंढे जा सकेंगे। इसके सिवा अन्यमार्ग नहीं है– नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

वैदिक-वरीयता या वेदमहात्म्य

(लेखक— श्री शोभनाथ पाठक, एम. ए.,)

☆

' वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ' ' सर्वज्ञानमयो हि सः "
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ।

वेद धर्मका मूल है तथा समस्त ज्ञानसे युक्त है । चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत वर्तमान और भविष्य इन सबका परिज्ञान वेदसे होता है । वेद हमारी संस्कृतिके मूलस्रोत हैं, हमारी सभ्यताको उच्चकोटि तक पहुंचानेवाले ग्रंथरत्न हैं । इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहारके अलौकिक उपायको बतलानेवाला ग्रंथ वेद है । वेदोंकी महत्ताको आंकना आसान नहीं है फिर भी भारतीयवाङ्मय वैदिक गरिमाका गान करते करते नहीं अघाता, यथा—

" वेदो ब्रह्म " (जै. उ. ४।२५।३), वेदा एव सविता " (गो. १।१।३३), अनन्ता वै वेदा (तै. ३।१०।११।३) " नावेदविन्मनुते बृहन्तम् (तै. ३।१२।९७ । " सैषा त्रयी विद्या यज्ञः " (श. १।१।४।३), " तद्यत् तत्सत्रयम् त्रयीं सा विद्या " (श. ९।५।१।१८) " सैषा त्रयी विद्या' सौम्याऽध्वरे प्रयुज्यते " (श ४।६।७।१) ' त्रयां वाव विद्यायां ' सर्वाणि भूतानि (श १०।४।२।२२) " वागेवर्ग्वेदः " (श. १४।४।३।१२) " ऋग्वेदाद् गार्हपत्यः " (ष. ४।१) ' स ' प्रजापतिः भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमदत्त । सेयं पृथिव्यभवत् (जै. उ. १।१।३) " इममेव लोकम् ऋचा जयति " (श. ४।६।७।२) क्रमशः अर्थात् वेदही ब्रह्म है और सविता है । वेद अनन्त हैं उनके ज्ञानके बिना मानव ब्रह्मको नही पासकता । त्रयी विद्याही यज्ञ समझी गई है जो कुछ भी सत्य हो उसे त्रयी विद्या कहा गया है । त्रयी विद्या ही सौम्य हिंसा रहित प्रीतिजनक शान्त व्यवहारमें प्रयुक्त मानी गई है । उसीमें समस्त प्राणियों और पदार्थोंकी स्थिति भी स्वीकार की गई है । वाणीका भी ऋग्वेदसे तादात्म्य स्थापित किया गया है । ऋग्वेदसे ही गार्हपत्यकी उत्पत्ति, ऋग्वेदके सारभूत भूः से पृथ्वीकी सृष्टि और तथा उससे ही इस लोकके विजयकी सम्भावना भी बताई गई है । यही नहीं " तस्यैतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः " अर्थात् उस परमेश्वरके निश्वासादि ही ऋग्वेद हैं । श्रीमद्भागवत (६ १।४०) मे तो कहा गई है " वेदो नारायण. साक्षात् तथा स्वयं भगवान् कृष्णानें गीतामें कहा है " वेदैश्च सर्वैरहमेव: वेद्य:, " मनुस्मृतिकारने तो कहा है " धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ' अर्थात् धर्मविषयक जिज्ञासाके समाधानके लिए श्रुति ही प्रमाण है और अंतत. वेदकी महत्ताकी पराकाष्ठाको पहुचाते हुए महाराज मनुने कहा है :—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।

(मनुस्मृति १२।१०२)

भारतीय आध्यात्मिक जीवन एवं उसके सांस्कृतिक विकास तथा समुत्कर्षके अध्ययनके लिए वैदिक–साहित्यका गहन अध्ययन आवश्यक है, इसके इसी महत्तासे प्रभावित होकर तो पाश्चात्य विद्वान विंटरनिट्जने कहा है " It we wish to learn to understand the beginning of our own cultnre, if we wish to understand the oldest Indo-European. cultnre we must go to India where the oldest literature of an Indo-European people is preserved " अर्थात् यदि हम अपनी ही संस्कृतिके प्रारम्भिक दिनोंकी अवस्थाको जाननेके इच्छुक हैं, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृतिको समझना चाहते हैं तो हमें भारतकी शरण लेनी होगी, जहा एक भारोपीय जातिका सबसे पुराना

साहित्य सुरक्षित है" इस प्रकार अनेक पाश्चात्य विद्वानोंने वैदिक साहित्यकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करते हुए, उसके पठन पाठनमें स्वयंको अर्पित कर स्वर्गीय सुखको प्राप्त किया है।

भारतीय वैदिकसाहित्यके सम्मुख विश्वका समस्त साहित्य फीका पड जाता है। इसकी महत्ताके विषयमें वैदिकसाहित्यके प्रकांड विद्वान् डा० मंगलदेव शास्त्रीनें कहा है कि " उस वाङ्मयमेंसे यदि हम केवल ऋग्वेदको ही ले लें तो उसका भी महत्त्व संसारके किसी भी प्राचीन स्मारकसे कहीं अधिक है, न केवल अपनी प्राचीनताके ही कारण या न केवल अपने साहित्यिक या भाषा-विज्ञान सम्बन्धी महत्त्वके कारण, अपितु मनुष्यजीवनमें प्राणप्रद और आशामय स्फूर्ति को देनेवाले अपने सार्वभौम और सार्वजनिक सदेशके कारण भी। भारतवर्षके लिए तो उस समस्त वाङ्मयका अनेक दृष्टियोंसे बडा महत्त्व है। उसी वाङ्मयमें पाणिनी मुनिकी अष्टाध्यायी जैसे अद्भुत ग्रन्थरत्न भी सम्मिलित हैं, जिनकी अपने अपने क्षेत्रमें उत्कृष्टता विदेशी विद्वानोंको आज भी आश्चर्यान्वित करती है" यही नहीं वरन् डॉ० शास्त्रीने पुनः कहा है कि वैदिकधाराकी साहित्यिक देन और प्रभावका क्षेत्र उसके अपने वाङ्मयसे ही परिमित नहीं है। वैदिक वाङ्मयके अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्यका जो महान् विस्तार हुआ है उसपर भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूपसे वेदोंका तथा वैदिक धाराका महान् प्रभाव पडा है ......प्राचीन परम्पराके अनुसार भी इनका क्रमसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेदसे सम्बन्ध है।" कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें कहा है:-

" व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्यादिरक्षितो लोकः प्रसीदति, न सीदति ॥

अर्थात् आर्यमर्यादाएं जिसमें व्यवस्थित हैं वर्णधर्म और आश्रमधर्म जिसमें पाले जाते हैं, जो वेदोंसे रक्षित है ऐसा लोक प्रसन्न ही रहता है, दुःख नहीं पाता। कहनेका तात्पर्य कि वेदादिका जहां आदर है वहां स्वर्गीय आनन्द है क्योंकि वेद ही अध्यात्मके निर्मल मानसरोवर हैं, जिनसे प्रवाहित ज्ञानकी स्रोतस्विनी समस्त सृष्टिको संतुष्टकर परमशांति प्राप्त करानेमें सक्षम है। वर्तमानका आकुल व घुटन भरा विश्वका वातावरण, जिससे अणु-परमाणु बमोंकी दुर्गंध आती है, दानवता मानवताको निगलने हेतु आतुर है द्वेष, प्रतिशोध स्वार्थ, व संघर्षकी लपलपाती लौ युगको भस्मसात् करनेको आतुर है ऐसी विषम परिस्थितिमें वेदोंके आध्यात्मिक ज्ञानार्जनसे ही इस भौतिकविलासमें लिप्त युगका कल्याण संभव है।

× × ×

संस्कृतभाषाके प्रचारमें आर्यसमाजका योगदान

(लेखक— डॉ. भवानीलाल भारतीय)

卐

संस्कृतभाषाके शिक्षणमें व्याकरणका ज्ञान अपरिहार्य माना गया है व्याकरणको सदा ही संस्कृतपाठ्यक्रममें महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। संस्कृत व्याकरणके प्रमुख ग्रन्थोंके छात्रोपयोगी संस्करण तैयार करनेमें आर्यसमाजी विद्वानोंका जो योगदान रहा है उसका यहां किञ्चित् उल्लेख किया जाता है—

१ गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगडीने छात्रोपयोगी दृष्टिसे महर्षि पाणिनि कृत धातुपाठ (मूल)[1], अष्टाध्यायी (मूल) तथा अष्टाध्यायी पर दो भागोंमें सरल संस्कृत टीका प्रकाशित की। इनके अतिरिक्त नामिक, (गंगादत्त शास्त्री) संधि विषय और आख्यातिक, स्त्रैणतद्धित (वेदांगप्रकाशके भाग) के संस्करण संस्कृत टीका तथा टिप्पणियों सहित भी प्रकाशित किये। गुरुकुलके स्नातक धर्मदेव वेदवाचस्पतिने ' सरल धातु रूपावली ' और ' सरल शब्दरूपावली ' लिखी, जिसे गुरुकुलके प्रकाशन विभागने प्रकाशित किया। महाभाष्यके पस्पशान्हिक अंगाधिकार[2] आदि अनेक प्रकरणोंको भी गुरुकुलसे पृथक्‌रूपेण प्रकाशित किया गया।

२ पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासुने रामलाल कपूर ट्रस्टके तत्त्वावधानमें अष्टाध्यायी (मूल), अष्टाध्यायी भाष्य (प्रथमावृत्ति और द्वितीयावृत्ति) लिख कर प्रकाशित कराई। अष्टाध्यायीका सुगम ज्ञान प्राप्त करनेकी दृष्टिसे जिज्ञासुजीके अन्तेवासी पं. देवप्रकाश पातञ्जलने ' अष्टाध्यायीप्रकाशिका' लिखी।

३ पं. जीवाराम उपाध्यायने लघुकौमुदी मूल और टीका, सिद्धान्तकौमुदी टीका, अष्टाध्यायी मूल और भाष्य लिखा और स्वयंने ही प्रकाशित किया। उनका अष्टाध्यायी भाष्य संस्कृत भाषामें लिखा गया था।

४ गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर द्वारा ' शब्दधातु पद्यावली ' तथा चार भागोंमें अष्टाध्यायी भाष्य छापा गया।

संस्कृतके प्राचीन साहित्यग्रन्थ पाठ्यक्रममें सदासे रहते आये हैं। आर्यसमाजी शिक्षण संस्थाओं तथा शिक्षाविदोंने इनके अनेक उपयोगी संस्करण छात्रोंके लाभकी दृष्टिसे तैयार किये हैं। निम्न विवरणमें ऐसे ग्रन्थोंका उल्लेख हुआ है—

१ गुरुकुल कांगडीके तत्त्वावधानमें प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ सम्पादित होकर छात्रोपयोगी संस्करणोंके रूपमें प्रकाशित हुये। उनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—

१ हितोपदेशका संशोधित गुरुकुलीय संस्करण

२ पञ्चतंत्रका संशोधन पं. विष्णुमित्रने किया और यह ग्रन्थ १९८१ वि. में दो भागोंमें छापा।

३ भर्तृहरिकृत नीतिशतकका संशोधित पाठ्योपयोगी संस्करण।

२ पं. जीवाराम उपाध्यायने निम्न संस्कृत ग्रन्थोंके पाठ्योपयोगी संस्करण तैयार किये—

१ रामायण और महाभारतके संक्षिप्त संस्करण—

२ विद्यापतिकृत पुरुषपरीक्षा (१९८१ वि. में प्रकाशित)

---

१ सद्धर्म प्रचारक यंत्रालय जालंधरसे १९६३ में मुद्रित

२ महाभाष्यम् – अङ्गाधिकार: – श्रीमत्पतञ्जलिमुनिना प्रणीतम् महामहोपाध्याय श्री कैयटरचितप्रदीपेन व्याख्ययोपेतम्।

+

३ भर्तृहरिकृत नीतिशतकम् (१९८३ वि. मे प्रकाशित)

४ हितोपदेश– छात्रबोधिनी टीका (१९८२ वि. में प्रकाशित)

५ रघुवंश–सर्ग चतुष्टयम्– छात्रबोधिनी टीका

६ किरातार्जुनीयम्– आद्य सर्गत्रयम्

७ शिशुपालवध– सर्गद्वयम्

९ श्रुतबोध सतिलकम् १० चाणक्यनीति ५ पंचतंत्र ७ मेघदूत १२ तर्कसंग्रह भाषा टीका १३ न्यायबोधिनी १४ हलायुधप्रणीत कविरहस्यम् १५ विदुरनीति[1] इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त जीवाराम उपाध्यायने अमरकोष और सरस्वती कोषके सम्पादित संस्करण तैयार किये तथा ' संस्कृत पत्र प्रबोध ' की रचना की ।

३ डी ए. वी. कालेज, लाहौरसे ' रामायण संग्रह ' छपा। इसमें वाल्मीकीय रामायणके पाठ्योपयोगी स्थलोंका संग्रह किया गया था। यहांसे ' मनुस्मृति संग्रह ' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ भी छापा गया, जिसमें ' मनुस्मृति ' के कुछ अंशोंको पाठ्यक्रमकी दृष्टिसे संकलित किया गया था।

अब तक हमने संस्कृतभाषाके शिक्षण और अध्ययनके लिये आर्यसमाजके द्वारा किये गये प्रयत्नोंका विचार किया। संस्कृत भाषाके प्रचारार्थ आर्यसमाजने जिन आन्दोलनात्मक प्रवृत्तियोंको संचालित किया, अब उनका उल्लेख किया जायगा। संस्कृतके अधिकाधिक प्रचार तथा उसे जनव्यापी बनाने हेतु आर्यसमाजने प्रेस और प्लेटफार्मका उपयोग किया है। आर्यसमाज संस्कृतकी कई पत्र–पत्रिकायें प्रकाशित करता है। इनका विवरण इस प्रकार है।

उषा– १९१३ में गुरुकुल कांगडीके प्रथम स्नातक हरिश्चन्द्र विद्यालंकारके सम्पादकत्वमें इस संस्कृत मासिक पत्रिकाका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १९१६ में प्रकाशन स्थगित हो गया, पुनः १९१८ में प्रारम्भ होकर १९२० तक चलता रहा। इस कालमें इसके सम्पादक पं. शशिभूषण विद्यालंकार रहे। ४८ पृष्ठोंवाली इस पत्रिकामें काव्य, गीत, समीक्षा, शास्त्रचर्चा, निबंधादिका प्रकाशन होता था। गुरुकुलके प्राध्यापकों तथा छात्रोंकी रचनायें इस पत्रिकामें प्रमुखस्थान प्राप्त करती थीं। प्रयागसे प्रकाशित होनेवाली संस्कृत मासिकपत्रिका ' शारदा ' में ' उषा ' के सम्बन्धमें निम्न पंक्तियां मिलती हैं— " इमामुषामवलोक्य सञ्जातः कोऽपि मधुरो हृदि मनोरथाङ्कुरः "।

देववाणी– गुरुकुलकांगडी संस्कृतविभागके तत्त्वावधानमें ' संस्कृतोत्साहिनी ' नामकी सभा १९१८ में स्थापित हुई। इस सभाकी मासिक पत्रिकाके रूपमें १९१८ से हस्तलिखित पत्रिका ' देववाणी ' प्रकाशित होने लगी। संस्कृतकी सरस रचनायें इस पत्रिकामें स्थान प्राप्त करती थीं। द्रव्याभावके कारण यह पत्रिका मुद्रित होनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकी। ' देवभिक्षु ' उपाधि धारण करनेवाले श्री भीमसेन इसके सम्पादक थे।

गुरुकुलपत्रिका–गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगडीकी मासिक मुखपत्रिका ' गुरुकुलपत्रिका ' का प्रकाशन १९४८ में प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भमें यह हिंदीकी ही पत्रिका थी। परन्तु १९६०में इसे संस्कृतपत्रिका बना दिया गया। प्रारम्भमें इसके सम्पादक आर्यसमाजके उच्चकोटिके संस्कृतज्ञ विद्वान् पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड रहे। १९६३ से इसमें संस्कृतके साथसाथ हिन्दी-की रचनायें प्रकाशित होने लगीं। इस समय इसके सम्पादक गुरुकुल कांगडीके शोधविभागके अध्यक्ष पं. भगवद्दत्त वेदालंकार हैं। गुरुकुलपत्रिकामें विविध विषयों पर रोचक सामग्री संस्कृतके माध्यमसे प्रस्तुत की जाती है। गुरुकुलके छात्रोंको अपनी संस्कृत रचनाओंको प्रकाशमें लानेका इस पत्रिकाके द्वारा अनुपम अवसर प्राप्त हो जाता है। गुरुकुल पत्रिकामें संस्कृत निबंध, लघुकाव्य, कहानी, एकांकी, समालोचना आदि संस्कृत साहित्यकी विविध विधाओंसे सम्बन्धित रचनायें प्रकाशित होती हैं। इसके अतिरिक्त नवीन प्रकाशित पुस्तकोंकी समीक्षा तथा सामयिक प्रश्नों और समस्याओं पर विचारोत्तेजक सम्पादकीय लेख भी ' पत्रिका ' के आकर्षणकी वृद्धि करते हैं। गुरुकुल-पत्रिकाने समय समय पर विशेषांकोंका भी प्रकाशन किया है। इनमें विष्णु अंक, शिक्षा विशेषांक, वेदअंक आदि उल्लेखनीय हैं। इस पत्रिकामें इन्द्र विद्यावाचस्पति रचित ' भारतैतिह्यम् ' काव्य, डा. मंगलदेव शास्त्री रचित ' रश्मिमाला ' काव्य, पं. द्विजेन्द्रनाथशास्त्री रचित ' स्वराज्य-विजय ' महाकाव्य तथा पं. जयदत्त शास्त्री रचित ' सिद्धान्त-शतक ' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ धारावाहिकरूपसे प्रकाशित हुये हैं।

अमृतलता— स्वाध्यायमण्डल (पारडी) से पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरके[2] सम्पादनमें संस्कृतकी यह त्रैमासिक

१ सरस्वती प्रेस, मुरादाबादसे १९३५ में प्रकाशित

१ पं. सातवलेकरजीका गत वर्ष स्वर्गवास हो गया।

पत्रिका गत २ वर्षोंसे प्रकाशित हो रही है। उसके परामर्श-दातृमण्डलमें म. म. दत्तोवामन पोतदार, डा. मंगलदेवशास्त्री, स्वामी भगवदाचार्य तथा डा. सुधीरकुमार गुप्त जैसे ख्याति-प्राप्त संस्कृतज्ञ विद्वान् हैं। 'अमृतलता' में गम्भीर विवेचनात्मक लेखोंके अतिरिक्त हल्के फुल्के निबंध, एकांकी, कवितायें आदि भी प्रकाशित होती हैं। परिशिष्टमें सुगम रीत्या संस्कृतभाषाका ज्ञान प्राप्त करानेके लिये भाषा शिक्षणके पाठ भी रहते हैं। 'विश्ववृत्तम्' नीरक्षीरविवेक (नवीन प्रकाशित ग्रन्थोंकी समालोचना) जैसे स्थायी स्तम्भ पत्रिकाकी विशेषतायें हैं।

भारतोदय–गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुरका यह मासिक मुखपत्र कई वर्ष पूर्व हिन्दीमें प्रकाशित होता था। बीचमें उसका प्रकाशन बंद हो गया। अब १९६२ से पुनः महाविद्यालयके पुराने स्नातक तथा लब्धप्रतिष्ठ संस्कृत विद्वान् डा. हरिदत्त शास्त्रीके सम्पादकत्वमें संस्कृतमें प्रकाशित होने लगा है। डा. हरिदत्तशास्त्रीने इससे पूर्व १९३६ ई. में आगरासे 'कालिन्दी' नामक एक त्रैमासिक संस्कृतपत्रिका निकाली थी। भारतोदयका सिद्धान्त वाक्य निम्नलिखित है–

निशम्यतां लेखलालमसञ्चयः
प्रकाशने येन कृतोऽतिनिश्चयः।
गृहीतसद्धर्मविशेषसंश्रय-
श्चकास्ति सोऽयं भुवि भारतोदयः॥

भारतोदयमें महाविद्यालयके विद्यार्थियोंकी रचनाओंके अतिरिक्त संस्कृतके *अन्य आर्यसमाजी तथा समाजेतर विद्वानों* की रचनायें प्रकाशित होती हैं। इस प्रसंगमें ब्रह्मचारी सुरेशचन्द्र लिखित रक्षाबंधनम्[1] तथा ब्रह्मचारी आत्मानन्द रचित कृष्णोत्सव[2] जैसे लघु निबंधोंके अतिरिक्त स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक लिखित 'अथर्ववेदेऽतियये मांसभोजन-समर्पणसन्देहस्य विवेचनम्'[2] किं महीदासः शूद्र आसीत्? (दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत लिखित) जैसे गम्भीर लेखोंका उल्लेख किया जा सकता है। इस पत्रिकामें संस्कृत-की लघु कवितायें भी छपती हैं।

कई वर्ष पूर्व गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुरसे 'विद्वत्कला' नामक हस्तलिखित संस्कृत पत्रिकाका प्रकाशन हुआ है। इसमें भी उदीयमान ब्रह्मचारी छात्रोंकी रचनाओंको प्रमुख-स्थान मिलता था। ब्र. शिवदत्त और ब्रह्मचारी सच्चिदानन्द शर्मा इसके सम्पादक थे। आर्यसमाजकी संस्कृत पत्र पत्रिका-ओंसे संस्कृतभाषाके प्रचारमें निश्चित सहायता मिली है।

संस्कृतभाषा और उसके साहित्यके प्रचारमें आर्यसमाजके पुस्तक–प्रकाशनसंस्थानोंका योगदान भी कम नहीं है। आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दने स्वयं ही वैदिक-यंत्रालयकी स्थापना इसी ध्येयकी पूर्ति हेतु की थी। स्वामीजीके पत्रोंसे यह विदित होता है कि इस यंत्रालयको स्थापित करनेमें उनका मुख्य प्रयोजन वैदिकशास्त्रोंको सर्वजन सुलभ बनाना ही था। वे इसे संस्कृतशास्त्रोंके प्रकाशनका एक मुख्यकेन्द्र बनाना चाहते थे। अविभाजित पंजाबकी राजधानी लाहौर भी एक समय संस्कृतविद्याका केन्द्र था। आर्यसमाज की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियोंका संचालन भी लाहौरसे ही होता था। विरजानन्द प्रेस लाहौरने चारों वेदोंके सुन्दर संस्करण दुरंगी छपाईमें प्रकाशित किये। इसी प्रेससे वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपादाचार्यका पदार्थ धर्म संग्रह[1] छपा।

आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध संन्यासी स्वामी दयानन्दने, अपने संन्यासी पूर्व जीवनमें जब वे पं. कृपाराम शर्मा थे, काशीमें तिमिरनाशक प्रेसकी स्थापना की। यहांसे उन्होंने संस्कृत व्याकरणके काशिका[2] और महाभाष्य, जैसे ग्रन्थ प्रकाशित कर छात्रोंको अल्प मूल्यमें दिये जो अन्यत्र छापे प्रकाशन संस्थानोंसे अधिक मूल्य पर उपलब्ध होते थे। आर्यसाहित्य मण्डल, अजमेरने मूलवेदोंके अतिरिक्त चारों वेदोंका सरल हिन्दी भाष्य प्रकाशित किया। प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभाओंके अन्तर्गत भी पृथक् पृथक् साहित्य विभाग हैं, जहांसे अन्य धार्मिक साहित्यके साथ संस्कृत और वैदिक साहित्यके महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी प्रकाशित होते हैं। ऐसे साहित्य विभागोंमें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाबका चमूपति साहित्यविभाग, आर्य प्रादेशिक सभाका महात्मा हंसराज आर्य साहित्य विभाग तथा उत्तरप्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभाका घासीराम प्रकाशनविभाग उल्लेखनीय हैं।

यहांसे छापे अन्य महत्त्वपूर्ण संस्कृत शास्त्रीय ग्रन्थोंमें वैशेषिक उपस्कार, न्याय वात्स्यायनभाष्य, योगदर्शनका

---

१ भारतोदय–आश्विन कार्तिक २०२३ वि.   २ भारतोदय–पौष २०२३ वि

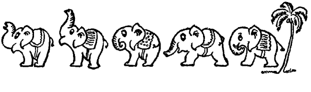
१ वैशेषिकदर्शनस्य प्रशस्तपाद भाष्यम्- महामुनिगोतमाचार्येण विरचितम् श्रीयुतपण्डितलेखरामेण महत्परि-श्रमेणान्वेष्य श्रीमत्पण्डितगणेशदत्तशास्त्रिणः सकाशादानीतम्। लवपुरे विरजानन्दयंत्रालये मुद्रितम्। स्वामी दयानन्दके सत्यार्थप्रकाशमें निर्दिष्ट संकेतके अनुसार प्रशस्तपादके इस ग्रन्थको गौतममुनि प्रणीत कहा गया है।

२ काशिकाका पाठान्तर तथा टिप्पणी तैयार करनेमें पं. गंगादत्त शास्त्रीकी सहायता मिली।

व्यासभाष्य, सांख्य पर विज्ञानभिक्षुकृत प्रवचनभाष्य (अनिरुद्धवृत्ति सहित), तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (मूल मात्र) एव पारस्कर गृह्यसूत्र मूल उल्लेखनीय है। आर्यसमाजके वर्तमान प्रकाशन संस्थानोंमें विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर, स्वाध्यायमण्डल (पारडी), गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगडी, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली, सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली, श्रीरामलालकपूर ट्रस्ट अमृतसर, आर्यसाहित्य मण्डल, अजमेर, तथा गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली आदि उल्लेखनीय हैं। इन सभी प्रकाशकोंने संस्कृतभाषा और वैदिक वाङ्मयके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हे।[5]

जहांतक संस्कृतभाषाके प्रचारार्थ आंदोलनात्मक प्रणालीका प्रश्न है, आर्यसमाजने इस सम्बन्धमें भी पर्याप्त कार्य किया है। संस्कृतके पक्षमें जनमानसको आकृष्ट करने तथा उसके प्रति लोगोंमें अधिकाधिक रुचि उत्पन्न करनेके लिये आर्यसमाज सदासे क्रियाशील रहा है। आर्यसमाजोंके वार्षिक उत्सवों, प्रतिनिधि सभाओंके वार्षिक सम्मेलनों, गुरुकुलोंके वार्षिक महोत्सवों तथा अखिल भारतीयस्तर पर आयोजित किये जानेवाले आर्यमहासंमेलनोंके अवसर पर संस्कृतसम्मेलनोंका आयोजन किया जाता रहा है। इन सम्मेलनोंमें आर्यसमाजेतर संस्कृतज्ञ विद्वानोंको भी आमंत्रित किया जाता है तथा संस्कृतभाषाके व्याकरणप्रचार हेतु अपनाये जानेवाले साधनोंका गम्भीरतासे विचार होता है। गुरुकुलोंकि उत्सवों पर छात्रोंमें संस्कृतके प्रति रुचि उत्पन्न किये जानेके लिये वादविवाद प्रतियोगिताओं, भाषणप्रतियोगिताओं, सरस्वती सम्मेलनों तथा अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताओंका आयोजन किया जाता है। इस प्रकारके सरस्वती सम्मेलनोंमें भाग लेनेवाले छात्र वेदोंका सस्वरपाठ आदिका भी प्रदर्शन करते हैं। गुरुकुलोंके ये सरस्वती सम्मेलन जहां छात्रोंको संस्कृतके प्रति प्रोत्साहित करते हैं वहां उनसे सामान्य लोगोंमें भी संस्कृतके प्रति रुचि उत्पन्न करनेमें सहायता मिलती है। गुरुकुलकांगडीमें संस्कृतकी उन्नति हेतु ' संस्कृत साहित्य परिषद् ' का संगठन किया गया था, जिसके तत्त्वावधानमें प्रतिवर्ष प्रतिष्ठित विद्वानोंको महत्त्वपूर्ण विषयों पर संस्कृत निबंध पाठादिके लिये आमंत्रित किया जाता था।×

निश्चय ही भारतके जनसमाजमें संस्कृतको सुप्रतिष्ठित करनेके लिये आर्यसमाजके प्रयास श्लाघनीय रहे हैं।



× छात्रोंमें संस्कृतभाषणके अभ्यास हेतु गुरुकुल कांगडीमें संस्कृतोत्साहिनी तथा देवगोष्ठी जैसी सभाओंका आयोजन किया जाता रहा है, जिनके तत्त्वावधानमें संस्कृत कविसम्मेलन, संस्कृत साहित्यसम्मेलन आदि आयोजित होते रहे हैं।



卐

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाजकी संस्कृत-साहित्यको देन— लेखक- डॉ. भवानीलालजी भारतीय एम. ए. पीएच्, डी, प्रकाशक— श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, गुरुबाजार, अमृतसर पृ. सं. ३८०, मू. ६)

ऋषिदयानन्द एवं उनकी संस्था आर्यसमाजने ऐसा कोई क्षेत्र नहीं छोडा, जो उनसे अछूता रह गया हो। स्वयं गुजराती होते हुए भी महर्षिने अपन कार्यका माध्यम हिन्दी को ही बनाया। वे हिन्दीको ही भारतकी भाषाके रूपमे देखना चाहते थे। प्रथम उन्होंने अपने प्रचार कार्यकी भाषा संस्कृत रखी, और वे चाहते थे कि संस्कृतको ही भारतकी राष्ट्रभाषा घोषित की जाए। पर बादमें जाकर उन्होंने अपने सन्देशोंको साधारण जनतातक पहुंचानेकी दृष्टिसे हिन्दीको अपने प्रचारका माध्यम बना लिया। उनकी सभी पुस्तकें संस्कृत हिन्दीमें ही हैं।

आधुनिक हिन्दीसाहित्य अपनी समृद्धिके लिए महर्षि दयानन्दका सदैव ऋणी रहेगा। श्री लक्ष्मीनारायण गुप्तने ' हिन्दीभाषा और साहित्यको आर्यसमाजकी देन " नामक अपने शोधप्रबन्धमें यह स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दी-साहित्य अपनी श्रीवृद्धिके लिए महर्षिका कितना आभारी है। इसीतरह हिन्दीभाषाकी जननी संस्कृत भी महर्षिकी आराध्यभाषा रही है। उन्होंने अपने अनुयायियोंको इस बातके लिए प्रेरणा दी कि वे सभी संस्कृतभाषाका अध्ययन करें। इसके लिए उन्होंने " संस्कृतवाक्यप्रबोधः " नामक एक छोटीसी पुस्तिकाकी भी रचना की।

महर्षि एवं आर्यसमाजके संस्कृतभाषाके साहित्यको समृद्ध बनानेके प्रयत्नोंका इतिहास बडा ही लम्बा है। उन्होंने जीवनकालमें जितने संस्कृतग्रंथ रचे, उनके अलावा उनके अनुयायियोंके द्वारा समय समय पर रचे जानेवाले संस्कृत ग्रन्थोंकी शृंखला अटूट चली आ रही है। इसका इतिहास हमें आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध मनीषी डॉ. भवानीलालजी भारतीयके अद्वितीय ग्रंथ "ऋषि दयानन्द और आर्यसमाजकी संस्कृत साहित्यको देन " में दिखाई पडता है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'राजस्थान विश्वविद्यालय' में पी एच्-डी. के लिए प्रस्तुत शोधप्रबन्धका परिशोधित एवं परिवर्धित प्रथम संस्करण है। इसमें लेखकने बडी ही विद्वत्तासे आर्यसमाजके द्वारा रचित संस्कृतग्रंथोंका अन्वेषण एवं समालोचन करके यह सिद्ध किया है कि आर्यसमाजके कार्यसे संस्कृतभाषा विस्तृत हुई है।

प्रस्तुत ग्रंथ आठ अध्यायोंमें विभक्त है—

प्रथम अध्यायमें संस्कृत भाषा एवं साहित्यके इतिहासकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत है, तथा बीचमें संस्कृत साहित्यके गत्यवरोधके कारणोंकी भी विवेचना की गई है।

द्वितीय अध्यायमें आयप्रमाजकी पूर्ववर्ती संस्थायें ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज आदिकी राजनैतिक एवं सामाजिक आन्दोलनकी पृष्ठभूमिका परिचय देते हुए उनमें आर्यसमाजका स्थान निश्चित करके संस्कृतसाहित्यके क्षेत्रमें आर्यसमाजके कार्यकी गुरुता बताई गई है।

तृतीय अध्यायमें आर्यसमाजके संस्थापक महर्षिका जीवन चरित्र एवं संस्कृतभाषाके प्रति उनकी रुचिका विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्यायमें महर्षिके द्वारा संस्कृतका अध्ययन, रचित ग्रंथ, उनके द्वारा निश्चितकी गई संस्कृतकी पाठविधि एवं स्थापित किए गए संस्कृत पाठशालाओंका संक्षिप्त इतिहास है।

पंचम अध्यायमें आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत साहित्य पर शास्त्रीय साहित्यकी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

छठे अध्यायमें आर्यसमाजी कवियों एवं साहित्यकारों द्वारा रचित साहित्यका विशद मूल्यांकन है।

सप्तम अध्यायमें आर्यसमाजके द्वारा किए गए शोध कार्योंकी विशद विवेचना है।

अष्टम अध्यायमें संस्कृतभाषाके शिक्षण एवं प्रचारके हेतु अपनाये गए साधनों और कार्यक्रमोंकी विस्तृत समीक्षा है।

इस ग्रंथके अन्तमें इस ग्रंथ लेखनमें उपर्युक्त ग्रंथोंकी एक बृहद्सूची तथा आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा समय-समय पर लिखे गए शोध प्रबन्धोंकी सूची भी दी गई है।

यह ग्रंथ एक अद्वितीय ग्रंथ है। इसमें शोधकी एक नवीन दिशाकी ओर संकेत किया गया है। लेखकने हाथमें लिए गए विषयका जिस बुद्धिमत्ता एवं सुन्दरतासे प्रतिपादन किया है, वह प्रशंसनीय अत्यधिक प्रशंसनीय है। इस ग्रंथमें हमें सच्चे शोधके दर्शन होते हैं। इस ग्रंथकी रचना करके लेखकने इतर शोधकर्ताओं एवं विद्वानोंको जो एक नई दिशा प्रदान की है, उसकेलिए लेखक अभिनन्दनीय है। उनकी शोध प्रणाली भी प्रेरणीय है। ऐसे ग्रंथके प्रकाशनके लिए प्रकाशक भी हमारे अभिनन्दनके पात्र हैं।

व्याकरणसाहित्य प्रकाश— लेखक- श्री नारायण-शास्त्री कांकर, प्रकाशक अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर, पृ. ९६५ मूल्य- १५).

संस्कृत व्याकरण पर आज तक अनेकों ग्रंथ प्रकाशित अवश्य हुए, पर या तो वे अधिकतर संस्कृतमें ही थे, अथवा हिन्दीमें जो प्रकाशित भी हुए, वे इतने विस्तृत एवं सुबोध सिद्ध नहीं हुए। इस न्यूनताकी पूर्ति आयुर्वेदिक कॉलेज, जयपुरके प्रवक्ता प्रथा सुप्रसिद्ध संस्कृतके लेखक श्री नारायण शास्त्री कांकरने कर दी है। उनकी यह पुस्तक सर्वांगपूर्ण कही जा सकती है। इसमें संस्कृत व्याकरण साहित्यके सभी अंशों पर भरपूर प्रकाश डाला गया है। संस्कृतके व्याकरण-को, जो बहुत ही क्लिष्ट समझा जाता है, श्री शास्त्रीजीने बहुत ही सरलतासे समझा दिया है। अब विद्यार्थियोंके लिए संस्कृत व्याकरणकी कोई समस्या नहीं रह जाएगी। प्रत्येक विद्यार्थी एवं पुस्तकालयके द्वारा संग्रहणीय पुस्तक है।

[१०]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः । छन्दः- पदपंक्तिः; ४, ६, ७, उष्णिग्वा; ५ महापदपंक्तिः, ८ उष्णिक् ।]

१२५ अग्ने तमद्याऽश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् । ऋध्यामा त ओहैः ॥ १ ॥
१२६ अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः । रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ २ ॥
१२७ एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्व१र्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ ३ ॥
१२८ आभिष्टे अद्य गीर्भिर्गृणन्तो ऽग्ने दाशेम ।
प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः ॥ ४ ॥
१२९ तव स्वादिष्ठा ऽग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः ।
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके ॥ ५ ॥

[१०]

अर्थ— [१२५] (अग्ने) हे अग्ने ! (अद्य) आज हम (ओहैः स्तोमैः) प्रशंसनीय स्तोत्रोंके द्वारा (अश्वं न) घोडेके समान वेगवान् और (क्रतुं न भद्रं) यज्ञके समान कल्याणकारी तथा (हृदिस्पृशं) अन्तस्तलमें निवास करनेवाले (तं ते ऋध्यामः) उस तुझको बढाते हैं ॥ १ ॥

[१२६] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (अधा हि, भद्रस्य, दक्षस्य साधोः) इस समय हमारे कल्याणकारक बलको सिद्ध करनेवाले (ऋतस्य, बृहतः क्रतोः रथीः बभूथ) सत्यके आधाररूप, महान् यज्ञको प्रेरणा देनेवाला है ॥ २ ॥

१ रथीः— प्रेरक, प्रेरणा देनेवाला ' रंहतेर्गतिकर्मणः '

२ बृहतः क्रतोः भद्रस्य दक्षस्यः साधुः— महान् यज्ञ या कर्मसे कल्याणकारी बलकी प्राप्ति होती है ।

[१२७] हे (अग्ने) अग्ने ! (स्वः न ज्योतिः विश्वेभिः अनीकैः सुमनाः) सूर्यके समान प्रकाशसे युक्त सम्पूर्ण एवं श्रेष्ठ अन्तःकरणवाला तू (नः एभिः अर्कैः) हम लोगोंके इन अर्चनीय स्तोत्रों द्वारा (नः अर्वाङ् भव) हम लोगोंकी ओर आ ॥ ३ ॥

[१२८] हे (अग्ने) अग्ने ! (अद्य आभिः गीर्भिः गृणन्तः ते दाशेम) आज इन स्तुति वचनोंके द्वारा तेरी स्तुति करते हुए तुझको हव्य प्रदान करें । (ते दिवः शुष्माः प्र स्तनयन्ति) तेरी तेजस्वी ज्वालायें शब्द करती हैं ॥ ४ ॥

[१२९] हे (अग्ने) अग्ने ! (तव स्वादिष्ठा संदृष्टिः) तेरी परमप्रिय कान्ति (अह्नः इदा चित् अक्तोः इदा चित्) चाहें दिन हो अथवा रात्री हो, दोनों समयोंमें (रुक्मः न श्रिये उपाके रोचते) अलंकारके समान प्रकाश करनेके लिए समीप ही सुशोभित होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह अग्नि घोडेके समान वेगवान् और यज्ञके समान कल्याण करनेवाला है, अतः इसे सदा हवि आदियों द्वारा बढाना चाहिए ॥ १ ॥

कल्याणकारक बलको देनेवाले तथा सत्यके आधाररूप यज्ञको यह अग्नि अपनी प्रेरणासे बढाता है, इसीलिए यह यज्ञका नेता है ॥ २ ॥

हे अग्ने ! सूर्यके समान तेजस्वी, तथा श्रेष्ठ अन्तःकरणवाला तू हमारे इन स्तोत्रोंको सुनकर हमारी तरफ आ ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! हम तुझे श्रद्धापूर्वक हवि प्रदान करें, ताकि प्रदीप्त होकर तेरी तेजस्वी ज्वालाएं उत्तम शब्द करें ॥ ४ ॥

जिस प्रकार अलंकारोंसे स्त्रियां सुशोभित और कान्तियुक्त दीखती हैं, उसी प्रकार यह अग्नि भी कान्तिसे दिन रात सुशोभित होता है ॥ ५ ॥

१३० घृतं न पूतं तनूरंरेपाः शुचि हिरण्यम् ।
तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ॥ ६ ॥

१३१ कृतं चिद्धि ष्मा सनेमि द्वेषो ऽग्ने इनोषि मर्तात् ।
इत्था यजमानादृतावः ॥ ७ ॥

१३२ शिवा नः सख्या सन्तु भ्रात्रा ऽग्ने देवेषु युष्मे ।
सा नो नाभिः सदने सास्मिन्नूधन् ॥ ८ ॥

[११]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- आग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

१३३ भद्रं ते अग्ने सहसिन्ननीक- मुपाक आ रोचते सूर्यस्य ।
रुशद् दृशे ददृशे नक्तया चि- दरूक्षितं दृश आ रूपे अन्नम् ॥ १ ॥

अर्थ— [१३०] हे (स्वधावः) अन्नवान् अग्ने ! तेरा (तनूः पूतं घृतं अरेपाः) स्वरूप शुद्ध घृतके समान् पापसे शून्य है और (ते शुचिः हिरण्यं, तत् रुक्मः न रोचत) तेरा शुद्ध और रमणीय वह तेज भूषणके समान प्रकाशमान् है ॥ ६ ॥

[१३१] हे (ऋतावः अग्ने) सत्यसे युक्त अग्ने ! तू (सनेमि हि कृतं चित्) बहुत पहले किए हुए (द्वेषः) पापको भी (यजमानात् मर्तात् इत्था इनोषि स्म) यज्ञशील मनुष्योंसे इस प्रकार दूर करता है ॥ ७ ॥

[१३२] हे (अग्ने) अग्ने ! (देवेषु युष्मे नः सख्या भ्रात्रा शिवा सन्तु) देवोंके साथ तथा तेरे साथ हम लोगोंकी मैत्री और भ्रातृभाव मंगल जनक हो। (सा सदने सास्मिन् ऊधन् नः नाभिः) वह मैत्रीभाव एवं भ्रातृभाव देवोंके स्थानमें और सभी यज्ञोंमें हमारे लिए केन्द्र रूप हो ॥ ८ ॥

[११]

[१३३] हे (सहसिन्) बलवान् अग्ने ! (ते भद्रं अनीकं सूर्यस्य उपाके आरोचते) तेरा कल्याणकारी तेज सूर्यके रहते हुए अर्थात् दिवसमें भी चारों ओर प्रकाशमान् होता है। तथा (रुशत् दृशे नक्तया चित् ददृशे) प्रकाशयुक्त और दर्शनीय तेज रात्रीमें भी दिखाई देता है। (रूपे आ अरूक्षितं दृशे अन्नं) रूपवान् तुझमें चिकना और दर्शनीय अन्न डाला जाता है ॥ १ ॥

१ अरूक्षितं अन्नं रूपः— घी आदि चिकने पदार्थोंसे युक्त अन्न खानेवाला रूपवान् होता है।

भावार्थ— हे अन्नसे समृद्ध अग्ने ! तेरा स्वरूप शुद्ध घृतके समान पापरहित है और तेरा वह रमणीय तेज अलंकारके समान चमकता है ॥ ६ ॥

यह अग्नि पुरानेसे भी पुराने पापको नष्ट कर देता है ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! तेरे साथ तथा अन्य देवोंके साथ हुई हुई हमारी मित्रता और भाईपन हमें कल्याण देनेवाला हो तथा सभी यज्ञोंमें हम तेरी मित्रताको ध्यानमें रखें ॥ ८ ॥

इस बलवान् अग्निका तेज दिन और रात प्रकाशित होता है। सूर्यके प्रकाशमें भी इस अग्निका प्रदीप्त तेज दीखाई देता है, अतः इस रूपवान् अग्निमें सभी उत्तम आहुतियां डाली जाती हैं ॥ १ ॥

१३४ वि षाह्यग्ने गृणते मनीषां खं वेपसा तुविजात स्तवानः ।
विश्वेभिर्यद् वावनः शुक्र देवै–स्तन्नो रास्व सुमहो भूरि मन्म ॥ २ ॥

१३५ त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषा–स्त्वदुक्था जायन्ते राध्यानि ।
त्वदेति द्रविणं वीरपेशा इत्थाधिये दाशुषे मर्त्याय ॥ ३ ॥

१३६ त्वद् वाजी वाजंभरो विहाया अभिष्टिकृज्जायते सत्यशुष्मः ।
त्वद् रयिर्देवजूतो मयोभु–स्त्वदाशुर्जूजुवाँ अग्ने अर्वा ॥ ४ ॥

१३७ त्वामग्ने प्रथमं देवयन्तो देवं मर्ता अमृत मन्द्रजिह्वम् ।
द्वेषोयुतमा विवासन्ति धीभि–र्दमूनसं गृहपतिममूरम् ॥ ५ ॥

अर्थ— [१३४] हे (तुविजात अग्ने) अनेक प्रकारसे उत्पन्न होनेवाले अग्ने ! (स्तवानः) प्रशंसित हुआ हुआ तू (वेपसा मनीषां गृणते खं वि षाहि) उत्तम कर्मोंसे स्तुति करनेवालेके लिये स्वर्ग खोल दे। तथा हे (शुक्र) सुन्दर तेजसे युक्त और (सुमहः) सु महान् अग्नि ! तू (विश्वेभिः देवैः यत् वावनः) सब देवोंके साथ जो उत्तम धन अन्योंको देता है (तत् मन्म भूरि नः रास्व) वह अभिलषित धन प्रभूत मात्रामें हमें भी दे ॥ २ ॥

१ वेपसा गृणते खं— अपने उत्तम कर्मोंसे उस परमात्माकी उपासना करनेवालेको स्वर्ग सुख मिलता है।

[१३५] हे (अग्ने) अग्ने ! (काव्या त्वत् जायन्ते) काव्य तुझसे उत्पन्न होते हैं, (मनीषाः त्वत् राध्यानि उक्था त्वत्) उत्तम बुद्धि और आराधनाके योग्य मन्त्र तुझसे प्रकट हुये हैं, तथा (इत्थाधिये दाशुषे मर्त्याय) सत्यकर्मवाले तथा दाता मनुष्यके लिये (वीरपेशाः द्रविणं त्वत् एति) पुष्टिदायक धन भी तुझसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

१ काव्या मनीषाः राध्यानि उक्था त्वत् जायन्ते— काव्य, उत्तम बुद्धि तथा आराधनाके योग्य स्तोत्र सब इस अग्निसे ही उत्पन्न होते हैं।

२ इत्था–सत्य, 'इत्थेति सत्यनामसु पाठात् ।'

३ धी–कर्म 'धीरिति कर्मनाम ।'

[१३६] हे (अग्ने) अग्ने ! (वाजी, वाजंभरः विहायाः अभिष्टिकृत् सत्यशुष्मः) शक्तिशाली, अन्नसे समृद्ध, महान्, यज्ञ कर्मोंका साधक सत्य बलसे युक्त पुत्र (त्वत् जायते) तेरे द्वारा ही उत्पन्न होता है। और (देवजूतः मयोभुः रयिः त्वत्) देवों द्वारा प्रेरित, सुखप्रद धन भी, तेरे द्वारा प्रकट होता है, तथा (आसुः जूजुवान् अर्वा त्वत्) शीघ्रगामी, वेगवान् अश्व भी तेरे द्वारा ही प्रादुर्भूत होता है ॥ ४ ॥

[१३७] हे (अमृत अग्ने) अविनाशी अग्ने ! (देवयन्तः, मर्ताः) देवताओंकी कामना करनेवाले मनुष्य लोग, (प्रथमं, देवं, मन्द्रजिह्वं, द्वेषोयुतं) सबमें अग्रणी, दिव्यगुण सम्पन्न, आनन्ददायक, जिह्वावाले, पापियोंका नाश करनेवाले, (दमूनसं, गृहपतिं, अमूरं त्वां) राक्षसोंका दमन करनेवाले घरके स्वामी एवं ज्ञानी ऐसे गुणोंसे युक्त तेरी (धीभिः आ विवासन्ति) बुद्धि द्वारा सब ओरसे सेवा करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— अपने उत्तम कर्मोंके द्वारा परमात्माकी भक्ति करनेवालेको सुख मिलता है, उसे देवगण चाहते हैं और वह भरपूर धन प्राप्त करता है ॥ २ ॥

उत्तम स्तुति रूप काव्य तथा बुद्धि इसी प्रकाशस्वरूप परमात्मासे उत्पन्न होते हैं। सत्कर्म करनेवाले दानशील मनुष्यको पुष्ट करनेवाले धन भी इसी अग्निसे उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

इसी अग्निकी कृपासे शक्तिशाली, अन्नसे सम्पन्न महान्, यज्ञशील और सत्य बलसे युक्त पुत्र होता है और सुखप्रद धन तथा वेगवान् घोडे भी इसकी प्रसन्नतासे मिलते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! देवोंकी भक्ति करनेवाले मनुष्य सर्वश्रेष्ठ, पापी और राक्षसोंके विनाशक, गृहपति तेरी अपनी बुद्धियोंसे सेवा करते हैं ॥ ५ ॥

१३८ आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि ।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित् सचसे स्वस्ति ॥ ६ ॥

[१२]

(ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।)

१३९ यस्त्वामग्न इनधते यतस्रुक् त्रिस्ते अन्नं कृणवत् सस्मिन्नहन् ।
स सु द्युम्नैरभ्यस्तु प्रसक्षत् तव क्रत्वा जातवेदश्चिकित्वान् ॥ १ ॥
१४० इध्मं यस्ते जभरच्छश्रमाणो महो अग्ने अनीकमा सपर्यन् ।
स इधानः प्रति दोषामुषासं पुष्यन् रयिं सचते घ्नन्नमित्रान् ॥ २ ॥

अर्थ— [१३८] हे (सहसः सुनो अग्ने) बलसे पुत्र अग्ने ! तू (दोषा शिवः देवः स्वस्ति यं आ चित् सचसे) रात्रीमें मंगलजनक एवं तेजस्वी होकर जिसका कल्याण करता है और (यत् निपासि) जिसकी रक्षा करता है, उन (अस्मत् अमतिं आरे) हम लोगोंसे मतिहीनताको दूर कर। हमारे पाससे (अंहः आरे) पाप दूर कर और (विश्वां दुर्मतिं आरे) सम्पूर्ण दुर्बुद्धिको परे कर ॥ ६ ॥

१ शिवः देवः यं स्वस्ति अमतिं, अंहः विश्वां दुर्मतिं आरे— कल्याणकारी देव अग्नि जिसका कल्याण करता है, उससे मूर्खता, पाप और दुष्ट बुद्धिको दूर करता है।

(१२)

[१३९] हे (जातवेदः अग्ने) सर्वज्ञ अग्ने ! (यः यतस्रुक् त्वां इनधते) जो स्रुक्को घीसे भर कर तैयार करके तुझको प्रदीप्त करता है और (सस्मिन् अहन् ते त्रिः अन्नं कृणवत्) प्रत्येक दिन तेरे लिए तीन बार हविरूप दान करता है, (सः तव क्रत्वा प्रसक्षत् चिकित्वान्) वह तेरे सामर्थ्यसे तेजका ज्ञान प्राप्त करके (द्युम्नैः सु अभि अस्तु) तेजोंके द्वारा सबको हरा दे ॥ १ ॥

१ सस्मिन् अहन् त्रिः अन्नं कृणवत् सः द्युम्नैः सु अभि अस्तु— जो प्रत्येक दिन इस अग्निको तीन बार हवि देता है, वह अपने तेजोंसे सबको परास्त कर देता है।

[१४०] हे (महः अग्ने) महान् अग्ने ! (यः शश्रमाणः ते इध्मं जभरत्) जो बहुत परिश्रम करके तेरे लिये समिधा लाता है, तथा (आ अनीकं सपर्यन्) तेरे सर्वत्र फैले हुये तेजकी पुजा करता है, एवं (दोषां प्रति, उषसं इधानः) रात्रीकाल और उषःकालमें जो तुझको प्रदीप्त करता है (सः पुष्यन् अमित्रान् घ्नन् रयिं सचते) वह पुष्ट होकर, शत्रुओंका नाश करता और धन प्राप्त करता है ॥ २ ॥

१ यः शश्रमाणः अनीकं सपर्यते सः पुष्यन् अमित्रान् घ्नन् रयिं सचते— जो परिश्रमपूर्वक इस अग्निके तेजकी सेवा करता है, वह पुष्ट होकर शत्रुओंको मारता और धन प्राप्त करता है।

भावार्थ— हे अग्ने ! तू हम भक्तोंका कल्याण कर और हमारी रक्षा कर, ताकि हम मूर्खता, दरिद्रता, पाप और दुष्ट बुद्धियोंसे दूर रहें ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! जो तुझे घीसे भरा हुआ स्रुक् और दिनमें तीन बार हवि देता है, वह तेरे सामर्थ्यसे तथा तेजोंसे युक्त होकर सबको परास्त कर दे। इसमें प्रातः माध्यन्दिन और सायं इन तीन सवनोंका स्पष्ट उल्लेख है ॥ १ ॥

जो परिश्रम करके इस अग्निके लिए उत्तम समिधा लाता है, तथा सबेरे शाम इस अग्निको प्रदीप्त कर उसके तेजकी पूजा करता है, वह अपने शत्रुओंको नष्ट करके धन प्राप्त करता है ॥ २ ॥

१४१ अग्निरीशे बृहतः क्षत्रियस्या॒ऽग्निर्वाजस्य परमस्य रायः ।
दधाति रत्नं विधते यविष्ठो व्यानुषङ्मर्त्याय स्वधावान् ॥ ३ ॥

१४२ यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाऽचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः ।
कृधी ष्व१स्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥ ४ ॥

१४३ महश्चिदग्न एनसो अभीक ऊर्वाद् देवानामुत मर्त्यानाम् ।
मा ते सखायः सदमिद् रिषाम यच्छा तोकाय तनयाय शं योः ॥ ५ ॥

१४४ यथा ह त्यद् वसवो गौर्यं चित् पदि षिताममुञ्चता यजत्राः ।
एवो ष्व१स्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः ॥ ६ ॥

अर्थ— [१४१] (अग्निः बृहतः क्षत्रियस्य ईशे) अग्नि महान् क्षात्रबलका स्वामी है तथा (परमस्य वाजस्य रायः) परम उत्कृष्ट अन्नका एवं धनका अधिपति है। (यविष्ठः स्वधावान् अग्निः) अत्यन्त बलवान् और अन्नवान् अग्नि (विधते मर्त्याय रत्नं आनुषक् वि दधाति) स्तुति करनेवालेके लिये रमणीय धन क्रमसे प्रदान करता है ॥ ३ ॥

[१४२] हे (यविष्ठ अग्ने) अत्यन्त युवा अग्ने ! (यत् चित् हि ते पुरुषत्रा) यदि हमने तेरे भक्तोंके विषयमें (अचित्तिभिः कत् चित् आगः चकृमः) अज्ञानता वश कोई पाप किया हो, तो तू (अदितेः अस्मान् सु अनागान् कृधि) मातृभूमिके सेवक हमको सम्पूर्ण पापोंसे रहित कर । और हे (विष्वक्) सर्वत्र विद्यमान अग्ने ! हमारे (एनांसि वि शिश्रथः) दुष्कर्मोंको शिथिल कर ॥ ४ ॥

[१४३] हे (अग्ने) अग्ने ! हम (ते सखायः) तेरे मित्र हैं, अतः हम (देवानां, उत, मर्त्यानां अभीके) इन्द्रादि देवोंके निकट अथवा मनुष्योंके निकट किए गए (महः चित् ऊर्वात् एनसः) किसी भी बडे और विस्तृत पापसे (सदं इत् मा रिषां) कभी भी हिंसीत न हों। हे अग्ने ! (तोकाय, तनयाय शं योः यच्छ) पुत्र और पौत्रके लिये सुख और नीरोगता प्रदान कर ॥ ५ ॥

[१४४] हे (यजत्रा वसवः) पूजाके योग्य और निवास देनेवाले अग्नियो ! तुमने (यथा ह पदि सितां त्यत् गौर्यं चित्) जिस प्रकारसे पैर बंधे हुए उस गायको विमुक्त किया था, (एवो, अस्मत्, अंहः सु विमुञ्चत्) उसी प्रकार हमसे पाप पूर्णरूपसे छुडाओ। हे (अग्ने) अग्ने ! (नः प्रतरं आयुः प्र तारि) हमारी बडी हुई आयुको और भी बढा ॥ ६ ॥

भावार्थ— वह अग्नि महान् संरक्षणशक्ति, उत्तम अन्न और धनका स्वामी है, वह अत्यन्त बलवान् और अन्नवान् अग्नि अपनी स्तुति करनेवालेको रमणीय धन प्रदान करता है ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! यदि हमने तेरे भक्तोंकी निन्दा की या उनके बारेमें कोई पाप किया हो, तो हमें पापोंसे रहित कर तथा हमारे दुष्कर्मोंको शिथिल कर ॥ ४ ॥

हे अग्रणी ! हम तेरे मित्र हैं, अतः यदि हमने अज्ञानसे देवों और मनुष्योंके बारेमें कोई पाप किया हो, तो उस पापसे हम कभी हिंसित न हों। तू हमारे पुत्र पौत्रोंको सुख और स्वास्थ्य प्रदान कर ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! तूने जिस प्रकार बंधे हुए पैरवाली गायको छुडाया था, उसी प्रकार हमें पापसे छुडा, तथा हमारी आयु दीर्घ कर ॥ ६ ॥

[१३]

(ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः (लिङ्गोक्तदेवता इति एके) । छन्दः- त्रिष्टुप् ।)

१४५ प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यद् विभातीनां सुमना रत्नधेयम् ।
यातमश्विना सुकृतो दुरोणमुत् सूर्यो ज्योतिषा देव एति ॥ १ ॥

१४६ ऊर्ध्वं भानुं सविता देवो अश्रेद् द्रप्सं दविध्वद् गविषो न सत्वा ।
अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत् सूर्यं दिव्यारोहयन्ति ॥ २ ॥

१४७ यं सीमकृण्वन् तमसे विपृचे ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम् ।
तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ३ ॥

१४८ वहिष्ठेभिर्विहरन्यासि तन्तुमवव्ययन्नसितं देव वस्म ।
दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः ॥ ४ ॥

[१३]

अर्थ— [१४५] (सुमनाः अग्निः) श्रेष्ठ मनवाला अग्नि, (विभातीनां उषसां अग्रं रत्नधेयं प्रति अख्यत्) प्रकाशित होनेवाली उषाके पहले रत्नके समान प्रकाशमान अपने तेजको फैलाता है। हे (अश्विना) अश्विनीकुमारो ! तुम (सुकृतः दुरोणं यातं) उत्तम कर्म करनेवालेके घर जाओ, क्योंकि (सूर्यः देवः ज्योतिषा उत् एति) सूर्यदेव अपने तेजके साथ उदय हो रहा है ॥ १ ॥

[१४६] (गविषः सत्वा द्रप्सं दविध्वत् न) जिस प्रकार गायकी इच्छा करनेवाला बैल धूलको उडाता है, उसी प्रकार (देवः सविता भानुं ऊर्ध्वं अश्रेत्) तेजस्वी सूर्य अपनी किरणोंको ऊपरकी तरफ फेंकता है। (यत् सूर्यं दिवि अरोहयन्ति) जब किरणें सूर्यको द्युलोकमें चढाती हैं तब (वरुणः मित्रः व्रतं अनुयन्ति) वरुण और मित्र अपने अपने कर्मोंका अनुसरण करते हैं ॥ २ ॥

[१४७] (ध्रुवक्षेमाः अर्थं अनवस्यन्तः) अपने स्थानपर स्थिर रहनेवाले तथा अपने कार्यको न त्यागनेवाले देवोंने (सीं तमसे विपृचे यं अकृण्वन्) चारों ओरसे अंधकारको दूर करनेके निमित्त जिस सूर्यकी रचना की, (तं विश्वस्य जगतः स्पशं सूर्यं) उस समस्त संसारको देखनेवाले सूर्यको (यह्वीः सप्त हरितः वहन्ति) महान् सात घोडे ढोते हैं ॥ ३ ॥

[१४८] हे (देव) प्रकाशमान् सूर्य ! तू (तन्तुं विहरन् असितं वस्म) अपने किरण समूहको फैलाते हुये तथा कृष्णवर्णवाले रात्रीरूप वस्त्रको (अवव्ययन् वहिष्ठेभिः यासि) दूर हटाते हुये अत्यन्त बलवान् अश्वों द्वारा सर्वत्र जाता है। (दविध्वतः सूर्यस्य रश्मयः) कम्पनयुक्त सूर्यकी किरणें (अन्तः अप्सु तमः चर्म इव अवाधुः) मध्यअन्तरिक्षमें स्थित अंधकारको चर्मके समान हटा देती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह श्रेष्ठ मनवाला अग्नि तेजस्वी उषाओंके पहले ही अपने तेजको फैलाता है, उसके बाद अश्विनीकुमार उत्तम कर्म करनेवालेके घर जाते हैं और सूर्य अपने तेजके साथ उदय हो रहा है ॥ १ ॥

जिस प्रकार कामोन्मत्त बैल अपने खुरों और सींगोंसे धूल उडाता है, उसी प्रकार यह सूर्य अपनी किरणोंको चारों ओर फेंकता है। तथा जब सूर्य आकाशमें ऊपर चढ आता है, तब वरणीय और हितकारी ज्ञानी अपने अपने कर्मोंको करना शुरु करते हैं ॥ २ ॥

अपने स्थानपर स्थिर रहनेवाले तथा अपने कर्मका त्याग न करनेवाले देवोंने अन्धकारके नाशके लिए इस सूर्यकी रचना की। सब जगत्‌के द्रष्टा उस सूर्यको सात महान् घोडे सब जगह ले जाते हैं ॥ ३ ॥

अपनी किरणोंको फैलाता हुए तथा रात्रीरूपी काले वस्त्रको दूर करता हुआ सूर्य अपने बलवान् घोडोंसे सर्वत्र जाता है। इस सूर्यकी किरणें अन्तरिक्षमें स्थित अंधकारको चमडेके समान हटा देती हैं ॥ ४ ॥

१४९ अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न ।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम् ॥ ५ ॥

[१४]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः (लिङ्गोक्तदेवता इति एके) । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

१५० प्रत्यग्निरुषसो जातवेदा अख्यद् देवो रोचमाना महोभिः ।
आ नासत्योरुगाया रथेनेमं यज्ञमुप नो यातमच्छ ॥ १ ॥

१५१ ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज्ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन् ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः ॥ २ ॥

१५२ आवहन्त्यरुणीर्ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना ।
प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन ॥ ३ ॥

---

[१४]

अर्थ— [१४९] (अनायतः अयं अनिबद्धः) आधारहीन तथा बंधनहीन यह सूर्य (उत्तानः कया स्वधया याति) ऊपरकी दिशामें किस बलसे जाता है ? (न्यङ् कया न अव पद्यते) और नीचे क्यों नहीं गिरता, इसको (कः ददर्श) कौन देखता है ? पर यह निश्चित है कि (दिवः स्कम्भः स्मृतः नाकं पाति) द्युलोकका आधार होकर ऋतवान् सूर्य स्वर्गकी रक्षा करता है ॥ ५ ॥

[१५०] (देवः जातवेदः अग्निः) दिव्य गुण युक्त तथा संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाला अग्नि अपने (महोभिः रोचमानाः उषसः प्रति अख्यत्) तेजोंसे तेजस्वी उषाओंको प्रकाशित करता है। हे (उरुगाया नासत्या) बहुतों द्वारा प्रशंसित होने योग्य अश्विनो ! तुम भी (रथेन नः इमं यज्ञं अच्छ उपयातं) रथके द्वारा हमारे इस यज्ञमें सीधे चले आओ ॥ १ ॥

[१५१] (सविता देवः विश्वस्मै भुवनाय) सूर्यदेव समस्त लोकोंके लिये (ज्योतिः कृण्वन् उर्ध्वं केतुं अश्रेत्) आलोक करता हुआ सबसे ऊपर प्रकाशको धारण करता है। (वि चेकितानः सूर्यः रश्मिभिः) सबको विशेष रूपसे देखनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं आप्राः) आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्षको पूर्ण करता है ॥ २ ॥

[१५२] (आवहन्ती, अरुणीः ज्योतिषा मही) धनोंको धारण करनेवाली, अरुणवर्णवाली, ज्योतिसे महान् (रश्मिभिः चित्रा) किरणोंके कारण सुन्दर (चेकिताना देवी उषाः आगात्) सबका निरीक्षण करनेवाली दिव्यगुणोंवाली उषा प्रकट हुई है। वह जीवमात्रको (प्रबोधयन्ती सुयुजा रथेन सुविताय ईयते) जगाती हुई सुशोभित रथ द्वारा कल्याणके निमित्त सर्वत्र जाती है ॥ ३ ॥

भावार्थ— आधारहीन और बंधनहीन होता हुआ भी यह सूर्य ऊपर किस प्रकार चढ जाता है और ऊपर चढता हुआ नीचे गिरता क्यों नहीं, इस रहस्यको कौन जानता है ? पर यह निश्चित है कि वही सूर्य द्युलोकका आधार बनकर उसकी रक्षा कर रहा है ॥ ५ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! जिस समय उषायें प्रकाशित होती हैं और यह तेजस्वी तथा सर्वज्ञ अग्नि अपने तेजोंके साथ प्रज्वलित होता है, उस समय तुम हमारे यज्ञमें सीधे चले आओ ॥ १ ॥

सबका प्रेरक सूर्यदेव जब समस्त भुवनोंको प्रकाशित करता हुआ अपने प्रकाशको ऊपर चारों ओर फैलाता है तो उससे आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष तीनों स्थानोंको भर देता है ॥ २ ॥

ऐश्वर्य अपने साथ लेनेवाली तेजस्वी ज्योतिसे युक्त किरणोंके कारण सुन्दर दिखाई देनेवाली उषा प्रकट होकर दूसरोंको जगाती हुई उनका कल्याण करनेके लिए अपने सुन्दर रथसे सब जगह जाती है ॥ ३ ॥

१५३ आ वां वहिष्ठा इह ते वहन्तु रथा अश्वास उषसो व्युष्टौ ।
इमे हि वां मधुपेयाय सोमा अस्मिन् यज्ञे वृषणा मादयेथाम् ॥ ४ ॥
१५४ अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न ।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम् ॥ ५ ॥

[१५]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः, ७-८ सोमकः साहदेव्यः, ९-१० अश्विनौ । छन्दः- गायत्री ।]

१५५ अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन् परि णीयते । देवो देवेषु यज्ञियः ॥ १ ॥
१५६ परि त्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिव । आ देवेषु प्रयो दधत् ॥ २ ॥
१५७ परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् । दधद् रत्नानि दाशुषे ॥ ३ ॥

अर्थ-- [१५३] हे अश्विनीकुमारो ! (वहिष्ठाः रथाः ते अश्वासः) वहन करनेमें अत्यन्त समर्थ तुम्हारे रथ व घोडे (वां उषसः व्युष्टौ इह आवहन्तु) तुम दोनोंको उषाके प्रकाशित होनेपर इस यज्ञमें ले आवें । हे (वृषणा) बलवान् अश्विनीकुमारो ! (हि इमे सोमा वां) निश्चयसे ये सोमरस तुम दोनोंके लिये प्रस्तुत हैं, अतः (अस्मिन् यज्ञे मधुपेयाय मादयेथां) इस यज्ञमें सोमरस पान करनेके लिये हर्षको प्राप्त होओ ॥ ४ ॥

[१५४] (अनायतः अनिबद्धः) आधारहीन तथा बंधनहीन यह सूर्य (उत्तानः कया स्वधया याति) ऊपरकी दिशामें किस बलसे जाता है ? (न्यङ् कथा न अव पद्यते) और नीचे क्यों नहीं गिरता इसको (कः ददर्श) कौन देखता है ? पर यह निश्चित है कि (दिवः स्कम्भः समृत नाकं पाति) द्युलोकका आधार होकर ऋतवान् सूर्य स्वर्गकी रक्षा करता है ॥ ५ ॥

[१५]

[१५५] (होता, देवेषु देवः यज्ञियः अग्निः) यज्ञका सम्पादन करनेवाला, देवोंके बीचमें अत्यधिक तेजस्वी, यज्ञके योग्य अग्नि (नः अध्वरे वाजी सन् परिणीयते) हमारे यज्ञमें शीघ्रगामी अश्वकी तरह सब ओर ले जाया जाता है ॥ १ ॥

[१५६] (अग्निः देवेषु प्रयः आ दधत्) यह अग्नि देवोंके लिए हविरूप अन्नको धारण करता हुआ (रथी इव) रथीके समान (अध्वरं त्रिविष्टि परि याति) यज्ञके चारों ओर तीन बार घूमता है ॥ २ ॥

[१५७] (वाजपतिः कविः अग्निः) अन्नका स्वामी ज्ञानी अग्नि, (दाशुषे रत्नानि दधत्) हवि देनेवाले मनुष्यको रमणीय धनोंको प्रदान करता हुआ (हव्यानि परि अक्रमीत्) हव्योंको चारों ओरसे व्याप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

भावार्थ-- हे अश्विनीकुमारो ! उषःकालमें तुम्हें तुम्हारे बलशाली घोडे सोमपानके लिए यज्ञमें ले आवें । इस यज्ञमें तुम्हारे पीनेके लिए सोमरस तय्यार हैं, तुम उन्हें पीकर आनन्दित होवो ॥ ४ ॥

आधारहीन और बंधनहीन होता हुआ भी यह सूर्य ऊपर किस प्रकार चढ जाता है और ऊपर चढता हुआ नीचे गिरता क्यों नहीं, इस रहस्यको कौन जानता है ? पर यह निश्चित है कि वही सूर्य द्युलोकका आधार बन कर उसकी रक्षा कर रहा है ॥ ५ ॥

देवोंको बुलाकर लानेवाला, तेजस्वी तथा पूज्य अग्नि इस हिंसारहित यज्ञमें चारों ओर ले जाया जाता है ॥ १ ॥

यह अग्नि हविको धारण करता हुआ यज्ञके चारों ओर तीन बार प्रदक्षिणा करता है ॥ २ ॥

अन्नका स्वामी तथा ज्ञानी अग्नि दाता मनुष्यको धन प्रदान करता हुआ यज्ञको चारों ओरसे व्याप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

१५८ अयं यः सृञ्जये पुरो दैववाते समिध्यते । द्युमाँ अमित्रदम्भनः ॥ ४ ॥
१५९ अस्य घा वीर ईवतो ऽग्नेरीशीत मर्त्यः । तिग्मजम्भस्य मीळ्हुषः ॥ ५ ॥
१६० तमर्वन्तं न सानसिमरुषं न दिवः शिशुम् । मर्मृज्यन्ते दिवेदिवे ॥ ६ ॥
१६१ बोधयन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः । अच्छा न हूत उदरम् ॥ ७ ॥
१६२ उत त्या यजता हरी कुमारात् साहदेव्यात् । प्रयता सद्य आ ददे ॥ ८ ॥
१६३ एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः । दीर्घायुरस्तु सोमकः ॥ ९ ॥
१६४ तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम् । दीर्घायुषं कृणोतन ॥ १० ॥

अर्थ— [१५८] (अयं यः अमित्रदम्भनः द्युमान्) यह जो शत्रु विनाशक और तेजस्वी अग्नि है वह (दैववाते सृंजये) देवों द्वारा अभिलषित विजयके कार्यमें (पुरः समिध्यते) सबसे आगे प्रज्वलित किया जाता है ॥ ४ ॥

[१५९] (तिग्मजम्भस्य मीळ्हुषः ईवतः अस्य अग्नेः) तीक्ष्ण दाढवाले, अभीष्ट फल देनेवाले और गमनशील इस अग्निकी उपासना करनेवाला (मर्त्यः) मनुष्य ही (वीरः) वीर होकर (ईशीत घ) सब ऐश्वर्योंका स्वामी होता है ॥ ५ ॥

ईवतः अस्य अग्नेः मर्त्यः वीरः ईशीत— सर्वत्र गमन करनेवाले इस अग्निकी उपासना करनेवाला मनुष्य वीर होकर सब ऐश्वर्योंका स्वामी बनता है ।

[१६०] लोग (अर्वन्तं न) शीघ्रगामी घोडेकी तरह (दिवः शिशुं न) द्युलोकके पुत्रभूत सूर्यकी तरह (अरुषं, सानसिं तं) दीप्तिमान् और सबके द्वारा सेवा किए जानेके योग्य उस अग्निकी (दिवे दिवे मर्मृज्यन्ते) प्रतिदिन बारबार सेवा करते हैं ॥ ॥ ६ ॥

[१६१] (यत्) जब (साहदेव्यः कुमारः) सहदेवके कुमारने (मां हरिभ्यां बोधत्) मुझे घोडोंसे ज्ञान प्रदान किया, तब (हूतः) अच्छी तरह निमंत्रित होकर (अच्छ उदरं) अपने उदरको तृप्त किया ॥ ७ ॥

[१६२] (उत) और (साहदेव्यात् कुमारात्) सहदेवके कुमारसे (त्या यजता प्रयता हरी) उन प्रशंसनीय और प्रयत्न करनेवाले घोडोंको मैंने (सद्यः आ ददे) शीघ्रही प्राप्त कर लिया ॥ ८ ॥

[१६३] हे (अश्विना देवा) अश्विनी देवो ! (वां) तुम्हारा प्रिय (एष साहदेव्यः कुमारः सोमकः) सहदेवका पुत्र कुमार सोमक (दीर्घायुः अस्तु) दीर्घ आयु वाला हो ॥ ९ ॥

[१६४] हे (अश्विना देवा) अश्विनी देवो ! (युवं) तुम दोनों (तं साहदेव्यं कुमारं) उस सहदेवके पुत्र कुमारको (दीर्घायुषं कृणोतन) दीर्घ आयु वाला करो ॥ १० ॥

भावार्थ— देवगण शत्रु विजयके कार्यमें भी इस शत्रु विनाशक और तेजस्वी अग्निको आगे स्थापित करते हैं यह अग्नि शत्रु विजयके कार्यमें भी अग्रणी है ॥ ४ ॥

जो इस तेजस्वी अग्रणीकी उपासना करता है वह वीर होकर सब तरहके ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

जिस प्रकार घोडेको प्रतिदिन धोकर साफ किया जाता है, उसी प्रकार लोग प्रतिदिन इस अग्निकी सेवा करके इसे शुद्ध करते हैं ॥ ६ ॥

विद्वानोंसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त करके अपनी उदरपूर्तिका निर्वाह उत्तम प्रकारसे करे। उसके पास साधन भी उत्तम तरहके प्रशंसनीय तथा प्रयत्नशील हों ॥ ७-८ ॥

जो उत्तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण सबके लिए आल्हाद कारक होते हैं, सबको आनन्द देते हैं, उनकी आयु दीर्घ होती है ॥ ९-१० ॥

[१६]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

१६५ आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः ।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्ष—मिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥ १ ॥

१६६ अव स्य शूराध्वनो नान्ते ऽस्मिन् नो अद्य सवने मन्दध्यै।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधा—श्चिकितुषे असुर्याय मन्म ॥ २ ॥

१६७ कविर्न निण्यं विदथानि साधन् वृषा यत् सेकं विपिपानो अर्चात् ।
दिव इत्था जीजनत् सप्त कारू—नह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः ॥ ३ ॥

१६८ स्व१र्यद् वेदि सुदृशीकमर्कै—र्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः ।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ४ ॥

[१६]

अर्थ— [१६५] (ऋजीषी सत्यः मघवान्) सरल मार्गसे जानेवाला, सत्यनिष्ठ तथा ऐश्वर्यवान् इन्द्र (नः उप आ यातु) हमारे पास आवे । (अस्य हरयः नः उप द्रवन्तु) इसके घोडे हमारे पास दौडकर आवें । (इह) इस यज्ञमें हम (तस्मै) उस इन्द्रके लिए (इत अन्धः सुषुम) इस अन्नरूपी सोमको निचोडते हैं । (गृणानः) प्रशंसित हुआ हुआ वह इन्द्र (अभिपित्वं करते) हमारी इच्छाएं पूर्ण करे ॥ १ ॥

[१६६] हे (शूर) शूरवीर इन्द्र ! (अध्वनः अन्ते न) जिस प्रकार लोग मार्गके दोनों बाजुओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार (अद्य अस्मिन् सवने) आज इस यज्ञमें (मन्दध्यै नः अवस्य) आनन्दित करनेके लिए तू हमारी रक्षा कर । (उशना इव वेधा) उशना ऋषिके समान बुद्धिमान् यह स्तोता (चिकितुषे असुर्याय) ज्ञानवान् तथा असुरोंको मारनेवाले तेरे लिए (मन्म उक्थं शंसाति) मननीय स्तोत्रको कहता है ॥ २ ॥

[१६७] (कविः निण्यं न) जिसप्रकार विद्वान् गुह्यार्थको जानता है, उसीप्रकार यह इन्द्र (यत् विदथानि साधन्) जब यज्ञोंको करता हुआ तथा (सेकं विपिपानः अर्चात्) सोमको पीता हुआ पूजा करता है, तब (इत्था) इसप्रकार वह (दिवः सप्त कारून् जीजनत्) द्युलोकसे सात किरणोंको प्रकट करता है । तब (गृणन्तः) स्तोतागण (अन्हा) दिनके प्रकाशकी सहायतासे (वायुना चक्रुः) अपने कर्म करते हैं ॥ ३ ॥

[१६८] (यत् ह) जब (महि ज्योतिः स्वः) विशाल और तेजस्वी द्युलोक (अर्कैः सुदृशीकं वेदि) किरणोंसे उत्तम देखने योग्य बनता है, तब (वस्तोः रुरुचे) घर भी प्रकाशित होते हैं । (नृतमः) उत्तम नेता सूर्य (अभिष्टौ) उदय होनेपर (नृभ्यः विचक्षे) मनुष्योंके देखनेके लिए (अन्धा तमांसि दुधिता चकार) गहरे अन्धकारका नाश करता है ॥ ४ ॥

> नृतमः नृभ्यः विचक्षे अन्धा तमांसि दुधिता चकार— अत्यन्त श्रेष्ठ नेता अपनी प्रजाओंके देखनेके लिए घने अन्धकारका नाश करता है ।

भावार्थ— सरल व्यवहार करनेवाला, अर्थात् कुटिल व्यवहारसे रहित सत्यका पालक इन्द्र हमारे पास आकर हमारे द्वारा दिए गए सोमको पीए और हमारी इच्छायें पूर्ण करे ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! जिसप्रकार किसी मार्गके दोनों और पेड आदि रोपकर मार्गकी रक्षा करते हैं और उन वृक्षोंकी छायाके कारण लोग आनन्द पाते हैं, उसी तरह इन्द्र भी इस यज्ञमें आनन्द प्राप्त करनेके लिए हमारी रक्षा करे । वह इन्द्र ज्ञानी और असुरोंको मारनेवाला है, अतः उसके लिए ज्ञानी विद्वान् स्तोत्रोंको कहते हैं ॥ २ ॥

जिसप्रकार एक ज्ञानी गुह्य अर्थोंको भी जानता है, उसीप्रकार यह सूर्यरूपी इन्द्र द्युलोकसे अपनी किरणोंको प्रकट करके गुह्य स्थलोंको भी प्रकाशित करता है । तब स्तोतागण इसकी प्रशंसा करते हुए इसके प्रकाशकी सहायतासे अपने कर्मोंको करते हैं ॥ ३ ॥

१६९ वृवक्ष इन्द्रो अमितमृजी—ष्यु१भे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
अतश्चिदस्य महिमा वि रे—च्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥ ५ ॥
१७० विश्वानि शक्रो नर्याणि विद्वा—नपो रिरेच सखिभिर्निकामैः ।
अश्मानं चिद् ये बिभिदुर्वचोभि—र्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ ६ ॥
१७१ अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन् प्रावत् ते वज्रं पृथिवी सचेताः ।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवञ्छवसा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

अर्थ— [१६९] (यः विश्वा भुवना अभि बभूव) जिसने सारे भुवनों को जीत लिया ऐसा वह (इन्द्रः) इन्द्र (अमितं ववक्ष) अपार यशको धारण करता है, उस (ऋजीषी) सोमका पान करनेवाला (महित्वा) अपने महत्वसे (उभे रोदसी आ पप्रौ) दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोकको भर देता है, (अतः चित्) इसी लिए (अस्य महिमा विरेचि) इसकी महिमा सबसे अधिक है ॥ ५ ॥

१ यः विश्वा भुवना अभि बभूव अमितं ववक्ष— जो सारे भुवनोंको अपने अधिकारमें कर लेता है, उसका यश अपरिमित होता है ।

२ महित्वा उभे रोदसी आ पप्रौ— वह अपने महत्वसे द्यु और पृथ्वी इन दोनों लोकोंको भर देता है ।

३ अतः चित् अस्य महिमा विरेचि— इसी कारण इसका महत्त्व सबकी अपेक्षा अधिक है ।

[१७०] (विश्वानि नर्याणि विद्वान्) सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी कार्योंको जाननेवाले (शक्रः) सामर्थ्यशाली इन्द्रने (निकामैः सखिभिः) इच्छा करनेवाले अपने मित्रोंके द्वारा (अपः रिरिचे) पानीको गिराया । (ये वचोभिः अश्मानं चित् बिभिदुः) जिन मरुतोंने अपने शब्दोंसे मेघ को भी फोड दिया, उन (उशिजः) कामना करनेवाले मरुतोंने (गोमन्तं व्रजं विवव्रुः) गायोंसे युक्त बाडेको प्राप्त किया ॥ ६ ॥

अश्मा— पर्वत, मेघ

विश्वनि निर्याणि विद्वान् — सब जन हितकारी कर्मोंको जाननेवाला ।

वचोभिः अश्मानं बिभिदुः — आवाजसे मेघोंसे पानी बरसाया ।

[१७१] हे इन्द्र ! (प्रावत् ते वज्रं) रक्षण करनेवाले तेरे वज्रने (अपः वव्रिवांसं वृत्रं) जलको रोकनेवाले मेघको (पराहन्) मारा, तब (पृथिवी सचेताः) पृथ्वी सचेत हुई । हे (धृष्णो शूर) शत्रुओंको मारनेवाले शूरवीर इन्द्र ! (पति भवन्) स्वामी होते हुए तूने (शवसा) अपने बलसे (समुद्रियाणि अर्णांसि) अन्तरिक्षके जलोंकों (प्र एनोः) प्रेरित किया ॥ ७ ॥

भावार्थ— जब विशाल द्युलोक सूर्यकी किरणोंके कारण तेजस्वी और उत्तम रीतिसे देखने योग्य हो जाता है, तब पृथ्वीपरके सब घर भी प्रकाशित हो जाते हैं। उत्तम नेता सूर्य मनुष्योंके देखनेके लिए गहरे अन्धकारको दूर करता है । इसीप्रकार उत्तम नेता और ज्ञानी भी अपनी प्रजाओंके लिए अन्धकारको दूर करके सर्वत्र ज्ञानका प्रकाश करे ॥ ४ ॥

वह सूर्य अपने प्रकाशसे सारे लोकों पर अधिकार कर लेता है, इसीलिए उस सूर्यका यश अपार है । इसके महत्त्वसे द्यु और पृथ्वी ये दोनों लोक भर जाते हैं । इसीकारण इसका महत्त्व सबसे बढकर है ॥ ५ ॥

यह इन्द्र मनुष्योंके लिए हितकारी सभी कर्मोंको जाननेवाला और समर्थ है । वह अपने मित्रोंकी सहायतासे जल बरसाता है । इन्द्रके वे मित्र इन्द्रकी सहायतासे अनेक गायोंको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

जलोंको रोकनेवाले मेघको इन्द्रने बिजलीसे फोडा, पृथिवी पर पानी गिराया, इससे पृथिवी प्रसन्न हो गयी । समुद्रके जलोंका बाष्प बनकर उससे बननेवाले मेघ अन्तरिक्षमें भ्रमण करने लगे, जिनसे वर्षा होने लगी ।

१७२ अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्द॒राविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ८ ॥
१७३ अच्छा कविं नृमणो गा अभिष्टौ स्वर्षाता मघवन्नाधमानम् ।
ऊतिभिस्तमिषणो द्युम्नहूतौ नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त ॥ ९ ॥
१७४ आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत् ते कुत्सः सख्ये निकामः ।
स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी ॥ १० ॥

अर्थ— [१७२] (यत् सरमा) जब सरमाने (पूर्व्यं ते आविर्भुवत्) पहले तेरे लिए गायोंको प्रकट किया, तब तूने (अपः अद्रिं दर्दः) जलसे भरे मेघको फोडा। (अंगिरोभिः गृणानः) अंगिराओंसे प्रशंसित होते हुए तथा (गोत्रा रुजन्) मेघोंको फोडते हुए (नेता सः) उत्तम नेता वह तू (नः भूरिं वाजं आ दर्षि) हमें बहुत सा अन्न दे ॥ ८ ॥

[१७३] हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (नृमणः) मनुष्योंका हित करनेवाला तू (कविं अच्छ गाः) बुद्धिमान्‌के पास सीधा जा, तथा (स्वर्षाता अभिष्टौ) धनके लिए होनेवाले युद्धमें (नाधमानं ऊतिभिः इषणः) तेरी कामना करनेवालेको अपने संरक्षणोंसे सुरक्षत करनेकी इच्छा कर। (द्युम्न हूतौ) युद्धमें (मायावान् अब्रह्मा दस्युः) मायावी तथा ज्ञानसे रहित दस्यु (अर्त) नष्ट हो जाय ॥ ९ ॥

१ नृमणः कविं अच्छ गाः— मानवोंका हित करनेकी इच्छासे ज्ञानके पास सीधा जा।
२ स्वर्षाता अभिष्टौ नाधमानं ऊतिभिः इषणः— धनप्राप्तिके लिये होनेवाले युद्धमें तेरी प्राप्तिकी इच्छा करनेवालेको संरक्षणोंसे बचा।
३ द्युम्न हुतौ मायावान् अब्रह्मा दस्युः अर्त— युद्धमें कपटी और अज्ञानी दस्यु नष्ट हो जाय।

[१७४] हे इन्द्र ! तू (दस्युघ्ना मनसा) दस्युको मारनेकी इच्छावाले मनसे युक्त होकर (अस्तं आयाहि) घर आ, (निकामः कुत्सः) तेरी इच्छा करनेवाला कुत्स (ते सख्ये भुवत्) तेरी मित्रतामें रहे। (सरूपा स्वे योनौ निषदतं) समान रूपवाले तुम दोनों अपने घरमें बैठो, तब (ऋतचित् नारी वां चिकित्सत्) सत्य ज्ञान युक्त स्त्री तुम दोनोंको यथावत् जाने ॥ १० ॥

१ दस्युघ्ना मनसा अस्तं आयाहि— दुष्टको मारनेके विचारसे अपने घर जा कर रहो।
२ सरूपा स्वे योनौ निषीदतम्— समान रूप या विचारवाले एकत्र रहें।
३ ऋताचित् नारी वां चिकित्सत्— सत्यज्ञानवाली स्त्री तुम दोनोंको जाने। तुम्हारी परीक्षा करे।

भावार्थ— प्रतिदिन प्रकट होनेवाली उषाने सूर्यकी किरणोंको प्रकट किया उन किरणोंके द्वारा सूर्यने जलसे भरे मेघोंकोफोडा। उससे पानी बरसा और उस वृष्टिके कारण बहुतसा अन्न उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥

मनुष्योंका हित करनेकी इच्छा करनेवाला नेता ज्ञानीके पास जाकर जनहितका मार्ग पूछे। धनप्राप्तिके लिए होनेवाले युद्धोंमें इस नेताकी सहायता सभी चाहते हैं। पर उनमें जो सज्जन होता है, वही बचे रहते हैं, बाकी दुष्ट और कपटी मनुष्य नष्ट हो जाते हैं ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! दुष्टको मारनेकी इच्छावाले मनसे युक्त होकर हमारे घर आ तब हमारे घरमें रहनेवाला ज्ञानी तुझसे मित्रता करे, तब समान स्वभाववाले तुम दोनों घरमें आनन्दसे रहो, और तब उस घरकी गृहिणी तुम दोनोंका सत्कार करे। इसीप्रकार एक राष्ट्रके राजनैतिक नेता तथा ज्ञानी परस्पर एक मतवाले होकर रहें और घरमें गृहिणी उनका सत्कार करें ॥ १० ॥

१७५ यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः ।
ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन् कविर्यदहन् पार्याय भूषात् ॥ ११ ॥
१७६ कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हीः प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा ।
सद्यो दस्यून् प्र मृण कुत्स्येन प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीके ॥ १२ ॥
१७७ त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः ।
पञ्चाशत् कृष्णा नि वपः सहस्रा ऽत्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः ॥ १३ ॥
१७८ सूर उपाके तन्वं दधानो वि यत् ते चेत्यमृतस्य वर्पः ।
मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत् ॥ १४ ॥

अर्थ — [१७५] हे इन्द्र ! (यत् अहन्) जिस दिन, (गध्यं वाजं न) योग्य बलको प्राप्त करनेके समान, (ऋज्रा युयूषन्) सरलतासे जानेवाले घोडोंको अपने रथमें जोडकर (कविः पार्याय भूषात्) बुद्धिमान् कुत्स संकटसे पार होनेके लिए तैय्यार होता है, उस समय (अवस्युः) उसके रक्षणकी इच्छा करनेवाला और (तोदः) शत्रुओंको मारनेवाला तथा (वातस्य हर्योः ईशानः) वायुवेगवाले घोडोंका स्वामी तू (कुत्सेन सरथं यासि) कुत्सके साथ एक रथ पर बैठकर जाता है ॥ ११ ॥

[१७६] हे इन्द्र ! तूने (कुत्साय अशुषं शुष्णं निबर्हीः) कुत्सके रक्षणके लिए महाबलवान् शुष्णनामक असुरको मारा, तथा (अन्हः प्रपित्वे) दिनके पूर्व भागमें तूने (सहस्रा कुयवं) हजारों सैनिकोंके साथ कुयव नामक असुरको मारा, तथा (कुत्स्येन सद्यः दस्यून् प्रमृण) वज्रसे शीघ्रही दस्युओंको मारा और (अभीके शूरः चक्रं प्रबृहतात्) युद्धमें तूने सूर्यका चक्र तोड दिया ॥ १२ ॥

[१७७] हे इन्द्र ! (वैदथिनाय ऋजिश्वने) विदथिके पुत्र ऋजिश्वीके लिए (त्वं) तूने (पिप्रुं) पिप्रु नामक असुरको तथा (शूशुवांसं मृगयं) अति बलशाली मृगया नामक राक्षसको (रन्धीः) मारा। तूने (पंचाशत् सहस्रा कृष्णा निवपः) पचास हजार काले वर्णके असुरोंको मारा, तथा (जरिमा अत्कं न) जैसे लोग जीर्णशीर्ण कपडेको फाड डालते हैं, उसी तरह तूने (पूरः निदर्दः) शत्रुके नगरोंको तोड डाला ॥ १३ ॥

१ पंचाशत् सहस्रा कृष्णा नि वपः— पचास हजार काले शत्रुओंको मारा। आर्य गोरे थे और उनके शत्रु काले थे।

२ पुरः निदर्दः— नगर, काले शत्रुओंके नगर तोड दिये।

[१७८] हे इन्द्र ! (यत्) जब तू (सूर उपाके) सूर्यके पास अपने (तन्वं दधानः) शरीरको धारण करता है, तब (अमृतस्य ते) अमर तेरा (वर्पः विचेति) रूप और ज्यादा चमकता है। (हस्ती मृगः न) बलशाली हाथीके समान (तविषीं उषाणः) शत्रुकी सेनाको जलाता हुआ तथा (आयुधानि बिभ्रत्) शस्त्रोंको धारण करता हुआ तू (सिंहः भीमः न) सिंहके समान भयंकर होता है ॥ १४ ॥

१ आयुधानि बिभ्रत् सिंहः भीमः न— तू शस्त्रोंको धारण करनेपर सिंहके समान भयंकर दीखता है।

२ अमृतस्य ते वर्पः विचेति— तुझ अमर देवका शरीर चमकता है।

भावार्थ— जब योग्य बलको प्राप्त करके ज्ञानी संकटसे पार होनेके लिए तैय्यार होता है, तब उसकी रक्षा करनेकी इच्छासे शत्रुओंको मारनेवाला, तथा वायुके समान वेगवान् घोडों पर बैठकर इन्द्र उसके पास जाता है ॥ ११ ॥

इस इन्द्रने ज्ञानीके लिए महाबलवान् शुष्ण असुरको मारा, तथा हजारों सैनिकोंके साथ कुयव नामक राक्षसको मारा, संग्राममें उनके सूर्यके चक्रके समान तेजस्वी शस्त्रास्त्रोंको भी तोड डाला ॥ १२ ॥

युद्धमें प्रवीण तथा युद्धमें सरलतापूर्वक घोडोंको दौडानेवाले वीरके लिए इन्द्रने पिप्रु नामक असुरको मारा और अत्यन्त बलशाली मृगय नामक राक्षसको मारा, तथा पचास हजार कृष्ण वर्णके असुरोंको मारा और जिसप्रकार लोग सडे गले कपडेको आसानीसे फाड डालते हैं, उसी तरह इन्द्रने सरलतासेही शत्रुओंके नगरोंको तोड डाला ॥ १३ ॥

१७९ इन्द्रं कामा वसूयन्तो अग्मन् त्स्वर्मीळ्हे न सवने चकानाः ।
श्रवस्यवः शशमानास उक्थै रोको न रण्वा सुदृशीव पुष्टिः ॥ १५ ॥

१८० तमिद् व इन्द्रं सुहवं हुवेम यस्ता चकार नर्या पुरूणि ।
यो मावते जरित्रे गध्यं चिन्मक्षू वाजं भरति स्पार्हराधाः ॥ १६ ॥

१८१ तिग्मा यदन्तरशनिः पताति कस्मिञ्चिच्छूर मुहुके जनानाम् ।
घोरा यदर्य समृतिर्भवात्यध स्मा नस्तन्वो बोधि गोपाः ॥ १७ ॥

अर्थ— [१७९] (स्वर्मीळ्हे न सवने चकानाः) युद्धके समान यज्ञमें चमकनेवाले, (उक्थैः शशमानासः) स्तोत्रोंसे प्रशंसा करनेवाले (श्रवस्यवः वसूयन्तः कामाः) अन्न तथा धनकी इच्छा करनेवाले स्तोतागण (इन्द्रं अग्मन्) इन्द्रके पास जाते हैं। वह इन्द्र (ओकः न) घरके समान सुखदायक है, तथा (रण्वा सुदृशी पुष्टिः इव) रमणीय, दीखनेमें उत्तम समृद्धिके समान पोषक है ॥ १५ ॥

१ ओकः न रण्वा सुदृशी पुष्टिः इव— यह इन्द्र घरके समान सुखदायक तथा रमणीय और दीखनेमें उत्तम समृद्धिके समान पोषक है

[१८०] (यः) जिस इन्द्रने (ता पुरूणि नर्या चकार) उन बहुतसे मनुष्योंके हितकारी कार्योंको किया तथा (स्पार्हराधाः यः) स्पृहणीय धनोंको अपनेपास रखनेवाला जो इन्द्र (मावते जरित्रे) मेरे जैसे स्तोताके लिए (गध्यं चित् वाजं) ग्रहण करने योग्य अन्नको (मक्षू भरति) शीघ्र देता है ऐसे (सुहवं तं इन्द्रं) अच्छी तरहसे सहायार्थ बुलाने योग्य उस इन्द्रको हम (वः) तुमहारे सहायतार्थ हम (हुवेम) बुलाते हैं ॥ १६ ॥

१ यः ता पुरूणि नर्या चकार— जिसने मनुष्योंके बहुतसे हितकारक कार्य किये हैं। सार्वजनिक हितके कार्य जो करता रहता है।

२ यः स्पार्हराधाः— स्पृहणीय धन जिसके पास है।

[१८१] हे (शूर) शूरवीर इन्द्र ! (यत्) जब (मुहुके) युद्धमें (कस्मिन् चित् जनानां अन्तः) किन्ही मनुष्योंके बीचमें (तिग्मः अशनिः पताति) तीक्ष्ण अस्त्र गिरे अथवा हे (अर्यः) श्रेष्ठ इन्द्र ! (यत् घोरा समृतिः भवाति) जब भयंकर युद्ध होता है, (ऊध) तब तू (न तन्वः गोपाः) हमारे शरीरका रक्षक है। यह (बोधिस्म) तू जान ॥ १७ ॥

१ यत् मुहुके तिग्मः अशनिः पताति, यत् घोरा समृतिः भवाति, अधः न तन्वः गोपाः— जब युद्धमें तीक्ष्ण वज्र गिरता है और जब घनघोर युद्ध होता है, तब हमारे शरीरकी हे इन्द्र ! तू रक्षा कर।

भावार्थ— यह इन्द्र जब सूर्यके साथ मिलकर अपना रूप प्रदर्शित करता है, तब उस अमर देवका रूप और ज्यादा चमकने लगता है, तथा जब यह शस्त्रोंको धारण करता है, तब वह सिंहके समान भयंकर हो जाता है ॥ १४ ॥

यज्ञमें चमकनेवाले, प्रशंसा करनेवाले अन्न और धनकी इच्छा करनेवाले स्तोता इन्द्रके पास जाते हैं। यह इन्द्र उन लोगोंके लिए घरके समान सुखदायक और उत्तम समृद्धि देकर पुष्ट करनेवाला है ॥ १५ ॥

वह इन्द्र बहुतसे मनुष्योंके लिए हितकारी कार्योंको करता है और अत्युत्तम धनोंको अपने पास रखता है। वह अपनी स्तुति करनेवालेके लिए उत्तम अन्न शीघ्र देता है। इसीलिए हम इन्द्रको अपनी सहायताके लिए बुलाते हैं ॥ १६ ॥

हे इन्द्र ! तू हमारा रक्षक है, इसलिए जब हमारे मनुष्यों पर शत्रुओंके तीक्ष्ण शस्त्र आकर गिरे और जब भयंकर युद्ध हों, तब तू हमारी रक्षा कर और हमारे शरीरोंको सुरक्षित रख ॥ १७ ॥

१८२ भुवोऽविता वामदेवस्य धीनां भुवः सखावृको वाजसातौ ।
त्वामनु प्रमतिमा जगन्मो—रुशंसो जरित्रे विश्वध स्याः ॥ १८ ॥
१८३ एभिर्नृभिरिन्द्र त्वायुभिष्ट्वा मघवद्भिर्मघवन् विश्व आजौ ।
द्यावो न द्युम्नैरभि सन्तो अर्यः क्षपो मदेम शरदश्च पूर्वीः ॥ १९ ॥
१८४ एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम् ।
नू चिद् यथा नः सख्या वियोष—दसन्न उग्रोऽविता तनूपाः ॥ २० ॥
१८५ नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ २१ ॥

अर्थ— [१८२] हे इन्द्र ! तू (वामदेवस्य धीनां अविता भुवः) वामदेवकी बुद्धियोंका रक्षक हुआ तू (वाजसातौ) युद्धमें हमारा (अवृकः) अकुटिल (सखा भुवः) मित्र हुआ हम (प्रमतिं त्वा अनु अगन्म) प्रकृष्ट ज्ञानी होकर तेरे पीछे चलें । तू (विश्वध) हमेशा (जरित्रे उरुशंसः स्याः) स्तोताके लिए प्रशंसनीय हो ॥ १८ ॥

१ धीनां अविता भुवः— तू बुद्धियोंका रक्षक है ।

२ वाजसातौ अवृकः सखा भुवः— तू युद्धमें सीधा मित्र हुआ है ।

३ प्रमतिं त्वा अनु अगन्म— तुझ जैसे बुद्धिमानके अनुगामी हम होते हैं ।

४ विश्वध जरित्रे उरुशं सः स्याः— सर्वदा तू स्तोताके लिये प्रशंसनीय होता है ।

५ सखा अकुटिलः— मित्र हमेशा अकुटिल हो, कुटिलतासे रहित होकर व्यवहार करे ।

[१८३] हे (मघवन् इन्द्र) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (विश्वे आजौ) सभी युद्धोंमें (त्वायुभिः) तुझे चाहनेवाले (मघवद्भिः) ऐश्वर्योंसे युक्त (द्यावः न द्युम्नैः) द्युलोकके समान तेजस्वी (एभिः नृभिः) इन मरुतोंके साथ रह कर हम (अर्यः अभि सन्तः) शत्रुओंको हराते हुए (पूर्वीः शरदः) बहुत वर्षों तक (क्षपः) दिन रात (त्वा मदेम) तुझे आनन्दित करते रहें ॥ १९ ॥

[१८४] (यथा नः सख्या वियोषद्) जिससे हमारी मित्रता दृढ हो, तथा वह (उग्रः) वीर इन्द्र (नः तनूपाः अविता असत्) हमारे शरीरका पालक तथा रक्षक हो, (एव) इसलिए (भृगवः रथं न) जैसे भृगुओंने इन्द्रको रथ दिया, उसी प्रकार हम उस (वृषभाय वृष्वणे इन्द्राय) बलवान् तथा कामनाओंको पूर्ण करनेवाले इन्द्रके लिए (ब्रह्म अकर्म) स्तोत्र करते हैं ॥ २० ॥

१ उग्रः नः तनूपा अविता असत्— उग्र वीर हमारा शरीर रक्षक तथा संरक्षक हो ।

२ नः सख्या वियोषद्— हमारी इन्द्रके साथ मित्रता दृढ हो ।

[१८५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (स्तुतः गृणानः) स्तुत्य होकर तथा प्रशंसित होकर (जरित्रे) स्तोताके लिए (नद्यः न) जैसे नदियां पानी देती हैं, उसी प्रकार (इषं पीपेः) अन्न दे । हे (हरि-वः) घोडोंवाले इन्द्र ! हम (ते) तेरे लिए अपनी (धिया नव्यं ब्रह्म अकारि) बुद्धिसे नये नये स्तोत्र बनाते हैं । हम (रथ्याः स-दासाः स्याम) रथसे तथा दासोंसे युक्त हों ॥ २१ ॥

१ रथ्याः सदासाः स्याम— हमारे पास रथ और सेवक हों ।

भावार्थ— हे इन्द्र ! तू उत्तम और दिव्य गुणोंसे युक्त मनुष्यकी बुद्धियोंका रक्षक है । तू युद्धमें ऐसे मनुष्योंका सच्चा मित्र होता है । इसलिए उत्तम ज्ञानसे युक्त होकर हम तेरे कहनेके पीछे चलें ॥ १८ ॥

हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! हम सभी युद्धोंमें ऐश्वर्योंसे युक्त होकर तेरे सहयोगी मरुतोंके साथ मिल कर हम शत्रुओंको हरायें । और कई वर्षों तक तुझे आनन्दित करते रहें ॥ १९ ॥

जिससे इन्द्रके साथ हमारी मित्रता दृढ हो, और वह हमारे शरीरोंका रक्षक हो । इसलिए हम उस बलवान् तथा कामनाओंको पूर्ण करनेके लिए उसकी स्तुति करते हैं ॥ २० ॥

[१७]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः। देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् १५ एकपदा विराट् ।]

१८६ त्वं म॒हाँ इ॑न्द्र॒ तुभ्यं॑ ह॒ क्षा अनु॑ क्ष॒त्रं मं॒हना॑ मन्यत॒ द्यौः ।
त्वं वृ॒त्रं शव॑सा जघ॒न्वान् त्सृ॒जः सिन्धूँ॒रहि॑ना जग्रसा॒नान् ॥ १ ॥
१८७ तव॑ त्वि॒षो जनि॑मन् रेजत॒ द्यौ रेज॒द् भूमि॑र्भि॒यसा॒ स्वस्य॑ म॒न्योः ।
ऋ॒घाय॑न्त सु॒भ्व१ः पर्व॑तास॒ आर्द॑न् धन्वा॑नि स॒रय॑न्त॒ आपः॑ ॥ २ ॥
१८८ भि॒नद् गि॒रिं शव॑सा॒ वज्र॑मि॒ष्णन्ना॒विष्कृ॑ण्वा॒नः स॑हसा॒न ओजः॑ ।
वधी॑द् वृ॒त्रं वज्रे॑ण मन्दसा॒नः सर॒न्नापो॒ जव॑सा ह॒तवृ॑ष्णीः ॥ ३ ॥

---

[१७]

अर्थ— [१८६] हे इन्द्र ! (त्वं महान्) तू महान् है, (क्षा तुभ्यं क्षत्रं ह अनु) पृथ्वी तेरे क्षात्रसामर्थ्यके पीछे चलती है, तथा (मंहना द्यौः) महिमासे युक्त द्युलोक भी (मन्यत) तेरी महत्ताको स्वीकार करता है । (त्वं शवसा वृत्रं जघन्वान्) तूने बलसे वृत्रको मारा, तथा (अहिना जग्रसानान् सिन्धुन् सृजः) अहिके द्वारा रोकी गयी नदियोंको बहाया ॥ १ ॥

१ त्वं महान्— तू महान् है ।

२ क्षा तुभ्यं क्षत्रं अनु— पृथ्वी तेरे क्षात्र सामर्थ्यके पीछे चलती है ।

३ मंहना द्यौः मन्यत— महिमासे युक्त द्युलोक भी तेरी महत्ताको स्वीकार करता है ।

[१८७] हे इन्द्र ! (त्विषः तव जनिमन्) तेरे जैसे तेजस्वीके जन्मते ही (स्वस्य मन्योः भियसा) तेरे क्रोधके डरसे (द्यौः रेजत्) द्युकांपने लगी, तथा (भूमिः रेजत्) भूमि भी कांपने लगी (सुभ्वः पर्वतासः ऋधायन्त) महान् पर्वत भयभीत होने लगे, तथा (आपः) जल प्रवाह (धन्वानि आर्दन् सरयन्ते) मरु स्थलोंको गीला बनाते हुए बहने लगे ॥ २ ॥

[१८८] (सहसानः ओजः आविष्कृण्वानः) शत्रुओंको हरानेवाले सामर्थ्यको प्रकट करते हुए इन्द्रने (शवसा वज्रं इष्णन्) बलसे वज्रको प्रेरित किया और (गिरिं भिनद्) मेघोंको फोडा । (मन्दसानः) सोमसे आनन्दित होते हुए इन्द्रने (वज्रेण वृत्रं वधीत्) वज्रसे वृत्रको मारा, तथा (हत वृष्णीः) बलवान् वृत्रके मर जाने पर (आपः जवसा सरन्) जल प्रवाह वेगसे बहने लगे ॥ ३ ॥

१ गिरिः— पर्वत, मेघ, पर्वत परका बर्फ ।

भावार्थ— हे इन्द्र ! हम तेरी स्तुति और प्रशंसा करते हैं, अतः तू जैसे नदियां मनुष्योंको पानी देती हैं, उसी तरह हमें अन्न दे । हम तेरे लिए अपनी बुद्धियोंसे उत्तम उत्तम स्तोत्र बनाते हैं । तेरी कृपासे हम रथ तथा दासोंसे युक्त हों ॥ २१ ॥

हे इन्द्र तू महान् है, यह पृथ्वी भी तेरे सामर्थ्यके वशमें होकर तेरे आदेशोंके अनुसार चलती है । विशाल और विस्तृत द्युलोक भी तेरी महत्ताको स्वीकार करता है । तूने असुरोंको मार कर पानीको प्रवाहित किया, इसी कारण सब लोक तुझसे घबराते हैं और तेरी आज्ञाके अनुसार चलते हैं ॥ १ ॥

इस महातेजस्वी इन्द्रके जन्मते ही इसके क्रोधसे द्युलोक कांपने लगा, भूमि कांपने लगी, सभी पर्वत और और मेघ कांपने लगे और उन मेघोंसे जब जल प्रवाह बहने लगे, तब उन प्रवाहोंसे मरुस्थल भी गीले और पानीसे भर गए ॥ २ ॥

शत्रुओंको हरानेवाले अपने सामर्थ्यसे जब इन्द्रने वज्रको प्रेरित किया, तब उससे मेघ विदीर्ण होकर पानी बरसाने लगे ॥ ३ ॥

[पृष्ठ १८० का शेष]

यहां ' सत्र ' का अधिकांश भाग अनशन- आन्दोलनों पर भेंट कर दिया जाता है, पर व्यवस्थाकी बुराइयां ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं, अच्छा वेतन पाकर भी ऊपरी आयके निकृष्ट हेय स्रोत खोजे जाते हैं; शिक्षकोंको कम वेतन और असभ्यता से भरकर उत्थान आत्मनिर्भरता तथा संपन्नताके मनोरम स्वप्न देखनेका दुस्साहस किया जाता है और थोथी नारेबाजीके बलपर समग्र जन-जीवनको परिवर्तित करनेका स्वांग रचा जाता है।

प्रजातंत्रका ' मुखौटा लगाकर जिस मूर्खतंत्रके प्रसारमें हम लोग दत्तचित्त हो चले हैं; उससे हममें घोर अनास्था, कूरकुण्ठा और अघोर अविवेककी अतिशयता भर गयी है। कृषक-श्रमिकसे लेकर छात्र शिक्षक तक पूरे वर्षके बहुत बड़े अंश तक बेकार रहनेके लिए विवश होते हैं। यह बेकारी वेगके साथ कार्य करनेकी साधनामें अवरोध पैदा करती है।

इस अवरुद्ध स्थितिमें रीता मन, भूखा तन और दवा दिमाग बेकारकी ऊलजलूल गलतियोंमें उलझ जाता है। इसीलिए वेदमें कहा गया है—

पक्षेभिरपि कक्षेभिरत्राभि सं रभामहे।

परन्तु इन सभी उच्चादर्शोंकी पूर्ति तभी संभव हो सकती है, जब—

' मंत्रश्रुत्यं चरामसि '

[मंत्रके अनुसार हमारा चाल-चलन होता है।] पर पूर्ण रूपेण केन्द्रित होनेका प्रयत्न किया जाये।

Regd. No. G. 71

कम कीमतमें भरपूर साहित्यकी
स्वर्णिम योजना

सब सत्यविद्याओंमे सम्पन्न वैदिक-साहित्यको और अधिक लोकप्रिय बनानेके लिए हमने एक नवीन योजना बनाई है। इस योजनाके अन्तर्गत हमारे अमूल्य वैदिक प्रकाशनोंको बिल्कुल ही कम कीमत पर आप प्राप्त कर सकेंगे। इस योजनामें आनेवाली पुस्तकें निम्न हैं।

	पृष्ठ संख्या	पहलेका मूल्य	योजनान्तर्गत मूल्य
१ अथर्ववेद-पांच भागोंमें	१५००	रु. ६४	रु. ४४
२ सामवेद	४००	रु. २०	रु. १४
३ दैवतसंहिता (मूलमात्र)	१०००	रु. ३३	रु. २३
४ गीता पुरुषार्थबोधिनी	१०००	रु. ३३	रु. २३
		१५०	१०४

उपर्युक्त सभी पुस्तकोंमें (दैवत संहिताको छोडकर) देवनागरी लिपिमें मूलमंत्र अर्थ, भावार्थ, स्पष्टीकरण तथा व्याख्या है। ये पुस्तकें हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओंमें उपलब्ध हैं। यह स्वर्णिम योजना १९ सितम्बर १९६९ तकही रहेगी। अतः शीघ्रता करें और आज ही अपना आर्डर भेजें। पुस्तकोंके मूल्यमें डाकव्यय भी शामिल है। पर इन चारों पुस्तकोंको एक साथ मंगवाने वाले सिर्फ ९२ रु. भेजें। उनके लिए रेलभाडा और डाकव्यय मुफ्त होगा।

साइज डबल क्राउन आठ पृष्ठ, टाइप और छपाई सुन्दर। आजही इन पुस्तकोंके लिए लिखें।

व्यवस्थापक,
स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
पारडी (जि. बलसार) (गुजरात)

(१) पुस्तकोंका ऑर्डर भेजते समय इस विज्ञापनका उल्लेख अवश्य करें।
(२) ऑर्डरमें मराठी या हिन्दी भाषाका भी उल्लेख अवश्य करें।
(३) पुस्तकोंको रेलसे मंगवाने पर खर्च कम पडेगा।

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसार]

वैदिक धर्म

अगस्त १९६९

७५ पैसे



धैर्येण भूधर इवाम्बुधिवद् गभीरो यस्तेजसार्क इव शीतकरः शशीव ।
ज्ञानेन गीष्पतिरिवोत्तमकर्मयोगी तं भारतस्य हृदयं तिलकं नमामि ॥

—लोकनायक मा. श्री. अणे



वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक ८ : आषाढ : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

⊙

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.००, विदेशके लिये रु. ८.०० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]

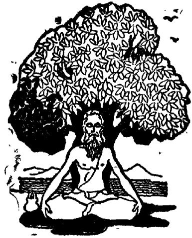
वैदिक धर्म

अद्वितीय बलशाली इन्द्र

नहि ष्मा ते शतं चन राधो वरन्त आमुरः।
न च्यौत्नानि करिष्यतः ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! (आमुरः) हिंसक शत्रु (ते शतंचन राधः) सैकडों तरहके धनको (नहि वरन्ते स्म) नहीं पा सकते, तथा (करिष्यत.) शत्रुओंकी हिंसा करते हुए तेरे (च्यौत्नानि न) बलोंको रोक नहीं सकते

अनेकों हिंसक शत्रु मिलकर भी इस इन्द्रके सैकडों तरहके धन नहीं पा सकते और जब वह इन्द्र हिंसक शत्रुओंका संहार करता है, तब शत्रु संगठित होकर भी उसके बलको नहीं रोक सकते। उसका मुकाबला नहीं कर सकते ॥९१॥



मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेका महामंत्र

(लेखक— श्री धर्मवीर आर्य, झंडाधारी)

मृत्यु पर विजय प्राप्त किये बिना मोक्ष अवस्थाका परम आनन्द मानव लाख जन्मोंमें भी प्राप्त नहीं कर सकता है। जीवन मुक्त होना, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार फलोंका अधिकारी बनना मानव जीवनका परम लक्ष्य है।

मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेका एक मात्रमंत्र यह है कि मनुष्य परमात्माको अपना पिता और परम मित्र मानकर परमात्माकी आज्ञाओंका पालन करनेमें दिन रात प्रति पल लग जाये।

जिस प्रकार माताकी गोदमें आजाने पर एक बालक निःशंक हो जाता है उसी प्रकार परमात्माकी सुखद अमृतमय गोदमें अपने आपको समर्पित कर देने पर भगवान्के भक्तको, महात्माओं और योगियों ऋषियों, विश्ववंदनीय महा पुरुषोंको, तत्त्वदर्शियोंको मृत्युका भय सदाके लिये मुक्त हो जाता है।

आत्मा अमर है

वेदशास्त्र और उपनिषदें गीता आदि सभी ग्रन्थ यह पुकार पुकार कर प्रतिक्षण घोषणा कर रहे हैं कि आत्मा अजर अमर है। आत्माकी अमरताका बोध मनुष्यको जब परमात्माकी कृपासे हो जाता है उस अवस्थामें मृत्युका लेश मात्र भी भय मनुष्यको अधीर नहीं कर पाता है।

ऐसे विश्वके मनुष्यों आजके स्वर्ण प्रभातमें आओ हम ध्यान पूर्वक विचार करें कि यह सुरदुर्लभ मानव शरीर हमें किस लिये प्राप्त हुआ है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह मानव शरीर मृत्यु पर विजय प्राप्त करके मोक्ष अवस्थाको प्राप्त करके परमानन्दमें विचरण करनेके लिये, दुःख द्वन्द्वोंसे मुक्त होनेके लिये लोक उपकारके लिये दैवी गुणोंका धारण करके देव बननेके लिये प्राप्त हुआ है।

यह याद रहे। इस अपार संसारमें केवलमात्र एक ही सार है वह है शुद्ध ज्ञान और वेदज्ञान।

शुद्धज्ञान प्रकाशके बोधसे बोधित हो जाने पर मनुष्य जीवन मरणके बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं।

आजका मानव अपने अन्तःकरणमें परमात्माकी दिव्य ज्योतिके प्रकाशपुञ्जका दिव्य दर्शन करना सर्वथा भूल गया है। आजका मानव मृगतृष्णाके समान इस संसारमें भटक रहा है।

यह याद रहे परम आनन्दका विपुल रत्नकोष मनुष्यके सत्यसंकल्पोंमें और मनुष्यके मनमें ही भरा हुआ है।

मनुष्य अपने शुद्धस्वरूपको यदि जान जाये तो वह परमात्माका अमृतपुत्र बन कर परमात्माकी अपरिमित शक्तियोंको प्राप्त कर विश्व विजय कर सकता है।

मृत्यु पर विजय प्राप्त करना यह विश्व विजयसे कम महत्वकी बात नहीं है।

मृत्युके विकराल कालके गालसे दुनिया कांपती है परन्तु महात्मा और महर्षि लोग हर हालमें प्रसन्न रह कर मृत्युमें भी परमात्माकी लीलाओंका विचित्र चित्रण करते हैं।

आर्यसमाजके जन्मदाता, भारतीय स्वतन्त्रता संग्रामके अग्रदूत, विश्व वंदनीय, युग प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्दजी का अंतिम शब्द यह था ' हे ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो '।

परमात्माकी इच्छा पर अपने जीवनकी बागडोर छोड देने पर हर्ष और शोकमें, जीवन और मरणमें, संपत्ति और विपत्तिमें, कंगालीमें और दुर्दिनोंमें, सनसनाती हुई प्रलयंकारी गोलियोंकी बौछारोंमें, फांसीके फंदोंमें, चमकती हुई तलवार की धारोंमें विश्वके रंगमंचकी सभी घटनाओंमें अंतर आत्मा में जब परमात्माको अपनी ज्ञानकी आंखोंसे जब मनुष्य देख कर परमात्माकी लीलाओंका दर्शन करनेका एक अलौकिक

स्वभाव बना लेता है फिर उस साधकके आनन्द और प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रह जाती है।

इस मानवजीवनको बरबाद मत करो। मनुष्यके एक श्वासका मूल्य अरबों रुपयोंसे बढ कर है। अतः इस मूल्यवान् अपने जीवनको कौडियोंमें मत लुटा दो।

अपने जीवनको विश्वकल्याणके महा यज्ञमें लगा कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलोंका आज इसी क्षण अधिकारी बनो। जीवनके इन सुनहरे क्षणोंको परमात्माके चिंतन, भजन और प्रार्थनामें लगा कर अमर बनो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममतासे न्यारा बनो। मृत्युको भी मार डालनेकी क्षमता प्राप्त करो।

अपने जीवनमें अमृतकी धारा बहा दो। विश्वकल्याणके महायज्ञमें लग कर जीवनके आनन्दका भोग करो। अपने मनमंदिरको परमात्माका घर समझो। मनमंदिरमें ही परमात्माका दिव्य दर्शन महर्षियों, महात्माओं और योगियोंका होता है। अपने जीवनके रोम रोममें, विश्वके कण कणमें, सृष्टिके शृंगार जीवनके बसन्त बहारमें परमात्माको प्रत्यक्ष अपनी ज्ञानकी आंखोंसे देख कर आत्माकी अमरताकी पहचान कर मृत्यु पर विजय प्राप्त करो। यह परमात्माकी ओरसे वेदमंत्रोंमें अमर उपदेश है।

यदि चौरासी लाख योनियोंके महाचक्रमे बच कर मृत्यु पर विजय प्राप्त करना चाहते हो तो परमात्मासे प्यार करो। परमात्माके अमृतपुत्र बनो। चिंताओंकी चितासे बचना चाहते हो तो परमात्माके नामका जप करो, परमात्मा का चिंतन करो। परमात्माके नाममें वह दिव्यशक्ति है कि मनुष्यके सभी दुःख दूर हो जाते हैं।

मनुष्य निर्भय होकर विचरण करने लग जाये, मृत्युका भय लेशमात्र भी न रहे, इससे बढ कर स्वर्गका क्या सुख हो सकता है ?

आओ इस भोगवादकी भूलभूलैयासे मुख मोड कर हम उस परमात्माकी प्राप्तिको अपना मुख्य लक्ष्य बनाकर इस जीवनयात्राको सफल बना लें।

यदि दारुण दुःखसे और मृत्युके यमदूतोंसे बचना चाहते हो तो अपना जीवन यज्ञमय बनाकर अपने जीवनमें अमृत आनन्दको घोल लो। जिस मनुष्यके पास अरबों और खरबों रुपयोंकी संपत्ति है और रत्न जडित स्वर्ण महल भी हैं, चक्रवर्ती साम्राज्यका चाहे वह शासक क्यों नहीं यदि उसमें तप और योग, ज्ञान, वैराग्य, विवेक, संयम, सदाचार, धर्म और कर्म नहीं है, पाप और पुण्यका ज्ञान नहीं है तो वह महा कंगालोंका कंगाल है।

आजके स्वर्णप्रभातमें दैवी संपदाओंका स्वामी बनकर अपना जीवन सार्थक बना लो।

विश्वयुद्धके काले बादलोंसे यदि विश्वको बचाना चाहते हो तो मनुष्य बनो। आज मानवकी शक्लमें दानवताका प्रबल प्रचार हो रहा है। युगधारा बदल गई है। ज्ञानकी ज्योति बुझ सी गई है। स्वार्थपरताकी भयंकर आंधी चल रही है। परपीडाके शमनकी भव्य भावनायें लुप्त प्रायः सी हो रही हैं।

आसुरिसभ्यताके चकाचौंधसे मानव घिर गया है। भोगोंके भयंकर भंवरमें मानव जीवनकी किश्ती फस गई है। ईर्षाकी आगमें आज विश्वका मानव भस्मसात् सा होता दिखाई दे रहा है।

ऐसी विपरीत अवस्थामें मोक्ष अवस्थामें विचरण करना अथवा मृत्यु पर विजय प्राप्त करना सर्वथा असंभव दिखलाई दे रहा है, परन्तु आशावादी बन कर अपने जीवनको उन्नति की दिव्यदिशाकी ओरसे ले चलो। कायर और कपूत कदापि मत बनो। वीर बनो। विश्वविजयके पथमें प्रतिपल आगे बढो।

मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेका मूलमंत्र यह है कि परमात्माको अपनी आत्मामें देख लो। मनुष्यके शुभसंकल्प और शुभभावनायें एव शुद्ध ज्ञानका बोध ही उसको अरबों रुपयोंसे बढकर रत्नकोषके अनन्त भंडारके समान है, अतः विचारों और शुभसंकल्पोंके धनी बन कर महादानी बनो।

मृत्युरूपी महाकालको आज मार भगाओ। मृत्यु पर विजय प्राप्त कर आवागमनके बन्धनोंसे मुक्त होकर अमर बनो। अपनी आत्माके अपरिमित शब्दोंको ध्यानपूर्वक सुननेका प्रतिक्षण अभ्यास करो। जीवनका लक्ष्य निश्चित कर लो। लक्ष्यविहीन जीवन तो पशुपक्षियोंका कूकर और शूकरका होता है। पशु पक्षि भोगयोनिमें जकडे हुए हैं। मनुष्य तो कर्मयोनिका मुकुटमणि है। आप अपने शुभ कर्मोंसे सभी संशयों दुःखों आपदाओंकी बेडियोंको आज काट डालें।

कर्मवीर बनो, धर्मवीर बनो। महा पुरुषार्थ करके अपने भाग्यका निर्माता बनो। एक नई सृष्टिका निर्माण करो। इस भूतलको, अन्तरिक्षको नभके तलको, दशों दिशाओंको नव जीवनका नव संदेश देकर अभय करो। निर्भय बनो।

आजके स्वर्णप्रभातमें आज वेदभगवान्का यह अमर वाक्य समझ जाओ कि मनुष्य शक्तियोंका पुंज है। मानव देव बने और विश्व वंदनीय युगत्राता बने, परमात्माका अमृतपुत्र कहलानेका अधिकारी बने। परम तत्त्वका और वेद विज्ञानका ज्ञाता बने यह शाश्वत परमात्माका अमर उपदेश है।

वसुधैव कुटुंबकम्की भव्य भावनाओंको धारण करके मृत्युकी खाईयोंसे पार होकर दिव्यलोकमें दैवी विचारोंके नये लोकमें विचरण करो, आशावादी बन कर अपने जीवनके रोम रोममें ओज और तेजको प्राप्त कर यह घोषणा करो कि हम अमर है। हम अमर हैं।

विश्वके नीलगगनमें विश्वविनाशकी काली रेखा

आज विश्वका मानवसमाज द्रुतगतिसे प्रति पल भोगवादकी ओर विनाशकी ओर नैतिक पतनकी परकाष्ठाकी ओर बढ रहा है।

आजका मानव रक्तशोषण करनेमें तनिक भी संकोच नहीं कर रहा है। आज यह पृथ्वी अणु और परमाणु बमोंके भयंकर भयसे काप रही है। विश्व युद्धके काले बादल घनघोर घटाके साथ आज विश्वके नभ मंडलमें मंडरा रहे हैं। मानवताकी अर्थी निकाली जा रही है। दुर्दिन और दुष्काल अकाल मंडरा रहे हैं। करुण क्रन्दनसे धरतीको कंपित कर रहे हैं। महाप्रलयके दृश्य दृष्टिगत हो रहे हैं। दिनमें लाख बार मनुष्य अपने विकृत विचारों और अशुभ अभद्र अनैतिक, अमानुषिक, अघपूर्ण विचारोंसे अकाल मृत्युके गालमें मर रहा है। वेद भगवान्का यह उपदेश सृष्टिकी आदिकालका है कि मनुष्यो! दशों दिशाओंमें अभय रहो। अभयका दान दो। मानव बनो।

आज स्वार्थ परताकी भयंकर आंधीका तूफान छा गया है। खाओ, पीओ, मौज करो, रक्तपात करो, ईश्वर और धर्म सब ढोंग है यह प्रवृत्ति आज बन गई है। जो मनुष्य ईश्वर और धर्मपर परमात्माकी सत्तापर कर्मगति और कर्मफल पर विश्वास नहीं रखता है, वह मनुष्य मनुष्य नहीं है हैवान है।

भारतके आकाशमें विश्वशांतिका सूर्य

महर्षियोंकी पुण्यभूमि वृद्ध भारतकी ओर आज विश्वके भोगवादी मानव समाजकी दृष्टि लगी हुई है। विश्वमें पुनः रामराज्य भारतीय विचारधारासे, वेदोक्त जीवनके निर्माणसे ही स्थापित होगा।

अशब्द पद

(लेखक— श्री विश्वामित्र वर्मा)

☆

सूर्यका न तो उदय होता है, न अस्त होता है, सूर्य तो सदैव प्रकाशमान् है, पृथ्वीकी गतिमात्रसे सूर्योदय और सूर्यास्तका भ्रम होता है उसीप्रकार आत्मप्रकाश सदा उदय रूप है और अस्तसे रहित है। वास्तवमें न कुछ उपजा है, न लीन होता है। चिन्मात्र सत्ता ज्यों कि त्यों अपने आपमें स्थित है, अखण्ड और सूक्ष्म है, स्पर्श नहीं किया जाता। दृश्य जगत् सब आत्मरूप है, आत्मा और जगत्‌में कुछ भेद नहीं, केवल कहनेमात्रके दो नाम है, वास्तवमें एक आत्मा ही है। आत्माका चमत्कार ही जगत्-रूप भासता है, वास्तवमें जगत् कुछ बना नहीं। चिन्मात्र-सत्ता अपने आपमें स्थित है, जो कुछ भी कहा जाता है वह उपदेशके निमित्त, वास्तवमें दूसरी कुछ वस्तु नहीं बनी।

दृष्टा जब दृश्यको देखता है तब अहंभावको नहीं देखता। नेत्र जब घट देखता है तब घट भासता है, नेत्रस्वभाव नहीं दृष्टि आता। दृश्यके होते द्रष्टा नहीं भासता। जब दृश्य नष्ट होता है तब द्रष्टा भी अवास्तव है क्योंकि दृश्यके संबंधसे ही द्रष्टा होता है। दृश्य न होने पर द्रष्टा किसको कहें? जैसे पिता बिना पुत्र नहीं होता, एक बिना द्वैत नहीं और द्रष्टाके बिना दृश्य नहीं।

वासनासे आवेष्टित अभोक्ता ही अपने आपको भोक्ता देखता है, जैसे स्वप्नमें मनुष्य अपना मरण प्रत्यक्ष देखता है वैसे ही यह जगत् भ्रमसे भासता है। सब भ्रान्तिमात्र है। जैसे आकाशमें नीलिमा दिखती है, वैसे ही आत्मामें विश्व भासता है। जब सम्यक् बोध होता है तब द्वैत भी अद्वैत भासता है। अज्ञानसे ही द्वैतकी कल्पना होती है, वास्तवमें द्वैत कुछ नहीं। अज्ञान मिटनेसे द्वैत मिट जाता है। ब्रह्म और जगत्‌में कुछ भेद नहीं, जैसे जल और द्रवता, वायु और स्पन्दन, आकाश और शून्यतामें कुछ भेद नहीं। द्वैत और अद्वैतकी कल्पना ही दुःख है, इस कल्पनासे रहित होनेका नाम परमपद है।

जैसे शाखा पत्र, फूल और फलसे बीज अपना बीजत्व नहीं त्यागता, अखण्ड रहता है, वैसे ही चिद् अणुके भीतर जगत्‌का विस्तार है, और अणुत्व भाव नहीं त्यागता, अखण्ड ही रहता है। जैसे बीजसे वृक्ष अनन्यरूप अनेक होकर भासता है वैसे ही आत्मा अनेक रूप भासता है। न कुछ उदय हुआ है, न मिटता है। सब कुछ मन और इन्द्रियोंसे दृष्टिगोचर भासता है। पंचेन्द्रियों न हों तो क्या भासे? चित्तने सब जगत्‌रूपी चित्र मनमें ही रचे हैं। जैसे मोरका अण्डा कालान्तरसे अनेक रंग धारण करता है वैसे ही मन अनेक प्रकारके जगत् धारण करता है, वह मन जड और अजडरूप है। बोध होने पर ही वाच्यका मौन होता है।

संकल्प प्रमादका नाम मन है, इसका नाश होनेसे तृष्णा-का नाश होता है। जगत् मनके संकल्पमें है, उस संकल्पका त्याग करो। तृष्णासे रहित मनुष्य मुक्त होता है। अहं त्वं इदं आदिकका चिन्तन मत करो, यही महा मोहमय दृष्टि है, इसको त्याग कर एक अद्वैत आत्माकी भावना करो। अनात्मामें जो आत्मा भाव है वही दुःखोंका कारण है। इसके त्यागसे ही ज्ञानवान् होता है। अहंमात्र अपवित्र भावना है। जिसने तृष्णा वासनाका त्याग किया है वह सब क्रियाओंमें आत्मा जानता है। उसके हृदयमें वासनाका त्याग है और बाहर इन्द्रियोंसे चेष्टा करता है फिर भी वह जीवनमुक्त है। जिसकी सब वासना नष्ट हुई है, जिसने देहाभिमान त्याग दिया है भीतर बाहर चेष्टारहित हो गया है, जिसने हृदयका संकल्प और बाहरकी क्रिया भी त्याग दी है वह विदेहमुक्त है परमतत्त्वमें स्थित है जीवन मुक्तके हृदयमें वासनाका त्याग होते हुए भी बाहरसे वह क्रिया करता है।

जिसकी भोगोंकी तृष्णा मिट गई है, और वर्तमानमें निरंतर विचरता है वह निष्कलंक कहलाता है। जिसको निश्चय है कि सब जगत् आत्मस्वरूप है उसको रागद्वेष तृष्णा नहीं दुःख देते। न मैं हूं न यह जगत् है, सब अविद्यारूप है, ऐसा चिन्तन कर सबका त्याग करो, अथवा ऐसा विचारो कि ज्ञानस्वरूप सब सत्य असत्य मैं ही हूं। मेरा स्वरूप सबका प्रकाशक, अजर अमर निर्विकार निष्क्रिय और परम अमृतरूप है और निष्कलंक जीवन शक्तिका

जीवनरूप और सब कल्पनासे रहित कारणका कारण हूं। जैसे सूर्य प्रकाशित है, उसे न किसीसे विरोध है, न किसीसे स्नेह है, ऐसा मैं हूं।

संसारके, देहके संबंधी मातापिता वायुसे उडनेवाले धूलके तत्वोंके कणके समान हैं जो परस्पर मिलकर अनेकरूपोंकी रचना करते हैं और पृथक् होते हैं। वास्तवमें न कोई बान्धव है, न मातापिता है, न मित्र है, न शत्रु है, सम्पूर्ण जगत् जाल भ्रम है। सब कल्पित है। वासना योगसे सब होते है, वास्तवमें न किसीका जन्म मरण है, न मातापिता है। आत्मदर्शी पुरुषको क्रिया स्पर्श नहीं करती परंतु अज्ञानियोंको देव इन्द्रियोंके कर्म स्पर्श करते है। इस मिथ्या रूप संसारमें किसकी इच्छा करे और किसका त्याग करे, ऐसा विचार कर अनन्त तृष्णा और इच्छाका त्याग करना ही जीवनमुक्तिकी परम औषध है। तृष्णा इच्छा पूर्ण करनेसे कभी पूर्ण नहीं होती वरन् बढती है। जबतक मनुष्य जगत् कोषमें रहता है, वह मन तृष्णारूपी नामसे रहित नहीं होता तबतक कष्ट है, और जब आत्मविवेकसे मन पूर्ण होता है तबसब जगत् अमृतरूप भासता है जैसे जूता पहिननेसे सर्वत्र चर्म ही पैरोंमें भासता है, और उतार देने पर गरमी सरदी गीला सूखा ठोस नरम आदि भासता है।

बुद्धिके विचारसे सर्वदा सम और आत्म दृष्टि देखना और तृष्णाका बन्धन त्यागना, परस्पर मुक्तिका कारण है। परमात्माको देखनेसे तृष्णा दूर होती है, और तृष्णाके त्यागसे आत्मदर्शन होता है, जैसे नौकाको केवट ले जाता है, और केवटको नौका ले जाती है।

संसार भ्रम और मायामात्र है, सहस्रों वर्ष सहस्रों जन्म भटकने पर भी शान्ति नहीं होती। भोगोंकी ओर दौडना अमृत छोड विषका बीज बोना है और सब दुःखोंके निमित्त चेष्टा है। जैसे रेशमका कीडा अपना घर बढाकर अपनेको बन्धनमें बन्द कर लेता है, मनुष्य अपने संकल्पसे स्वयंको बांधता है। जिह्वासे बोले गये शब्द व्यर्थके बकवाद है; कानसे सुने हुए शब्दोंके प्रति, हिरणकी तरह, शुभ अशुभके आकर्षणसे मनुष्य भटकता है; त्वचाके स्पर्शसे सुख दुःखकी भावनासे हाथीकी तरह नष्ट होता है, रसनाके स्वादसे मछलीकी तरह फंसता है और गंधके आश्रयसे भ्रमरके समान, और वासनाके आवेगसे सुन्दर कामिनी पर पतंगके समान जल मरता है। जो केवल एक ही इन्द्रियका स्वाद लेते हैं वे भी नष्ट होते हैं, फिर पांच इन्द्रियोंके सेवन करनेवालेकी क्या गति होगी, यह विचारणीय है। पंचतत्वरूप शरीरमें अहं कुछ भी नहीं। अह इन सबसे परे है, और इनके संगसे अहंकार दुःखका कारण है। देह वस्तु भी कुछ नहीं, केवल मनका विकार है, सब मनके स्फुरणसे बना है। जिस मनमें सदा वासना स्फुरती है, उसको सदा क्षोभ होता है, जिस चित्तसे वासना नष्ट होती है उसको अचल स्थिति कहते है, अतएव निर्वासना होनेसे परमपदकी प्राप्ति होती है। जिस चित्तमें वासनाकी गन्ध होती है उसमें कर्तृत्वका अभिमान होता है और सदा चंचल और दुःखी होता है। वासना क्षीण होनेसे मुक्त होता है। जिसका चित्त अन्तर्मुख हुआ है वह सोवे या बैठे, चले या देखे, उसे ग्राम नगर सब जंगलरूप मालूम होता है, और सब जगत् आकाशरूप भासता है। जो आत्मपदको प्राप्त हुआ है और इन्द्रियोंसे भी,कर्म करता है परंतु हर्ष या शोक नहीं करता वह स्थितचित्त होता है। वह आत्माको सर्वत्र देखता है, रागद्वेषसे रहित होता है और भविष्यत्की इच्छा नहीं करता। किसीमें ममता नहीं रखता और संसारकी गतिको देखकर हंसता है : वह आकाशके समान निर्मल है स्वभावतः मुक्त है, ऐसा व्यक्ति अहंकारसे रहित होता है, न जगत्के सत्यभावको देखता है न असत्य भावको, न ज्ञान न अज्ञान, न जड चेतन; वह केवल अद्वैत तत्व देखता है। वह खडा हो या सोया बैठा हो, भोगोंमे हो या वनमें, मद्यपानसे उन्मत्त नृत्य करे या तीर्थ कंदराओंमेंसे निवास करे, शरीरपर चन्दन लगावे या कीचडमें पडा रहे, अभी मरे या लाख वर्ष बाद, ऐसे कोई कलंक नहीं लगता। जैसे स्वर्णको कीचडसे दोष नहीं लगता वैसे ही ज्ञानीको कर्तृत्वका दोष नहीं लगता। महापुरुष अहंकार रहित होनेके कारण कर्तृत्व दाष नहीं पाते। अहंकार से ही दीनता हीनता और विकार आते हैं। सुख दुःख जन्म-मरण भय होते हैं।

यज्ञसंबंधी कतिपय शंकायें एवं उनके उत्तर

(लेखक— श्री पं. वीरसेनजी वेदाश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य)

[गताङ्कसे आगे]

(इ) सन्यासयज्ञमें अथर्वके १९वें काण्डके ४२ वें तथा ४३ वें सूक्तका क्रमशः आहुतियोंमें प्रयोग हुआ है और उन दोनोंका भी एकीकरण करके प्रयोग हुआ है। परंतु वहांपर केवल सूक्तके प्रारंभमें ही ओम्‌का प्रयोग हुआ है, सर्वत्र नहीं। इसी प्रकार उसके आगे भी १५ मातकी आहुतियोंमें प्रथम और ग्यारहवें मन्त्रमें ओम् प्रयुक्त किया है, शेषमें नहीं। यह सब प्रेसकी भूल या प्रमादवश नहीं है अपितु युक्ति युक्त है जैसा महर्षिने उचित समझा प्रयोग लिख दिया है। अनुसरण करना हमारा कार्य है। जैसा पूर्व लिखा है कि कहीं-कहीं यज्ञमें सूक्तके आदिमें ही ओम्‌का प्रयोग होता है, शेष मन्त्रोंमें नहीं, इसका यह स्पष्ट उदाहरण है।

(ई) अन्त्येष्टिमें भी केवल प्रथम ५ मन्त्रोंमें ओम्‌का प्रयोग है, शेष मन्त्रोंमें नहीं है। अतः ' अथ वेद मन्त्राः " वहां लिखा है केवल उसके आदि मन्त्रमें ओम्‌का प्रयोग करके शेषमन्त्रमें ओम्‌के प्रयोगकी आवश्यकता नहीं ऐसा ही ज्ञात होता है। क्योंकि यह सब " नो कुर्यात्सोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् " -इस शास्त्रीय विधानके अनुकूल ही है।

(२) शंका— समिधादान क्रियामें दो मन्त्रोंसे एक समिधादान करना संगत नहीं। एक मन्त्रसे एक समिधादान होना चाहिए, दूसरे मन्त्रसे दूसरी समिधा। या वहां एक ही मन्त्र होना चाहिये दो मन्त्र नहीं। जब दो मन्त्रोंके मध्य स्वाहाका भी प्रयोग है तो स्पष्ट है कि वहां समिधाकी आहुति होनी चाहिये। नहीं तो दोनों मन्त्रोंके मध्य स्वाहा शब्द उच्चारण न करके दोनों मन्त्रोंके अन्तमें एक ही स्वाहा का प्रयोग करना चाहिये, तब संगत होगा।

उत्तर— यह शंका एक ऐसी पुरानी है कि इसका समाधान लोगोंको यही प्रतीत हुआ कि केवल ३ ही मन्त्र समिधादानके होने चाहियें। अतः किन्हींने एक मन्त्र कम कर दिया। किन्हींने ४ मन्त्रोंसे ४ समिधादानका विधान कर दिया और किन्हींने दो मन्त्रोंके मध्यका स्वाहा एवं इदं न ममका भाग लुप्तकरके दोनों मन्त्रोंके पश्चात् ही स्वाहाका प्रयोग प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार अनेक रूपमें इसका समाधान व्यवहारमें प्रचलित हो गया। यहां तक कि एक बार सार्वदेशिक धर्मार्य सभाने भी यह निर्णय कर दिया कि द्वितीय समिधादानके प्रथम मन्त्रके अन्तमें जो स्वाहा एवं इदं न मम है उसको पुस्तकोंमें छापा तो जाय परंतु बोला न जाय।

उस समय मैंने धर्मार्य सभाके मन्त्रीजीको लिखा कि यह निर्णय भी अयुक्त है तथा जैसा है वैसा ही छपे और बोला भी जावे—यही ठीक है। यदि हम अभी समुचित समाधानके प्राप्त न होनेसे कोई विपरित निर्णय कर लेते हैं और उसको प्रचलित कर देते हैं तो कालान्तरमें इसका समुचित समाधान प्राप्त होनेपर पुनः इसीको मान्य करना पडेगा। उस स्थितिमें आर्यजनता समझेगी कि धर्मार्य सभाके विद्वानोंने जल्दबाजीमें बिनाविचारे अविवेकपूर्ण निर्णय कर दिया था। अतः जैसा ऋषिने प्रयोग किया है वह वैसा ही रहना चाहिये। उसमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

मुझे तो महर्षिके इन दोनों कर्मकाण्डके ग्रन्थोंके देखनेसे अनेक प्रकारके कर्मकाण्ड सम्बन्धी रहस्य ज्ञात हुए हैं। यह भी याज्ञिक शैली है कि दो या अधिक मन्त्रोंसे केवल अन्तिम मन्त्रान्तमें स्वाहाका प्रयोग किया जावे और यह भी याज्ञिक शैली है कि दोनों मन्त्रोंमें स्वाहाका प्रयोग हो और केवल एक ही आहुति हो। ऐसे प्रयोग द्वन्द्वाहुति मन्त्र कहलाते हैं। बृहदारण्यकोक्त श्री मन्थ कर्ममें संस्रवकी ३० आहुतियां होती हैं। उनमें प्रथम छः आहुतियां द्वन्द्वसंज्ञक हैं। उनमें मन्त्रोंके प्रथम भागके स्वाहा पर आहुति दी जाती है अन्तके स्वाहापर नहीं। पीछेका भाग मन्त्र समाप्तिसूचक ग्राह्य किया जाता है। वहां मन्त्र निम्न प्रकार हैं– " ओम्

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा । इदं ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय न मम ॥ ''- इसी प्रकार ६ मन्त्र द्वन्द्वाहुतिके हैं । इन ६ मन्त्रोंमें १२ स्वाहा हैं, परन्तु कुल ६ बार ही ओम् और ६ बार ही आहुतिका विधान है । अतः संस्कार विधिमें भी प्रतीयमान दो मन्त्र इस कर्ममें एक मन्त्रवत् दो स्वाहासे युक्त होकर द्वन्द्वाहुतिके परिचायक हैं ।

तीन ही आश्रमोंमें भौतिक यज्ञ होता है । प्रथम समिधा प्रथम आश्रमकी प्रतीक है । ब्रह्मचर्याश्रममें ब्रह्मचारी स्वयं समिधारूपसे एकाकी ही समिद्ध हो रहा है । दूसरी समिधा द्वितीयाश्रमकी प्रतीक है, जहां सब कार्य द्वन्द्वात्मकरूपसे ही किया जाता है । द्वन्द्वाहुति द्वारा दो मन्त्रोंके संयोगसे दो स्वाहासे एक ही क्रिया सम्पन्न की जाती है । तीसरी समिधा वानप्रस्थाश्रमकी प्रतीक है जिसमें एकाकी जीवन है । अतः प्रथम और तीसरी समिधाके मन्त्र एक-एक ही है ।

इस प्रकार जीवन यज्ञकी क्रियाके साथ बाह्य अग्निहोत्रमें समिधा दानकी क्रिया संगत है । उन्हीं आश्रमोंका प्रतीक समिधादानका रूप है । इस दृष्टिसे तथा प्राचीन कर्मकाण्डकी परिपाटीके अनुरूप व्यवहार मिलनेसे दो मन्त्रोंसे एक समिधादानका प्रयोग जिस रीतिसे महर्षिने किया है वह पूर्ण संगत है । इसमें कोई संशोधन, परिवर्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है । जो लोग अपनी अल्पज्ञताके कारण ऋषिके ग्रंथोंमें जहां अपूर्णता देखते हैं, वहां ऋषिकी अपूर्णता नहीं है, अपितु हमारी ही अल्पज्ञताका कारण है ।

(३) शंका- महर्षि दयानन्दजीने स्वस्तिवाचनादिके पश्चात् अग्न्याधानसे पूर्व आचमन करनेको लिखा है, परन्तु आचमन तो प्रार्थनामन्त्रोंसे पूर्व ही होना चाहिये । सार्वदेशिक धर्मार्यसभाने भी यह मान्य कर लिया है ।

उत्तर-सार्वदेशि धर्मार्यसभाके सदस्य यदि आचमनको प्रथम करना उपयुक्त समझते हैं तो पूर्वआचमन करनेका भी निर्णय दे सकते हैं परन्तु जिस स्थलपर महर्षिने आचमनका विधान किया है, उसका लोप नहीं कर सकते । यदि वे ऐसा निर्णय करते हैं तो वास्तवमें यह उनके अधिकार क्षेत्रके बाहरकी बात है । अतः उनका यह कृत्य अनुचित ही है । कर्मकाण्डका मन्थन किये बिना निर्णय देनेसे पद-पद पर गलती हो जाती है । यहां भी इसी कारण गलत निर्णय दे दिया है ।

आचमनके जलको अग्निके प्रज्वलित करनेसे पूर्व लानेका विधान है । यथा—

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायं प्रातरगुप्ता अप आहरेत् परिचरणीयाः ।

अर्थात् सायं प्रातः अग्नि संदीपनकालके पूर्व आचमनके जलको लाना चाहिए और तत्पश्चात् आचमन करना चाहिए । इसके पश्चात्— ''... अग्निं प्रादुष्कृत्य आहुतिं जुहुयात् '' । (गोभिलगृह्यसूत्र अर्थात आचमनके अनन्तर अग्निको प्रज्वलित करके यथा समयकी जो आहुतियां हैं उनको देवे । इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि आचमन अग्न्याधानके ठीक पहले ही करना चाहिये । अतः संस्कार विधिमें महर्षिने अग्नि प्रदिप्त करनेसे पूर्व जो आचमन करनेका विधान किया है शास्त्रानुकुल है । उसको यथास्थान करना ही चाहिये । वह यज्ञका महत्वपूर्ण अंग है । आरंभका आचमन तो बाहरसे आगमनके कारण जो किया जाता है वह तो अपनी शुचताके निमित्त है, परंतु अग्न्याधानसे पूर्वका आचमन यज्ञांगका महत्वपूर्ण अंश है जैसा कि विवाह संस्कारमें भी आचमनके पश्चात् ही अग्न्याधान करनेको वरको लिखा है । दुबारा, दूसरे स्थलपर भी ऐसा ही विधान प्राप्त होनेसे संदेह निवृत्ति हो जाती है और पुष्टि भी होती है ।

(४) शंका- महर्षि स्वामी दयानन्दजीने संस्कारविधिमें ऋत्विग्वरण, शांतिप्रकरणके पश्चात् लिखा है, परंतु वरण तो प्रथम ही होना चाहिये और यह भूल किसी कारणसे हो गई है इसे भी धर्मार्यसभाने ठीक करके प्रथम ऋत्विग्वरण करनेका विधान करके पुन आचमन तत्पश्चात् ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचनादिका क्रम निर्धारित किया है । क्या यह ठीक है ?

उत्तर-ऋषिके लेखको अयुक्त बताकर अज्ञानवश अपनी चलाना ठीक नहीं है । ऋषिकर्मकाण्डकी विधियोंके ज्ञाता थे और उसके प्रबल प्रचारक भी । अतः उनने जो कुछ भी लिखा है वह सब ठीक लिखा है । हमारी अज्ञानतासे उसमें दोष दीखता है । सभा द्वारा ऐसे निर्णयोंसे यही समझा जाता है कि वास्तवमें महर्षिने अशुद्धियां की हैं ।

प्रथम कारण तो यह है कि स्वस्ति वाचनादिके लिये ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, उद्गाताका वरण कहीं होता नहीं । इनके वरणका प्रश्न यज्ञ प्रारंभ करने पर ही होता है अतः

यज्ञके पूर्वही इनका वरण होता है और होना भी चाहिये। महर्षिने इस क्रियाको यज्ञके पूर्व ही लिखा है वही ठीक है। जैसा कि विवाह संस्कारमें अग्न्याधानके पूर्व पुरोहित स्थापना-का आदेश देनेसे भी इसकी पुष्टि होती है कि वरण, यज्ञके अग्न्याधानके पूर्व ही होता है।

दूसरा कारण यह है कि मुझे कुछ अन्य सम्प्रदायोंके यज्ञोंकी स्थितियोंका अध्ययन करने पर भी महर्षिके ही पक्षकी पुष्टि प्राप्त हुई। उनमें निम्न क्रम है

(१) आचनम। प्राणायामः। पवित्रधारणम्। शान्ति-सूक्तपाठ। देशकालौ संकीर्त्य संकल्पः। ब्रह्मासन-स्थापनम्

(२) पवित्रधारणम्। स्वस्तिवाचनम्। संकल्पः। ब्राह्मणानां वरणम्॥

इनके अनुसार जो अन्य सम्प्रदायोंमें पूर्वसे प्रचलित है उसमें भी वरण स्वस्तिवाचनादिके पश्चात् है। अतः महर्षिने यहां पर जहां लिखा है वह उचित ही है

(५) शंका– हम यह मान लेते है कि स्वस्तिवाचनादिके पश्चात् अग्न्याधानसे पूर्व वरण करना ठीक है परन्तु अग्न्या-धानके बाद वरण करना तो असगत ही है जैसा कि जातकर्म संस्कारमें अग्न्याधान एवं समिधादानके पश्चात्–" ओम् आवसोः सदने सीद " यजमानसे कहलाकर पुरोहितका वरण किया गया है।

उत्तर– विवाह संस्कारकी अनेक क्रियाओंके पश्चात् तक जातकर्म समिधादानके पश्चात् पुरोहित स्थापना यह स्पष्ट कर देता है कि जो यह मानते हैं कि वरणकी क्रिया सर्व प्रथम होनी चाहिये वह पक्ष महर्षिको मान्य नहीं है और न वैसा अन्य यज्ञों व सम्प्रदायोंमें भी पूर्वसे प्रचलित हैं। अतः जहां जो लिखा है वैसा ही करना उचित है यही उचित प्रतीत होता है।

जातकर्ममें अग्न्याधान व समिधादानके बाद पुरोहित स्थापना यह बताती है कि बादको भी पुरोहित वरण किया जाना असंगत नहीं है। दर्शपौर्णमासेष्टि में समिधानके पश्चात् ब्रह्माका वरण होता है जो कि प्राचीन इष्टि है। अतः स्पष्ट ज्ञात होता है कि ठीक अग्न्याधानके पूर्व या अग्न्याधान और समिधानके पश्चात् भी वरण किया जाना प्राचीन ऋषिमुनियों की परिपाटीके अनुकूल है और वह पूर्ण संगत है

+

(६) शंका– आजकल यज्ञोंमें मन्त्रोंके मध्य व्याख्यान भी दिया जाता है उससे यज्ञकी रोचकता बढ जाती है। यज्ञमें भाग लेनेवाले ऊबते (बोर) भी नहीं है और उनकी यज्ञके प्रति रुचि बढती जाती है, आनंद भी खूब आता है और बिना अर्थके मन्त्रोंका भी लाभ क्या ? क्या शास्त्रीय दृष्टिसे यह भी ठीक है ?

उत्तर– सामान्य व्यावहारिक उपयोगिताकी दृष्टिसे यह ठीक है, परन्तु कर्मकाण्डकी दृष्टिसे तथा शास्त्रीय दृष्टिसे सर्वथा अशुद्ध व्यवहार है एवं त्याज्य है। महर्षि स्वामी दयानन्दजीने संस्कार विधिकी भूमिकामें संस्कारोंके मन्त्रोंके अर्थोंको इस संस्कार विधिमें न लिखनेके प्रसंगमें लिखा है कि—

" जो (अर्थ) देखना चाहें वहां (वेदभाष्य) से देख लेवें।"

परन्तु आजकल यज्ञोंके कर्मकाण्ड भागको तो लोग कम कर देते हैं एवं अपनी व्याख्या आदिमें समय व्यतीत कर देते है वह महर्षिकी दृष्टिसे ठीक नहीं प्रतीत होता। अर्थात् महर्षिने कर्मकाण्डमें अर्थके व्याख्यान कार्यको प्रधानता नहीं रखी है परन्तु आजकल अर्थ करनेकी आडमें व्याख्यान एवं मनोरंजनादिके कार्य यज्ञमें स्थान प्राप्त करने लगे।

यज्ञ या संस्कारके बाद उस पर व्याख्यान, प्रवचन उपदेशादि होना तो उचित है परन्तु कर्मकाण्डके समय कर्मकाण्डकी ही प्रधानता रखनी चाहिये। इसी प्रकार सामान्य प्रकरणके अन्तमे भी लिखा है कि—

' कर्म करानेवाले शान्ति, धीरज और विचार पूर्वक क्रमसे कर्म करें और करावें "। यहां पर भी यज्ञ या संस्कारके अवसर पर कर्मका ही उल्लेख है। न कि व्याख्यानादिका। अत. यज्ञमें कर्मकाण्डकी ही प्रधानता रखनी चाहिये और उसके पश्चात् प्रवचनादि करते हुए यज्ञमें प्रयुक्त मन्त्रोंका अर्थ भी समझाना चाहिये।

इसीप्रकार दर्शपूर्णमास पद्धतिमें—

" न मानुषीं प्राकृतां वाचमुच्चारयेद् अपितु प्रयोजन-वतीमल्पाक्षरां संस्कृतवाचमेव सत्यवसरे वदेत्। मध्ये प्रमादिना मानुष्यावाच उच्चारणे ब्रह्मा ध्रुवश्च र ओंउसविष्णो इति वैष्णवमन्त्रं जपेत्। "

अर्थात् यज्ञमें मानवीवाणी, प्राकृत लोक भाषाका उच्चा-रण न करे अपितु प्रयोगवती थोडे अक्षरोंवाली संस्कृतवा

ही अवसर उपस्थित होनेपर बोले। यदि मध्यमें प्रमादि वश मानुषी लोकभाषा उच्चारित हो जावे तो, उस विष्णो इस वैष्णव मन्त्रका जप प्रायश्चित्त रूपमें करें।

इस वाक्यसे स्पष्ट है कि यज्ञोंके मध्य-मध्य जो व्याख्या करनेकी प्रथा प्रचलित की गई है वह बिल्कुल त्याज्य है तथा इसका निषेध तो है ही परन्तु उससे दोष भी हो जाता है। और उसका प्रायश्चित्त भी करना पडता है।

शतपथ ब्राह्मणमें भी—

" सह यदिदं पुरा मानुषीं वाच व्याहरेत्।
तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्...
तस्योहैष प्रायश्चित्तिः "

अर्थात् यदि यज्ञमे मानुषी वाणीका उच्चारण करे तो वैष्णवी ऋचा या यजुका जप करे। यह उसका प्रायश्चित्त है। —इस प्रकार ये वाक्य भी स्पष्ट रूपसे यज्ञमें कर्मकाण्डके मध्यमें अपनी व्याख्या रूपी वाणीका प्रयोग करनेका निषेधक ही है।

इसी प्रकार आगे भी शतपथमें—

" इतो वै नः पापीयः सचते भूयो हि मानुषी
[illegible]न्तीति "

अर्थात् जो यज्ञमें पुनः पुनः मानुषीवाणीका उच्चारण किया जाता है उससे हम लोगोंको पापकी प्राप्ति होती है। ये उद्धरण यज्ञको यथावत् अनुष्ठान करनेके लिये और यज्ञमें व्याख्यानादि देनेके कार्यका स्पष्ट निषेध करते हैं।

मन्त्र व्याख्यानोंका लाभ है अतः उनको भी अपने स्थान पर यज्ञके बाद करना चाहिये परन्तु कर्मकाण्ड, यज्ञादिको ही व्याख्यान यज्ञके रूपमें परिणत नहीं कर देना चाहिये। जिनको वेदादिका और कर्मकाण्डका अभ्यास नहीं है या कर्मकाण्डके कर्मको नहीं समझते, उनकी प्रवृत्ति व्याख्यानोंको यज्ञमें करनेकी हो जाती है, वे अपना पाण्डित्य व्याख्यानोंसे प्रदर्शित करके भोलीभाली जनता पर अपना प्रभाव जमाकर उस कर्मकाण्डको धर्म अर्थ काम और मोक्षरूपी संस्कारोंसे रहित करके मनोविनोदके रूपमें परिणत कर देते हैं। कई स्थानों पर तो ऐसे व्याख्यान देनेवाले यज्ञके पवित्र वातावरण गंभीरता एवं आध्यात्मिकताको नष्ट करके उसे विनोदस्थली बना देते हैं। इससे यज्ञ भ्रष्ट ही हो जाता है।

एक व्याख्याता यज्ञमें कुछ कुछ मन्त्रोंके बाद ऊटपटांग व्याख्या करते, बीचबीचमें ऊर्दूकी शेरें भी सुनाते-ऐसे सब मनोरंजन प्रकार तुरन्त बन्द होने चाहिये। यज्ञके मध्यमें मानुषी वाणीका उच्चारण नहीं करना चाहिये। ऐसे लोग परमात्माकी वेद वाणीसे खिलवाड करते हुए अपनी रोचक व्याख्याको अधिक महत्त्व देते हैं। ऐसे भ्रष्ट यज्ञोंका बडा भारी प्रायश्चित्त करना चाहिये।

गोभिलगृह्य सूत्रमें लिखा है- " ऋते भगया वाचा अशुचिः " अर्थात् परमैश्वर्यवान् वेदवाणीके अतिरिक्त यज्ञमें वाणीका प्रयोग करनेसे अपवित्रता होती है। अतः यज्ञोंको अपवित्रता दोषसे बचानेके लिये ये जो बीचबीचमें व्याख्यानकी प्रथा चल पडी है उसको बिलकुल छोडना चाहिये।

यज्ञमें इसप्रकार व्याख्यानोंसे यज्ञका आनंद तो आता हो नहीं, व्याख्यानका ही आनंद आता है अतः मन प्रभुसे हटकर लोकमें लग जाता है। यह अच्छा है या बुरा इसे आपको निर्णय करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यह प्रथा सर्व प्रकारसे अहितकर है इससे कर्मकाण्ड प्रणाली पर रुचि कम होती जाती है अतः सर्वथा त्याज्य है।

(७) शंका— वेदमें कई मन्त्र ऐसे आते हैं जिनके अन्तमें स्वाहा शब्द है उन मन्त्रोंसे आहुति करते समय क्या पुनः दूसरा स्वाहा शब्द और बोलकर आहुति करनी चाहिये ?

उत्तर- - जिन मन्त्रोंके अन्तमें स्वाहा शब्द वेदमें जुडा है उनके अन्तमें जो याजक अज्ञानसे पुनः स्वाहा उच्चारण करके आहुति देते हैं दिलाते हैं यह ठीक नहीं। वैदिक अग्निहोत्रके मन्त्रोंसे ही यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। प्रातःकालीन आहुतियोंमें मन्त्र है—

ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ९ ॥
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ यजु अ. ३ म. ९–१०

वेदमें ये दो मन्त्रोंके अन्तिम भाग है। वेदमें दोनोंमें स्वाहा शब्द संयुक्त है। महर्षि दयानंदजीने इन मन्त्रोंके साथ दुबारा लिखकर आहुति देनेका विधान नहीं किया है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि जिन मन्त्रोंमें स्वाहा शब्द मन्त्र का अंग है उनमें पुनः स्वाहाका प्रयोग नहीं करना चाहिए और भी अनेक उदाहरण संस्कार विधिमें ऐसे मिलते हैं।

(८) शंका— जिन मन्त्रोंके आदि या मध्यमें या अनेकबार स्वाहा आता है उनमें मन्त्रके अन्तमें स्वाहा बोल कर क्या आहुति दी जावेगी और आदिके या मध्यके स्वाहा या अनेकबार आये स्वाहापर क्या आहुति नहीं होगी ?

उत्तर— यदि किसी मन्त्रके आदि या मध्यमें एकबार स्वाहा आ जावे तो उसी स्वाहा पर आहुति दी जावेगी शेष मन्त्रके भागका पाठ हो जायगा। उसके अन्तमें न स्वाहा बोला जावेगा और न आहुति ही होगी।

जिस मन्त्र भागके प्रारंभमें स्वाहा होगा वहा पर भी एसा ही होगा। जैसे स्वाहा पूष्णे शरसे (यजु. अ. ३ मं. १५) स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः (यजु. अ. ३९ म १) स्वाहा घर्माय (यजु. अ ८ मं ९) ये प्रयोग भी संगत है। और इनके प्रथम भागमें पठित स्वाहाको आदिमें न बोलकर उसी मन्त्र भागके पीछे स्वाहा का प्रयोग कर सकते है वह भी संगत है उस अवस्थामें पूष्णे शरसे स्वाहाः प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा। घर्माय स्वाहा। इस प्रकार प्रयोग होंगे। अर्थात् मन्त्रके आदिमें स्वाहा शब्द पठित होनेसे तो वे संगत हे ही परन्तु कर्मकाण्डकी सुविधासे यदि उनका प्रयोग आदिमें न करके अन्तमें करे तो भी संगत है। प्रारंभमें स्वाहा प्रयोग करनेपर मन्त्रका अन्त उस विभाग पर कर देना चाहिये जहांसे दूसरा मन्त्र भाग प्रारंभ होता है।

अनेकबार स्वाहा आनेपर यदि स्वाहासे मन्त्र विभाग विच्छिन्न पृथक्-पृथक् बनते हे तब तो प्रत्येक स्वाहापर आहुति होगी। यदि पृथक् विभाग नहीं होते होंगे तो प्रथम स्वाहा पर ही आहुति होगी अन्य स्वाहा पर नहीं।

मन्त्र विभागोंके होनेपर दूसरा भाग प्रारंभ करनेपर पुनः ओम्‌का उच्चारण करना होगा जैसा कि दैनिक अग्नि होत्रके प्रातः सायंकालीन मन्त्रोंके प्रत्येक स्वाहाकृत विभागके प्रारंभ भागमें ओम्‌का प्रयोग महर्षिने किया है।

राष्ट्रीयताके प्रेरक वेद

(लेखक— श्री शोभनाथ पाठक, एम ए , बी. टी.)

आ यद् वामीयचक्षसा मित्रं वयं च सूरयः
व्यचिष्ठे बहुप य्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥
(ऋग्वेद ५।६६।६)

' दूर दृष्टि वाले ' मित्रके समान हित करनेवाले तथा विद्वान हम बहुतोंके द्वारा पाले जाने वाले स्वराज्यमें आत्मोन्नतिके लिए प्रयत्न करें। प्रजातंत्रका पोषक ' बहुपाय्ये ' शब्द अपनी राष्ट्रीय गरिमासे ओत प्रोत उस युगकी कमनीय गाथाका उद्घोषका वर्तमान प्रजातंत्रकी सबलतामें कितना सक्षम है अवर्णनीय है। वैसे तो विश्वके आदिग्रंथ वेदोंसे हो जहां बहुमुखी विकास उभरा है वही राष्ट्रीयताकी सबल भावनाओंके प्रेरक वेद मानवताको संवारनेमें अपना अनुपम अद्वितीय स्थान रखते है।

" जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी " की भावना भारतीय जनताका मूलमंत्र भला विश्वके किस देशसे नही ग्रहण की गई। वास्तविक रूपसे यदि देखा जाय तो अखिल विश्व भारतका ऋणि है। जब तक मानव, मानवको नहीं परखेगा तब तक वह किसी भी क्षेत्रमें अग्रगण्य नहीं हो सकता हो और इसके लिए आवश्यक है विश्वबंधुत्वकी भावनाका पल्लवन। देखिये ऋग्वेदकी उक्ति उक्त भावनाकी कितनी पोषक है यथा " उद्बुध्यध्व समनसः सखाय (१० १०१।१) अर्थात हे मित्रो एकमन होकर चलो। यदी नही वरन यह पदावली भी कितनी प्रेरणास्पद है संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते। (ऋग्वेद १०।१९२।२) अर्थात हे मनुष्यो जैसे सनातनसे विद्यमान, दिव्य शक्तियोंसे सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आदि देव परस्पर अविरोध भावसे प्रेमसे अपने अपने कार्यको करते है, वैसे ही तुम भी समष्टि भावनासे प्रेरित होकर एक साथ कार्यमें प्रवृत्त होओ, एक मत्यसे रहो और परस्पर सद्भाव बरतो। यही नहीं वरन जनतंत्रका पोषक यह मंत्र भी कितना महत्वपूर्ण है। यथा-समानो मन्त्र समितिः समानी

समानं मनः सह चित्तमेषाम्। (ऋ. १०।१९१।३)

तुम्हारी मंत्रणामें समितियोंमें विचारोंमें और चिंतनमें समानता हो, सद्भावना हो, वैमन्य और दुर्भावना नही। यहां ' समिति ' शब्द पर गंभीरता पूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है। उत्तर वैदिक कालमें भी राजाको चुनने और निकालदेने तथा फिर चुननेका अधिकार समितिको था। " ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ... तथा ... नाऽस्मै कल्पते " Dr. Radha Kumud Mukarji-Hindu Civilisation p 99 and 106 अथर्ववेद— ३-३-५ : ६ - ८८;५ - १९ समितिका सभापति ईशान कहलाता था। चुनावकी प्रथा भी यहां बताई गई है। राजा के पदच्युत किये जाने या एक नियत समयके लिए निकाल देनेकी प्रथा भी थी। देशके प्रति जनताका प्रगाढ प्रेम था। इस प्रकार हम अनुमान लगा सकते है कि वैदिक कालीन प्रजातंत्र कितना सफल था। समितियोंका प्रतिरूप ही तो आजकलकी लोकसभा राज्यसभा विधानमंडल आदि है। प्रजा और प्रतिनिधियोंमें राष्ट्रोन्नति की प्रबल भावना थी। आजकी विषम परिस्थिति किसीसे छिपी नहीं है इस परिस्थितिसे निपटनेके लिए अपनी अनुपम थाती वैदिक परंपराके पालनसे ही हम पुनः विश्वमें सर्वोच्च आसन प्राप्त कर सकते है।

वैदिक राष्ट्रगीतका गुनगुनाना कितना सुखद व स्पदन शील है। अंतस्तलमें बैठ जानेवाली ममताकी बरीयतासे वेदोंके मंत्र ही अलंकृत है यथा (अथर्ववेद १२।१।१२) मे मातृभूमिके प्रति यह भूमि मेरी माता हूं और मं इसको पुत्र हूं तथा वही (अर्थव· १२।१।६३) में कि हे मातृभूमि तूं हमें उत्तम रीतिसे सुरक्षित और कल्याणकारक परिस्थितिमें रख और अथर्व. १२।१।१० के अनुसार वह हमारी मातृभूमि हमे दूध आदि उत्तम पदार्थ प्रदान करे इसी लिए (अथर्व. १२।१।८) मे कहा गया हं कि जिस हमारी मातृभूमिको सेआ मननशील विद्वान अपने अतुलनीय कौशल्यसे करते चले आये है वह हमारी मातृभूमि हमारे राष्ट्रमे उत्तम तेज स्थापित करे " देखिये कितने प्रेरणास्पद मननशील विचार है। आज जबकी नैतिकताका ह्रास हो रहा है, विश्व विलासिताकी पंकिलतामे धसता हुआ कर्तव्यच्युत होता जा रहा है ऐसी चिंतनीय परिस्थितिमे वेदोके वचनामृत ही निर्जीव शरीरमे प्राणसंचार करनेमें सक्षम हं जब तक मानव मानसिक निखार पर नही आयेगा तब तक सुख शाति मरूमरीचिका बनी रहेगी।

वैदिक विश्वसंस्कृति एवं पर्वविज्ञान

(लेखक— श्री रणछोड़दास 'उद्धव')

卐

रक्षाबंधन और ब्राह्मणविज्ञान

आहार विहारादिकी नियमव्यवस्थाका विचार करनेवाला, धातुसाम्यपद्धतिका महान् शिक्षक, सभी रोगोंका प्रकृतिरहस्य के ज्ञान द्वारा महान् चिकित्सक, प्राणपरीक्षक 'आयुर्वेदशास्त्र' ही मानवके स्थूल शरीरकी रक्षा करता है, जो शास्त्र अथर्ववेदका ही उपवेदात्मक अंग है, अतएव ब्राह्मणकी प्रज्ञासे ही उत्पन्न हुआ है। मानसिक काम, क्रोध, लोभ मोहादिका व्यवस्थापक अर्थात् व्रत, आचार आदि कर्मोंसे मानसिक शुद्धिका प्रवर्तक,-मनु, याज्ञवल्क्यादिके द्वारा, संकलित प्राकृतिक विधिविधानात्मक 'धर्मशास्त्र' ही मानवके सूक्ष्मशरीरात्मक 'मन' की रक्षा करता है, जो शास्त्र वेदवित् ब्राह्मणकी प्रज्ञाका ही व्यक्तरूप है। प्राकृतिक तत्त्वोंका विश्लेषक, सृष्टिप्रक्रियाओंका तटस्थ विवेचक, सृष्टिकारणताका प्रतिपादक 'दर्शनशास्त्र' ही मानवकी कारणशरीरात्मिका 'बुद्धि' को बल प्रदान करता है। यों यह ब्राह्मण चार प्रकारकी विपत्तियोंसे समाजकी रक्षा करता हुआ सत्ताकी अपेक्षासे भी महान् संरक्षक प्रमाणित हो रहा है। अतएव इसे 'शर्मन्' उपाधिसे विभूषित कर दिया है।

श्रुतिमें स्पष्टीकरण किया है कि "यह सर्वथा ठीक-ठीक है, प्रकृतिसिद्ध ही है कि- ब्राह्मण अराजन्य भी रह सकता है, अर्थात् सत्तासे पृथक् रहकर भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं हो पाता। यदि इसे राजन्य (सत्ता) का सहयोग मिल जाता है, तो यह राष्ट्रकी समृद्धि है। किन्तु यह तो सर्वथा असंभव है कि- ब्राह्मणके सहयोगके बिना राजन्य (सत्ता) अपने स्वरूपसे सुरक्षित रह जाय। ब्राह्मण अराजन्य भी रह सकता है, किन्तु राजन्य कदापि अब्राह्मण (ब्राह्मणके सहयोगसे वञ्चित) होकर अपने स्वरूपसे सुरक्षित नहीं रह सकता। ब्राह्मणनिष्ठाके सहयोगसे वञ्चिता राजन्यसत्ताका कोई भी कर्म समृद्ध-सफल हो ही नहीं सकता। अतएव आवश्यक है कि सत्तातंत्र सर्वभावसे ब्राह्मणनिष्ठाको आधार बनाकर ही राष्ट्ररक्षाके कर्ममें प्रवृत्त हो।" शतपथब्राह्मण ४।१।४।६

सारांश-उक्त प्रश्नका प्रमुख समाधान तत्त्वज्ञ-आचारनिष्ठ राष्ट्रीय ब्राह्मण ही है। ब्राह्मण ही पांचों विपत्तियोंसे राष्ट्रके मानवसमाजकी रक्षा करनेमें समर्थ है। अब प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि- ब्राह्मणके कोषमें वह ऐसा कौनसा रक्षाबल है, जिससे यह राष्ट्रकी रक्षामें समर्थ हो जाता है, जब कि प्रत्यक्षमें कोई भी भूतबल इसके पास उपलब्ध नहीं है ?

प्रश्नका समाधान है- 'ब्रह्मबल'। ब्रह्मबल'का अर्थ है- तपोयुक्त विद्याबल' विद्याबलका अर्थ है-स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक ऋग्, यजु, साम एवं अथर्वरूप वेदतत्त्वसे युक्त सृष्टिके रहस्यात्मक ज्ञानविज्ञानमय तात्त्विक स्वरूपकी व्याख्या इसी बलका नाम है- सांस्कृतिक बल'। यही बल मानवको स्वरूपबोध करानेकी क्षमता रखता है। स्वरूपबोधवाला मानव ही प्रकृतिसिद्ध आचारव्यवस्था पर अपनी इच्छासे ही स्थित हो जाता है। आचार व्यवस्थाका ही नाम- 'धर्म' है। धार्मिक जीवनपद्धति "दाम्पत्यजीवनमूला गृहस्थाश्रमप्रधाना, आश्रमपद्धति" कहलाई है। इसी आधारपर 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। आत्मबुद्धिसम्मत धर्मकी सुसूक्ष्मा गति-प्रतिष्ठाको केवल मनःशरीरधर्मा-भूतासक्त मानव कदापि समन्वित नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। 'तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति' (शतपथब्रा.)

श्रावणी पूर्णिमाका प्रधानकर्म ' रक्षाबंधन ' नहीं है। प्रधानकर्म है इसका- ' उपाकर्म ' जो लोकभाषामें ' ऋषि तर्पण ' नामसे प्रसिद्ध हो रहा है। उपाकर्मका मौलिक स्वरूप है- ' वेदस्वाध्यायका व्रतग्रहण करके वेद-स्वाध्यायका आरंभ करना ' राजर्षि मनुने कहा है कि- ' श्रावणशुक्लपूर्णिमा तिथिको या भाद्रपदशुक्लपूर्णिमाको या भाद्रपदशुक्ल पञ्चमी (ऋषिपञ्चमी) को गृह्यविधिसे ब्राह्मण को वेदस्वाध्यायका व्रत ग्रहण करना चाहिए। यहांसे आरंभ कर साढेचार मासतक (अर्थात् श्रावणीपूर्णिमाके पक्षसे पौषकृष्ण अमावस्या तक) धारावाहिकरूपसे मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदका ही स्वाध्याय करते रहना चाहिए। बाद ७॥ मासकी शेष सांवत्सरिक अवधिमें शुक्लपक्षोंमें तो वेदका स्वाध्याय चालू रखना चाहिए एवं कृष्णपक्षोंमें वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, छन्द, व्याकरण, निरुक्त एवं ज्योतिष शास्त्रों) का अध्ययन चालू रखना चाहिए। यही वार्षिक वेदवेदाङ्गके स्वाध्यायकी व्यवस्था है।

जबतक (४॥ मासतक) यह धारावाहिक वेदस्वाध्याय चालू रहेगा, तबतक आरंभके दिनसे आये हुए ऋषिप्राण ब्राह्मणके अन्तर्जगत्में अतिथि बने रहते हैं। वेदस्वाध्यायके इस मुख्यकालकी समाप्तिके बाद सदैव इन अतिथियोंको ससम्मान बिदा कर देना भी आवश्यक बन जाता है। वही विसर्जनकर्म- ' उत्सर्गकर्म ' कहलाता है। उपाकर्मका तात्पर्य यह है कि- " हे महर्षिगण ! हम आपकी साक्षीमें ४॥ मासतक धारावाहिकरूपसे वेदस्वाध्यायकी आजसे प्रतिज्ञा करते हैं। " इसकी अपेक्षासे उत्सर्गकर्मका तात्पर्य यह है कि-" हे महर्षिगण ! हम पूर्वसंकल्पित चालू वेदस्वाध्यायका एक उपक्रम आज प्रतिज्ञाके अनुसार पूर्ण कर रहे हैं। "

यदि उपाकर्मके दिनसे प्रतिज्ञात वेदस्वाध्यायका आरम्भ कर यथासमय उत्सर्ग न किया गया, तो उपाकर्म केवल व्यर्थ ही नहीं बन जाता है, किन्तु प्रत्यवायजनक (दोष उत्पादक) भी बन जाता है। ध्यान रहे कि सांस्कृतिक आयोजनोंमें तो गतानुगतिकता अमुक अंशमें क्षम्य मान ली गई है, किन्तु शास्त्रीय सांस्कृतिक आचारोंमें कदापि गतानुगतिकता क्षम्य नहीं मानी जा सकती। राजर्षिने कहा है—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छंदांस्यधीयीत मासान्
विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ १ ॥
पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते
पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ २ ॥
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः।
विरमेत् पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ३ ॥
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत्।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥ ४ ॥
(मनु० ४।९५-९८)

ब्राह्मण क्यों किसलिए राष्ट्र-समाजके लिए ऐसा करता है? इसका उत्तर मनुमहर्षिने कहा है कि- " यह ब्राह्मण समाज के लिए भले ही और कोई विशेष हितसाधन न करे, किन्तु यह सबका मित्र अवश्य बना रहे। " तभी इसे ' मैत्रब्राह्मण ' कहा है—

जप्येनैव संसिद्ध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
(मनु० २।८७)

अन्य कुछ कर सकनेमें असमर्थ भी ब्राह्मण कल्पना चिंतन मानसभावोंसे तो सबका हितचिंतन ही करेगा। अतएव ब्राह्मणकी उपाधि- ' शुभेच्छु ' ' शुभचिन्तक ' भी बन गई है। स्वयं श्रुतिने भी मैत्रभावका समर्थन किया है—

" सर्वस्य वाऽअयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वाऽअयं कञ्चन हिनस्ति " इति। (शतपथ ब्रा० २ ३।२१)

बिना किसी प्रत्युपकारकी भावना-कुभावनाके ' सर्वे सन्तु निरामयाः ' इस सहज सिद्ध मित्रवृत्तिके आकर्षणसे सतत सबकी रक्षामें प्रवृत्त रहना ही तो ब्राह्मणका परमपुरुषार्थ है। अपनी इस स्वाभाविक मित्रप्राण वृत्तिसे ब्राह्मण मानव समाजकी रक्षामें प्रवृत्त रहता है। क्या उपयोग वेदशास्त्रका दैनिक जीवनकी उपयोगितामें ? इसी शरीर मूलक प्रश्नने ब्राह्मणको इस विधिके सम्पर्कसे भी पराङ्मुख बना दिया। ब्राह्मणने जिस दिनसे वेद स्वाध्यायका परित्याग करँ लोकवित्तैषणापूरक अन्य साहित्योंके प्रति आत्मसमर्पण करना आरम्भ कर दिया, वेदसिद्ध आचार संस्कृतियोंकी उपेक्षा कर दी, परावलम्बनताके निग्रहमें आकर उत्तरदायित्वके विघातक आलस्यको अतिथि बना लिया, रसनेन्द्रिय मूलिका मोदक प्रियता-अन्नकी इच्छाको ही अपना पौरुष मान लिया, तभीसे इसका जीवित-मरण तैयार बन

गया। कारणतावादी-उपयोगितावादी शरीर धर्मा ब्राह्मणने विस्मृत कर दिया अपना महान् उद्बोधक सूत्र—

' ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। '

एवं इसने कण्ठस्थकर लिया आचरणरूपसे मनुका यह सूत्र कि—

" अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यात्, अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ "
(मनु० ५।४)

' वेदोंका अभ्यास न करनेसे, आचारका त्याग करनेसे, सामर्थ्य होने पर भी आवश्यक कर्तव्य करनेमें आलस्य करनेसे और अन्नदोषसे मृत्यु ब्राह्मणको मारनेकी इच्छा करती है। '

रक्षाबंधन और नारीविज्ञान

स्त्रीवर्ग किस आधार पर भ्राता, पिता आदिके रक्षासूत्र बांधने लग पड़ा ? इसका उत्तर यह है—

ब्राह्मण, नारी एवं गौ, ये तीन ही मुख्य केन्द्रबिन्दु हैं विश्वकी ज्ञान, क्रिया और अर्थ शक्तियोंके; इस प्राकृतिक प्राणात्मक रहस्यका केवल जडभूतदृष्टिसे कदापि समन्वय नहीं किया जा सकता।

मानवकी आत्मबुद्धिनिष्ठा, आचारनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, लोकनिष्ठा, प्रजावैभव, ऐश्वर्य, पारलौकिक सद्गति आदि सभी कुछ एकमात्र नारीके अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। विश्वेश्वर भी प्रकृतिके माध्यमसे विश्वरचना करते हैं—

' मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। '

अर्थात् चिदात्मा विश्वेश्वरकी सच्चिदानन्दघना चिच्छक्तिरूपिणी चेतना लक्षणा (अक्षरलक्षणा) प्रकृति ही वह महाशक्ति है, जिसके द्वारा ही विश्वेश्वर (अव्ययपुरुष) विश्वके आविर्भावमें समर्थ होते हैं, एवं विश्वका संरक्षण हुआ करता है।

सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम ही मानवका वह रक्षा-दुर्ग है, जिससे सुरक्षित रहकर ही मानव अपनी मानसिक एवं शारीरिक भावुकताओंका मर्यादापूर्वक संरक्षण करता हुआ आत्मबुद्धिनिष्ठाके मार्गसाधनमें समर्थ बना करता है। वे सर्वथा भ्रान्त हैं, जो नारीको आत्मबोधनिष्ठामें बाधक मानने-मनवानेका पाप करते रहते हैं। सचमुच उस वैराग्य कल्पनाको क्रव्याद – अग्निमें ही आहुत कर देना चाहिए, जिसने भावुकतावश– ' द्वारं किमेकं नरकस्य नारी ' जैसी पापवासनाका आविर्भाव कर डाला है। जहां महामाया प्रकृतिसे विश्वेश्वर विश्वेश्वर हैं, उसीको सगुणप्रतिमारूपा जगन्माता इस जगदम्बा (नारी) के शापने ही तो उन वैराग्यवादियोंको शून्यं शून्यं बना दिया है। यह उचित ही तो दण्डविधान था उन शक्तिशून्य शवशरीरोंके लिए। ब्राह्मणके ज्ञानका अपमान ही मूर्खताका साम्राज्य ढानेवाला और नाशका कारण है। नारीका अपमान ही महाभारत के युद्धका करण है। एवं गोमाताका उत्पीडन ही यवन साम्राज्यके पतनका कारण है। इन घटनाओंसे शिक्षा लेनी चाहिए।

शक्तिके सम्बन्धसे ही मानव शक्तिमान् बनता है एवं शक्तिमान् मानव ही शक्तिके अनुग्रहसे विपत्तियोंसे अपना रक्षण करनेमें समर्थ बनता है। ' स्त्रियः समस्ताः सफलाः जगत्सु ' के अनुसार सम्पूर्ण स्त्रियाँ उसी आदिशक्ति महामायाके विभिन्न विभूतिभाव हैं। ब्राह्मण जिस वेदविद्या-बलसे मानव समाजकी रक्षा करता है, निश्चयसे नारी वर्ग भी अपने सहजसिद्ध शक्ति स्वरूपसे समाज स्वरूपका संरक्षक बन रहा है। जिस राष्ट्रका विद्याबल और स्त्रीबल अरक्षित बन जाते हैं, वह राष्ट्र कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता।

जबतक भारत राष्ट्रके प्रज्ञाकोशमें विद्याबल सुरक्षित था, जब तक यह राष्ट्र मातृपूजनका अनुगामी था, जबतक इसका—

' यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते '

यह व्यवहारात्मक आदर्श सुरक्षित था, तबतक पूर्ण सुरक्षित बना हुआ यह सभी क्षेत्रोंमें पूर्ण समृद्ध था। किन्तु संगदोषमें आकर जिस दिनसे इसने अपने विद्याबलकी उपेक्षा कर दी, नारीको ' सह धर्मचारिणी ' के आसनसे च्युत कर सहकामचारिणी बना लिया, उसी दिनसे इसके ऐश्वर्यका पतन आरम्भ हो गया। इस भूतवादीको ' स्त्री तत्त्व शक्तिरूप है ' यह दृष्टि ही विलुप्त हो गई। स्त्रीकी प्रसन्नता, इसका आशीर्वाद, अनुग्रहदृष्टि, चरणदर्शन आदि पावनकर्म मानवका कैसा अभ्युदय कर दिया करते हैं ? मातृत्वकी इस उपासनासे मानव किस पराशान्तिका अनुगामी बना रहता है ? यह कदापि वाणीका विषय नहीं है। प्रत्येक

स्त्रीके नारी और माता ये दो-दो स्वरूप रहते हैं। अपने बाह्य भौतिक स्वरूपसे जहां प्रत्येक स्त्री नारी है, वहां अपने आभ्यन्तर आंगिरसस्वरूपसे प्रत्येक नारी माता ही है। जिसका अभिप्राय यही है कि- प्रत्येक स्त्रीकी अन्तरात्मा महामाया जगदम्बाके अंशसे युक्त है। इसी आधार पर तो शक्तिपूजक महाभाग्यशाली बङ्गप्रान्त जननीकी भांति कन्याको भी उसकी अविवाहित अवस्थामें ही- ' माता ' शब्दसे संबोधित करता है।

सचमुच ब्राह्मणके रक्षासूत्रसे भी अधिक महत्त्व माना जायगा इस मातृशक्तिके द्वारा सहजरूपसे ही प्राप्त होते रहनेवाले संरक्षणसूत्रका। रक्षाबन्धनके दिन बहिनों और कन्याओंके पावन वरद कर कमलोंसे माङ्गलिक कुंकुमका तिलक लगाता हुआ, अक्षतभावसे युक्त होता हुआ मानव जब अपने हाथमें रक्षासूत्र बंधवाता है, तो इसे उसी क्षण ही अपने अन्तर्जगतमें यह अनुभव हो जाता है कि- ' वह मानो इस सूत्रबन्धनसे जगन्माताका साक्षात रूपसे ही आशीर्वाद प्राप्त कर रहा है। मातृजगत्के द्वारा प्राप्त होनेवाले इसी रक्षा बलसे मानव मातृजगत्के बाह्य-भौतिक नारी स्वरूपके रक्षणमें सफल बना करता है।

ब्राह्मण रक्षासूत्रके द्वारा यजमानोंके भीतरके प्राणबलका आधान करता है। यजमान इस प्राणबलसे सशक्त बन कर ब्राह्मणकी संस्कृतिको आततायियोंके बाह्य आक्रमणसे बचाते हैं और ब्राह्मणके बाह्य लोक-जीवनकी रक्षा करते रहते हैं। स्त्रियां रक्षासूत्रके द्वारा अपने पारिवारिकजनोंमें सौम्यासत्त्व शक्तिका आधान करती हैं, इस रक्षासे रक्षित पारिवारिक बन्धुगण मातृशक्तिके बाह्य भौतिक स्वरूपका संरक्षण करते रहते हैं। अतएव रक्षाबन्धनात्मक यह कर्म पारस्परिक रक्षाभावका संग्राहक बना हुआ है। इसी आधार पर पुराणमें एक कथा प्रसिद्ध है—

" देवताओं और असुरोंमें एक बार भयंकर संग्राम छिड गया। निरन्तर १२ वर्ष तक यह युद्ध चलता रहा, किन्तु देवराज इन्द्र असुरोंका पराभव न कर सके। जब इन्द्राणीको ये समाचार मिले, तो उसने तत्काल व्रत-उपवासके अनुष्ठानसे अपना शक्तिबल सञ्चित किया, उसे अपने अभिमन्त्रित रक्षासूत्रसे समन्वित किया एवं अपने हाथसे इन्द्रके दक्षिण हाथमें बांध दिया। फलस्वरूप इस रक्षासूत्रसे रक्षित इन्द्रने शीघ्रही असुरोंको परास्त कर विजयश्रीका संवरण कर लिया। " (भविष्यपुराण)

कथानक प्रमाणित कर रहा है कि- मातृशक्तिकी प्राप्तिके लिए ही स्त्रियोंके द्वारा भी रक्षाबंधन कर्मका सम्पादन अनिवार्य है। इसी कथानकसे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि- इस रक्षासूत्रका सम्बन्ध पुरुषमात्रसे है; फिर वह भाई हो, पिता हो या पति ही क्यों न हो। कारण स्पष्ट है- मातृभाव सभी स्त्रियोंमें सहजरूपसे विद्यमान है। इसी लिए तो पतिके लिए भी जाया (धर्मपत्नी) पूज्या मानी गई है धर्मशास्त्रमें। इस मातृशक्तिके बोधसे अपरिचित मानव कालान्तरमें अपनी इस सांस्कृतिक निष्ठासे पराङ्मुख बन गया होगा। इस प्राकृत दशामें आजानेवाले मानवके लिए पत्नी केवल भोग्या ही बन गई होगी और इसी सांस्कृतिक पतनके कारण नारी (पत्नी) के हाथसे रक्षासूत्र बंधवाना विलुप्त हो गया होगा। किन्तु है यह तथ्यके विपरीत। कुछ ही समय पूर्व रूपनगरकी राजकुमारीने ब्राह्मणके द्वारा मेवाडके राणाको रक्षासूत्र बंधवाया था, जिसके स्पर्शमात्रसे उनकी क्षात्रशक्ति जागरूक हो पड़ी थी एवं परिणामस्वरूप राजकुमारीके साथ राणाका परिणय संबन्ध हुआ था। ऐसी स्थितिमें रक्षासूत्रका संबंध केवल भ्राता, पिता आदिके साथ ही मानना लोक रूढिमात्र ही माना जायगा।

अब इस पर्वसे सबंध रखनेवाला एक प्रश्न और शेष रह जाता है, वह है शकुन। जिस व्यक्तिमानवके लिए इसके ' खस्वस्तिक ' (आकाशके स्वस्तिक) से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृतिमण्डल (आधिदैविक जगत्) क्षुब्ध हो जाता है, उस मानवके लिए ' अपशकुनकी परंपरा ' प्रकट हो पडती है। पुरुषका वामाङ्ग स्फुरण, स्त्रीका दक्षिणाङ्ग स्फुरण, यात्राके समय रिक्त घडेका सामने आना, छींक, छाया दर्शन आदि अनेक अपशकुन आया करते हैं। जैसा कि भगवान् ऐतरेयने अपने आरण्यक ग्रंथमें कहा है कि-" सूर्यबिम्बमें छिद्रकी प्रतीति, अपनी छायामें छिद्रदर्शन, दर्पणमें भग्न आकृतिकी प्रतीति, आकाशका लाल दिखलाई देना, शरीरसे दुर्गंध निकलने लग जाना आदि महान् अपशकुन हैं, जो मृत्युके समान कष्टकी सूचना देनेवाले हैं। " (ऐतरेय आरण्यक ३।२।४)

ठीक इसके विपरित पुरुषका दक्षिणाङ्ग स्फुरण, स्त्रीका वामाङ्ग स्फुरण, जलपूर्ण घडेका सामने आना, आकाशकी निर्मलता, वातावरणमें शांति-स्वस्तिकी अनुभूति यात्राके समयमें गधेका दक्षिण भागमे दीखना आदि शुभशकुन उस माङ्गलिक मानवके सम्मुख आया करते हैं, जिसका आधिदैविक आकाशात्मक खस्वस्तिक सुप्राप्त बना रहता है। इस प्रकार शुभ-अशुभ शकुनकी सूचनाओंके माध्यमसे ही मानवको अपने वैयक्तिक आधिदैविक जगत्के शान्त या अशान्त स्वरूपोंकी सूचना मिलती रहती है। अतएव इस 'शकुन' तत्त्वका अवश्य ही आधिदैविक जगत्से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। इसप्रकार दैविक, आत्मिक एवं भौतिक इन तीनों मान्वीय तंत्रोंके साथ क्रमशः शकुन (पक्षीका भी नाम है) ब्राह्मण और स्त्री इन तीनों वर्गोंका सम्बन्ध योग्य बन जाता है। शुभशकुनमें गोबरका स्वस्तिक (साथिया) श्रेष्ठ माना है।

रक्षाबंधनपर्वमें 'उपाकर्म' नामक कर्मका आत्मासे संबंध है, ब्राह्मणके रक्षासूत्रका बुद्धिसे संबंध है नारीवर्गके द्वारा शकुन पूजन तथा रक्षाबंधन कर्मका मनसे संबंध है एवं विविध खाद्य, नारीवर्गके द्वारा लोकगीत वाद्य आदिका शरीरसे संबंध है। रक्षा सुक्तिके दो तीन श्लोक देकर यह विषय समाप्त करते है—

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥ १ ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रश्चान्यैश्च मानवैः।
कर्तव्यो रक्षणाचारो विप्रान् सम्पूज्य भक्तितः॥ २ ॥
अनेन विधिना यस्तु रक्षिकाबन्धमाचरेत्।
स सर्वदोषरहितः सुखं संवत्सरं वसेत् ॥ ३ ॥

विजयादशमी विज्ञान

निगमागम विज्ञान

'विजयदशमी पर्व' क्षत्रियवर्ण प्रधान है। इससे संबंध रखनेवाले निगम एवं आगम शब्द है। निगम वाग्ब्रह्म है जिसे लोकविश्व विद्याकी अपेक्षासे 'स्वायम्भुव-अपौरुषेयवेद' कहा गया है।

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"

(मनु० १।२१)

'सृष्टिके आरम्भमें वेदशब्दसे ही भिन्न-भिन्न नाम और कर्म निर्माण किये।'

"शब्द स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥"

(मनु०. १२।९८)

'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवां गंध ये सत्वादिरूप विषय वेदसे ही प्रसिद्ध होते हैं, क्योंकि- 'सत्वादि गुणोंके अनुरोधसे होनेवाला वैदिककर्म ही उन विषयोंका कारण है।' इत्यादि मानवीय वचन इसी स्वायम्भुव निगमवेदकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। मन और प्राणको गर्भमें रखनेवाले वाङ्मयवेद किसीसे उत्पन्न नहीं है। क्योंकि—

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'

इत्यादि बृहदारण्यक श्रुतिके अनुसार मनःप्राणवाङ्मय आत्मब्रह्म ही सृष्टिकी कामनासे मनःप्राणगर्भित वाङ्मय ब्रह्मस्वरूपमे परिणत हो रहा है। तभी तो ब्रह्मको वेदमय माना है एवं इसीलिए यह तत्त्व वेद ब्रह्मके 'निःश्वास' कहलाये हैं। यह स्वायम्भुव अपौरुषेय तत्त्ववेद-'ब्रह्मनिःश्वसित' नामसे प्रसिद्ध हुआ है, जिसका कदापि कोई भी कर्ता नहीं है। यह तो स्वायम्भुव है, 'स्वयमेवोद्भवो' (मनु) अपनी प्राणमहिमासे स्वयं ही प्रकट है, विनिर्गत है। स्वयं विनिर्गत (व्यक्त, प्रकट) होनेसे ही यह— 'स्वयं निर्गतः' इस निर्वचनसे मप्रत्ययके माध्यमसे 'निगम' नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

ब्रह्म, वेद, निगम आदि शब्दोंके निर्वचनात्मक चिरंतन इतिहासके द्वारा ही इस वाङ्मय वेदतत्त्वकी 'निगमता' (स्वयं निर्गतता) स्पष्टरूपसे अपने रूपसे ही प्रमाणित है। 'शब्द' से आजका भूतविज्ञानवाला भारतीय मानव जिस श्रोत्रग्राह्य ध्वनिका ग्रहण कर रहा है, तत्त्वदृष्टिसे प्रकृतमें वह इन्द्रियका— श्रोत्रग्राह्य 'शब्द' अभिप्रेत नहीं है। किन्तु सांख्यशास्त्रमें जिस सुसूक्ष्म अपञ्चीकृत गुणभूतको "शब्दतन्मात्रा" कहा गया है, जिस शब्दतन्मात्रारूप पहले गुणभूतसे ही पांचों भूतोंके आविर्भूत 'आकाश' का व्यक्तिभाव हुआ है।

राजर्षि मनुने जिस 'वेदशब्द' से नामरूप कर्ममयी विश्वसंस्थाओंका आविर्भाव बतलाया है, वह वेदशब्द कोई 'क-च-ट-त-प' आदि रूपवाला कानसे ग्रहण करने योग्य वेद शब्द नहीं है। किन्तु इन शब्दग्राह्य मन्त्र शब्दात्मक

वेदोंके द्वारा सङ्केतित सुसूक्ष्म तत्त्वात्मक गुणभूतका प्रवर्तक नित्यकूटस्थ वेद शब्द ब्रह्म है, जिसे ' अपौरुषेय ' कहा गया है, जो तन्मात्राओंका भी उत्पन्न करनेवाला है, वह नित्य शब्दब्रह्म ही यहां निगमशब्द ब्रह्मसे गृहीत है।

श्रोत्र ग्राह्य वैखरीवाणीरूप— ' शपं ददाति ' लक्षण लोकप्रसिद्ध शब्दरूप कार्यका जो कारणात्मक सुसूक्ष्म ' शब्द ' है, वही संकेतभाषामें– ' वाक् ' नामसे प्रसिद्ध हुआ है। वाक् रूप शब्द ही शब्दब्रह्मात्मक कारण ब्रह्म है, जिससे संयोग, विभाग तथा शब्दसे उत्पन्न त्रिविध कार्यरूप शब्दोंका आविर्भाव हुआ है। कार्य कारणकी सत्तासे अभिन्न है। एकमात्र इसी अभिन्नताकी दृष्टिसे राजर्षि मनुने वेदवाग्भ्यः' के स्थानमें– ' वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। ' यह कह दिया है। कारणात्मक वेदशब्द वास्तविक मनःप्राण-गर्भिता वह नित्या स्वायम्भुवी अनादिनिधना वाग्देवी ही है, जिसके आधार पर ही संपूर्ण विश्व विश्वके भीतर रहनेवाले देव, गन्धर्व, पशु मनुष्य-आदि प्रजावर्ग उपजीवित हैं। इसी नित्या वेदवाक्का यशोगान करते हुए महर्षिने कहा है–

" वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे,
वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता
सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी। " (तैत्तिरीयब्रा०)

' वसु–रुद्र– आदित्य भेदवाले ३३ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्य देवता, कर्मदेवता, आत्मदेवता, अभिमानी देवता, पुरुषविध नित्य अष्टविध चेतन चान्द्रदेवता, पुरुषविध चेतन अनित्य प्राणी देवता आदि सभी देवता एकमात्र वाक्तत्वको आधार बनाकर ही जीवित हैं। २७ गन्धर्व, सब प्रकारके पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएँ वाक्को प्रतिष्ठा बनाकर ही अपने स्वरूपसे स्थित हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः एवं सत्यं ये सातों भुवन वाग्धरातलमें ही समर्पित हैं। (इस प्रकार जो वाक्तत्व चराचरमें व्याप्त हो रहा है) इन्द्रपत्नी नामसे प्रसिद्ध वह वाग्देवी हमारी पुकार सुनें। '

मनः प्राणगर्भिता सत्यवाक् वेसा शान्तसमुद्र है, जिसमें स्थित विविध बलभावोंके आविर्भाव-तिरोभावोंसे तरङ्गें प्रवाहित होती रहती हैं। इन वाक्तरङ्गोंके साथ सम्बद्ध वायव्य प्राणसे ही त्रिविध श्रोत्र ग्राह्य शब्दोंका आविर्भाव होता रहता है, जैसा कि– ' वायुः खात्, शब्दस्तत् ' इत्यादि प्रातिशाख्यके सिद्धान्तसे भी स्पष्ट है। ' संयोग विभाग एवं शब्द ' इन तीन माध्यमोंके द्वारा वायुके सहयोगसे वाक् समुद्रमें तरङ्गोंका व्यक्तिभाव होता है। वे तरङ्गें ही सहज प्रवाहके कारण प्राणीके कर्ण छिद्रों पर आती हुई, वहांपर स्थित प्रज्ञानमनसे गृहित होती हुई, शपात्मक– आक्रोशात्मक आघातके द्वारा शब्दरूपमें परिणत हो जाती हैं। जैसा कि–अणुदर्शनके ' संयोग-विभाग–शब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः ' (वैशेषिकदर्शन) इत्यादि सिद्धान्तसे भी स्पष्ट है। पृथ्वी पर पांव पटकनेसे या हाथके आघातसे जो शब्द उत्पन्न होगा, उसे ' संयोगजशब्द ' कहा जायगा। कागज फटनेसे, लकडी चीरनेसे जो शब्द होगा, वह ' विभागजशब्द ' कहा जायगा। एवं किसीके शब्दोच्चारणसे उत्पन्न तरङ्ग– परम्परासे कान पर आया हुआ शब्दसे उत्पन्न शब्द– ' शब्दजशब्द ' कहलाएगा। प्रकृत प्रसंगमें तो निगम शब्दसे तात्पर्य– ' निगमवाक्–ब्रह्म ' हो है। ' निगमता '– स्वयं निर्गतता ही वेदकी वेदता एवं स्वतः प्रामाण्यता है। वेद सबका प्रमाण है, किन्तु स्वयं वेद अपने प्रमाणके लिए किसी भी अन्य प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं रखता। सूर्य सबको आलोकप्रदानसे व्यक्तरूपमें प्रमाणित कर रहा है, किन्तु सूर्य स्वयं तो अपने विभ्राट् ज्योतिर्मय स्वरूपसे स्वतः ही प्रमाणित है। यही स्थिति स्वतःप्रमाण रूप निगमब्रह्मके साथ समन्वित है।

अब आगमब्रह्मके साक्षात्कारको प्राप्त कीजिए। स्वयंभू नामसे प्रसिद्ध ' निगम ' उपाधिसे समन्वित वेदमूर्ति वेद स्रष्टा स्वयम्भूब्रह्म (ब्रह्मा) ही अब आगेकी सृष्टियोंके प्रवर्तक बननेवाले हैं। किन्तु स्वयं त्रयीमूर्ति स्वयंभू ब्रह्मा अभी तो केवल ' पुरुष ' स्वरूप ही है। बिना दाम्पत्यभावके प्रजनन असंभव है, एवं बिना ' प्रकृति ' के दाम्पत्यभाव असम्भव है। ऋक्साममें स्थित यजुके गतिप्रकृतिक प्राणभाग के व्यापारसे प्रजापति पुरुषने यजुके ही स्थितिप्रकृतिक वाग्भावको उपादान बनाकर इससे सर्वप्रथम ' अप्तत्व ' ही उत्पन्न किया। स्वयं वाग्भाग ही महिमा भावसे अब् रूपमें परिणत हो गया और यही त्रयी वेदपुरुषका वह प्रकृतिभाव कहलाया, जिसके साथ होनेवाले दाम्पत्यभावसे ही मैथुनी सृष्टिका उदय होनेवाला है। शतपथके कुछ अंश उद्धृत कर देनेसे उस मानवीय वचनका भी समतुलन करना प्रासंगिक ही बन जायगा, जो श्रुतिपथकाही अक्षरशः अनुगमन कर रहा है—

" तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत् तस्मदापः। यद् वृणोत् तस्माद् वा। " (शतपथब्रा० ६।१।१।८,९)

' उस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर प्रजापतिने पुनः तप किया। इस तपके द्वारा उन्होंने अपने वाग्लोकसे (यजुर्वेद के भूभागसे) अप् तत्त्व उत्पन्न किया। (वाक्से विजातोय कोई अप्तत्त्व उत्पन्न नहीं किया, किन्तु) वह वाक् ही अप्रूपमें परिणत हो गई। इस अप्के द्वारा यह ब्रह्म प्रजापति सर्वत्र ' आप्त ' हो गए। सबको ' प्राप्त ' कर लिया। अतएव वाक्से उत्पन्न होनेवाले इस तत्त्वका नाम ' आपः ' हो गया। एवं इसीके द्वारा प्रजापतिने सबका संवरण किया, अतएव इसका नाम ' वारि ' हो गया। '

" सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्
सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ
तासु बीजमवासृजत्॥ " (मनु० १।८)

' नानाप्रकारकी प्रजानिर्माण करनेकी इच्छासे उस प्रजापतिने ' जल निर्माण हो ' ऐसा ध्यान करके अपने शरीरसे जल उत्पन्न किया। और उस जलमें उसने बीज बोया। '

यजुर्वाक् ही आपोरूपमें परिणत हुई, जिसका प्रधान धर्म माना गया है—' प्रजननकर्म '। इसी प्रजननके कारण अप्को ' जाया ' कहा गया है। सर्वव्याप्तिके कारण ही इसे ' आपः ' माना गया है, एवं भूतभौतिक सपूर्ण विश्वकी मूल आरम्भक होनेसे इसे ही ' धारा ' कहा गया है। अप्, जाया एवं धारा ये तीनों इसी प्रकृतिरूप अप्तत्त्वके स्वरूप-धर्म माने गए हैं। तभी तो प्रकृतिकी प्रतिनिधिरूपा नारी ' जाया ' कहलाई है, जिस नारीका तात्त्विकरूप ' अपो नारा इति प्रोक्ता ' से ' नारा ' कहलाया है।

आपोमय अथर्वतत्त्व ही ' आगमवाग् ब्रह्म ' है। क्योंकि इसका आगमन ऋग्— यजुः— साममय त्रयीब्रह्मरूप ' निगमवाग्ब्रह्म ' से ही हुआ है। अतएव- ' निगमादागतः ' इस निर्वचनसे आपोरूप अथर्वब्रह्मको अवश्य ही ' आगमब्रह्म ' कहा गया है। स्वयम्भू ब्रह्मरूप निगमपुरुषके एवं परमेष्ठी सुब्रह्मरूपा आगमप्रकृतिके दाम्पत्यसे जो सर्वप्रथम सर्ग आविर्भूत होता है, उसीका ' तासु बीजमवासृजत् ' रूपसे मनुमहर्षिने सङ्केत किया है। वह बीज साक्षात् सूर्यदेव हैं।

अब इस दश अवयववाले सूर्यविराट्से सम्बद्ध शब्द ब्रह्मके आधार पर ही हमें लोकप्रसिद्ध निगम एवं आगम शब्दोंके इतिहासका पता लगता है। सौरलोक स्वय स्वरप्रधान बनता हुआ अक्षररूप अमृतलोक ही है। तभी तो अक्षरको— अमृतस्यैष सेतुः ' माना गया है। इसी ' अमृत ' धर्मसे यह सौर पौरुषेय वेदतत्त्व स्वयम्भूसे उत्पन्न होता हुआ भी मर्त्यभावोंसे अलग है। अतएव इसे भी ' स्वयमुद्‌भूत ' कोटिमें ही ऋषिने मान लिया है। इसलिए इसे भी ' निगम ' उपाधिका सम्मान प्राप्त हो गया है।

' सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। '

में धाता प्रजापति विश्वकर्मा स्वयंभू निगमपुरुष एवं विश्वका उपादान परमेष्ठी आगमप्रकृतिका दाम्पत्यरूप है। सूर्य स्वयंभूका प्रवर्ग्य-व्यक्त भाग है और चन्द्रमा आपोमयी परमेष्ठिनी प्रकृतिका व्यक्त भाग है। सूर्यत्रयीरूप निगम है, तो चन्द्रमा अथर्वरूप आगम है। यही निगमागमका दूसरा उपक्रम है, जो धाताप्रजापतिके द्वारा यथापूर्व उपकल्पित-व्यवस्थित है। पहला विवर्त अपौरुषेय है और दूसरा विवर्त स्वयम्भूपुरुषसे आविर्भूत होनेके कारण पौरुषेय है। अपौरुषेय निगमागम शाश्वत अप्राकृत आत्मधर्मके साक्षी बनते हैं और पौरुषेय निगमागम शाश्वतधर्मसे भिन्न प्राकृत- विश्वधर्मके आधार बनते हैं।

सौर वेद गायत्रीमात्रिक वेदमूर्ति है, वैसे ही उसकी व्यक्तरूपा आठ अवयववाली (' अप्, फेन, मृत्, सिकता शर्करा, अश्मा, अय और हिरण्य,– (शतपथ ब्रा० ६।१। १।१०-१५) पृथिवी भी गायत्री ही है, जैसा कि—

' या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी '

(शतपथ ब्राह्मण)

इत्यादिसे प्रमाणित है। अतएव ' निगमात्–सूर्यात् आगता ' इस निर्वचनसे पृथिवीको आगमात्मिका माना गया है। पारमेष्ठ्य आगमतत्त्वको ' आपः ' कहा गया है, इधर ' अद्‌भ्यः पृथिवी ' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुतिके अनुसार अप्तत्त्वसे ही वायु, अग्नि और सूर्यके तेजके संयोगसे अप्-फेनादिरूपा अष्टावयवा पृथिवी (भूपिण्ड) का स्वरूप बना है। अतएव इस पारमेष्ठ्य-आगमीय अप्तत्त्वकी परंपराकी उपादानतासे भी माता पृथिवीका ' आगमत्व ' भलीभांति प्रमाणित हो रहा है।

विद्याका इतिहास

निगम और आगमशब्दोंके प्रसंगमें निगमविद्या एवं आगमविद्याके रूपसे ' विद्या ' शब्दका भी प्रसंग आगया है । निगमाचार्योंने—

' सैषा त्रयी विद्या '- सोऽनया त्रय्या विद्यया

इत्यादि रूपसे ' विद्या ' शब्दका प्रयोग किया है, तथा आगमाचार्योंने भी—

' या देवी सर्वभूतेषु ' विद्या ' रूपेण संस्थिता '

इत्यादि रूपसे ' विद्या ' शब्दका ही प्रयोग किया है । दोनों शास्त्रोंमें अद्भुत साम्य है ।

आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण एवं वाक्‌रूप पांच कलावाला अव्यय; अमृत–ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोमरूप पांच कलावाला अक्षर तथा मर्त्य— ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि एवं सोमरूप पांच कलावाला क्षर तथा विश्वातीत परात्पर, इन चारोंसे युक्तको षोडशी, प्रजापति या विश्वात्मा कहते है । क्षरसे विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन एवं पुरकी समष्टिका नाम विश्व है । प्रजापतिके सिवा और कुछ भी नहीं है । मंत्रश्रुतियां इसीकी महिमाका यशोगान कर रही है—

" प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो
विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ "

(ऋ. १०।१२१।१०)

' हे प्रजापते ! तुझसे भिन्न दूसरा कोई भी इन सब उत्पन्न हुए पदार्थोंको घेरनेवाला नहीं हुआ है (तू ही सबको व्यापनेवाला एकमात्र प्रभु है) । जिसकी इच्छा धारण करके तेरी उपासना हम करते है, वह हमें मिले । हम सब धनोंके स्वामी बनें । '

" यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति
य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराण-
स्त्रीणिज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ "

(य. ८।३६)

' जिस पुरुषसे दूसरा कोई उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) उत्पन्न नहीं हुआ है, जो संपूर्ण लोकोंमें अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट हैं, वह सोलह कलावाला जगत्‌का स्वामी प्रजारूपसे सम्यक् रमण करता हुआ, प्रजापालनके निमित्त, तीन–अग्नि, वायु और सूर्यलक्षणवाले तेजोंका अपने तेजसे उज्जीवन करता है । '

निम्नांकित नक्शा देखिए—

शब्दकी उपाधिसे युक्त प्रजापतिका ज्ञान ' वेद ' है, विषय की उपाधिसे युक्त ज्ञान ' ब्रह्म ' है एवं संस्कारकी उपाधिसे युक्त वही ज्ञान ' विद्या ' है । शब्दश्रवण और विषयदर्शन से तात्कालिक रूपसे उदित ज्ञान ' सामान्यज्ञान ' कहलाया है । यही सामान्यज्ञान चालू रहनेवाले मनन और निदिध्या सनसे दृढमूल बन जाता है । सहज भाषाके अनुसार सामान्य-ज्ञान ही अनुभवपरम्पराके द्वारा आगे चलकर विशेषज्ञानमें परिणत होता हुआ संस्काररूपसे युक्त हो जाता है । संस्कारयुक्ता प्रज्ञाको विज्ञानभाषामें ' विद्या ' कहा गया है । इस सस्काररूपा विद्याका ही साङ्केतिक नाम ' उक्थ ' है । यही उक्थ मानवजीवनकी मूलप्रतिष्ठा है । उक्थसे ही अर्क (किरण) निकलते हैं और अर्क ही अशीतिरूप अन्नका आहरण करते रहते हैं । जबतक विद्यात्मक संस्कारके उक्थ हैं, तबतक ही आप अपने भौतिकभावमें स्थित हैं । संस्कारके अभावमें तो आप विश्वसीमासे पृथक् बनते हुए विश्वातीत हैं, मुक्त हैं, जीवन्मुक्त हैं, विदेहमुक्त है । विश्वसत्ता संस्कार-सत्ता पर ही अवलंबित है । अतएव शब्दात्मक वेद तथा विषयात्मक ब्रह्म, इन दोनोंकी अपेक्षा संस्काररूपा विद्याको ही प्रधानरूपसे विश्व स्वरूप सम्पादिका या निर्मात्री कहेंगे । उसी प्राजापत्य ज्ञान पर चितिक्रमसे संस्कार पुटोंकी धारा-वाहिक सञ्चिति होती है । इसी संस्कार-संघातसे विश्वका प्रतीत होनेवाला मूर्तरूप हमारे सम्मुख उपस्थित है ।

जिसप्रकार हमारा पंचभौतिक विश्व (शरीर) हमारा संस्कार है, उसीप्रकार महा शरीर (विश्व) उस विश्वेश्वरका सञ्चित संस्कार है । इस सञ्चित संस्कारसे ही विश्वको ' विद्या ' नामसे कहा गया है; जिसके आधार पर ही ' विश्वविद्या '– ' सृष्टिविद्या ' आदि व्यवहार होता है । निगममूलक विश्व तथा आगममूलक विश्व, दोनों ही अपने संस्कारभावसे ' विद्या ' शब्दसे युक्त हैं । अतएव विश्वविद्या का विस्तार भी निगमविद्या एवं आगमविद्या रूपसे दो महिमाभावोंमें परिणत हो रहा है ।

(क्रमशः)

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज

(लेखक— श्री वेदव्रत शर्मा शास्त्री)

卐

भारतीय इतिहास - संक्षिप्त नजरमें

भारतकी वैदिक-संस्कृति सांसारिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी जननी है। संसारकी अन्य संस्कृतियां इन विशेषताओंसे अपने को समृद्धशालिनी नहीं कर सकी हैं। भारत जब तक सांसारिक उन्नति को आध्यात्मिक उन्नतिकी मर्यादासे अनुशासित करता रहा तब तक यह संसारका पथप्रदर्शक बना रहा। अभ्युदय जब-जब आत्मोन्नतिका साधक नहीं सिद्ध हुआ, तब-तब यह मानव-समाजको दानवताके पाशोंसे आबद्ध करता रहा है। हमारा अभ्युदय जब रामराज्य पर आधारित होगा, तो विश्व एक परिवारके रूपमें बदल जायगा। इस प्रकार भारत वैदिक-धर्मका आश्रय करके अभ्युदय और निःश्रेयसमें साधन-साध्यका सम्बन्ध स्थापित कर सका। ऋषियोंका ऋषित्व इसीमें था कि वे संसारमें अभ्युदय और निःश्रेयसमें समन्वयात्मक सम्बन्ध स्थापित करते रहें। दोनोंका समन्वयात्मक सम्बन्ध ही संसारको सुख शान्तिसे युक्त रखनेमें सशक्त है। वेदों तथा आर्ष-साहित्योंके द्वारा ही यह महान् कार्य साध्य है। भारत यही समन्वयात्मक दिव्यज्योति संसारको प्रदान करता है। यही इसकी भारतीयता है, यही इसकी संस्कृति, यही इसका यज्ञ और धर्म है।

भारतकी संस्कृति ऋषियोंकी मानसपुत्री है। संसारमें ऋषियोंका प्रादुर्भाव कैसे हुआ? भारतीय विचारकोंके शब्दोंमें प्राणियोंकी आदि सृष्टि त्रिविष्टपमें हुई थी। सृष्टि की आदिमें मुक्तात्माओंका प्रादुर्भाव अमैथुनी रचनाके द्वारा हुआ। ये पूर्ण युवावस्थामें विकसित बुद्धिवाले उत्पन्न हुए थे क्योंकि यदि बच्चे पैदा हुए होते तो इनका पालन पोषण कौन करता और यदि ये वृद्धावस्थामें पैदा हुए होते तो इनके द्वारा भविष्यमें मानवोंकी सृष्टि कैसे चलती? अतः ईश्वरके सामर्थ्यसे आदिमें असंख्य स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए थे। मानवोंके बौद्धिक विकासके लिए प्रभुने अग्नि ऋषिकी आत्मामें ऋग्वेदका, वायु ऋषिकी आत्मामें यजुर्वेदका, सूर्य ऋषिकी आत्मामें सामवेदका तथा अङ्गिरा ऋषिकी आत्मामें अथर्ववेदका, अपने ज्ञानको दिव्यज्योतिके रूपमें प्रकाश किया।

१ वेदके "संहिता भाग"

"वेदोंमें सभी सत्य विद्यायें हैं"

ऋषि दयानन्दने इस उन्नीसवीं सदीमें उद्घोष किया "वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है, सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।" ऋग्वेदमें ज्ञानकाण्डका, यजुर्वेदमें कर्मकाण्डका, सामवेदमें उपासना-काण्डका, और अथर्ववेदमें इन तीनोंका समन्वयरूपसे वर्णन है। सभी विद्यायें ज्ञान, कर्म और उपासनामें समाहित हैं। सूत्र रूपसे वेदोंमें मानवोपयोगी ज्ञान-विज्ञान पूर्णरूपमें विद्यमान है।

२ उपवेद

उपवेद भी चार हैं। ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद—इसका विषय वैद्यक विद्याओंके नियमोंकी व्याख्या करनेका है। धनुर्वेद—यह यजुर्वेदका उपवेद है। इसमें युद्धके नियमों तथा साधनोंका वर्णन है। गन्धर्ववेद—यह सामवेदका उपवेद है, इसमें गानविद्याका वर्णन है। अर्थवेद—यह अथर्ववेदका उपवेद है, इसमें कलाकौशल, विमान, यान और शिल्पका वर्णन है।

३ वेदोंके ब्राह्मण-ग्रन्थ

ऋग्वेद सम्बन्धी साहित्यको ऐतरेय, यजुर्वेद सम्बन्धी साहित्यको शतपथ, सामवेद सम्बन्धी साहित्यको साम और अथर्ववेद सम्बन्धी साहित्यको गोपथ ब्राह्मण कहते हैं।

४ वेदाङ्ग

" शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्त छन्दो ज्योतिषम् " शिक्षा (Phonetics) कल्प (Ritual) व्याकरण (Grammar) निरुक्त (Etymlogy) छन्द-शास्त्र (Metrics) ज्योतिष (Astronomy), इनका पढना वेदोंके अध्ययन के पूर्व ही आवश्यक होता है।

५ शास्त्र " उपाङ्ग "

१—वैशेषिक दर्शन; इसके रचयिता " कणादऋषि " है इसका विषय है सृष्टिके तत्त्वोंका विवेचन। २— न्याय; इसके कर्त्ता " गौतम " ऋषि हैं, इसका विषय है सृष्टिके उपादान कारणकी विवेचना। ३— सांख्य; इसके बनाने वाले हैं ' कपिल ' ऋषि, इसका विषय है प्रकृति तथा पुरुष तत्त्वोंको व्याख्या करना, इसमें परिणामवादका वर्णन है। ४— योग; इसके रचयिता " पतञ्जलि " ऋषि हैं इसमें पुरुषार्थकी व्याख्या की गई है। ५— मीमांसा; इसके कर्त्ता हैं जैमिनि ऋषि, इसमें कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञोंका वर्णन है : ६— वेदान्त; इसके बनानेवाले हैं व्यास, इसमें सृष्टिके निमित्त कारण अर्थात् ईश्वरका वर्णन है। इन शास्त्रोंमें सृष्टिके कारणोंकी अलग अलग व्याख्या की गई है। स्वामी दयानन्दजी न तो शास्त्रोंमें मत-भेद मानते थे और न ही गौतम ऋषिको नास्तिक ही स्वीकार करते थे।

६ उपनिषद् ग्रन्थ

ये वेद तथा उनकी शाखाओंके प्रमुख अध्याय विशेष हैं तथा कुछ आरण्यकोंके अंश हैं। स्वामी दयानन्दजी, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदोंको ही प्रामाणिक मानते थे। वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत ग्रन्थोंके प्रक्षिप्तांशोंको छोडकर स्वामीजी इन्हें भी प्रामाणिक मानते थे। स्मृति ग्रन्थोंमें प्रक्षिप्तांश रहित केवल मनुस्मृति ही प्रामाणिक है। परन्तु उक्त ग्रन्थोंमें भी जो बातें वेद-विरुद्ध हैं वे अमान्य हैं। वेद स्वतःप्रमाण हैं और शेष ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं।

वेदोंकी अपनी मौलिकता

वेदोंको हम तर्ककी कसौटी पर कस सकते हैं। क्योंकि महर्षि कणादजीका वाक्य है " बुद्धिपूर्वा वाक्य-कृतिर्वेदे " वै० अध्याय ५। पा० २। सूत्र १॥ मनुस्मृति भी वैदिक-धर्मको तर्कसे (Logically) परिपुष्ट मानती है। " यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद नेतरः। " हम वैदिक-ग्रन्थोंको तर्क-वितर्कसे भी समझ सकते हैं। वेदों तथा आर्ष ग्रन्थोंमें साम्प्रदायिकता नहीं। इनकी शिक्षायें मानव-मात्रके हितके लिए है। इनका आचरण सर्वत्र और सर्वदा करना अनिवार्य्य है। वेदोंका प्रादुर्भाव मानवसृष्टिकी आदिमें हुआ। इनमें मानवीय इतिहास नहीं है। वेद सृष्टि-नियमके अनुकूल है।

अन्य साम्प्रदायिक ग्रन्थ तथा धर्म तर्क और विज्ञानकी कसौटीसे (Touch-Stone) से भयभीत होते हैं। उनका दावा है कि धर्ममें अक्लकी दखल नहीं। वे व्यक्तिको केवल विश्वास करनेके लिए बाध्य करते हैं। इनमें मानवीय इतिहास तथा किस्से कहानियां भी भरी पडी हैं। और ऐसी ऐसी बातें हैं जो सृष्टि नियमके विरुद्ध हैं। ये ग्रन्थ मानव-सृष्टिके बहुत दिनों बाद रचे गये। पुराण, कुरान और बाईबल ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

जब तक भारतमें वेदज्योति सूर्यको भांति देदीप्यमान रही तब तक भारत अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करता रहा। इसका लाखों वर्षों तक संसारमें चक्रवर्ती राज्य था, परन्तु जैसे जैसे वेदविद्याका ह्रास शुरु हुआ वैसे वैसे भारतके लोग भोग विलास और पारस्परिक कलहके शिकार होते गये। वेदोंका पठन-पाठन केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित कर दिया गया। ब्राह्मण क्षत्रियोंको वेदशास्त्रोंके ज्ञानसे रहित देखकर " संस्कृत वाक्यमेव प्रमाणम् " कह कर धर्मके नाम पर अपनी उदर-पूर्ति करने लगे। अब क्षत्रिय लोग केवल ठकुरसुहातीके पात्र-मात्र ही रह गये, जनक, भीष्मकी तरह उनका धर्म पर अधिकार न रहा। भोज तथा भर्तृहरि तक तो क्षत्रियों का कुछ सम्बन्ध संस्कृत-भाषासे था, परन्तु इसके बाद यह वर्ग चाटुकारिताका आखेट बन गया।

स्वामी दयानन्दजी अपने सत्यार्थप्रकाशमें वैदिक धर्मके ह्रासका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं। दुर्भाग्यसे भारतमें वाम-मार्ग प्रचलित हुआ। यह नास्तिक-मत था, वेद विरोधी होनेके कारण यह वाममार्गके नामसे कुख्यात हुआ। यह कामुकताकी पूर्तिके लिए वैदिक मन्तव्योंका अर्थ-भेद करने लगा। यह वेद-विरोधी प्रथम सम्प्रदाय था। यह मद्य, मांस मदिरा, मीन और मैथुनको मोक्षदायी मानता था। मोक्षकी सिद्धिके लिए मुद्राओंकी अनोखी कल्पना की गई। जो मुद्रायें

योगकी सिद्धिके लिए प्रसिद्ध थीं, उन्हें अपवादित कर उनके नाम पर कामुकताकी अभद्र बातें प्रचलित की गई। अनेक तन्त्र ग्रन्थ निर्माण किये गये। इस प्रकार काली तन्त्र, कुलार्णवतन्त्र, ज्ञानसंकलनीतन्त्र, रुद्रयामलातन्त्र आदि तन्त्र-ग्रन्थ प्रचलित हुये। वाममार्गने अनोखे तीर्थ भी रचे। "रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी" "चर्मकारी प्रयागः स्याद् रजकी मथुरा मता। अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता।" रुद्रयामलतन्त्र! अर्थात् रजस्वला, चाण्डाली, चमारी, धोबिन आदि स्त्रियोंके साथ समागम करनेसे उक्त तीर्थोंका फल मिलता है। इसी तरह मद्यका नाम धारा तीर्थ, मांसका नाम शुद्धि, मछलीका नाम जलतुम्बिका आदि नये-नये सांकेतिक नामोंकी कल्पना की गई। इन्होंने गायत्री गुरु मन्त्रकी जगह नया गुरुमंत्र रचा जो कि इस प्रकार है "दं दुर्गायै नमः। भं भैरवाय नमः। ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे। ह्रीं, श्रीं, क्लीं आदि काल्पनिक मंत्र गढे।

देश, काल और पारस्परिक सम्बन्धके महान् अन्तरके पश्चात् अपने भी पराये तथा विदेशी ज्ञात होने लगते है। आज द्रविड आदि जातियां अनार्य्य तथा अभारतीय मानी जाने लगी हैं अथवा कुछ विचारकोंकी रायमें द्रविड, कोल, किरात आदि जातियां ही भारतीय हैं और आर्यलोग विदेशी तथा अभारतीय हैं। यद्यपि आर्य्य और द्रविड एक है परन्तु देश, काल और पारस्परिक सम्बन्धके महान् अन्तरके कारण हो ये एक दूसरेको भिन्न समझते हैं।

सबसे प्रथम विश्वामित्रके शिष्य ऋषि पुलस्त्य धर्म प्रचार के लिये आस्ट्रेलिया गये। वहांके राजा तृणबिन्दुकी पुत्रीसे उनका विवाह हो गया, उसीसे विश्रवा पैदा हुआ, जो कि प्रसिद्ध राजा रावणका पिता था। रावणकी राजधानी लङ्का पुरी थी। संयोगसे रावण तथा उसके बहनोई शूर्पणखाके पतिके साथ युद्ध हुआ। इस युद्धमें शूर्पणखाका पति मारा गया। रावणने अपनी बहनको दुःखी देखकर उसे चौदह हजार सैनिकोंके साथ दण्डकारण्य भेज दिया। वह वहां प्रसन्नतासे रहने लगी। यही राम-रावणके युद्धकी आधार-पीठिका बनी। वाल्मीकि रामायणमें इस युद्धका सविस्तर वर्णन है। पृथिवी गोल है, कभी-कभी जहांसे लोग चलते हैं, वे चलते चलते वहीं आ पहुंचते हैं। इस प्रकार पुलस्त्य ऋषिका नाती रावण भारतीय ऋषिका-वंशज होता हुआ भी अपनेको अभारतीय अनार्य द्रविड समझने लगा और भारतको अपना शत्रु देश मानने लगा। इसने धीरे-धीरे दक्षिणकी तरफसे भारत पर अधिकार करना चाहा। उस समय विश्वामित्र भारतीय राज्यके संरक्षक ऋषि थे। उनके आश्रम तक राक्षसों का आक्रमण होने लगा। महाराजा दशरथ रावणका प्रत्यारोध नहीं कर पा रहे थे। अतः विवश होकर विश्वामित्रको दशरथसे राम और लक्ष्मणकी याचना करनी पड़ी। विश्वामित्रजीने इन राजकुमारोंको प्रशिक्षित किया और इन्हें अमोघ अस्त्र शस्त्र भी प्रदान किये। इससे राम और लक्ष्मण राक्षसों को विनष्ट करनेमें सशक्त बने। हमारे विचारसे आर्य ही अवान्तर भेदसे द्रविड कहलाये।

वसिष्ठकी नन्दिनीकी कथाके पूर्व ही म्लेच्छ जातियोंने द्रविड देश आबाद कर लिया था। इस बातकी पुष्टि महाभारतके निम्न-श्लोकसे हो जाती है।

नन्दिन्या गोस्तनात्पूर्वं जातैर्म्लेच्छैर्विनिर्मितः।
द्रविडाख्यो महादेशः स्ववासायेति निश्चितम्॥

तात्पर्य यह है कि द्रविड अभारतीय हैं। जो कि आस्ट्रेलियासे आकर यहां बस गये। सुदीर्घकालसे आर्योंकी यह शाखा मूल आर्योंसे विच्छिन्न और असम्बद्ध रही, अतः इनका रहन सहन खान पान और रीति रिवाज आर्योंसे सर्वथा पृथक् हो गया। इनमें आपसमें एकता स्थापित करना कल्पनामात्र सिद्ध होने लगी। कुछ विद्वान् द्रविड-शब्दको संस्कृत भाषाका मानते हैं। रावण भी इसी प्रकारसे द्रविड था। जो वाममार्गका अनुयायी था। परन्तु वाममार्गी होते हुए भी वह शिवका परम-भक्त था। अपनी भक्तिसे उसने शिवको प्रसन्न कर लिया था। यह विद्वान् तथा ब्राह्मण होते हुए भी अपने खान-पान तथा आचारविचारसे भ्रष्ट था अतः यह तथा इसका सारा परिवार राक्षस कहलाया। मदिरा मांस इसका भोजन था। अतः यह आचार-विचारसे पतित हो गया था। रावणने वेदोंका भाष्य भी किया था। कहीं-कहीं उसके वेद-भाष्यका उल्लेख अब भी मिलता है।

तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद द्रविडोंने रचा था। अपने वेदभाष्यमें महीधर कहते हैं। "तानि यजूंषि बुद्धिमालिन्यात् कृष्णानि जातानि" अर्थात् बुद्धिकी मलिनतासे यजुर्वेदकी उत्पत्ति हुई। रावण तथा महीधर आदि वाममार्गी संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे। अतः इन लोगोंने वेद-भाष्योंको भी अपने मतानुसार ही बनाया। इस प्रकार वेद-मन्त्रोंके अर्थोंको अपने विचारानुसार दूषित किया। इस विषयमें विशेष

जानकारी प्राप्त करनेके लिए स्वामीजीकी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका तथा रघुनन्दन शर्माकी वैदिक सम्पत्तिका अध्ययन करें। यजुर्वेदका महीधर भाष्य भी इसकी साक्षी प्रस्तुत कर सकता है। वाममार्गियोंने आर्योंके संस्कृत-साहित्यको दूषित किया।

इन बातोंसे निःसकोच कहा जा सकता है कि इन लोगोंने वेद-मन्त्रोंके अभिप्रायोंको अपने सम्प्रदायोंके अनुकूल सिद्ध करके वेदोंकी मर्यादाको दूषित किया था। इन्होंने गोमेध, अश्वमेध, नरमेध, यज्ञोंमें वेदमन्त्रोंसे गाय, अश्व और मनुष्य की आहुतियां सिद्ध की थीं। यज्ञोंके अवसरों पर शराब पीकर वेद-पानकी कथा भी वेद-मन्त्रोंसे निकालीं। सोम-पानको सुरा-पान साबित किया। इतना ही नहीं उन्होंने वैदिक-ग्रन्थोंमें मद्य मांस, मैथुनकी अभद्र बातोंका मिश्रण भी प्रारम्भ कर दिया था। तन्त्र, यन्त्रकी अभद्र बातोंका मिश्रण भी प्रारम्भ कर दिया था। तन्त्र, यन्त्रकी बात तो रावणके द्वारा प्रकट होती है, क्योंकि युद्धके समय शिवकी आराधनामें अपनी बलि चढाई थी।

इस प्रकार वाम-मार्गने शिव, काली, दुर्गा आदिके नामों पर तन्त्रोंका भी निर्माण किया। वाम-मार्ग और शैव सम्प्रदाय भारतमें वाल्मीकिसे लेकर महाभारत तक मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण और महाभारत ग्रन्थोंमें इनके सिद्धान्तोंका प्रमाण मिलता है। महाभारतमें तो शिवको सर्वत्र उपास्य और पूज्य ठहराया गया है। हो सकता है कि शिवसम्प्रदायके पश्चात् उक्त ग्रन्थोंमें शिव-विषयक श्लोक मिश्रित किये गये हों। इस तरह भारतमें वाम-मार्ग नास्तिकता का प्रचार करता रहा। यज्ञ जैसे पुनीत कर्मको भी पशुहिंसासे अग्राह्य बना दिया। महाभारतमें यज्ञोंके नाम पर की जानेवाली हिंसाकी जगह-जगह पर निन्दा की गई है। इधर पुरोहितोंने वैदिक कर्मकाण्डको इतना जटिल बना दिया था कि जनता इस कार्यसे ऊब चुकी थी, क्योंकि मीमांसकोंने कर्म और दर्शनका गठबन्धन कर दिया जो कि साधारण जनताकी बुद्धिके लिए बोधगम्य नहीं रह गया था। बडे बडे विद्वानों की बुद्धि भी इसमें चक्कर काटने लगती थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतमें वेदवाद प्रारम्भ हो गया अर्थात् वेदोंके ऊपर विवाद होने लगे। यहां तक कि गीतामें भगवान्‌को अर्जुनसे कहना ही पडा " वेदवादसे रहित होकर तीनों गुणोंसे रहित हो जा। " ब्राह्मणों और वाममार्गियोंने साधारण जनताको कर्मकाण्डसे दूर कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वार्थ, विवाद, पाखण्ड और अज्ञानसे वेदों तथा आर्ष-ग्रन्थोंका लोप हो गया। वेद-व्यासके नाम पर पुराणों तथा नई नई स्मृतियोंकी रचनायें प्रारम्भ हो गईं। बरसाती मेंढकोंकी तरह भारतमें सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति होने लगी। वेदोंमें भी मत-भेद प्रकट किये जाने लगे। यह भावना महाभारतमें भी विद्यमान थी, परन्तु अब तो साधारण लोग भी यह कहते हुए देखे जाते हैं " वेदोंमें आपसमें मतभेद है स्मृतियां भी आपसमें मत-भेद रखती हैं, कोई ऋषि ऐसा नहीं है जिसके वाक्यमें मतभेद न हो। "

वेदाः विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नैको ऋषियस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्था॥

यहां तक कि मुगलयुगमें रामचरित मानसके रचयिता तुलसीदासजीको भी कहना पडा ' हरित भूमि तृण सकुलित सूझि परत नहीं पन्थ। जिमि पाखण्ड विवादसे लुप्त भये सद्ग्रन्थ॥ " वेदव्यासने वैदिक ग्रन्थोंके विस्तारमें अथक परिश्रम किया। परन्तु वेद-व्यासके पश्चात् वैदिकग्रन्थोंका किसीने भी प्रचलन नहीं किया। वैदिकज्ञानकी सुरसरि पुराणोंके मरुस्थलमें सरस्वती नदीकी भांति लुप्त हो गई।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी जटिल-कर्म-काण्डकी रज्जुसे पाशित जनताको उपनिषद्कारोंने आत्मोन्नतिके द्वारा ढीला किया था और लोगोंको बताया कि स्वर्गसे भी श्रेष्ठ मोक्ष है क्योंकि स्वर्ग कर्म-फलका परिणाम है, स्वर्ग-भोगके पश्चात् पुनः बन्धनमें आना पडता है। स्वर्गके भोगकी श्रृङ्खला नहीं कटती, इस श्रृङ्खलाको तो मोक्ष ही काट सकता है। इस प्रकार ब्राह्मणोंकी जटिलताको उपनिषदोंने न्यून किया। परन्तु उपनिषदोंका ज्ञान उच्च वर्गों तक ही सीमित रहा। वाम-मार्ग अपनी मर्यादा राजाओं और निम्न वर्गोंमें बढाता जा रहा था। इसके पञ्च मकारों तथा भैरवी चक्रोंका प्रसार भारतमें जोर पकड रहा था।

वाम-मार्ग इतना बढ गया कि नरमेध-यज्ञके बहाने मनुष्यों तकका वध तथा बलि होने लगी, जब इस प्रकारके घोर पापोंका राज्य हो गया, तो उस समय बृहस्पति नामक पुरुष खडा हुआ जिसने तन्त्रमतके खण्डनका काम यथाशक्ति करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार चार्वाक और आभाणक वाम-मार्गके खण्डनमें तत्पर हुए। उसने कहा—

पशुश्चेन्निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥ १ ॥
मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥ २ ॥

अर्थात् यदि ज्योतिष्टोम नामक यज्ञमें मारा हुआ पशु स्वर्गको जाता है तो यजमान अपने बापको ही क्यों न यज्ञोंमे हवन कर दे ॥ १ ॥ मरे हुए प्राणीको यदि श्राद्ध तृप्तिका कारण होता है तो मार्गके लिए भोज्य पदार्थ ले जाना व्यर्थ है ॥ २ ॥ चार्वाकने यद्यपि वाम-मार्गके घृणित तथा कुत्सित भावनाओंका खण्डन किया परन्तु नास्तिक भावोंको यह भी प्रोत्साहित करता रहा ।

चौदहवीं शताब्दीमें सायणने भी वेद-भाष्य किया। उव्वट तथा महीधरने यजुर्वेदका भाष्य किया। भारतका आचारविचार गिरता जा रहा था। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंका आपसमें कुछ सम्पर्क था, परन्तु वैश्यों और शूद्रोंका उच्च वर्गवालोंसे कुछ भी सम्पर्क नहीं रह गया था। उच्च वर्गवाले इन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। स्त्रियों तथा शूद्रोंको मानवीय अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। संस्कृत-भाषा तथा वेद-शास्त्र केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित रहे। यह अपवाद भी प्रचलित है कि संस्कृत क्यों पढ़े ? क्या हम ब्राह्मण हैं ? क्या मुझे पुरोहिती करनी है ? इत्यादि। मांस-भक्षण तथा मद्यपान जोरों पर था, यज्ञोंमें हजारों पशु काटकर डाले जाते थे। इन्द्रिय लोलुपता तथा नास्तिकता जोरों पर थी। ऐसी नाजुक स्थितिमें भगवान् बुद्ध कार्यक्षेत्र में अवतरित हुये। उस समयकी स्थितिको देखकर उन्हें कहना पड़ा "यदि वेदोंमें पशु-हिंसा, मद्य-पान आदि बातें हैं, और इन घृणित कार्योंको ईश्वर तथा देवी देवताओंको खुश करनेके लिये किया जाता है तो वेद, ईश्वर, देवी और देवताओंको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।" इन्होंने योगशास्त्रके यम-नियमोंको अपने सिद्धान्तोंमें पूर्ण रूपसे स्थान दिया।

बुद्ध भगवान्के जीवनकालमें इनका सम्प्रदाय बहुत उन्नतशील और प्रभावोत्पादक रहा। परन्तु जबसे उन्होंने स्त्रियोंको भिक्षुणियोंके रूपमें दीक्षित किया तबसे इनके सम्प्रदायमें कीटाणु लग गये। भगवान् बुद्धके निर्वाणके पश्चात् उनके अनुयायियोंने उन्हें ईश्वरके स्थान पर बैठा दिया और मूर्तिपूजाका सूत्रपात हो गया। महायान और हीनयान दो अवान्तर भेद हो गये। इस तरह यह सम्प्रदाय भी दूषित हो गया। इन्हीं दिनों जैन मतका भी प्रादुर्भाव हुआ था। इस मतके चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर स्वामी भी ईश्वरत्वके पद पर आसीन करा दिये गये। इन चौबीस तीर्थङ्करोंकी मूर्तियां निर्मित की गईं। यहाँ भी मूर्ति-पूजाका बाजार गरम हो गया। इन दोनों अवैदिक मतोंके प्रभावोंसे जनताको बचानेके लिये पौराणिकोंने चौबीस ईश्वरीय अवतारों की कल्पना की। अपने विरोधी बुद्ध और महावीरको इन चौबीस अवतारमें स्थान दे दिया। बुद्ध भगवान् सत्यके रूप में भी प्रसिद्ध हो गये। सत्य नारायण कथाके सत्य बुद्ध ही हैं और इनको वैदिक यज्ञके द्वारा आराध्य बताया गया। परलोक, निर्वाण, पुनर्जन्म, जीवात्मा तथा अहिंसा आदि सिद्धान्त दोनोंको मान्य थे।

जैन तथा बौद्धमत वेदों तथा ईश्वरकी अमान्यताका घोर प्रचार कर रहे थे। हीनयान तथा महायानके प्रभावमें निम्न वर्गकी जनता भी अपनेको पण्डितोंसे कम नहीं समझ रही थी। वेदों तथा ईश्वरके प्रति नास्तिक अपवादोंको दूर करनेके लिये स्वामी शंकराचार्य जी ने बीड़ा उठाया। उन्होंने उपदेशों तथा शास्त्रार्थों द्वारा वेदविरोधी मतोंका खण्डन किया और वैदिक धर्मकी पुनः संस्थापना की। उज्जैन नगरीमें आकर श्री शंकराचार्यजीने सुधन्वा राजाको वैदिक धर्ममें दीक्षित किया। और इस राजाकी सहायतासे शास्त्रार्थमें बौद्धोंको परास्त किया। इन्होंने "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का तर्कपूर्वक प्रचार किया। मायावादके बल पर बौद्धों और जैनियोंको हरा कर भारतमें वैदिक धर्मका बोलबाला किया। अमरसिंह और मण्डनमिश्र जैसे धुरन्धर विद्वानोंको परास्त कर शंकराचार्य जी दिग्विजयी कहलाये। इसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध सम्प्रदायके पैर उसकी जन्मभूमिसे सर्वथा उखड़ गये। शैव सम्प्रदाय वाले तो इन्हें शिवका साक्षात् अवतार मानने लगे। इन्होंने गीता, उपनिषद् और वेदान्तको अपने सिद्धान्तका केन्द्र-बिन्दु ठहराया। वेदोंकी ओर इनकी भी दृष्टि नहीं गई। यह दर्शनशास्त्रके अद्वितीय विद्वान् थे। इन्होंने अपनी अलौकिक तार्किक बुद्धिसे मायावादके जालमें पण्डित मण्डलीको निगृहीत कर लिया। इनके दार्शनिकयुगने विद्वन्मण्डलीको अकर्मण्यताका आखेट बना दिया। आत्म ज्ञानके क, ख जानने वाले भी अपनेको साक्षात् ब्रह्म कहने

लगे। इस मिथ्या विश्वासने भारतको आलस्यके गर्तमें गिरा दिया। कृष्णकी गीता शुद्ध कर्मवादकी प्रेरिका है उसे भी "अहं ब्रह्मास्मि तथा जगन्मिथ्या" को प्रतिपादिका सिद्ध किया। संन्यासियोंने तो शंकराचार्यके व्यावहारिक दार्शनिक सिद्धान्तोंको सर्वथा छोड दिया और जनताके समक्ष जगन्मिथ्याका उद्घोष किया। इस प्रकार भारत मिथ्यात्मगौरव तथा अकर्मण्यताके दल-दलमें फस गया।

राजा विक्रमादित्य, राजा भर्तृहरि और राजा भोज संस्कृत भाषाका प्रचार करनेके कारण आज भी हमारे आराध्य देव बने हुए हैं। इनकी उदारता तथा सुयोग्यतासे संस्कृतने राष्ट्रभाषाका उच्च स्थान प्राप्त किया था। इन्होंने जिन संस्कृत-ग्रन्थ रत्नोंका निर्माण कराया उनके द्वारा संस्कृत भाषा आज भी गौरवशालिनी है। यह समय संस्कृत-भाषा के उत्थानके लिए प्रसिद्ध है। स्वनामधन्य कविमूर्धन्य श्री कालिदासने अपनी अलौकिक प्रतिभासे संस्कृत-भाषाकी सर्वतोमुखी उन्नति की। साहित्य, नाटक, महाकाव्य आदि इस युगके अद्वितीय हैं।

राजा भोजके डेढ सौ वर्षके पश्चात् वैष्णव मतका आरम्भ हुआ। एक शठकोप नामक कंजर वर्ण (वर्ग) में उत्पन्न हुआ था। उसके द्वारा थोडासा प्रचलित हुआ। उसके पश्चात् मुनिवाहन भंगी कुलोत्पन्न और तीसरा यमुनाचार्य हुआ। इसके पश्चात् ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न चौथे रामानुज हुये, उन्होंने अपना मत फैलाया। रामानुजने शंकरके अद्वैतवादका खण्डन किया और अद्वैतवादके स्थान पर विशिष्टाद्वैतवाद मत खडा किया। यह वैष्णव सम्प्रदाय रामको ब्रह्म मानता था। यह सम्प्रदाय भी अवैदिक ही है। कंठी, तिलक, माला, छापा, मूर्ति-पूजा, घण्टा घडियाल आदि इनके मतके अंग थे। रामानुजके चेले रामानन्द हुये। इनका मत सन् १३०० से १४०० तक अपने यौवन पर था। रामानुजने अपने ग्रंथोंकी रचना संस्कृत भाषामें की। परन्तु रामानन्दने हिन्दी भाषामें उपदेश तथा प्रवचन किया। इनके ग्यारह शिष्य थे। जिनके नाम इस प्रकार थे—

रविदास या रैदास, कबीर, धन्ना (जाट) सेन (नाई) पीपा (राजपूत) भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, सुरानन्द, महानन्द और श्री आनन्द। इन लोगोंके द्वारा स्वामी रामानन्दजीने समाज सुधार तथा वैष्णव मतका प्रचार किया।

"भारतने अकबर तथा औरंगजेबका मीठा तथा कडआ प्रताडन सहा। अपने सामने अपने देवी, देवताओंके मन्दिरों को ढहते तथा अपने धार्मिक ग्रन्थोंको जलते और अपनी सती ललनाओंको अपहृत होते देखा, परन्तु यह वृद्ध भारत अपने धार्मिक संगठित शक्तिके प्रभाव तथा अपनी संस्कृति एवं आत्म-त्यागके कारण मुसलमानोंसे आठ सौ वर्ष तक धार्मिक युद्ध करता रहा और इसलामके सामने इसने घुटने नहीं टेके। जिस इसलामने सातों समुद्रों पर अपनी विजय दुन्दभी बजाई वही गंगाके दहानेमें आकर डूब गई।

तुलसीके रामने हिमालयसे सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक शक्ति और संगठनका सामर्थ्य जनतामें भर दिया। तुलसी के प्रभावसे पचास वर्षोंमें भारतमें भारी संस्कृतिका विकास हुआ। इन पचास वर्षोंमें २७४ कवि उत्पन्न हुये, जिन्होंने हिन्दू जातिके संगठनमें सहारा दिया। तुलसीके रामके सहारे शिवाजी और जसवन्तसिंह, महाराणा राजसिंहने औरंगजेब जैसे राजाओंसे आश्चर्यजनक लोहा लिया। इस प्रकार कह सकते हैं कि महात्मा तुलसीदास महान् हिन्दू संगठनके जन्मदाता थे। इन्होंने रामचरित मानसके द्वारा जनतामें आत्मबल पैदा किया।

मुगलोंके बाद भारतमें अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ। भारत पर इस्लाम मतके अतिरिक्त ईसाई मतका प्रभाव पडने लगा। ऐसे ही समयमें मुसलमानोंमें सर सैय्यद अहमद खां, और हिन्दुओंमें राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्दने आंखें फाड कर अपने युवकोंकी इस सांस्कृतिक अधोगतिको देखा और उनकी रक्षा करनेकी तत्परता दिखाई। सर सैय्यद अहमद खां ने अलीगढमें मुस्लिम संस्कृतिका केन्द्र स्थापित किया और उर्दूके माध्यमसे नवीन मुस्लिम राष्ट्रका सङ्गठन आरम्भ किया। राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्दने ब्रह्मसमाज और आर्यसमाजकी स्थापना करके हिन्दू नवयुवकोंमें जो नवचेतनाका बीज बोया, उसे हिन्दुओंने अपनाया तो परन्तु सन्देहकी दृष्टिसे देखा। जो सहयोग सर सैय्यदको नये मुस्लिम राष्ट्रके सङ्गठनमें मिला, वह सहयोग राजा राममोहन राय, तथा स्वामी दयानन्दको नहीं मिला। फलतः जहां मुस्लिम राष्ट्र ऐकीभूत होकर समुन्नत हुआ वहां हिन्दूराष्ट्रमें साम्प्रदायिकताकी बू उत्पन्न हो गई और उसकी शक्ति आपसके संघर्षमें खर्च होने लगी। लार्ड मैकालेने अंग्रेजीको भारत पर लादा और भारतको ईसाई बनानेका स्वप्न देखने लगे, परन्तु अंग्रेजी

से भारतमें राष्ट्रीय चेतनाका प्रादुर्भाव हुआ। इसीका परिणाम सन् १८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति थी।"

("भारतमें इस्लाम" नामक पुस्तकसे उद्धृत, लेखक-श्री चतुरसेन शास्त्री।")

"मुसलमानों तथा अंग्रेजोंका धार्मिक षड्यन्त्र"

वाम-मार्गियोंकी तरह इन दोनों कौमोंने भी हिन्दू धर्मकी अन्तरात्माको दूषित करनेका षड्यन्त्र किया। हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें संमिश्रण कराया। इन्होंने पण्डितोंके द्वारा मनुस्मृति तथा ज्योतिषग्रन्थोंमें जगह जगह पर मांस-भक्षणके समर्थक श्लोक बनवा कर भरवा दिये। श्राद्ध तथा पिण्ड-दान भी मांसके द्वारा होने लगा। मांस खाने पर यात्राके दिशाशूल की शान्ति प्रतिपादित की गई। इस विषयमें बृहद्-ज्योतिषसार द्रष्टव्य है। इन्होंने अल्लोपनिषद् भी बनवाया।

अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि, धत्ते।
इल्लल्ले वरुणो राजा पुनर्ददुः॥
हयामित्रो इल्लां इल्लल्ले इल्लां वरुणो
मित्रस्तेजस्कामः॥

और भी देखिये—अभिनव निघण्टु में

"दोषः खिल्त इति प्रोक्तः स चतुर्द्धा निरूप्यते।
सौदा सफरा तथा बलगम तुरीयं खून उच्यते॥

देखिये वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ५२६ से ५३५ तक॥

"ईसाई धर्म और आर्यशास्त्र"

ईसाई हिन्दुओंके देशमें बाइबलका प्रचार करते रहे। "ईशावास्यमिदं सर्वम्" मन्त्रसे "ईसा" को वेदोंसे सिद्ध करनेका प्रयास करने लगे। सन् १७६१ ई० में रॉबर्ट डी० नोबली नामक पादरीने एक द्रविड पण्डितको रुपया देकर बाइबिल और पुराण मिश्रित एक पुस्तक संस्कृतमें लिखवाई और उसका नाम यजुर्वेद रखा। इन कथाओंके (कृष्ण सम्बन्धी कथाओंके) प्रकाशनमें तथा भगवद्गीताके साथ बाईबलके साम्यने अनेक योरोपीय विद्वानोंको इस बातके लिए प्रेरित किया कि वे यह सोचने लगे कि हिन्दुओंने ये कथाएं बाइबिलसे लेकर उन्हें कृष्णके साथ जोड़ दिया। इण्डियन एँटीक्विटीके पृष्ठोंमें एक बार इस विषय पर पूरा विवाद ही खड़ा हो गया था। सन् १८६९ के आसपास लिखते हुए डा० लारिसनने दावा किया था कि श्रीमद् भागवतकी कथाओंके लिए हिन्दू लोग बाइबिलके आभारी हैं। परन्तु बाम्बेके तैलंगा तथा हीडेलबर्गके डा० विन्डिशने इस आभारको व्यर्थ बताया।" (प्राचीन भारतकी सभ्यताका इतिहास ले० आर० सी० दत्त पृष्ठ ५१३ से ५१४ तक।) इस प्रकार कृष्ण यजुर्वेदसे लेकर अल्लोपनिषद्, और अंग्रेजोंके यजुर्वेद तक हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें मिश्रण होता रहा। भविष्य पुराणमें तो अंग्रेजी दिनों तथा महीनों के नामोंका भी उल्लेख है उसमें सण्डे, मण्डे तथा जनवरी और फरवरी महीनोंके नामोंका वर्णन है। बङ्गालके आर्य शिरोमणि श्रीराजा राममोहन रायने ब्रह्मसमाजके द्वारा ईसाइयोंसे हिन्दू धर्मकी रक्षा की। परन्तु उनके कुछ दिनोंके बाद केशवचन्द्र सेनने ईसाई मतसे प्रभावित होकर ब्रह्मसमाजके सिद्धान्तोंको ईसाई मतके सिद्धान्तोंसे मेल कराना शुरु किया। परन्तु इसी बीचमें स्वामी दयानन्दजीने अपना आर्यसमाज खड़ा कर दिया।

भावातीत ध्यानप्रणाली--सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष

(लेखक— श्री जगदीश मोहन मित्तल, एम् ए)

☆

आनन्दको लगातार ढूढती रहनेकी प्रक्रिया ही ध्यान कहलाती है।

साधारणतया ध्यानप्रणाली को भगवद्प्राप्तिका एक बहुत कठिन और दुर्गम्य साधन माना जाता है। इसलिए जन साधारणको ध्यान करनेमें आनन्द नहीं आता और वे ध्यान का अभिप्राय जड समाधिसे लेते हैं। उनके अनुसार ध्यान वह आदमी कर सकता है जो निठल्ला हो, जिसे [illegible] रख कर बैठे रहनेके अलावा और कोई काम नहीं, जिसकी आवश्यकता मधुकरीसे पूरी हो जाती हो और जिसका सामाजिक जन-जीवनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहता हो, परन्तु महेश योगीके अनुसार ध्यानकी यह व्याख्या गलत धारणा पर बनी हुई है और कलियुगमे धर्मकी साधनाके माध्यममें समय अनुसार परिवर्तन करना आवश्यक है। उनके विचारसे ध्यान करने व उसके द्वारा प्रभु प्राप्तिके लिए ससार छोड कर वनमें विचरना आवश्यक नहीं है चूकि कोई भी व्यक्ति दिन रात ध्यान नहीं कर सकता। जिन लोगोंने दिन रात ध्यानमें रहनेको बात की उन्होंने भारतको निकम्मा बना दिया, परिणाम यह हुआ कि कुछ लोग दीक्षा तो देते रहे कि दिन रात ध्यान करो, ऐसा हो सकता था नहीं, मन न काममें लगा; न ध्यानमें, धोबीका कुत्ता न घरका रहा न घाटका, वाली कहावत चरितार्थ हो गयी।

वैराग्य धारण करके दिन रात ध्यान करनेका विरोध गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी किया, उन्होंने अर्जुनको वैराग्य लेनेसे रोका और उसे युद्ध करके राज्य प्राप्त करनेके कार्यमें लगाया, क्योंकि मनुष्य आजीवन इस संसारका त्याग नहीं कर सकता, फिर भ्रान्त या पागल मनुष्यकी तरहसे जनपरित्यागकी भाषा बोलनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? उपनिषदोंमें लिखा है कि 'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्य' अर्थात् सांसारिक कर्तव्योंसे डर कर जो मनुष्य वैराग्य धारण करता है ऐसे बलहीन पुरुषको आत्मा वरण नहीं करती।

महेश योगीके अनुसार ध्यान एक सहज, स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसे मनुष्यका मन चेतन या अचेतन रूपसे स्वतः ही अपनाता रहता है, इसके लिए उसे अपने शरीरको यम नियम प्राणायाम हठ योगकी कठोर लौहश्रृखलामें जकड-नेकी आवश्यकता नहीं और नहीं उसे भगवे कपडे रगनेकी आवश्यकता है। उनके विचारसे ब्रह्मप्राप्तिकी ध्यान-प्रणाली सुखद होनी चाहिए, चूकि भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें उपदेश दिया है, सुखेन ब्रह्मसम्पर्शमत्यन्त सुख-मश्नुते अर्थात् ब्रह्म सस्पर्शी सुखद है अथवा ब्रह्मानन्द सुखसे प्राप्त होता है। महर्षि महेश योगी लिखते हैं कि जबसे ऐसा माना जाने लगा है कि आसन प्राणायामसे ही योगा-भ्यासका आरम्भ होता है तबसे न केवल ब्रह्मस्पर्श ही दुसाध्य हो गया प्रत्युत समूचे योगशास्त्रका प्रयोजन ही धूमिल पड गया। उनके अनुसार योग समाधिसे ही आरम्भ होता है। अष्टाग सिद्धिका क्रम यमनियमसे आरम्भ होता है ऐसा मानना ही योगदर्शन पर आघात करना है ..... गर्भमें माताकी शिशुकी शरीररचनाके अनुसार पातंजलि निर्दिष्ट योगदर्शनके अष्टांगोंका विकास अलग २ न होकर

एक साथ होता है, जब तक समाधि सिद्ध नहीं होती तब तक किसी भी अंगकी सिद्धि नहीं होती ...... चूंकि परात्पर ब्रह्मसे संयुक्त मन योगनिष्ठ होने पर ही आधिदैविक एवम् आधिभौतिक क्षेत्रोंका स्वामित्व प्राप्त करता है।

अब तकके विचारोंसे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ब्राह्म स्पर्श सुखद है, व भावातीत ध्यान प्रणालीके द्वारा, जो कि आनन्द ढूंढनेकी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, प्राप्त किया जा सकता है।

अब हम भावातीत ध्यान प्रणालीके सैद्धान्तिक पक्षका विवेचन करेंगे। इस सम्बन्धमें हमें यह विचारना होगा कि यह ध्यान प्रणाली हमें किस प्रकार आनन्दकन्द भगवान् या ब्रह्मके पास जो कि आनन्दस्रोतका उद्गमस्थान है, पहुंचाती है।

मनुष्य मनकी तुलना हम एक अथाह समुद्रसे कर सकते हैं, जिसमें विचार या भावरूपी छोटी २ लहरोंके अलावा ज्वारभाटा व वेगवती धाराएं और तूफान भी आया करते है जो मनुष्यको उद्वेलित कर देते हैं। जिस प्रकारसे समुद्रके तलमें ही मोती [illegible] छिपा रहता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य मनमें आनन्दस्रोतका उद्गम स्थान यानी आनन्दकन्द भगवान्, ब्रह्म या आत्मा छिपी रहती है। जिस प्रकार गोताखोरके लिए यह आवश्यक है कि वह किसी ऐसे समय गहरे गोतेसे समुद्र तल तक पहुंचे जब कि समुद्रकी सतह भी तलकी तरह पूर्णतया शान्त हो और वह इस खोजमें रहता है कि उसे ऐसा अवसर कब मिलता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य यदि किसी ऐसे समय जब कि उसका मन तुलनात्मक रूपमें अधिक चिन्तित नहीं, ध्यानप्रणालीके द्वारा मनके तह तक पहुंचनेका निरन्तर प्रयत्न करता रहे तो सम्भव है कि उसे ब्रह्मप्राप्ति हो जाये। यहां यह आवश्यक है कि वह अपने चेतन मनको समुद्रके तलकी तरह शान्त रख सके ताकि आत्माका प्रतिबिम्ब मनमें पूर्णरूपसे सजीव हो सके।

वैसे देखा जाय तो मनको विचाररहित करना इतना आसान नहीं, अतः धार्मिक लोग यह कहते हैं कि मनमें किसी प्रकारकी इच्छा या विचार उठते ही विवेक द्वारा उसे तुरन्त दबा दिया जाये, किन्तु महर्षि महेश योगीकी ध्यान प्रणालीमें ऐसा नहीं करना पड़ता चूंकि इसके अनुसार हम एक विचारको दबा कर मनमें दूसरे विचारकी प्रधानता कर देते हैं और इस प्रकार मन विचाररहित होनेके बजाय विचारोंकी शृंखलामें घूमता रहता है। उनके अनुसार यह आभास या भान कि हमें अपने मनमें गहरे उतरने पर या विचार रहित होनेमें अधिक सुखकी अनुभूति होगी मनको स्वतः ही अन्तर्मुख कर देता है।

भावातीत ध्यान प्रणालीमें मनुष्यके मनको अन्तर्मुख करने हेतु उसके संस्कारके अनुसार एक तुलनात्मक ब्रह्म का मन्त्र भी दिया जाता है जो कि मनके गोताखोरोंके लिए पनडुब्बीका काम करता है। जिस प्रकार समुद्रके तलमें पहुंचने पर जवाहारात मोती आदिकी तलाशमें गोताखोर पनडुब्बीसे अलग होकर विचरण करता है ठीक उसी प्रकार ज्यों २ मन अन्तर्मुख होने लगता है वह भावातीत या विचाररहित होता चला जाता है और अन्तमें पूर्ण रूपसे आत्मामें मनके स्थित हो जाने पर किसी प्रकारका भाव या विचार न रहनेसे यह प्रणाली भावातीत ध्यान प्रणाली कहलाती है। जिसके अनुसार मनुष्य मन निरन्तर बढते हुए आनन्दकी अनुभूति करते हुए आनन्दकन्द भगवानमें लीन हो जाता है।

महेश योगीके अनुसार मनकी मूल प्रवृत्ति या स्वभाव विचार या भावमें विचरण करनेकी नहीं होती बल्कि वह निरन्तर परात्पर ब्रह्ममें लीन रहना चाहता है, परन्तु जीवके पिछले संस्कार उसे अपने कर्म भोग करानेके लिए इन्द्रियोंके माध्यमसे संसारमें अच्छे बुरे कार्य करनेके लिए प्रेरित करते रहते हे और ज्यों ज्यों मनुष्य अपने पिछले संस्कारोंके क्षयके साथ २ पुरुषार्थ करता रहता है वह निरन्तर आमन्त्रकर भगवानके समीप पहुचता रहता है. उनके अनुसार मनके विषयोंसे दूर रखनेके लिए विवेक या इन्द्रियदमनका साधन गलत है चूंकी सांसारिक आनन्द अपने आपमें अस्थाई व छिलछिले हैं, अतः मन उनसे ऊबकर स्वतः ही ध्यान द्वारा आनन्दस्रोतकी ओर दौडने लगता है बशर्ते उसे एक बार ब्रह्मस्पर्शका सुखद आभास मिल जाय।

अब हम भावातीत ध्यान प्रणालीके व्यावहारिक पक्षको विचारते है जिस प्रकार समुद्र तलसे हमें हीरे जवाहारात प्राप्त होनेपर तीन बातोंकी अनुभूति एक साथ ही होती है, (१) यह कि हम समुद्र तलकी जैसा वह है उसके खजाने और अन्दरूनी सतहकी जानकारी प्राप्त कर गये हैं जिससे अभी तक किन्हीं कारणवश हम अनभिज्ञ थे। (२) कि ऐसी

खोज करनेमें हमे विश्वके सुन्दरतम् पदार्थ हाथ लगे हैं. इसके (३) फलस्वरुप हमारे सुख या आनन्दमें अपार वृद्धि होती है. ठीक इसी प्रकार जब मनुष्यमन आत्माम लीन हो जाता है और निरन्तर डुबकियां समय २ पर लगाता रहता है तो वह अनुभव करने लगता है कि आत्माके विशिष्ट गुण Truth, Beauty, Bliss सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् या सच्चित् आनन्द उसके अपने गुण बनते जा रहे हैं, जिसके पश्चात् उसे विश्वके बडे २ प्रलोभन भी कर्तव्यच्युत नहीं कर सकते और वह संसारके प्रति अपने कर्तव्योंको करता हुआ अर्जुनकी तरह कह उठता है कि 'नष्टो मोहः स्मृतिः लब्धा' अर्थात् मेरा मोहरूपी माया जाल नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति हो गयी है कि मे जीव नहीं आत्मा हूं अतः वह अपने आपको भगवान् श्री कृष्णको माध्यम मान कर युद्ध क्षेत्रमें गुण गुणोंमें बरतते हैं कह कर संसारसे विमुख न हो कर उससे दो दो हाथ करनेको तैयार हो जाता है

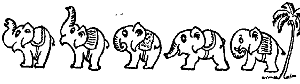
स्वामी विवेकानन्द आत्मदर्शी मनुष्यके विषयमें निम्न प्रकारसे लिखते हैं:

" The important question is to know what comes after realisation...... what becomes of us after that ? what goodwill it do to the world ...... people are afraid that when they attain to it .... the foundations of love will be dried up, that every thing in life will go away and that all they love will vanish for them as, it were, in this life and in the life to come .... "

To these doubts Sawami Vivekanand answers as follows :-

"....... the wife will love the husband more when she thinks that the husband is God himself and vice versa ...... that mothar will love the Children more; who thinks that the Children are God Himself, That men will love his greatest enemy.... that man will love to holy man,...... and un-holiest man too, because he knows the background of the greatest enemy, the holy and the un-holiest of man, is even, He the Lord.

Such a man becomes a world mover, for whom his little self is dead and God stands in its place. The whole universe will become transfigured to him. That which is painful and miserable will all vanish...... Instead of being a prison-house, where we everyday struggle and fight and compete for a morsel of bread, this universe will then be to us a playground. "



वराहावतारकी कल्पना

(लेखक— श्री डा शिवपूजनसिंह कुशवाहा, एम् ए)

卐

वैदिकधर्मका सिद्धान्त है कि वेदोंमें ईश्वर निराकार है और उसका कोई अवतार नहीं होता है।[1]

पौराणिकवर्ग ईश्वरको निराकार व साकार मानकर मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि अवतारोंकी कल्पना करता है। ये लोग एक २ अवतारकी कल्पना वेद-मन्त्रोंसे करते हैं जिनका आर्यसमाजकी ओरसे कई बार उत्तर दिया गया है। आज पाठकोंको 'वराहावतार' के सम्बन्धमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

'वराह' का [illegible] ने लोग [illegible] सुअर' होता है [illegible] परमात्माको 'सुअर' के अवतारकी कल्पना करते हैं।

पौराणिकोंके अकाट्य प्रमाण —

पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र 'विद्यावारिधि' लिखते हैं:—

" वराह अवतार, अथर्ववेद काण्ड (१० अनु० १) वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय। ४८॥

अर्थात्– वराह सूकररूपधारी प्रजापतिने इस पृथिवीका उद्धार किया है।

इयं तीह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोस्या पतिः प्रजापतिरिति
(श० १४।१।२।११)

पहले भूमि प्रादेशमात्र प्रगट हुई उसका वराहने उद्धार किया सो इसका पति प्रजापति है।

उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना
(तैत्ति अ. प्र १ अनु १ मं ३०)

हे भूमि, तुम्हारा असंख्य भुजावाले कृष्ण वाराहने उद्धार किया है।"[2] मिश्रजीने यहां अथर्ववेद' का प्रमाण अशुद्ध दिया है। उनकी पुस्तकके तीन २ संस्करण हो गये, परंतु अब तक उसमें प्रमाणके पते अशुद्ध छप रहे हैं।

अथर्ववेद काण्ड १० में यह मन्त्र नहीं है वरन् काण्ड १२में है। आज तक किसी पौराणिकका ध्यान ही नहीं गया।

मिश्रजीकीही प्रतिलिपि पं. कालूरामशास्त्री[3], प ब्रह्मदेव-शास्त्री, काव्यतीर्थ,[4] प. माधवाचार्य शास्त्री[5] ने की है।

श्री माधवाचार्य शास्त्रीने केवल ' अथर्ववेद, व तैत्तिरीय काही प्रमाण दिया है।[6]

---

१. यजर्वेद ४०।८

२. " दयानन्दतिमिरभास्कर " पृष्ठ २१७–२१८ [संवत् १९६२ वि. श्रीवेङ्कटेश्वर ' स्टीम यन्त्रालय मुद्रित व प्रकाशित, तृतीय संस्करण]

३ " आर्यसमाजकी मौत " प्रथम संस्करण पृष्ठ १६८–१६९, तथा " पुराण-वर्म " पूर्वार्द्ध द्वितीय संस्करण पृष्ठ २०२

४. " वैदिक अवतारवाद " पृष्ठ २४ [सन् १९३० ई में ब्रह्म प्रेस, इटावामें मुद्रित व प्रकाशित]

५. " पुराण दिग्दर्शनम् " पृष्ठ २६४ [संवत् २००६ वि. में माधव पुस्तकालय धर्मधाम कमलानगर दिल्ली द्वारा प्रकाशित]

६. " वैदिक अवतारवाद " पृष्ठ २४

पौराणिकोंके कुछ अन्य प्रमाण

पं. महादेव शास्त्रीने यजुर्वेदसे एक और प्रमाण दिया है [७] (यजु० अ. ३८।५)

इत्यग्रे आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरोराध्यासं देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । "

उव्वट और महीधर [८] ने भी इस मंत्रमें वराहावतारकी कल्पना की है । पं. ज्वालाप्रसाद मिश्रने इस मंत्रका उव्वट, महीधरके भाष्योंका हिन्दीमें अनुवाद कर दिया है । यथा :– " ... " पृथिवी (अग्रे) वराहके उद्धरण समयमें (इयती) इतनी अर्थात् प्रादेशमात्र (आसीत) थी (अद्य) अब (ते) तुमको लेकर (पृथिव्याः) पृथ्वीके (देवयजने) देवयजन स्थानमें (मखाय) यज्ञका (शिरः) शिर (राध्यासम्) सम्पादन करता हूं । (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको लेता हूं (मखस्य) यज्ञके (शिर्ष्णे) शिरोरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं । "...[९]

" प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति । महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥ " [ऋग्वेद मंडल ९, सूक्त ९७, मंत्र ७]

पं. अम्बिकादत्त व्यास

" (उशनेव) शुक्रके समान काव्यका कथन करता हुआ देवताओंमें देव परमेश्वर अवतार प्रकट करता है वह कैसा देव है ? महिव्रत है अर्थात् हिरण्यकशिपुसे हरी हुई पृथ्वीउद्धार की प्रतिज्ञावाला है, शुचिबन्धु जो सदाचारी भक्तों पर दयालु है (वराह) धारण किया है शूकररूप जिसने ऐसा भगवान् शब्द करता हुआ पैरोंसे चलता है ' (अवतार मीमांसासे)

समीक्षा

इन उपर्युक्त प्रमाणोंके आधार पर ' वराहावतार ' का दुर्ग बनाते हैं । अब इन प्रमाणों पर ऊहापोहसे विचार किया जाता है ।

' अथर्ववेद ' पर महर्षि दयानन्दजी सरस्वतीका भाष्य नहीं है । यहां पर ' वराह ' का अर्थ ' मेघ ' ' सूकर ' का अर्थ ' सूर्य ' है । वराह शब्दको देखकर ' वराहावतार ' की कल्पना सूझ पडी, परंतु पौराणिकोंका यह ' द्राविडी प्राणायाम ' के सदृश है ।

साहित्याचार्य पं. वैद्यनाथजी शास्त्री एम. ए. " धारण सामर्थ्यसे युक्त, भारीपन या बहुतों को धारण करनेवाली, पुण्यात्मा तथा पापी सबको सहन करनेवाली पृथिवी मेघसे सब कुछ प्राप्त करती हुई; सुन्दर किरणवाले सूर्यको प्राप्त होती है अर्थात् सूर्यकी आकर्षणशक्तिसे कार्य करती है । यहां पर वराहका अर्थ मेघ बादल और सूकरका अर्थ सुन्दर किरणोंवाला अर्थात् सूर्य है । " [१०]

पं. क्षेमकरणदास ' त्रिवेदी '

" (मल्वम्) कृगृभृद्भ्यो वः । उ० १।१५५ मलधारणे च । धारणसामर्थ्यम् (बिभ्रती) धारयन्ती (गुरुभृत्) कृग्रोरुच्च । उ० १।२४ भृ विज्ञापने–कु, उत्वं च+डुभृञ् धारणपोषणयोः क्विप् । गुरुत्वस्य धारकं सामर्थ्यम् (भद्र-पापस्य) साधवसाधुपुरुषस्य (निधनम्) कुलम् । समूहम् (तितिक्षुः) तिज क्षमायाम्–स्वार्थे सन्–उप्रत्ययः । सहमाना (वराहेण) अ० ८।७।२३। मेघेन–निघ० ५।४ (पृथिवी) (संविदाना) अ० २।२८।२। संपूर्वाद् वेत्तेरकर्मकाद् आत्मनेपदम्; लटः शानच् । संगच्छमाना (सूकराय) ऋबोरम् । पा० ३ ३।५७। सु+ कृ विदारणे-अप् । उपसर्गस्य

---

७. " शुक्ल यजुर्वेद संहिता " पृष्ठ १७१० [३१–४० अध्यायतक चतुर्थखण्ड, सन् १९१५ ई. में विद्याविलास प्रेस, वाराणसीमें मुद्रित]

८. वही

९. शुक्ल यजुर्वेद संहिता मिश्रभाष्य सहित, उत्तरार्ध, पृष्ठ १३३८ [संवत् १९५९ वि बम्बई संस्करण].

१०. " आर्यसिद्धान्तसागर " प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८१.

दीर्घः। सुष्ठु सुखदाः कराः किरणा, यस्य, तस्मै (वि) विविधम् (जिहीते) ओहाङ् गतौ। प्राप्यते (मृगाय) मृग अन्वेषणे गतौ च-क। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः- निरु० १३।३। अन्वेषकाय गतिशीलाय वा सूर्याय।"

भावार्थ— (मल्वम्) धारण सामर्थ्यको और (गुरुभृत्) गुरुत्व [भारीपन] रखनेवाले सामर्थ्यको (बिभ्रती) धारण करनेवाली, (भद्रपापस्य) भले और बुरेके (निधनम्) कुल [समूह] को (तितिक्षुः) सहनेवाली, (वराहेण) मेघके साथ (संविदाना) मिली हुई (पृथिवी) पृथिवी (सूकराय) सुन्दर [सुखद] किरणोंवाले, (मृगाय) गमनशील सूर्यके लिए (वि) विविध प्रकार (जिहीते) प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

भावार्थ– पृथिवी अपने धारण आकर्षणसे सब पदार्थोंको अपने पर रखती है और सूर्यके सन्मुख चलनेसे जल आकाश में चढता और बरसता है। उस पृथिवीको उपयोगी बनानेमें मनुष्य प्रयत्न करें ॥ ४८ ॥"[11]

शास्त्रार्थमहारथी पं. मनसाराम " वैदिकतोप "

" भावार्थ- धारणसामर्थ्यको और भारीपन रखनेवाले सामर्थ्यको धारण करनेवाली, भले और बुरेके समूहको सहनेवाली, मेघके साथ मिली हुई पृथिवी सुखद किरणोंवाले गमनशील सूर्यके लिए विविध प्रकार प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

भावार्थ– पृथिवी अपने धारण आकर्षणसे सब पदार्थोंको अपने पर रखती है। और सूर्यके सन्मुख जल आकाशमें चढता और बरसता है। उस पृथिवीको उपयोगी बनानेमें मनुष्य प्रयत्न करें। इससे स्पष्ट हो गया कि इस मंत्रमें ईश्वर अवतारका लेशमात्र भी वर्णन नहीं है "[12]

" धारण सामर्थ्यसे युक्त भारीपन या बहुतोंको धारण करनेवाली पुण्यात्मा तथा पापी सबको सहन करनेवाली मेघसे सब कुछ प्राप्त करती हुई सुन्दर किरणवाले सूर्यको प्राप्त होती है यानि सूर्यकी आकर्षण शक्तिसे कार्य करती है।"[13]

" वराहका अर्थ मेघ है। यह बतलाया जा चुका है। वराहस्य इदं वाराहम् अर्थात् जल। सूकरः–सूर्य। सुष्ठुकरा रश्मयः यस्य सः सुकरः छान्दसं दीर्घत्वम् सूकरः। विजिहीते - गच्छति। ओहाङ् गतौ इति धातोः लिट् प्रथम पुरुषैकवचने रूपम्। संविदानाः सम्यक् गच्छन्ती। सम विद्लृ लाभे शानच्। धातूनामनेकार्थत्वादत्र गमनार्थम्। मृजू शुद्धौ- मार्ष्टि शोधयतीति मृगः। शुद्ध करनेवाला (यजु० ५।२० महीधर भाष्य।

अर्थ– वराहेण जलेन सह संविदाना सम्यक् गच्छन्ती पृथिवी मृगाय शोधकाय शोधकस्य परितः षष्ठ्यर्थेत्र चतुर्थी। विजिहीते गच्छति। जलके साथ भलीभांति मिली हुई पृथिवी सर्व पदार्थोंके शोधक सूर्यके चारों ओर घूमती है "[14]

इन उपर्युक्त पांच विद्वानोंके भाष्यसे स्पष्ट प्रकट होता है कि इस मंत्रमें वराहावतारकी चर्चा नहीं है। यह तो पौराणिकोंकी क्लिष्ट कल्पना और स्वार्थसिद्धिके लिए अर्थको तोडमरोड दिया गया है।

शतपथ ब्राह्मण १४।१।२।११ का रहस्य

पौराणिकोंने ' वराह ' शब्दको देखकर वराहावतारकी कल्पना की है। यहां भी यज्ञसे वर्षा द्वारा प्रजाका पालन करनेवाले पृथिवीके पति मेघकी ही चर्चा है। इसका अर्थ है—

" यह इतनी पृथिवी जो सामने है। यह उस सारी पृथिवीका भागमात्र है (क्योंकि तीन भाग पृथिवी जलोंके नीचे है और एक भाग रिक्त है। उसका यह मेघ उद्धार करता है इसलिए इसका पति तथा प्रजाका पालन करनेवाला है।"

तैत्ति. अ. प्र. १, अनु. १. मंत्र ३० का रहस्य

पं. ज्वालाप्रसादमिश्र, पं. कालूरामशास्त्री आदिका अर्थ भ्रान्त्यपूर्ण है, क्योंकि पाठमें ईश्वरावतारको लेशमात्र भी चर्चा नहीं है, क्योंकि कोई भी पौराणिक वराहके सैकडों हाथ तथा उसका काला रंग नहीं मानता। अतः यहां पर

११. " अथर्ववेद भाष्यम् द्वादशं काण्डम् प्रथमावृत्ती पृष्ठ २७१८-२७१९
१२. " पौराणिकपोल प्रकाश " प्रथम भाग, प्रथम संस्करण पृष्ठ ५६.
१३. " अवतारवाद मीमांसा " प्रथम संस्करण लाहौर, पृष्ठ ११
१४. " अवतारवाद मीमांसा " पृष्ठ १६१ [सन् १९३२ ई. में चौधरी एण्ड सन्स, पुस्तक विक्रेता तथा प्रकाशक वाराणसी सिटी द्वारा प्रकाशित].

भी भूमिका उद्धार करनवाले सैकडों शक्तियोंसे सम्पन्न काले रंगके मेघकी ही चर्चा है।

अर्थ– इस पृथिवीका वर्षाकी सैकडों धारारूप शक्तियोंसे युक्त कृष्ण रंगवाले मेघसमूहने उद्धार किया है।"

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त पं. ब्रह्मदेवशास्त्रीने यजुर्वेद ३७।५ का प्रमाण दिया है।

यजुर्वेदके प्रमाण पर विचार

पौराणिकोंने इस मंत्रका अर्थ अशुद्ध किया है।

महर्षिदयानन्दजी सरस्वती

" हे विद्वान्। मैं (अग्रे) पहिले (मखाय) सत्कार रूप यज्ञके लिए (त्वा) तुझको (मखस्य) संगतिकरणकी (शीर्ष्णे) उत्तमताके लिए (त्वा) तुझको (राध्यासम् सिद्ध करूं, जिस (ते) आपके (मखस्य) यज्ञका (शिरः) उत्तम गुण (आसीत्) है, उस आपको (अद्य) आज (पृथिव्याः) भूमिके बीच (इयति) इतने (देवयजने) विद्वानोंके पूजनेमें सम्यक् सिद्ध होऊं॥ ५॥

भावार्थ – वे ही अध्यापक श्रेष्ठ हैं जो पृथिवीके बीच सबको उत्तम शिक्षा और विद्यासे युक्त करनेमें समर्थ हैं।[15]

चतुर्वेद भाष्यकार पं. जयदेवशर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ[15] ने भी इस मंत्रका अर्थ अवतार परक नहीं किया है। मिश्रजीका 'अग्रे' का अर्थ ' वराहके उद्धरण समयमें ' कल्पनामात्र है।

ऋ० ९।९७।७ मंत्र पर विचार

पं. अम्बिकादत्त व्यासने इस मंत्रसे वराहावतारकी कल्पना की है। इस मंत्र पर महर्षिदयानन्दजी सरस्वतीका भाष्य नहीं है।

श्रीसायणाचार्यका भाष्य

" (उशनेव) एतन्नामक ऋषिरिव (काव्यं) कविकर्म स्तोत्रं ब्रुवाणः उच्चारयन् (देवः) स्तोता अयमृषिः वृषगणो-नाम देवानामिन्द्रादीनां जनिम जन्मानि (प्रविवक्ति) प्रकर्षेण ब्रवीति (वच परिभाषणे) व्यत्ययेन विकरणस्य श्लुः बहुलं छन्दसीति अभ्यासस्येत्वं (महिव्रतः) प्रभूतकर्मा (शुचिबन्धुः) बध्नन्ति शत्रूनिति बन्धूनि तेजांसि बलानि वा (पावकः) पापानां शोधकः (वराहः) वरंच तदहः वराहः राजाहः " सखिभ्यष्टजिति टच् समासान्तः। तस्मिन्नहनि अभि-षूयमाणत्वेन तद्वान् अर्श "आदित्वान्मत्वर्थीय अच् " तादृश सोमः (रेभन्) शब्दं कुर्वन् (पदा) पदानि स्थानानि पात्राणि (अभ्येति) अभिगच्छति। यद्वा यथा कश्चन वराहः (पदा) पादेन भूमिं विक्रममाणः शब्दं करोति तद्वत्।"

अर्थात्- " उशना इस नामवाले ऋषिके समान काव्यं कविताके कर्मरूपी स्तोत्रका कथन करता हुआ यह स्तोता ऋषि इन्द्रादिकोंके जन्म प्रकर्ष करके कथन करता है। वह कैसा स्तोता है, महीव्रत है, और बडे कर्मवाला है, शुचिबन्धु है, दीप्ततेजवाला है, ऐसा जो सोम है वह शब्द करता हुआ यज्ञपात्रोंको प्राप्त होता है अथवा जैसे कोई वराह पैरसे भूमिका आक्रमण करता हुआ शब्द करता है वैसे यह भी शब्द करता है।"

पौराणिक पं. रामगोविन्द त्रिवेदी ' वेदान्तशास्त्री, पं. गौरीनाथ झा ' व्याकरणतीर्थ ':—

" उशना नामक कविके समान काव्य (स्तोत्र) करते हुए इस मंत्रके [illegible] कर्ता ऋषि इन्द्रादि [illegible] देवोंका जन्म भलीभांति जानते हैं। प्रचुरकर्मा, साधुमित्र, पवित्रताके उत्पादक और राज॰ दिनवाले सोम, शब्द करते हुए, पात्रोंमें जाते हैं।"[16]

इनका अर्थ प्रायः सायणका छायानुवादमात्र है। तीनों पौराणिकोंने वराहवतारकी कल्पना नहीं की है।

यहां 'सोम' का अर्थ वराह ' है, दूसरे अर्थ है कि जिस प्रकार वराह शब्द करता आता है इस प्रकार सोम शब्द करता आता है, यहां वराह शब्द उपमान वाचक है दोनों प्रकारके अर्थोंमें वराहावतार नहीं माना गया। यद्यपि सोम शब्दको स्वभाष्यमें सायणने नहीं खोला तथापि वक्तृत्व विशेषण विशिष्ट सोमगुण सम्पन्न पुरुषमात्रका नाम है कि इस प्रकारके गुणोंवाला पुरुष उचित योग्यताको प्राप्त होता है।

पं. जयदेवशर्मा विद्यालङ्कार मीमांसातीर्थ

(देवः) ज्ञान ऐश्वर्यका दान करनेवाला, ज्ञानका प्रकाशक तेजस्वी पुरुष (उशना इव) तेजस्वी सूर्यके तुल्य स्वतः इच्छावान् होकर (काव्यम् प्रब्रुवाणः) विद्वान् कवि क्रान्तदर्शीजनों तथा परमकवि परमेश्वर प्रोक्त वेदज्ञानका

---

१५. " यजुर्वेद भाष्यम् चतुर्थ भाग पृष्ठ १०७० [वैशाख शुक्ल ११ शनौ संवत् १९४६ वि. में मुद्रित].

१६. " यजुर्वेद संहिता, भाषाभाष्य, द्वितीयखण्ड द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६८१.

प्रवचन करता हुआ (देवानां जनिमा विवक्ति) विद्वानजनों या ज्ञानाभिलाषी जनोंके बीच यथार्थ तत्वज्ञानका प्रवचन करे। वह (महिव्रतः) बड़ा व्रतनिष्ठ, (शुचि-बन्धुः) शुद्ध पवित्र, नियम बन्धनादिसे युक्त एवं शुचि या तेजसे अन्योंको सत् मर्यादाओंमें बांधनेवाला और (पावकः) परमपावन गुरु (वराहः) उत्तम वचनोंका उपदेष्टा बनकर (रेभन्) उत्तम उपदेश करता हुआ (पदा अभि एति) ममता उत्तम पदोंको प्राप्त हो, वह ज्ञानसहित हमें प्राप्त हो। " [१७]

पं बुद्धदेवजी मीरपुरी शास्त्रार्थमहारथी

विद्वान् पुरुषकी तरह उपदेश देता हुआ भगवान् संसार के सूर्यादि पदार्थोंकी उत्पत्तिको वेदद्वारा बतलाता है। प्रभूतकर्मवाला पवित्र बन्धु पवित्र परमात्मा ऋषियोंको अनेक ज्ञानोंका उपदेश देता हुआ प्राप्त होता है " [१८]

पं. शिवशर्माजी महोपदेशक

" मंत्रमें वराह ' के अर्थ अच्छे वचनोंके उपदेष्टा हैं। इसके इतने विशषण हैं- देवः काव्यं, प्रब्रुवाण; महि-व्रतः ... शुचिबन्धुः और पावकः। " [१९]

निरुक्त और वराह शब्द

" वराहः ॥ २१ ॥

वराहो मेघो भवति वराहारः " वरमाहारमाहार्षीः " इति च ब्राह्मणम्।

" विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता " (ऋ. १।६१।७) इत्यपि निगमो भवति।

अयमपीतरो वराह एतस्मादेव बृहति मूलानि वरं वरं मूलं बृहतीति वा।

" वराहमिन्द्र एमुषम् " [ऋ. ८ ७७।१०] इत्यपि निगमो भवति॥

अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते।

ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहः। [ऋ. १०।६७।७]

[निरुक्त अ. ५। पा-१।खं.४].

अर्थ— " [वराहः मेघ असुरवराहः] वराह मेघ होता है। वर+आहारःउत्तम [उदक] आहारवाला। वरम् उत्तम आहारम्=आहारको आहार्षीः [स्कन्द आहार्षीत्] खाया। यह भी ब्राह्मण है। (विध्यत्) बींधो, बींधता है, ताडित किया (वराहम्) मेघको (तिरः) पहुंचकर प्राप्त होकर (अद्रिम्) वज्रको (अस्ता) फेंकने वालेने। यह भी निगम होता है।

यह भी दूसरा वराहः पशुवराह इस [कारण] से ही बृहति उखाडता है [स्कन्द - उद्यच्छति ववत्रेण खनति] मूलानि जडोंको (वरं वरम्) उत्तम मूलको उखाडता है अथवा वराहम्=असुर वराह=कृष्ण मेघको हे इन्द्र एमुषम् आ+ईम् +उषम् सब ओरसे जलको चुराने वालेको चुराकर उदकवान् बने हुए को। यह भी निगम होता है।

अङ्गिरस भी वराहः कहे जाते हैं। ब्रह्मणस्पति-वेदका अधिपति वृषभि –श्रेष्ठ वर्षा करनेवाले (वराहः) अंगिरसों सूर्यस्थ अग्नि परमाणुओंके साथ।

भाष्य— वराहः Boar यह अंग्रेजीका शब्द अवश्य ही वराहःका अपभ्रंश है। वराह मेघ है क्योंकि उदकको खाता है। असुर वराह=कृष्णमेघ। [२०]

ऋ. मण्डल १ सूक्त १ मंत्र ७ का भाष्य करते हुए वराह ' का अर्थ महर्षि दयानन्दजी सरस्वती करते हैं—

(वराहम्) मेघम्। [२१]

श्रीमद्भागवत् महापुराणमें हिरण्याक्षका पृथिवीको ले जाना फिर वराहका उत्पन्न होना और हिरण्याक्षको मार कर पृथिवीका उद्धार करना इत्यादि कथा अन्यत्र पुराणोंमें है वह प्रलयकी कथा पर बनी है।

अतएव वेदादि सच्छास्त्रोंमें ' वराहावतार ' की कहीं चर्चा नहीं है।

---

१७. " ऋग्वेद संहिता " [सरल हिन्दी टीका सहित] सप्तम अष्टक, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १००.

१८. " ऋग्वेद संहिता भाषाभाष्य " षष्ठखण्ड प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३३२,

१९. " अवतारवाद मीमांसा " पृष्ठ [सन् १९३६ ई. प्रथम सस्करण, लाहौर].

२०. " सत्यार्थनिर्णय " प्रथम खण्ड प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३०.

२१. पं. भगवद्दत्त जी बी. ए. कृत निरुक्त भाषाभाष्य प्रथम संस्करण पृष्ठ २६३–२६४ तुलना करो पं. चन्द्रमणि विद्यालङ्कार पालीरत्न कृत निरुक्त भाष्य पूर्वार्ध प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३१८–३१९ तथा स्वामी ब्रह्ममुनिजी विद्यामार्तण्डकृत " निरुक्त सम्मर्शः " प्रथम संस्करण पृष्ठ २७९–२८०.

२१. " ऋग्वेदभाष्यम् " प्रथमभागात्मकम्। तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ८२०

५९ प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः ।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥ ३ ॥
६० उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्य१मित्राँ ओषतात् तिग्महेते ।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ॥ ४ ॥
६१ ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून् ॥ ५ ॥

अर्थ— [५९] हे (अग्ने) अग्ने ! (तूर्णितमः) अत्यन्त वेगवान् तू (स्पशः) अपने चरोंको (प्रति वि सृज) चारों ओर प्रेरित कर । (अदब्धः) किसीसे भी न दबनेवाला तू (अस्याः विशः) इन प्रजाओंका (पायुः भव) पालक हो । (यः अघशंसः नः दूरे) जो पापी हमसे दूर है और (यः नः अन्ति) जो हमारे पास है, उनमेंसे कोई भी (व्यथिः) दुःख देनेवाला शत्रु (ते माकिः आ दधर्षीत्) तेरे भक्तोंको पीडित न करे ॥ ३ ॥

१ तूर्णितमः स्पशः प्रति वि सृजः— हे अग्ने ! शीघ्रतासे काम करनेवाला तू अपने चरोंको चारों ओर प्रेरित कर । राजा अपने राज्यमें चारों ओर गुप्तचारोंका जाल बिछाये ।

२ अदब्धः विशः पायुः— किसीसे भी न दबनेवाला वीर राजा अपनी प्रजाओंका पालन करनेवाला हो ।

३ यः अघशंसः दूरे अन्ति, माकिः आ दधर्षीत्— जो पापवचनों या दुष्टवचनोंको बोलनेवाला हो, चाहे वह पास हो या दूर इन प्रजाओंको न सताये ।

[६०] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (उत् तिष्ठ) उठकर खडा हो, (प्रति आ तनुष्व) अपनी किरणोंको फैला, हे (तिग्महेते) तीक्ष्णशस्त्रोंवाले अग्ने ! तू (अमित्रान् नि ओषतात्) शत्रुओंको जला डाल, हे (सं इधान) [illegible] रीतिसे प्रदीप्त अग्ने ! (यः नः अरातिं चक्रे) जो हमसे शत्रुता करता है, (तं नीचा धक्षि) उस नीचको उसी प्रकार जला डाल, (शुष्कं अतसं न) जिस प्रकार सूखे ईंधनको जलाता है ॥ ४ ॥

[६१] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (ऊर्ध्वः भव) ऊपरकी तरफ जल, तथा (अस्मत् अधि) हमसे अधिक बलशाली शत्रुओंको (प्रतिविध्य) बींध और इस प्रकार (दैव्यानि आविः कृणुष्व) अपने दिव्य तेजोंका प्रकट कर । (यातुजूनां) राक्षसोंके (स्थिरा अव तनुहि) दृढ शस्त्रास्त्रोंको शिथिल कर, तथा (जामि अजामि शत्रून्) बन्धु और बन्धुत्वसे हीन शत्रुओंको (मृणीहि) मार ॥ ५ ॥

भावार्थ— अग्निकी किरणें ही उसके चर हैं, जो सर्वत्र घूमते रहते हैं, वह अपने तेजसे सब मनुष्योंका पालन करता है और उसके भक्तको कोई भी पापी पीडित नहीं कर सकता । राजा भी अपने राज्यमें सर्वत्र गुप्तचरोंकी नियुक्ति करे और अपनी प्रजाका उत्तम रीतिसे पालन करे । कोई भी पापी उसके राज्यमें रहकर प्रजाको न सता सके, इस प्रकार वह राजा दुष्टों पर नियंत्रण करता हुआ शासन करे ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! तू प्रदीप्त होकर अपनी किरणोंको चारों ओर फैला और अपने तेजसे शत्रुओंको जला डाल । जो हमसे शत्रुता करता है, उस नीच शत्रुको सूखी लकडीके समान जला दे । राजा भी सदा तैय्यार रहकर अपने प्रतापको सर्वत्र फैलाकर अपने शत्रुओंका संहार करे । जो राज्यकी प्रजाओंसे द्वेष करता है या राज्यकी प्रजाओंमें जो अदानशील हो, कंजूस उसे राजा अपने तेजसे उसी प्रकार जला दे, जिस प्रकार अग्नि सूखे काष्ठको जलाती है ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू प्रज्वलित होकर हमसे अधिक बलशाली शत्रुओंको भी नष्ट कर और इस प्रकार अपने दिव्य तेजोंको प्रकट कर । शत्रुओंके शस्त्रास्त्रोंको शिथिल कर तथा जो हमारे सम्बन्धी होकर भी शत्रुताका व्यवहार करते हैं और सम्बन्धी न होकर भी शत्रुताका व्यवहार करते हैं, उन्हें तू मार । इसीप्रकार राजा भी शत्रुओंको मारकर अपने प्रतापको प्रकट करे । शत्रुको, चाहे वह हमारा सम्बन्धी हो या पराया, मार ही देना चाहिए । प्रकट शत्रुकी अपेक्षा प्रच्छन्न शत्रु ज्यादा खतरनाक होता है ॥ ५ ॥

६२ स तें जानाति सुमतिं यविष्ठ य ईवते ब्रह्मणे गातुमैरत् ।
विश्वान्यस्मै सुदिनानि रायो द्युम्नान्यर्यो वि दुरों अभि द्यौत् ॥ ६ ॥
६३ सदंग्ने अस्तु सुभगः सुदानु- र्यस्त्वा नित्येन हविषा य उक्थैः ।
पिप्रीषति स्व आयुषि दुरोणे विश्वेदस्मै सुदिना सासदिष्टिः ॥ ७ ॥
६४ अर्चामि ते सुमतिं घोष्यर्वाक् सं ते वावाता जरतामियं गीः ।
स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेमा- ऽस्मे क्षत्राणि धारयेरनु द्यून् ॥ ८ ॥

अर्थ— [६२] हे (यविष्ठ) अत्यन्त तरुण अग्ने ! (यः) जो मनुष्य (ईवते ब्रह्मणे) उत्तम मार्गोमें प्रेरित करनेवाले महान् अग्निकी और (गातुं ऐरत्) स्तोत्रोंको प्रेरित करता है, (सः) वही पुरुष (ते सुमतिं जानाति) तेरी उत्तम कृपाको जानता या प्राप्त करता है। वह (अस्मै) इस पुरुषके (विश्वानि सु दिनानि) सभी दिन उत्तम करता है और उसे (द्युम्नानि रायः) चमकनेवाले धन प्रदान करता है, तब (अर्यः) उस श्रेष्ठ पुरुषका (दुरः) घर (अभि वि द्यौत्) अच्छी तरह चमकने लगता है ॥ ६ ॥

१ यः ब्रह्मणे गातुं ऐरत् सः सुमतिं जानाति— जो इस महान् अग्निकी स्तुति करता है, वह इस देवकी कृपाको प्राप्त करता है।

२ विश्वानि दिनानि सु— उसके सभी दिन उत्तम होते है।

३ अर्यः दुरः वि द्यौत्— उस श्रेष्ठ पुरुषका घर धनके कारण चमकने लगता है।

[६३] हे [illegible] विषा) जो प्रतिदिन हविके द्वारा तथा (यः उक्थैः) जो स्तोत्रोंके [illegible] (अग्न) अग्ने ! (यः नित्येन ह[illegible]) [illegible] (सुभगः सुदानुः अस्तु) उत्तम द्वारा (त्वा) तुझे (पिप्रीषति) तृप्त करना चाहता है, (स इत्) [illegible] (विश्वा इत् सु दिना) सभी दिन उत्तम भाग्यशाली और उत्तम दानशील हो, (अस्मै) इसके घर तथा जीवनके हों, तथा (सा इष्टिः असत्) वह यज्ञ भी इसके लिए सुफलदायक हो ॥ ७ ॥

१ यः हविषा नित्येन पिप्रीषति, सः इत् सुभगः सुदानुः— जो हविके द्वारा प्रतिदिन इस अग्निको तृप्त करना चाहता है, वह उत्तम भाग्यशाली होकर उत्तम रीतिसे दानशील अर्थात् उदार हृदयवाला होता है।

२ अस्मै स्वे आयुषि विश्वा इत् सुदिना— इस मनुष्यके जीवनके सभी दिन उत्तम होते हैं।

[६४] हे अग्ने ! मैं (ते सुमतिं अर्चामि) तेरी उत्तम बुद्धिकी सेवा करता हूँ। (वावाता इयं गीः) बार बार तेरी तरफ आनेवाली यह वाणी (ते अर्वाक् घोषि) तेरी तरफ आकर तेरे गुणोंका बखान करे तथा (जरताम्) तेरी प्रशंसा करे। (सु अश्वाः सु रथाः) उत्तम घोडों और उत्तम रथोंसे युक्त होकर हम (त्वा मर्जयेम) तुझे शुद्ध करें तथा तू भी (अनु द्यून्) प्रतिदिन (अस्मे क्षत्राणि धारयेः) हमारे अन्दर सब तरहके बलोंको स्थापित कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— जो इस युवक अग्निके लिए उत्तम स्तुति करता है, वही पुरुष इस अग्निकी कृपाको प्राप्त करता है, उसके सभी दिन उत्तम रीतिसे कटते हैं। वह सदा धनैश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण उसका घर धनसे भरे रहनेके कारण सदा चमकता रहता है ॥ ६ ॥

जो प्रतिदिन हवि द्वारा और स्तुति अर्थात् यज्ञके द्वारा इस अग्निको उत्तम रीति से तृप्त करता है, उसे यह अग्नि हर तरहके ऐश्वर्य प्रदान करके सौभाग्यशाली बनता है और वह भी धनवान् तथा सौभाग्यशाली बनकर उदार बनता है। अर्थात् कंजूस नहीं होता। ऐसे सौभाग्यशालीके जीवनके सभी दिन आनन्द और सुखसे कटते हैं ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! मैं तेरे उत्तम बुद्धिकी मैं पूजा करता हूँ, मेरे द्वारा उच्चारी गई वाणी तेरे पास आकर तेरी प्रशंसा करे, अर्थात् मैं सदा अपनी वाणीसे तेरी ही प्रशंसा करूं और उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त होकर तुझे अच्छी तरह प्रदीप्त करूं ताकि मैं सब तरहके बलोंका स्वामी होऊं ॥ ८ ॥

६५ इह त्वा भूर्या चरेदुप त्मन् दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून् ।
क्रीळन्तस्त्वा सुमनसः सपेमा ऽभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम् ॥ ९ ॥
६६ यस्त्वा स्वश्वः सुहिरण्यो अग्न उपयाति वसुमता रथेन ।
तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग् जुजोषत् ॥ १० ॥
६७ महो रुजामि बन्धुता वचोभि स्तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय ।
त्वं नो अस्य वचसश्चिकिद्धि होतर्यविष्ठ सुक्रतो दमूनाः ॥ ११ ॥
६८ अस्वप्नजस्तरणयः सुशेवा अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः ।
ते पायवः सध्र्यञ्चो निषद्या ऽग्ने तव नः पान्त्वमूर ॥ १२ ॥

अर्थ— [६५] हे अग्ने ! मनुष्य (इह) यहां इस जगत्में (दोषावस्तः) रात और दिन अर्थात् (अनु द्यून) प्रतिदिन (दीदिवांस त्वा) अत्यन्त तेजस्वी तेरी (त्मन्) स्वयं ही (भूरी उप आ चरेत्) अच्छी तरह सेवा करे। हम भी (जनानां द्युम्ना अभि तस्थिवांसः) शत्रु मनुष्योंके धनों पर अधिकार करते हुए तथा (क्रीळन्तः) खेलते हुए (सुमनसः त्वा अभि सपेम) उत्तम मनवाले होकर तेरी पूजा करें ॥ ९ ॥

[६६] हे (अग्ने) अग्ने ! (यः सु-अश्व सु हिरण्यः) जो उत्तम घोडोंवाला तथा उत्तम सोनेवाला पुरुष (वसुमता रथेन) धन युक्त रथसे (त्वा उपयाति) तेरे पास जाता है, और (यः) जो मनुष्य (ते आतिथ्य) तेरे आतिथ्यको (आनुषक् जुजोषत्) हमेशा करना चाहता है, तू (तस्य त्राता भवसि) उस मनुष्यका रक्षक होता है और (तस्य सखा)उसका मित्र होता है॥ १० ॥

१ यः ते आतिथ्यं आनुषक् जुजोषत् तस्य त्राता सखा भवसि— हे अग्ने ! जो तेरा अतिथिके समान सत्कार करता है, उसका तू रक्षक और मित्र होता है।

[६७] हे (होतः यविष्ठ सुक्रतो) देवोंको बुलानेवाले अत्यन्त तरुण तथा उत्तम कर्म करनेवाले अग्ने ! मैं (वचोभिः बन्धुता) अपने स्तोत्रोंके कारण जो भ्रातृत्व प्राप्त किया है, उससे मैं (महः) बडे बडे राक्षसोंको भी (रुजामि) नष्ट करता हूं । (तत्) वह स्तोत्र (मा) मुझे (पितुः गोतमात्) अपने पिता गोतमसे (अनु इयाय) प्राप्त हुआ था। हे (दमूनाः) शत्रुओंको दबानेवाले अग्ने ! (त्व) तू (नः) हमारे (अस्य वचसः) इस स्तुतिको (चिकिद्धि) जान ॥ ११ ॥

[६८] हे (अमूर अग्ने) सर्वज्ञ अग्ने ! (तव) तेरी (अस्वप्नजः) सदा जागती रहनेवाली (तरणयः) शीघ्रतासे जानेवाली, (सुशेवाः) सुख देनेवाली, (अतन्द्रासः) आलस्यसे रहित (अवृकाः) अहिंसक (अश्रमिष्ठाः) न थकने वालीं (सध्र्यञ्चः) एक साथ मिलकर चलनेवालीं (पायवः) रक्षा करनेवालीं (ते) वे किरणें (निषद्य) हमारे पास आकर (नः पान्तु) हमारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! हर मनुष्य प्रतिदिन अत्यन्त तेजस्वी तेरी सेवा स्वयं आत्मस्फूर्तिसे प्रेरित होकर करे, जबर्दस्ती नहीं। हम भी शत्रुओंके धनों पर अधिकार करते हुए, अपने घरोंमें अपनी सन्तानोंके साथ क्रीडा करते हुए तथा उत्तम मनसे युक्त होकर तेरी पूजा किया करें ॥ ९ ॥

हे अग्ने ! जो उत्तम घोडोंवाला होकर धनसे भरे रथ पर बैठकर तेरे पास तेरा अतिथिके समान सत्कार करनेके लिए आता है, उसकी तू रक्षा करता है और मित्र बनकर उसका हित करता है ॥ १० ॥

हे अग्ने ! स्तुति करके मैंने जो तेरा भ्रातृत्व प्राप्ति किया है, उस भ्रातृत्वको महिमासे मैं बडेसे बडे राक्षसोंको भी नष्ट करूं। तू मेरी इस प्रार्थनाको सुन ॥ ११ ॥

हे सर्वज्ञ अग्ने ! तेरी किरणें कभी न सोनेवाली, शीघ्रतासे सर्वत्र जानेवाली, सुख देनेवाली, आलस्यसे रहित अहिंसक तथा न थकनेवाली हैं। वे रक्षक किरणें हमारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

६९ ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन् ।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥ १३ ॥
७० त्वया वयं सधन्य१स्त्वोतास्तव प्रणीत्यश्याम वाजान् ।
उभा शंसा सूदय सत्यतातेऽनुष्ठुया कृणुह्यह्रयाण ॥ १४ ॥
७१ अया ते अग्ने समिधा विधेम प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय ।
दहाशसो रक्षसः पाह्य१स्मान् द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात् ॥ १५ ॥

[५]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- वैश्वानरोऽग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

७२ वैश्वानराय मीळ्हुषे सजोषाः कथा दाशेमाग्नये बृहद् भाः ।
अनूनेन बृहता वक्षथेनोप स्तभायदुपमिन्न रोधः ॥ १ ॥

अर्थ— [६९] हे (अग्ने) अग्ने ! (ये ते पायवः) जो तेरी रक्षा करनेवाली किरणे हैं, उन्होंने (पश्यन्तः) देखकर (अन्धं मामतेयं अन्धे ममतापुत्रको (दुरितात् अरक्षन्) दुरितसे बचाया । (विश्ववेदाः) सब कुछ जाननेवाला अग्निने (तान् सुकृतः) उसके समस्त पुण्योंकी (ररक्ष) रक्षा की तब (दिप्सन्तः इत् रिपवः) डरानेकी इच्छा करनेवाले शत्रु भी (नाह देभुः) इसे नहीं दबा सके ॥ १३ ॥

[७०] हे (अह्रयाण) न जाने जानेवाली गतिवाले अग्ने ! (त्वया वयं सधन्यः) तेरे कारण हम धन्य हैं। (त्वा ऊताः) तेरे द्वारा रक्षित होकर हम (तव प्रणीती) तेरे बताये मार्गपर चलकर (वाजान् अश्याम) अन्नोंको प्राप्त करें । (सत्यताते) सत्यका प्रसार करनेवाले अग्ने ! तू (उभा शंसा सूदय) दूर और पास दोनों शत्रुओंका नष्ट कर, (अनुष्ठुया कृणुहि) यह काम तू सदा कर । १४ ॥

१ त्वया वयं सधन्यः— तेरे कारण हम धन्य हैं।

२ तव प्रणीती वाजान् अश्याम— तेरे बताये मार्गपर चलकर हम अन्नोंको प्राप्त करें ।

[७१] हे (अग्ने) अग्ने ! (अया समिधा) इस समिधासे (ते विधेम) तुझे प्रदीप्त करते हैं, तू (शस्यमानं स्तोत्रं) हमारे द्वारा बोले जाते हुए स्तोत्रको (प्रति गृभाय) स्वीकार कर, (अशसः रक्षसः) तेरी स्तुति न करनेवाले राक्षसोंको तू (दह) जला डाल, तथा हे (मित्रमहः) मित्रके समान पूज्य अग्ने ! तू (अस्मान्) हमारी (द्रुहः निदः अवद्यात् पाहि) द्रोह, निन्दा और दुष्टतासे रक्षा कर ॥ १५ ॥

[५]

[७२] (सजोषाः) समान प्रीतिवाले हम (मीळ्हुषे) सुखकारी (बृहद्भाः) अत्यन्त तेजस्वी (वैश्वानराय अग्नये) वैश्वानर अग्निके लिए (कथा दाशेम) किस प्रकार हवि दें ? वह अग्नि (अनूनेन बृहता वक्षथेन) कहींसे भी न्यूनतासे रहित, विशाल शरीरसे (उप स्तभायत्) सम्पूर्ण विश्वको उसी प्रकार थामे हुए है, (उपमित् रोधः न) जिस प्रकार खम्बा भवनको आधार देता है ॥ १ ॥

भावार्थ— अग्नि अर्थात् ज्ञानीका तेज अन्धे ममताके पुत्रकी रक्षा करता है। ममताके कारण मनुष्य अन्धा हो जाता है और वह मनमाना व्यवहार करने लगता है, तब ज्ञानीका तेज उसे आंखें अर्थात् विवेक प्रदान करके उसे सन्मार्गपर लाकर उसके पुण्योंकी रक्षा करता है। तब काम क्रोधादि शत्रु उसे फिरसे दबानेकी कोशिश करते हैं, पर नहीं दबा पाते ॥१३॥

इस अग्निकी सहायता जिसे मिल जाती है, वह धन्य हो जाता है, जो उसके बताये मार्गपर चलता है, वह हर तरहके अन्नोंको प्राप्त करता है और उसके सभी शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥ १४ ॥

हे अग्ने ! हम समिधाओंसे तुझे प्रदीप्त कर तेरी स्तुति करते हैं, अतः तू हमारी स्तुतियोंको स्वीकार कर, पर जो तेरी स्तुति नहीं करते, उन राक्षसोंको जला डाल । पर हमारी तू हर तरहके दुष्ट कर्मोंसे रक्षा कर ॥ १५ ॥

७३ मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान् ।
पाकाय गृत्सो अमृतो विचेता वैश्वानरो नृतमो यह्वो अग्निः ॥ २ ॥
७४ साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान् ।
पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ॥ ३ ॥
७५ प्र ताँ अग्निर्बभसत् तिग्मजम्भस्तपिष्ठेन शोचिषा यः सुराधाः ।
प्र ये मिनन्ति वरुणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि ॥ ४ ॥
७६ अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ॥ ५ ॥

अर्थ— [७३] (यः स्वधावान्) जिस अन्नसे भरपूर (गृत्सः अमृतः विचेताः) मेधावी, अमर, विशेष बुद्धिमान (नृतमः यह्वः वैश्वानरः अग्निः देवः) अत्यन्त श्रेष्ठ नेता, महान् वैश्वानर अग्नि देवने (पाकाय मर्त्याय मह्यं) ज्ञानी और मरणशील मुझे (इमां रातिं ददौ) इस धनके दानको दिया था, उसकी (मा निन्दत) निन्दा मत करो ॥२॥

[७४] (द्विबर्हा) दोनों लोकोंमें अपनी ज्वालाओंको फैलानेवाला (तिग्मभृष्टिः) तीक्ष्ण तेजवाला (सहस्ररेताः वृषभः तुविष्मान्) हजारों तरहके बलवाला, पराक्रमी, साहसी (अग्निः) अग्नि (गोः पदं न अपगूळ्हं) गायके पदके समान छिपे हुए (मनीषां) ज्ञानियोंके (महि साम विविद्वान्) महान् ज्ञानको जानता हुआ (मह्यं प्र इत् वोचन्) मेरे लिए उसका उपदेश करे ॥ ३ ॥

१ मनीषां महि साम प्र वोचत्— ज्ञानियोंके महान ज्ञानका उपदेश सर्वत्र करे ।

[७५] (ये) जो मनुष्य (चेततः वरुणस्य मित्रस्य) ज्ञानवान् वरुण और मित्रके (प्रिया ध्रुवाणि धाम) प्रिय और ध्रुव तेजोंको (प्र मिनन्ति) नष्ट करते हैं (तान्) उन्हें, (यः सुराधाः तिग्मजम्भः अग्निः) जो उत्तम ऐश्वर्यवाला, तीक्ष्ण दाढोंवाला अग्नि है, वह (तपिष्ठेन शोचिषा) अपने अत्यन्त तापदायक तेजसे (बभसत्) जला डाले ॥ ४ ॥

[७६] (अभ्रातरः योषणः न) बन्धुबान्धवोंसे रहित स्त्री जिस प्रकार कुमार्ग पर चलती है उसी प्रकार (व्यन्तः) कुमार्ग पर चलनेवाले अथवा (पतिरिपः जनयः न) पतिसे द्वेष करनेवाली स्त्रियां जिस प्रकार दुराचारिणी हो जाती हैं, उसी प्रकार (दुरेवाः) दुराचारी (अनृताः असत्याः) ऋत अर्थात् नैतिक नियमोंका उलंघन करनेवाले, असत्य बोलनेवाले (पापासः) पापियोंने (इदं गभीरं पदं) इस अगाध नरकस्थानको (अजनत) उत्पन्न किया है ॥ ५ ॥

१ व्यन्तः दुरेवाः अनृताः असत्याः पापासः इदं गभीरं पदं अजनत— कुमार्ग पर चलनेवाले, दुराचारी, नैतिक नियमोंका उलंघन करनेवाले असत्य शील पापियोंने ही इस गंभीर नरकका निर्माण किया है ।

भावार्थ— जिसप्रकार खम्भे भवनको आधार देकर उसे स्थिर रखते हैं, उसीप्रकार यह अग्नि अपने विशाल शरीरसे सारे संसारको थामे हुए है, इसी लिए इस अग्निका नाम वैश्वानर अर्थात् विश्वका रक्षक है ॥ १ ॥

जिस अन्नके स्वामी बुद्धिमान अमर, महान् वैश्वानर देवने मुझे बुद्धिमान् और मरणशील मनुष्यको धन प्रदान किया, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए । जो दान देनेवाला मनुष्य हो, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए ॥ २ ॥

पृथ्वी और द्यु इन दोनों लोकोंमें अपनी ज्वालाओं फैलानेवाला, तीक्ष्ण तेजवाला, हजारों तरहके बलसे युक्त अग्नि ज्ञानियोंके महान् ज्ञानको सर्वत्र फैलाये । यह ज्ञान वाणी के पदोंके समान छिपा रहता है । उसका राष्ट्रमें प्रचार करना चाहिए ॥ ३ ॥

जो अज्ञानी ज्ञानसे युक्त मित्र और वरुणके व्रतोंका उलंघन करते हैं या इनके तेजोंका नाश करना चाहते हैं, इन नास्तिक और दुष्टोंको यह तीक्ष्ण दाढों अर्थात् तीक्ष्ण ज्वालाओंवाला अग्नि जला डाले । राष्ट्रमें भी जो ऐसे लोग हों कि जो राष्ट्रीय अनुशासनका उलंघन करते हैं, उन्हें ज्ञानीजन या नेता नष्ट करें ॥ ४ ॥

७७ इदं मे अग्ने कियते पावका—ऽमिनते गुरुं भारं न मन्म ।
बृहद् दधाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठं प्रयसा सप्तधातु ॥ ६ ॥

७८ तमिन्न्वे३व समना समान—मभि क्रत्वा पुनती धीतिरश्याः ।
ससस्य चर्मन्नधि चारु पृश्ने—रग्रे रुप आरुपितं जबारु ॥ ७ ॥

७९ प्रवाच्यं वचसः किं मे अस्य गुहा हितमुप निणिग् वदन्ति ।
यदुस्रियाणामप वारिव व्रन् पाति प्रियं रुपो अग्रं पदं वेः ॥ ८ ॥

अर्थ— [७७] हे (पावक अग्ने) पवित्र करनेवाले अग्ने ! (कियते, गुरुं भारं न) जिस प्रकार कोई उदार मनुष्य थोडा मांगनेवालेके लिए भी बहुत ज्यादा दे देता है, उसी प्रकार (अमिनते) किसीकी हिंसा न करनेवाले (मे) मुझे तू (धृषता प्रयसा) शत्रुओंको हराने योग्य शक्तिसे युक्त (गभीरं यह्वं) अगाध, महान् (पृष्ठं) आधार देनेवाले (सप्तधातु) सात धातुओंसे युक्त (बृहत् मन्म) विशाल धन (दधाथ) प्रदान कर ॥ ६ ॥

[७८] (अग्रे) सबसे पहले जिस (जबारु चारु) वेगसे जानेवाले सुन्दर वैश्वानर मण्डलको (ससस्य पृश्नेः रुपः अधि) पदार्थ को उत्पन्न करनेवाली, विविधवर्णोंवाली पृथ्वीके ऊपर (चर्मन् आरुपितं) विचरनेके लिए स्थापित किया था, (तं इत् नु समानं) उसी समदृष्टिवाले वैश्वानरको हमारी (समना) मनपूर्वक की गई (पुनती धीतिः) पवित्र करनेवाली स्तुति (क्रत्वा अभि अश्याः) कर्मके द्वारा प्राप्त हो ॥ ७ ॥

[७९] (मे अस्य वचसः किं प्रवाच्यं) मेरी इस वाणीमें निन्द्य ऐसी कौनसी बात है ? (वदन्ति) ज्ञानी भी कहते हैं कि (उस्रियाणां यत्) गायोंके जिस दूधको दुहनेवाले (वारि इव अप व्रन्) जलके समान दुहते हैं उसी दूधको अग्निने (निणिक् गुहा हितम्) अच्छी तरह गुहामें छिपाया है, वही अग्नि (वेः रुपः) विशाल पृथ्वीके (प्रियं अग्रं पदं पाति) प्रिय और मुख्य स्थानकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— स्वर्ग और नरक इसी पृथ्वी पर है । बन्धुबान्धवोंसे रहित तथा पतिसे द्वेष करनेवाली स्त्री जिस प्रकार दुराचारिणी होकर कुमार्ग पर चलती है, उसी प्रकार कुमार्ग पर चलनेवाले, दुराचारी, नैतिक नियमोंका उल्लंघन करनेवाले, असत्य बोलनेवाले पापियोंने ही इस पृथ्वी पर अगाध नरक स्थानका निर्माण किया है । ऐसे ही दुष्ट मनुष्य देशको नरक बना देते हैं, अतः उनका नाश करना अत्यन्त आवश्यक है ॥ ५ ॥

हे पवित्र करनेवाले अग्ने ! जिसप्रकार कोई उदार मनुष्य थोडा मांगने पर भी ज्यादा देता है, उसी प्रकार तू किसीकी हिंसा न करनेवाले मुझे सात तरहके विशाल धन प्रदान कर ॥ ६ ॥

पहले प्रजापतिने आदित्यमण्डलका निर्माण किया और उसे पदार्थको उत्पन्न करनेवाली विविध रंगोंवाली पृथ्वीके ऊपर स्थापित किया । तबसे आदित्यमण्डल विचरण कर रहा है ॥ ७ ॥

ऋषि इस वैश्वानरअग्निकी जो प्रशंसा करता है, उसमें असत्यता जरा भी नहीं है । वैश्वानर अग्नि वस्तुतः महान् है, यह उसीकी महिमा है कि जिस दूधको दुहनेवाले जलकी तरह दुहते हैं, उसे उसने गायके थन रूपी गुहामें छिपा दिया है । वैश्वानर अर्थात् प्राणियोंको जीवित रखनेवाला शरीरस्थ अग्नि ही गायके स्तनोंमें दूधको प्रेरित करता है और वही इस पृथ्वीके मुख्य स्थान यज्ञकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

८० इदमु त्यन्महि महामनीकं यदुस्रिया सचत पूर्व्यं गौः ।
ऋतस्य पदे अधि दीद्यानं गुहा रघुष्यद् रघुयद् विवेद ॥ ९ ॥
८१ अध द्युतानः पित्रोः सचासा ऽमनुत गुह्यं चारु पृश्नेः ।
मातुष्पदे परमे अन्ति षद् गो-र्वृष्णः शोचिषः प्रयतस्य जिह्वा ॥ १० ॥
८२ ऋतं वोचे नमसा पृच्छ्यमान-स्तवाशसा जातवेदो यदीदम् ।
त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत् पृथिव्याम् ॥ ११ ॥
८३ किं नो अस्य द्रविणं कद्ध रत्नं वि नो वोचो जातवेदश्चिकित्वान् ।
गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य रेकु पदं न निदाना अगन्म ॥ १२ ॥

अर्थ— [८०] (इदं) यह (त्यत् महां महि पूर्व्यं अनीकं) उस महान् आदित्यकी महान् ओर श्रेष्ठ सेना है (यत्) जिसके कारण (उस्रिया गौः सचते) दुधारु गाय संयुक्त होती है। (ऋतस्य पदे) ऋतके स्थानमें (दीद्यानं) चमकनेवाले तथा (रघुष्यत्) वेगसे जानेवाले सूर्यको (विवेद) मैंने जान लिया है, वह (गुहा रघुयत्) गुहामें शीघ्रतासे जाता है ॥ ९ ॥

[८१] (पित्रोः सचा द्युतानः) द्यावापृथ्वीके बीचमें चमकनेवाला सूर्य (पृश्नेः चारु गुह्यं) गायके उत्तम दूधको (आसा अमनुत) मुंहसे पीता है। (गोः मातुः परमे पदे) गाय माताके उत्कृष्ट स्थानमें (अन्ति सत्) निहित दूधको (वृष्णः शोचिषः प्रयतस्य) बलवान् तेजस्वी और प्रयत्न करनेवाले देवकी (जिह्वा) जिह्वा पीती है ॥१०॥

[८२] (पृच्छ्यमानः) पूछे जानेपर मैं (नमसा) नम्रता पूर्वक (ऋतं वोचे) यह सत्य बात ही कहता हूँ कि हे (जातवेदः) जातवेद अग्ने ! (तव आशसा) तेरे आशिर्वादसे (यत् इदं) जो कुछ यह है, (अस्य त्वं क्षयसि) उसका तू ही घर है। (दिवि यत् उ द्रविणं) द्युलोकमें जो कुछ धन है (यत् पृथिव्यां) जो कुछ पृथिवीमें है, अथवा (यत् ह विश्वं) जो सम्पूर्ण धन है, उसका भी तू स्वामी है। ॥ ११ ॥

१ दिवि पृथिव्यां यत् द्रविणं अस्य त्वं क्षयसि— द्युलोक और पृथ्वीलोकमें जो कुछ धन है, उसका तू ही स्वामी है।

[८३] हे (जातवेद) सम्पूर्ण उत्पन्न विश्वको जाननेवाले अग्ने ! (अस्य) इस ऐश्वर्यमेंसे (किं द्रविणं नः) कौनसा धन हमारे लिए योग्य है, तथा (कत् ह रत्न) कौनसा रत्न हमारे लिए योग्य है, उसे (चिकित्वान्) सब कुछ जाननेवाला तू (नः वोचः) हमें बता। (अध्वनः) उत्तम मार्गसे जानेवाले (नः) हमारे लिए योग्य (यत् परमं) जो उत्तम ऐश्वर्य (गुहा) गुहामें निहित है, उसे (नः) हमें बता, हम (निदानाः) निन्दित होकर (रेकु पदं न अगन्म) खाली घरोंमें न जायें ॥ १२ ॥

१ अध्वनः नः परमं— उत्तम मार्गसे जानेवाले हमें उत्तम ऐश्वर्य मिले। जो उत्तम मार्गसे जाता है, उसे उत्तम ऐश्वर्य मिलता है।

२ निदानाः रेकु पदं न अगन्म— हम निन्दित होकर खाली अर्थात् निर्धनके घर न जाएं।

भावार्थ— यह उस वैश्वानर अग्नि अर्थात् सूर्यकी महान् किरणोंकी सेना ही है, जिसके कारण दूध देनेवाली गायें अर्थात् जल बरसानेवाले मेघ आपसमें संयुक्त होते हैं। सूर्यकी किरणोंके कारण ही मेघोंकी उत्पत्ति होती है। द्युमें चमकनेवाले सूर्यकी किरणें ही बिजलीके रूपमें गुहामें अर्थात् बादलोंमें रहकर वेगसे सर्वत्र जाती है ॥ ९ ॥

द्यावापृथ्वीके बीचमें चमकनेवाला सूर्य मेघोंमें छिपे हुए पानीको पीता है ॥ १० ॥

इस विश्वमें जो कुछ धन और ऐश्वर्य है, वह सब इस अग्निका ही है, वही इन सब धनोंका स्वामी है, यह एक सत्य है, जिसे सबको नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। मनुष्य ' सब धन अग्निका है ' यह सोचकर घमण्ड न करे धनवान् होकर भी नम्र बना रहे ॥ ११ ॥

८४ का मर्यादा वयुना कद्ध वाममच्छा गमेम रघवो न वाजम् ।
कदा नो देवीरमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्नुषासः ॥ १३ ॥
८५ अनिरेण वचसा फल्ग्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः ।
अधा ते अग्ने किमिहा वदन्त्यनायुधास आसता सचन्ताम् ॥ १४ ॥
८६ अस्य श्रिये समिधानस्य वृष्णो वसोरनीकं दम आ रुरोच ।
रुशद् वसानः सुदृशीकरूपः क्षितिर्न राया पुरुवारो अद्यौत् ॥ १५ ॥

अर्थ— [८४] (का वयुना मर्यादा) ऐश्वर्य प्राप्तिकी मर्यादा क्या, (कत् ह वामं) तथा रमणीय धन क्या, हम सभी ऐश्वर्योंकी तरफ उसी तरह (गमेम) जाएं, जिस प्रकार (रघवः वाजं न) वेगवान् घोडे युद्धकी तरफ जाते हैं। (अमृतस्य सूरः) अमरणशील सूर्यकी (देवी पत्नीः उषासः) तेजसे युक्त पत्नी उषायें (वर्णेन) अपने प्रकाशसे (नः कदा ततनन्) हमारी उन्नति कब करेंगी ? ॥ १३ ॥

[८५] (अनिरेण) नीरस (फल्ग्वेन) निष्फल, (प्रतीत्येन) कठिन और (कृधुना) बहुत छोटी (वचसा) वाणीसे (अतृपासः) मनुष्य अतृप्त ही रहते हैं। (अध) तब हे (अग्ने) अग्ने ! (इह) यहां इस यज्ञमें वे लोग (ते किं वदन्ति) तेरी स्तुति क्या करेंगे ? (अन्- आयुधासः असता सचन्तां) शस्त्रसे रहित अर्थात् पराक्रमहीन लोग दुःखसे युक्त हों ॥ १४ ॥

१ अनिरेण फल्ग्वेन वचसा अतृपासः किं वदन्ति— नीरस और निष्फल वाणीके कारण अतृप्त रहनेवाले मनुष्य अग्निकी स्तुति क्या करेंगे ?

२ अन्- आयुधासः असता सचन्तां— शस्त्र धारण न करनेवाले पराक्रमहीन मनुष्य हमेशा दुःखी ही रहते हैं।

[८६] (समिधानस्य) प्रदीप्त होनेवाले (वृष्णः) बलशाली (वसोः) सबको बसानेवाले (अस्य) इस अग्निका (अनीकं) तेज (श्रिये) मनुष्यके कल्याणके लिए (दमे आ रुरोच) घरमें सदा प्रकाशित होता रहता हैं। (रुशत् वसानः) तेजको धारण किए हुए होनेके कारण (सुदृशीकरूपः) सुन्दर, देखने योग्य रूपवाला तथा (पुरुवारः) बहुतोंके द्वारा वरणीय यह अग्नि उसी तरह (अद्यौत्) प्रकाशित होता है, जिस प्रकार (क्षितिः राया न) कोई मनुष्य ऐश्वर्यके कारण चमकता है ॥ १५ ॥

१ अस्य अनीकं श्रिये दमे आ रुरोच — इस अग्निका तेज मनुष्यके कल्याणके लिए ही घरमें प्रकाशित होता है।

भावार्थ— हे अग्ने ! इस विश्वमें जितना कुछ ऐश्वर्य भरा पडा है, उसमेंसे कौनसा धन और रत्न हमारे लिए योग्य है, उसे बता हम सदा उत्तम मार्गसे जाननेवाले हैं, अतः हमें उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर ताकि हमारी स्थिति ऐसी न हो कि हमें किसी निर्धनके घर जाकर भीख मांगनी पडे और निन्दाके पात्र बनें ॥ १२ ॥

हम धन क्या, ऐश्वर्यका अर्थात् सभी कुछ प्राप्त करें और प्रतीदिन आनेवाली सूर्यकी पत्नी उषा अपने प्रकाशसे हमारी उन्नति करती रहे ॥ १३ ॥

जिनकी वाणी हमेशा रूखी रहती है, जो कभी भी मधुरतासे नहीं बोलते, जिनका बोलना निष्फल ही रहता है, अर्थात् जो सदा बकवास करते रहते हैं तथा जिनकी वाणी बहुत ही नीच होती है, वे स्वयं अतृप्त अर्थात् असन्तोषी रहते हैं। वे भला अग्नि जैसे श्रेष्ठ देवकी स्तुति क्या करेंगे ? ऐसे मनुष्य कभी पराक्रमी भी नहीं हो सकते इसलिए वे हमेशा दूसरोंके दास बने रहकर दुःख ही पाते हैं ॥ १४ ॥

प्रदीप्त होनेवाले बलशाली इस अग्निका तेज मनुष्यके कल्याणके लिए सर्वत्र प्रकाशित होता है। यह हमेशा तेजको धारण करनेके कारण सुन्दर रूपवाला होकर उसी तरह चमकता है, जिस प्रकार ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर मनुष्य ॥ १५ ॥

[६]

[ऋषिः— वामदेवो गौतमः । देवता— अग्निः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।]

८७ ऊर्ध्व ऊ षु णो अध्वरस्य होत—रग्ने तिष्ठ देवताता यजीयान् ।
त्वं हि विश्वमभ्यसि मन्म प्र वेधसश्चित् तिरसि मनीषाम् ॥ १ ॥

८८ अमूरो होता न्यसादि विक्ष्व१—ग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः ।
ऊर्ध्वं भानुं सवितेवाश्रे—न्मेतेव धूमं स्तभायदुप द्याम् ॥ २ ॥

८९ यता सुजूर्णी रातिनी घृताची प्रदक्षिणिद् देवतातिमुराणः ।
उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः पश्वो अनक्ति सुधितः सुमेकः ॥ ३ ॥

९० स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्ना ऊर्ध्वो अध्वर्युर्जुजुषाणो अस्थात् ।
पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति प्रदिव उराणः ॥ ४ ॥

---

[६]

अर्थ— [८७] हे (अध्वरस्य होतः अग्ने) यज्ञके होता अग्ने ! (यजीयान्) याज्ञिकोंमें श्रेष्ठ तू (देवताता न ऊर्ध्वः ऊ षु तिष्ठ) यज्ञमें हम लोगोंकी अपेक्षा ऊंचे स्थानपर बैठ । (त्वं हि विश्वं मन्म अभ्यसि) तू ही हमारी सम्पूर्ण प्रार्थनाओंको जाननेवाला है और (वेधसः चित् मनीषां प्र तिरसि) ज्ञानियोंकी बुद्धिको बढानेवाला है ॥ १ ॥

१ यजीयान् ऊर्ध्वः तिष्ठति— यज्ञ करनेवाला सदा उन्नत रहता है ।

२ वेधसां मनीषा प्र तिरसि (ति)— यज्ञसे बुद्धिमानोंकी भी बुद्धि बढती है ।

[८८] (अमूरः होता मन्द्रः प्रचेताः अग्निः) बुद्धिशाली, यज्ञ करनेवाला, प्रसन्नताको देनेवाला और उत्तम ज्ञानी अग्नि (विदथेषु विक्षु नि असादि) यज्ञमें प्रजाओंके मध्यमें बैठता है । वह (सविता इव भानुं ऊर्ध्वं अश्रेत्) सूर्यकी तरह अपनी किरणोंको ऊपरकी ओर फेंकता है और (मेता इव द्यां उप धूमं स्तभायत्) खम्भेकी तरह द्युलोकके ऊपर धूमको धारण करता है ॥ २ ॥

[८९] (यता सुजूर्णिः घृताची रातिनी) उठाई गई, पुरातन, घृतको धारण करनेवाली स्रुवा घृतसे पूर्ण है । (देवतातिं उराणः प्रदक्षिणित्) यज्ञकी वृद्धि करनेवाला अध्वर्यु यज्ञके चारों ओर घूमता है । (नवजाः स्वरुः न उदु) नया बनाया गया यूप सीधा खडा हुआ है । और (अक्रः सुमेकः सुधितः पश्वः अनक्ति) आक्रमण करनेवाला, तेजस्वी, अच्छी प्रतिभा सम्पन्न, सबको देखनेवाला अग्नि पूर्ण रूपसे प्रज्वलित हो रहा है ॥ ३ ॥

[९०] (बर्हिषि स्तीर्णे अग्नौ समिधाने) कुशके बिछाये जाने तथा अग्निके समृद्ध होनेपर (अध्वर्युः जुजुषाणः ऊर्ध्वः अस्थात्) अध्वर्यु देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये तैय्यार होता है । (प्रदिवः अग्निः होता) दिव्य गुणयुक्त तेजस्वी होता (उराणः) हव्यको विस्तृत करता हुआ (पशुपा न त्रिविष्टि परि एति) पशुपालककी तरह तीन बार प्रदक्षिणा करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— यज्ञमें इस अग्निका सर्वोच्च स्थान रहता है । इसलिए यह सभी भक्तोंकी प्रार्थनाको सुनता है और उनकी मननशीलताको बढाता है ॥ १ ॥

यह सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी अग्नि यज्ञोंमें प्रजाओंमें जाकर बैठता है और अपनी किरणों और धुंएको द्युलोकमें फेंकता है । अग्निका ऊर्ध्वज्वलन प्रसिद्ध ही है । इसी तरह अग्रणी नायकको सदा उन्नतिकी तरफ ही बढना चाहिए ॥ २ ॥

घीसे भरी हुई स्रुवायें आहुतिके लिए उठायी जा रही हैं । ऋत्विग्गण यज्ञाग्निकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं । पासमें ही नवीन और उत्तम लकडीसे बना हुआ यूप स्तंभ खडा हुआ और कुण्डमें ज्ञानी और तेजस्वी अग्नि प्रज्वलित हो रहा है ॥ ३ ॥

कुशके बिछाये जाने तथा अग्निके प्रज्ज्वलित होनेपर अध्वर्यु देवोंको प्रसन्न करनेके लिए तैय्यार होता है और उस यज्ञाग्निकी तीन बार परिक्रमा करता है ॥ ४ ॥

९१ परि त्मना मितद्रुरेति होता ऽग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा ।
द्रवन्त्यस्य वाजिनो न शोका भयन्ते विश्वा भुवना यदभ्राट् ॥ ५ ॥
९२ भद्रा ते अग्ने स्वनीक संदृग् घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः ।
न यत् ते शोचिस्तमसा वरन्त न ध्वस्मानस्तन्वी३ रेप आ धुः ॥ ६ ॥
९३ न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरापितरा नू चिदिष्टौ ।
अधा मित्रो न सुधितः पावको ऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु ॥ ७ ॥
९४ द्विर्यं पञ्च जीजनन् त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु ।
उषर्बुधमथर्यो३ न दन्तं शुक्रं स्वासं परशुं न तिग्मम् ॥ ८ ॥

अर्थ— [९१] (मन्द्रः, होता, मधुवचाः ऋतावाः अग्निः) प्रसन्नता प्रदान करनेवाला होमनिष्पादक, मधुर शब्द करनेवाला, यज्ञवान् अग्नि (मितद्रुः त्मना परि एति) धीमे गतिवाला होकर स्वयं चारों ओर परिक्रमा करता है। (अस्य शोकाः वाजिनः न द्रवन्ति) इसकी किरणें घोडेके समान सब ओर दौडती हैं। (यत् अभ्राद् विश्वा भुवना भयन्ते) जब यह प्रदीप्त होता है उस समय सारे लोक इससे डर जाते हैं ॥ ५ ॥

१ मन्द्रः, मधुवाचाः अग्निः परि एति— आनन्द देनेवाला और मधुर भाषण करनेवाला तेजस्वी नेता अपने यशसे चारों ओर जाता है।

२ यत् अभ्राट् विश्वा भुवना भयन्ते— जब यह अग्नि प्रज्ज्वलित होता है, तब सभी लोक इससे डरते हैं।

[९२] हे (सु अनीक अग्ने) सुन्दर ज्वालावाले अग्ने ! (घोरस्य सतः विषुणस्य) भयके देनेवाले होते हुए भी सर्वत्र व्याप्त (ते चारुः भद्रा संदृक्) तेरी सुन्दर और कल्याणकारी कांति अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर होती है। (यत् ते शोचिः तमसा न वरन्त) क्योंकि तेरा प्रकाश अंधकारसे ढका नहीं जा सकता और (ध्वस्मानः तन्वि रेपः न आ धुः) राक्षसादि तेरे शरीरमें पाप स्थापित नहीं कर सकते हैं ॥ ६ ॥

[९३] (जनितोः यस्य सातुः न अवारि) सबको उत्पन्न करनेवाले जिस अग्निके दानका निवारण कोई भी नहीं कर सकता (मातरापितरा दृष्टैा नू चित् न) द्यावा-पृथ्वी भी जिसकी इच्छापूर्ति करनेमें शीघ्र समर्थ नहीं होते, (अध सुधितः पावकः अग्निः) बुद्धिशाली, पवित्र करनेवाला अग्नि (मानुषीषु विक्षु मित्रः न दीदाय) मनुसे सम्बन्धित प्रजाओं-मनुष्योंके बीचमें मित्रकी तरह दीप्तिमान् होता है ॥ ७ ॥

[९४] (उषर्बुधं, दन्तं, शुक्रं) उषःकालमें जागनेवाले, हविभक्षक, तेजस्वी (सु आसं यं अग्निं) उत्तम रूपसे प्रतिष्ठित जिस अग्निको (तिग्मं परशुं न) तीक्ष्ण फरसेके समान (मानुषीषु विक्षु संवसानाः) मनावी प्रजाओंमें रहनेवाली (द्विपंच स्वसारः अथर्यः) दस बहिनरूपी अंगुलियां (जीजनन्) उत्पन्न करती हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— आनन्ददायक, मधुर शब्द करनेवाला यह अग्नि अपनी गतिसे चारों ओर व्याप्त होता है। इसकी किरणें चारों ओर फैलती हैं और जब यह प्रज्ज्वलित होता है, तब सारे लोक इससे डरते हैं ॥ ५ ॥

यह तेजस्वी अग्नि अपने शत्रुओंके लिए भयजनक होता हुआ भी अपने मित्रोंके लिए सुन्दर और कल्याणकारी है। इसका तेज अन्धकारसे ढका नहीं जा सकता, तथा दुष्ट मनुष्य इसका संहार भी नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

सबको उत्पन्न करनेवाले इस अग्निके द्वारा दिए जाते हुए दानको कोई रोक नहीं सकता। द्यावापृथ्वी भी इसकी इच्छा पूरी करनेमें समर्थ नहीं होते। ऐसा महिमाशाली यह अग्नि मानवी प्रजाओंके बीचमें मित्रकी तरह प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

उषःकालमें जागनेवाले, तेजस्वी तथा तीक्ष्ण फरसेके समान शत्रुके विनाशक इस अग्निको मानवी प्रजाओंकी दस बहिन रूपी अंगुलियां मथकर प्रकट करती हैं ॥ ८ ॥

९५ तव त्ये अग्ने हरितो घृतस्ना रोहितास ऋज्वञ्चः स्वञ्चः ।
अरुषासो वृषण ऋजुमुष्का आ देवतातिमह्वन्त दस्माः ॥ ९ ॥

९६ ये ह त्ये ते सहमाना अयास- स्त्वेषासो अग्ने अर्चयश्चरन्ति ।
श्येनासो न दुवसनासो अर्थं तुविष्वणसो मारुतं न शर्धः ॥ १० ॥

९७ अकारि ब्रह्म समिधान तुभ्यं शंसात्युक्थं यजते व्यू धाः ।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदु- र्नमस्यन्त उशिजः शंसमायोः ॥ ११ ॥

[७]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप्, १ जगती, २-६ अनुष्टुप् ।]

९८ अयमिह प्रथमो धायि धातृभि- र्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचु- र्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १ ॥

अर्थ— [९५] हे (अग्ने) अग्ने ! (तव त्ये) तेरे वे (घृतस्नाः रोहितासः) घृत बढानेवाले, लाल रंगके (ऋज्वंचः स्वंचः) सरल गतिसे उत्तम प्रकारसे जानेवाले (अरुषासः वृषणः) तेजस्वी और युवा (ऋजुमुष्काः दस्माः) सुगठित अवयवोंवाले और सुन्दर (हरितः) घोडे (देवतातिं अह्वन्त) यज्ञमें बुलाये जाते हैं ॥ ९ ॥

[९६] हे (अग्ने) अग्ने ! (ह ये त्ये सहमानाः) जो शत्रुओंको हरानेवाली (अयासः दुवसनासः ते अर्चयः) गमनशील, दमकती हुई, पूजाके योग्य तेरी रश्मियाँ (श्येनासः न अर्थं चरन्ति) अश्वोंकी तरह गन्तव्य स्थानपर जाती हैं । वे तेरी रश्मियां (मारुतं शर्धः न तुविष्वणसः) मरुत्‌गणोंकी तरह अत्यन्त ध्वनि करती हैं ॥ १० ॥

[९७] हे (समिधान) देदीप्यमान् अग्ने ! (तुभ्यं ब्रह्म अकारि) तेरे लिये लोगोंने यह स्तोत्र बनाया है। होता (उक्थं शंसाति) वेदमंत्रोंका उच्चारण करता है और (यजते) यजन किया जाता है । अतः तू उन्हें (वि, धाः उ) धारण कर । (आयोः शंसं होतारं अग्निं नमस्यन्तः) मनुष्योंके द्वारा प्रशंसनीय, देवोंको बुलानेवाले अग्निको नमस्कार करते हुये (मनुषः उशिजः नि षेदुः) मनुष्य उत्तम धनादिकी कामनासे इस यज्ञमें आकर बैठते हैं ॥ ११ ॥

[७]

[९८] (अप्नवानः भृगवः) अप्नवान और भृगुवंशियोंने (वनेषु यं चित्रं विशेविशे विभ्वं विरुरुचुः) जंगलोंमें जिस अद्भुत और सब प्रजाओंके ईश्वर अग्निको प्रदीप्त किया, वही (होता, यजिष्ठः अध्वरेषु ईड्यः प्रथमः) होता, याज्ञिकोंमें श्रेष्ठ कर्मवाला, यज्ञोंमें स्तुतिके योग्य और सब देवोंमें मुख्य (अयं धातृभिः इह धायि) यह अग्नि यज्ञ करनेवाले विद्वानों द्वारा इस यज्ञमें स्थापित हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ— इस अग्निके तेजस्वी, सुन्दर अवयवोंवाले, बलिष्ठ घोडे यज्ञमें बुलाये जाते हैं । ये घोडे अग्निकी किरणें ही हैं, जो प्रत्येक यज्ञमें प्रकट की जाती हैं ॥ ९ ॥

इस अग्निकी ज्वालाएं तेजसे युक्त तथा पूज्य होकर घोडेकी तरह अपने स्थानपर पहुंचती हैं और मरुतोंके संघकी तरह शब्द करती हैं ॥ १० ॥

जिस प्रशंसनीय अग्निकी उपासना करते हुए मनुष्य धनादिकी इच्छासे यज्ञमें आकर बैठते हैं, उसी अग्निके लिए सब स्तुतियां, सब मंत्र और सब हवन किए जाते हैं ॥ ११ ॥

जंगलमें उत्पन्न हुए हुए तथा सभीके ईश्वर इस अग्निको मनुष्योंने यज्ञमें स्थापित किया ॥ १ ॥

९९ अग्ने॒ क॒दा त॑ आनु॒षग् भुव॑द् दे॒वस्य॒ चेत॑नम् ।
अधा॒ हि त्वा॑ जगृभ्रि॒रे मर्ता॑सो वि॒क्ष्वीड्य॑म् ॥ २ ॥

१०० ऋ॒तावा॑नं॒ विचे॑तसं॒ पश्य॑न्तो॒ द्यामि॑व॒ स्तृभिः॑ ।
विश्वे॑षामध्व॒राणां॑ हस्क॒र्तारं॒ दमे॑दमे ॥ ३ ॥

१०१ आ॒शुं दू॒तं वि॒वस्व॑तो॒ विश्वा॒ यश्च॑र्ष॒णीर॒भि ।
आ ज॑भ्रुः के॒तुमा॒यवो॒ भृग॑वाणं वि॒शेवि॑शे ॥ ४ ॥

१०२ तमीं॒ होता॑रमानु॒षक् चि॑कि॒त्वांसं॒ नि षे॑दिरे ।
र॒ण्वं पा॑व॒कशो॑चिषं॒ यजि॑ष्ठं स॒प्त धाम॑भिः ॥ ५ ॥

१०३ तं शश्व॑तीषु मा॒तृषु॒ वन॒ आ वी॒तमश्रि॑तम् ।
चि॒त्रं सन्तं॒ गुहा॑ हि॒तं सु॒वेदं॑ कूचिद॒र्थिन॑म् ॥ ६ ॥

अर्थ— [९९] हे (अग्ने) अग्ने ! (हि विक्षु मर्तासः ईड्यं त्वा जगृभ्रिरे) क्योंकि प्रजाओंमें मनुष्यलोग स्तुतिके योग्य तुझको ग्रहण करते हैं। अध देवस्य ते चेतनं कदा आनुषक् भुवत्) इस कारणसे प्रकाशमान् तेरा तेज चारों ओर कब फैलेगा ? ॥ २ ॥

[१००] (ऋतावानं, विचेतसं) मायारहित, ज्ञानसम्पन्न (विश्वेषां, अध्वराणां हस्कर्तारं) सम्पूर्ण यज्ञोंको प्रकाशित करनेवाले अग्निको, (पश्यन्तः दमे दमे) देखते हुये मनुष्य प्रत्येक यज्ञगृहमें उसी प्रकार अलंकृत करते हैं। (स्तृभिः द्यां इव) जिस प्रकार नक्षत्रोंसे द्युलोक अलंकृत होता है ॥ ३ ॥

[१०१] (यः विश्वाः चर्षणीः अभि) जो अग्नि सम्पूर्ण प्रजाओंको अपनी श्रेष्ठतासे अभिभूत करता है। उसी (आशुं, विवस्वतः दूतं, केतुं, भृगवाणं) शीघ्रगामी, उपासकके दूत, पताका स्वरूप, तेजस्वी अग्निको (आयवः विशोविशे, आ जभ्रुः) सभी मनुष्य अपने अपने घरोंमें स्थापित करते हैं ॥ ४ ॥

[१०२] मनुष्योंने (होतारं, चिकित्वांसं) देवोंको बुलानेवाले, विद्वान्, (रण्वं, पावकशोचिषं, यजिष्ठं सप्त धामभिः) रमणीय, पवित्र तेजवाले याज्ञिकोंमें श्रेष्ठ और सात प्रकारके तेजोंसे युक्त (तं ईं) इस अग्निको (आनुषक् नि षेदिरे) यथास्थान प्रतिष्ठित किया है ॥ ५ ॥

[१०३] (शश्वतीषु मातृषु वने आ सन्तं) अनेक प्रकारके जलोंमें तथा वृक्षोंमें विद्यमान (वीतं अश्रितं चित्रं गुहाहितं) सुन्दर होते हुए भी पासमें रखनेके अयोग्य, विचित्र, गुहामें अवस्थित, (सुवेदं कूचिदर्थिनं तं) सुविज्ञ सर्वत्र, हव्य ग्रहण करनेवाले उस अग्निको मनुष्योंने स्थापित किया है ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! सभी मनुष्य तेरा प्रकाश पाना चाहते हैं, इसलिए तू कब अपना प्रकाश फैलाएगा ॥ २ ॥

सभी यज्ञोंमें प्रकाशित होनेवाले, सत्यशाली, अग्निको मनुष्य अपने घरोंमें उसी प्रकार सुशोभित करते हैं, जिस प्रकार द्युलोक नक्षत्रोंसे सुशोभित होता है ॥ ३ ॥

अपनी श्रेष्ठतासे सभी मनुष्योंको परास्त करनेवाले, शीघ्रगामी, दूतकर्म करनेवाले तथा तेजस्वी अग्निको सभी मनुष्य अपने अपने घरोंमें प्रज्ज्वलित करते हैं ॥ ४ ॥

सभी मनुष्योंने इस ज्ञानी और सात प्रकारके तेजोंसे युक्त अग्निको उत्तम स्थानपर स्थापित किया है ॥ ५ ॥

यह अग्नि जल और काष्ठसे उत्पन्न सुन्दर होते हुए, भी जलानेके भयसे पासमें रखनेके अयोग्य उत्तम ज्ञानी और सर्वत्र प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

१०४ सुसस्य यद् वियुता सस्मिन्नूधन्नृतस्य धामन् रणयन्त देवाः ।
महाँ अग्निर्नमसा रातहव्यो वेरध्वराय सदमिदृतावा ॥ ७ ॥

१०५ वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान् ।
दूत ईयसे प्रदिव उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि ॥ ८ ॥

१०६ कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम् ।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥ ९ ॥

१०७ सद्यो जातस्य ददृशानमोजो यदस्य वातो अनुवाति शोचिः ।
वृणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वां स्थिरा चिदन्ना दयते वि जम्भैः ॥ १० ॥

अर्थ— [१०४] (देवाः ससस्य वियुता) स्तोतालोग निद्रासे विमुक्त होकर उषःकालमें, (ऋतस्य धामन् सस्मिन्, ऊधन् रणयन्त) उदकके स्थान स्वरूप सम्पूर्ण यज्ञोंमें अग्निको प्रसन्न करते हैं। (यत् महान् ऋतावा) क्योंकि वह महान् सत्यवान् (रातहव्यः अग्निः नमसा सदमित् अध्वराय वेः) दिए गए हव्यको ग्रहण करनेवाला वह अग्नि नमस्कारपूर्वक सदा उपासकके किये हुये यज्ञको जानता है ॥ ७ ॥

[१०५] हे अग्ने ! (विद्वान्) ज्ञानवान् तू (अध्वरस्य दूत्यानि वेः) यज्ञके दूतके कर्मोंको अच्छी तरह जानता है। तू (उभे रोदसी अन्तः संचिकित्वान्) आकाश-पृथ्वीके अन्दर व्यापक होकर उन्हें भलीप्रकार जानता है। (प्रदिवः उराणः विदुष्टरः दूतः) पुरातन, सबकी वृद्धि करनेवाला, शत्रुओंसे पराभूत न होनेवाला देवोंका दूत तू (दिवः आरोधनानि ईयसे) द्युलोकके उच्च स्थानको भी प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

[१०६] हे अग्ने ! (रुशतः) तेजस्वी (ते एम कृष्णं) तेरा मार्ग कृष्णवर्ण है । तेरी (भा पुरः) कान्ति उत्कृष्ट है, तेरा (चरिष्णु अर्चिः वपुषां एकं इत्) संचरणशील तेज, सम्पूर्ण तेजयुक्त पदार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ है। (यत् अप्रवीता गर्भं ह दधते) जब गर्भरहित अरणि तुझे अपने गर्भमें धारण करती है तब तू (सद्यः चित् जात दूतः, भवसि) तुरन्त उत्पन्न होकरके दूत बन जाता है ॥ ९ ॥

[१०७] (सद्यः जातस्य, ओजः ददृशानं) उत्पन्न होते ही इस अग्निका तेज दीखने लगता है। (यत् अस्य शोचिः, अनु वातः वाति) जब इस अग्निका ज्वालाको लक्ष्य करके पवन चलता है, तब वह अग्नि (असतेषु तिग्मां जिह्वां वृणक्ति) वृक्ष समुहोंमें अपनी तीक्ष्ण ज्वालाको व्याप्त कर देता है और (स्थिरा चित् अन्ना जम्भैः विदयते) कठिनसे कठिन अन्न काष्ठादिको भी अपनी दाढोंसे चबा जाता है ॥ १० ॥

भावार्थ— वह अग्नि अपने उपासकों द्वारा किए जानेवाले यज्ञोंका जानता हुआ उनके द्वारा दी गई हवियोंको प्रेमसे स्वीकार करता है, इसलिए उसे सभी मनुष्य अपने अपने यज्ञोंमें बुलाकर प्रसन्न करते हैं ॥ ७ ॥

यह अग्नि दूतके कर्मोंको अच्छी तरह जानता है और इन द्यावापृथ्वीके अन्दर व्यापक होकर उन्हें भी अच्छी तरहसे जानता है। सबको समृद्ध करनेवाला, शत्रुओंसे कभी न हारनेवाला वह अग्नि द्युलोकसे भी ऊंचे स्थानपर जा पहुंचता है ॥ ८ ॥

इस तेजस्वी अग्निके जानेका मार्ग धुंवेका होनेसे काला है, पर इसकी ज्वालायें सभी तेजस्वी पदार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं ! जब अरणियोंके मध्यभागमें इसकी उत्पत्ति होती है, तो उत्पन्न होते ही यह देवोंको हवि पहुंचाने लगता है ॥ ९ ॥

उत्पन्न होते ही इस अग्निका तेज सर्वत्र फैलने लगता है और हवाकी गति भी तीव्र हो जाती है। तब यह अग्नि वृक्षोंको अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओंसे जला डालता है ॥ १० ॥

१०८ तृषु यदन्ना तृषुणा ववक्ष तृषुं दूतं कृणुते यह्वो अग्निः ।
वातस्य मेळिं सचते निजूर्वन्नाशुं न वाजयते हिन्वे अर्वा ॥ ११ ॥

[८]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः । छन्द- गायत्री ।]

१०९ दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् । यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥ १ ॥
११० स हि वेदा वसुधितिं महाँ आरोधनं दिवः । स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥
१११ स वेद देव आनमं देवाँ ऋतायते दमे । दाति प्रियाणि चिद् वसु ॥ ३ ॥
११२ स होता सेदु दूत्यं चिकित्वाँ अन्तरीयते । विद्वाँ आरोधनं दिवः ॥ ४ ॥

अर्थ— [१०८] (यत् तृषुणा अन्ना तृषु ववक्ष) जो अग्नि बहुत तीव्र इच्छा होनेके कारण अन्नरूप काष्ठादिको शीघ्र ही जला देता है तब (यह्वः अग्निः तृषुं दूतं कृणुते) महान् अग्नि स्वयंको शीघ्र ही दूत बना लेता है वह (निजूर्वन् वातस्य मेळिं सचते) काष्ठसमूहको दग्ध करके वायुके बलके साथ मिल जाता है और (आशुं न अर्वा वाजयते हिन्वे) अश्वारोही जिस प्रकार घोडेको पुष्ट करता है, उसी प्रकार गमनशील अग्नि अपनी ज्वालाको पुष्ट करता है और प्रेरणा देता है ॥ ११ ॥

[८]

[१०९] हे अग्ने ! (विश्ववेदसं हव्यवाहं) समस्त धनोंके स्वामी ! देवताओंको हव्य पहुँचानेवाले (अमर्त्यं, यजिष्ठं दूतं वः) अविनाशी, अतिशय पूजनीय एवं देवताओंके दूत तुझे मैं (गिरा ऋञ्जसे) स्तुतियों द्वारा बढाता हूँ ॥ १ ॥

[११०] (स हि वसुधितिं वेद) वह अग्नि निश्चयपूर्वक, धनके धारण करनेवालोंको जानता है। तथा वह (महान्, दिवः आरोधनं) सर्वश्रेष्ठ अग्नि देवलोकके आरोहण स्थानको भी जानता है। अतः (सः इह देवान् आ वक्षति) वह यहाँ इस हमारे यज्ञमें इन्द्रादि देवोंको सब ओरसे बुलावे ॥ २ ॥

[१११] (सः देवः) वह प्रकाशमान् अग्नि (देवान् आनमं वेद) देवोंको भी झुकाना जानता है। वह (दमे ऋतायते प्रियाणि चित् वसु दाति) यज्ञ गृहमें यज्ञाभिलाषीके लिये प्रियसे प्रिय धनको भी देता है ॥ ३ ॥

देवान् आनमं वेद, प्रियाणि वसु— जो देवोंको नमस्कार करना जानता है, वही उत्तमोत्तम धन प्राप्त करता है।

[११२] (सः होता स इत् उ दूत्यं चिकित्वान्) वह अग्नि होता है, वही दौत्य कर्मको जानता है। वह (दिवः आरोधनं विद्वान् अन्तः ईयते) द्युलोकके योग्य स्थानको भी जाननेवाला वह सर्वत्र व्याप्त है ॥ ४ ॥

भावार्थ— अग्नि सब वृक्षादियोंको जलाकर देवोंको हवि पहुंचानेका काम करता है। वृक्षोंको जलाते समय वायु भी अग्निकी सहायता करता है, इस प्रकार वायुकी सहायतासे अग्नि अपनी ज्वालाओंको पुष्ट करता हुआ उन्हें विस्तृत करता है ॥ ११ ॥

यह अग्नि समस्त धनोंका स्वामी, देवोंको हवि पहुंचानेवाला, अविनाशी, अत्यन्त पूज्य और स्तुतियों द्वारा बढाने योग्य है ॥ १ ॥

किसके पास कितना धन है, यह सब अग्नि जानता है, साथ ही वह देवोंके स्थानोंको जानता है, इसलिये यज्ञमें देवोंको बुलाकर लानेमें वही समर्थ है ॥ २ ॥

वह तेजस्वी अग्नि इतना वीर है कि सभी देव भी उसके आगे झुकते हैं, वही वीर अग्नि यज्ञीय पुरुषको उत्तमोत्तम धन प्रदान करता है ॥ ३ ॥

वह अग्नि होता है, इसलिए वह हवि पहुंचाने रूप दूतके कर्मको जानता है। इसी कारणसे वह सर्वत्र आता जाता रहता है। अग्रणी नेताका आना जाना सभी प्रजाओंमें होता रहे। वह एक जगह कभी न बैठे ॥ ४ ॥

११३ ते स्याम ये अग्नये ददाशुर्हव्यदातिभिः । य ईं पुष्यन्त इन्धते ॥ ५ ॥
११४ ते राया ते सुवीर्यैः ससवांसो वि शृण्विरे । ये अग्ना दधिरे दुवः ॥ ६ ॥
११५ अस्मे रायो दिवेदिवे सं चरन्तु पुरुस्पृहः । अस्मे वाजास ईरताम् ॥ ७ ॥
११६ स विप्रश्चर्षणीनां शवसा मानुषाणाम् । अति क्षिप्रेव विध्यति ॥ ८ ॥

[९]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः । छन्दः- गायत्री ।]

११७ अग्ने मृळ महाँ असि य ईमा देवयुं जनम् । इयेथ बर्हिरासदम् ॥ १ ॥
११८ स मानुषीषु दूळभो विक्षु प्रावीरमर्त्यः । दूतो विश्वेषां भुवत् ॥ २ ॥

अर्थ— [११३] (ये हव्यदातिभिः अग्नये ददाशुः) जो लोग हवि देकर अग्निकी सेवा करते हैं और (ईं पुष्यन्तः) उसे पुष्ट करते हुए (य इन्धन्ते) जो समिधाओं द्वारा प्रदीप्त करते हैं, उन्हींकी तरह हम भी (ते स्याम) तेरे प्रिय हों ॥ ५ ॥

[११४] (ये अग्नाः दुवः दधिरे) जो अग्निमें आहुति डालते हैं (ससवांसः ते राया वि शृण्विरे) अग्निकी सेवा करनेवाले वे धनसे युक्त होते हुये प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं और (ते सुवीर्यैः) वे बलशाली सन्तानोंसे भी युक्त होते हैं ॥ ६ ॥

[११५] (पुरुस्पृहः रायः दिवेदिवे) बहुतोंद्वारा चाहने योग्य सम्पत्तियाँ प्रतिदिन (अस्मे सचरन्तु) हमारे पास आवें और (वाजासः अस्मे ईरतां) अनेक प्रकारके अन्न भी हम लोगोंको यज्ञ कार्यमें प्रेरित करें ॥ ७ ॥

[११६] (सः विप्रः) वह मेधावी अग्नि अपने (शवसा) बल द्वारा (मानुषाणां चर्षणीनां) मननशील मनुष्योंके कष्टोंको (क्षिप्रा इव अति विध्यति) बाणोंके समान बिलकुल नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

[९]

[११७] हे (अग्ने) अग्ने ! (यः ईं देवयुं जनं) जो तू इन देवोंकी भक्ति करनेवाले जनको सुखी करनेके लिये उसके (बर्हिः आसदं आ इयेथ) कुशासनपर बैठनेके लिये आता है, वह तू (महान् असि, मृळ) महान् है, अतः हमें सुखी कर ॥ १ ॥

[११८] (दूळभः मानुषीषु विक्षु प्रावीः) राक्षसादि द्वारा अहिंसनीय तथा मानवी प्रजाओंमें स्वच्छन्दरूपसे विचरण करनेवाला (सः अमर्त्यः विश्वेषां दूतः भुवत्) वह अविनाशी अग्नि समस्त देवोंका दूत हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ— जो अग्निको हवि देकर उसकी सेवा करके तथा उसको प्रदीप्त करके उसे पुष्ट बनाते हैं, वे ही अग्निको प्रिय होते हैं। अतः हम भी वैसे ही बने ॥ ५ ॥

जो अग्निमें आहुतियां प्रदान करते हैं, वे धन और बलशाली सन्तानोंसे युक्त होकर यश प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

अग्नि देवकी कृपासे अत्यन्त उत्तम ऐश्वर्य हमें प्राप्त हों और हम भी अन्नादिसे सम्पन्न होकर यज्ञ करते रहें। धनके घमण्डमें आकर हम अग्निको भूल न जाएं ॥ ७ ॥

वह ज्ञानी अग्नि मननशील मनुष्योंके सारे कष्टोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार बाणोंसे शत्रुओंको नष्ट किया जाता है ॥ ८ ॥

यह अग्नि महान् होता हुआ भी देवोंकी भक्ति करनेवाले मनुष्यको सुखी करनेके लिए उसके पास आकर बैठता और उसे सुखी करता है, इसी प्रकार अग्रणी नेता भी निरहंकारभावसे सबके पास जाकर उनके सुखदुःखका ख्याल करें ॥ १ ॥

अहिंसनीय तथा जिसकी गतिपर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता, ऐसा वह अग्नि देवोंका दूत है। इसी प्रकार राष्ट्रका दूत अवध्य और सर्वत्र संचार करनेवाला होना चाहिए ॥ २ ॥

११९ स स॒द्म परि॑ णीयते॒ होता॑ म॒न्द्रो दिवि॑ष्टिषु । उ॒त पोता॒ नि षी॑दति ॥ ३ ॥

१२० उ॒त ग्ना अ॒ग्निर॑ध्व॒र उ॒तो गृ॒हप॑ति॒र्दमे॑ । उ॒त ब्र॒ह्मा नि षी॑दति ॥ ४ ॥

१२१ वेषि॒ ह्य॑ध्वरीय॒ताम्मु॑पव॒क्ता जना॑नाम् । ह॒व्या च॒ मानु॑षाणाम् ॥ ५ ॥

१२२ वेषीद्व॑स्य दू॒त्यं१॒॑ यस्य॒ जुजो॑षो अध्व॒रम् । ह॒व्यं मर्त॑स्य वोळ्ह॑वे ॥ ६ ॥

१२३ अ॒स्माकं॑ जोष्यध्व॒रम॒स्माकं॑ य॒ज्ञम॑ङ्गिरः । अ॒स्माकं॑ शृणुधी॒ हव॑म् ॥ ७ ॥

१२४ परि॑ ते दू॒ळभो॒ रथो॒ ऽस्माँ अ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑ । येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥ ८ ॥

अर्थ— [११९] (सः सद्म परिणीयते) वह अग्नि यज्ञगृहके चारों ओर ले जाया जाता है तथा (दिविष्टिषु) यागोंमें (मन्द्रः होता उत पोता निषीदति) स्तुति योग्य वह अग्नि होता और पवित्र करनेवाला होकर बैठता है ॥ ३ ॥

[१२०] (उत अग्निः अध्वरे ग्नाः) वह अग्नि स्तुतिके योग्य होता है। (उतो दमे गृहपतिः) और गृहमें गृहपति रूपसे प्रतिष्ठित होता है। (उत ब्रह्मा निषीदति) और यज्ञमें ब्रह्मारूपसे विराजमान होता है ॥ ४ ॥

[१२१] हे अग्ने ! तू (अध्वरीयतां, मानुषाणां जनानां हव्या हि वेषि) यज्ञ करनेवाले मननशील उपासकोंके हव्याहुतियोंकी अभिलाषा करता है। (च उपवक्ता) यज्ञमें उपस्थित लोगोंको उपदेश देता है ॥ ५ ॥

[१२२] हे अग्ने ! तू (हव्यं वोळ्हवे) हव्य वहन करनेके लिये (यस्य मर्तस्य अध्वरं जुजोषः) जिस मनुष्यके यज्ञका प्रीतिसे सेवन करता है, (अस्य दूत्यं वेषीत्) उसी मनुष्यका दौत्य कार्य भी तू करता है ॥ ६ ॥

[१२३] हे (अङ्गिरः) अंगमें रस रूपसे रहनेवाले अग्ने ! तू (अस्माकं अध्वरं जोषि) हमारे यज्ञका सेवन कर। (अस्माकं यज्ञं) हमारे हव्यको ग्रहण कर। और (अस्माकं हवं शृणुधि) हमारी प्रार्थना सुन ॥ ७ ॥

[१२४] हे अग्ने ! तू (येन दाशुषः विश्वतः रक्षसि) जिस रथकी सहायतासे दाता मनुष्यकी चारों ओरसे रक्षा करता है (ते दूळभः रथः अस्मान् परि अश्नोतु) तेरा वह अहिंसनीय रथ हमें चारों ओरसे व्याप्त करनेवाला हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— वह अग्नि यज्ञगृहमें चारों ओर घुमाया जाता है, फिर होता और पवित्र करनेवालेके रूपमें एक जगह स्थापित किया जाता है। यह अग्नि अपने तेजसे चारों ओरका वातावरण शुद्ध करता है ॥ ३ ॥

वह अग्नि गृहमें गृहपति और यज्ञमें ब्रह्मा होकर सर्वत्र स्तुतिके योग्य होता है ॥ ४ ॥

वही अग्नि मननशील तथा यज्ञ करनेवाले मनुष्योंके यज्ञोंमें ही जाता है और वह उपस्थित जनसमूहको उत्तम उपदेश देता है। ये उत्तम उपदेशकके गुण हैं ॥ ५ ॥

यह अग्नि जिसके यज्ञमें प्रीतिपूर्वक जाता है, उसका दूत भी बनकर उसे सुखी बनाता है ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! तू हमारे हिंसारहित यज्ञमें आकर हमारी हवियोंका सेवन कर और हमारी प्रार्थना सुन ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! तू जिस रथके द्वारा दानी मनुष्यकी चारों ओरसे रक्षा करता है, वही रथ हमारी भी चारों ओरसे रक्षा करे ॥ ८ ॥

वैदिकधर्म

जुलै १९६९

७५ पैसे



वेदमूर्ति पं. सातवलेकर प्रथम स्मृतिदिन

वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक ६ : अधिक आषाढ : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]



संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७००, विदेशके लिये रु. ८०० डाक व्यय अलग रहेगा।

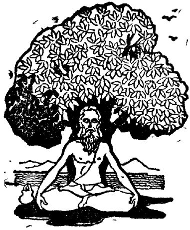
मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिक धर्म

मृत्युको दूर करनेवाला

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वतः
उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् ।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः
सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्

(अथर्व. १७।१।३०)



(गोप्ता अग्निः) रक्षा करनेवाले अग्नि (मा विश्वतः परि पातु) मेरी चारों ओरसे रक्षा करे । (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य (मृत्यु पाशान्) मृत्युके पाशोंको मुझसे (नुदतां) दूर करे । (व्युच्छन्ती. उषस. ध्रुवा: पर्वताः) प्रकट होती हुई उषायें और निश्चल पर्वत (मयि) मुझमें (सहस्रं प्राणाः आ यतन्तां) हजारों तरहके प्राण स्थापित करें ।

अग्नि सब प्राणियोंकी रक्षा करता है, उसी तरह उदय होता हुआ सूर्य भी अपनी किरणोंसे सभी रोग जन्तुओंका नाश करके मृत्युको दूर करता है । इसी तरह उषायें और पर्वत मनुष्योंको प्राण देते हैं । मनुष्य इन सबके द्वारा प्राण ग्रहण करे ।

स म्पा द की य

स्वाध्यायमण्डल प्रगतिके पथपर

अपने जीवनके स्वर्णजयन्तीके वर्षमें विचरण करनेवाला वेदमहर्षिका अमर स्मारक यह स्वाध्याय मण्डल प्रगतिके पथपर अनुदिन अग्रसर होता जा रहा है। इसकी प्रगतिका अंदाजा इसी बातसे लगाया जा सकता है, औंधमें इस संस्थाके सिरपर जितना काम था, उससे दुगुना-ढाईगुना काम पारडीमें आनेके बाद इसके पास हो गया। १९४८ सन्में पारडी आनेके बाद भी तबकी अपेक्षा अब अधिक कार्यका भार है। स्वाध्यायमण्डलके कार्यसे सन्तुष्ट होकर केन्द्रिय सरकारके महाभारतके हिन्दी अनुवादके प्रकाशनका कार्य इसे सौंपा है। महाभारतके हिन्दी अनुवादके प्रकाशनका कार्य सम्प्रति चल रहा है, उसके पांच पर्व प्रकाशित हो चुके हैं। इसके साथ ही ऋग्वेदके सुबोध भाष्यका कामभी चल रहा है। यह काम इस संस्थाको बिना किसी भी आर्थिक सहायताके करना पड रहा है। इस भाष्यके पांच भाग होंगे, और प्रत्येक भागपर दस हजार रुपयोंके खर्च होनेकी संभावना है। इस तरह पांचों भागोंपर पचास हजार रु. के व्ययका अन्दाज है। इतना भारी व्यय इस संस्थाके लिए असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य ही है। तथापि यह संस्था अपनी मंजिलकी तरफ अग्रसर है।

जहां हम इस संस्थाकी प्रगतिको देखकर प्रसन्न है, वहां दूसरी तरफ एक बात जो हृदयको सालती है, वह है हमारे बीचमें इस संस्थाके प्राण पू. पं. सातवलेकरजीका अभाव। गत वर्ष जूनके दूसरे सप्ताहमें अर्धांगवायुसे ग्रस्त हो जानेके कारण ३१ जुलाईको अपने जीवनके एक सौ एकवें वर्षमें पू. पण्डितजीका अवसान हुआ। उनके जीवनके अन्तिम दिनोंका दृश्य आजभी चलचित्रके समान आंखोंके सामने घूम जाता है। इस ३१ जुलाईको उनकी प्रथम पुण्यतिथि है। इस अवसरपर उन्हें हमारी भावभीनी श्रद्धांजलियां प्रस्तुत हैं।

उनके मरणोत्तरकालमें लोगोंके मनोंमें यह शंका उत्पन्न हुई, कि कहीं पू. पंडितजीके अवसानका अर्थ स्वाध्यायमण्डल का अवसान तो नहीं है ? कईयोंने व्यक्तिगत रूपसे व्यक्ततया यह शंका प्रकट भी की, पर उनके उत्तराधिरियों विशेषकर उनके सुयोग्य पुत्र तथा संस्थाके मंत्री श्री वसन्तरावजीने यह स्पष्ट करके दिखा दिया कि प्रजाकी यह शंका बेबुनियाद है। उनके अवसानके बाद भी संस्थाका अनवरत चलना, केवल चलना ही नहीं अपितु सन्तोषजनक प्रगति करना यह स्पष्ट करता है, कि पंडितजीकी यह संस्था अपने संस्थापकके उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए सतत प्रयत्नशील रहेगी। यह अवश्य है कि अब पंडितजीके मौलिक विचारोंसे प्रजा वंचित अवश्य हो जाएगी, पर उनके द्वारा प्रारंभ किया गया कार्य कभी बन्द न होगा।

अपनी बीमारीके पूर्व दो तीन कार्य पू. पण्डितजीने अपने हाथमें लिए थे। गोवध निषेध आन्दोलनके अवसर पर सेठ श्री जयदयाल डालमिया पू. श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार, सम्पादक " कल्याण " आदि कतिपय शुभेच्छियोंकी प्रार्थना पर " वैदिक साहित्यमें गोवधका निषेध " विषय पर एक लघुपुस्तिका लिखनेका काम हाथमें लिया था, पर वह असमयमें ही सूख गया। इसी तरह कतिपय भक्तोंके कथन पर " गायत्रीकी उपासना " विषय पर एक पुस्तिका लिखनी प्रारंभ की, पर वह भी पूरी तरह लिखा नहीं जा सका। (वह लेख इसी अंकमें अन्यत्र देखें) उन्होंने इस विषयमें अपने लेखमें जितना भी कुछ लिखा, उसकी व्याख्याके रूपमें उसका विस्तार करना चाहते थे, जो न हो सका, अतः सूत्ररूपमें उन्होंने जो कुछ लिखा, वह इस अंकमें दिया गया है।

व्यावहारिक अमूल्य उपदेश

(लेखक— श्री विश्वामित्र वर्मा)

卐

तुम्हारे सामने यदि कोई ऐसा काम आया है जिसे तुम कठिन कहते हो तो उसमें अभी ही जुट जाओ, बादको या कल परसों पर मत छोड दो। जितना ही टालोगे इतना ही अधिक कठिन वह प्रतीत होता जायगा। काम कोई भी सहज या कठिन नहीं होता। अपनी समझ (कल्पना) से वह कठिन या सहज हो जाता है। समय बढनेके साथ उसकी कठिनाईका आकार भी बढता जाता है। परन्तु दृढ निश्चयीके सामने उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह सबको सहजसाध्य बना लेता है।

ø ø

अतएव आजका ' एक ' दिन, कल परसोंके १२ दिनोंके बराबर समझो। कुछ भी करना हो, आज ही का दिन है। मुसीबत कठिनाई तो कलपरसोंवालोंके लिए होती है। आज कर लोगे सो हो जायगा, जिसे कलपरसों पर छोड दोगे वह कठिन हो जायगा।

ø ø

अपने आपको गम्भीर मत बनाये रखो। और जिस प्रकार " प्लेग " का समाचार जोरोंसे फैला जाता है, उस प्रकार विख्यात होनेकी कल्पना भी छोड दो। वस्तु और परिस्थिति-की यथार्थताको पहचानना सीखो और उनसे वास्तविक सुख पानेका प्रयत्न करो और प्रयोजन रखो। लोगोंसे व्यवहार करनेमें उदार चित्त और दयालु बनो, और ईश्वरने तुम्हें उत्साह और साहस जितना दिया है, उसका सदुपयोग करो। सुखी होनेका यह सहज नुस्खा है।

ø ø

भोजनके पश्चात् थोडीदेर आराम करना या एक झपकी ले लेना, अच्छा होता है। परन्तु तुमने इतना खा लिया हो कि उसके बाद सो जाना या लेटना आवश्यक होता है क्यों कि वर्ना कोई काम नहीं कर सकते, तो यह बुरी बात है। जो समझदारीसे अल्प भोजन करता है, उसे भोजनके बाद लेटनेकी आवश्यकता नहीं रहती, उसे पूर्ववत् फुर्ती और उत्साह बना रहता है। भोजनके बाद लेटनेकी आवश्यकता एक रोग है। भोजन भी क्या जो मनुष्यको बेकार बना दे। काम करने लायक न रखे ?

ø ø

" कभी ऐसा करेंगे, कभी ऐसे दिन आवेंगे, कभी ऐसा होगा, " ऐसी बातें कहनेवालों पर बडा तरस आता है। " किसी दिन " " कभी " कभी नहीं आता। जो कुछ सत्य है और हो सकता है, वह आजका दिन है। " कभी " किसी समय ", " किसी दिन ", " किसी मौके पर " को बालक। भरोसा नहीं, उसे कोई नहीं जानता, उसका कोई निश्चय नहीं, वह बात झूठी। जो जवानीकी बात करता है, वह जवानीके काम करता रहता है, कभी बूढा नहीं होता।

ø ø

तुम्हारी आंखोंमें ज्योति है, बातोंमें मिठास है, मुखमण्डल पर चमक है और मुस्कान है, आकर्षण है तो तुम्हारे पास सब कुछ है। यदि इतना नहीं है तो कुछ भी नहीं है। तुम्हारे पास इतना ज्ञान है कि उसका प्रकाश सूर्यके समान फैला-कर तुम विश्वविख्यात हो गये हो, परन्तु प्रेम नहीं जाना, प्रेम नहीं किया, तो तुमने कुछ नहीं जाना, कुछ नहीं किया। तुम्हारा सूर्य सदृश ज्ञान, कोरा अंधकार और व्यर्थ है।

यज्ञ संबंधी कतिपय शंकायें एवं उनके उत्तर

(लेखक— श्री पं. वीरसेनजी वेदाश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य)

(१) शंका क्या सन्ध्या, हवन आदि कर्मकाण्डके समय प्रत्येक मन्त्रके आदि और अन्तमें ओम् लगाया जाना चाहिए ?

उत्तर– यह शंका अनेक रूपमें आर्यजनोंके सम्मुख उपस्थित होती है जिसका प्रमुख कारण निम्न प्रमाणोंका अयथार्थ प्रयोग ज्ञान है—

(अ) " ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा "।
(मनुस्मृतिः)

(आ) " ओमभ्यादाने " (अष्टाध्यायी)

(इ) " प्रणवष्टेः " (अष्टाध्यायी)

मनुका उक्त श्लोक प्रत्येक मन्त्रके आदि और अन्तमें ओम् प्रयोग करनेका आदेश देता है ऐसा यदि हम मान लेंगे तो अनेक दोष प्रतित होने लगेंगे। यथा मनुका एवं प्राचीन वैदिक परिपाटीका विरोध, मनुका एवं महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित याज्ञिक परिपाटीका विरोध।

महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने जो पंच महायज्ञविधि एवं संस्कारविधि लिखी है उसमें कही भी इस प्रकारका आदेश या प्रयोग नहीं किया है जब कि ये दोनों ग्रंथ प्रयोगात्मक रूपसे लिखे गये हैं। इनमें मन्त्रोंका प्रयोग किस प्रकार करना, कहां प्रारंभमें ओम् लगाना, स्वाहा कहां कैसे प्रयुक्त करना, कहां इदं नमम लगाना, कहां नहीं बोलना यह सब प्रयोगात्मक रूपसे लिख दिया है। उपरोक्त अर्थ मनुके श्लोकका मानने-पर मनुमें तथा महर्षिकी प्रयोगशैलीमें विरोध प्रतित होगा। उस दशामें यह भी मानना पडेगा कि महर्षिसे इन ग्रन्थोंकी रचनामें सैकडों बडी भारी त्रुटीयां हो गई हैं या महर्षि दयानन्दजीको मनुका यह श्लोक स्मरण नहीं रहा।

'परन्तु ऐसे विचार रखनेवालोंको सोचना चाहिये कि महर्षि उनसे कहीं अधिक विद्वान् थे। कर्मकाण्डके उत्तम ज्ञाता भी थे और ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त उनमें स्मृतिभ्रम भी नहीं था, अपितु प्राचीन आर्यमर्यादानुरूप, शास्त्रानुमोदित परम्परानुसार ही उन्होंने इन ग्रन्थोंकी जैसी रचना की है, वह ठीक ही है। भूल तो हमारी समझमें है। क्योंकि—

ब्रह्मका अर्थ, वेद है। जब कोई व्यक्ति वेदका पठन प्रारम्भ करे तो वह उस कार्यके प्रारम्भके मन्त्रमें प्रथम ओम्का उच्चारण करके करे और जब उस पठनकी समाप्ति करे तब भी ओम् कहकर समाप्ति करे। अर्थात् वेदके पाठ, अध्ययनादिका प्रारम्भ एव समाप्ति सदा ओम्से ही करे अथ या इति आदि शब्दोंसे नहीं। यह व्यवस्था हमेशाके लिये है। इसमें कोई विकल्प, अपवाद या प्रतिषेध आदि नहीं है। यह मनुके श्लोकका उक्त अभिप्राय है, न कि प्रत्येक मन्त्रके आदि और अन्तमें ओम् लगाना चाहिये ऐसा आशय है।

वेदका अध्ययन या पाठका आरम्भ और अन्त एक मन्त्रसे भी हो सकता है और अनेक मन्त्रोंसे भी। एक ही मन्त्रके पाठ या अध्ययनके अवसर पर उसी मन्त्रके प्रारम्भमें ओम्का उच्चारण करना होगा और कार्यकी समाप्तिके प्रदर्शनार्थ मन्त्रके अन्तमें भी ओम् बोलना होगा। यदि अनेक मन्त्रोंका पाठ या अध्ययन एक कालमें करना है तो जिस मन्त्रसे पाठ या अध्ययन प्रारंभ होगा उस मन्त्रके आदिमें और जिस मन्त्र पर समाप्ति होगी वहां मन्त्रान्तमें ओम् उच्चार करके समाप्ति करनी होगी। शेष मध्यके मन्त्रोंमें कहीं भी ओम्का प्रयोग नहीं होगा।

यही शास्त्रानुमोदित परिपाटी प्राचीनकालसे सब वेद एवं उनके शाखाओंके अध्ययन-अध्यापन, स्वाध्याय-पाठ आदिमें प्रचलित है। किसी भी शाखाके वैदिकोंमें इसके प्रतिकूल व्यवहार नहीं है। परन्तु यह व्यवस्था कर्मकाण्डमें प्रयुक्त

मन्त्रोंके लिये नहीं है अपितु अध्ययन विधिके लिये है। ऐसा स्पष्ट आशय मनुका समझ लेने पर न तो महर्षिके ग्रन्थोंमें एतद्विषयक बोध या अशुद्धि प्रतीत होगी और न सर्व शाखाओंमें प्रचलित वैदिक परिपाटीसे भिन्नता ही दृष्टिगोचर होगी, अपितु सबमें सामञ्जस्य ही प्रतीत होगा।

' ओमभ्यादाने ' महर्षि पाणिनीका यह सूत्रभी प्रत्येक मन्त्रमें ओम् लगानेका प्रतिपादक नहीं है। सूत्रका इतना ही तात्पर्य है कि अभ्यादान अर्थात् वेदके सर्व प्रथम प्रारंभमें ओम्का जो प्रयोग किया जावे वह प्लुतोदात्त हो, इससे भिन्न न हो। यह सूत्र प्लुत प्रकरणका है। अतः प्लुत विधान करता है कि अभ्यादव निमित्त ओम् प्लुत हो और उदात्त भी हो। इस सूत्रका यह आशय नहीं है कि प्रत्येक मन्त्रके आरम्भमें ओम्का प्रयोग करना चाहिये और न यह इस सूत्रका अधिकार ही है। परन्तु भूलसे लोगोंने इसे प्रत्येक मन्त्रके आदिमें ओम् प्रयोग करनेके लिये मान लिया। अभ्यादानका अर्थ प्रथम आरम्भ है, अतः इस सूत्रके जो भी उदाहरण दिये गये हैं वे वेदोंके सर्वप्रथम मन्त्र ही दिये गये हैं जिनसे वेदोंका सर्व प्रथम आरम्भ होता है।

इसी उपरोक्त स्थितिको याज्ञवल्क्य शिक्षाका निम्न श्लोक भी स्पष्ट कर रहा है :—

" प्रणवं वाक्प्रयुंजीत व्याहृतीस्तदनन्तरम्।
सावित्रीं चानुपूर्व्येण ततो वेदान् समारमेत्॥"

अर्थात् वेदाध्ययन प्रारंभ करने पर प्रथम ओम्का उच्चारण करे तदनन्तर व्याहृति पूर्वक गायत्रीमन्त्रका उच्चारण करे। यह प्रणवोच्चारण कैसा हो, व्याहृतिका उच्चारण कैसा हो इस बारेमें याज्ञवल्क्य शिक्षामें लिखा है:—

" प्रणवं तु प्लुतं कुर्यात् व्याहृतिर्मात्रिका विदुः।"

अर्थात् प्रारंभमें ओम्का प्लुतोच्चारण करना चाहिए और व्याहृतियोंको एक-एक मात्रा विरामसे उच्चारित करे। यह सब विधान अध्ययन विधिके हैं, कर्मकांड विधिके नहीं।

इसी प्रकार " प्रणवष्टेः " सूत्रका अर्थ है मन्त्रान्तमें यज्ञके अवसरपर जहां प्रणव आदेश होता है वहां उसकी मन्त्रके साथ सन्धि किस प्रकार हो, कहां हो तथा वह प्लुत हो। यह सूत्र यह नहीं कहता है कि प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें ओम् बोलना ही चाहिये। यदि किसी स्थलपर कर्मकाण्डके ग्रन्थ मन्त्रके अन्तमें ओम् बोलनेका विधान करेंगे तो वहां मन्त्रके हि संज्ञक भागको प्रणव आदेश करना होगा। अर्थात् अपां रेतांसि जिन्वत्योम् ' या ' धियो योनः प्रचोदयादोम् " ऐसे प्रयोग नहीं बनाना अपितु अपां रेतांसि जिन्वतो३म् "- एवं- " धियो योनः प्रचोदयो३म् " ऐसी रचना करनी होगी। व्याकरणके सूत्र व्याकरणके नियमोंका बोध करावेंगे और कर्मकाण्डके ग्रन्थ कर्मकाण्डका बोध करावेंगे न कि व्याकरणका। अतः इस सूत्रके ठीक अर्थके न समझलेनेसे प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें ओम् लगानेकी इस आधारपर कहीं-कहीं जो परिपाटी प्रचलित हो गई है वह भ्रान्तिवश होनेसे त्याज्य ही है।

कर्मकाण्डमें मन्त्रोंका प्रयोग पृथक् विषय है। उसके लिए कल्पग्रन्थोंको देखना चाहिये। केवल व्याकरणकी दृष्टिसे ही कर्मकाण्डको समझा नहीं जा सकता है। ओम्के प्रयोग करनेके निमित्त महर्षि कात्यायनने सर्वानुक्रमणिकामें लिखा है ' ब्रह्मारम्भे विरामे च यागहोमादिषु शांतिपुष्टिकर्मसु चान्येष्वपि काम्यनैमित्तिकादिषु विनियोगोस्य।" ब्रह्म अर्थात् वेदके आरम्भ और समाप्ति करनेपर यज्ञ, होम, शांति, पुष्टि, काम्य एवं नैमित्तिक कर्मोंमें ओम्का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यहां इन यज्ञयागादि, शान्ति पुष्टि, काम्य एवं नैमित्तिक कर्मोंमें कहां, कैसे प्रयोग होगा इसकेलिये महर्षि कात्यायनकी सूत्रमन्त्र प्रकाशिकामें निम्न वाक्य है—

" कर्मणामादिर्मन्त्रादौप्रणवः स्मृतः।"

अर्थात् कर्मके आदिमें जिन मन्त्रोंसे कर्म करना है उनके प्रारम्भके मन्त्रमें, मन्त्रके पूर्व ओम्को संयुक्त करना चाहिये। अर्थात् कर्मकाण्डमें ओम्का प्रयोग कर्मके आदिका सूचक है, अतः जब तक कर्म समाप्त न हो और दूसरे कर्मका प्रारम्भ न हो तब तक जितने भी मन्त्र उस एक कर्ममें प्रयुक्त होंगे उनमें पुनः ओम् प्रत्येक मन्त्रके प्रारम्भमें नहीं उच्चारित किया जायगा।

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वेदका आरम्भ सूचित करनेके लिये, वेदाध्ययन या मन्त्रपाठका आरम्भ सूचित करनेकेलिये, होमकार्यके आरम्भ करनेके लिये, कर्मकाण्डमें किसी कार्यके प्रारम्भ करनेके लिये जो मन्त्र प्रारम्भ होगा केवल उसके आरम्भमें ओम्का उच्चारण होगा। यज्ञयागादिमें

मन्त्र-मन्त्रसे आहुतिकर्म प्रारम्भ होता है अतः वहां प्रत्येक मन्त्रमें ओमका उच्चारण होगा। यही व्यवस्था एवं परिपाटी सर्वत्र याज्ञिकोंमें दृष्टिगोचर होती है।

यही परिपाटी महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीके रचे कर्मकाण्डके ग्रंथोंमें भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यदि एक कर्म एक मन्त्रसे होगा तो उसके प्रारंभमें ओम् लगेगा। यदि एक कर्म दो या अधिक मन्त्रोंसे होगा तो उस मन्त्र समूहके प्रथम मन्त्रमें ही ओमका प्रयोग होगा, शेष मन्त्रोंमें नहीं। यदि वेदमें पठित एक मन्त्रके विभागोंसे पृथक्-पृथक् कर्म होंगे तो उन सब प्रत्येक मन्त्र विभागोंके आदिमें ओमका प्रयोग होगा। वेदमें पठित कोई एक मन्त्र कर्मकाण्डमें भी वैसा ही पूर्ण प्रयुक्त हो यह आवश्यक नहीं है। कर्मकाण्डकी दृष्टिसे उसमें विभाग भी हो सकते हैं और जिसका जितना भाग उस कार्यमें आवश्यक होगा उतना ही ग्रहण किया जायगा। ऐसे मन्त्र भाग कर्मकाण्डमें अपूर्ण मन्त्र नहीं माने जाते हैं अपितु उनकी गणना पृथक्-पृथक् मन्त्रवत् ही होती है। कर्मकाण्डके एक मन्त्रमें किसी अन्य मन्त्रका भाग जोड़कर भी किया हो सकती है और वहां गणनामें वह एक ही मन्त्र माना जावेगा, पृथक् नहीं।

कर्मके आदिमें ओमके प्रयोगके उदाहरण :—

(१) अघमर्षणकर्म सन्ध्यामें है। उसमें तीन मन्त्रोंसे यह एक कर्म सम्पादित होता है अतः महर्षिने ओम् ऋतं च सत्यं च " प्रारंभके इसी मन्त्रमें ओमका प्रयोग किया है, शेष दोनों मन्त्रोंमें नहीं, क्यों कि अघमर्षण कर्मका प्रारम्भ इसी मन्त्रसे है। यही परिपाटी अन्य सम्प्रदायोंकी सन्ध्यामें अघमर्षणके मन्त्रोंमें विद्यमान है परन्तु वेदकी परम्परा तथा शास्त्रोंके आदेशोंको न समझनेसे जो लोग अघमर्षणके प्रत्येक मन्त्रमें ओमका उच्चारण या प्रयोग करते है वह प्राचीन ऋषिपरम्पराके प्रतिकूल ही है।

(२) मनसा परिक्रमा सन्ध्यामें एककर्म है जो छ मन्त्रोंसे होता है। महर्षिने उसके प्रारंभके मन्त्रमें ओमका प्रयोग किया है, शेष मन्त्रोंमें नहीं। यही वास्तविक प्राचीन परंपरा है और शास्त्रानुकूल है। परन्तु इस बातको न समझकर लोगोंने मनसा परिक्रमाके सब मन्त्रोंके आदिमें ओम् छाप दिया और ओम् बोलना भी प्रारंभ कर दिया।

(३) इसी प्रकार शाला कर्ममें गृहकी परिक्रमाके चार मन्त्र महर्षिने लिखे हैं। उनमें जो प्रथम मन्त्र है उसीके आदिमें ओमका प्रयोग किया है, शेष मन्त्रोंमें नहीं। क्यों कि परिक्रमा एक कर्म है उसकी समाप्तिपर जबतक दूसरा कर्म प्रारंभ न हो तब तक ओमका प्रयोग करनेकी आवश्यकता है।

(४) सन्ध्यामें महर्षिने ४ मन्त्रोंसे उपस्थान कर्म लिखा है। उसके प्रथम मन्त्रमें ओमका प्रयोग किया है, शेष तीन मन्त्रोंमें नहीं। परन्तु हमने प्राचीन व्यवस्थाको न जानकर, प्रेसकी भूल समझकर प्रत्येक मन्त्रमें ओम् छापकर और बोलकर अमर्यादित कार्य प्रारंभ कर दिया।

(५) इसी प्रकार गर्भविधान संस्कारमें भी जिन ५ मन्त्रोंसेउपस्थान करनेको महर्षिने लिखा है, वे मन्त्र सन्ध्याके उपस्थान मन्त्रोंसे भिन्न ही हैं। परन्तु उनमें भी जो प्रथम प्रथम मन्त्र है उसीमें महर्षिने ओमका प्रयोग किया है, शेष-मन्त्रोंमें नहीं। यह उदाहरण भी इसी बातकी पुष्टि करता है कि उपस्थान एक कर्म है, अत एव उस कर्मके आदि मन्त्रमें ही ओम् लगाना उचित है; प्रत्येक मन्त्रके आदिमें नहीं। यदि लोग यह समझ जाते कि कर्मके आदिके मन्त्रमें ओम् लगाना नहीं है, न कि प्रत्येक मन्त्रके आदिमें -तो मन-मानी परम्परायें न चल पातीं और महर्षिने जैसा प्रयोग किया है वैसा ही प्रचलित रहता।

(६) प्रातःकालीन और सायंकालीन दैनिक अग्नि होत्रके जो पृथक्-पृथक् आठ मन्त्र कर्मकाण्डमें प्रयुक्त हैं उनमें प्रत्येक मन्त्रमें ओमका प्रयोग होता है, जब कि वेदमें कुल दो मन्त्रोंके अन्तर्गत उनका समावेश है। उसीमेंके एक मन्त्रके ही कुछ भागको प्रातः बोलते हैं, कुछको सायंकालमें, और उन सब मन्त्र विभागोंसे पृथक् पृथक् किया करते हैं। अतः स्पष्ट है कि– " कर्मणामादिर्मन्त्रादौ प्रणवः स्मृतः " महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती भी इसका पूर्णरूपसे अनुसरण करते हैं।

(७) इसी आधार पर ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासनाके ८ मन्त्रोंके प्रारम्भमें महर्षिने केवल प्रथम मन्त्रमें ही ओमका प्रयोग किया है, क्यों कि यह एक कर्म है। इसी आधारपर स्वस्तिवाचनादिके प्रारंभके ही मन्त्रमें ओमका प्रयोग सर्वत्र सब सम्प्रदाय एवं वेदशाखावाले वैदिक करते हैं, न कि प्रत्येक

मन्त्रके आदिमें । बिना गुरुके, वेदादि अपठित व्यक्तियोंके द्वारा पठन करनेसे या स्वयं पुस्तक लेकर पढने या दूसरोंके अनुकरण मात्रसे अध्ययन करनेसे जो अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न हो जाते हैं, उनको त्यागना ही चाहिये ।

संभव है किन्हीको यह शंका उत्पन्न हो जावे कि स्वस्ति-वाचन एवं शान्ति ओमका उच्चारण प्रकरणके प्रारंभके मन्त्रोंमें महर्षिने ओमका प्रयोग नहीं किया है तो वहाँ ओम् का उच्चारण नहीं करना होगा। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। वेदमें कर्मके प्रारंभमें ओमका प्रयोग होता है और लोकमें अथ शब्दका। अतः " अथ स्वस्तिवाचनम्-अथ शान्तिप्रकरणम् " पद प्रकट करते हैं कि इन प्रकरणोंके प्रारंभके मन्त्रोंमें जो वैदिक प्रयोग प्रारंभके लिये ओमका होता है वह व्यवहारमें लाना चाहिये ।

कर्मके मध्यमें भी ओम्का प्रयोग

यज्ञकर्ममें भ्रमादिया अन्य कारणोंसे लौकिक भाषाका यदि प्रयोग हो जावे तो उस अपराधकी क्षमा याचनाके लिये ओम्का उच्चारण जोरसे करके तन्मात्मा वह मुझे उक्त अपराध के लिये क्षमा करे ऐसा मनमें उच्चारण करके मन्त्र प्रारंभ करे यह गोभिल गृह्य सूत्रमें लिखा है अतः ऐसी अवस्थामें कर्मके मध्यमें भी मन्त्रके प्रारंभमें ओम्का उच्चारण होगा ।

मन्त्रके अन्तमें ओम्का प्रयोग—

(१) वेद पाठ या अध्ययनको विराम देने या समाप्त करनेपर भी ओम्का प्रयोग होता है, जैसा कि- " ब्रह्मारम्भे विरामे च " एवं " ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ' में विधान है ।

(२) श्रौतयज्ञोंमें हविमन्त्रों तथा पत्नीसंयाज आदि आहुति मन्त्रोंसे पूर्व पुरोनुवाक्या मन्त्रोंके अन्तमें ओम्का उच्चारण करना होता है। परन्तु उन मन्त्रोंसे आहुति नहीं होती है अतः उनमें " ओम् स्वाहा " ऐसा प्रयोग नहीं होता है। " अपां रेतांसि जिन्वतोऽम् " उसी स्थलका उदाहरण है, न कि हविर्मंत्रोंका। अतः पुरोनुवाक्या मन्त्रोंके अन्तमें ओम्का प्रयोग होता है । सर्वत्र नहीं । ऐसी स्थितिमें प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें ओम्का या ओम्स्वाहाका प्रयोग अशास्त्रीय होनेसे त्याज्य है । पुरोनुवाक्याओंका प्रयोग श्रौत यज्ञोंमें होता है । उसका विधान पूर्व महर्षियोंने अपने ग्रंथोंमें किया है ।

यज्ञोंमें ओम्का प्रयोग

यज्ञोंमें प्रयुक्त जितने मन्त्रभाग, मन्त्र या मन्त्र समूहोंसे एक क्रिया होगी उसके प्रारंभमें ओम्का एक बार प्रयोग होगा स्वाहा क्रियासे प्रत्येक मन्त्र पृथक् कर्मका द्योतक है अतः यज्ञमें सभी मन्त्रोंके आदिमें ओम्का प्रायः प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार आहुति कर्मके मन्त्रोंमें ओम्का संस्कार विधिमें प्रमुखरूपसे सामान्य यज्ञोंमें दृष्टिगोचर होता ही है। यज्ञमें एक कर्ममें अनेक मन्त्रोंका प्रयोग समिधादानके मन्त्रोंमें तथा विवाह संस्कारमें वधूके मस्तकपर जल छिडकनेके अवसरपर है। वहाँपर प्रारंभके मन्त्रमें ओम्का प्रयोग है, सब मन्त्रोंमें नहीं। यही संगत है।

एक ही कर्ममें यदि वेद एवं वेदातिरिक्त गृह्य सूत्रोक्त या ब्राह्मणग्रन्थके मन्त्र होंगे तो उन दोनों प्रकारके मन्त्रोंके आदिमें भी ओम्का प्रयोग होता है ।

(२) यज्ञमें वेदके सूक्तकी आहुतियां होनेपर या इसी प्रकार एक ही मन्त्रके विभागोंसे होम होनेपर या विशेष स्थिति होनेपर प्रत्येक मन्त्र या मन्त्र विभागपर ओम्का प्रयोग नहीं किया जाता है जैसा कि महर्षि कात्यायनने छन्दोगपरिशिष्टमें लिखा है :— " नों कुर्यात् होम मन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् । " अर्थात् किन्हीं स्थल विशेषोंमें होम समयमें भी पृथक्-पृथक् प्रत्येक मन्त्रके आदिमें ओम्का उच्चारण नहीं किया जाता है। कहां नहीं होगा इसका ज्ञान तो कर्मकाण्डोंका अवलोकन करनेसे होता है। संस्कार विधिमें भी इसके अनुसार प्रयोग मिलते हैं। यथा-

(अ) गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, विवाह, शालाकर्म आदि यज्ञोंमें कतिपय आहुति मन्त्रों एवं कर्मोंके आदिमें ओम्का प्रयोग नहीं किया गया है ।

(आ) वानप्रस्थ संस्कारके यज्ञमें स्थालीपाककी ४३ आहुतियां जिन मन्त्रोंसे करना लिखा है वे सब ४३ आहुति मन्त्र वेदके ४ मन्त्रोंसे निर्मित है। उनमेंसे केवल तीन मन्त्रोंके प्रारंभमें जहांसे वेदका पूर्णमन्त्र प्रारंभ होता है उसके ही आदिमें ओम्का प्रयोग महर्षिने किया है। शेषमन्त्र विभागोंमें नहीं किया है और चौथे मन्त्रके प्रारंभमें भी ओम्का प्रयोग नहीं किया है। ऐसे प्रयोग शास्त्रीय दृष्टिसे त्रुटि पूर्ण नहीं हैं अपितु ठीक ही हैं।   [क्रमशः]

[पू. पं. सातवलेकरजी अपनी बीमारीसे पूर्वतक प्रतिदिन लिखने पढ़नेका काम करते थे। उस समय भी उनके मस्तिष्कसे नवीन नवीन कल्पनायें प्रकट होती थीं। उन्होंने कतिपय नवीन पुस्तिकाओंके लेखन एवं प्रकाशनका काम अपने हाथोंमें लिया था। उनमें "गायत्री उपासना" नामक पुस्तिकाके लेखनका भी एक काम था। उन्होंने अपने इन नवीन कामोंकी शुरुआत "गायत्रीमाताकी उपासना" से ही शुरु की, पर वह भी जितने विस्तारसे वे चाहते थे, उतने विस्तारसे वह न हो सका, अतः यह उनका लेख अतिसंक्षिप्त ही रह गया। यह लेख उनके जीवनका अन्तिम लेख था। जो पाठकोंके लिए यहां प्रस्तुत है।]

गायत्री मंत्रकी उपासना

गायत्रीमंत्रकी उपासना अति प्राचीनकालसे ऋषिकालसे इस देशमें चल रही है। वह आज भी शुरु है। प्रत्येक आर्य संध्या करनेके समय गायत्री मंत्रका जप करता ही है। जपका अर्थ है जपः तदर्थभावनं " (योगदर्शन) अर्थात् उस मंत्रके अर्थकी भावनासे अपना मन ओत प्रोत भर देना है। अपने मनमें वही भाव रहे ऐसा करना है,। संध्या करनेवाले आर्य मंत्रके अर्थकी भावनासे अपना मन भर देते है या नहीं यह वैयक्तिक प्रश्न है। परन्तु संध्या करनेके समय यह गायत्री मंत्र कईबार उच्चारा जाता है। बोला जाता है,'इतनी बात तो सत्य है। संध्याके अन्य मंत्र केवल एक ही बार बोले जाते हैं, परन्तु यह गायत्री मंत्र अनेक बार बोला जाता है। यह इसके महत्त्वकी सूचक बात है।

इस गायत्रीमंत्रको गुरुमंत्र भी कहते है, जिस समय द्विजका उपनयन होता है, उस समय उपनयन करनेवाला गुरु उस उपनीत शिष्यको इसमंत्रका उपदेश देता है। गुरुने दिया हुआ यह मंत्र है, इसलिए इस मंत्रको गुरुमंत्र भी कहते हैं। गुरुमंत्रके अनेक अर्थ हैं- गुरुसे प्राप्तमंत्र, गुरुने दिया मंत्र महत्त्वपूर्ण मंत्र, पूज्यमंत्र, सबसे उत्तममंत्र, श्रेष्ठमंत्र, प्रिय व हितकारीमंत्र, शक्तिशाली मंत्र, अमूल्यमंत्र, महामूल्यवान् मंत्र, विश्वके गुरुका-प्रमुका वर्णन करनेवाला मंत्र, दिव्य प्रकाश देनेवाला मंत्र। इन अर्थोंको देखनेसे इस गुरुमंत्रके महत्त्वका पता लग सकता है। इस मंत्रमें ऐसा महत्त्व है, इसीलिए इसका महत्व अनादिकालसे सब लोग मानते आए हैं।

उपनयन संस्कारमें गुरु इसी मंत्रका उपदेश शिष्यको करता है और जिसको इस गुरुमंत्रका उपदेश हुआ है, उसने किसी भी दूसरे मंत्रको किसी अन्य गुरुसे लेना नहीं चाहिए, ऐसा विचार अनादिकालसे अपने भारतदेशमें प्रसिद्ध है क्योंकि यह एक ही "गुरुमंत्र" है अर्थात् श्रेष्ठमंत्र है। श्रेष्ठ मंत्रका उपदेश जिसको हो चुका है; वह दूसरेमंत्र क्यों ले ? इसलिए इस गुरुमंत्रका उपदेश जिसने लिया है, उसको दूसरे मंत्रका उपदेश नहीं लेना चाहिए।

यद्यपि इस समय कई द्विज इस "गुरुमंत्र" का उपदेश देने पर भी अन्यान्य मंत्रोंका उपदेश यवनादिकोंसे लेते हैं, पर वैसा करना अयोग्य है। क्योंकि इस एक ही मंत्रसे सब कार्य हो सकते हैं कि जो अन्यान्य मंत्रोंसे होनेकी संभावना है। अर्थात इस गुरुमंत्रकी योग्यता सचमुच असाधारण है।

इस गुरुमंत्रका जप करनेके समय प्रथम ओंकार बोलते हैं, पश्चात् तीन या सात व्याहृतियां बोलते हैं और पश्चात् गायत्री मंत्र बोलते हैं और अन्तमें फिर ओंकार बोलते हैं अर्थात् ओंकारके संपुटमें गायत्रीमंत्र बोला या जपा जाता है। वह इस तरह है—

गुरुमंत्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ऋ. ३।६२।१०; वा यजु. ३।३५; २२।९ : ३०।२ :३६।३ साम. १४६२ तैत्ति. सं. १।५।६।४; ४।१।११।१ तै. आ. १।११।२।

इस तरह प्रणवयुक्त व्याहृति तीनके समेत इस गुरुमंत्रका जपकरनेकी पद्धति सर्वत्र प्रचलित है। कई सप्त व्याहृतियोंका भी प्रथम उच्चारण करते हे। कई प्रत्येक मंत्रपाठके साथ ओंकारपूर्वक सप्त व्याहृतियोंका जप करते है, परन्तु हमने जो पाठ ऊपर दिया है वही पाठ और वैसा जप करनेकी पद्धति विशेषरीतिसे प्रचलित है। इसलिए उपासना करनेवालोंको ऐसा ही पाठ स्वीकारना उचित है।

मंत्रके जपका अर्थ ही मंत्रके अर्थकी भावनासे अपने मनको भर देना, अपने मनको तन्मय करना, मनमें दूसरा कोई विचार न करना और मंत्रका भाव ही मनमें रखना है। सलिए इस गुरुमंत्रका जप करनेवालोंकी सुविधाके लिए यहां ओंकार व्याहृतियां और मंत्रका आशय संक्षेपसे बताते हैं। जो पाठक जप करना चाहते हैं, वे इस भावको मनमें धारण करें और इस भावसे जो अपना कर्तव्य ध्यानमें आता है, उसको करके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेका प्रयत्न करें।

ओंकार

इस गुरुमंत्रके साथ प्रथम ओंकार है, यह ॐ ओं अथवा ओ३म् ऐसा लिखा जाता है। प्लुत ओंकारका उच्चारण करना चाहिए। इसकारण " ओ३म् " यह अधिक स्पष्ट है। ॐ में भी प्लुत उच्चारण होता है। इसलिए इसमें मुख्य उच्चारणकी बात प्लुत उच्चारणकी है। यह ध्यानमें धारण करनी चाहिए। " ओ-ओ-ओ-म् " ऐसा तीन मात्राओंका इसका उच्चारण है।

ओं में " अ-उ-म् " ये तीन अक्षर हैं और तीन वेदोंका यह सार है, ऐसा माना गया है।

(१) " अ " कार ऋग्वेदके प्रारंभका अक्षर है। जैसा ' अग्निमीळे पुरोहितं " का प्रारंभ " अ " कारसे हुआ है। यही ऋग्वेदका प्रारंभ है।

(२) " उ " कार यजुर्वेदके मध्यसे लिया है। यजुर्वेदका मध्य २०वें अध्यायके अन्तसे होता है। यजुर्वेदमें ४० अध्याय हैं। उसका आधाभाग २०के अध्यायके अन्तमें समाप्त होता है। इस अध्यायके अन्तिम पद ये हैं- " जुषन्तां सोम्यं मधु "। यहां अन्तमें " उकार " है यही " उ " कार ओंकारका मध्य अक्षर है।

(३) सामवेदका अन्त " स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ओ३म् से हुआ है। इस तरह सामवेदका अन्त " म " कारसे हुआ है।

इस तरह तीन वेदसे " अ-उ-म् " ये तीन अक्षर सार-रूपसे लेकर ओंकार बना है। इसकारण इसको तीनों वेदोंका सार या सत्व कहते हे। तीनों वेदोंका अध्ययन करनेकी सूचना इस रीतिसे इस ओंकारसे मिलती है।

ओंकारमें " अ-उ-म् " के पश्चात् अर्धमात्राका उच्चारण है। वह अथर्ववेदका द्योतक है। इस रीतिसे ओंकार चारों वेदोंका द्योतक है। चारवेद मिलकर एक ही " पवित्र वेद " बनता है। " वेदका पढना, सुनना सुनाना आर्योका परम धर्म है। " इस नियमके साथ वेदके उपदेशको अपने आचरणमें लाना " भी अत्यन्त आवश्यक है। यह सब कर्तव्य ओंकार बता रहा है। ओंकारमें स्थित " अ-उ-म का अर्थ माण्डूक्य उपनिषद्में दिया गया है, वह साधकको अवश्य ध्यानमें धारण करने योग्य है।

' अ ' कार

अकार, उकार और मकारको जाग्रति-स्वप्न-सुषुप्ति का दर्शन मानकर बताया है कि यह मानवी जीवन का सूचक ओंकार है। मनुष्यका जीवन इन तीनअवस्थाओं में व्यतीत होता है। मनुष्य कुछ घंटे जागता है, कुछ समय उसका स्वप्नमें जाता है, और शेष सब समय उसका सुषुप्तिमें जाता है। इस तरह मनुष्यका जीवन इन तीन अवस्थाओंमें व्यतीत होता है। ये तीन अवस्थायें ओंकारके अकार-उकार-मकारसे दर्शायी हैं।

मनुष्यका जीवन ओंकारमय होना चाहिए।

ओं इत्येतदक्षरमिदं सर्वं।...भूतं भवद् भविष्य-दिति सर्वं ओंकार एव॥ माण्डूक्य-१.

" यह सब ओंकार है।... जो भूतकालमें था, जो वर्तमानकालमें है, और जो भविष्यकालमें होगा, वह सब ओंकार ही है। " अर्थात् यह सब विश्व ही ओंकारका रूप

है। अकार भूतकाल है, उकार वर्तमानकाल है और मकार भविष्यकाल है। साधक अपने जीवनमें ये तीनों अक्षर देखे और अपने जीवनके भूत, वर्तमान और भविष्यकालके जीवन विभागोंको अकार, उकार और मकाररूप बनानेका अनुष्ठान करे। यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिए, इस विषयमें इसी माण्डूक्य उपनिषद्‌ने कहा है, वह यहां अब लक्ष्यपूर्वक देखिए।

जागरितस्थानो... अकार... आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिश्च भवति॥ ९॥ स्वप्नस्थान... उकार...उत्कर्षात् उभयत्वाद्वा, उत्कर्षति ह वै ज्ञान-संततिं, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति॥ १०॥ सुषुप्त-स्थान . मकार ... मिनोति ह वा एतत्सर्वं अपी-तिश्च भवति॥ ११॥ (माण्डूक्य उप. ९.११)

जाग्रतावस्था बतानेवाला अकार है। इसमें प्रयत्न करके यह प्रथम स्थानमें होता है और सब कामनाओंको प्राप्त करता है। स्वप्न स्थानकी अवस्था बतानेवाला उकार है। इससे वह उत्कर्ष प्राप्त करता है, ज्ञानकी प्रगति सम्पादन करता है और इतनी उन्नति करता है कि इसके कुलमें ब्रह्मज्ञानी ही उत्पन्न होते हैं। सुषुप्ति स्थानकी स्थिति बतानेवाला मकार है। इस स्थितिमें वह सबको मिलता है, सिद्धि तक पहुंचता है।" यह है साधकको सिद्धि प्राप्त करनेका अनुष्ठान। यह किस रीतिसे किया जाता है, यह अब देखिए।

जाग्रतावस्थामें ऐसा यत्न करना योग्य है कि जिन प्रयत्नोंसे वह "आदि" बने अर्थात् प्रथम स्थानमें आजाए। जो कार्य वह करे, वह प्रथम स्थानमें विराजने योग्य बने। शिक्षक बनना है, तो प्रथम स्थानमें विराजनेवाला शिक्षक हो। जो भी कार्य वह करे, उसमें वह प्रथम रहे। जो प्रथम रहेगा, उसकी सब शुभ इच्छायें तृप्त होने योग्य उत्तम परिस्थिति उसको प्राप्त होगी।

द्वितीय अक्षर उकार है। यह उत्कर्ष और उन्नतिका दर्शक है। ज्ञान प्राप्त करके उत्कर्ष, उदय तथा उन्नति प्राप्त करनी है। ज्ञान इतनी उच्च अवस्था तक प्राप्त करना कि जिससे इसके कुलमें कोई अज्ञानी उत्पन्न न हो सके। ज्ञानसे अभ्युदय प्राप्त करनेकी सूचना यहां मिलती है।

तृतीय अक्षर मकार है। माननीय अवस्थाका दर्शक यह है। जो प्रथम स्थानमें विराजता है, जो ज्ञानसे उत्कर्ष प्राप्त करता है, वह सब स्थानोंमें माननीय होगा, इसमें क्या सन्देह है। वह सब नापता है और सिद्धि तक पहुंचता है।

जीवनमें ओंकारके तीनों अक्षर लानेका यह अर्थ है (१) प्रथम स्थानमें विराजमान होना, (२) ज्ञानसे अभ्युदय प्राप्त करना और (३) श्रेष्ठ सिद्धिको प्राप्त करना। संक्षेपसे यह है मानवी जीवनका कार्यक्रम जो ओंकारके तीन अक्षरोंसे सूचित होता है।

यह एक जीवनकी सात्विक महत्वाकांक्षा है। मनुष्यको अपने जीवनमें यह प्राप्त करनी चाहिए। इस विषयमें बहुत लिखने योग्य है। परन्तु इन तीन बातोंमें सब कुछ आ गया है। इस लिए अनुष्ठान करनेवालेकी दृष्टि इस ओर खींचकर हम आगे व्याहृतियोंसे जो अनुष्ठान सूचित होता है, वह देखेंगे—

व्याहृति

"व्याहृति" का अर्थ "गुप्त संकेतका शब्द" है। जो शब्द विशेष अर्थवान् है और विशेष गुप्त परन्तु महत्वका आशय बताता है, उसको "व्याहृति" कहते हैं। ये व्याहृतियां सात हैं। परन्तु इनमें तीन विशेष ही महत्वकी हैं। देखिए

मुख्य तीन व्याहृतियां

"भूः, भुवः, स्वः," ये तीन व्याहृतियां मुख्य समझी जाती हैं। इनसे जो बोध मिलता है, वह अब देखिए।

१–भूः (भू सत्तायां) अस्तित्व, अपनी स्थिति, ऊपर उठना, उत्पन्न होना, जीवित रहना, चलाना, सहायता करना, अभ्युदय प्राप्त करना ये मूल अर्थ हैं। अस्तित्वका भाव मुख्य है। पहिली मुख्य बात अपने अस्तित्वकी है। वह अपना अस्तित्व सुखसे रहना आवश्यक है।

स भूरित्येव ऋग्वेदस्य रसं आदत्त।

(जै. उ. १।१।३)

उस प्रजापतिने "भूः" यह ऋग्वेदका साररूपरस ग्रहण किया", अर्थात् ऋग्वेदका सार "भूः" है अर्थात् अपने अस्तित्वके लिए जिसकी आवश्यकता होती है, वह सब ऋग्वेदसे प्राप्त होता है

भूरिति वा अयं लोकः। तै.१।५।१

भूरिति वै प्राणः। तै. उप. १।५।३

पुरुषः, तस्य भूरिति शिरः। बृ. उ. ५।५।३

"भू का अर्थ भूमि है। भू का अर्थ प्राण है और मनुष्यका सिर भी भू का अर्थ है।" पृथिवी पर मनुष्य रहता है। पृथ्वीसे

+

उत्पन्न अन्न खाकर मनुष्य जीवित रहता है। उस मनुष्यका शरीर, सिर और प्राण इसीसे टिके रहते हैं। यह सब ' भूः ' से बोधित होता है। मानवके सुखमय जीवनके लिए जिसकी आवश्यकता है, वह सब भू है।

२-भुवः- (भुवोऽव कल्पने) भुवः का अर्थ कल्पना करना, ज्ञान प्राप्त करना। (भुवोऽवकल्कने) शुद्ध करना विचार करना, मिलाना। भुवः का अर्थ ज्ञान प्राप्त करके अपना जीवन परिशुद्ध बनाना, अपने अभ्युदयका विचार करना और अपनेमें शुभ भावोंको मिलाना।

भूः व्याहृतिसे अपना अस्तित्व टिकानेका बोध प्राप्त हुआ। वह अस्तित्व पत्थर जैसा नहीं, अपितु ज्ञानयुक्त अस्तित्व चाहिए, यह बात " भुवः " व्याहृतिने कही है। मनुष्यका अस्तित्व रहे, पर वह ज्ञानसे परिशुद्ध होता रहे। इसके कुछ वचन भी यहां देखिए—

" भुव इति यजुर्भ्यः। छां. उ. ४।१७।३
भुव इत्यन्तरिक्षम्।
भुव इति वायुः तै. उ. १।५।१
भुवोऽन्नम्। महाना. उ. ७।२

भुवः " यह व्याहृति यजुर्वेद-यज्ञवेदसे प्राप्त हुई है। कर्मयोगका बोध वह करती है। वायु और अन्न भी भुवका अर्थ है। अन्तरिक्षमें वायु गति करता है, मिलाता है, शुद्धता करता है। यही प्रगति, मिलाना और शुद्धि भुवः इस व्याहृतिसे बोधित होती है। अब " स्वः " का भाव देखिए –

३. " स्वः " (स्वर) = (स्व) अपना (र) गति, तेज, उष्णता, प्रेम, दान और समर्पण। अपना तेज, अपनी प्रगति, अपना सत्कार्यमें समर्पण, अपने हृदयमें प्रेम रखना इत्यादि अर्थ स्वरके हैं। अपना प्रकाश बढाना, अपने जीवन को तेजस्वी करना, अपने अभ्युदयके लिए यत्नवान् होना, अपना समर्पण करके जनता जनार्दनका हित करना, यह भाव इस व्याहृतिमें है। इसका अर्थ देखिए।

" स्वरिति प्रतिष्ठा। बृ. उ. ५।५।३।४
सुवरिति व्यानः। तै. उ. १।५।३
देवान् सुवर्यतः। श्वे. २।३
सुवरन्नम्। . महा ना. ७।१
तपसा ऋषय स्वरन्वविन्दन्। महाना. २२।१
सत्येन न सुवर्णाल्लोकाच्च्यवन्ते॥ महाना. २१।१

" स्वः " यह सबकी प्रतिष्ठा है। सबका आश्रय है। शरीरमें व्यापनेवाला प्राण स्व है। स्वः प्राप्त करनेसे देवोंकी प्राप्ति होती है। स्वः उत्तम अन्न है। तपसे ऋषियोंने स्वः को प्राप्त किया था। सत्यका पालन जो करते हैं वे सुवर्गलोकसे गिरते नहीं।

यह स्वः का महात्म्य है। सबका आश्रय स्वर् है। सब शरीरभरमें व्यापक होकर उसको चलानेवाला व्यान-प्राण " स्वर् " है। इस स्वरको प्राप्त करनेसे देवोंकी शक्ति प्राप्त होती है। तपसे अर्थात् श्रेष्ठ धर्मकार्य करनेमें जो कष्ट सहन करने पडते हैं, उनको सहन करनेसे इस स्वर्की प्राप्ति होती है। सत्यका पालन करनेसे यह स्वर प्राप्त होता है। स्वः की कल्पना इससे हो सकती है।

भूर्भुवः स्वः

" भूः, भुवः, स्वः " ये तीन व्याहृतियां मुख्य हैं। इनका जो स्पष्टीकरण उपर दिया है। उसका मुख्य तात्पर्य यह है कि (१) अपना अस्तित्व टिके, अल्पायुमें मृत्यु न आवे, (२) ज्ञान प्राप्त हो और अपनी शुद्धता अन्तर्बाह्य रीतिसे हो। (३) तथा अपना आत्मतेज बढे। "

यह संक्षेपसे इन तीन व्याहृतियोंसे मिलने वाला बोध है। गायत्रीका जप करनेवाला इसको अपने मनमें धारण करके जपके समय तथा पश्चात् इस बोधसे प्राप्त होनेवाला अपना कर्तव्य ध्यानमें धारण करे। इसको कभी न भूले। यह मानवी उन्नतिका साधन है।

ओंकार पूर्वक तीन व्याहृतियोंका उच्चारण करनेके पश्चात् गायत्रीमंत्रका जप किया जाता है। कई लोग सातों व्याहृतियोंको बोलकर गायत्रीमंत्र बोलते हैं। उनको सातों व्याहृतियोंका अर्थ समझाना चाहिए। इसलिए प्रथम शेषचार व्याहृतियोंका अर्थ देते हैं।

४- महः (महस्) महत्त्वकी प्राप्ति। जिसको प्रथमकी तीन व्याहृतियोंकी उद्देश्य प्राप्ति हो गई हो अर्थात् अपने अस्तित्व, ज्ञान, पवित्रता तथा आत्मप्रकाशकी प्राप्ति हो गई हो, उसे महत्त्व प्राप्त होनेमें सन्देह ही क्या है? इस महः के अर्थ ये हैं — (१) महत्ता, महोत्सव आनन्दोत्सव का समय, (२) यज्ञ, समर्पण, अर्पण (३) प्रकाश, तेज, ज्योति, (४) वेदमंत्र, स्तुतिके मंत्र (५) आनन्द, सुख

प्रसन्नता; (६) शक्ति, सामर्थ्य, बडापन (७) विपुलता बहुतायता (८) जल, जीवन, ये अर्थ इस व्याहृतिके है। ये सभी अर्थ महत्त्वका प्रकाश करते है।

महः के विषयमें उपनिषदादिमें ऐसा कहा है-
मह इति ब्रह्म। तै १।५।१।
मह इत्युपासीत, महान्भवति। तै. ३।१७।३

" महः " यह ब्रह्मका नाम है, क्योंकि ब्रह्म महान् है। " महः " की उपासना जो करता हैं, वह बडा होता है। महान् होना चाहिए, यह ' महः का सदेश है। इसके पश्चात् जनः नामक व्याहृति है।

जनः

'जनः' का अर्थ है जनन, प्रजनन, प्रजनन करना, उत्पन्न करना, ऊपर आना, उगना, जन्म लेना। मानव जाति। राष्ट्र जाति। महः के पश्चात् जनः का स्थान है "जन" से पूर्व "महः"का कथन महत्त्वपूर्ण है। यह कथन इस बात की ओर संकेत करता है कि मनुष्य स्वयं महान् होनेके बाद ही सन्तानोत्पादनका कार्य करें। महान पिता ही महान् पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ब्रह्म भी स्वय महान् होनेके बाद ही सृष्टि उत्पन्न करता है।

तपः

शीतोष्णसंहिष्णुता ही तप है। मनुष्यके जीवनमें सुख-दुःख, हानि-लाभ जय पराजय आदि द्वन्द्वभाव तो आया ही करते हे, उन्हें समभावसे सहन करना ही तप है। अथवा " श्रुतं तपः, सत्यं तपः, दानं तपो दमस्तपः " इस उपनिषद्वाक्यके अनुसार अध्ययन करना, सत्य बोलना, दान देना और जितेन्द्रियतासे जीवन यापन करना तप है।

सत्यं

सत्यका अर्थ है अविनाशी। यही अमरता है। तपःकी सीढीको पारकरके मनुष्य अपनी अन्तिम मंजिलपर जा पहुंचता है। सत्यकी प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य है। इस स्थितिपर आकर मनुष्य ब्रह्मरूप बन जाता है। ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। सत्यंकी स्थिति मोक्षकी स्थिति है।

इस प्रकार इन सात महाव्याहृतियोंका वर्णन है। गायत्री-मंत्रमें इन सभी व्याहृतियोंके अर्थका समावेश है।

गायत्रीका अर्थ

हम (सवितुः देवस्य) उस सविता देवके (तत् वरेण्यं भर्गः) उस ग्रहण करने योग्य शुद्ध तेजको (धीमहि) धारण करे या उस तेजका हम ध्यान करें, (यः नः धियः प्रचोदयात्) जो देव हमारी बुद्धियोंको उत्तम मार्गमें प्रेरित करे।

सविता देव सबका प्रसविता अर्थात् सबको उत्पन्न करने-वाला है। " सविता वै देवानां प्रसविता " सविता सभी देवोको भी उत्पन्न करता है। आधिदैविकक्षेत्रमें यह सविता परमात्मा है। वही सब सृष्टिका जनक है। वही सूर्य, चन्द्र, वायु, जल आदि देवोंको उत्पन्न करता है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें यह आत्मा चतुरादि इन्द्रियोंको उत्पन्न करती है। इसलिए चतुरादि देवोंको उत्पन्न करनेके कारण आत्मा भी सविता है। यह सविता देव हमारी बुद्धियोंका उत्तम मार्गमें प्रेरित करे।

इस गायत्रीमंत्रका नित्यप्रति अर्थ मननपूर्वक जप करनेसे हरतरह उन्नति होती है। यह माता है, जो मनुष्यका निर्माण करती है। यह गानेवालेकी रक्षा करती है। इसीलिए इसे गायत्री कहा गया है।

अद्वैतवाद व महर्षि महेशयोगी

(लेखक— श्री जगदीशमोहन मित्तल, एम. ए. बी. एड०)

अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तके मूल आधार ग्रंथ उपनिषद् हैं। उपनिषद् भारतीय दर्शनके अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रथ हें। इसमें ब्रह्मको ही सभी वस्तुओंका जनक माना है, ब्रह्मसे ही सबका जन्म होता है इसीसे जीवित रहते हैं और अन्तमें इसीमें लीन हो जाते हैं। यह अद्वैतका सिद्धान्त है, प्राचीन ऋषियोंने इसका उपदेश दिया था और उपनिषदोंमें इसकी घोषणा अहं ब्रह्मास्मि सर्व खल्विदं ब्रह्म कह कर की गई है। इसके अनुसार मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माके साथ एक रूप है, न केवल मनुष्यमें ही अपितु पशु पक्षी, वनस्पति जलवायु मिट्टी सभीमें एक ही ब्रह्म अथवा आत्मा माना गया है।

एक लम्बे समयकी उपेक्षाके बाद ८ वी शताब्दीमें आदि गुरु श्री शंकराचार्यने अद्वैत वाद अर्थात् इस सिद्धान्तका कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है, बहुत सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि सबसे सरल और सबसे गम्भीर सिद्धान्त है और साथ ही संस्कृति विज्ञानकी दुरूस्ताओंसे परे अन्तिम सत्य है। यह कोई नवीन या मौलिक सिद्धान्त नहीं था, कोई आध्यात्मिक उपदेश नया नहीं होता अगर यह नया हो तो यह सत्य नहीं होगा क्योंकि सत्य परिवर्तित नहीं होता है।

श्री शंकराचार्यने संसारको एक भ्रम तथा माया जाल बताया और उन्होंनें ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्याका मुहावरा संसारको दिया। उनके अनुसार सत्य केवल ब्रह्म ही है शेष सब कोरा माया है। शंकरका अद्वैतवाद संसारकी मान्यताको इन्कार नहीं करता बल्कि यह एकतामें अनेकताके दर्शन करता है जिस प्रकार अंगुठी, गलहार बाजूबन्द जेवरात आदि अपना अपना अलग अलग महत्त्व व नाम रखते हुए भी उन्हें केवल सोनेके नामसे पुकारा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार हम तुलनात्मक संसारमें अनेकताको उचित महत्त्व देते हुए भी ब्रह्मरूपी एकताके दर्शन ध्यान प्रणाली द्वारा कर सकते हें। शंकराचार्यका उपदेश था कि हम अपने दैनिक जीवनमें नियमित रूपसे ध्यान प्रणालीके द्वारा पुनः पुनः आत्मामें स्थित होकर अपने दैनिक जीवको सुचारु रूपसे चलाने हेतु शक्ति सचित करते रहें। महर्षि योगी महेश लिखते है कि—

" Shankara restored the wisdom of the absolute and established it in the daily life of the people, strengthening the field of thought and action by the power of being. He brought the message of fulfilment through direct realisation of Transcendental Being in the state of self consciousness which is the basis of all good in life.

लेकिन श्री शंकराचार्यके उत्तराधिकारियोंकी पुन. पुनः आत्म स्थित होकर शक्ति संचयका सिद्धान्त समझमें नहीं आया और उन लोगोंने संसारको मिथ्या समझते हुए वैराग्य और साधुवाद पर अधिक जोर दिया जिसकी वजहसे जन साधारणके लिए ब्रह्म प्राप्तिका साधन खतमसा हो गया और यह समझाजाने लगा कि ईश्वर या ब्रह्मको वही प्राप्त कर सकता है जो संसारके सब पदार्थोंको हैय समझकर छोड दें और वनको चल दें। महर्षि महेश योगी लिखते हें कि—

Mis understanding itself has taken the shaps of a tradition unfortunately as Shankara's tradition came to be regarded Mayavad, a philosophy of illusion, holding the workd to be illusory only and emphasising the detached way of life. And case to be interpreted, as for recluse alone. The

whole basis of India Culture also began to be considered the recluse way of life, founded on renunciation and detachment.

हम मानवजीवनकी तुलना एक हरे भरे वृक्षसे कर सकते हे जिस प्रकार वृक्षका कुछ भाग जमीनके अन्दर रहनेसे अदृश्य रहते हुए भी पेडको सुख व समृद्धिके लिए अति आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्म, वृक्षकी जडकी तरह मानव-जीवनका वह हिस्सा है जिससे कि मानवजीवन फल-फूल सकता है यदि हम उसमें अपने आपको उसमें समय समयपर स्थित करके अपने बाहरी जीवनके लिए शक्ति संचय करते रहें। महर्षि महेशयोगीके अनुसार—

Understanding of unity of life cannot be significant until one has thoroughly understand by direct experience that one's inner divine nature is seperate from the world of action . If a man has not gained consciousness in Being through the practice of transcendental meditation, he continues to live in ignorance and bondage because he has not yet opened himself to the experience of the separateness of the divine from the world, the thought of unity has no practical use for him. He has nothing to unite... those who try to follow the path of intellectual realisation through reading books, remaining the field of mood-making, without the joy of bliss-consciousness, the main blessing of the realisation of God.

जब तक व्यक्ति अहंकी वास्तविकतामें विश्वास करता है उसे अपनेसे बहार एक विश्व तथा अपने उपर एक भगवानकी वास्तविकतामें विश्वास करना ही पडेगा वनमें जाकर ब्रह्म प्राप्तिके लिए कठोर तपस्या करना अहंको खत्म करनेके बजाय और अधिक बढा देता है क्योंकि अविद्या मायाके मोह रूपी रिपु द्वारा उत्पन्न प्रभावसे मनुष्यकी भावना उसके मन को चंचल कर देती है और प्रगति रुद्ध हो जाती है।

ऐसा कहना कि जो लोग संसार त्याग कर सकते है वे मानसिक क्लेश उद्वेगका अतिक्रमण कर जाते हैं सर्वथा गलत है क्योंकि वे लोग जो अविद्या मायाके प्रभावको ही अतिक्रमण कर गये हं उनके लिए तो संसारमें रहना और वनमें जाना तो एक ही समान है क्योंकि यह उद्देश्य ही यदि सिद्ध हो गया तो वनमें जाकर कठोर तपस्या पूर्ण जीवन यापन और संसारमें रहना स्वभाविक जीवन यापन इन दोनोमेंसे किसीसे भी वे अभिभूत नहीं होंगे। इसके अलावा ब्रह्म-प्राप्तिके लिए एक जगहको अनुकूल व अच्छा और दूसरी जगहको मंद या प्रतिकूल समजनेका अर्थ हुआ ब्रह्मकी समालोचना करना। महेश योगीके अनुसार जबसे त्याग और वैराग्य ज्ञान निष्ठाके मूल और आधारभूत सिद्धान्त माने जाने लगे वेदान्त सिद्धान्त विचाराधिन समझा जाने लगा, ब्रह्मके नित्यत्वकी अनुभूतिका पक्ष धूमिल पड गया।

वे लिखते हें कि :

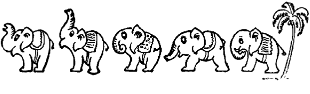
Since they followed the reclusive way of life....... the teaching became one sided and deprived of its wholeness, eventually lost its universal appeal......... Life on the basis of detachment ? this is a complete distortion of Indian Philosophy. It has not only destroyed the path of realization, but has left man without the possibility of even finding the goal, instead of directly helping people to gain conciousness and act rightly on that basis, religions teachers begin to teach that right action is itself a way to purfication and there by to God conciousness...... Interpretations on the Bhagvat Gita and other Indian scriptures are so full of the idea of renunciation that they are regarded with distrust by practical men in every part of the world. Many Western Universities hesitate to teach Indian philosophy for this reason. The responsibility for the loss of truth to the whole lies with the interpreters of Sankaracharya's teaching, missing the essence of his wisdom, they have been unable to save the world from falling even deeper into ignorance and sufferings.

जबसे हम लोंगोने उचित कार्य करने हेतु उचित विचारों को प्रधानता दी है तबसे ही ज्ञानके क्षेत्रमें वृत्ति बनानेका उद्भव चालू हो गया। चूंकि बिना परात्पर ब्रह्मसे सयुक्त हुए मन योग निष्ठ नहीं हो सकता चूंकि वृत्ति बनानेमें मनुष्य बेखरी तथा मध्यमा और पश्यन्तिमें ही विचरण करता रहता है परन्तु शुद्ध चेतनका अनुभव करनेके लिए हमें परा तक पहुंचना पडता है। महर्षि रमण लिखते हे कि " लोगोंने शंकराचार्यके मायाके दर्शनके अर्थको समझे बिना उसकी आलोचना की है उसने तीन स्थापनायें की है। ब्रह्म वास्तविक है, विश्व अवास्तविक हे और ब्रह्म विश्व है। वह दूसरी स्थापनाके साथ ही नहीं रुक गये। तीसरी स्थापना पहले दो की व्यवस्था करती है। यह घोषित करती है कि जब विश्वको ब्रह्मको अलग करके देखा जाता है जब यह दर्शन असत्य और मायावी होता है इसका अभिप्राय यह है कि जब घटनाओंको आत्म रूपसे अनुभव किया जाता है वह वास्तविक होता है और जब आत्मासे पृथक करके उन्हें देखा जाता है तब वह मायावी होता है।

महेश योगीके अनुसार जिस प्रकार हम स्थूल संसारमें बाहरी प्रत्यक्ष परिवर्तन होता देख कर हम यह माना करते हे कि संसार असत्य या माया है ठीक उसी प्रकार हमें अपने अन्तःस्थलमें भावतीत प्रणाली द्वारा शुद्ध चित्त आत्मासे स्थित होकर उसकी सत्यताका प्रत्यक्ष अनुभव करना होगा। तत्पश्चात वह स्वतः ही बेखरीके क्षेत्रमें अपने आपको व्यक्त करेगा और उपनिषदका मूल सिद्धान्त, मं तू, वह, सब एक है या पूर्णः मदःपूर्णः। " I am That, Thou art That and all this is That's remained fanci ful mood without the actual cogni-tion of the ultimate " के सिद्धान्तको हम अंगिकर कर सकेंगें। अविद्या मायाके हाथसे छुटकारा पानेका एक मात्रउपाय भावातीत ध्यान प्रणालीको संसारिक जीवनका एक अंग समझकर आसानीसे किया जाता है जिसका परिणाम महेश योगी इन शब्दोंमें बताते हे,

'...He enjoys the world more on all levell while enjoying the Divine The individnas enjoys the world to the maximum, because the nature of the mind is now bliss-conscious and the bliss conscious is the basis of all his experience and activity ...The bliss conscious of absolute being and the relative joys in the variety of creation should be lived simultaneously. The way to eternal freedom is alone the way to success in the world and key to it is the regular practice of Transcendental Meditation- a way far from recluse one. '

That is why Maharishi Mahesh Yogi claimed to the correspondents that he is the first man to make a correct interpre-tation of the Adi Shankracharaya's Monistic philosophy.



जीवनोपयोगिनी सात मर्यादाएँ

(लेखक— श्री भैरवदत्त शुक्ल)

[गताङ्कसे आगे]

(६) ब्रह्महत्या न करना— ' ब्रह्महत्या ' बहुत भयंकर पाप है । ' ब्रह्म'का अर्थ है 'विराट् तत्त्व ' जिसके जाननेके उपादानोंमें ईश्वरकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना, स्वाध्याय, मननचिन्तन, तद्वत्-आचरण आदिकी गणना की गयी है और दूसरा अर्थ है स्तुतिकर्ता, प्रार्थना करनेवाला, उपासक, स्वाध्यायशील मननकर्ता, चिन्तक और मन-वचन-कर्मसे पवित्र व्यक्ति जिसके हृदयमें कलह-असूया, ईर्ष्या-द्वेष, मद-मत्सर आदि अवगुणोंके लिए कोई स्थान नहीं होता। उसे ही साधारण वाणीमें ' ब्राह्मण ' कहते हैं। आजकल ' जन्मना ब्राह्मण ' की तो प्रायः अधोगति हो ही चुकी है किन्तु ' जन्मना-कर्मणा ' और केवल ' कर्मणा ' ब्राह्मणोंकी भी हालत खस्ता है ।

समाजके उत्थानमें ज्ञान-विज्ञानकी महत्ता निर्विवाद है। बिना शिक्षा,विद्या या उत्तमोत्तम चरित्र-निर्माणके साधक—ज्ञान विज्ञानके, समाजमें पशु-प्रवृत्तियाँ भले ही पनपती रहें किन्तु सहयोग, व्यवस्था, शांति, प्रीति, मैत्री, आदि मानवीय और देवोपम गुण नहीं उभर सकते । इसीलिए ' वेद ' में स्पष्ट कर दिया गया कि ' ब्रह्महत्या ' मत करो।

उपर्युक्त ' ब्रह्म ' विषयक दोनों अर्थोंके आधार पर ' ब्रह्महत्या ' दो कोटिकी होती हैं—

(क) आन्तरिक ब्रह्महत्या और (ख) बाह्य ब्रह्महत्या

जिस समाजमें ' ब्रह्महत्या ' होती है, वह धीरे-धीरे विनाश दुरापगाके कलुष-प्रवाहमें बहता ही चला जाता है। संसारकी कोई भी शक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकती। धन-वैभवके अनन्त और अगणित उपादान उसके सुदृढ संबल नहीं बन सकते । सांसारिक विकासकी बेतहाशा दौड और होडमें वह आगे निकल जाना तो दूर रहा, भले विकसित राष्ट्रोंके समाजका अनुगामी बननेमें भी विफल और असमर्थ हो जाता है। वर्तमान समयमें हम भारतीय अपने पूर्वजोंकी संचित कमाई पर ही जीवित बने हुए हैं। अन्यथा हम लोगों जैसे ब्रह्महत्यारे न तो अमेरिका जैसे घोर भौतिकवादी देशोंमें पाये जाते हैं और सोवियत रूस जैसे तथा कथित नास्तिक जडवादी राष्ट्रोंमे उपलब्ध हो सकते हैं ।

(क) आन्तरिक ब्रह्महत्या— हमने अपने जीवनमें जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त आन्तरिक ब्रह्महत्याका पाप करनेका बीडा उठा लिया है। हम परम प्रभुकी स्तुति प्रार्थना या उपासनासे हमेशा दूर रहते हैं। यदि हमारे घरमें लक्ष्मीका फेरा नहीं लगा है, तब तो हमें ईश्वरका नाम लेनेकी फुरसत ही नहीं मिलती और यदि कहीं उलूकवाहिनी चंचलादेवीकी दया हो गयी है, तब तो निन्नानवेके फेरमें सांस ही लेना मुश्किल हो जाता है। ईश्वरका नाम कैसे लिया जाय। पहिली स्थितिमें हम अपने साथियोंमें गांजेकी दम लगाकर तंबाकू मल-रगडकर, नीचेकी ओठमें दबाकर या ताडी-दारुमें धुत होकर गाली-गलौजका अखण्ड पारायण कर सकते हैं; पर ईश्वरकी याद नहीं कर सकते। दूसरी स्थितिमें हम क्लबोंमें बैठकर हजारोंकी बाजी लगानेंका अवसर निकाल सकते हैं; मगर ईश्वरके दो अक्षर जबान पर नहीं ला सकते। मंदिर-देवालय बनवाकर और उसमें पुजारी लगवा कर, जब हमारी आस्तिकताकी रस्म पूरी हो जाती है तो फिर खुद ईश्वरका नाम क्यों लें ? जहां तक स्वाध्यायकी बात है, वह केवल भौतिक विज्ञानकी प्रयोगशालाओं, विश्व विद्यालयके अध्यापन केन्द्रों या सिरफिरे, बहके मुट्ठीभर लोगोंकी सीमामें एकांगी रूपसे सिमटकर रह गया है। शेष भारतके कोटि-कोटि किशोर, युवक, तरुण, अर्द्धवयस्क और वृद्धजनों द्वारा उसे बहिष्कारका दंड दिया जा चुका है। इसीलिए मौलिकताका अभाव हो गया है। कोई भी नयी सूझ खोज या, उडान किसी भी क्षेत्रमें नहीं दिखायी पडती। ऐसा हमारा ब्रह्म-

हत्यारा भारतीयसमाज औरोंके सहारे आखिर पांचसाल, दसताल... दोसौ साल...कबतक जीवित रह सकेगा ?

(ख) बाह्य ब्रह्महत्या– बाह्य ब्रह्महत्या करनेमें भी हम भारतीयोंका प्रतिमान बहुत ऊंचा हो गया है । वहांतक संसारका कोई भी सभ्य या असभ्य राष्ट्र नहीं पहुंच सकता। प्रायः ' जन्मना ब्राह्मण ' तो अपने अधोगामी आचरणके कारण कब के प्रतिष्ठाच्युत होकर या तो भोजन पकानेवाले रसोइए बन गये हैं या पानी पिलानेवाले ' पानी पांडे ' कहलाने लगे हैं । रहे ' जन्मना-कर्मणा ' और केवल ' कर्मणा ' ब्राह्मण जिनका प्रतिनिधित्व आजके अध्यापक, विचारक, संन्यासी, धर्मप्रचारक, मठाधीश, महन्त और उपदेशक करते हैं; उनकी दशा और भी गयी-गुजरी है। इन सबमें ' ब्राह्मण ' की मर्यादाके बहुत कुछ धारक अध्यापकों या शिक्षकोंकी गणना की जानी चाहिए । उनकी हमारे देश और समाजमें रंचमात्र भी प्रतिष्ठा नहीं रह गयी है । शिक्षाका मूलाधार जहांसे प्रारंभ होता है, उस केन्द्र-बिन्दु प्रारंभिक शिक्षाका दायित्व वहन करनेवाले श्रद्धेय अध्यापक दर-दर पर अपने पेटके भरनेके लिए हाथ फैलाये फिर रहे है । उनसे अधिक आय और प्रतिष्ठा तो पाखानेके ढोनेवाले या सडक साफ करनेवाले मेहतरकी भी समझी जाती है । इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि मेहतरकी समाजमें प्रतिष्ठा ही न हो । उसकी प्रतिष्ठा हो अवश्य हो पर समाजके मेरु दंड अध्यापककी भी प्रतिष्ठा होनी चाहिए । उसे भी समाजमें सम्मान दिया जाना चाहिए । परन्तु हमारे देशमें इस समय उल्टी गंगा बह रही है। यहां तो विश्व विद्यालयके अध्यापकसे अधिक प्रतिष्ठा और आय पुलिसथानेके मुंशी, किसी कार्यालय के क्लर्क या अदालतके पेशकारकी होती है । अपवादस्वरूपमें विश्वविद्यालयों, कुछ संपन्न डिग्री कालेजों और कुछ प्राइवेट शिक्षा-संस्थाओंको छोडकर, सभी शिक्षा-संस्थाओंके शिक्षक उस वर्गमें आते हैं जिसकी तनख्वाह दो-दो मास न निकलना एक सामान्य परंपरा बन गयी है और अधिकतर तो सात-आठ मास यहां तक कि साल डेढ सालकी अवधि बीत जाने पर भी उन्हें वेतन नहीं मिल पाता । यही नहीं, पुलिसके सिपाहीकी लाल पगडी गांव या मोहल्लेसे कुछ निःशुल्क सुविधाएं लकडी सब्जी. आदि भी प्राप्त कर सकती है पर हमारा अध्यापक ट्यूशनकी मेहनतका पूरा मेहनताना भी ठीक समयपर नहीं पा सकता ।

इसके अतिरिक्त, उसे जिला परिषदोंके अध्यक्षों, शिक्षा संस्थाओंके प्रबंधकों और विद्यालय निरीक्षकोंकी घुडकियां सहना भी आवश्यक हो गया है । यही नहीं, उसे प्रशिक्षित अप्रशिक्षित, स्थायी अस्थायी आदि विभिन्न सीमा रेखाओंमें बांधकर उसके भरण पोषणकी भी कई कोटियां बनायी गयी हैं । कोई स्थायी अध्यापक दो-तीन सदस्योंका छोटा परिवार रखने पर भी अधिक वेतन पाता है और अस्थायी अध्यापक दस-बारह सदस्योंके परिवार वाला होकर भी कम वेतन । मेरे कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि अध्यापकके लिए वे सभी नियम परंपराएँ और प्रणालियां निर्मित की गयी हैं जिनसे कि उसका सम्मान, उसकी मर्यादा और उसका आत्म गौरव धूलमें मिल जाता है ।

फल यह हुआ है कि भूखा-प्यासा, थका-हारा, प्रिय सम्मान गौरव-च्युत और पद-दलित उपेक्षित रूपमें हमारा अध्यापक और जड हो चुका है । एक बहुत बडे राष्ट्रीय चरित्र निर्माता वर्गका समाजमें इस प्रकार पद-दलित होना भयंकर अक्षम्य ब्रह्महत्याका बोधक है । हम भारतीय ब्रह्म-हत्या की इस दुष्कृत्यका कुफल प्रत्यक्ष हो भुगतना पड रहा है । हम एक उत्तरदायी वर्गको तो दबाने हैरान करनेवाली परंपराएँ बनाये रख कर अनुशासनके नाम पर परेशान और पीडित किये दे रहे हैं पर उसके बदले सारे देशमें उमडती हुई अनुशासन-हीनता, स्वेच्छाचारिता और विस्फोटक दुरवस्थाका लघुतम अंश भी मिटाने में असमर्थताके प्रमाणपत्र देते रहते हैं । यही है ब्रह्महत्याका बुरा परिणाम जो सावधानीके अभावमें भस्मासुर सा उभर कर हमारे जीवन्त मूल्यों के अवशिष्ट बीजों का भी समग्रतः विनाश कर डालेगा ।

ब्रह्महत्या संबद्ध इस मर्यादाके पालनकी आजकल जितनी आवश्यकता है, संभवतः उतनी कभी किसी भी युगमें नहीं रही थी । इस तथ्यकी महत्ता भली-भांतिसे हृदयंगम करनेकी महती अपेक्षा है ।

(७) कुकर्म करके उसके छिपानेके लिए असत्य न बोलना— यह अंतिम सातवीं मर्यादा है । इसका अर्थ इतना ही है कि हममें असावधानीवश किये गये कुकर्मोंको स्वीकार करनेका मानवीय साहस होना चाहिए ।

संसारकी समस्याओंका बहुत बडा भाग केवल इसीलिए हल नहीं होता कि लोग खुलकर अपने किये गये कुकर्मोंको

स्वीकार करना तो दूर रहा, उन्हें छिपानेके लिए एडी-चोटीका पसीना एक कर देते हैं। वेदमें इस बातका स्पष्ट निषेध किया गया है। जबतक इस वैदिक निषेधका परिपालन किया गया, तबतक भारतमें सुख और सन्तोषकी एक मात्र सत्ता बनी रही और ज्यों ही वह कुकर्मोंके छिपानेमें उलझ गया त्यों ही उसे पराधीनताकी बेडियां पहिननेके लिए विवश होना पडा। आज भी स्वतंत्रताकी शाश्वत ज्योतिकी किरणें मध्यम और कलुषमयी केवल इसीलिए हैं कि हमारा सामाजिक, राजनैतिक, कानूनी और धार्मिक जीवन इसी दोषसे परिपूर्ण है कि सर्वत्र कुकर्म, त्रुटि या दोषके छिपानेमें ही आकाश-पातालके कुलावे एकमें मिलानेके उपक्रम किये जाते हैं। अभी समय ही कितना बीता है? समाचार पत्रोंके पुराने स्तंभ मेरे इस कथनके प्रमाणमें सहस्रों तथ्य उपस्थित कर देंगे।

वर्तमान युगमें तो इस दोष या मर्यादोल्लंघनको विशेष गुण समझा जाता है। व्यक्ति जितना ही इस दोषमें प्रवीण होता है, उतना ही शीघ्र सफलता उसका चरण चुंबन करती है, संपदा आरती उतारती है और सरस्वतीके वरद पुत्र उसकी प्रशस्तिमें यशोगान गाते हैं। इसके विपरीत इस मर्यादाका पालक समाजसे बहिष्कृत, साधन-संबल विहीन होकर दर-दरका भिखारी या असामाजिक कार्योंका कर्ता बन जानेके लिए मजबूर हो जाता है। परन्तु यह गलत है। इससे पतनका पथ विस्तृत होता जायगा। हमें इस बुरी हानिप्रद और सर्वाधिक व्यापक परंपरा पर रोक लगानेके लिए बद्ध-परिकर होना है। वैदिक परंपरा पर अनन्य आस्था और अविचल विश्वास रखनेवाले भारतीयोंका यह पुनित दायित्व है कि इस मर्यादाका उल्लंघन करते युग प्रवाहको मोडे। अन्यथा हम कहींके न रहेंगे।

उपर्युक्त विवेचनसे अधिक न सही, पर हां, जीवनोपयोगिनी सात मर्यादाओंकी वर्तमान परिप्रेक्ष्यमें हल्की सी झांकी मिल गयी होगी। किन्तु, मेरा अपना विनम्र अभिमत है कि इन सात मर्यादाओंके परिपालनके लिए जिन शाश्वत मर्यादाओंका सहारा लेना बहुत आवश्यक और अनिवार्य है, उनपर भी हमें विचार करना चाहिए।

यदि हम चाहते हैं, कि देश, समाज, राष्ट्र और राज्यका विगत गौरव फिरसे लौट आये तो हमें उन शाश्वत मर्यादाओंका पल्ला पकडना ही होगा जो निम्न लिखित रूपमें विवेचित हो रही हैं—

(१) परम प्रभुकी सत्ता स्वीकार करना—हम धन, गुण, बल या विद्यासे संपन्न होकर, अपनेको ही सब कुछ समझनेका दंभ पाल लेते हैं। फल यह होता है कि हमें किसी प्रकारका भी नियंत्रण स्वीकार करना असह्य मालूम पडता है। वर्तमान संसारकी भयंकर प्रतिस्पर्धाके मूलमें इसी दंभका बहुत बडा हाथ है। इसका उन्मूलन तभी हो सकता है जब कि मन, वचन, कर्मके सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षोंके साथ ईश्वरको ही सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्व नियन्ता और सर्वाधार रूपमें स्वीकार करनेका प्रयास किया जाय।

(२) आत्माको पहिचानना—इसका सीधा आशय यही है कि अपनेको या अपनी अंतर्निहित शक्तियोंके समग्र पुंजका परिचय प्राप्त किया जाये। जो व्यक्ति केवल आसमानके सितारोंके तोडनेके चक्करमें रहते हैं या आहार, निद्रा, भय, मैथुन प्रभृति पशु प्रवृत्तियोंसे ऊपर उठना असंभव समझते हैं, उन्हें 'आत्म तत्व' का बोध हो ही नहीं सकता।

वर्तमानयुगमें पशु-प्रवृत्तियोंमें ही सारे संसारके तथा कथित सभ्यक्षेत्र उलझे हुए हैं। अतएव सर्वाधिक उन्नत देशोंमें आत्महत्याका रोग महामारीकी भांति उमडता चला आ रहा है। यह तभी रुक सकेगा जब कि लोग आत्माके विविध आवरणों, सोपानों और अंतर्निहित शक्तियोंको इस आधारपर कि 'यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे' समझनेका प्रयत्न करें। इसके लिए मानसिक वातावरण बदलना पडेगा।

(३) प्रकृतिसे परिचित होना—हम चाहे परमप्रभुके महान् आध्यात्मिक स्वरूपकी ओर ऊर्ध्व संचरण करें या मानसिक वातावरण बदलतेहुए आत्माके सूक्ष्माति सूक्ष्म और स्थूलातिस्थूल कोषोंके रमणकी इच्छा करें; दोनों स्थितियोंमें हमें किसी न किसी धरातलपर टिकना अनिवार्य होगा। इस दृष्टिसे 'प्रकृति' से बढिया अन्य कोई धरातल मिल ही नहीं सकता। यह सच है कि 'प्रकृति' जड है पर उसीको बुनियाद बनाकर, चेतन आत्माके उत्तम उपवनमें भ्रमण करते हुए ही, आनन्दस्वरूप प्रभुका साक्षात्कार किया जा सकता है। दूसरे शब्दोंमें 'सत्' पर पैर टिकाकर 'चित्' की मनोभूमिकाओंमें रमण करके ही, आनन्दतत्त्वकी उपलब्धिके

+

अनंतर ' सच्चिदानंद ' स्वामीकी शक्तिकी हमत्ताका आभास हो सकता है।

बिना उपर्युक्त शाश्वत मर्यादा-त्रयीका पल्ला पकडे, हम संसारमें विश्वअकूल शक्तियोंके भंडार नहीं बन सकते। संसारके हृदयपर शासन करनेके इच्छुक लोगोंको इस 'त्रयी का अवलम्बन लेना ही पडेगा।

(४) आश्रम-चतुष्टय अंगीकार करना- जन्मसे लेकर आयुके अंतिम क्षणोंतक सफल और सुखी जीवन बनाये रखनेकी पद्धति ही चार आश्रमोंकी व्यवस्था है। वेदोंमें वर्णित तथा समस्त आस्तिक साहित्यमें प्रशंसित इस व्यवस्थाके आधारपर ही भारतमें भीष्मपितामह जैसे महापुरुष हुए जिन्हें शर-शय्या पुष्पास्तरणसे भी अधिक कोमल प्रतीत हुई। इसीका संबल लेकर दीर्घायु भारतीय व्यक्तियोंके वर्णन आज कलके वैज्ञानिक उन्नत हस्तियोंकी बुद्धिको आश्चर्यान्वित कर देते हैं।

वास्तवमें यह जीवनावधिके कर्म रत नये-तुले प्रवाहकी वह संयमित अजस्र धवलधारा है। जिसमें या तो कलुष होता ही नहीं या यदि कलुष आ भी गया तो वह ठहर नहीं सकता। यह तो साधारणसे साधारण भारतीय व्यक्तिकोभी ज्ञात है कि आश्रम-चतुष्टयमें व्यक्तिकी आयु अवधी कमसे कम शताब्दिका स्वीकार की गयी है जिसे चार भागोंमें बांटा गया है—

(क) ब्रह्मचर्याश्रम- जन्मसे लेकर पच्चीस वर्ष तक की अवधिका है। यह जीवनका वह स्वर्णिम प्रभात है जिसकी प्राणदायिनी अवस्थितिके लिए ज्ञान-भास्करकी राशि-राशि रश्मियोंके पुंजीभूत पवित्र आलोककी अपेक्षा आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य होती है। यह आगेके जीवनको त्यागमय, अभ्युदयोन्मुख लोकोपकारी, युग-निर्माता जीवनकी तैयारीकी अवधि है। इसमें संसारका समस्तज्ञान संचित करनेकी अदम्य साध लेकर बटु अल्पाति अल्प जीवन-रक्षक साधनोंपर सामाजिक रूपसे निर्भर रहते हुए गुरुकुलके प्राकृतिक वातावरणमें कुलपतिके चरणोंके पास बैठकर ज्ञान-तप, साधनाकी कसौटीपर कसकर खरा निकला करता था। आजकल वह बात तो नहीं रही फिर भी उसके भग्नावशेष येन केन प्रकारेण सीमित समयमें संपादित विद्यार्थी-जीवनमें दिखाई पड जाते हैं। यदि कहीं हम फिर वैदिक परंपराकी ओर थोडा-सा मुड पाते तो कितना अच्छा होता।

(ख) गृहस्थाश्रम- पच्चीस वर्षकी वयसे लेकर पचास वर्षकी वय तक व्यक्ति गृहस्थ बनकर रहता है। वस्तुतः यह अवधि सारे समाजकी रीढकी हड्डी है। इसीपर ब्रह्मचर्य तथा बादके अन्य दोनों आश्रम निर्भर हैं। यह तो कभी समय और प्रसंग आनेपर हम अलगसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न करेंगे कि वेदमें इस आश्रमका कितना, कैसा और क्यों वर्णन किया गया है ? यदि ब्रह्मचर्यमें गडबडी रही है तो गृहस्थाश्रमका गुरुतम भार व्यक्तिके अशक्त कंधोंपर हानिकी ही छाया डाल सकेगा; उत्साह और आनंदका मधुमय उत्स उससे दूर हो रहेगा। वर्तमान समयमें हम भारतका गृहस्थ जीवन देख कर शर्मसे पानी-पानी हो जाते हैं। पतन, विशृं-खलता तथा द्वंद्व से अभिभूत होनेके कारण उसकी स्थिति क्षय-ग्रस्त है।

(ग) वानप्रस्थाश्रम- यह आश्रम पचास वर्षसे पचहत्तर वर्षके बीचकी अवधिका माना गया है। वास्तव यही वह अवधि है जिसमें अधिकारोंकी स्पर्द्धाप्रतिस्पर्द्धाके उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है। पुरानी पीढी और नयी पीढीके टकरावका यही समय है। वेदका संकेत मानकर भारतीय मनीषियोंने इस आश्रमका व्यावहारिक उपयोग करके आधीसे भी अधिक सामाजिक समस्यायोंका जाल-जाल चुटकी बजातेमें हल कर लिया था। आजकल इस आश्रमके छोड देनेका दुष्परिणाम यह निकला है कि पिता-पुत्र चाचा - भतीजे, भाई-भाई और भाई-बहिनके बीच पारस्परिक मनोमालिन्य, पार्थक्य और कलहका भयंकर वातावरण बन गया है जिसे दूर करनेमें सभी आधुनिक पद्धतियां पंगु प्रतीत होती हैं। इस आश्रमकी उपादेयता पर देर-सबेर हमें विचार करना ही पडेगा।

(घ) संन्यासाश्रम-पचहत्तर वर्षसे सौ वर्षतककी अवधि सांसारिक कार्यव्यापार और कर्मकाण्ड संबन्धादिसे पूर्णतया मुक्त होकर, सारे संसारके उपकार और विभिन्न संघर्षोंके निराकरणमें खपा देनेकी है। इस आश्रममें वही व्यक्ति सफल हो सकते हैं जो उपर्युक्त तीनों सोपान भली भांतीसे लांघकर आये हों।

यह आश्रम-चतुष्टय अपनालेनेसे सरकारकी ओरसे वृद्धता के पेंशन आदिकी व्यवस्था करनेकी झंझटसे छुटकारा मिल जाता है और व्यक्तिका आत्मगौरव नौकरशाहीका आखेट बनकर टूट नहीं सकता। इसीलिए इस शाश्वत मर्यादाका

उल्लंघन करना बहुत ही खतरनाक है। हम भारतीय धीरे-धीरे इसका उल्लंघन करनेसे ही योरोपीय कुप्रथाओंके अनजाने रूपसे अनुचर बनने जैसा जघन्य अपराध करने लगे हैं जिसका कुफल भी विफलताके रूपमें हमारे उत्साह-भंगकी सूचना देने लगा है।

(५) वर्ण-चतुष्टयकी महत्ता मानना–युगके आधुनिक मोर्डोंके सामने यह प्रतिपादित करना कि वर्ण-चतुष्टय अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र– कर्म पर आधृत श्रम-विभाजनके सौकर्यके लिए, समाजके व्यक्तियोंका चतुर्धा विभाजन अनिवार्य और आवश्यक है, बड़ा ही कठिन है। फिर भी, हमारे देशमें वेदका संबल लेकर, यह विभाजन स्वीकार करके जो आशातीत सफलता प्राप्त की गयी, उसे कोई भी निष्पक्ष इतिहासकार 'नकार' नहीं सकता। जो इतिहासको तोड-मरोडकर, एकांगी पूर्वाग्रह पर आधारित करनेके अभ्यस्त हैं, यदि वे भी ठंडे दिलसे सोचें तो उन्हें प्रतीत होगा कि नाम भले बदले हों पर संसारमें कोई ऐसा देश नहीं है जिसमें समाजका यह चतुर्धा विभाजन माना न गया हो। आजका स्वतंत्र भारत भी इसका अपवाद नहीं है। प्रत्येक देशमें शिक्षक, रक्षक, व्यापारी कृषक और सेवक-नोकर सदैव रहे हैं और आगे भी रहेंगे। उन्हें ही हम क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामसे पुकार सकते हैं।

हां, वैदिक वर्ण-चतुष्टय और वर्तमान व्यवस्थाके वर्गोंमें एक बहुत बडा अंतर यह है कि—

(क) 'वर्ण' का आधार 'वरण'-स्वेच्छया वरण करना या मान लेना है और उसमें वेतन या भरण-पोषणके लिए सरकारी आश्रमकी रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं पडती; जब कि वर्तमान वर्गोंके लिए सरकारका मुखापेक्षी बनना जरूरी है।

(ख) वर्णोंके पारस्परिक व्यवहारका आधार सहयोग और प्रेम है जब कि आधुनिक वर्गोंकी कार्य-प्रणालीमें संघर्ष और घृणाका अतिरेक होता है।

(ग) वर्णोंमें द्वन्द्व या संघर्षकी स्थिति आने पर सरकार हस्तक्षेप नहीं कर सकती जब कि वर्गोंमें संघर्ष होने पर सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य-सा है।

(घ) वर्णोंका मूल भूत सिद्धान्त है कि कोई भी बेकार न हो; जिसे बुद्धि, रक्षण, व्यापार किसीमें भी प्रवीणता न हो, वह भी समाज-सेवाके माध्यमसे परिवार पाल सकता है, जब कि वर्गोंसे बेकारी फैलती ही है।

(ङ) वर्णोंके सुदृढ होनेसे सरकारका पतन या शासनकी पराजय हो जाने पर भी राष्ट्रके प्रतीक विलुप्त नहीं हो पाते और समाज-संघटन पूर्ववत् बना रहता है; जब कि वर्गोंकी सुदृढताके बावजूद, परतन्त्रता आते ही राष्ट्रियताका उच्छेद हो जाता है।

हमने जिस दिन वर्णव्यवस्थाकी स्थिति उपेक्षित या अस्वीकृतकर दी या उसे विकृत बना डाला, उसी दिन हमारे दुर्भाग्य-ग्रह प्रबल प्रतीत हुए और संसारके गुरुपदसे च्युत होकर, परमुखापेक्षी बननेके लिए हमें बाध्य होना पडा। स्वतन्त्रता पानेपर भी मानसिक दासतासे छुटकारा न होनेसे हमें आज अपना 'पुराना' वैभव दकियानूसी "कांच-किरच" सा मालूम पडता है और योरोपका 'नया' ठीकरा आकर्षक, चमकीला, भला, प्रगति शील हीरक-सा परिलक्षित होता है। पर, वह दिन दूर नहीं जब सारा संसार इस वर्ण-व्यवस्थाके ही अपने समाजका संघटन करनेके लिए विवश हो जायगा।

(६) पुरुषार्थ चतुष्टयकी आधार-शिला बनाना-वेदके उपदेशके अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्थाका वास्तविक लाभ उसी समय उठाया जा सकता है, जब हमारा साध्य एकांगी न हो। केवल भौतिकता या केवल आध्यात्मिकता किसी भी व्यक्ति समाज या देशको उन्नत नहीं बना सकती। यदि हम उर्ध्व संचरणके लिए लालायित हैं तो हमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों साध्यों या पुरुषार्थों पर एक साथ समान दृष्टि केन्द्रित करनी पडेगी। एकका अभाव अन्य साध्योंकी क्षति या हानिका कारण होगा।

(७) वेद-चतुष्टयका सहारा लेना—उपर्युक्त छहों शाश्वत मर्यादाओंकी सफलता तभी सार्थक हो सकती है जब कि उनके संचालनमें चारों वेदों– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा उनके अंगभूत विषयों ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञानका सम्यक् आधार ग्रहण किया जाय। इसके बिना ईश्वर जीवात्मा, प्रकृतिकी त्रयी, आश्रम चतुष्टय और वर्ण-चतुष्टयके रहस्य उद्घाटित न हो सकेंगे।

दूसरे शब्दोंमे वेद-चतुष्टयके माध्यमसे क्रमशः वर्ण चतुष्टय, आश्रम चतुष्टयके सोपान लांघकर, प्रकृतिपर पैर टीकाकर, जीवात्माका परिचय पाते हुए हम आत्म-साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो सकेंगे। आत्मसाक्षात्कारकी ही स्थितिमें हमें ईश्वरकी वास्तविक सत्ताका भान हो सकेगा।

अंतमें वेदके शब्दों में—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं
यदायुः[1] ॥

अर्थात् हे विद्वानो! हम कानोंसे भला ही सुनें, नेत्रोंसे भली वस्तुएं ही देखें, बलिष्ठ अवयवोंसे भवदीय स्तुति कर्ता हम सब शरीरोंसे या संयम-सीमाके साथ जो देवोंकी हित-कारिणी आयु है, उसे भली भांतिसे प्राप्त करें।'

कहकर लेखनीको विराम देता हूं।

---

१. ऋग्वेद १।८९।८

रोगोंको रोकने तथा उपचार करनेकी आध्यात्मिक विधि

(लेखक— श्रीमाताजी, श्री अरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी— २)

रोगको आनेसे कैसे रोका जाय, और जब रोग आ जाय तो उसका उपचार कैसे किया जाय ?

तुम साधारण तरीके अपना सकते हो और कभी कभी वह सफल हो जाता है। यह सामान्यतः तब होता है जब शरीर विश्वस्त हो जाय कि उसे वैसी अवस्थायें दे दी गयी हैं जिनमें उसे स्वस्थ हो जाना चाहिए; उसने संकल्प ले लिया है कि वह स्वस्थ रहेगा और वह स्वस्थ हो जाता है। किंतु यदि तुम्हारे शरीरमें संकल्प, निश्चय नहीं है तो तुम चाहे कोईभी विधि क्यों न अपनाओ, वह स्वस्थ नहीं होगा। यह भी, मै इसे अनुभवद्वारा जानती हूं। क्योंकि ऐसे लोग भी मेरी जानकारीमें आये, जिन्हें ऐसे रोगोंसे भी, जो बडे भयंकर समझे जाते हैं पांच मिनिटमें चंगा कर दिया गया और ऐसे लोगोंको भी मैंने देखा जिन्हें कोई घातक बीमारी नहीं थी किंतु जो उसके साथ इतने जोरके साथ चिपके रहे कि वह घातक हो गयी। उनके शरीरोंको यह समझाना असंभव था कि वे रोगको छोड दें।

और यहीं बडे सावधान रहनेकी आवश्यकता है और अपने भीतरके उस छोटेसे भागको जो– कैसे कहा जाय ?– बीमार होनेमें सुखका अनुभव करता है, ढूंढ निकालनेके लिए बडी सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेकी आवश्यकता है। ओह ! अनेकों कारण हैं। कई ऐसे लोग हैं जो आक्रोशवश बिमार पडते हैं, कई ऐसे लोग हैं जो द्वेषवश बिमार पडते है, कई ऐसे लोग हैं जो निराशावश बीमार पडते है, कई ऐसे लोग हैं जो... । और ये कोई बहुत प्रबल गतियां नहीं हैं : सत्ताके भीतर एक अत्यंत छोटी-सी गति; तुम खीझ गये हो, तुम कहते हो: " लोग बडी अच्छी तरह देख लेंगे कि क्या होने जा रहा है, जो कुछ उसने मेरे साथ किया है उसका परिणाम लोग देख लेंगे ! आने दो उसे ! मैं बीमार पडने जा रहा हूं ! " ऐसा खुलकर लोग नहीं कह सकते क्योंकि तब वे अपनेको डांटेंगे, किंतु किसी भागमें कोई ऐसी वस्तु है जो इस प्रकारसे सोचती है।

जब तुमने छोटी या बडी अव्यवस्था, असामंजस्यका पता पा लिया है तब तुम्हें दो काम करना है। पहले, हम लोग कह चुके हैं कि यह असामंजस्य शारीरिक सत्तामें, शरीरमें एक प्रकारका कंपन उत्पन्न करता है। यह एक प्रकारका ज्वर होता है। यदि यह सामान्य प्रकारका ज्वर न भी हो तो भी छोटे-मोटे स्थानीय प्रकारके ज्वर होते हैं, कुछ ऐसे लोग हैं जिनमें उद्विग्नता आती है। अतः सबसे पहला काम है अपनेको शांत करना, पूरे विश्वासके साथ उस छोटेसे कोनेमें (आवश्यक नहीं कि सारे शरीरमें ही) शांति, स्थिरता शिथिलीकरण लाना। इसके बाद तुम देखो कि अव्यवस्थाका कारण क्या है। तुम देखो। कारण अनेकों है, किंतु अंततः तुम उस अव्यवस्थाका निकटसे निकट कारण ढूंढ निकालनेकी चेष्टा करो। ज्योति, ज्ञान, आध्यात्मिक शक्तिकी छाप देकर वह सामंजस्य, उस भली क्रियाको पुनः स्थापित करो। और यदि बीमार भाग ग्रहणशील है, यदि वह प्रतिरोधमें हठी नहीं है तो तुम कुछ सेकेंडोंमें स्वस्थ हो जा सकते हो।

किंतु सदा ऐसा होता नहीं। कभी कभी, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, एक दुर्भावना होती है : लोग थोडा या बहुत मुंह बनाये रहते हैं, अंततः लोग चाहते हैं कि रोग अपना परिणाम लावे। तब, वह थोडा अधिक समय लेता है। किंतु अंततः यदि कोई अत्यंत बुरी दुर्भावना नहीं है तो थोडी देर

बाद भागवत शक्ति क्रिया करती है: चंद मिनिट, या चंद घंटे या चंद दिन, और तुम स्वस्थ हो जाते हो।

अब, उस विशेष अवस्थामें, जब कि विरोधी शक्तियोंका आक्रमण होता है, वस्तुएं जटिल हो जाती हैं, क्योंकि तुम्हें केवल शरीरके संकल्पसे ही निबटना नहीं पडता (याद रखना कि मैं उन लोगोंकी दलील स्वीकार नहीं करती जो कहते हैं- " किंतु मैं, मैं तो बीमार होना नहीं चाहता ! " क्यों कि तुम्हारी चेतना बरोबर कहती है कि वह बीमार नहीं पडना चाहती) यह कहनेके लिये कि, " मैं बीमार पडना चाहता हूं, " आधा पागल होना होगा, किंतु यह तुम्हारी चेतना नहीं जो बीमार पडना चाहती है, वह होता है तुम्हारे शरीरका कोई भाग, या अधिकसे अधिक प्राणिक सत्ताका, एक खंड जो टेढा हो गया है और जो बीमार पडना चाहता है कि, और जबतक तुम, खूब ध्यानसे नहीं देखते, तुम उसे देख नहीं पाते। किंतु मैं कहती हूं कि यदि उसके पीछे ऐसी विरोधी शक्तियोंका चाप होता है जो सचमुचमें तुम्हारी बुराई करना चाहती है तो परिस्थिति जटिल हो जाती है। तुम कोई अध्यात्मिक भूलके द्वारा, गर्वकी किसी हरकतसे, द्वेषकी किसी हरकतसे, उग्रताकी किसी हरकत द्वारा, द्वार खोल दिये होते हो। सर्वदा ऐसे कीटाणु होते हैं जो वहां घात लगाये बैठे रहते हैं और केवल अवसरकी प्रतीक्षामें रहते हैं। इसीलिये बडे सावधान रहनेकी अवश्यकता होती है। किंतु अंततः किसी कारणसे उसका प्रभाव सुरक्षाके मोटे आवरणको भेद चुका होता है और वहां, वह रोगको जितना बुरा हो सके उतना बुरा बनानेके लिये क्रिया करता है। तब पहली विधि बिलकुल पर्याप्त न ही होती। उस अवस्थामें उसमें कुछ और भी जोडनेकी आवश्यकता होती है; वहां आवश्यकता होती है आध्यात्मिक शुद्धिकरणकी शक्ति जोडने की जो इतनी निश्चयात्मक, पूर्ण, सर्जनात्मक शक्ति है कि थोडीसी भी विध्वंसक कोई वस्तु उसका प्रतिरोध नहीं कर सकती। यदि वह शक्ति तुम्हारे पास है या यदि तुम उसे मांग सको और प्राप्त करलो, तो तुम उसे उस स्थानपर डालो, और तब विरोधी शक्ति सामान्यतः तत्काल ही चलती बनती है, क्यों कि यदि वह अपनेको उस शक्तिके बीचमें पाये तो वह गल जाती है, वह लुप्त हो जाती है। संभव है कि वह एक सर्जनात्मक शक्तिके रूपमें बदल जाय अथवा केवल गल जाय और उसका अस्तित्व मिट जाय। और इसके साथ-साथ रोग केवल चलाही नहीं जाता वरन् उसके दुबारा वापस आनेकी संभावना भी चल जाती है। तुम रोगसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हो, वह फिर वापस नहीं आता।

दिल्लीमें विज्ञानभवनमें संपन्न विश्वहिंदुधर्म संमेलनके अवसरपर मसुराश्रम, बम्बईके महामना ब्रह्मचारी दत्तमूर्तिजी द्वारा पढे गये प्रबन्धका हिंदी सारांश :

भारतकी धर्मनिरपेक्षता

आजके इस सम्मेलनके अन्यान्य उद्दिष्टोंमें मुझे यह उद्दिष्ट सर्वतोपरि लगता है कि विश्वशांति एवं सह-अस्तित्व सही अर्थमें साकार करनेके लिये अखिल विश्वके हिंदुत्वको सुदृढ एव बलिष्ठ बनाना है। और चूंकि पाकिस्तान एवं उसके समर्थक इस्लामी देशों और ईसाई देशोंने आज हमपर केवल इसी लिये आक्षेप थोपा है कि हम हिन्दू हैं' अतः ऐसी स्थितिमें इसपर विचार होना अत्यंत आवश्यक है। हमारे राष्ट्रीय नेता लोग पुरजोर शब्दोंमें रातदिन अपील कर रहें है कि युद्धका सबसे बडा लाभ अपनी प्यारी मातृभूमीकी रक्षा हेतु जनमानसमें सुप्त शक्तिको जागृत करना, उन्हें बडेसे बडे त्यागके लिये तैयार करना है। हमारे उपरोक्त उद्दिष्टको साध्य करनेके लिये ही आजकी यह संधि उपलब्ध हुई है, ऐसी मेरी धारणा है।

हिन्दु धर्म प्रकृतिसे ही शक्तिशाली है, यह एक तथ्य है। इसी कारण वह अपनी सर्वश्रेष्ठता कायम रख सका, इतनाही नहीं अपितु राजकीय ताकतोंपर अधिष्ठित ईसाई एवं मुसलमानोंका सत्तीका धर्मांतरण भी अधिकांश हिन्दु जनताको अपने कब्जेमें न कर सका। पर इसीके साथ हमें इस वास्तविकताको जान लेनेमें भूल नहीं करनी चाहिए कि सहस्त्राब्दियों पुराना हमारा यह हिन्दु धर्म आज कतिपय अंतर्गत एवं बाह्य कारणोंके कारण और विशेषतः हिंदुस्थानको 'सेक्यूलर' घोषित करनेके कारण खोखलासा हो गया है। हिन्दुत्वको बलिष्ठ बनानेका उद्दिष्ट सम्मुख रख इस सम्मेलनने यह दिखा दिया है कि वह उपरोक्त गलतीके प्रति जागरुक है।

यदि धार्मिक स्वतंत्रता ही 'सेक्युलॅरिझम्' है तो क्या हिन्दु साम्राज्य एवं उसके बादका सम्राट अशोकका साम्राज्य यह दोनों हिन्दु एवं बौद्ध साम्राज्य होते हुए भी सेक्युलर नहीं थे? और यदि राजसत्तासे धर्मका पृथक्करण ही 'सेक्युलॅरिझम' है तो क्या पुर्तुगालका फासिस्ट तानाशाह सालाझार भी हम जैसा ही सेक्युलर नहीं है?

विश्वमें कम्युनिष्ट देशोंके समान अन्य भी सेक्युलर राष्ट्र हैं, जहां राष्ट्रका अपना कोई धर्म नहीं हैं, इतना ही नहीं अपितु धार्मिकताको खतरनाक कहकर घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है।

हमारे संविधान कर्ताओंने अमरीका एवं ग्रेट ब्रिटनके संविधानका अन्य बातोंमें सहारा लेते हुए हिंदुस्थानको 'सेक्युलर राज्य' बनाना चाहा– एक ऐसा सेक्युलर राज्य जिसकी सम्राट अशोकके राज्य या अन्य कम्युनिस्ट राष्ट्रोंसे तो नहीं अपितु केवल तानाशाह सालाझारके सेक्युलर राष्ट्रसे ही तुलना की जा सकती है। परिणाम स्पष्ट है कि मुस्लिम आक्रमणका हजारसे अधिक वर्षों तक महंगा प्रतिकार करनेके बावजूद भी, उसी प्रकार ईसाईयों द्वारा छल-बल-कपट-प्रलोभनों आदिद्वारा किया जानेवाला हिंदुओंका जो धर्मांतरण, उसके खिलाफ चारसौ वर्षोंतक कडा संघर्ष करनेके बावजूद भी- आज हिन्दुस्थानके ३८ करोड हिंदु अपने ही हिंदुस्थानमें अनाथ हो गये हैं। सदियों पुराने उनके पवित्र धर्मको विदेशी सत्ता एवं द्रव्यके बलपर हो रहे परधर्मीय आक्रमणसे बचानेवाला कोई नहीं रहा। भारतके ईसाईयोंके हितकी फिकर रखनेके लिये रोमका पोप एवं विश्वमें यत्र-तत्र बसे उसके अनगिनत "कार्डिनल्स" हैं। हिंदुस्थानके इन पचास लाख कॅथोलिकोंके "India will be Christ Land" का सपना साकार करनेके लिये अपना आशीष एवं प्रोत्साहन

देने हेतु रोमके पोप अपनी समस्त पारंपरिक मान्यताओंको तोडकर हिंदुस्थानमें आये थे। भारतमें पैदा हुए पांच करोड मुसलमानोंकी तथा-कथित ' अत्याचार एवं दुख 'से मुक्तता करने हेतु अयुब, तुर्कस्थान एवं ईरान बेचैन है। विश्वके प्रोटेस्टंट एवं रेवरंड मायकेल स्कॉट नाग जातिके लोगोंके कल्याण एवं धार्मिक स्वतंत्रताकी रक्षा हेतु भारतमें ही उन्हें अपनी सार्वभौमिक सत्ताका एक अलग प्रदेश दिला देनेके लिये सक्रिय है। अपवाद स्वरूप कुछ चंद ससद सदस्योंको छोडा तो कोई भी शासकीय नेता इस बातपर सोचना तक आवश्यक नहीं समझता है कि ये बेचारे ३८ करोड हिंदु अपने कल्याणके लिये, अपने सनातन धर्मपर' अपनी प्राणप्रिय संस्कृतिपर परधर्मियों द्वारा हो रहे इस आक्रमणके सक्षम प्रतिकारके लिये किसकी ओर देखेंगे ? हर धर्मके लिये यह आवश्यक होता है कि वह अपनी सांस्कृतिक धरोहरको अत्यंत पवित्र समझे, जो समाज अपनी धार्मिक परंपराकी पवित्रताको तेजोवलय प्रदान करता है, वही समाज अपने धर्मको स्थिर करके अन्य लाभ उठा सकता है। (धर्मो रक्षति रक्षितः) यदि सरकारी नेता गण ही अपने ही ३८ करोड हिन्दुओंकी परंपराकी, उनके पुरखोंसे चले आ रहे पवित्र धर्मकी ओर तुच्छतापूर्वक देखते हैं, विदेशी धन एवं जनके बलपर भारतमें फैल रहे इस परधर्मीय आक्रमणकी ओरसे जान बूझकर वे आंख मूंद लेते हैं, स्वतंत्र ईसाई एवं नागालैंड एवं संथाली लेंडकी मांग पर सहानुभूति दिखाकर स्वयं ही जब भारतकी राष्ट्रीय एकात्मताको मिट्टीमें मिलाते है, ऐसी हालतमें अभी अभी भारतपर उसके पडोसी,राष्ट्र द्वारा किये गये आक्रमणके समय अफ्रिकी एवं एशियाई राष्ट्र या युनोके सदस्य राष्ट्रोंने चुप्पी साधकर भारतकी जो खिल्ली उडायी, वह हमारे राष्ट्रीय नेताओंकी अकलमंदी एवं अदूरदर्शिताका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सितंबरमें भारत-पाकिस्तानका युद्ध प्रारंभ होते ही हमारे राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, मुख्यमंत्री केंद्र एवं राज्योंके अन्यान्य मंत्री रोज आकाशवाणीसे देशके नाम संदेश देते हुए संकटकालीन स्थितीका डरावना चित्र भारतीयोंके सन्मुख प्रस्तुत कर राष्ट्रीय एकात्मताकी रट लगा कर रहे थे। समाचार पत्रोंमें रोज ही घुसपैठ करनेवालोंकी, गुप्त रूपसे पाकिस्तानका प्रचार करनेवालोंकी, ट्रान्समिटर सेटकी, विध्वंसकारियोंकी तथा, वैयक्तिक और, सामूहिक गिरफ्तारी की खबरोंकी भरमार रहती थी। आज तकके इतिहासमें विश्वके किसी भी राष्ट्रको परचक्रके संकटके क्षणोंमें अपने ही लोगोंसे राष्ट्रीय एकात्मताकी भीख नहीं मांगनी पडी। इस प्रकारकी परिस्थिती स्टॅलिन द्वारा रूसमें प्रारंभित The great patriotic war के समय कुछ अंशमें-थी। किंतु स्टॅलिनने इस प्रकारकी राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तिको बडे धैर्यसे हमेशा हमेशाके लिये दफना दिया। राष्ट्रीय एकात्मताकी भीख नहीं मांगी। आज हिंदुस्थानमें पांच करोड मुसलमान है, जिन्होंने पाकिस्तानकी निर्मितीमें अपना मत दिया किंतु रहना भारतमें ही चाहा। इनमें अधिकांश भारतभूमि पर पलते हैं, भारतका अन्न खाते हैं किंतु हितसंवर्धन करते हैं पाकिस्तानका। १९४२ में स्टॅलिनको भी इसी प्रकारकी परिस्थितीका सामना करना पडा था। किंतु उसने किसी भी प्रकारका हो हल्ला न मचाते हुए निश्चयके साथ सही ढंगसे काम लिया। अभी अभी पाकिस्तानके साथ जो हमारा युद्ध हुआ उसके पश्चात् प्रधान मंत्री श्री०शास्त्रीजीने जिस रूसको अपना सच्चा मित्र घोषित किया उसी रूसका इतिहास दिखाता है कि स्टॅलिन एक साहसी नेता था। उसे अपने लोगोंका पूरा भरोसा था। ' नेता लोग आते हैं और चले जाते है, किंतु जनता अमर है '। स्टॅलिन चला गया किंतु रूसी जनता आज भी उसी सुदृढतासे खडी है। लेकिन बडे दुर्भाग्यकी बात है कि आज हमारे नेताओंको अपने ही देशके ३८ करोड सुपुत्रों एवं सुपुत्रियों पर विश्वास नहीं रहा है। आज हिन्दुस्थानका कुछ भी क्यों न हो इन नेताओंकी कुर्सी -मिनिस्टरी सलामत रहो - हिन्दुस्थानके प्रच्छन्न शत्रुओंके वोटों पर भी सही सलामत रहो – सबकुछ पा लिया। एक दो नहीं सभी नेताओंकी - मंत्रियोंकी यही धारणा बन चुकी है। भूतकालमें दूरदर्शिताका अभाव एवं अपनी गलती स्वीकार न करनेकी हठधर्मीके कारण उन्होंने खुदने ही स्वयंको इस विकट गर्तमें गिरा लिया है। अब आज कुछ नेता सोचने लगे हैं कि आजसे अठारह वर्ष पूर्व पाकिस्तान की निर्मितीको बडी भारी गलती वे कर बैठे है। इस गलती को सुधारनेका एकही रास्ता है और वह है, सेक्युलॅरिझमके नामपर अल्पसंख्यकोंकी जो फिजूल चाटुकारिता की जा रही है, वह कतई बंद कर दी जाए तथा भारतको पुनश्च एक बार हिंदुओंका हिंदुस्थान घोषित किया जाय। हिंदुस्थानको हिंदुस्थान कहनेमें कोई दिक्कत, हरकत या झिझक नहीं होनी चाहिए। जब विश्वका हर गणतंत्रात्मक राष्ट्र किसी न किसी धर्मसे संबद्ध है, भारत भी अपनी अधिकांश प्रजाके धर्मको – जो आज कलका नहीं अपितु सहस्त्राब्दियों पुराना

है – उस हिंदु धर्मको आज भी राष्ट्रीय धर्म घोषित करे तो किसी भी राष्ट्रको कोई आपत्ति नहीं होगी, और यदि आजके राष्ट्रीय नेता अपने तथा कथित स्वार्थसिद्धिके लिये इससे झिझक रहे हों तो लोगोंको ही इस बातके लिये आगे आना होगा।

राष्ट्रीय एकात्मताका प्रश्न केवल मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है। संभव है भारतके ये पांच करोड मुसलमान हमारी राष्ट्रीय एकात्मताकी दृष्टिसे उतने खतरनाक नहीं जितने कि ये डेड करोड ईसाई खतरनाक है। विश्वके अधिकांश मुस्लिम राष्ट्र जो अफ्रिका और एशियाके लोकशाही राष्ट्रोंकी एक उदयोन्मुख ईकाई है तथा जो अभी अभी ईसाई वर्बर दासतासे मुक्त हुए हे – के सन्मुख स्वयंकी ही राजनैतिक – आर्थिक समस्याएं हैं तथा साम्राज्यवादी राष्ट्रोंसे हो रहे शोषणसे मुक्तता पानेके लिये उन्हें एक दूसरेपर अवलंबित रहना पडता है। लेकिन भारतकी यह ईसाईयत बाहरी साम्राज्यवादी ईसाई राष्ट्रोंके बलपर उन्नत हो रही है। तथा विदेशी धन-लाभके साथ साथ रोमके पोप तथा अमरीका, ग्रेट ब्रिटन जैसी साम्राज्यवादी ताकतोंके इशारेपर चलती हे। उन्हींके अनुशासनमें उन्हींके निर्देशनमें काम करती है।

भारतीय संविधानके अनुसार प्रत्येक नागरिकोंको धार्मिक एवं वैचारिक पूरी आजादी दी गई थी। पर दुर्भाग्यवश इस नियमोंका गलत अर्थ बताया गया है। प्रत्येक भारतीय नागरिकको उपलब्ध यह अधिकार नागरिककी सही परिभाषा न होनेके कारण जिनका विदेशोंसे सख्य है, जो विदेशी नस्लके हैं, जो आर्थिक स्थितिके बारेमे भी उनके लाचार है, उन्हींके द्वारा नियंत्रित हैं, ऐसे लोग भी इस नियमके अंतर्गत पूरी पूरी आजादी पा रहे हैं।

भारतमें आज छः हजारसे अधिक गोरे मिशनरी हे और इनके साथ प्रच्छन्न द्वारा काम करनेवाले ऐसे कितने ही ईसाई हें, जो हालांकि मिशनरीके वेशमें न रहते हुए भी बडी बडी फर्मोंके मालिक या उच्चाधिकारी, विदेशीतज्ञ, शिक्षाशास्त्री, डॉक्टर आदिके चोगेके नीचे इन्हींके साथ मिल जुलकर कार्य कर रहे हें। यदि इन सबको इकट्ठा लाया गया तो 'गोरे आर्मी' की एक डिव्हजन ही तैयार हो जाएगी। आपको स्मरण होगा, बंबईमें जब अंतर्राष्ट्रीय युकिरिस्टिक परिषद्का जलसा हुआ, तब इस गोरे फौजकी बंबईके सडकों-परसे 'रुट मार्च' निकालनेकी ख्वाहिश थी, जो मसुराश्रम द्वारा संचालित तथा हिन्दु महासभा एवं आर्यसमाज द्वारा समर्थित आंदोलनके कारण सफल न हो सकी।

रिजर्वबेंककी रिपोर्टके अनुसार सन १९५०से १९५४ तककी अवधिमें साम्राज्यवादी देशोंकी ओरसे तीस करोडसे भी अधिककी नकदी द्रव्यराशी भारतके इन ईसाई मिशनरियोंको प्राप्त हुई हे। यह तो खुली सहायता हुई। छुपी सहायता कितनी हुई होगी कौन जाने। किंतु फिर भी इस बातपर सहज विश्वास किया जाता है कि हमारी आजादीके बाद इन ईसाई मिशनरियोंको आजतक कमसे कम दो सौ करोड रुपयोंकी सहायता बाहरसे उपलब्ध हुई है।

यदि आप यह सोचते है कि ये साम्राज्यवादी राष्ट्र उदारतासे उदारतासे केवल मानवताकी सेवाभावनासे हिन्दुस्थानमे द्रव्यकी इस प्रकारकी गंगा बहा रहे हें तो वह सबसे बडी आत्मवंचना होगी। यह जो पूंजी इन साम्राज्यवादी देशोंने यहां लगायी है, इसके बदलेमें जानते हे आप, वे क्या चाहते हैं ? उन्हे आश्वासन दिया गया है, भारतीयोंमें राष्ट्रीयताके प्रचारका-भारतीयोंकी राष्ट्रीय एकात्मताके विघटनका। उनकी आजादीपर कुठाराघातका और उनकी परंपरागत संस्कृतिके समूल-उन्मूलनका।

भारतके नेताओंके अनुसार भारत एशियाई राष्ट्रोंका अगुआ है। हजारों वर्षोंसे विश्वका गुरु है। उसे दूसरे देशोंके इतिहास या अनुभवोंसे कुछ सीखनेकी आवश्यकता नहीं हें। पर यहां यह सोचनेकी बात है कि ईसाईयतका भारतमें कैसे आगमन हुआ तथा यहांके शासकों एवं प्रजाद्वारा इस ईसाईयतको किस प्रकार स्वीकार किया गया, इसीके साथ यह जानना भी असामयिक न होगा कि एशियाई एवं अफ्रिकी नवोदित राष्ट्रोंने ईसाईयत तथा विशेषतया विदेशी मिशनरियोंके प्रति स्वतंत्रताके बाद किस प्रकारका रुख अपनाया है और क्यों ?

पोपकी आज्ञानुसार सन् १५०० में पुर्तगालियोंने सर्वप्रथम भारतीयोंका ईसाईकरण प्रारंभ किया। शस्त्रके बलपर राजनैतिक विजय एवं हिंदुओंके बलात् ईसाईकरण द्वारा अपनी सत्ताका स्थिरीकरण यही उनका सूत्र था। दक्षिण भारतके तत्कालीन राजाओंको (जिन्होंने मुसलमान आक्रमकों

का प्रतिकार करने हेतु इन पुर्तगालियोंकी सहायता की) अदूरदर्शिता स्वयंके ही सर्वनाशमें परिणत हुई– और आज हमारी सरकार भी उसी अदूरदर्शिताका परिचय दे रही है। तत्पश्चात्के ४०० वर्षोंमें पुर्तगाली, फ्रेंच और अंग्रेजोंने सवा करोडसे भी अधिक हिन्दुओंको ईसाई बना डाला। भारतीयोंकी परंपरागत वृथा सहिष्णुताके कारण उन्हें स्वयकी आजादी खोनी पडी। इतना ही नहीं भारतीयोंकी एतद्विषयक उदासीनता ईसाईयतके पूर्वमें प्रचारके लिये प्रवेशद्वार बन गयी, हालांकि अन्य पूर्व देशोंमें ईसाईयतका प्रचार या प्रवेश उतना आसान नहीं था, बर्बर 'इन्क्विजीशन' के जन्मदाता फ्रांसिस जेवियरको इस निराशाके साथ मरना पडा कि वह ईसाईयतको चीन और जपानमें प्रवेश न दिला सका।

स्वतंत्रता प्राप्त होने तक भारतके अधिकांश नेता कट्टर हिंदु थे। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक, पण्डित मदनमोहन मालवीय, भाई परमानंद, महात्मा गांधी आदियोंने ईसाईयतका स्पष्ट शब्दोंमें धिक्कार किया है। विश्वके जिन जिन देशोंमें ईसाईयत या साम्राज्यवादका आसन स्थिर हुआ, वहां वहां इन धर्मान्तरित ईसाईयोंने अपने देशके प्रति गद्दारी करके परकीयोंका साथ दिया। भारतके अलावा अन्य सभी देशोंने दासताको प्रोत्साहन देनेवाले इन साम्राज्यवादी ईसाई हस्तकोंको निर्दयतासे कुचल डाला है।

स्वतंत्रता मिलते ही सुदानने ३०० विदेशी मिशनरियोंको अपने देशसे निष्कासित कर दिया। विदेशी आर्चबिशप सेसिल प्लेंटरसन एवं बिशप रिचार्डको घानासे निकाल दिया गया। हैतियन शासनने सभी जेसुएट मिशनरियोंको अपने देशसे भगा दिया। कांगोमें जब १२८ मिशनरियोंको मौतके घाटे उतार गया तो हजारो कैथोलिक वहांसे भाग पडे।

समूचे विश्वमें एकमात्र अवशिष्ट हिंदु राज्य नेपाल-जो हमारी समस्त आशा आकांक्षाओंका केंद्रस्थान है-ने भी सन् १९६३ में ईसाईकरण एवं मुस्लिमीकरण पर कानूनी पाबंदी लगा दी है। हमारे छोटे पडौसी लंका एवं बर्माने बौद्ध धर्मको राज्य धर्म घोषित किया है तथा विदेशी मिशनरियोंके आगमन पर पाबंदी लगा दी है। पाकिस्तान-जो अमरीकासे भारतकी अपेक्षा कई गुना अधिक शस्त्रास्त्र एवं आर्थिक सहायता लेता है ने भी वहांके मिशनरी स्कूल्समें कुरानकी पढाई अनिवार्य कर दी है, और यह भी सत्य है कि हमारे नेताओंके समान अय्यूबको कभी राष्ट्रीय एकात्मताकी भीख नहीं मांगनी पडी।

हमारे राष्ट्रीय नेताओं द्वारा स्वीकृत दुर्बल एवं आत्मघात-की सेक्युलॅरिज्मके कारण स्वतंत्र भारतका दृश्य कुछ और ही हो गया है। विदेशी मिशनरी एवं विदेशी धनका मानो भारतमें भंडार फूट पडा है। ईसाईकरण दिन दूना रात चौगुना हो गया है, और अब तो इन ईसाईयोंके हौसले इतने बढ गये हैं कि वे भारत सरकारको चाहे जैसा झुकाने लगे। उन्होंने युकेरिस्टिक कॉंग्रेसके बहाने न केवल पोपको भारतमें बुलाया, अपितु भारतके राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, राज्यमंत्री एवं कई अन्य मंत्रियोंको पोपकी खिदमतमें हाजिर कर दिया। भारतीय आकाशवाणी इन दिनों रात दिन इन्हींके नाम ढोल पीटती रही। इस सब पर भाष्य करते हुए एक शासकीय प्रवक्ताने घमंडमें आकर इस प्रकारकी डींग मारी कि 'विश्वके किसी भी देशने-जहां ईसाई लोग इतनी अल्पसंख्यामें हे-इस प्रकारका सौजन्य नहीं दिखाया है।'

क्या करिमा है कि जिस व्यक्तिने हजारो हिंदुओंको केवल इसलिये जिन्दा जला दिया-गोलियोंसे उडा दिया कि वे अपना हिंदु धर्म छोड ईसाई धर्म ग्रहण नहीं कर रहे थे, ऐसे नरपशुको हमारी सेक्युलर सरकारने महात्मा मान लिया है। संभव है सेक्युलर भारतमें महात्माकी परिभाषा ही बदल गयी हो।

भारतीय सेक्युलॅरिज्म ईसाईयत एवं मुसलमानोंके लिए हर तरह फायदेमंद है। उन्हें सब प्रकारका संरक्षण देता है। किन्तु हिंदुओंके कन्याकुमारीमें विवेकानंद स्मारकको इन उन्मत्त ईसाईयोंने किस प्रकार भ्रष्ट किया था, इस इतिहासको पुन. दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है।

जब हमारे राष्ट्रपति ही पोपसे उपाधि पाकर स्वयंको धन्य समझते हे, अन्य मंत्री पोप एवं मिशनके अन्यान्य उपहारोंके लिये लालायित रहते हे तो इनसे किस बात की क्या आशा की जा सकती है ?

ईसाई मिशनरियोंकी गतिविधियाँ भारत, भारतीय समाज, भारतीय सुरक्षा, भारतीय एकात्मताके लिए खतर-नाक है, कितनी विध्वंसक हे, यह किसी भी खुली आंखवाले व्यक्तिको आसानीसे दिखाई दे सकता है। हायकोर्टके सन्मान-नीय न्यायाधीशोंको हितकी बात इन्हें सुनाई तक नहीं देती। मध्यभारत तथा मध्य प्रदेश सरकारोंने ईसाई गति विधियोंकी छान बीन करने हेतु हायकोर्ट जजोंके नेतृत्वमें दो कमिशन

(जस्टिस नियोगी एवं जस्टिस रेगे) नियुक्त किये थे, जिसने काफी परिश्रम तथा छानबीनकर अपनी रिपोर्ट पेश की। लेकिन इस रिपोर्टमें जो निष्कर्ष दिया गया था वह विदेशी मिशनरीयोंके खिलाफ होनेसे उन विदेशी मिशनरियोंसे साठगांठ रखनेवाले या उनके प्रभावमें रहनेवाले तथा स्वयंको जनताके सेवक कहलानेवाले तत्कालीन मंत्रियोंने यह रिपोर्ट दफना दी। अपने जरासे स्वार्थके कारण हिंदुस्थानके ३५ करोड़ हिंदुओंका कितना नुकसान होगा, इसका विचार करने की भी मध्यप्रदेश एवं मध्य भारतके मंत्रिमंडलोंने आवश्यकता न समझी।

इसी संदर्भमें संसद सदस्य श्री० प्रकाशवीर शास्त्रीने जब १९५९ में लोक सभामें एक बिल पेश किया था, तब तत्कालीन गृह मंत्री श्री० दातारने अपने परमअज्ञानका परिचय देते हुए क्या क्या अनर्गल विधान किये वे आप सब जानते ही हैं।

जब कभी इस प्रकारका बिल विधान सभा या संसदमें पेश किया जाता है तो मंत्री महाशय तुरन्त संविधानकी धारा २५ (१) की ओर अंगुली उठाकर अपनी असमर्थता प्रगट करते हैं। मानो संविधानकी यह धारा पत्थरकी लकीर है एवं वे इस बारेमें अब कुछ कर ही न सकते हों। जब कि विगत १८ वर्षोंमें आजतक कई बार संविधानमें संशोधन किया गया है और यदि कोई धारा भारतके अधिकांश नागरिकोंके हितके खिलाफ जाती है, तो उसमें संशोधन करनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। संविधानकी धारा २५ (१) ने भारतके प्रत्येक नागरिकको अपने अपने धर्मके पालन एवं प्रचारको आजादी दी है। किंतु प्रश्न यह है कि क्या भारतमें रहनेवाले ये ईसाई, मुसलमान, पारसी, ज्यू (चंद देशभक्त अपवाद छोडते हुए) स्वयंको भारतीय मानते हैं ? क्या इनकी निष्ठा भारत पर ही है या भारतके बाहर कहीं अन्य ओर ? भारतमें रहनेवाले ईसाईयोंकी राजनैतिक एवं धार्मिक मान्यताएं पोप एवं विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियोंकी सबद्ध हैं। यह बात नहीं है कि सभी ईसाई अराष्ट्रीय प्रवृत्तिके हैं। डॉ. कुन्हा जैसे चंद ईसाई निश्चित् रूपसे देशभक्त थे। जिनका अधिकांश ईसाईयों द्वारा छल ही किया गया, यहां तक कि ईसाई होते हुए भी डॉ० कुन्हाका ईसाई कबरस्थानमें दफन न हो सका। डॉ० कुन्हाके समान ही बंबईमें इंडियन नॅशनल चर्चके आर्चबिशप एवं प्राइमेट श्री० जे. एस. विलियमस् हैं जो ईसाई होते हुए भी पूर्ण रूपेण भी राष्ट्रीय हैं। जिन्हें भारतीय ईसाईयों की आर्थिक दासता-पोप एवं साम्राज्यवादी ताकातोंकी दासता कतई मंजुर नहीं है। और इसी कारण वे विदेशोंयोंसे किसी भी प्रकारकी सहायता नहीं लेते हैं। लेकिन हमारे तथा-कथित सेक्युलरसरकारी आंखोंमें इस राष्ट्रीय कार्यकी कोई इज्जत नहीं है।

बन्धुओं, तो इस प्रकारका है हमारा "सेक्युलॅरिज्म्" अतः यदि हम सच्चे दिलसे चाहते होंकि भारतीय संस्कृतिका, हिन्दु धर्मका पुनरुत्थान होना चाहिए तो प्रत्येकका यह फर्ज है कि वह हिन्दुस्थानका राष्ट्रीय धर्म हिन्दु धर्म है यह स्पष्टतया घोषित करनेको शासनको बाध्य कर दें।

यदि किसीके मनमें इस प्रकारका भय हो कि हिन्दुस्थानका राष्ट्रीय धर्म हिंदुधर्म घोषित हुआ तो अल्प संख्यकोंका क्या होगा तो वह निरी भ्रांति है। पूरे ब्रह्मांडमें हिन्दु धर्म जैसे सहिष्णु तथा शांतिप्रिय धर्म अन्य कोई नहीं है। पृथ्वी तलपर आनेके अपने प्रयोजनको विशद करते हुए ईसामसीहने कहा है Jesus decleares " Do not imagine that I have come to bring peace on earth; I have come to bring a sword and not peace. I have come to set a man against his father, a woman against her mother, a doughter-in-law against her mother-in-law. A man's enemies will be the people in his house. He is not worthy of me, that loves father and mother more; he is not worthv of me that does not take up his cross and follow me."

किंतु हिन्दुधर्म एक बार ही नहीं त्रिवार शांति चाहता है। शांतिः शांतिः शांतिः कल्याण चाहता है। और वह भी केवल हिन्दुओंका ही नहीं अपितु समस्त विश्वका :—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु न कश्चित् दुःख-भाग् भवेत्

सहस्त्राब्दीयोंसे सहिष्णुता एवं विश्वशांतिके लिए विख्यात हिन्दु धर्मको हिन्दुस्थानका राष्ट्रीय धर्म घोषित करनेमें यदि किसी ईसाई-मुसलमान, ज्यु, पारसी या अन्य किसीको कोई आपत्ती होती है तो उसका सीधा अर्थ यह है कि वह हिन्दुस्थानमें रहकर, हिंदुस्थानका खा पीकर हिन्दुस्थानसे ही, उसके ३८ करोड हिन्दुओंसे गद्दारी करना चाहता है। भारतकी राष्ट्रीय एकात्मताके साथ खिलवाड करना चाहता है। अतः भारतकी राष्ट्रीय एकात्मताको दृढमूल करने हेतु आजका यह परम पावन कर्तव्य है कि हम अपने इस तथाकथित सेक्युलॅरिज्म् को छोड भारत हिन्दुधर्मी घोषित करें और यदि वर्तमान लाचार शासन इस बारेमें ढिलाई करता है तो जनता जनार्दनको आगे आकर यह कार्य करना होगा। क्योंकि जबतक सत्ता राजनीति धर्मका अधिष्ठान न होगा उसकी राक्षसी प्रवृत्ति रहेगी। एवं जबतक धर्मको राजनीतिका-सत्ताका सहारा न होगा वह निष्प्रभ ही रहेगा।

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय।

तत्सत्

धर्मशास्त्रोंमें अस्पृश्यता

(लेखक— श्री जयदयाल डालमिया)

卐

कुछ लोगोंका मत है कि धर्मशास्त्रोंमें अस्पृश्यताका विधान है, जबकि कुछ लोगोंका कहना है कि वे तो केवल वेदोंको ही धर्मशास्त्र मानते हैं और वेदोंमें कहीं भी अस्पृश्यताका उल्लेख नहीं है। यदि धर्मशास्त्रोंके आधारपर तर्क किये जाय तो उनका कोई अंत नहीं होगा। विभिन्न सम्प्रदायोंके विभिन्न आचार्यों द्वारा एक ही शास्त्रवाक्यके विभिन्न अर्थ अपनी अपनी विचारधाराके अनुसार किये गये हैं। वर्तमान युगके आचार्योंमें,आर्यसमाजके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्दजी द्वारा किये गये वेदोंके अर्थ बहुत सही, विद्वत्ता-पूर्ण एवं उदार माने जाते हैं। उनके यजुर्वेदके ३०वें अध्यायके कुछ मंत्रोंकी टीकासे कुछ आंशिक उद्धरण सूचनार्थ नीचे दिये जा रहे हैं —

१. (मृत्यवे) मृत्युको प्रवृत्त हुए (मृगयुम्) व्याधको तथा (अन्तकाय) अन्त करनेवालेके हितकारी (श्वनिनम्) बहुत कुत्ते पालनेवालेको अलग बसाइये ॥ ७ ॥

इसका भावार्थ महर्षि दयानन्दजीने स्वयं ही इस प्रकार स्पष्ट किया है— हिंसक तथा कुत्तोंके पालनेवाले चाण्डालादिको दूर बसावें।

२ हे जगदीश्वर वा राजन् ! आप (बीभत्सायै) धमकानेके लिये प्रवृत्त हुए (पौल्कसम्) भंगीके पुत्रको पृथक् कीजिए ॥ १७ ॥

३. (वायवे) वायुके स्पर्शके अर्थ (चाण्डालम्) भंगीको दूर कीजिये ॥ २१ ॥

इसका भावार्थ महर्षि दयानन्दजीने स्वयं ही इस प्रकार स्पष्ट किया है — भंगीके शरीरमें आया वायु दुर्गन्धयुक्त होनेसे सेवने योग्य नहीं होता।

आर्यसमाजके प्रवर्तक महर्षि दयानन्दके यजुर्वेदके कुछ मन्त्रभागोंके उपर्युक्त अर्थ किसी किसी विशेष पेशेवाले हरिजनको दूर रखनेकी बात बताते हैं। इससे उनके अस्पृश्य होनेकी बात स्पष्ट ही दीखती है। ऐसा अर्थ करनेमें कोई उन महर्षि दयानन्दजीको भी बुद्धिमान न मानें तो आज तो जो जैसी चाहे मान्यता बना सकता है, इसकी संविधानने 'फण्डामेण्टल राईट्स' में छूट दे रखी है।

प्रश्न उठता है कि वैसे हरिजन जन्मसे और जीवनभरके लिये क्या अस्पृश्य हरिजन रहेंगे या उनका पेशा बदल दिया जाय तो वे अस्पृश्यसे स्पृश्य हो जायंगे ? महर्षि दयानन्दजीने अपने सत्यार्थ-प्रकाशमें इसपर कुछ प्रकाश डाला है, जहां उनके शब्द इस प्रकार है—

"जिन उत्तम पदार्थोंके खाने-पीनेसे ब्राह्मण और ब्राह्मणीके शरीरमें दुर्गन्धादि दोषरहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है वैसा चाण्डाल और चाण्डालीके शरीरमें नहीं। क्योंकि चाण्डालका शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मण वर्णोंका नहीं। इसलिए ब्राह्मण आदि उत्तम वर्णोंके हाथका खाना और चाण्डाल आदि नीच भंगी चमार आदिका न खाना।"

चाण्डाल आदिके दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरे हुए माता-पिताके शरीरमें उत्पन्न रज-वीर्य, जो उन माता-पिताके घरके उत्पन्न बालकमें प्रवेश कर चुके, उनकी शुद्धि हो सकती है या नहीं, और हो सकती है तो उसकी प्रक्रिया क्या है तथा उनके शुद्ध होनेमें कितना समय अपेक्षित है ?- विद्वत् समुदाय एवं वर्तमान कालके वैज्ञानिक लोग इस बातपर विचार करके एवं परीक्षण करके निर्णय करें। यदि इस प्रकारकी शुद्धि बिना किसी प्रक्रियाके स्वाभाविक रूपमें पेशा बदलने मात्रसे हो सकती है तो उसके लिए कितना समय अपेक्षित है ?

गृहस्थ घरोंमें अपने अनुभवके आधारपर बडी बूढी महिलाओंकी यह मान्यता है कि रजस्वला स्त्रीके स्पर्शसे

एवं उनकी परिछांही मात्र पडनेसे घरके अचार-मुरब्बे तथा पापड जैसी वस्तुएँ खराब हो जाती हैं। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि रज-कालमें महिलाओंके शरीरमें कुछ ऐसे परमाणु उत्पन्न होते है जो हानिकारक होते है। इसपर विद्वत्-समाज तथा वैज्ञानिक लोग विचार एवं परिक्षण करके निर्णय करें कि रजस्वला स्त्री रजोदर्शनके समयसे अस्पृश्य है या नहीं, और यदि है तो कितने काल तकके लिये ?

विद्वत्-समाज और वैज्ञानिकोंके निर्णयमें मतभेद होनेपर अथवा उस निर्णयके बाद भी यदि कोई व्यक्ति अपनी शुद्ध धारणाके अनुसार उनके निर्णयके अनुकूल न बरते तो उसको संविधानने ' फण्डामेण्टल राइट्स ' के अन्तर्गत इच्छानुसार बरतनेकी छूट दे रखी है। आजके विज्ञान द्वारा धूम्रपानकी बुराइयां, शराबकी बुराइयां प्रमाणित की जानेपर भी लोग ' फण्डामेण्टल राइट्स ' के अन्तर्गत छूटके साथ उनका उपयोग करते ही हैं।

शास्त्रोंके विधान और उनके अर्थपर लडाई- झगडा करनेसे हरिजनोंको कोई लाभ नहीं होना है। अपनी-अपनी शुद्ध मान्यताके अनुसार उनके लिये कुछ ठोस कार्य किया जाय तो उसीसे उनको लाभ होगा।

जो समुदाय यह समझते हैं कि सरकारी नौकरियोंमें उनके लिये कुछ जगहोंका आरक्षण कर देनेसे उनका भाग्य चमक उठेगा, वे वैसा करें। उनको ऐसा करनेसे कोई रोकता नहीं है। अभी तक २२ वर्षोंमें तो उनका भाग्य कुछ चमका दीखता नहीं।

जो लोग यह समझते हैं कि उनसे पाखाना साफ करानेका और पाखाना ढोनेका काम न कराया जाय तो उनकी अस्पृश्यता मिट जायगी, वे इसी प्रकार करना आरम्भ कर दें, लेकिन इस बातका ध्यान रक्खें कि उनकी पेट भरनेलायक आजीविका बनी रहे।

जो यह समझते हैं कि भंगियोंसे पाखाना साफ करवानेके साथ-साथ उनको भोजन बनानेके लिये रसोई-घरमें नियुक्त करना चाहिये, वे वैसा करना आरम्भ कर दें। सब लोग अपने अपने विचारोंके अनुसार—थोथा प्रचार छोडकर—कुछ करें।

जिनका इसमें विश्वास हो कि अस्पृश्यता निवारण सप्ताह मनानेसे अस्पृश्यता दूर हो जायगी वे केवल सप्ताह ही क्यों मनावें, वर्ष मनावें, युग मनावें और जब तक अस्पृश्यता दूर न हो जाय, तब तक अपने विश्वासके अनुसार ऐसा मानते चले जायें।

जो महानुभाव रजस्वला स्त्रियों और भंगी आदि हरिजनोंका स्पर्श होनेपर स्नान करना जरूरी नहीं समझते, वे स्नान न करें, लेकिन जो लोग आवश्यकता पडनेपर उनका स्पर्श करके उनसे घृणा किये बिना स्नान करना आवश्यक समझते हैं उनको अपशब्द न कहें और उनकी मान्यताके अनुसार उन्हें वैसा करने देवें।

अपने मतसे मत न मिलनेवालेकी कटु और अपशब्दोंमें भर्त्सना करनेकी बजाय यदि सब लोग अपने-अपने विचार और विश्वासके अनुसार हरिजनोंके लिए कुछ करना आरम्भ कर दें तभी उन हरिजनोंको वास्तविक लाभ होगा। पारस्परिक वाद-विवादसे हरिजनोंका कोई हित होनेवाला नहीं है। यदि देशकी एकता बनाये रखनी है और समाजको विघटनसे बचाना है तो यह समझौता करना होगा कि एक-दूसरेपर अपनी मान्यता जबर्दस्ती न लादकर प्रत्येक व्यक्ति ईमानदारीसे जो कुछ भी हितकर समझता है उसको अपने व्यक्तिगत जीवनमें स्वयं उसी प्रकार आचरण करनेकी स्वतंत्रता दी जाय।

ऋग्वेदका सुबोध-भाष्य

चतुर्थ मण्डल

[१]

[ऋषिः— वामदेवो गौतमः । देवता— अग्निः, २-५ अग्नीवरुणौ वा । छन्दः— त्रिष्टुप्, १ अष्टिः
२ अतिजगती; ३ धृतिः]

१ त्वां ह्यग्ने सदमित् समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे ।
अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम् ॥ १ ॥

२ स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं ज्येष्ठं यज्ञवनसम् ।
ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं राजानं चर्षणीधृतम् ॥ २ ॥

---

[१]

अर्थ— [१] हे (अग्ने) अग्ने ! (समन्यवः देवासः) उत्साहशील देवगण (अरतिं देवं त्वां सदमित् हि न्येरिरे) नष्ट न होनेवाले और तेजस्वी तुझको सदैव प्रेरित करते हैं। तथा (क्रत्वा न्येरिरे) अपने पुरुषार्थसे तुझे प्रेरित करते हैं। हे (यजत) यजनीय अग्ने (अमर्त्यं आदेवं प्रचेतसं) अमर, सर्वत्र द्युतिमान् और अत्यन्त ज्ञानी तुझे (मर्त्येषु आदेवं जनत) मनुष्योंके मध्यमें अच्छी तरह तेजस्वी होनेतक प्रज्वलित करते हैं निश्चयसे (विश्वं प्रचेतसं आदेवं जनत) सब कर्मोंके जाननेवाले तुझे अत्यन्य तेजस्वी होनेतक प्रज्वलित करते हैं ॥ १ ॥

[२] हे (अग्ने) अग्नि देव ! (सः) वह तू (यज्ञवनसं) यज्ञमें आनेकी इच्छा करनेवाले तथा (यज्ञवनसं) यज्ञके द्वारा सत्कृत होनेवाले (ऋतावानं) सत्यशील (आदित्यं) जलोंको ग्रहण करनेवाले (चर्षणीधृतं) प्राणियोंके आधार तथा (चर्षणीधृतं) प्राणियोंके संरक्षक (राजानं) तेजस्वी (ज्येष्ठं भ्रातरं) अपने श्रेष्ठ भाई (वरुणं) वरुणको (सुमती) उत्तम बुद्धिसे (देवान् अच्छ आ ववृत्स्व) देवोंकी तरफ प्रेरित कर ॥ २ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! सब उत्साहशील देवगण तुझे मनुष्योंके बीचमें अपने पुरुषार्थसे अच्छी तरह प्रकाशित होनेतक प्रज्वलित करते हैं और तुझे प्रेरित करते हैं ॥ १ ॥

हे अग्निदेव ! यज्ञमें सत्कृत होनेके कारण यज्ञमें आनेकी इच्छा करनेवाले सत्यशील, जलोंको ग्रहण करनेवाले प्राणियोंके आधार एवं संरक्षक तेजस्वी वरुणको विद्वानों और ज्ञानियोंकी तरफ प्रेरित कर ॥ २ ॥

३ सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या ।
अग्ने मृळीकं वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु ।
तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि ॥ ३ ॥

४ त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥ ४ ॥

५ स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि ॥ ५ ॥

अर्थ— [३] हे (दस्म सखे) सुन्दर मित्र अग्ने ! (रंह्या रथ्या आशुं चक्रं इव) वेगवान् घोडे जिस प्रकार शीघ्रतागामी रथको प्रेरित करते हैं अथवा (रंह्या न) वेगवान् घोडे जिस प्रकार वीरके द्वारा प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार अपने (सखायं) मित्र वरुणको (अभि आ ववृत्स्व) हमारी ओर प्रेरित कर ! हे (अग्ने) अग्ने ! तू (वरुणे विश्वभानुषु मरुत्सु सचा) वरुण और सर्वत्र प्रकाशित होनेवाले मरुतोंके साथ (मृळीकं विदः) सुखकारी सोमको प्राप्त कर । हे (शुशुचान) तेजस्वी अग्ने ! तू (तोकाय तुजे) पुत्र और पौत्रोंके लिए (शं कृधि) कल्याण और सुख प्रदान कर तथा हे (दस्म) सुन्दर दर्शनीय अग्ने ! (अस्मभ्यं शं कृधि) हमारे लिए सुख प्रदान कर ॥ ३ ॥

[४] हे (अग्ने) प्रकाशक देव ! (विद्वान् त्वं) ज्ञानवान् तू (नः) हमारे ऊपर (वरुणस्य देवस्य) वरुण-देवका जो (हेळः) क्रोध है, उसे (अव यासिसीष्ठाः) हमारे ऊपरसे दूर कर । (यजिष्ठः) अत्यन्त पूज्य (वन्हितमः) हवियोंको ले जानेमें अत्यन्त कुशल तथा (शोशुचानः) अत्यन्त तेजस्वी तू (अस्मत्) हमसे (विश्वा द्वेषांसि) सम्पूर्ण द्वेष भावनाओंको (प्र मुमुग्धि) दूर कर ॥ ४ ॥

[५] हे (अग्ने) अग्ने ! (सः त्वं) वह तू (ऊती) अपनी रक्षाके साधनोंसे (नः अवमः) हमारी उत्तमतासे रक्षा करनेवाला होकर (अस्या उषसः व्युष्टौ) इस उषाके प्रकाशित होनेपर (नेदिष्ठः भव) हमारे अत्यन्त समीप आवो । (रराणः) आनन्दित होकर (नः वरुणं अव यक्ष्व) हमारे ऊपर वरुणके क्रोधको नष्ट कर, (मृळीकं वीहि) सुखकारी सोमकी अभिलाषा कर तथा (सुहवः) उत्तम रीतिसे बुलाया जाकर (नः एधि) हमें बढा-समृद्ध कर ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! जिस प्रकार वेगवान् घोडे शीघ्रगामी रथको प्रेरित करते हैं और वे घोडे स्वयं भी प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार तू वरुणको हमारी ओर प्रेरित कर, तथा वरुण और अत्यन्त तेजस्वी मरुतोंके साथ आकर सुखकारी सोमको प्राप्त कर तथा हमारे द्वारा सुख प्राप्त करके हमारे पुत्र पौत्र तथा हमारे लिए भी सुख प्रदान कर ॥ ३ ॥

हे ज्ञानवान् अग्ने ! हमारे किसी अपराधके कारण यदि वरुण देवका क्रोध हम पर हो तो उस क्रोधको तू दूर कर तथा अत्यन्त श्रेष्ठ तू हमारे अन्दरसे सब द्वेष भावनाओंको दूर कर ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! अपनी रक्षाके साधनोंसे हमारी अच्छी तरह रक्षा कर और प्रतिदिन प्रातःकाल हमारे समीप प्रज्वलित हो अर्थात् हम प्रतिदिन यज्ञ करें । हमारे यज्ञोंमें तू सुखकारी हवियोंको प्राप्त कर तथा हमारे ऊपर वरुण देवका जो क्रोध हो उसे दूर करके हमें समृद्ध कर और बढा ॥ ५ ॥

६ अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य संदृग् देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु ।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः ॥ ६ ॥
७ त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः ॥ ७ ॥
८ स दूतो विश्वेदभि वष्टि सद्मा होता हिरण्यरथो रंसुजिह्वः ।
रोहिदश्वो वपुष्यो विभावा सदा रण्वः पितुमतीव संसत् ॥ ८ ॥
९ स चेतयन्मनुषो यज्ञबन्धुः प्र तं मह्या रशनया नयन्ति ।
स क्षेत्यस्य दुर्यासु साधन् देवो मर्तस्य सधनित्वमाप ॥ ९ ॥

अर्थ— [६] (इव) जैसे (देवस्य अघ्न्यायाः घृतं शुचि तप्तं) उत्तम गोपालक पुरुषकी गौका दूध और घी शुद्ध और तेजस्वी होता है तथा (धेनोः मंहना) गायका दान श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार (सुभगस्य देवस्य श्रेष्ठा संदृक्) उत्तम ऐश्वर्यवाले अग्निका प्रशंसनीय तेज (मर्त्येषु चित्रतमा स्पार्हा) मनुष्योंमें अत्यन्त पूजनीय और स्पृहणीय होता है ॥ ६ ॥

१ देवस्य अघ्न्यायाः घृतं शुचि तप्तं— उत्तम गोपालककी गायका दूध या घी पवित्र और तेज देनेवाला है। अतः गायका उत्तम रीतिसे पालन करना चाहिए।

२ धेनोः मंहना— गायका दान भी श्रेष्ठ होता है।

[७] (अस्य देवस्य अग्नेः) इस दिव्य गुणवाले अग्निके (ता त्रिः परमा) तीन उत्तम (सत्या, जनिमानि, स्पार्हा सन्ति) यथार्थभूत जन्म स्पृहणीय हैं (अनन्ते अन्त परिवीतः) अनन्त आकाशके मध्यमें व्याप्त (शुचिः शुक्रः रोरुचानः अर्यः आगात्) सबका शोधक दीप्तियुक्त अत्यधिक प्रकाशमान् स्वामी अग्नि हमारे पास आवे ॥ ७ ॥

१ ता त्रिः जनिमानि— वे तीन जन्म पृथ्वी पर अग्निके रूपमें, अन्तरिक्षमें विद्युत्के रूपमें और द्युलोकमें सूर्यके रूपमें अग्निके तीन जन्म।

[८] (दूतः होता हिरण्यरथः रंसुजिह्वः सः) दूत, देवोंका बुलानेवाला, सुवर्ण रथवाला, सुन्दर ज्वालावाला वह अग्नि (विश्वेत् सद्म अभि वष्टि) सभी उत्तम घरोंमें जानेकी इच्छा करता है। तथा (रोहित् अश्वः, वपुष्यः विभावा, पितुमती संसत् इव सदा रण्वः) रोहित वर्णके अश्वोंवाला, रूपवान्, कान्तियुक्त वह अन्नसे सम्पन्न घरके समान सदा सुखकर है ॥ ८ ॥

[९] (यज्ञबन्धुः सः) यज्ञमें सबका भाई वह अग्नि (मनुष्यः चेतयत्) मनुष्योंको ज्ञानयुक्त करता है अध्वर्युगण (मह्या रशनया तं प्र नयन्ति) बडी रज्जु द्वारा उसको उत्पन्न करते हैं। (सः अस्य मर्तस्य दुर्यासु साधन् क्षेति) वह इस यजमानके घरोंमें उसके कार्योंको करता हुआ निवास करता है। तथा (देवः सधनित्वं आप) द्योतमान् अग्नि अपने भक्तके पास प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

१ यज्ञबन्धुः मनुष्यः चेतयत्— यज्ञ अर्थात् संगठनके कार्योंसे प्रेम करनेवाला ही मनुष्योंको ज्ञान दे सकता है।

भावार्थ— जिस प्रकार उत्तम रीतिसे पाली हुई गायका दूध और घी उत्तम तेजका देनेवाला होता है और ऐसी गायका दान भी मनुष्योंमें प्रशंसनीय होता है, उसी प्रकार यह अग्नि भी तेजका देनेवाला होनेसे मनुष्योंमें बहुत प्रशंसनीय है ॥ ६ ॥

इस अग्निके तीनों जन्म बहुत उत्तम हैं। इस तीन जन्मोंवाला अनन्त आकाशमें व्याप्त यह अग्नि तेजस्वी शुद्ध होकर हमारे पास आवे ॥ ७ ॥

देवोंका दूत, देवोंको बुलानेवाला उत्तम तेजस्वी ज्वालाओंवाला वह, अग्नि उत्तम घरोंमें जानेकी इच्छा करता है और वह अन्न सम्पन्न घरकी तरह सबके लिए सुखकर है ॥ ८ ॥

१० स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्नं देवभक्तं यदस्य ।
धिया यद् विश्वे अमृता अकृण्वन् द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन् ॥ १० ॥

११ स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे ॥ ११ ॥

१२ प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे ।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे ॥ १२ ॥

अर्थ— [१०] (देवभक्तं यत् रत्नं अस्य) देवोंके द्वारा भजनीय जो उत्कृष्ट ऐश्वर्य इस अग्निका है उस श्रेष्ठ ऐश्वर्यको (प्रजानन् स अग्निः) अच्छी प्रकारसे जानता हुआ वह अग्नि (नः अच्छ तु नयतु) हमें शीघ्र प्राप्त करावे। (अमृताः विश्वे धिया यत् अकृण्वन्) मरण रहित सब देवताओंने अपनी बुद्धिसे जिस अग्निको उत्पन्न किया उस (सत्यं) अविनाशी अग्निको (पिता जनिता द्यौः) सबको उत्पन्न करनेवाले द्युलोक (उक्षन्) घृतादि आहुतियोंसे सींचते हैं ॥ १० ॥

[११] (सः प्रथमः) वह अग्नि सबसे प्रथम (पस्त्यासु) मनुष्योंके घरोंमें उत्पन्न हुआ, (अस्य महः रजसः बुध्ने) फिर इस महान् अन्तरिक्षमें तत्पश्चात् अपने मूल स्थान (योनौ जायत) पृथ्वीमें उत्पन्न हुआ। यह अग्नि (अपात् अशीर्षा) पादरहित मस्तकरहित है। यह (अन्ता गुहमानः वृषभस्य नीळे आयोयुवानः) अन्दर गुप्त होकर जलवर्षी मेघमें अपनेको एक कर देता है ॥ ११ ॥

[१२] (ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे) जलके मूल स्थान अन्तरिक्षमें जल सिंचन करनेवाले मेघके स्थानमें स्थित अग्निने (विपन्या प्रथमं शर्धः आर्त) स्तुतिके द्वारा सबसे श्रेष्ठ बलको प्राप्त किया ! (वृष्णे) अपनी कामनाओंकी तृप्तिके लिए (प्रियासः सप्त) प्रेम करनेवाले सात होताने (स्पार्हः, युवा, वपुष्यः, विभावा) स्पृहणीय, तरुण, उत्तम शरीरवाले तथा तेजस्वी अग्निको (अजनयन्त) उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

१ वृषभस्य विपन्या प्रथमं शर्धः आर्त— इस बलवान् अग्निकी स्तुतिसे मनुष्य सर्वोत्तम बल प्राप्त करता है और—

२ ऋतस्य योना— सत्यके स्थानमें जाकर विराजता है।

भावार्थ— यज्ञसे प्रेम करनेवाला यह अग्नि मनुष्योंको ज्ञानसे युक्त करता है और वे मनुष्य इसे रस्सीसे मथकर उत्पन्न करते हैं। उत्पन्न होकर वह मनुष्योंके घरोंमें रहता है और उनके साथ मैत्री करता है ॥ ९ ॥

अत्यन्त उत्तम ऐश्वर्यको अग्नि जानता हुआ हमें प्रदान करे। अमर देवों द्वारा उत्पन्न किया गया वह अग्नि द्युलोक द्वारा घृतादिसे सिंचित होता है ॥ १० ॥

यह अग्नि सर्व प्रथम मनुष्योंके घरमें उत्पन्न हुआ, फिर अन्तरिक्ष और पृथ्वीमें उत्पन्न हुआ। इसके न सिर है न पैर अतः यह हमेशा छिपा हुआ रहता है। यह अन्तरिक्षमें जाकर मेघोंसे बिलकुल मिल जाता है ॥ ११ ॥

अन्तरिक्षमें मेघोंमें स्थित अग्नि स्तुतियोंके द्वारा बल प्राप्त करता है। सदा तरुण तथा उत्तम शरीरवाले इस अग्निको सात होताओंने उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

१३ अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः ।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥ १३ ॥
१४ ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो वि वोचन् ।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन् विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः ॥ १४ ॥
१५ ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धं गा येमानं परि षन्तमद्रिम् ।
दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ १५ ॥
१६ ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन् ।
तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः ॥ १६ ॥

अर्थ— [१३] (अत्र अस्माकं पितरः मनुष्याः ऋतं आशुषाणाः) यहाँ इस लोकमें हमारे पितर मनुष्य गणोंने यज्ञ करते हुए अग्निको (अभि प्रसेदुः) प्राप्त किया था। उन्होंने (उषसः हुवानः) उषाकी स्तुति करते हुए (अश्मव्रजाः वव्रे अन्तः) पर्वतोंसे घिरे हुये, गुहाके अन्धकारमें स्थित (सुदुघाः उस्राः उत् आजन्) दुधारु गौवोंको उस अन्धकारपूर्ण गुहासे बाहर निकाला ॥ १३ ॥

[१४] (ते अद्रिं ददवांसः मर्मृजत) उन पितर लोगोंने पर्वतको विदीर्ण कर अग्निको शुद्ध किया (एषां तत् अन्ये अभित वि वोचन्) उनके इस प्रकारके कर्मोंका दूसरे लोगोंने सर्वत्र बखान किया। (पश्वयन्त्रासः, कारं अभि अर्चन् ज्योतिः विदन्त) पशुओंकी रक्षाका उपाय जाननेवाले उन्होंने अभीष्ट फल देनेवाले अग्निकी स्तुति की और ज्योति प्राप्त की तथा अपनी (धीभिः चकृपन्त) बुद्धियों द्वारा अपनेको सामर्थ्य युक्त बनाया ॥ १४ ॥

१ धीभिः चकृपन्त ज्योतिः विदन्त— जो बुद्धियों द्वारा अपनेको सामर्थ्य युक्त बनाते हैं, वे ही ज्योति प्राप्त करते हैं।

२ एषां तत् अन्ये अभितः वि वोचन्— इनके उस यशका दूसरे लोग सर्वत्र गान करते हैं।

[१५] (ते नरः) उन सब नेताओंने (उशिजः मनसा गव्यता) अग्निकी कामना करनेवाले मनसे गोलाभकी इच्छा करके (दृध्रं उब्धं, दृळहं गाः येमानं परिसन्तं गोमन्तं, वज्रं अद्रिं) द्वारको रोकनेवाले, अच्छी तरह बन्द, सुदृढ, गौवोंके अवरोधक, सर्वत्र व्याप्त, गौवोंसे पूर्ण गोष्ठरूप पर्वतको (दैव्येन वचसा विवव्रुः) दिव्यवाणीसे खोल दिया ॥ १५ ॥

[१६] (ते प्रथमं मातुः धेनोः नाम मन्वत) उन ऋषियोंने सर्वप्रथम मातारूप वाणीका ज्ञान प्राप्त किया। फिर इसके पश्चात् (त्रिः सप्त परमाणि विन्दन्) इक्कीस उत्तम छन्दोंको जाना। तदनन्तर (तत् जानतीः व्राः अभ्यनूषत) उनको जाननेवाली उषाका स्तवन किया, तब (गोः यशसा अरुणीः आविः भुवत्) सूर्यके तेजके साथ अरुण वर्णवाली उषा प्रादुर्भूत हुई ॥ १६ ॥

भावार्थ— इस मर्त्यलोकके सर्व प्रथम प्राचीन मनुष्योंने यज्ञकी इच्छासे अग्निको प्राप्त किया, फिर उन्होंने उषाकी स्तुति करते हुए पर्वतोंकी गुहाओंमें बन्द कर दिए गए दुधारु गायोंको बाहर निकाला ॥ १३ ॥

पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाले प्राचीन मनुष्योंने अग्निको शुद्ध किया और उनकी शूरताका यश चारों और फैला। उन्होंने पशुओंकी रक्षा करके ज्योति प्राप्त की और अपनी बुद्धियोंसे स्वयंको सामर्थ्यवान् बनाया ॥ १४ ॥

नेताओंने गायोंकी इच्छा करते हुए गौवोंसे परिपूर्ण पर्वतकी गुहाको अपनी दिव्य वाणियोंसे ही खोल दिया ॥ १५ ॥

ऋषियोंने सर्व प्रथम वाणीका ज्ञान प्राप्त किया, फिर उस वाणीसे २१ छन्दोंका ज्ञान प्राप्त करके उषाकी स्तुति की, तब सूर्यके तेजके साथ उषा प्रकट हुई ॥ १६ ॥

१७ नेशत् तमो दुधितं रोचत द्यौ- रुद् देव्या उषसो भानुरर्त ।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥ १७ ॥
१८ आदित् पश्चा बुबुधाना व्यख्य- न्नादिद् रत्नं धारयन्त द्युभक्तम् ।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु ॥ १८ ॥
१९ अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम् ।
शुच्यूधो अतृणन्न गवा- मन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः ॥ १९ ॥
२० विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम् ।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः ॥ २० ॥

अर्थ— [१७] (तमः दुधितं नेशत्) रात्रीके द्वारा उत्पन्न अंधकार उषाकी प्रेरणासे नष्ट हुआ । (द्यौः रोचत) फिर अन्तरिक्ष प्रकाशमान् हुआ । (उषसः देव्याः भानुः उत अर्त) उषादेवीकी आभा प्रकट हुई और उसके अनन्तर (मर्तेषु ऋजु च वृजिना पश्यन् सूर्यः) मनुष्योंमें सत् और असत् कर्मोंका अवलोकन करता हुआ सूर्य (बृहतः अज्रान् आ तिष्ठत्) विशाल मैदानोंके ऊपर आरूढ हुआ ॥ १७ ॥

[१८] (आदित् बुबुधानाः पश्चा व्यख्यन्) सूर्योदयके अनन्तर ऋषियोंने पृथ्वीकी पीठ पर अग्निको प्रकाशित किया। और (आदित् द्युभक्तं रत्नं) उसके अनन्तर तेजस्वी रत्नोंको धारण किया। तब (विश्वासु दुर्यासु विश्वेदेवाः) समस्त गृहोंमें सब यजनीय देवगण आये। (वरुण, मित्र, धिये सत्यं अस्तु) उपद्रवोंके निवारक और मित्र भूत हे अग्ने ! बुद्धिमान् मनुष्यके लिए उसकी सभी कामनाएं सत्य हों ॥ १८ ॥

[१९] (शुशुचानं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठं अग्निं) अत्यन्त दीप्तिमान् देवोंको आह्वान करनेवाले विश्वपोषक और पूजनीयोंमें सर्वश्रेष्ठ अग्निकी (अच्छ वोचेय) हम स्तुति करें। यद्यपि यजमानने (गवां ऊधः शुचिः न अतृणत्) गौवोंके थनोंसे शुद्ध दूध नहीं दुहा है और (अंशोः अन्धः पूतं न परि षिक्तं) सोमको पवित्रतासे नहीं निचोडा है, तो भी तू इस स्तुतिको स्वीकार कर ॥ १९ ॥

[२०] (अग्निः विश्वेषां यज्ञियानां अदितिः) अग्नि समस्त यज्ञीय देवोंको अदितिके समान उत्पन्न करनेवाला और (विश्वेषां मानुषाणां अतिथिः) सम्पूर्ण मनुष्योंके लिए पूजाके योग्य अतिथि है (देवानां अवः आवृणानः जातवेदाः) उत्तम मनुष्योंकी स्तुतियोंको स्वीकार करनेवाला अग्नि स्तुति करनेवालोंके लिये (सुमृळीकः भवतु) सुखकर हो ॥ २०

भावार्थ— उषाकी प्रेरणासे रात्रीका अन्धकार दूर हुआ, अन्तरिक्ष चमका, उषाकी आभा प्रकट हुई और तब मनुष्योंके सभी तरहके कर्मोंका निरीक्षण करता हुआ सूर्य मैदानोंमें चमकने लग गया। प्रभातकालका बहुत सुन्दर और सजीव चित्रण है ॥ १७ ॥

सूर्योदयके बाद पृथ्वीपर ऋषियोंने यज्ञ शुरु किए और सम्पत्ति युक्त हुए, तब सभी देवता उस यज्ञमें आए। हे मित्र, भूत, अग्ने ! इस यज्ञसे बुद्धिमान्की सभी इच्छाएं पूर्ण हों ॥ १८ ॥

हे अग्ने ! यह यजमान इतना निर्धन है कि वह गायोंको दुह कर अथवा सोमका रस निकाल कर तुझे प्रदान नहीं कर सकता, तो भी तू उसकी स्तुतिको स्वीकार कर ॥ १९ ॥

अग्नि सभी पूजनीय देवोंको उत्पन्न करनेवाला और समस्त मनुष्योंके लिए पूजनीय अतिथिके समान है। ऐसा उत्तम मनुष्योंकी स्तुतियोंको स्वीकार करनेवाला सर्वज्ञ अग्नि सभीके लिए सुखकर हो ॥ २० ॥

[२]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

२१ यो मर्त्येष्वमृतं ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥ १ ॥

२२ इह त्वं सूनो सहसो नो अद्य जातो जाताँ उभयाँ अन्तरग्ने ।
दूत ईयसे युयुजान ऋष्व ऋजुमुष्कान् वृषणः शुक्रांश्च ॥ २ ॥

२३ अत्या वृधस्नू रोहिता घृतस्नू ऋतस्य मन्ये मनसा जविष्ठा ।
अन्तरीयसे अरुषा युजानो युष्मांश्च देवान् विश आ च मर्तान् ॥ ३ ॥

२४ अर्यमणं वरुणं मित्रमेषा- मिन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत ।
स्वश्वो अग्ने सुरथः सुराधा एदु वह सुहविषे जनाय ॥ ४ ॥

---

[२]

अर्थ— [२१] (अमृतः यः अग्निः मर्त्येषु ऋतावा निधायि) मरणरहित जो अग्नि मनुष्योंके मध्यमें सत्यस्वरूपसे रहता है। (देवेषु अरातिः होता यजिष्ठः देवः) देवोंके बीचमें शत्रुओंका पराभवकर्ता, देवोंको बुलानेवाला तथा सबसे अधिक पूजनीय तेजस्वी अग्नि अपने (मह्ना हव्यैः शुचध्यै मनुषः इरयध्यै) महान् तेजसे हव्योंके द्वारा प्रज्ज्वलित करनेके लिए मनुष्योंको प्रेरित करता है ॥ १ ॥

[२२] हे (सहसः सूनो ऋष्व अग्ने) हे बलके पुत्र तथा दर्शनीय अग्ने ! (अद्य नः इह त्वं जातः) आजके दिन हमारे इस कार्यमें उत्पन्न होकर तू अपने (ऋजुमुष्कान् वृषणः च शुक्रान् युयुजानः) कोमल, मांसलयुक्त, बलवान् और दीप्तिमान् अश्वोंको रथमें जोड करके (जातान् उभयान् अन्तः दूतः ईयसे) उत्पन्न हुए हुए देव और मनुष्योंके मध्यमें दूत बन कर जाता है ॥ २ ॥

[२३] हे अग्ने ! मैं (ऋतस्य) सत्यस्वरूप तेरे (रोहिता) लाल वर्णवाले (मनसा जविष्ठा, वृधस्नू घृतस्नू) मनकी अपेक्षा भी अधिक वेगवाले अन्नको बढानेवाले और जलकी वर्षा करनेवाले (अत्या मन्ये) घोडोंकी प्रशंसा करता हूँ तू (युष्मान् अरुषा युजानः) अपने दीप्तिमान् घोडोंको रथमें जोड करके (देवान् विशः मर्तान् अन्तः आ ईयसे) देवों और सेवा करनेवाले मनुष्योंके बीचमें घूमता रहता है ॥ ३ ॥

[२४] हे (अग्ने) अग्ने ! (सु अश्वः सुरथः सु राधाः) उत्तम घोडोंवाला, उत्तम रथवाला और उत्तम ऐश्वर्यसे सम्पन्न होकर तू (एषां, सु हविषे जनाय) इन मनुष्योंके बीचमें शोभन हविवाले यजमानके लिये (अर्यमणं, वरुणं, मित्रं, इन्द्राविष्णू, मरुतः, आश्विना) अर्यमा, वरुण, मित्र, इन्द्र, विष्णु, मरुद्गण, तथा दोनों अश्विनीकुमारोंको (आ वह इत ऊं) इस स्थान पर बुला ला ॥ ४ ॥

भावार्थ— मर्त्योंमें अमर वह अग्नि सत्यको स्थापित करता है। ऐसा शत्रुओंका पराभव करनेवाला देवोंको बुलानेवाला अग्नि अपने तेजसे मनुष्योंको हवि प्रदान करनेके लिए प्रेरित करे ॥ १ ॥

हे अग्ने ! तू अपने शक्तिशाली पुट्ठोंवाले घोडोंको रथमें जोडकर देव और मनुष्योंके बीचमें इनके कर्मोंका निरीक्षण करनेके लिए जाता है ॥ २ ॥

अग्निके घोडे लाल रंगके मनसे भी वेगवान् वृद्धि करनेवाले तथा घृतादि पदार्थोंकी वर्षा करनेवाले हैं, ऐसे तेजस्वी घोडोंको अपने रथमें जोडकर मनुष्यों और देवोंके बीच जा कर इनके कामोंका निरीक्षण करता है ॥ ३ ॥

उत्तम घोडों, रथों और ऐश्वर्यसे सम्पन्न यह अग्नि उत्तम हविवाले मनुष्यके लिए सब देवोंको बुलाकर लाता है ॥ ४ ॥

२५ गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः ।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान् ॥ ५ ॥
२६ यस्त इध्मं जभरत् सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया ।
भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने विश्वस्मात् सीमघायत उरुष्य ॥ ६ ॥
२७ यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत् ।
आ देवयुरिनधते दुरोणे तस्मिन् रयिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान् ॥ ७ ॥
२८ यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात् प्रियं वा त्वा कृणवते हविष्मान् ।
अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् तमंहसः पीपरो दाश्वांसम् ॥ ८ ॥

अर्थ— [२५] हे (असुर अग्ने) बलवान् अग्ने ! मेरा (एषः यज्ञः गोमान् अविमान् अश्वी) यह यज्ञ गौ, भेड और अश्वको प्राप्त करानेवाला (नृवत्सखा, सदं इत् अप्रमृष्यः, इळावान्) उत्तम मनुष्योंसे भरपूर, सदैव ही विघ्नरहित, अन्नसे सम्पन्न, (प्रजावान् दीर्घः रयिः, पृथुबुध्नः सभावान्) सन्तानोंसे युक्त चिरकालतक रहनेवाले धनसे सम्पन्न दृढ नींववाला और उपदेश करनेवाले ज्ञानियोंसे पूर्ण हो ॥ ५ ॥

[२६] हे (अग्ने) अग्ने ! (यः ते सिष्विदानः इध्मं जभरत्) जो पुरुष तेरे लिये पसीनेसे युक्त होकर समिधाओंके भारको ढोता है, और (वा त्वया मुर्धानं ततपते) जो तेरी कामनासे अपने मस्तकको काष्टके बोझसे दुःखी करता है, (तस्य स्वतवान् भुवः पायुः) उस व्यक्तिको तू धनवान् बना एवं उसका पालन कर। तू (सीं, विश्वस्मात् अघायतः उरुष्य) उसकी सब प्रकारके पापियोंसे भी रक्षा कर ॥ ६ ॥

१ यः ते सिष्विदानः इध्मं आभरत् मूर्धानं ततपते, तस्य स्वतवान् भुवः पायुः विश्वस्मात् अघायतः उरुष्य— जो इस अग्निके लिए बहुत परिश्रम करके पसीनेसे लथपथ हो, अपने सिर पर समिधायें ढोकर लाता है, उसे यह अग्नि धनवान् बनाता है और पापियोंसे चारों ओरसे रक्षा करता है ।

[२७] हे अग्ने ! (अन्नियते यः ते अन्नं भरात्) अन्नकी कामनासे जो तुझे अन्न देता है, और (चित् मन्द्रं निशिषत्) हर्ष पैदा करनेवाले सोमको तुझे प्रदान करता है, जो (अतिथिं उदीरत्) अतिथिके समान तेरा आदर करता है, और (आ देवयुः दुरोणे इनधते) देवत्वकी इच्छा करके अपने घरमें प्रज्ज्वलित करता है, (तस्मिन् दास्वान् रयिः ध्रुवः अस्तु) उसके घरमें उदारता तथा अचल और बहुत प्रमाणमें सम्पत्ति हो ॥ ७ ॥

[२८] हे अग्ने ! (यः दोषा, यः उषसि त्वा प्रशंसात्) जो मनुष्य रात्रीकालमें और जो उषःकालमें तेरी स्तुति करता है, तथा (वा हविष्मान् त्वा प्रियं कृणवते) जो हव्यसे युक्त हो करके तुझको प्रसन्न करता है, तो तू (स्वे दमे) उसके अपने घरमें (हेम्यावान् अश्वः यः न दाश्वांसं तं अंहसः पीपरः) सुवर्णसे बने हुये जीनवाले अश्वकी तरह श्रद्धासे हवि देनेवाले उस मनुष्यको पापरूप दरिद्रतासे पार कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे प्राणदाता अग्ने ! मेरा यह यज्ञ गौ, बकरी, घोडे, मनुष्योंसे युक्त सदा विघ्नरहित सन्तान देनेवाला अविनश्वर संपति देनेवाला तथा उपदेशक ज्ञानियोंसे युक्त हो ॥ ५ ॥

जो बहुत परिश्रम करके इस अग्निकी सेवा करता है, वह सब प्रकारके धनोंसे समृद्ध होकर पुण्यशाली होता है ॥ ६ ॥

इस अग्निको जो हवि देता है, और सोम देता है और अतिथिके समान उसका सम्मान करता है, देवत्वप्राप्तिकी इच्छा करनेवाले उस मनुष्यके घरमें सम्पति हमेशा रहती है ॥ ७ ॥

जो मनुष्य इस अग्निकी रात्री और उषःकालमें स्तुति करता है और हविके द्वारा इसको प्रसन्न करता है, वह दरिद्रतासे उसी तरह पार हो जाता है, जिस तरह कोई यात्री तैयार घोडेके द्वारा यात्रा पार कर जाता है ॥ ८ ॥

२९ यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद् दुवस्त्वे कृणवते यतस्रुक् ।
न स राया शशमानो वि योष—न्नैनमंहः परि वरदघायोः ॥ ९ ॥

३० यस्य त्वमग्ने अध्वरं जुजोषो देवो मर्तस्य सुधितं रराणः ।
प्रीतेदसद्धोत्रा सा यविष्ठा—ऽसाम यस्य विधतो वृधासः ॥ १० ॥

३१ चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान् ।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥ ११ ॥

अर्थ— [२९] हे (अग्ने) अग्ने ! (यः अमृताय तुभ्यं दाशात्) जो मरणरहित तेरे लिये हव्य प्रदान करता है, (यतस्रुक्) जो स्रुवाको हाथमें उठाकर (त्वे दुवः कृणवते) तेरी सेवा करता है, (सः शशमानः राया न वि योषत्) वह स्तोत्र करनेवाला कभी धनधान्यसे रहित नहीं होता तथा (अघायोः अंहः एनं न परि वरत्) पापकी इच्छा करनेवाले हिंसकके पाप इसको कभी भी स्पर्श नहीं करते ॥ ९ ॥

१ यः अमृताय दाशत्, दुवः कृणवते राया न वि योषत्, अघायोः अंहः न परिवरत्— जो इस अमर अग्निको हवि देता और इसकी सेवा करता है, वह कभी भी निर्धन और पापी नहीं होता।

[३०] हे (रराणः देवः यविष्ठ अग्ने) आनन्दयुक्त, प्रकाशमान्, तरुण अग्ने ! (त्वं यस्य मर्तस्य) तू जिस मनुष्यका (सुधितं, अध्वरं जुजोषः) सुसम्पादित, हिंसारहित यज्ञका सेवन करता है, (यस्य सा होत्रा प्रीता इत् असत्) जिसके यज्ञमें वह होता निश्चय ही आनन्दमें रहता है। (विधतः, वृधासः असाम) उस तुझ यज्ञ सेवन करनेवाले अग्निको हम बढानेवाले हों ॥ १० ॥

१ त्वं यस्य मर्तस्य अध्वरं जुजोष, स प्रीता इत् असत्— यह अग्नि जिस मनुष्यके यज्ञका सेवन करता है, वह हमेशा आनन्दमें ही रहता है।

[३१] (वीता वृजिना पृष्ठा इव) जैसे अश्वको पालनेवाला उत्तम और खराब पीठवाले घोडोंको अलग अलग कर देता है, उसी प्रकार (विद्वान्) ज्ञानवान् अग्नि (मर्तान् चित्तिं च अचित्तिं चिनवत्) मनुष्योंके पुण्य और पापको पृथक् पृथक् करे। हे (देव) दिव्यगुण सम्पन्न अग्ने ! तू (सु-अपत्याय च नः राये) सुन्दर पुत्रकी प्राप्तिके लिये तू हमें श्रेष्ठ धनमें स्थापित कर। तू हमें (दितिं रास्व च अदितिं उरुष्य) दानशीलता दे और कंजुससे हमारी रक्षा कर ॥ ११ ॥

१ मर्तान् चित्तिं अचित्तिं चिनवत्— यह अग्नि मनुष्योंके पाप और पुण्योंको पृथक् पृथक् करता है।

२ दितिं रास्वं अदितिं उरुष्य— हमें दानशीलता दे और कजूंसीसे हमारी रक्षा कर।

भावार्थ— जो इस अमर अग्निको आहुति देता और स्रुवा द्वारा इसकी सेवा करता है, वह कभी भी धनसे रहित और पापी नहीं होता ॥ ९ ॥

यह अग्नि जिसके यज्ञमें जाता है, वह हमेशा आनन्दमें रहता है। हम भी इस अग्निको बढानेवाले हों ॥ १० ॥

यह अग्नि मनुष्योंके पाप और पुण्यकर्मोंको पृथक् पृथक् कर पुण्यशालियोंको उत्तम पुत्र, उत्तम धन और दानशीलता देकर कंजूसीसे उनकी रक्षा करता है ॥ ११ ॥

३२ कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः ।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः ॥ १२ ॥
३३ त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विधते यविष्ठ ।
रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथुश्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः ॥ १३ ॥
३४ अधा ह यद् वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः ।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजो ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः ॥ १४ ॥
३५ अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन् ।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः ॥ १५ ॥

अर्थ— [३२] हे (अग्ने) अग्ने ! (आयोः दुर्यासु निधारयन्तः) मनुष्यके घरोंमें निवास करनेवाले तथा (अदब्धाः कवयः) कभी भी पराजित न होनेवाले, दूरदर्शी देवताओंने, (कविं) मेधावी तेरी (शशासुः) प्रशंसा की है। (अतः अर्यः त्वं) इस कारणसे श्रेष्ठ तू (दृश्यान् अद्भुतान् एतान् एवैः पड्भिः पश्येः) दर्शनीय और अद्भुत इन देवोंको गमनशील अपने तेजोंसे देख ॥ १२ ॥

[३३] हे (घृष्वे, यविष्ठ अग्ने) तेजस्वी तथा अत्यन्त युवक अग्ने ! (चर्षणिप्राः, सुप्रणीतिः त्वं) मनुष्योंकी अभिलाषाका पूरक और उत्तम नेता तू (सुत सोमाय, विधते वाघते) सोमको निचोडनेवाले, तेरी सेवा करनेवाले तथा स्तुति करनेवाले मनुष्यके लिए (पृथु, चन्द्रं, रत्नं अवसे भर) प्रभूत प्रसन्नताप्रद श्रेष्ठ धन रक्षणके लिए भरपूर दे ॥ १३ ॥

[३४] हे (अग्ने) अग्ने ! (अधा ह वयं त्वाया) और भी हम तेरी अभिलाषा करते हुये (पड्भिः, हस्तेभिः तनूभिः यत् चकृम) पैरोंसे, हाथोंसे तथा शरीरके अन्य अवयवोंसे जो कार्य करते हैं, उसी (भुरिजोः अपसा) दोनों बाहुओंके द्वारा किए जानेवाले कर्मसे (आशुषाणाः सुध्यः) यज्ञ कार्यमें लगे हुये बुद्धिमान् जन (ऋतं येमुः) सत्यस्वरूप तुझको उसी प्रकार तैय्यार करते हैं (क्रन्तः रथं न) जिस प्रकार शिल्पी रथको ॥ १४ ॥

[३५] (सप्त दिवस्पुत्राः अंगिरसः) हम सात आदित्यके पुत्र अंगिरस (विप्राः भवेम) ज्ञानी बनें (अध) इसके बाद (मातुः उषसः) सबका निर्माण करनेवाली उषासे (प्रथमः वेधसः नॄन्) श्रेष्ठसे श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्योंको (जायेमहि) उत्पन्न करें, तथा (शुचन्तः धनिनं अद्रिं रुजेम) तेजस्वी होकर हम धनसे युक्त पर्वतको फोडें ॥ १५ ॥

भावार्थ— कभी भी पराजित न होनेवाले दूरदर्शी देव भी इस मेधावी अग्निकी प्रशंसा करते हैं, इसलिए यह अग्नि भी अपने तेजसे उन देवोंकी रक्षा करता है ॥ १२ ॥

हे अग्ने ! मनुष्योंकी कामनाओंको पूरा करनेवाला, उत्तम नेता तू सोमयज्ञमें तेरी स्तुति द्वारा उत्तम सेवा करनेवालेको भरपूर धन दे ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! हम जिन हाथ, पैर आदि अवयवोंसे जो कर्म करते हैं, उन्हीं कर्मोंसे दूसरे बुद्धिमान् भी तुझको सिद्ध करते हैं ॥ १४ ॥

मनुष्य प्रथम स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको भी ज्ञानी बनाएं और इस प्रकार तेजस्वी होकर अनेक तरहके ऐश्वर्योंको प्राप्त करें ॥ १५ ॥

३६ अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ १६ ॥
३७ सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो ऽयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन् ॥ १७ ॥
३८ आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां यज्जनिमान्त्युग्र ।
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ १८ ॥
३९ अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षुः ॥ १९ ॥

अर्थ— [३६] हे (अग्ने) अग्ने ! (अधः) फिर (परासः प्रत्नासः ऋतं यथा आशुषाणाः) श्रेष्ठ, पुरातन, सत्यभूत यज्ञकर्मोंका यथावद् रूपसे अनुष्ठान करनेवाले (नः पितरः) हमारे पितरोंने (शुचि, दीधिति अयन्) उत्तम स्थान और तेजको प्राप्त किया । तथा उन सबोंने (उक्थशासः क्षाम भिन्दन्तः) वेदमन्त्रोंका उच्चारण करके अन्धकार विनष्ट किया, और (अरुणीः अपव्रन्) अरुण वर्णवाली उषाको प्रकट किया ॥ १६ ॥

[३७] (सुकर्माणः सुरुचः देवयन्तः देवाः) सुन्दर कार्य करनेवाले, शोभन दीप्तियुक्त, देवाभिलाषी दिव्यगुणोंसे सम्पन्न लोग (जनिम) अपने जन्मको उसी प्रकार निर्मल करते हैं, जिस प्रकार (अयः धमन्तः न) लोहार लोहेको धौंकनीके द्वारा निर्मल करते हैं । तथा (अग्निं शुचन्तः इन्द्रं ववृधन्तः) अग्निको प्रदीप्त करते हुये और इन्द्रको उत्साहित करते हुए उन्होंने ही (परिषदन्तः ऊर्वं गव्यं आ अग्मन्) चारों ओरसे घेर करके गौओंके महान् समूहको प्राप्त किया ॥ १७ ॥

[३८] हे (उग्र) तेजस्विन् अग्ने ! (इव क्षुमति पश्वः यथा) जिस प्रकार धनी मनुष्यके गृहमें पशुओंके समूहको प्रशंसा होती है, उसी प्रकार (यत् देवानां अन्ति जनिम आ अख्यत्) जो देवोंके समीप उनके जन्मोंकी प्रशंसा करता है, उन (मर्तानां चित् उर्वशीः अकृप्रन्) मनुष्योंकी प्रजा समर्थ होती है और (अर्यः उपरस्य आयोः वृधे चित्) स्वामी भी अपने पुत्र और नौकरादि मनुष्योंके संवर्धनमें समर्थ होता है ॥ १८ ॥

१ यत् देवानां जनिम आ अख्यत्, अयः उपरस्य आयोः वृधे— जो देवोंके जन्मोंका वर्णन करता है, वह स्वामी अपने पुत्र और अन्य मनुष्योंके पालन पोषणमें समर्थ होता है ।

[३९] हे अग्ने ! हम (ते अकर्म) तेरी सेवा करते हैं । उसीसे हम (सु-अपसः अभूम) श्रेष्ठ कर्मवाले होते हैं । (विभातीः उषसः ऋतं अवस्रन्) प्रकाशित उषाएं तेरे कारण ही तेजको धारण करती हैं । (देवस्य चारु चक्षुः मर्मृजतः) तेजस्वी तेरे रमणीय तेजको शुद्ध करते हुए हम (अनूनं, पुरुधा सुश्चन्द्रं अग्निं) न्यूनतासे रहित, अनेक प्रकारसे आह्लादकारक अग्निको धारण करते हैं ॥ १९ ॥

१ ते अकर्म सु अपसः अभूम— इस अग्निकी सेवा करनेवाले सदा उत्तम कर्म करते हैं ।

भावार्थ— प्राचीन ऋषियोंने यज्ञके द्वारा उत्तम तेजको प्राप्त किया फिर अपने स्तोत्रोंसे अन्धकारका नाश करके उषाको प्रकट किया ॥ १६ ॥

उत्तम कर्म करनेवाले, उत्तम तेजस्वी तथा दिव्य मनुष्य ही अपने जन्मको निर्मल करते हैं, तथा वे अग्नि और इन्द्रकी उपासनासे अनेक तरहके ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ १७ ॥

जिस प्रकार पुष्ट पशुओंके समूहकी प्रशंसा होती है, उसी प्रकार जो देवोंकी प्रशंसा करता है, उनकी उपासना करता है, उसके पुत्र पौत्रादि हृष्टपुष्ट होते हैं और उनका स्वामी भी उनके पालनपोषणमें समर्थ होता है ॥ १८ ॥

इस अग्निकी सेवा करनेवाले सदा उत्तम कर्म करते हैं । इसीके कारण उषायें तेजको धारण करती हैं । अतः हम भी इस आह्लादकारक तेजको धारण करें ॥ १९ ॥

४० एता ते अग्न उचथानि वेधो ऽवोचाम कवये ता जुषस्व ।
उच्छोचस्व कृणुहि वस्यसो नो महो रायः पुरुवार प्र यन्धि ॥ २० ॥

[३]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- अग्निः, १ रुद्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

४१ आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ता- द्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥ १ ॥

४२ अयं योनिश्चकृमा यं वयं ते जायेव पत्य उशती सुवासाः ।
अर्वाचीनः परिवीतो नि षीद- मा उ ते स्वपाक प्रतीचीः ॥ २ ॥

अर्थ— [४०] हे (वेधः अग्ने) विधाता अग्ने ! (कवये ते एता उचथानि अवोचाम) तुझ ज्ञानीके लिये इन सम्पूर्ण स्तोत्रोंका हम उच्चारण करते हैं । तू (ता जुषस्व) इनको ग्रहण कर और (उत् शोचस्व) पूर्ण रूपसे उद्दीप्त हो और (नः वस्यसः कृणुहि) हमको अतिशय धनसेयुक्त कर । हे (पुरुवार) बहुतोंसे वरणीय अग्ने ! हमें (महः रायः प्रयन्धि) महान् ऐश्वर्य भी प्रदान कर ॥ २० ॥

[३]

[४१] हे मनुष्यो ! (अचित्तात् स्तनयित्नोः पुरा) चंचल विद्युत्की उत्पत्तिसे पूर्व ही (अध्वरस्य राजानं) यज्ञके अधिपति (होतारं) देवोंको बुलानेवाले (रुद्रं) शत्रुओंको रुलानेवाले (रोदस्योः सत्ययजं) द्यावापृथ्वीके बीचमें सत्य यज्ञ करनेवाले (हिरण्यरूपं अग्निं) सोनेके समान तेजस्वी इस अग्निको (अवसे कृणुध्वं) अपनी रक्षाके लिए उत्पन्न करो ॥ १ ॥

१ अचित्तात् स्तनयित्नोः पुरा अग्निं कृणुध्वं— कभी दीखनेवाली, कभी न दीखनेवाली चंचल बिजलीके पहले ही अग्निको उत्पन्न करना चाहिए। अर्थात् चातुर्मास्यके पहले ही यज्ञ समाप्त हो जाने चाहिए ऐसा विधान है।

[४२] (पत्ये उशती सुवासाः जाया इव, वयं ते यं चकृम) पतिकी कामना करती हुई सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित स्त्री जिस प्रकारसे अपने समीप पतिके लिये स्थान प्रस्तुत करती है, उसी प्रकारसे हे अग्ने ! हम लोग तेरे लिए जिस स्थानको तैय्यार करते हैं, (अयं योनिः) यही तेरा स्थान हैं ! हे (स्वपाक) श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले (परिवीतः) अपने तेज द्वारा चारों ओर व्याप्त तू (अर्वाचीनः नि षीद) हम लोगोंके सामने विराजमान है । (इमाः ते प्रतीची उ) ये स्तुतियाँ तेरी ओर प्रेरित हो रही हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! तुझ ज्ञानीके लिए हमारे द्वारा की गई इन स्तुतियोंको तू स्वीकार कर और हमें उत्तम धनोंसे युक्त कर ॥ २० ॥

हे मनुष्यो ! चंचल बिजलीसे युक्त बरसातसे पूर्व ही इस यज्ञके अधिपति, तेजस्वी अग्निको अपनी रक्षाके लिए उत्पन्न करो ॥ १ ॥

जिस प्रकार पतिसे प्रेम करनेवाली पत्नी अच्छे अच्छे वस्त्रोंसे सुशोभित होकर अपने पतिको उत्तम स्थान देती है, उसी प्रकार हम भी अग्निको उत्तम स्थान देते हैं, वह अग्नि हमारे पास आकर बैठे और हमारी स्तुतियोंको सुने ॥ २ ॥

४३ आशृण्वते अदृपिताय मन्म नृचक्षसे सुमृळीकाय वेधः ।
देवाय शस्तिममृताय शंस ग्रावेव सोता मधुषुद् यमीळे ॥ ३ ॥
४४ त्वं चिन्नः शम्या अग्ने अस्या ऋतस्य बोध्यृतचित् स्वाधीः ।
कदा त उक्था सधमाद्यानि कदा भवन्ति सख्या गृहे ते ॥ ४ ॥
४५ कथा ह तद् वरुणाय त्वमग्ने कथा दिवे गर्हसे कन्न आगः ।
कथा मित्राय मीळ्हुषे पृथिव्यै ब्रवः कदर्यम्णे कद् भगाय ॥ ५ ॥
४६ कद् धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद् वाताय प्रतवसे शुभंये ।
परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने ॥ ६ ॥
४७ कथा महे पुष्टिंभराय पूष्णे कद् रुद्राय सुमखाय हविर्दे ।
कद् विष्णव उरुगायाय रेतो ब्रवः कदग्ने शरवे बृहत्यै ॥ ७ ॥

अर्थ— [४३] हे (वेधः) ज्ञानी ! (ग्रावा इव मधुषुत्, सोता यं ईळे) पत्थरकी तरह सोम निचोडनेवाला जिस अग्निकी स्तुति करता है, तू भी उस (आशृण्वते अदृपिताय नृचक्षसे सुमृळीकाय) स्तोत्रोंके सुननेवाले, अभिमान रहित, मनुष्योंके द्रष्टा, सुखदाता एवं (अमृताय देवाय मन्म, शस्तिं शंस) अमर, दिव्यगुणयुक्त अग्निके लिये स्तोत्र और स्तुतिवचनोंका पाठ कर ॥ ३ ॥

[४४] हे (अग्ने) अग्ने! (ऋतचित् सु आधीः) ज्ञानी और उत्तम कर्म करनेहारा (त्वं चित् नः) तू ही हम लोगोंके (ऋतस्य अस्याः शम्या बोधि) यज्ञके इस कर्मको जान। (ते उक्था सधमाद्यानि कदा भवन्ति) तेरे स्तोत्र हमारे लिए आनन्ददायक कब होंगे ? तथा हमारे (गृहे ते सख्या कदा भवन्ति) घरमें तेरी मित्रता कब होगी ? ॥ ४ ॥

[४५] हे (अग्ने) अग्ने! (त्वं तत् वरुणाय कथा गर्हसे) तू हमारे उस कर्मकी वरुणसे क्यों निन्दा करता है ? (ह दिवे कथा) निश्चयसे हमारे कर्मकी निन्दा सूर्यसे क्यों करता है ? (नः आगः कत्) हम लोगोंका क्या अपराध है ? (मीळ्हुषे मित्राय पृथिव्यै कथा ब्रवः) सुख देनेवाले मित्र और पृथ्वीसे निन्दा क्यों की ? तथा (अर्यम्णे भगाय कत्) अर्यमा और भग नामक देवोंसे भी क्यों हमारी निन्दाकी बात कही ? ॥ ५ ॥

[४६] हे (अग्ने) अग्ने ! जब तू (धिष्ण्यासु वृधसानः कत्) यज्ञमें घृतादि आहुतियोंसे बढता है तब इन बातोंको क्यों कहता है ? (प्रतवसे शुभंये परिज्मने नासत्याय वाताय क्षे कत्) महान् बली, शुभकारी, सर्वत्र गतिमान्, सत्यमें अग्रणी वायुके लिये और पृथ्वीके लिये यह कथा क्यों कहता है? तथा हे (अग्ने) अग्ने ! (नृघ्ने, रुद्राय कत् ब्रवः) पापी मनुष्योंके मारनेवाले रुद्रके लिये भी यह कथा क्यों सुनाता है ? ॥ ६ ॥

[४७] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (महे पुष्टिंभराय पूष्णे कथा) महान्, पुष्टिप्रद पूषाके लिये यह पाप क्यों कहता है ? (सुमखाय हविर्दे, रुद्राय कत्) उत्तम यज्ञवाले हविप्रद रुद्रके लिये यह बात किसलिये कहता है ? तथा (उरुगायाय विष्णवे रेतः कत्) बहुतों द्वारा प्रसंसाके योग्य विष्णुके लिये क्षयहेतु पाप क्यों कहता है ? एवं (बृहत्यै शरवे कत् ब्रवः) महान् संवत्सरसे यह अधर्म युक्त बात क्यों बोलता है ? ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य ! पत्थरके समान सोम निचोडनेवाला मनुष्य जिस तरह इस अग्निकी स्तुति करता है, उसी तरह तू भी इस अमृत देवकी स्तुति कर ॥ ३ ॥

उत्तम कर्म करनेहारा तथा ज्ञानी यज्ञाग्नि सभी यज्ञ कर्मोंका देवता होनेसे उन्हें अच्छी तरह जानता है। इसके प्रसन्न होनेपर इसके स्तोत्र हमारे लिए आनन्ददायक होते हैं और हमारे घरोंसे यह मित्रता स्थापित करता है ॥ ४ ॥

४८ कथा शर्धाय मरुतामृताय कथा सूरे बृहते पृच्छ्यमानः ।
प्रति ब्रवोऽदितये तुराय साधा दिवो जातवेदश्चिकित्वान् ॥ ८ ॥
४९ ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गो—रामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने ।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय ॥ ९ ॥
५० ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन ।
अस्पन्दमानो अचरद् वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः ॥ १० ॥
५१ ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः ।
शुनं नरः परि षदन्नुषास—माविः स्वरभवज्जाते अग्नौ ॥ ११ ॥

अर्थ— [४८] हे अग्ने ! तू (ऋताय मरुतां शर्धाय कथा) सत्यके कारणरूप मरुतोंके समूहोंसे यह बात क्यों कहता है ? (पृच्छ्यमानः बृहते सूरे कथा) पूछे जानेपर महान् सूर्यके लिये यह कथा क्यों कहता है ? तथा (अदितये तुराय प्रति ब्रवः) अदितिके लिये और द्रुतगामी वायुके लिये मेरे अपराध सम्बन्धी बात क्यों बोलता है ? हे (जातवेदः) सबको जाननेवाले सर्वज्ञ ! तू (चिकित्वान् दिवः साध) सब कुछ जान कर तेजको सिद्ध कर ॥ ८ ॥

[४९] हे (अग्ने) अग्ने ! हम (ऋतेन नियतं ऋतं गोः आ ईळे) जल और गायके दूधकी याचना करते हैं। (आमा, मधुमत् पक्वं सचा) वह गौ कच्ची अवस्थामें भी मधुर और पक्व दूधको धारण करती हैं। (कृष्णा सती एषा) कृष्णवर्णवाली होकर भी यह गौ (रुशता धासिना जामर्येण पयसा पीपाय) तेजोयुक्त एवं पुष्टिकारक दूधसे प्रजाकी पालना करती है ॥ ९ ॥

[५०] (वृषभः पुमान् अग्निः) बलवान् पराक्रमी अग्नि (ऋतेन पृष्ठ्येन पयसा अक्तः) उत्तम पोषक दूध द्वारा सिंचित होता है। (वयोधाः हि ष्म चित् अस्पन्दमानः अचरत्) अन्नदाता अग्नि एक जगह रहता हुआ भी तेजसे सर्वत्र विचरता है। तथा (वृषा पृश्निः शुक्रं ऊधः दुदुहे) जलवर्षक सूर्य शुद्ध जलका दोहन करता है ॥ १० ॥

[५१] (अंगिरसः ऋतेन अद्रिं भिदन्तः) अङ्गिरसोंने अपनी सत्यशक्तिसे पर्वतको विदीर्ण करके शत्रुओंको दूर (व्यसन् गोभिः सं नवन्त) फेंकनेके पश्चात् गौवोंको प्राप्त किया। (नरः शुनं उषसं परिसदन्) लोगोंने सुखपूर्वक उषाको प्राप्त किया। तदनन्तर (अग्नौ जाते) अग्निके उत्पन्न होनेपर (स्वः आविः अभवत्) सूर्य प्रकट हुआ ॥ ११ ॥

भावार्थ— अपने भक्तसे कोई पाप भी हो जाए, तो भी यह ज्ञानवान् अग्नि अपने उस भक्तकी निन्दा नहीं करता या उसके पापकी बात सबसे नहीं करता, अपितु उसे सुधारकर उसे तेज ही प्रदान करता है ॥ ५—८ ॥

गायें स्वयं कम अवस्थावाली होती हुई भी पक्के तथा मधुर दूधको धारण करती हैं, इसी प्रकार स्वयं किसी भी वर्णकी हों, पर उन सबका दूध पुष्टिकारक ही होता है। इसी प्रकार समाजमें मनुष्य किसी जाति, धर्म या सम्प्रदायके हों, पर उन सबके काम समाज उन्नत करनेवाले ही होने चाहिये ॥ ९ ॥

यह बलवान् और पराक्रमी अग्नि उत्तम दूधसे सिंचित होकर अपने तेजसे सर्वत्र जाता है और वही सूर्य बनकर अन्तरिक्षसे शुद्ध जलको बरसाता है ॥ १० ॥

अङ्गिरा ऋषियोंने अपनी अविनश्वर शक्तिसे अन्धकाररूपी पर्वतोंको फोडकर गाय अर्थात् किरणें प्राप्त की, उन्हीं किरणोंसे उन्होंने उषाको भी प्राप्त किया। उषाके उदय होनेपर अग्नि प्रज्ज्वलित हुई और तब सूर्यका उदय हुआ ॥ ११ ॥

५२ ऋतेन॑ दे॒वीर॒मृता॒ अमृ॑क्ता॒ अर्णो॑भि॒राप॒ो मधु॑मद्भिरग्ने ।
वा॒जी न सर्गे॑षु प्रस्तुभा॒नः प्र सद॒मित् स्रवि॑तवे दधन्युः ॥ १२ ॥

५३ मा कस्य॑ य॒क्षं सद॒मिद्धु॒रो गा॒ मा वे॒शस्य॑ प्रमिन॒तो मापेः ।
मा भ्रातु॑रग्ने॒ अनृ॑जोर्ऋ॒णं वे॒र्मा सख्यु॒र्दक्षं॑ रि॒पोर्भु॑जेम ॥ १३ ॥

५४ रक्षा॑ णो अग्ने॒ तव॒ रक्ष॑णेभी रार॒क्षा॒णः सु॑मख प्रीणा॒नः ।
प्रति॑ ष्फुर॒ वि रु॑ज वी॒ड्वंहो॑ ज॒हि रक्षो॒ महि॑ चिद् वावृधा॒नम् ॥ १४ ॥

५५ ए॒भिर्भ॑व सु॒मना॑ अग्ने अ॒र्कैरि॒मान् त्स्पृ॑श॒ मन्म॑भिः शूर॒ वाजा॑न् ।
उ॒त ब्रह्मा॑ण्यङ्गिरो जुषस्व॒ सं ते॑ श॒स्तिर्दे॒ववा॑ता जरेत ॥ १५ ॥

अर्थ— [५२] हे (अग्ने) अग्ने! (अमृताः अमृक्ताः मधुमद्भिः अर्णोभिः देवीः आपः) अविनाशिनी, अखण्डरूपसे बहनेवाली मधुरजलोंवाली दिव्य नदियाँ (सर्गेषु प्रस्तुभानः वाजी न, ऋतेन) युद्धोंमें जानेके लिये प्रोत्साहित अश्वकी तरह, सत्यसे प्रेरित होकर (सदमित् स्रवितवे प्र दधन्युः) सदैव बहनेके लिये जाती हैं ॥ १२ ॥

[५३] हे (अग्ने) अग्ने! तू (कस्य हुरः क्षयं मा गाः) किसी भी हिंसक मनुष्यके यज्ञमें मत जा (प्रमिनतः वेशस्य मा) दुष्ट बुद्धिवाले पडोसीके यज्ञमें मत जा। (आपेः मा) मेरे किसी दुष्ट बन्धु बांधवके यज्ञमें मत जा, तथा (अनृजोः भ्रातुः ऋणं मा वेः) कुटिल चित्तवाले बन्धुके हविकी कामना मत कर। हम लोग भी (सख्युः रिपोः दक्षं मा भुजेम) मित्र अथवा शत्रुकी शक्तिके आश्रित न रहें ॥ १३ ॥

[५४] हे (सुमख अग्ने) उत्तम रीतिसे यज्ञ करनेवाले अग्ने! तू हम लोगोंका (रारक्षाणः) विशेष रक्षक होकर तथा हमसे (प्रीणानः) प्रसन्न होकर (तव रक्षणेभिः) अपने रक्षणके सामर्थ्यसे (नः रक्ष) हमारी रक्षा कर तथा (प्रति स्फुर) हमारे लिए प्रज्ज्वलित हो। हमारे (विळु अंहः विरुज) घोरसे घोर पापका भी विनाश कर। एवं जो (महि चित् वावृधानं रक्षः जहि) महान् होकर भी बढे हुए राक्षसको विनष्ट कर दे ॥ १४ ॥

[५५] हे (अग्ने) अग्ने! हमारे (एभिः अर्कैः सुमनाः भव) इन स्तोत्रोंके द्वारा तू प्रसन्न मनवाला हो। हे (शूर) पराक्रमी! हमारे (इमान् वाजान्, मन्मभिः स्पृश) इन अन्नोंको स्तोत्रोंके साथ ग्रहण कर। (उत अङ्गिरः ब्रह्माणि जुषस्व) और भी हे अंगरसके ज्ञाता अग्ने! तू हमारे स्तोत्रोंका ग्रहण कर! तथा (देववाता शस्तिः ते सं जरेत) देवोंको प्रसन्न करनेवाली स्तुति तुझको भी संवर्धित करे ॥ १५ ॥

भावार्थ— इसी सत्यशक्तिके कारण मधुरजलोंवाली नदियाँ भी हमेशा अखण्डरूपसे वहती रहती हैं ॥ १२ ॥

हे अग्ने! तू किसी भी हिंसक, मेरा अहित चाहनेवाले मेरे पडौसी, कुटिलचित्तवाले भाईके यज्ञमें मत जा, हम भी तेरी शक्तिको छोडकर और किसी भी शत्रु या मित्रकी शक्तिके आश्रित न रहें ॥ १३ ॥

हे अग्ने! हमारा रक्षक तू हमसे प्रसन्न होकर अपनी शक्तिसे हमारी रक्षा कर, तथा हमारे भयंकर पापका तथा भयंकर राक्षसोंको भी विनष्ट कर ॥ १४ ॥

हे अंगोंमें बहनेवाले रसोंके ज्ञाता अग्ने! तू हमारी स्तुतियोंसे प्रसन्न हो और हमारे द्वारा दी गई हवियोंसे और अधिक प्रज्ज्वलित हो ॥ १५ ॥

५६ एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि ।
निवचना कवये काव्या॒न्यशंसिषं मतिभिर्विप्र उक्थैः ॥ १६ ॥

[४]

[ऋषिः- वामदेवो गौतमः । देवता- रक्षोहाऽग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

५७ कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन ।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानो ऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ १ ॥

५८ तव भ्रमास आशुया पत॒न्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः ।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गा॒नसंदितो वि सृज विष्वगुल्काः ॥ २ ॥

अर्थ— [५६] हे (वेधः अग्ने) ज्ञानी अग्ने ! (विदुषे कवये तुभ्यं) विद्वान् और दूरदर्शी तेरे लिये (नीथानि निण्या, निवचना काव्यानि) फलदायक, अत्यन्त गूढ, अधिक व्याख्यायके, योग्य काव्योंका और (एता विश्वा वचांसि) इन समस्त स्तुतियोंका (मतिभिः उक्थैः) स्तोत्रों और मंत्रोंके साथ (विप्रः) मैं बुद्धिमान् (अशंसिषं) उच्चारण करता हूँ ॥ १६ ॥

[४]

[५७] हे अग्ने ! (पृथ्वीं प्रसितिं न) जिस प्रकार कोई व्याध अपने विस्तीर्ण जालको फैलाता है, उसी प्रकार (पाजः कृणुष्व) अपने बलको विस्तृत कर ! (अमवान् राजा इभेन इव) बलवान् राजा जिस प्रकार हाथीपर चढकर जाता है, उसी प्रकार (याहि) तू भी जा । (प्रसितिं तृष्वीं अनु द्रूणानः) शत्रुकी सेनाका शीघ्रतापूर्वक पीछा करता हुआ (अस्ता असि) इस सेनाको तू नष्ट करके, (तपिष्ठैः रक्षसः विध्य) अपने तीक्ष्ण शस्त्रोंसे राक्षसोंको बींध ॥ १ ॥

[५८] हे (अग्ने) अग्ने ! (तव भ्रमासः आशुया पतन्ति) तेरी घूमनेवाली किरणें शीघ्रतासे जाती हैं । (शोशुचानः) अत्यन्त तेजस्वी तू (धृषता) अपने शत्रुनाशक सामर्थ्यसे (अनु स्पृश) शत्रुओंको छू अर्थात् जला डाल । (असंदित) किसीसे भी न रोके जानेवाला तू (जुह्वा) अपनी ज्वालासे (तपूंषि) तेज (पतंगान्) चिनगारियां और (उल्का) उल्काओंको (विष्वक् सृज) चारों ओर उत्पन्न कर ॥ २ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी अग्ने ! मैं विद्वान् और दूरदर्शी तेरे लिए अत्यन्त गूढार्थवाले होनेसे व्याख्याकी आवश्यकतावाले मंत्रों और स्तुतियोंका उच्चारण करता हूँ ॥ १६ ॥

हे अग्ने ! जिसप्रकारको व्याध चिडियोंको पकडनेके लिए अपने जालको फैलाता है उसी प्रकार तू अपने बलको फैला और जिसप्रकार एक वीर राजा हाथी पर बैठकर शत्रु सेनापर चढता चला जाता है, उसीप्रकार तू शत्रुओंपर आक्रमण कर । उस शत्रुसेनाका पीछा करके तू उनका संहार कर और अपने तीक्ष्ण शस्त्रोंसे जो राक्षस हों उन्हें बींध डाल ॥ १ ॥

हे अग्ने ! तेरी घूमनेवाली किरणें सर्वत्र जाती हैं, अतः तू अपनी इन सामर्थ्यशाली किरणोंसे शत्रुओंको जला डाल, अपनी ज्वालाओंसे तू तेज, चिनगारी और उल्काओंको उत्पन्न कर । अग्निकी किरणें क्षणमें ही सर्वत्र फैल जाती हैं । इस तेजके कारण जितने भी राक्षस अर्थात् मनुष्यको खानेवाले रोगजन्तु हैं, वे सब नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

Regd. No. G 71

अल्प मूल्यमें] [अमूल्य उपहार

हमारा उद्देश्य

और

आपकी सहायता

आपकी यह लोकप्रियसंस्था स्वर्णजयन्ती मनाकर ५४ वें वर्षमें प्रविष्ट हुई है। इस शुभ अवसर पर "वेदोंका सर्वत्र प्रचार करके वैदिकधर्मके पांचजन्यका घोष गुंजाने" के उद्देश्यको पूरा करनेके लिए हमने श्री प. श्री. दा. सातवलेकरजीके द्वारा सम्पादित चारों वेदसंहिताओंको रु. २०.०० के बजाय रु. १२.०० में देनेका निर्णय किया है। यह सुविधा चारों वेदोंके सम्पूर्ण सेटको खरीदनेवालेको ही मिल सकेगी। ग्राहकोंकी मांगपर अल्पमूल्यकी इस सुविधाको अन्तिम तारीख बढाकर ३१-७-१९६९ तक कर दी गई है।

साइज डबल क्राउन १६ पेजी, पृ. सं. १६००। मूल्य १२.०० रु. केवल (डा. व्य. २.५० पृथक्)। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा। आज ही मंगाइये।

व्यवस्थापक,
स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
(जि. बलसार)

ऑर्डर भेजते समय इस विज्ञापनका उल्लेख अवश्य करें।

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसार]

वैदिक धर्म

जून १९६९

७५ पैसे



卐

वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक ६ : ज्येष्ठ : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]



संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

‘ वैदिक धर्म ’ वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.००, विदेशके लिये रु. ८.०० डाक व्यय अलग रहेगा ।

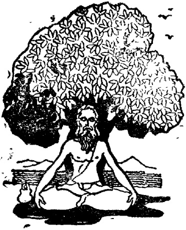
मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ‘स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)’ पारडी [जि. बलसाड]

वैदिकधर्म

मधुरताका झरना

धामन् ते विश्वं भुवनमधिश्रितं
अन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपां अनीके समिथे य आभृतः
तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ॥

(ऋ. ४।५८।११



हे परमात्मन् ! (ते धामन्) तेरे ही तेजमें (विश्वं भुवनं अधिश्रितं) सारे भुवन आश्रित हैं। (यः जो तेरा मधुररस (समुद्रे अन्तः) समुद्रके अन्दर (हृदि अन्तः) हृदयके अन्दर (आयुषि) अन्नमें (अपां अनीके) जलोंके अन्दर (समिथे) तथा संग्राममें (आभृतः) भरा पडा है. (ते तं मधुमन्तं ऊर्मि) तेरे उस मधुरतासे भरे रसको (अश्याम) हम प्राप्त करें ॥ ९९ ॥

हे परमात्मन् । तेरे ही तेजके कारण ये सारे भुवन स्थिर है, तेरे ही तेजके कारण समुद्र, हृदय, अन्न और जलाशियोंमें मधुरताका रस भरा पडा है। हम इन पदार्थोंमेंसे तेरे उस मधुर रसको ग्रहण करें और उसका उपभोग करें ॥

वैदिक देव-विज्ञान एवं महर्षि दयानन्द

(लेखिका— कु. विमला, एम. ए.)

वैदिक भाष्यकारोंमें दयानन्द सरस्वतीका प्रमुखतम स्थान है। इन्होंने वेदके भाष्यकी प्रणालीमें परिशोधन करनेकी पर्याप्त चेष्टा की है। वैदिक ऋचाओंमें इन्द्र, वरुण, यम सूर्य, अश्वि, बृहस्पति, आदि पद आये हैं। वैदिक साहित्यमें इन्हें देवता कहा जाता है। ये देवता ही मन्त्रके सब कुछ है। इन्द्र, वरुण, यम, अश्वि, सूर्य आदि देवतावाची पदोंके विषयमें विभिन्न वैदिक विद्वानोंके विभिन्न मत हैं। अधिकांश भाष्यकारोंके विचारानुसार ऋचाओंमें उक्त देववाची पद विशेष-विशेष देवताओंके लिए प्रयुक्त होते हैं। उक्त देवता अपने-अपने स्थानके अधिष्ठातृ देव हैं। जैसे इन्द्र-वर्षाके वरुण रात्रिके, सूर्य प्रकाशके, यम मृत्युके, अग्नि तेजके देवता हैं। इन समस्त देवताओंमें ईश्वरके तुल्य शक्ति एवं गुण विद्यमान हैं। मन्त्रोंके द्वारा यज्ञमें इन देवताओंका हवि अर्पण और स्तुतिसे आह्वान किया जाता है और इसके बदले इनसे पुत्र पौत्र धन, ऐश्वर्य आदि अभीष्ट कामनाओंकी पूर्तिकी मांग की जाती है।

दयानन्दके विचारानुसार इन्द्र, वरुण, सूर्य, यम, अश्वि, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति आदि देववाची पद अद्वितोय परमेश्वरके विभिन्न गुणोंके परिचायक हैं। वह सबसे स्नेह और प्रीति करने योग्य है, इसीसे उस परमेश्वरका नाम 'मित्र' है। परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, इसीलिए उसका नाम वरुण है। वह अखिल ऐश्वर्ययुक्त है उसीसे परमात्माका नाम इन्द्र है। वह सबसे बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डोंका स्वामी है, इसीसे उस परमेश्वरका नाम बृहस्पति है।

दयानन्दके उक्त कथनसे स्पष्ट विदित होता है कि इन्द्र, यम, वरुण, अश्वि आदि ईश्वरके ही समस्त गुणोंके प्रकाशक हैं। वेदमें केवल एक ही परमेश्वरका उल्लेख है, अन्य देव उसके विभिन्न शक्तियोंके द्योतक हैं। ईश्वर इन तरह तरहकी शक्तियोंकी सहायतासे विश्वोत्पत्ति एवं उसके संचालनका कार्य करता है। देवता मन्त्रका वर्ण्य विषय है। वह मन्त्रका वर्ण्य विषय होनेके कारण वेदमन्त्रोंके देवता ईश्वर, प्राकृतिक तत्त्व तथा विविध प्रकारके सामाजिक विषय भी हो सकते हैं। किस मन्त्रमें इन्द्र, वरुण, यम आदि देववाची शब्दोंका क्या अर्थ होगा? यह मन्त्रके विशेषण एवं प्रकरणसे ज्ञात करना चाहिए। दयानन्दने प्रकरण और विशेषणके अनुसार मित्रवरुणका अर्थ अध्यापक, उपदेशक मित्र एवं उत्कृष्टजन, प्राणोदान, परमेश्वर आदि किया है। अश्विनौका अर्थ- अध्यापक उपदेशक, राजपुरुष आदि किया है। इन्द्रका अर्थ विद्युत्, राजा, ऐश्वर्यवाला, सूर्य, ईश्वर आदि अपने भाष्यमें लिखा है। इसी प्रकार दयानन्दने वायु, विष्णु, यम, अग्नि, आदि शब्दोंके विविध अर्थ प्रदर्शित किये हैं। वे देववाची पदोंके अनुसार ही सम्पूर्ण ऋचाकी मन्त्रार्थ संगति करते हैं।

किन ऋचाओंमें इन्द्र, वरुण, यम, वायु, अग्नि आदि नाम ईश्वरके हैं और किनमें प्राकृतिक शक्तियोंके, यह मन्त्रके विशेष्य, विशेषण, और प्रकरणके अनुसार समझना चाहिए। जिस ऋचामें उत्पत्ति स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड, आदि विशेषण दिये गये हों, वहां परमेश्वर अर्थ नहीं लेना चाहिए। जैसे "ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः[1]" इस ऋचामें विराटसे परमात्माका ग्रहण न कर, सांसारिक पदार्थोंका ग्रहण करना चाहिए। जिस ऋचामें सर्वोत्पादक, सर्वव्यापक आदि गुण हों, वहां परमात्माका ही ग्रहण करना ठीक है। मन्त्रोंमें अग्निके लिए जहां जातवेदा, अमर्त्य आदि शब्दका प्रयोग किया गया हो, वहां भौतिक अग्निपरक अर्थ करना ठीक नहीं। जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहां जीवका वर्णन समझना चाहिए। दयानन्दने मन्त्रार्थ करनेकी यही कसौटी अपनाई थी। इनके मतमें

---

१ य० ३१।५

अग्नि, वायु, वरुण आदि पद श्लेषार्थक हैं अर्थात् जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदिका वर्णन तथा विधान है, वहां इन पदोंसे परमात्माका ग्रहण होता है। जैसे, "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं"[1] में जगत्के हितके लिए भोग्य-पदार्थ तथा अन्य वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वरकी उपासना करनेके लिए आदेश है, अतः उक्त ऋचामें सर्वशक्तिमान् ईशका अर्थ लेना संगत होगा। "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य" ऋचामें[2] अग्नि शब्दका सामान्य अर्थ भौतिक अग्नि है। दयानन्दने ऐसे स्थलों पर अग्नि शब्दसे परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि दोनों ही तात्पर्य लिये हैं।

मन्त्रोंके क्रमबद्ध अध्ययनसे ज्ञात होता है कि इनमें विभिन्न पदार्थोंके वर्णन हैं। इन पदार्थोंका ज्ञान प्रकरणानुसार होता है। विद्वज्जन अद्यपर्यन्त जिन्हें देवसंज्ञासे सम्बोधित करते आये हैं, वे प्राकृतिक शक्तियां ही हैं। अरस्तूके विचारमें भी देव संसारके मूलतत्त्व हैं, यह उनके इस वाक्यसे स्पष्ट होता है ' यह बहुत ही प्राचीनकालसे चला आ रहा है कि संसारके मूलतत्त्व ही देव हैं और यह शक्ति सर्वव्यापक है।[3] देवता विभिन्न तत्त्व होनेके कारण वेदोंके अनेक विषय हुए, अतः देववाची शब्दोंके विभिन्न अर्थ होना भी स्वाभाविक है।

भारतीय प्राचीन ग्रंथोंमें भी देववाची शब्दोंके विभिन्न अर्थ उपलब्ध होते हैं। दयानन्द सरस्वतीने भी जहां देववाची शब्दोंके विभिन्न अर्थ किये हैं वहां ब्राह्मणग्रन्थ, निरुक्त आदिका प्रमाण दिया है। ' अग्निं ' शब्द परमेश्वरका भी वाचक है, इसका प्रमाण यह है ' इन्द्रं मित्रं वरुण '[4] तदेवाग्निस्तदादित्यः'[5] अग्निर्होताकवि[6] " ब्रह्म ह्यग्निः[7] आत्मा वा अग्निः[8]। इन सभी प्रमाणोंमें अग्निपदसे परमेश्वरका ही ग्रहण किया है। ' अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च[9] ' में प्रजा शब्दसे भौतिक अग्नि और प्रजापति पदसे परमेश्वर लिया जाता है। ' संवत्सरोऽग्निः[10] ' में अग्नि शब्दसे परमेश्वरका ग्रहण होता है। ' अग्निर्वै सर्वा देवताः'[11] में भी परमेश्वर और भौतिक अग्निका ग्रहण होता है। निरुक्तसे भी यही ज्ञात होता है कि अग्नि पदसे परमेश्वर और भौतिक अग्नि दोनोंका ग्रहण होता है। उन्होंने अग्निके निर्वचनमें ' अग्रणी ' पदका प्रयोग किया है, यह ईश्वरके लिए ही सम्भव है। आचार्य शंकरने भी अग्रणीका अर्थ परमात्मा माना है[12]। यास्कके एक दूसरे निर्वचन ' इतात्। से भी अग्नि नाम परमेश्वरका ही प्रतीत होता है। ' सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः। इस नियमके अनुसार ' इण गतौ ' धातु समानार्थक होता है। ज्ञानार्थक अर्थ केवल ईश्वरमें ही घट सकता है क्योंकि अग्नि ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकती। निरुक्तके ' दग्धात् ' शब्दसे भौतिक अग्नि ही सम्भव है ईश्वर नहीं। ' अक्तात् ' और ' नीतात् ' शब्दसे भौतिक अग्नि और परमेश्वर दोनोंका ही ग्रहण होता है। उक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि दयानन्दने अग्नि शब्दका अर्थ भौतिक अग्नि और परमेश्वर जो किया है, वह निराधार नहीं है।

फलतः, जिन मन्त्रोंमें सवृङ्, प्रभु, विप्र, कवि, जागृवि, विभु, आदि विशेषण हैं, वे कभी भौतिक अग्निके लिए नहीं हो सकते हैं, अतः इन मन्त्रोंमें—

१ य० ३१।६
२ ऋ० १।१।१
३ भगवद्दत्तः भाषाका इतिहास, पृ० ८
४ ऋ० १।१६४।४६
५ य० ३२।१
६ ऋ० १।१।५
७ शत० १।५।१।११
८ शत० ७।३।१-२
९ शत० ९।१।२।४२
१० शत० ६।३।१।२५
११ नि० ७।१८
१२ वेदान्तसूत्र १।२।२८

"पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विश्वो[1]..."
"समिधाग्निं समिधा गिरा[2]..."

ईश्वर अर्थ करना ठीक है। इसी प्रकार, इन मन्त्रोंमें—

अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः।
स देव यज्ञमानुषक्[3]।"

"आ देवानामभवः केतुरग्ने मंद्रो[4]..."

"अग्निर्ऋषिः पवमानः पांचजन्यः पुरोहितः[5]"। अग्नि पदके विश्वानि, काव्यानि, विद्वान् अध्वरस्य, विचर्षणि पुरोहितः, ऋषिः, पाञ्चजन्य, आदि विशेषण हैं, अतः यहां अग्नि पदका अर्थ भौतिक अग्नि या परमेश्वर करना उचित नहीं। अतः अग्निका अर्थ ब्राह्मण, नेता, अग्रणी विद्वान् आदि करना संगत होगा। इस प्रकार अग्निका आध्यात्मिक दृष्टिसे परमेश्वर और आत्मा; आधिदैविक दृष्टिसे ज्ञानी और नेता, एवं आधिभौतिक दृष्टिसे भौतिक आग या विद्युत् आदि अर्थ प्रकरण और विशेषणके अनुसार करना चाहिए। दादाचानजीके विचारमें भी "ऋचाओंमें अग्निका अर्थ भौतिक अग्नि और परमेश्वर दोनों ही है[6]।

इसीप्रकार, दयानन्दने मित्रावरुण, इन्द्र, सूर्य, आदिके विविध अर्थ प्राचीन ग्रंथोंके आधारपर किये हैं, और यत्र-तत्र प्रमाणोंको भी उद्धृत किया है। इनके भाष्यानुसार स्पष्ट ज्ञात हुआ कि विश्वमें दो मूलतत्त्व हैं एक देव, दूसरा भूत। देवतत्त्वको ही ही भूततत्त्व कहा जाता है। देवतत्त्व सूक्ष्म और अदृश्य है। भूततत्त्व दृश्य, अदृश्य सूक्ष्म तथा स्थूल है। मूलभूत देवतत्त्व एक और अविभाज्य है। इसके बिना किसी भी भूत शक्ति) की स्थिति असम्भव है। एक अद्वितीय अखण्ड देव ही सृष्टि-उत्पत्ति और उसके गतिशील बनानेके लिए नानारूपमें परिवर्तित होता रहता है। इस अद्वितीय सत्ताके विविधत्व एवं नानारूपको "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" जैसी ऋचा स्पष्ट करती है। अग्नि, मित्र, वरुण आदि देवोंकी कल्पना सहेतुक है, क्योंकि एक अद्वितीय देव ही विभिन्न रूपोंमें कार्य करता हुआ दिखाई पडता है, इससे उसके मूलभूत एकत्वका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता।

दयानन्द सरस्वतीने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें निरुक्त ब्राह्मणग्रन्थ आदि प्राचीन ग्रन्थोंके आधारपर ३३ देवोंका सविस्तर वर्णन किया है। उनके सिद्धान्तानुसार ये सब देवता सृष्टिके उत्पन्न करने, तथा सतत क्रियाशील बनाए रखनेमें सहायक होते हैं। सृष्टिकी उत्पत्तिके लिए समय, स्थान, शक्ति, उत्पादनकर्ता, उत्पादन करनेमें सहायक तत्त्व एवं उपभोक्ता अनिवार्य हैं। सृष्टि-उत्पत्तिके प्रारम्भमें कार्य अपेक्षाकृत कम होनेके कारण, देवों (शक्तियों) की संख्या कम होती है किन्तु क्रमशः कार्यमें विस्तार हो जानेपर देवों, (शक्तियोंकी)संख्या भी अगणित हो जाती है इसी कारण मन्त्रोंके वर्ण्य विषय भी अनन्त रहते हैं। दयानन्द सरस्वतीके अनुसार सभी देव उपासनीय नहीं हैं, क्योंकि ये प्राकृतिक शक्तियां उसी एक परमेश्वरकी इच्छासे उत्पन्न हुई हैं, अतः अन्य सभी देवता उसी आदितत्त्वके विविधकार्यों एवं गुणोंके कारणभूत अलग-अलग रूप हैं। आदितत्त्वने चिन्मय होकर पुरुषरूपसे आत्मयज्ञ करके विश्वका निर्माण किया और वह अनेकरूप धारण करके विभिन्न संज्ञाओंका भाजन बना। ऐसा ही विचार यास्कका भी है कि एक ही परमैश्वर्यं, परमेश्वरकी, उसके विभिन्न गुणों एव शक्तियोंके कारण अनेक रूपोंसे स्तुति की जाती है।[7]

यास्काचार्यका देवता-संबन्धी सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक प्रतीत होता है। यास्कके देवताविज्ञानको यथार्थतः न समझनेवाले व्यक्ति वेदभाष्यमें पूर्ण सफल नहीं हो पाते,

---

१. ऋ० ८।११।८
२. ऋ० ६।१५।७-८
३. ऋ० ३।११।१
४. ऋ० ३।१।१७
५. ऋ० ९।६६।२०
६. Dadachanji. Philosophy of Zoroastrianism and comparative study of religion: p. 102
७. नि० ७।४

यास्क समस्त सृष्टिको तीन लोकों-पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौमें विभाजित करते हैं।[1] इन तीनों लोकोंमें तीन प्रमुख देव अग्नि, वायु और आदित्य हैं। ये विभाजन प्रकृतिकी शक्तियोंके विभिन्न कार्योंके अनुसार हैं। पृथिवीके ऊपर अग्नि (उष्णत्व) प्रमुखरूपसे कार्य कर रही है, अन्तरिक्ष लोकमें वायु और विद्युत् शक्तिकी प्रमुखता है। द्युलोकमें आदित्य और इन्द्र काम कर रहे हैं; अतः इन्द्र और वायु आपसमें बहुत सम्बद्ध हैं। इस विभागसे यह न समझ लेना चाहिए कि विश्वमें केवल ये ही शक्तियां कार्य कर रही हैं, किन्तु ये विशेष देव उन-उन लोकोंमें विशेष रूपसे कार्य कर रहे हैं और अन्य देव (शक्तियां) गौण रूपसे कार्य करते हैं। अन्तरिक्षमें वायु और विद्युत् दोनों शक्तियां काम कर रही हैं। द्यौलोकमें अग्नि, विद्युत् और सूर्य काम करते हैं और अन्य शक्तियां सहायक रूपसे रहती हैं, अतः ये तीनों देव (शक्तियां) अपने अपने क्षेत्रकी सहायक शक्तियोंका प्रतिनिधित्व किया करते हैं। इन देवोंका विभाजन सामूहिक विभाजन कहा जा सकता है; क्योंकि भेदका मूलकारण कर्म, स्थान और नामकी पृथक्ता है। हम पृथिवी परभी देखते हैं कि कर्म स्थान और भोग आदिकी विभिन्नताके कारण मनुष्य, पशु और देव आदिकी श्रेणियां हुई। हम सामूहिक रूपसे मनुष्यको मनुष्य ही कहते हैं; क्योंकि स्थान और भोग सदृश होता है, किंतु कर्मकी विशेषताके कारण अधिक और कम महत्त्व दिया जाता है। इसी प्रकार समग्र प्राकृतिक वस्तुओंको देव कहा जाता है, किन्तु कर्मकी महत्ताके कारण उनके महत्त्वमें अन्तर हो जाता है।[2]

यास्कने संस्तविक देवोंका भी उल्लेख किया है। संस्तविक देवोंसे तात्पर्य उन देवताओंसे है, जो प्रमुख देवताके सहायक हैं, अत साहचर्यके कारण अन्य देवोंकी भी स्तुति की जाती है। प्रमुख देव अग्निके साथ इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य आदिकी भी स्तुति की जाती है। जैसे—

दधिक्रामग्निमुषसं च देवीं बृहस्पतिं सवितारं च देवं।
अश्विना मित्रावरुणा भगं च वसूं रुद्रां आदित्यां इह हुवे।[3]

इस ऋचामें अग्निके साथ उषा, बृहस्पति, सविता, अश्वि मित्र, वरुण, रुद्र और आदित्यकी स्तुति है। इसीप्रकार, इस ऋचा– मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च[4]... में मित्रके साथ वरुणका भी वर्णन है। "वायविंद्रश्च सुन्वत आ[5]... में वायुके साथ इन्द्रकी चर्चा है। जिन ऋचाओंमें एकसे अधिक देवता (शक्ति) का वर्णन होता है, उसमें एक प्रमुख होता है और दूसरा गौण। इस प्रकार देवताका ज्ञान उसके व्यक्तिगत कार्योंसे भी होता है और उसके सामूहिक कार्योंसे भी। कुछ शक्तियां ऐसी हैं, जो अकेले कार्य करती हैं, और कुछ दूसरोंकी सहायतासे।

स्वामी दयानन्दने यास्कके देवतासम्बन्धी उक्त विचारको अपने भाष्यमें कार्यान्वित करनेका प्रयास किया है। अन्य भाष्यकार, अश्विनौ, यम, वरुण आदि देववाची पदोंको, हे अश्विनौ देव, हे मृत्युदेव यम, हे विनाशिमानी देव वरुण आदि सम्बोधन करके अर्थ करते हैं, अतः अश्वि, वरुण, बृहस्पति, इन्द्र आदि क्या है ? यह स्पष्ट नहीं हो पाता। इन्द्र वरुण आदि देवताके क्या अभिप्राय हैं ? इसका स्पष्टीकरण दयानन्द-भाष्यमें होता है।

---

१. नि० ७।५
२. नि० ७।५
३. ऋ० ३।२०।५
४. ऋ० १।२।७
५. ऋ० १।२।६

इन्द्र, वरुण, सूर्य,चन्द्रमा, उषा, दिन आदि तत्त्व एवं वस्तुएं मन्त्रोंके वर्ण्य विषय हैं, अत ये सब मन्त्रके देवता हुए। मन्त्रके वर्ण्य विषय, अर्थात् देवताका पूर्ण निरूपण मन्त्रमें किया जाना चाहिए। उदाहरणतः, ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके प्रथम सूक्तकी प्रथम ऋचा लें। इसका देवता 'अग्नि' है। सूक्त-देवता 'अग्नि' होनेके कारण, स्वभावतः विचार उत्पन्न होता है कि इसमें अग्निके गुणोंको प्रकाशित किया गया होगा। अग्नि अपने गुणोंके कारण भौतिक आग ईश्वर या अग्नि सदृश तेजस्वी व्यक्ति भी हो सकता है। अतः तीनों के लिए अर्थ हो सकते हैं। ऋचाका प्रथमांश है– 'अहं अग्निं ईळे' अर्थात् मै अग्निकी स्तुति करती हूं, अर्थात् अग्निके गुणोंका वर्णन करती हूं। अग्निदेव प्रकाश देता है, सभीको गति प्रदान करता है। यह सबको प्रकाश देकर उत्तम मार्गों पर ले जाता है। सभी प्राणियोंमें उष्णता प्रदानकर उत्साह वृद्धि करता है, अत वह अग्नि वर्णनीय है। यह अग्निका सामान्य अर्थ हुआ। ऐसा ही अर्थ अग्नि स्वरूप परमेश्वर, भौतिक अग्नि और तेजस्वी अग्रणी व्यक्तिके लिए भी किया जा सकता है। यास्कने सम्भवतः, अग्निके इन्हीं गुणोंके कारण इसके विविध अर्थ और व्युत्पत्तियां दिखाई हैं। महर्षि दयानन्दने उक्त ऋचामें अग्निके गुणों पर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है। इसी प्रकार, अन्य सूक्तोंके देवताके रहस्यको भी इन्होंने स्पष्ट किया है, जिससे प्रतीत होता है कि महर्षिने देवता-विज्ञानको समझनेकी अपनी चेष्टाको गम्भीर परिपूर्णता प्रदान की थी।

महर्षि महेशयोगी और उनका दर्शनशास्त्र

(लेखक— श्री जगदीशमोहन मित्तल, एम. ए. बी. एड०,)

सदासे हमारे देशके गम्भीर विचारक लोग अपनी बुद्धि और तर्कके बल पर भारतीय दर्शन शास्त्रोंकी रचना करते रहे हैं। जिस प्रकार एक बालक कुतूहलवश प्रश्न पर प्रश्न करता ही जाता है, और उनका समधान चाहता है, उसी प्रकार विचारक लोग भी कुतूहलवश मनुष्य जीवन और इस सृष्टिके पीछे क्या सत्य है, इस विषयमें प्रश्न करते ही जाते हैं और अपनी अपनी बौद्धिक (इन्ट्यूशन) के अनुसार उनका जवाब भी देते हैं, बस इसी प्रकार दर्शनशास्त्रोंका निर्माण होता है।

दर्शन दो प्रकारके होते हैं. (१) आस्तिक और (२) नास्तिक। आस्तिक दर्शन वे हैं जो वेदोंकी सत्तामें विश्वास करते हैं, और नास्तिक वे हैं जो वेदोंकी सत्तामें विश्वास नहीं करते। नास्तिक दर्शनोंमें चार्वाक ऋषिका भौतिकवाद तथा जैन और बौद्ध दर्शन प्रमुख हैं। आस्तिक दर्शनोंकी संख्या मुख्यतः ६ हैं। जो गौतम, कपिल, पातंजलि, कणाद, व्यास और जैमिनी द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।

उक्त सभी दर्शनशास्त्र आध्यात्मिकवाद या भौतिकवाद को प्राथमिकता देकर लिखे गये हैं। आस्तिक दर्शन शास्त्रमें प्राचीन आचार्योंने मोक्षप्राप्ति आदि विषयों पर नये नये विचार समाजके सामने रखे। आस्तिक दार्शनिक विचारकोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे विचारक भी हुए अज्ञात आध्यात्मिकवाद को निरर्थक मानते थे और जो भौतिकवादमें विश्वास करते थे। भौतिकवादका तात्पर्य है कि हमें अपनी आंखोंसे संसारमें जो दिखाई देता है, तथा अपनी इन्द्रियोंके द्वारा जिसका हम अनुभव कर सकते हैं, वही सत्य है।

परन्तु महेश योगीका दर्शनशास्त्र इस युगमें भगवान् बुद्धके दर्शनशास्त्रकी तरह एक मध्यम वर्गका प्रतिपादन करता है। क्योंकि यह मार्ग न तो जैनोंकी तरह बहुत कठोर तपस्या पर जोर देता है और न यह तपस्याकी उपेक्षा करता है। सामान्यतः सर्वत्र यह धारणा बनी हुई है कि मनको एकाग्र करना कठिन है ध्यान जमाना कठिन है। ठीक इसके विपरीत महर्षिजीका सिद्धान्त है कि मनको एकाग्र करना सरल है, ध्यान जमाना सरल है, आत्मदर्शन अत्यन्त सरल है।

ऊपरी तौर पर हमें महर्षि महेशकी बातें आकर्षक मालूम नहीं होतीं। क्योंकि उनका कथन वैदिक परिपाटीके विरुद्ध जाता मालूम होता है, लेकिन यदि हम उनके कथन पर गूढरूपसे विचारें तो हमें उनके कथनमें अद्भुत सत्यता दिखाई देगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शनशास्त्रके सिद्धान्तोंको समझें।

भगवान् बुद्धकी तरह महेशयोगी भी अपने ज्ञानवान गुरु-कुलसे कुछ आर्य सत्यको प्रतिपादित करनेमें समर्थ हुये हैं। उनके मनुष्य जीवनके प्रति खोजे हुए तथ्योंको निम्न लिखित रूपमें विचारा जा सकता है:—

१ जीवन आनन्दमय है। (लाइफ इज ब्लिस)

२ आनन्दकी ओर दौड़ना मनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

३ सांसारिक सुख या आनन्द भगवत् भजनमें बाधक नहीं है।

४ आनन्दका साम्राज्य (किंगडम ऑफ हेवन इज विदिन अस) पूर्णरूपसे हमारे अन्दर स्थित है।

जहांतक मैं समझ पाया हूं महर्षि महेश योगीका दर्शन शास्त्र इन चार आर्य सत्य पर टिका हुआ है। अब इन चारोंके विषयमें हम विस्तारसे विचारेंगे :—

१ जीवन आनन्दमय है—

महेशयोगीके शब्दोंमें यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है, पुरातनकी ही पुनःजीवित किया गया है। हमारे शास्त्रोंमें ईश्वरको आनन्दस्वरूप कहा गया है, और मनुष्यको ईश्वरका

पुत्र माना गया है। अतः स्वाभाविक है कि मनुष्यमें भी आनन्दस्रोतके कुछ कण छिपे हुए हों। ठीक उसी प्रकारसे जिस प्रकार बर्फमें पानीका होना अत्यावश्यक है। स्वामी विवेकानन्दने लिखा है कि Each soul is potentially Divine) इसी प्रकार महेश योगी लिखते हैं " I hold that life is bliss. In essence life is not a struggle. Man is not born to suffer, but to feel joyful."

लेकिन जब हम आजकी दुनियामें चारों तरफ काम, क्रोध, द्वेष, स्वार्थ और लोभकी ज्वालाओंका तांडव नृत्य देखते हैं तो हमें उनका सिद्धान्त झूठा प्रतीत होता नजर आता है, परन्तु यदि हम एक संतरा लें और उसके उपरके छिलकेको चाखकर देखें तो वह कडवा प्रतीत होगा और यही सोचकर संतरेका अन्दरुनी भाग भी ऊपरी भाग तरह कडवा होगा, फेंक दें तो हमें कभी भी संतरेका शीतल मीठा और सुस्वाद रस प्राप्त नहीं हो सकता। महर्षि महेश योगी अपने पुस्तक मेडीटेशनमें लिखते हैं:-" Like the orange life has two parts or aspects inner and the outer. The outer is the temporary, ever changing aspect, the inner is the permanent, never changing aspect. That the inner, never changing aspect is blissful is a tact that can be experienced ..for it is the sweet & blissful aspect that is the ultimate reality of existance.

सुखप्राप्ति सभी देहधारियोंका ध्येय है। पशु पक्षियोंमें साधारणतया विचार शक्तिका विकास नहीं होता है, अतः वे अपने शरीरोंके तात्कालिक सुखप्राप्तिके लिए ही उद्यम करते रहते हैं। मनुष्यमें विचार शक्तिका विकास होता है वह केवल शरीरकी तात्कालिक सुखप्राप्तिसे ही संतोष नहीं करता किन्तु शरीरके अतिरिक्त मानसिक सुख-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है तथा इस लोकके भविष्य एवं परलोक पर दृष्टि रखता हुआ सुखकी मात्रा और परिणामका भी विचार करता रहता है। महेश योगी लिखते हैं:- "Man as Man having evoled into the human species has a narvous system devloped to the point, where it is within his obility to experience the state of absolute bliss -consciousness " अब प्रश्न यह उठता है की जब आत्मा आनन्दस्वरूप है तो मनुष्य कभी-कभी दुःखकी अनुभूति क्यों करता है ? इसमें यह विचारना पडेगा कि यह दुःखकी अनुभूति आत्मा या ब्रह्मसे प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु मनुष्य स्वतः ही देहमें अभिमान करनेवाला अज्ञानी है अगर वह अपने देह अभिमानके मूलभ्रमको दूर कर दे तो आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है।

२- आनन्दकी ओर दौडना मनुष्य-मनकी स्वभाविक प्रवृत्ति है —

मानव अपने जीवनरूपी उद्यानमें सदा वसन्तोल्लासकी कामना करता है, परन्तु देखनेमें यह आता है कि संसारके अच्छेसे अच्छे, पदार्थ भी उसे वह सुख वह शांति नहीं दे सकते जिसकी वह खोजमें रहता है। मनुष्यका मन किसी ऐसे आनंदकी तलाशमें निरन्तर भटकता रहता है जो कि एक साथ ही अविनाशी सर्वात्मिक व स्वतः सिद्ध हो और इस आनंदकी तलाशमें वह संसारके एक पदार्थको छोडता रहता है व दूसरोंको ग्रहण करता रहता है। किन्तु वह यह भूल जाता है कि ऐसे सुख की, ऐसे आनन्दकी प्राप्ति उसे तब ही हो सकती है जब कि यह बाहरी, इन्द्रिय सुखोंका त्यागकर ध्यान द्वारा अपनी आत्मामें स्थिर होनेका प्रयास करें, महेश योगी अपनी पुस्तक ' मेडीटेशन ' मे लिखते हैं.

" The mind is a king of kings, but it is a king in search of throne, and it constentely wanders even to the point of being being tired, & miserable always hoping, to find a worthy seat for it to occupy, where the latest happiness endure i. e. bliss-consciousness.. .... just like the bee who flies in order to find a flower with honey "

३- संसारिक आनन्द भगवत भजनमें बाधक नहीं

महेश योगीका दर्शनशास्त्र पलायनवादमें विश्वास नहीं करता। वे लिखते है :—

" A man becomes an asectic because he feels that in the outside world are greater

attractions, and if he remains in the outer attraction, the inner glory will be lost, so turning to God, he renounces the world... to enjoy things in the world is not a sin. The good scenes which the Almighty father has spread for us to enjoy are the sun, the Moon, & the whole of the creation ... . But mysteriously when we are in ourselves, we are much higher on the plane of joy than we can ever be, when we are in the relative field of joy . . and the choice of this meditation brings enjoyment of the absolute bliss within."

उनके अनुसार आनन्द चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, उनका उपयोग व्यक्तिके मनकी अवस्था पर निर्भर करता है। वे लिखते हे कि एक ही चित्रपटको पास होनेवाला विद्यार्थी ज्यादा उपभोग कर सकता है बनिस्बत कि उस विद्यार्थीके जो अभी-अभी फेल होकर चुका है। अतः आनन्द का हम उचित उपभोग कर सकें इससे पहले यह आवश्यक है कि हम भावातीत ध्यान द्वारा अपने मनको इस योग्य बना लें कि वह आनन्दके स्पन्दनोंका भली-भांति आह्वान कर सकें।

४– आनन्दका सम्राज्य मनमें स्थित है:—

प्रायः सभी धर्म इस सिद्धान्तको मानते हे कि आनन्दका सम्राज्य हमारे अन्त स्थलमें स्थित है, यह उपदेश देते हं कि उसे प्राप्त करनेके लिये हमें अपनें मनको इच्छारहित करना चाहिए, और ऐसा करनेमें इन्द्रिय दमन पर विश्वास करते हैं। लेकिन महेश योगी मन व इन्द्रिय दमनमें विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे मानते हैं कि मनुष्यकी उत्पति आनन्दसे हुई है इसलिये वह और उसके मनकी इच्छा सदैव अपने उद्‌गम स्थान सत्‌चित आनन्दमें लय हो जानेकी रहती है। चूंकि संसारिक आनन्द केवल इसके एक फलक मात्र है अतः मनुष्यका मन स्वतः ही अन्तर्मुख होने लगता है जब कि उसे संसारके सुख व आनन्दोंके स्थायीत्वका भान होता है। महेशयोगी लिखते हे :– "There is a great difference between directing the mind in a particular direction through concentration and directing it by permitting its natural affinities to operate... . it is the natural tendency of every mind to flow towards a field of greater happiness. By turning the mind inwards, we point the mind towards the field of absolute bliss, creativity and wisdom"

"It is upon these principles that the philosophy of Mahesh Yogi's Meditation is based and consequently its practice is not difficult."

भय और आलस्यसे बचनेके उपाय

(लेखक— श्रीमाताजी, श्री अरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी— २)

प्राणजगत्‌की शक्तियां अपने स्वभावसे ही शक्तिशाली होती हैं; जब अपनी शक्तिके साथ वे ज्ञान जोड लेती हैं तब वे दुगना खतरनाक हो जाती हैं। इन जीवोंके साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता, जबतक किसीके पास इन्हें कुचल डालने और इन्हें नष्ट कर देनेका साधन न हो, तबतक सावधानीसे इनके साथ सब प्रकारके संपर्कसे बचना चाहिए। यदि परिस्थितिवश तुम्हें इनमेंसे किसीके संपर्कमें आना पडे तो इनसे निकलते रहनेवाले जादूसे खूब सावधानीपूर्वक बचो। प्राणिक जगत्‌की सत्ताएं जब भौतिक स्तरपर अभिव्यक्त होती हैं तब वहां उनमें तुलनात्मक बडी भारी शक्ति होती है, क्योंकि उनका निवासस्थान प्राण जगत्‌में होता है, भौतिकमें नहीं, और वे मानव प्राणियोंकी भांति भौतिक चेतना द्वारा आवृत्त या छोटी नहीं हुई रहतीं।

प्र०— मां, " ये सत्ताएं बडी शक्तिशाली होती हैं " इनमें किस प्रकारकी शक्ति होती है ?

उ. वह शक्ति जो प्राणका जडतत्त्वके ऊपर है। और वास्तवमें तुम प्राणिक शक्तिके बिना कुछ नहीं कर सकते। यदि प्राणिक शक्ति न होती तो जडतत्त्व गतिहीन और असंगठित होता। प्राणिक शक्तिको ही मनुष्य बिलकुल संक्षेपमें 'शक्ति' कहते हैं।

प्र. क्या प्राणिक शक्तिका स्थान कोई दूसरी अधिक उच्चतर शक्ति नहीं ले सकती ?

उ.— नहीं। उसे रूपांतरित करना होगा। मे बराबर कहती आयी हूं कि प्राणके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता किंतु प्राणको अपनेको बदलना पडेगा, अर्थात् उसे उन शक्तियोंका यंत्र होनेके बदले भागवत संकल्पका यंत्र बनना होगा। भौतिक जगत्‌में प्राणके बिना कोई कुछ नहीं कर सकता। यहीं संन्यासी लोग भूल करते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि यह ऐसी शक्ति है जो कामनाओंसे भरी है और सचमुचमें उसे अपनेको चरितार्थ करनेकी आवश्यकता होती है, वे उसका अंत कर देते हैं वे उसे इतना निर्जीव बना देते हैं कि उसका अस्तित्व नहीं रह जाता। सभी संन्यास–विधियां प्राणको उन्मूलन कर देने और उसे निर्जीव बना देनेके लिये होती हैं। क्योंकि भौतिक जीवनसे सारे संबंध तोड लेनेका यह सबसे सरल तरीका है: तुम निठल्लेसे भी अधिक बदतर जीव हो जाते हो।

जो होना चाहिए वह यह कि प्राण अपने निज उद्देश्योंकी पूर्तिमें लगे रहने अथवा भगवानके विरोधी शक्तियोंका यंत्र बननेकी जगह भगवान्‌का यन्त्र बन जाय और अपनी सारी शक्ति भगवान्‌की सेवामें लगा दे। यह सर्वथा संभव है।

प्र— जब हम लोगोंको भय होता है, तो क्या वह इन्हीं सत्ताओंकी शैतानीके कारण होता है ?

उ. हां, मेरे बच्चे ! भय वह सबसे सुंदर उपहार है जिसे उन सत्ताओंने संसारको दिया है। यह उनका पहला उपहार है, सबसे सशक्त है। भय द्वारा ही वे मानव प्राणियोंको अपनी पकडमें रखती हैं। पहले वे भयकी एक भावना पैदा करती हैं; भयकी भावना तुम्हें कमजोर बना देती है और और तब वह तुम्हें धीरे धीरे उनकी शक्तिके हाथमें रख देती है। और यह कोई बुद्धिसंगत भय भी नहीं होता; यह एक ऐसा भय है जो तुम्हें पकड लेता है, तुम नहीं जानते कि क्यों, कोई ऐसी वस्तु जो तुम्हें कंपाने लगती है, जो तुम्हें व्यथा देती है। तुम समझ नहीं पाते कि क्यों, इसका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं होता। यह इनकी क्रिया है।

प्र – जब किसीको भय हो तब उसे क्या करना चाहिए ?

उ.– यह इस बातपर निर्भर करता है कि तुम हो कौन ? भयसे स्वस्थ होनेके बहुतसे तरीके हैं।

यदि किसीको अपने अंतरात्मासे किसी प्रकारका संबंध है, तो उसे झटसे पुकारना चाहिए, और आंतरात्मिक प्रकाशमें सभी वस्तुओंको फिरसे व्यवस्थित करदेना चाहिए। यह सबसे अधिक शक्तिशाली तरीका है।

यदि किसीको अंतरात्माका यह संबंध उपलब्ध न हो, किन्तु वह बुद्धियुक्तजीव हो, यानी कि उसका तर्कशील मन स्वतंत्रतापूर्वक अपनी क्रिया करता हो, तो वह अपनेसे तर्क करनेमें उसकी सहायता ले सकता है, जैसे कोई एक छोटे बच्चेसे बात-चीत करता है उस प्रकार अपनेसे बातचीत करनेके लिये, यह समझाते हुए कि वह भय अपने आपमें एक बुरी चीज है और यदि कोई संकट है भी तो भयके साथ संकटका सामना करना सबसे बडी मूर्खता है। यदि वास्तवमें कोई संकट है तो केवल साहसकी शक्ति द्वारा ही तुम्हें उससे बचनेका सुयोग है; यदि तुम्हें जरा भी भय हुआ तो तुम समाप्त हो जाओगे। तब इस तर्क द्वारा उस भागको, जिसमें भय है, विश्वास दिलानेमें सफलता प्राप्त करो कि वह भय छोड दे।

यदि तुममें श्रद्धा है और तुमने अपने आपको भगवानको सौंप दिया है, तो तुम्हारे लिये एक बडा सरल तरीका है, वह है यह कहना: " तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। मुझे कुछ भी डरा नहीं सकता, क्योंकि तुम मेरे जीवनके कर्णधार हो। मैं तुम्हारा हूं और तुम मेरे जीवनको रास्ता दिखाते हो।" यह तत्काल क्रिया करता है। यह सभी तरीकोंमें सबसे अधिक फलदायक है: पक्का जानो इसे, बस। अर्थात् कि भगवानके प्रति वास्तविकरूपमें अर्पित होना होगा। यदि किसीमें यह है तो वह तत्काल क्रिया करता है, सब भय तत्काल विलीन हो जाता है। और भयके साथ बुरी प्रभावशाली सत्ता भी उसी समय विलीन हो जाती है। उसे जोरसे भाग जाते देखना चाहिए-फुर्र !

तब, ऐसे भी कितने लोग हैं जिनमें प्राणिक बल है और जो लडाकू हैं, वे शीघ्र अपना सिर उठाते हैं और कहते हैं: " अरे ! यहां एक वस्तु है, हमें इसे पछाडना है।" किंतु इसके लिए होना चाहिए ज्ञान और अत्यंत महान् प्राणिक बल तुम्हारे प्राणको दानवके समान बली होना होगा। ऐसा प्रत्येक मनुष्यके साथ नहीं होता।

इसकी अनेकों भिन्न भिन्न विधियां हैं सबकी सब अच्छी हैं, केवल तुम्हें जानना होगा कि तुम्हारी प्रकृतिके जो अनुकूल है, उसका कैसे प्रयोग किया जाय।

प्र.—यदि व्यायाम करते समय कोई छलांग मारना चाहे और उसे भय लगे, तो वह क्या है ?

उ.— वह कई बातों पर निर्भर करता है। तुम्हें दो अत्यंत भिन्न वस्तुओंका अन्तर समझना होगा और उनके साथ अलग अलग तरीकेसे व्यवहार करना होगा।

यदि वह प्राणिक भय है तो उसके साथ तर्क करना चाहिए। किंतु यदि वह शारीरिक सहजवृत्ति है (यह संभव है, ऐसा प्राय बहुत बार होता है कि शरीरकी एक प्रकार-की सहज वृत्ति हो) ऐसी अवस्थामें, तुम्हें उसे सुनना होगा, क्योंकि शरीरकी सहज, यदि वह विचार या प्राणिक संकल्प द्वारा विकृत नहीं हुई हो, तो बडी विश्वस्त वस्तु होती है। यदि शरीरको अपने आपपर छोड दिया जाय तो वह बहुत भली भांति जानता है कि वह क्या कर सकता है और क्या नहीं। और इतनाही नहीं, किंतु वह वस्तु जो तुम कर सकते हो और तुम्हें करनेका अभ्यास है, यदि किसी दिन वह करनेमें तुम्हें अनिच्छाका बोध हो, मानो तुम सिकुडे जा रहे हो, तो कुछ भी हो जाय, उसे करना नहीं करना चाहिए, यह एक संकेत है कि किसी विशेष कारणसे — शारीरिक क्रियामें किसी प्रकारकी गडबडी होनेके विशुद्ध भौतिक कारणसे—तुम उस क्षण उस वस्तुको करनेके योग्य नहीं हो। उसे नहीं करना चाहिए। उस हालतमें वह भय है भी नहीं, वह कोई ऐसी वस्तु है जो अपनेको सिकोड लेती है, पीछे हट जाती है, मस्तिष्कके भीतर कुछ नहीं रहता, वह ऐसे विचार जैसा नहीं होता: " क्या होने जा रहा है ? " जब मस्तिष्कमें हलचल होने लगे और तुम अपनेसे कहो: " क्या होने जा रहा है ? " तब उसे बुहारकर फेंक देना चाहिए, क्योंकि वह बेमतलब होता है; उसे खदेड देनेके लिए सभी तर्क और सुबुद्धिके साधन उपयोग करने चाहिए। किंतु यदि वह विशुद्ध शारीरिक संवेदना हो, मानो कोई वस्तु अपनेको सिकोड रही है, एक तरहकी शारीरिक अनिच्छा हो, मानो शरीर स्वयं ही उसे इनकार रहा है, तो उसपर कभी जोर नहीं डालना चाहिए, कभी नहीं, क्योंकि सामान्यतया जब उस पर कोई जोर डालता है तब दुर्घटना होती है। बडे मजेमें यह एक भविष्यज्ञान हो सकता है कि दुर्घटना होनेवाली है, कि यदि तुम वह वस्तु करो तो अधिक दूर नहीं जा पाओगे। और ऐसी अवस्थामें वह नहीं करनी चाहिए। वहां जरा भी आत्मसम्मानका संकोच न आने

देना चाहिए। इसे स्वीकार लेना चाहिए " आज मैं अच्छी अवस्थामें नहीं हूं। "

किंतु यदि वह प्राणिक भय हो, जैसे कि तुम्हारे खेलकी कोई प्रतिद्वंद्विता–प्रतियोगिता हो और तुम्हें उस प्रकारका भय हो, कि " क्या होगा ? " तो उसे तत्काल झाड़ू लगा कर फेंक देना चाहिए, वह बिना मतलबका होता है।

प्र.— किंतु कभी कभी आलस्य भी हमें कोई काम करनेसे रोकता है।

उ.— यदि वह तामसिकता है तो वह और ही बात है। किसीकी प्रकृति तामसिक हो तो दूसरा तरीका अपनाना चाहिए। तुम्हे अपनी चेतना, अपना संकल्प, अपनी शक्तिका प्रयोग करना होगा, अपनी ऊर्जाको बटोरना होगा और अपनेको चंद कोडे लगाने पडेंगे जैसे कि मान लो कि आलस्य तुम्हें " व्होल्टिंग " करनेसे रोकता है तो तत्काल ही उससे और भी अधिक थकानेवाला व्यायाम करना चाहिए आह ! " अच्छा, तू उसे करना नहीं चाहता, अच्छा, तो अब दौड १५०० मीटर ? " अथवा " आज मुझे भार उठानेवाले व्यायाम करनेकी इच्छा नहीं है, अच्छी बात है, तो मैं बिना रुके ४००० बार रस्सी फलांगूंगा। "

प्र. क्या पढाईके लिए भी यही उपाय बर्ता जा सकता है ?

उ. हां ठीक यही। यदि किसीको अपना पाठ पढनेकी इच्छा न हो तो उसे उससे बसगुना कठोर पुस्तक उठनी चाहिए, ऐसी जो शुष्क हो, और उसे ध्यानसे पढनेको अपनेको विवश करना चाहिए। उन पुस्तकोंमें कितने ऐसे शुष्क होते है, और उनमेंका ज्ञान इतना नीरस होता है...ठीक है, यदि तुम अपने इतिहास या भूगोलकी पुस्तक नही पढना चाहते, जो फिर भी बहुत सरस और सरल होते हे तो उसके बदले तुम ऐसी पुस्तक ले लो जो तुम्हें दी जाती है, और तुम अपनेको उसे कमसे कम आधी पढनेको विवश करो। तो दूसरीवस्तु आकर्षक लगने लगेगी।

प्र.— आलस्य आनेपर भी अपने काममें लगे रहना क्या अच्छा नहीं है ?

उ.— वह कामपर निर्भर करता है। हम लोग अब दूसरे क्षेत्रमें आते हैं। यदि यह कोई ऐसा काम है जो तुम जनसमुदायके लिये करते हो, जो तुम्हारा अपना व्यक्तिगत नहीं है, तो कुछ भी होजाय तुम्हें काम करते जाना चाहिए। यह एक प्रारम्भिक अनुशासन है। तुमने उस कामको करनेका भार उठाया है, अथवा तुम्हें वह काम दिया गया है और तुमने उठाया है, और इसलिये तुमने उसे स्वीकारा है, तो इस अवस्थामें उसे करना चाहिए। सभी अवस्थाओंमें, जबतक कि तुम बिलकुल बीमार न पड जाओ बीमारीके ऐसे चरम शिखर पर न चले जाओ, कि तुम हिल न सको, उसे करते जाना चाहिए। यदि तुम थोडा बीमार हो तो उसे करते जाना चाहिए। निःस्वार्थ कर्म सदा तुम्हारी छोटी–मोटी बीमारियोंको चंगा कर देता है। स्वभावतः यदि तुम भयंकर ज्वर या किसी बडे भारी रोगमे आक्रांत हो कर बिस्तरपर पड जानेकेलिये बाध्य हो जाओ, और तुममें हिलने–डोलनेकी शक्ति नहीं रह जाय तो वह और बात है। किंतु यदि तुम थोडीसी अस्वस्थताका अनुभव कर रहे हो : " मैं अपनेको बिलकुल स्वस्थ अनुभव नहीं कर रहा हू, मेरे सिरमें जरा दर्द है, या अपच हो गया है, या मुझे बुरी सर्दी लग गयी है, मैं खांस रहा हूं " ऐसी वस्तुएं; तो अपना काम करते जाना चाहिए, अपने विषयमें नहीं सोचना चाहिए, कामके विषयमें सोचना चाहिए, और उसे जितना बन पडे, अच्छी तरह करना चाहिए, तो यह तुम्हारा सतुलन वापस लाता है।

वास्तवमें, रोग केवल एक असंतुलन है; और यदि तुममें एक अन्य संतुलन स्थापित करनेकी शक्ति है तो वह असंतुलन चला जाता है। रोग, सभी अवस्थाओंमें-यदि डॉक्टर तुमसे कहें कि वहां कीटाणु हैं, तब भी–सभी हालतोंमें, सत्ताके भीतर एक असंतुलन है : विभिन्न शारीरिक क्रियाओंके बीच असंतुलन, शक्तियोंके बीच असंतुलन।

कहनेका यह अर्थ नहीं कि कीटाणु होते ही नहीं : कीटाणु हे, जितना लोग जानते है उससे बहुत ही अधिक कीटाणु। किंतु तुम इस कारणसे बीमार नहीं पडते, क्योंकि वे तो सदा ही विद्यमान हे। बात यह है कि वे सदा विद्यमान हैं, और ऐसे दिन होते हैं जब वे तुम्हें कुछ नहीं करते, और तब एक दिन झटसे तुम्हें धर दबाते हे और तुम्हें बीमार बना देते हैं– ऐसा क्यों ? मात्र इसलिये कि प्रतिरोधकी शक्ति जैसा बराबर रहती आयी थी वैसी नहीं थी, क्योंकि कहीं किसी भागमें कोई असंतुलन आ गया। शारीरिक क्रिया प्राकृतिक स्थितिमें नहीं थी। किंतु यदि आंतरिक शक्ति द्वारा तुम फिरसे

संतुलन स्थापित कर सको तो सारा मामला खतम हो जाता है, कोई कठिनाई नहीं रह जाती, असंतुलन चला जाता है।

लोगोंको चंगा करनेका दूसरा कोई रास्ता नहीं। केवल जब तुम असंतुलनको देखते हो और पुनः संतुलन स्थापित करनेमें सक्षम होते हो तब तुम स्वस्थ हो जाते हो। किंतु बात ऐसी है कि लोग दो तरहके होते हैं। एक वे जो अपने असंतुलनसे चिपके रहते हैं– चिपके रहते हैं, उसे पकडे रहते हैं, उसे छोडना नहीं चाहते। तब तुम चाहे किसी भी साधनका प्रयोग करो, यदि तुम पुनः संतुलन स्थापित भी कर लो, तो दूसरे क्षण वे फिर अपना संतुलन बिगाड लेते हैं, क्योंकि वे उससे प्रेम करते हैं वे कहते " ओह! नहीं, मैं बीमार होना नहीं चाहता," किंतु उनके भीतर कोई वस्तु है जो असंतुलनसे दृढतापूर्वक चिपकी रहती है, उसे छोडना नहीं चाहती। इसके विपरीत कुछ ऐसे लोग होते हैं जो सच्चे हृदयसे संतुलनसे प्रेम करते है, और ज्योंही तुम उन्हें अपना संतुलन प्राप्त करलेनेकी शक्ति प्रदान करते हो, संतुलन फिरसे स्थापित हो जाता है, और वे चंद मिनिटोंमें स्वस्थ होजाते हैं। उनमें पुनः व्यवस्था करनेका पर्याप्तज्ञान या पर्याप्त शक्ति नहीं थी– असंतुलन एक अवस्था है। किंतु यदि तुम हस्त-क्षेप करते हो, तुम्हें वह ज्ञान है और तुम पुनः संतुलन स्थापित कर देते हो, तो बिलकुल स्वभावतया ही रोग चला जाता है; और जो लोग तुम्हें वैसा करने देते हैं स्वस्थ हो जाते हैं। जो लोग तुम्हें क्रिया करने नहीं देते वे ही स्वस्थ नहीं होते, और यह स्पष्ट दिखलायी पडता है, वे तुम्हें क्रिया करने नहीं देते, वे उसे पकडे रहते हैं। मैं उनसे कहती हूं " तुम स्वस्थ नहीं हुए? तब जाओ किसी डॉक्टरके पास।" और सबसे मजेकी बात यह है कि वे अधिक समय डॉक्टरमें ही विश्वास करते हैं जबकि क्रिया एक ही होती है! सभी डाक्टर, जो थोडा बहुत दार्शनिक हैं, तुमसे कहेंगे " बात ऐसी है: हम, हम तो केवल सुयोग देते हैं, किंतु अपनेको स्वस्थ करता है स्वयं शरीर ही। जब शरीरकी इच्छा होती है कि वह चंगा हो, तो वह अपनेको चंगा कर लेता है।" कुछ ऐसे शरीर हैं जिन्हें जबतक कोई दवा या कोई निश्चित वस्तु निगलनेके लिए न दी जाय, जो उन्हें यह भावना प्रदान करे कि देख–भाल की जा रही है तबतक यह स्वीकार करनेको तैयार नहीं होते कि संतुलन फिरसे स्थापित हो गया; किंतु यदि तुम उन्हें बहुत नया कटा, बहुत सुनिश्चित उपचार प्रदान करो, तो उन्हें विश्वास होना आरंभ होता है कि पुनः संतुलन स्थापित कर लेना ही सबसे अच्छा होगा और वे पुनः संतुलन स्थापित कर लेते है!

मैं एक डाक्टरको जानती हूं जो स्नायुरोग–चिकित्सक था, जो उदर-रोगोंकी चिकित्सा किया करता था। वह कहा करता था कि सभी उदर-रोग थोडी-बहुत खराब स्नायविक अवस्थाके परिणाम होते हैं। वह धनिकोंका डॉक्टर था और उसके पास धनी और अकर्मण्य लोग ही आते थे। वे उसके पास आया करते और कहते " मेरे पेटमें दर्द है, मुझे अपचकी शिकायत है, ' यह बात है, वह बात है... उन्हें भयंकर पीडा होती थी, उनका सिर दर्द करता था, अन्ततः सब तरहकी शिकायतें थीं! डॉक्टर उनकी बातें बडी गंभीरता पूर्वक सुनता। मैं एक स्त्रीको जानती हूं जो उसके पास गयी और डाक्टरने उससे कहा: " आपकी अवस्था बडी गंभीर है। किंतु आप रहती हैं किस मंजिलपर? नीचेके तल्ले पर। अच्छी बात है, तो आप अपने पेटका रोग छुडानेके लिये यह कीजिए: आप खूब पके अंगूरोंका एक गुच्छा ले लीजिए (आप सबेरे जलपान न कीजिए, क्योंकि जलपान आपका पेट बिगाड देता है), आप अंगूरोंका एक गुच्छा ले लीजिए। आप सावधानीसे, यों, उसे हाथमें पकडे रहिए। तब आप अपने घरसे बाहर निकलनेका प्रबंध कीजिए– अपने दरवाजेसे नहीं, दरवाजेसे कभी मत निकलियेगा। आपको खिडकीसे बाहर निकलना होगा। आप एक सीढीका प्रबंध कर लीजिए और खिडकीसे बाहर निकल जाइए। आप सडकपर जाकर चलने लगिए और चलते चलते प्रति दो कदमपर एक दाना अंगूरका लीजिए– अधिक नहीं! ध्यान रखिये कि अधिक नहीं, वरना आपके पेटमें दर्द होने लगेगा! हर दो कदमपर अंगूरका एक दाना। आप दो कदम चलिए, एक दाना अंगूर खाइए और सीधे चलती जाइए जबतक कि अंगूरके सभी दाने समाप्त न हो जायें। गुच्छा आपको काफी बडा लेना होगा। और जब सब खतम हो जाय तो शांतिपूर्वक वापस लौट आइए। किंतु कोई सवारी मत लीजिएगा! पैदल ही लौटिए, नहीं तो सारा दर्द फिर लौट आयेगा। शांतिपूर्वक वापस लौटिए, और मैं आपको गारंटी देता हूं कि यदि ऐसा आप प्रतिदिन कीजिए तो तीन दिन खतम होते स्वस्थ हो जायेंगी। और सचमुचमें वह स्त्री स्वस्थ हो गयी!

समाजको संवारनेमें सक्षम वेद

(लेखक— श्री शोभनाथ पाठक, एम. ए., सा. र.)

भौतिकतामें भटकती आकुल मानवता अणुयुगकी द्वेषात्मक आगमें झुलसनेकी आशंकासे अपनेको असुरक्षित पा, स्नेह और शांतिका संबल पानेको लालायित, ललचाती आंखोंसे निहार आश्रयकी असीम सुख राशिमें समा जानेको उत्सुक है, पर दानवता मुंह पसारे उसे निगलनेकी ताकमें ही अधीर हो रही है ऐसी विषम परिस्थितिमें जहां मानव उत्थान और पतनके कगार पर खड़ा है पल भरमे ही या तो भस्मसात् हो जायेगा या चन्द्रलोक व अन्य लोकोंकी यात्रा कर तथा वैज्ञानिक विविध उपादानोंसे धरती पर ही स्वर्गीय सुख प्राप्त करेगा। इस सुख-दुःखकी आंख मिचौनीमें कौनसी तुला गुरुत्तर हो इस पर हमें गंभीरतासे विचार करना है। आज नैतिकताका ह्रास हो रहा है, सभ्यता व संस्कृति पतनके गर्तमें विलीन हो रही है। एक छोटे प्राणीसे लेकर अखिल विश्व स्तर पर संघर्षमय जीवन है। यह चिंतनीय परिस्थिति किसीसे छिपी नहीं है। आज विश्वके बुद्धिजीवियोंका यह कर्तव्य है कि प्रकृतिका यह रम्य चमन उजडने न दें। मानवताको राजनीतिके लपटोंमें न झोंकें। विश्वको समन्वयात्मक संदेशसे अनुप्राणित करें जिससे विश्वबंधुत्वकी भावनासे सारा संसार सुरभित हो, विविध विकास कर फैले फूले। पर यह सब तभी संभव होगा जब हम अपनी प्राचीन धरती से सुधास्रोत बहाकर समाजको सींचेंगें। देखिये, युगको उबारनेमें वैदिक संस्कृतिके धरोहरकी उपादेयताका उत्कर्षः-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋग्. १०।१९१।२)

अर्थात् हे मनुष्यो, जैसे सनातनसे विद्यमान, दिव्य शक्तियोंसे सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आदि देव परस्पर अविरोध भावसे अपने कार्य करते है वैसे ही तुम भी समष्टि भावनासे प्रेरित होकर एक साथ कार्यमें प्रवृत्त होओ एक मतसे रहो तथा परस्पर सद्भावसे प्रगति पथपर अग्रसर होते रहो। इतनी प्रखर प्रतिभाका यह उपदेश भला किसे संवारनेमें सक्षम न होगा? राष्ट्रीयता इससे निखरेगी, मानवता संगठित होगी, विश्वबन्धुत्वकी भावना प्रगाढ होगी, स्नेहका सागर उमडेगा और सारा संसार आत्मीयतासे ओत-प्रोत, पारस्परिक प्रेमपाशमें आबद्ध अपूर्व सुखका अनुभव करेगा और उस समय यजुर्वेदका यह उपदेश सोनेमें सुगन्धकी उक्तिको चरितार्थ करेगा।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(यजु. ४०।१)

समस्त विश्वमें अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त है। कर्म करनेपर ईश्वर द्वारा जो भी फल प्राप्त हो उसका उपभोग करो। जो दूसरेको प्राप्त है उसपर अपना मन मत चलाओ। कहनेका तात्पर्य यह कि प्रत्येक जीव अपने हिस्सेका ही सेवन करे। एक दूसरेके हिस्सेको हडपनेका जब प्रयत्न करता है, तभी संघर्ष होता है। आज विश्वमें अशांतिका यही तो कारण है। यदि वेदोक्त उपदेशोंपर अमल किया जाय तो इसमें कोई संदेह नहीं की यह धरती स्वर्ग बन जाय। मनुष्य दूसरोंके हिस्सोंको हजमकर विलासी बन जाता है तब दुष्कर्मका उदय होता और तृष्णाकी ज्वाला धधकने लगती है तभी तो राष्ट्रकवि दिनकर जीने कहा है कि " भोगवाद आचरण पापका " इसी भोगवादसे दूर रहने के लिए ही तो फैजीने कहा है कि जीवनरूपी जलयान भोगवादरूपी चट्टानसे टकराकर चकनाचूर हो जाता है। इस विषयमें उनकी यह उक्ति पठनीय है ' यदि मैं ममता मोहकी मृगमरिचिकामें फंस जाऊं उस समय कर्तव्यकी पुकार होनेपर मैं अपनी रक्षा त्यागभावसे कर सकता हूं। यदि असमंजसके वात्याचक्रमें कुछ निर्णय न होता हो तथा हमारे ज्ञानचक्षु सांसारिक कृत्रिम चाकचक्यसे चमत्कृत हो गये हो उस समय वैदिक त्यागभावकी प्रवृत्ति ही भौतिकभावनाओंके कर्दमसे मेरा उद्धार करेगी, संकीर्णतासे मेरा उद्धार होगा। मानवताकी यही परिभाषा है सात्त्विकताका यही मूलमंत्र है " (फैजी)

वैदिक संस्कृतिके त्यागपूर्ण जीवनसे ही संसारको संवारा जा सकता है मानवताकी रक्षा इसीसे ही संभव है।

कर्मयोगकी आधारशिला भी वैदिकसाहित्य ही है। देखिये कर्ममार्गके महत्वका मूल्यांकन कितनी माधुरीके साथ व्यक्त किया गया है, यथा :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

कर्मशील दीर्घजीवनकी लालसासे पुरुषार्थ और आत्म-विश्वासकी किरणें फूटती पडती हैं। जीवन साफल्यका अन्य कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। निष्कर्मण्यता पाप और अभिशाप है। इस प्रकारकी प्रेरणाप्रद भावाभिव्यक्ति मानवको अडिग कर्तव्यनिष्ठ बनाती है। आशाका आलोक कर्मरूपी दीपकसे ही अनुप्राणित हो अज्ञानान्धकारको छांट कर परमसुखकी प्राप्ति करनेमें सक्षम होता है। वेदोंकी ज्ञानगरिमाको आंकना आसान नहीं है। आत्मविश्वासकी यह अनुपम झांकी भला किस अंतस्में न समा जायेगी? यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायका यह मंत्र इसी भावनाका ही तो प्रेरक है :—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छान्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

कहनेका तात्पर्य कि वे आत्मघाती हैं जो स्वार्थसंकुचित वृत्ति तथा भोगपरायण हैं। आत्महननकर्ता अंधकारावृत लोकोंमें जाकर नरकके भागी होते हैं। आत्मविश्वासके बिना जीवन व्यर्थ है। इस बौद्धिक एवं कर्मसंघर्षरत युगमें मानव की अशान्तिका मूलकारण आत्मविश्वासकी उपेक्षा ही है। ऐसी परिस्थितिमें वेदोक्ततथ्योंको गहराईसे छानबीनकर आत्मसात् करे, उसीसे स्वयंका तथा मानवताका कल्याण संभव है। क्योंकि विश्वकल्याण ही तो भारतीय संस्कृतिका मूलमंत्र है। इस मंत्रसे यह निखरा स्वरूप—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

विश्वके समस्त प्राणी सुखी हों, निरोग हों तथा सभी मंगलदर्शी हों, परमसुखकी प्राप्ति करें। विश्वका कोई भी जीव दुःखी न रहे। कितनी उदार कल्पना है। वैदिक साहित्यका यह अमृतमय शब्द आजके विषमय संसारके लिए वरदान सिद्ध होगा। इसी संदर्भमें " पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः " अर्थात् मानवमात्रकी परस्पर रक्षा और सहायता करना मनुष्यका परम कर्तव्य है तथा हम सभी मिलकर मनुष्योंमें परस्पर सुमति और सद्भावनाके विस्तारकी उपासना करें। इस प्रकारके सृष्टि मंगलमय असंख्य उद्घोष वैदिकसंस्कृतिके ही हैं। अन्ततः मैं यही कहना चाहूंगा कि वैदिक संस्कृतिकी सुधाधारासे संसारको सींचकर ही पल्लवित पुष्पितकर प्रकृति प्रदत्त इस चमनको उजडनेसे बचाया जा सकता है। अखिल विश्वको ज्ञानालोक से आलोकित कर भारत पुनः गुरुका आसन ग्रहण करे, इसीमें मानव व मानवताका कल्याण संभव है।

राजस्थान सरकार

सामान्य प्रशासन (ख) विभाग

क्रमांक प. ९ (४१) साप्र (ख) ६६ — जयपुर, दिनांक ३ फरवरी, १९६९.

—: आज्ञा :—

विषयः— स्वाध्याय मण्डल पारडीकी संस्कृत परीक्षाओंको मान्यता देनेके सम्बन्धमें।

राजस्थान सरकारने स्वाध्याय मण्डल पारडी द्वारा संचालित आचार्य और साहित्यरत्न संस्कृत परीक्षाओंको राज्य सरकारके अधीनस्थ उच्चतर माध्यमिक एवं माध्यमिक विद्यालयोंमें संस्कृत पढानेके लिये अध्यापकोंके पदोंपर नियुक्ति हेतु निम्न प्रकारसे मान्यता देनेका निर्णय लिया है :—

१) आचार्य परीक्षा— उच्चतर माध्यमिक विद्यालयोंमें संस्कृतके वरिष्ठ अध्यापकोंके लिये।

२) साहित्यरत्न परीक्षा— माध्यमिक विद्यालयोंमें संस्कृतके अध्यापकोंके लिये।

आज्ञासे यतीन्द्रसिंह, उपशासन सचिव

जीवनोपयोगिनी सात मर्यादाएँ

(लेखक— श्री भैरवदत्त शुक्ल)

इसमें सन्देह नहीं कि वेदोंका एक सूक्त या एक मंत्र या एक पद यहांतक कि एक पदांश भी मानव-जीवनका काया-कल्प कर सकता है। चारों वेदोंमें एक भी ऐसा अक्षर नहीं मिलेगा जो निराशा, निरुत्साह जैसे अवनतिकी ओर उन्मुख करनेवाले अवगुणों के आकर्षणका संकेत ही देता हो। इसी लिए प्रायः कहा जाता है कि भगवती श्रुतिकी सुधामयी वाग्धारा जीवनके उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगमन, सतत उत्थान या मानवसे दिव्य बननेकी पावन प्रेरणा प्रदान करती है।

ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2]में एक मंत्र आया है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः
तासामिदेकामभ्यंऽहुरो गात्
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे
पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

जिसका आशय इतना ही है कि ज्ञानी या विद्वान् जनोंने सातमर्यादाएं निर्धारित की हैं। उनमेंसे एकका भी उल्लंघन, अतिक्रमण या परित्याग करनेसे व्यक्ति पातकी या पापी हो जाता है। जो व्यक्ति निष्कलुष, निर्मल और सुधी है, वह आयुका सुदृढ नियामक या आश्रय होकर, समीपस्थ स्थान या समीपवर्ती परमप्रभुके सान्निध्यमें जहां पथोंके मोडों, कांटों जटिलताओं या वीथियों-उपपथोंके बनने-बिगडनेकी संभावना नहीं होती, ऐसे अविचल स्थानों, विकास-कोटियों या दिव्य ऊर्ध्व चेतन स्थितियोंमें स्थित रहता है।

इस मंत्रमें प्रमुख रूपसे पांच शिक्षाएं प्रदान की गयी हैं—

(१) विद्वज्जनों द्वारा अनुभव-संवलित सात मर्यादाएं निर्धारित हैं।

(२) उन सात मर्यादाओंमेंसे एक का भी उल्लंघन कर देनेसे व्यक्ति पथ-च्युत होकर पापी बन जाता है।

(३) निष्पाप परोपकारी सज्जन प्रभु-सान्निध्यसे ऊर्ध्व संचरण करता है।

(४) प्रभु-सान्निध्यके क्षेत्रमें बेकारकी जटिलताओंका सर्वथा अभाव है।

(५) उपर्युक्त ऊर्ध्वसंचरण स्थायी और अविचल होता है।

हम यहां पर इन पाँचों शिक्षाओंकी मूलसूत्रा, विद्वानों द्वारा निर्धारित सात मर्यादाओंका प्रसंग उठाना उचित समझते हैं। सबसे पहिले इतना तो मालूम ही हो जाना चाहिए कि ' मर्यादा ' क्या है ? उसकी व्याप्ति कहां तक है ?

आचार्य सायणने स्पष्ट किया है—

नरः नेतारः मर्याः मनुष्येभ्यो हिताः।[3]

अर्थात् ' मर्य ' वही है जो मनुष्योंके लिए हितकारक नेतृत्व करनेवाला तथा हितकारक जन-समुदायका भी हित कर्ता होता है।

अन्य स्थल पर कहा गया है—

' मर्यैः या आदीयते सा मर्यादा '

अर्थात् मनुष्यों या समस्त मानव-समुदायका उपकार करनेवाले ' मर्यों ' (निःस्पृह, त्यागी, शूर, लोक-रक्षकजनों) ने जिसे (अपने और समाजके कल्याणके लिए) स्वीकार या अंगीकार किया, वह ' मर्यादा ' है।

सीधे शब्दोंमें ' मर्यादा ' वह ' लक्ष्मण-रेखा ' है जिसका उल्लंघन करनेसे प्रच्छन्न आन्तरिक आसुरभाव—दशकंधर

---

१. १०।५।६ २. ५।१।६ ३. सायण भाष्य, ५।६१।४

द्वारा निर्मलप्रज्ञा-वैदेहीका अपहरण कर लिया जाता है और आत्मा-राम अथक प्रयासोंके अनतरही फिर प्रज्ञा-वैदेहीकी उपलब्धि करनेमें सफल होते हैं ।

मर्यादा या मर्यादाओंके महत्त्वके अवमूल्यनके ही कारण 'कल' का भारत' (भरण-पोषण कर्त्तादेश) अन्तर्राष्ट्रिय जगत्के सामने आजकल सबसे बड़ा भिखमंगा बन बैठा है। वस्तुत: भारतमें है क्या नहीं ? उसके पास धन-संपत्ति असीम है; जन-शक्तिका कोई अन्त नहीं, और क्षेत्र भी कट-बँट, दब-निकल जानेके बावजूद भी प्राकृतिक संपदासे संपन्न बहुत बड़ा है, परन्तु धन, जन, भूमिसे संबद्ध जितनी भी मर्यादाएं निर्धारित की गयी हैं, उन सबका उसमें अभाव है ।

उपर्युक्त मंत्रमें संकेतित सात मर्यादाओंमें उनका सारा विशाल परिवार सिमट आता है। इसे ठीक वैसे ही समझना चाहिए जैसे पंच महाभूतों या महत्तत्त्वोंमें राशि-राशि ज्ञात या अज्ञात तत्त्वोंका समावेश समझा या स्वीकार किया जाता है।

यास्काचार्यने सात मर्यादाएं गिनायी हैं—

स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मण पुनः सेवा, पातकेऽनृतोद्यम् ।[1]

अर्थात् चोरी, व्यभिचार, अध्ययन-स्वाध्याय आदिका परित्याग या विद्वान् और योग्य ब्राह्मणका वध करना, भ्रूण-हत्या, मादक द्रव्य योग, बुरे कर्म बार-बार करना, पाप करके उसे छिपानेके लिए झूठ बोलना—सात पापोंका परित्याग ही सात मर्यादाएं हैं।

भगवान् मनुने लिखा है—

पानं अक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्यात् चतुष्कं कामजे गणे ॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा ।[2]

अर्थात् कामसे संबद्ध (१) मद्यपान (२) द्यूत क्रीडा (३) व्यभिचार, बलात्कार या स्त्रियोंपर अत्याचार करना (४) पशुओंका शिकार— चार पाप और क्रोधसे संबद्ध (१) कठोर या अमानुषिक दंड (२) कठोर भाषण या अपशब्द (३) परद्रव्यका अपहरण —तीन पाप होते हैं। इन सातों पापोंसे क्रमशः दूर रहना सात मर्यादाओं-की कोटिमें माना जा सकता है।

आचार्य गौतमने स्वीकार किया है

ब्रह्म, सुराप, गुरुतल्पग, मातृ पितृ-योनि संबंधग, स्तेन, नास्तिक, निंदित कर्माभ्यासि, अपतित त्यागिनः पतिताः ।[3]

(१) ब्रह्महत्या, (२) मद्यपान (३) गुरुपत्नीगमन (४) मातृ-पितृवर्गकी स्त्रियोंसे योनिसंबंध (५) चोरी (६) नास्तिकता (७) निंदित कर्म बारंबार करनेकी लत (८) पतितको आसरा देना और (९) शुद्धसज्जनका परित्याग —ये नौ पातक गौतमके अभिमतसे सिद्ध होते हैं।

यदि ध्यानसे देखा जाय तो उपर्युक्त नव पातकोंमें गुरु-पत्नीगमन तथा मातृ-पितृवर्गकी स्त्रियोंसे योनि संबन्ध— दोनों ही पापव्यभिचारसे संबद्ध हैं और सज्जनका परित्याग नामक पाप ब्रह्महत्यामें ही समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार यहां भी सात ही पाप बच रहते हैं और इनसे क्रमसे साथ बचे रहना ही सात मर्यादाएं समझी जाती हैं।

अब हम यास्काचार्य द्वारा संकेतित क्रमशः सातों मर्यादाओंका विहंगम अवलोकन करना समीचीन समझते हैं। अन्य आचार्यों द्वारा द्योतित पाप और उनके परित्याग इन्हींमें किसी न किसी रूपसे समाविष्ट हो जाते हैं। इसलिए उन पर अलगसे विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(१) चोरी न करना— जिसपर हमारा अधिकार नहीं है, उस पदार्थ, वचन या कर्मको छिपकर अपना बनाने का प्रयत्न करना ही चोरी है। धर्मशालाओं तथा सारे संसार की नियम-संहिताओंमें इस कुकृत्य चोरीके कर्त्ता व्यक्तिको दंडनीय माना गया है। फिर भला वेदमें इसे न करनेकी मर्यादा कैसे न बांधी जाती ?

वर्गीकरणकी दृष्टिसे वर्त्तमान परिप्रेक्ष्यमें चोरीके निम्नोक्त वर्ग बनाये जा सकते हैं—

(क) मानसिक चोरी—अपने मनसे इस बातका निश्चय कर लेना कि हम अमुक वस्तुको जो हमारी नहीं है, येन केन प्रकारेण तद्वस्तु, स्वामीकी दृष्टिसे बचाकर अपनी बना लें, मानसिक चोरी है। सभी अन्य प्रकारकी घृण्य चोरियोंका मूल तथा प्रधानकेन्द्र यही मानसिक क्षेत्रकी चोरी है । हम यदि इसप्रकारकी चोरी करनेके अभ्यस्त हो चुके हैं तो चोरियोंके गुरुतम अपराधसे अपनेको मुक्त नहीं रख सकते।

१. निरुक्तम् ६।२७ २. मनुस्मृति ७।५०-५१ ३. गौतमधर्म सूत्राणि २१।१

इससे बचनेके लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि, ' हम नहीं करेंगे ' की माला फेरते रहें। इसके विपरीत हम शुद्ध मानसिक शक्ति संवर्धक ' सद्विचारों भलेभावों और सत्संगति जन्य मुक्ताओं ' को हृदयंगम करते रहें। इस मर्यादित क्रियाका प्रारंभ शैशवके पालनेमें माताके संबल, कुलकी सीमा तथा निकटस्थ वातावरणके अंदर ही हो जाना चाहिए। अन्यथा लत पड जाने पर, इसका छूटना असंभव न सही, दुष्कर अवश्य हो जाता है। जीवनपर्यन्त सद्ग्रंथोंका स्वाध्याय हमें मानसिक चोरीसे विरत रख सकता है।

(ख) वाचिक चोरी– किसी भली या उत्तम बातको गलत संदर्भसे प्रस्तुत करना, ग्रंथ-विशेषके समग्र भावोंको अपना बनानेका प्रयास करना और महापुरुषोंके नामपर अपने ऊलजलूल हेय वचनोंके प्रचारित करनेके उद्योगमें रत रहना आदि समस्त मानसिक छिपाव या दुराव वाचिक चोरीके क्षेत्रमें आते हैं। आजकल न केवल भारतमें वरन् सारे संसारमें आये दिन ऐसी चोरीके उदाहरणोंसे समाचार पत्रों, न्यायालय प्रकोष्ठों तथा विद्वद्वर्गके वार्तालापोंके क्षेत्र परिपूर्ण पाये जाते हैं।

इससे पीछा छुडानेके लिए पूर्णतया अपेक्षित है कि अपनी मौलिकता, प्रज्ञा तथा संदर्भ विज्ञताके आधारपर कवि, लेखक, समीक्षक, वैज्ञानिक, विचारक साहित्यकार, वक्ता साहित्य-सर्जन या भाषण–कार्यकी ओर प्रयत्नशील हों। अपने देशमें इस रोगकी अधिकता है। लेखक महानुभाव संदर्भ-निर्देश करना अपनी अहम्मन्यताके प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिए उनके उद्गारोंका न तो मौलिक, दूरगामी और शाश्वत प्रभाव ही होता है और न लोक-जीवनमें साधिकार उन्मुक्त प्रवेश। दुष्परिणाम यह होता है कि उन्हें आत्म–विज्ञापन, कुण्ठा, वितृष्णा आदि हेय अवगुणोंका आखेट बन जाना पडता है। जब समाजका सर्वाधिक प्रबुद्ध वर्ग क्रान्तदर्शी साहित्यकार स्वयं दुरापगाके कल्मष-प्रवाहमें अनायास बहता चला जा रहा हो तो उसके संकेतित आदर्शोंसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावित शेषसमाजकी क्या दशा होगी, इसकी कल्पना मात्रसे बुद्धिजीवी विशुद्ध विचारक सिहर उठता है। इसका प्रतिरोध करना पुनीत कर्त्तव्य है।

(ग) शारीरिक चोरी– तालातोड कर, सेंध लगाकर जेब काटकर, उल्टी पट्टी पढाकर या आंखोंमें धूल झोंककर जैसे तैसे किसीकी गाढे खूनकी कमाई पर अधिकार कर लेना, इस कोटिकी चोरीमें आता है। भारतमें एकांगिनी परकीय विधि व्यवस्था तथा उसके कार्यान्वयनकी सदोष प्रणालीके कारण, इस चोरीका एकच्छत्र साम्राज्यसा छाया हुआ है।

झगडे-झंझटसे युक्त लंबी अवधि पर आधृत न्याय-पद्धतिसे घबडाकर लोग चोरोंको दंडित करनेमें मदद करनेसे कतराते हैं। राजकीय संरक्षण आधिपत्य और प्रजातंत्रीकरण पर निर्भर हो जानेसे समाज इतना पंगु हो गया है कि शक्ति होनेपर भी वह ऐसी चोरियां रोकनेसे सर्वथा असमर्थ रहता है।

यदि सचमुच ही ऐसी चोरीका समूल विनाश करनेके इच्छुक हैं तो हमें वर्तमान वातावरणमें परिवर्तन करना पडेगा। आर्थिक विषमता, एकांगिनी विधिप्रणाली महंगी उबाउ न्याय सरणि, आरक्षक-विभागकी सदोष कार्य पद्धति, कोमल तथा सुविधाप्रद जेल-जीवन और सामाजिक पंगुताका अन्त करके ही इस कोटिकी चोरीका उन्मूलन हो सकेगा। अन्यथा बेकारके वाद-विवादों और लफ्फाजी योजनाओंसे यह चोरी बढती जायेगी।

अवैध चोरी– इसे हम अराष्ट्रिय चोरी कहें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। लाइसेंस परमिट बगैर वस्तुएं बेचना, शत्रु या विदेशी राज्योंतक अपने राष्ट्रका उपयोगी सामन लाभके लोभमें पहुंचाना, लुके-छिपे विदेशी सामानको स्वदेशके कोने-कोनेमें पहुंचानेका प्रयत्न करना, अपने ही देशमें मुनाफा खोरीकी दुष्प्रवृत्तिवश बाजारसे माल गायब कर उसे आवश्यकतासे अधिक मूल्यपर बेचनेका प्रयत्न करना आदि अराष्ट्रिय अपराध इसी चोरीके क्षेत्रमें समाविष्ट है।

इसके अन्तके लिए सशक्त राष्ट्रियता, अटूट देश–भक्ति, सुदृढ संगठन आदि ठोस तत्त्वोंके प्रचार–प्रसारके साथ अपराधियोंपर निष्पक्ष कठोर दण्ड–व्यवस्था कार्यान्वित की जानी चाहिए। वर्तमान समयमें लाखों–करोडोंका मुनाफा पैदा करके फँस जानेपर रुपयेके बलपर पैरवी करके, निष्कलंक निकल जाना या अर्थ दंड अदा करके अगली कुत्सित योजनाओंमें व्यापृत रहना बायें हाथका खेल बन गया है। इसे रोकनेके लिए आधारमूल उपरि संकेतित दोषोंके उन्मूलनमें विलीन होनेकी आवश्यकताका अनुभव हरएक विचारशील व्यक्तिको करना पडेगा।

उपर्युक्त सभी-प्रकारकी कोटियोंमें वर्णित चोरीसे दूर रहना ही, प्रथम ' वैदिक मर्यादा ' है। इस मर्यादा-भंगका सीधा

अर्थ है कि ईश्वरपर विश्वास रखनेपर भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अथवा राज्य आस्तिक न होकर पूर्णरूपेण नास्तिक है।' क्योंकि यदि वह प्रभुकी सर्वावलोकन शक्ति, सर्वव्यापकता, निष्पक्ष न्यायशीलतापर दृढ-अविचल विश्वास रखता होता तो चोरी किसी भी दशामें न करता।

(२) तल्पारोहण [व्यभिचार] का परित्याग— 'तल्पारोहण' पदका स्थूल अर्थ है 'सुसज्जित शय्यापर आरोहण करना,' कुछ सूक्ष्म तात्पर्य है 'अपनी ऐंद्रिक रंगरेलियोंके लिए तल्पवत् ललनाओंकी अस्मत्का प्रयोग करना' और सूक्ष्म आशय है सामाजिक उन्नतिके लिए, सबसे अधिक उपादेय और विलासिताके निराकरणार्थ सर्वाधिक अनिवार्य पारस्परिक भिन्न-लैंगिक पवित्र संबंधोंको कलुष-कल्मषपूर्ण बनाकर अस्त-व्यस्त करते हुए सामाजिक शांतिकी धज्जियां उडा देना।' इसीलिए वैदिक सामाजिक पीठिकामें इस अवगुणका प्रबलतम विरोध किया गया है।

इस व्यभिचारका सीधा संबंध प्रमुख इंद्रियोंसे रहता है। इसी आधार पर इसके निम्न लिखित वर्ग बनाये जा सकते हैं।

(क) वाचिक व्यभिचार—वाणी या रसनाके माध्यमसे समाजके अनुशासन, शिष्ट संभाषण तथा वैयक्तिक संबंधोंसे सयमितसमग्र वाग्व्यवहारकी उपेक्षा करके क्षणिक तुष्टिके लिए गालीगलौज, परिहास-शून्य ओछो मजाक, गली-सडक पर चलती बहनों बेटियों, पत्नियों, माताओंपर गंदे छींटे कसना, अश्लील जुगुप्सा जन्य वार्ताओंका लम्बा सिलसिला बनाये रखना आदि कुत्सित प्रवृत्तियां इस प्रकारके व्यभिचारमें आती हैं। आजकारों और समाज इस वाचिक व्यभिचारका पूर्णतया आखेट हो चुका है। जिस भारतमें स्पष्ट घोषणा की गयी थी कि मातृ-वत् पर दारेषु ' और शिष्ट संभाषणकी एक पावन परंपरा थी; आजकल उसके गली-चेकू नग्न अश्लीलतासे आप्लावित प्रतीत होते हैं। राष्ट्रके प्रबुद्ध स्तंभ कहे जानेवाले छात्रजीवनमें यह रोग बुरी भांति प्रविष्ट हो गया है। गृहस्थाश्रमकी पवित्रता इस बीमारीके कारण छिन्न-भिन्न हो गयी है। विलासिताकी बाढ आनेका मूल उत्स इसी सामाजिक दोषमें निहित है। स्वप्नदोष, प्रमेह, गर्मी-आतशक, सुजाक आदि रोग सामाजिक जीवनपर छाये इसी वाचिक व्यभिचार के कारण घर-घर अड्डा जमानेमें सफल हो गये हैं।

(ख) श्रव्य व्यभिचार— यह वाचिक व्यभिचारका सहायक कर्णेन्द्रियसे संबद्ध, समाजके लिए सर्वाधिक विघातक व्यभिचार है। हमें गन्दी, भद्दी, जुगुप्साप्रद बातें सुनने और उनसे सुख पानेका बुरा अभ्यास हो गया है। आये दिन जाति विशेष सरदार, कायस्थ, पंडितजी, जाट लोध, अहीर आदि से संबधित अश्लील कथाएं सुनकर अट्टहासका बाजारगर्म करनेवाले बहुत लोग मिलते हैं। किसी बहू-बेटी पर छींटा कसे जानेपर रोक लगाना तो दूरकी बात है, इधर-उधरके लोग एक अजीब सुखकी अनुभूति करते हैं। यह रोग इस दृष्टिसे और भी विघातक है कि अश्लीलताका प्रतिरोधिक अनुशासन इसके सामने अपने अस्त्र-शस्त्र छोड देनेके लिए विवश हो जाता है। वर्तमान सामाजिक अनुशासन हीनताकेलिए यही लाइलाज मर्ज ज्यादा जुम्मेवार है।

(ग) दृश्य व्यभिचार— वाचिक और श्रव्य व्यभिचारकेफल स्वरूप इस कोटिका व्यभिचार पनप जाता है। यह तो सही है कि दृष्टिकी पवित्रताके विलोप और कालुष्यकी वृद्धिमें वाचिक और श्रव्य व्यभिचारोंका बहुत बडा हाथ रहता है परन्तु पल्लवित हो जानेपर यह उपर्युक्त दोनों कोटियोंके व्यभिचारसे अधिक भयावह, हानिप्रद और संघातक होता है। इस रोगसे उचित – अनुचितकी परख ही नष्ट हो जाती है। प्रमाणके लिए भारतकी किसी भी वीथि या सडकपर खडे होकर, दृष्टिके कालुष्यका कुफल किसी भी समय देखना आजकल तनिक भी कठिन नहीं है। अबतो हर सडक लैला और हर रास्ता मजनूं नजर आता है। कहीं भी राम सीताके दर्शन नहीं होते। यह सामाजिक स्थिरताके लिए पूर्णरूपसे अनिष्टकर है।

रही सही कमी वर्तमान भारतीय फिल्मोंने पूरी कर दी है। नग्न या अर्धनग्न चित्रोंको देख-देखकर किशोर एवं तरुण उन्हें समाजका विशिष्ट अंग बनानेकेलिए सचेष्ट होते दिखायी पड रहे हैं। जिन बुराइयोंसे आक्रान्त होकर युरोप आजतक संभल नहीं पाया है उन्हीं बुराईयोंमें हम बुरी तरह जकडे जा रहे हैं।

(घ) कौल व्यभिचार- जब उल्लिखित तीनों प्रकार के व्यभिचार पल-पनप जाते हैं तो इस कोटिके व्यभिचारका जन्म होता है। आजकल न केवल अपनेसे भिन्नलिंगी (अर्थात् स्त्रीके साथ पुरुष या पुरुषके साथ स्त्री) वरन् सम-लिंगीके साथ भी पारस्परिक खेल-कूदके बहाने क्षणिक तुष्टिके साधन खोजे जाते हैं। लुकीलुकौवल, आंख मिचौनी आदि वे क्रीडाएं जो कभी शक्तिवृद्धिकी सहायिका थी; आजकल कुत्सित

मनोवृत्तिके कारण, स्वास्थ्यनाशिनी और रोग-वर्द्धिनी बन गयी है।

(ङ) ऐकान्तिक व्यभिचार— इस कोटीके व्यभिचारमें विषमलिंगी या समलिंगी व्यक्तियोंका अकेले निर्जन और छिपे स्थानमें व्यभिचार या वीर्यनाश करनेकी योजनाएं तैयार करना आता है। सक्रिय पक्षका निष्क्रिय पक्षको फुसलाना, विभिन्न प्रकारके प्रलोभन देन आदि इस प्रकारके व्यभिचारके सबल साधन है।

(च) संकल्पजन्य व्यभिचार- इस प्रकारका व्यभिचार व्यक्तिके संकल्पोंमें भी प्रविष्ट हो जाता है। फल यह होता है कि वह अपना सारा चिन्तन, मनन और सुदृढ संकल्प-बल अन्य समाजोपयोगी कार्योंसे हटाकर, केवल अपने सर्वनाशकी ओर झोंक देता है। वह विकल्पोंकी कुछ भी न सुनकर, केवल कुत्सित वासनाके संकेतोंपर संकल्पोंको नचानेकेलिए विवश हो जाता है। भारतका समग्र वातावरण इस आंतरिक रोगके कारण विषाक्त हो गया है।

(छ) प्रायत्निक व्यभिचार— समलिंगी या विषमलिंगोके साथ अपनी कुत्सित काम-पिपासाकी तृप्तिके लिए परिधान-सज्जा, तेल इत्यादिके प्रयोग, गुंडे तत्वों और गंदे साधनोंकी सहायता, धमकी आदि प्रयत्नोंके माध्यमका प्रयोग करना इस कोटीके व्यभिचारमें आता है। इसके ही कारण प्रयत्नजन्य पवित्रताका पूर्णतया अभाव हो जाता है। इसीसे पारस्परिक सौमनस्यका स्थान मनोमालिन्य ले लेता है।

(ज) शारीरिक व्यभिचार— फुसलाकर, प्रयत्नोंके विभिन्न माध्यमों द्वारा किसी कुमारीका कौमार्य, कुल-रमणीका सतीत्व, विधवाका पवित्र वैधव्य या किशोर नवयुवकका पवित्र जीवन वासनाकी भट्टीमें ढकेल देना शारीरिक व्यभिचार है। जनसाधारण प्रायः इसी कोटिके व्यभिचारको व्यभिचार समझता है। उसे इस बातका ध्यान नहीं होता कि यह कोटि तो सात गर्हित अवस्थाओंको पार करनेके अनन्तर आती है।

इन सभी कोटियोंके व्यभिचारका न करना ही दूसरी वैदिक मर्यादा है। वेदमें स्पष्ट कहा गया है- 'मा शिश्न देवा अपि गु ऋतं नः।'[1] अर्थात् हे सज्जनों! शिश्नको देव (लक्ष्य) मानकर उसीमें रत रहनेवाले (कामुक) व्यक्ति मुझे नहीं प्राप्त होते!'

(३) भ्रूणहत्या न करना- 'भ्रूण' अर्थात् अविकसित गर्भस्थ शिशुकी हत्या करना वैदिक दृष्टिसे नितान्त जघन्य, घोर अमानविक, बर्बर और पशुकृत्य है। इसीलिए इसका जोरदार वर्जन 'मर्यादाओं'में महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। भारतकी वर्तमान अधोगतिके मूलमें 'भ्रूणहत्या' के विविध रूपोंका सैकड़ों वर्षोंसे प्रचलन भी निहित रहा है। कामुकतामय अनियंत्रित व्यभिचारके पंकिलपाश तथा सामाजिक अस्थिरताके छल-जालमें फांसकर अबोध, असहाय, भोली महिलाओंको भय-प्रलोभनके आधारपर भ्रूणहत्या या गर्भ पात करने-करानेकेलिए पराधीन भारतमें विवश किया गय और स्वतंत्र भारतमेंभी किया जा रहा है। अन्तर केवल इतना है कि स्वातंत्र्य-पूर्व युगमें व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, पारिवारिक पवित्रता और कुलीन सामंतवादिताकी प्रच्छन्न प्रदर्शनात्मक रूढि तथा कामुक पुरुषकी नारीके प्रति वासनोन्मुखी कुदृष्टिके आधारपर ही यह पाप पल्लवित-फलित हुआ जब कि अब स्वतंत्र भारतमें स्वास्थ्यरक्षा, परिवार-नियोजन, यौवन-रूप-स्थायित्व आदि बनावटी आवरणोंसे लपेटकर महिलाओंको वासनाके हाथों कठपुतलीके रूपमें नचानेके उपक्रममें इस भयंकर पापकी अभिवृद्धि की जा रही है। सच बात यह है कि जिस समाजमें यह पाप प्रचलित होता है, वह समाज सर्वांगीण विकास करनेमें असमर्थ रहता है। शंकराचार्य, रामतीर्थ, विवेकानंद, सुभाषचंद्र बोस, रामप्रसाद 'बिस्मिल', अशफाक उल्ला, ब्रिगेडियर उस्मान आदिकी स्थितिपर पहुंचने योग्य महती विभूतियोंका असमय ही प्राणान्त कर देना तो सामूहिक नर-वधसे भी अधिक जघन्य है। हमारे प्रबुद्ध सामाजिक कर्णधारोंको चाहिए कि वे इस भयंकरी छूतसे राष्ट्रका वामन बचाये रखनेका हर संभव प्रयास करें।

(४) सुरापान न करना- 'सुरापान' पद तो प्रतीकात्मक है। इसका तात्पर्य उन सभी मादक द्रव्योंके सेवनसे जोड लेना श्रेयस्कर है जो मानव प्रज्ञाको अस्थिर, विचलित और क्षयग्रस्त कर देते हों। वैसे प्रत्यक्षमें शराब पिये लोगोंको गाली बकते, लडते-झगडते, बलात्कारके लिए प्रयत्नशील होते या गंदी नालियोंसे लुढकते देखकर सभी सज्जनोंकी आंखें शर्मसे झुक जाती हैं परंतु अप्रत्यक्ष रूपसे अकल्याण-गर्तमें ढकेल नेवाले गांजा, चरस, कोकीन, अफीम तंबाकू, चाय, काफी आदि मादक द्रव्य कम खतरनाक नहीं हैं। ये ऊपरसे उतना अधिक बिगाडनेवाले नहीं मालूम पडते जितना कि मनुष्योंको अंदरसे खोखला और कमजोर बनानेमें सफल हो जाते हैं। यही कारण है कि भगवती श्रुतिने मादक द्रव्योंके सेवनकी कठोर तम वर्जना की है। भारतका शायद ही कोई ऐसा सौभाग्यशाली

व्यक्ति हो जिसे एक न एक मादक द्रव्यका चस्का न लगा हो। फिर चायपान तो आजकलका बहु प्रचलित सभ्य सामाजिक फेशन हो गया है। उससे होनेवाले अपच, मंदाग्नि, प्लीहा-विकार आदि रोगोंकी ओर जन साधारणकी दृष्टि तक नहीं पहुंच पाती। रही-सही कमी आर्थिक आयकी प्रमुखदात्री किन्तु सर्वाधिक हानिकरी मदिराको राष्ट्र-पिता बापूकी जय बोलते वर्तमान कर्णधारों द्वारा मिले सरक्षणसे दूर हो गयी है। राष्ट्रीय उत्सवों या सभाओंमें नशाबंदीकी उपादेयता तथा अनिवार्यतापर लबे-चौडे भाषण देनेवाले भावुक राष्ट्रिय नेतागण-अर्थप्राप्तिके अनिष्टकर प्रलोभनके आगे घुटने टेककर व्यावहारिक दृष्टिसे मदिरा-पान जैसे दुष्कर्मको प्रश्रय ही देते हैं। यह स्थिति घोर चिंत्य है। वैदिकदृष्टिसे 'मर्यादा पुरुषोत्तम' के प्रबलतम उपासक और प्रशंसक होनेके नाते हमें इस बुरे राष्ट्र-व्यापी रोगके अंतके लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिए।

(५) दुष्कर्मकी पुनरावृत्ति न करना— अज्ञान, असावधानी, अविवेक, कर्तव्यच्युति आदिके कारण संभव है कि मानव कोई बुरा कर्म कर डाले। इस प्रकारका कृत्य यदि फिर न किया जाय तो उसे क्षम्य मानना अपेक्षित है। किन्तु, जब व्यक्ति सामाजिक नियंत्रण, नैतिक पवित्रता, वैधव्यवस्था, राजकीय प्रशासनिक सरणि, धार्मिक परंपरा और लौकिकभाव भूमिको पूर्णरूपसे ठुकराकर बुरे कर्मका अभ्यस्त हो जाये तो उसे अपराधी, पापी, उच्छृखल और अमर्यादित माननेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होना चाहिए। जिस समाजमें चोरी डाका, वध, राहजनी, गिरह-कटी आदि दुष्कृत्य करना लोगोंने अपना अधिकार समझ लिया हो, उलूकवाहिनी लक्ष्मी और कलुषमयी बुद्धिके गंठबंधनपर अपनेको बचा लेना लोगोंने बायें हाथका खेल बना लिया हो और सारी दंड प्रणालियां, कानूनकी व्याख्याएं, न्यायालयोंकी कार्यवाहियां, उन लोगोंको दंडित करनेमें अपनेको निरीह समझने लगी हों; वह समाज सर्वनाशकी चपेटमें आये बिना नहीं रह सकता। खेद है कि वैदिकधर्म और मर्यादाओंकी प्रशसाके पुल बांधनेवाला हमारा भारतीय समाज आज जिस सर्वनाशके कगारपर खडा है; उससे उसे वापस लानेमें भगवान् भी समर्थ नहीं हो सकते। आजकल तो दुष्कृत्यकी पुनरावृत्तियां करनेवाले लोग स्वच्छन्द घूमते रहते हैं और सरल-सुशीलजनोंकी गरदन सदैव अदालतकी घूस और पुलिसकी तिकडमके नीचे दबी रहती है। 'वेद' के माध्यमसे हमें ईश्वरने इसीलिए साग्रह आगाह किया है किधोखेसे दुष्कृत्य हो जाय तो कोई बात नहीं; परंतु उसकी पुनरावृत्ति करनेका पाप मत पालो। वेदका प्रमाण्य और प्राधान्य स्वीकार करनेवाले हम हिन्दुओंको यह मर्यादा भली भांतिसे सहेज रखनी है। (अपूर्ण)

भारतके राष्ट्रपति

स्वर्गीय डॉ. जाकिरहुसैन

के प्रति

श्रद्धाजंलियां

राष्ट्रके सभी वर्गोंके लोकप्रिय नेता, स्वातंत्र्य समरके अमरसेनानी तथा स्वतंत्र भारतके राष्ट्रपति डॉ. जाकिरहुसैनके असामयिक निधनसे जो क्षति भारतके लिए पहुंची है, वह एक अपूरणीय क्षति है। उनके निधनसे भारतको एक महान् राष्ट्रनेतासे वंचित होना पडा।

वैदिकधर्मपरिवार उस महान् नेताको अपनी हार्दिक और भावभीनी श्रद्धांजलियां अर्पित करता है।

सन्तज्ञानेश्वर एवं ज्ञानेश्वरी

(लेखक— श्री आत्मारामशास्त्री, बेरकर)

आध्यात्मिकजीवन-विषयक तत्त्वज्ञानके उच्चतमग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान केवल भारतीय वाङ्मयमेंही नहीं अपितु संसारके वाङ्मयमें भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गीतामें नीतियोंका, व्यावहारिक आचार-विचारोंका, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गंभीरतापूर्ण अध्यात्म विषयका जिस रीतिसे प्रतिपादन किया गया है, वैसा प्रतिपादन किसी भी इतर ग्रंथमें नहीं दिखाई देता।

गीतामें जो नीतिविचार और अबाधितसिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे न केवल अर्जुनके लिए अथवा तत्कालीन लोगोंके लिए ही उपयोगी थे, अपितु वे सिद्धान्त सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन हैं। उस गीतामें प्राणियोंके इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयके लिए अध्यात्मशास्त्रमे वर्णित कर्म-भक्ति-ध्यान-योग और ज्ञानादि विषयोंका समन्वय की पद्धति से विश्लेषण और निबन्धन किया गया है।

भाषाकी दृष्टिसेभी गीता जैसा सरल और सुगम अध्यात्म ग्रंथ संस्कृत वाङ्मयमें भी और कोई दूसरा नहीं है। भाषा इतनी सरल और सुगम होने पर भी गीतामे प्रतिपादित सिद्धान्त अत्यन्त गूढ अभिप्रायोंसे सम्पन्न हैं। यही कारण है कि प्रायः सभी आचार्योंने गीतापर संस्कृतमें अपने भाष्य लिखकर तद्गत अभिप्रायकी ग्रंथियोंको खोलकर उसकी सहायतासे अपने अपने सिद्धान्तोंकी पुष्टि करके गीताकी सर्वोपयुक्तता सिद्ध की है।

इस गीता पर भारतीय भाषाओंमें और विदेशीभाषाओंमें जितनी भी टीकायें आजतक लिखी गई हैं, उनमें महाराष्ट्रके विख्यात सन्त ज्ञानेश्वर महाराज द्वारा लिखित "ज्ञानेश्वरी" टीका सुप्रसिद्ध है, जो अपनी सरलता और सुगमताके कारण ६५० वर्षोंसे महाराष्ट्रीयजनों तथा अन्य पाठकोंका कण्ठाभरण बनी हुई है। श्रीज्ञानेश्वरमहाराजने अपनी टीकामें गीताकी, उसके अध्यायोंकी और श्लोकोंकी विशेषता और उपादेयता बताकर उसमें प्रतिपादित तत्त्वको अपनी व्यावहारिक भाषामें प्रकट किया है। प्रस्तुत लेखमें उनके गीताविषयक विचारोंका प्रथन किया गया है।

गीता और ज्ञानेश्वर

गीतातत्त्व बहुत ही गहन, गंभीर और रहस्यपूर्ण है। इसलिए गीताव्याख्यानके अवसर पर सन्त ज्ञानेश्वरका भी मन संशयित प्रतीत होता है। वे लिखते हैं "जिस ग्रंथके बारे में महामहिमशाली व्यास जैसे महापुरुष भी साशंक हैं उसी ग्रंथपर मुझ जैसा सामान्यजन लिखना चाहता है। तो भी मेरा दृढविश्वास है कि गीताके ईश्वर बहुत ही उदार हैं। वह व्यासोचितरूप फूलोंकी माला पहनकर भी मुझ जैसे सामान्य जनकी दुर्वाओंको अस्वीकार नहीं करेंगे। मदमत्त बडे बडे हाथी जिस क्षीरसागरमें क्षीर पीने आते हैं, वहां मक्खियां भी क्षीर पीने आती ही हैं। जिस आकाशमें,खगराज गरुड विहार करते हैं, उसी आकाशमें दूसरे पक्षीगण भी विहार करते ही हैं। संसारमे राजहंसकी गति प्रसिद्ध है तो क्या दूसरे गति ही नहीं करते? सूर्य अधिक प्रकाश देता है, फिर भी छोटा दीप भी तो प्रकाश देता ही है। यदि महासागरमें आकाश बडे आकारमें प्रतिबिम्बित होता है तो निर्झरमें भी वही आकाश, छोटे आकारमें ही सही, पर प्रतिबिम्बित तो होता ही है। भगवान् सूर्यके पास रहनेवाला उसका सारथि गरुडाग्रज अरुण सूर्यको देखता है, तो क्या पृथ्वीपर रहनेवाले चींटी आदि जन्तु उसे नहीं देखते? अर्थात् देखते ही हैं।

यदि मातापिताकी अंगुली पकडकर उनका बच्चा अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाता है, तो मेरे जैसा मनुष्य भी व्यासादि द्वारा प्रदर्शित मार्गका सहारा लेकर शुरु किए गए कार्यको निश्चयपूर्वक सफल करेगा, उनके मार्गप्रदर्शन तथा

श्रीगुरुनिवृत्तिनाथके कृपा-प्रसादसे मेरी कृति भी पूर्ण होगी ही। " (ज्ञाने.अ. १८/ १७१०-२३)

गीता क्या है ?

गीता सभी आश्चर्योंका जन्मस्थान, सभी तरहके सुखोंका अधिकारण, निखिल सिद्धान्तोंका महासागर, सभी रसोंसे परिपूर्ण, अमृतका सागर, सभी धर्मोंका मूल, विवेकरूपी वृक्षोंसे सुशोभित सुन्दर उपवन, अभिनव वाणीकी प्रेरिका भगवती शारदादेवीके लावण्यका कोष, उपनिषद् और महाभारतरूपी कमलोंका पराग, ज्ञानामृतकी गंगा, आनन्दरूपी चन्द्रमाकी सत्रहवीं कला, विचाररूपी महासागरसे उत्पन्न एक नवीन लक्ष्मी, सातसौ श्लोकोंसे युक्त, मोहरूपी महिषासुरको मुक्ति प्रदान करनेवाली भगवती दुर्गा है, जो तीनों लोकोंमें पूजी जाती है, वन्दित होती है, ब्रह्मादियोंसे प्रशंसित होती है और सनकादि ऋषियोंसे सेवित होती है।

नवीन वेद

सभी मनुष्यके हित अहितको दर्शानेवाला ज्ञानदीप वेद ही है। पर वेद जैसा कृपण कोई अन्य ग्रंथ नहीं है। क्योंकि वेद त्रैवर्णिकोंको छोडकर अन्य मानवों और स्त्रियोंको अपने अध्ययनका अधिकार नहीं देता।×

इसीलिए श्री ज्ञानेश्वर उत्प्रेक्षा करते है वेदोंने जब अपनी कृपणताका अनुभव किया, तब उसे दूर करनेके लिए मानों वे सर्वसाधारणके उद्धारके लिए गीताके रूपमें प्रकट हुए। गीताके रूपमें वेदने उत्तम-मध्यम-अधमका कोई भेद नहीं रखा, और सबको समान रूपसे ज्ञानामृत प्रदान किया।

वेद भगवान्‌के निःश्वास हैं। " यस्य निःश्वसितमेतद्यजुःसाम " इसप्रकार श्रुति कहती है। गीता भी " चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् " इस वचनके अनुसार साक्षात् श्रीकृष्णके मुखकमलसे निकली है। वेदोंमें कर्मोपासना-ज्ञानरूप जो तीन काण्ड हैं, वे ही तीन कांड गीताके भी विषय हैं, इसलिए यह गीता एक दूसरा नवीन वेद है।

इसप्रकार अनेक तरहसे गीताके स्वरूपका प्रतिपादन करके ज्ञानेश्वर महाराजने गीताके अध्यायोंके वैशिष्ट्यको भी विशद किया है। उदाहरणार्थ—

गीताके अध्यायोंकी विशेषता

गुड-शक्कर आदि गन्नेके रससे ही बनते है, तो भी उनके स्वाद-गुण-धर्म भिन्न भिन्न ही होते है। उसीतरह गीताके अठारहों अध्यायोंमें प्रत्येक अध्यायकी अपनी अपनी विशेषता है। उनमें कुछ अध्याय साध्यका प्रतिपादन करते है। कुछ अध्याय साधनकी विवेचना करते हैं तथा दूसरे अध्याय साध्यसाधनके समन्वयका मार्ग दर्शाते है। दूसरे कुछ अध्याय अपने मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते है।

गीताके छठे अध्यायकी मौलिकता बताते हुए ज्ञानेश्वर कहते है– ' यह छठा अध्याय क्षीरसमुद्रसे प्राप्त अमृतके समान गीताका सारभूत है। यह विवेकरूपी महासागरका परला किनारा है। अनन्त योगसम्पत्तिका भाण्डागार है और आदिरूपा भगवती मायाका विश्रान्ति स्थान है।

(ज्ञाने. ६/१०-१२)

नौवें अध्यायकी विशेषता बताते हुए वे लिखते है, " समस्त वेदोंका सार महर्षि व्यासने महाभारतमें संग्रहित किया है। महाभारतका सार गीतामें है और गीताके सातसौ श्लोकोंका सार नौवें अध्यायमें है। क्योंकि इस अध्यायमें आध्यात्मिक जीवनके लिए उपयोगी राजविद्या, पराविद्या, भगवान्‌के ऐश्वर्ययोग और भक्तियोगका विशद विवेचन किया है, जो अनुपमेय है। रामरावणयुद्धकी उपमा जिसतरह रामरावण-युद्ध ही है, उसीतरह नवम अध्यायकी उपमा नवम अध्याय ही है।

श्लोकोंकी विशेषता

गीताके श्लोक अविद्यारूपी अन्धकारका निवारण करनेके लिए सूर्यको भी नीचा दिखानेवाली ज्ञानप्रकाशकी किरणें है। ये गीतारूपी समुद्रकी तरंगें हैं, भगवान् श्रीकृष्णके गीता-रूपी रथके तेजस्वी अश्व है। अचिन्त्य वस्तुको प्राप्त करनेके

× यहां लेखक भूल करता है। वेदने अपने अध्ययनका अधिकार सभी मानवमात्रको दिया है। देखे यजु.। वैदिककालीन या वैदिक ऋषिकायें (वागाम्भृणी, वाचक्नवी आदि) भी स्त्रियोंके वेदाध्ययनके अधिकारकी स्पष्ट घोषणा करती है।

—सम्पादक

लिए चिन्तामणि हैं। निर्विकल्पब्रह्मको प्राप्त करानेके लिए कल्पतरुओंकी पंक्तियां हैं। जिसप्रकार दीपके प्रथम या द्वितीय अथवा सूर्यके मन्द और प्रखर किरणोंकी शक्ति पृथक् पृथक् नहीं मानी जा सकती, उसीतरह गीताके श्लोक यद्यपि अनन्त हैं, तथापि उनकी शक्तियोंका भिन्न भिन्नरूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता।

अध्याय और श्लोकोंका सम्बन्ध

गीताके अध्याय और श्लोकोंकी अपनी पृथक् पृथक् विशेषता होने पर भी उनका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जिसप्रकार मालाके रूपमें परिणत मुक्ताओंकी कान्ति अलग अलग रूपसे नहीं दीख पडती, मालामें गुंथे हुए फूलोंकी सुगंधि अलग अलग नहीं जानी जा सकती, प्रयागमें प्रवाह-दृष्टिसे गंगायमुनाकी पृथक्ता होने पर भी जलदृष्टिसे उनका अभेद है, एक श्लोकके चार चरण होने पर भी श्लोक एक ही कहलाता है, उसी तरह संख्याकी दृष्टिसे गीताके अध्यायों और श्लोकोंका भेद प्रतीत होनेपर भी तत्त्वार्थकी दृष्टिसे उनमें जरा भी भेद नहीं है। (ज्ञान. १८।५४-५५)

गीतामें त्रिवेणी

विवाहके प्रसंगपर वरवधूओंके साथ दूसरे भी जन वस्त्र और आभूषणोंसे स्वयंको सजाते हैं, उसीतरह गीतामें मुख्य रसोंके साथ अन्य रस भी सगत हुए हैं। इसलिए रसकी दृष्टिसे गीतामें त्रिवेणीका संगम है। प्रयागके त्रिवेणीसंगममें गंगा और यमुना प्रकटरूपमें बहती हैं और सरस्वती प्रच्छन्न रूपमें उनसे आकर मिलती है, उसीतरह गीतामें शान्त और अद्‌भुतरस स्पष्ट प्रतीत होते हैं और दूसरे रस सरस्वतीके समान गुप्तरूपमें हैं। इसलिए रसकी दृष्टिसे भी गीता त्रिवेणी संगम है। (ज्ञाने. ११. २–७)

गीतातत्त्व

औषधिके कडुवेपनमें भी अमृतके समान जो जीवनशक्ति निहित रहती है, वह दिखाई नहीं देती पर आगे जाकर उसका परिणाम सामने आता ही है, उसी तरह गीतामें भी वचन शुष्क और क्लिष्ट प्रतीत होते हैं, पर परिणाममें वे हितकर ही होते हैं। प्रश्नोत्तरके रूपमें महादेव भगवती पार्वतीसे कहते हैं– "हे देवि! जिस तरह तुम्हारा सौन्दर्य प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढता हुआ ही दिखाई देता है, उसी तरह गीताके नवीन-नवीन तत्त्वोंका आविष्कार होता जाता है। (ज्ञाने. अ. १।७१)

गीताकी उपासना विधि

सभी भारतीय यह मानते हैं कि आश्विन शुक्ल पूर्णिमाके दिन चन्द्रमासे अमृतके कण बरसते हैं और उन अमृतकणोंको चकोर पक्षी जिस कुशलतासे चुगते हैं, जिसप्रकार विकसित कमलोंसे भौंरे परागका पान करते हैं, अपने स्थानको न छोडती हुई कुमुदिनी जिस रीतिसे कुमुदका आलिंगन करती है, उसी तरहके चित्तसे मानव गीतातत्त्वका आस्वादन करे क्योंकि वह गीतातत्त्व बहुत ही सूक्ष्म और गहन है। (ज्ञाने. अ. १. ५६-५७)

महर्षि व्यासके उपकार

जिसतरह माता बालकको खिलानेके लिए उसके अनुकूल ग्रास बनाती है, जिस प्रकार विशेषरूपसे वायुसेवनके लिए पंखा बनाया जाता है, उसी तरह शब्दोंसे न जाने जानेवाले ब्रह्मको सब स्त्रीशूद्रोंको समझानेके लिए महर्षि वेदव्यासने अनुष्टुप् छन्दोंमें गीता रची। यदि स्वातिनक्षत्रके जल मुक्ता-रूपसे परिणत न हो जाते, तो वे स्त्रियोंके अंगभूषण भी न बनते। यदि वाद्योंसे विविध ध्वनियां न निकलतीं, तो उनका ज्ञान भी न होता, यदि पक्वान्नोंमें मधुरता प्रकट न होती तो रसना उनका स्वाद भी न ले पाती। यदि दर्पण न होता, तो आंखें स्वयंको न देख पातीं, उसी तरह जिस ब्रह्मका वर्णन श्रुतियां करती हैं, यदि वह ब्रह्म गीताके श्लोकोंके रूपमें साकार न हो जाता, तो सभी उस ब्रह्मका ज्ञान न प्राप्त करते। इसलिए श्रीकृष्णार्जुन संवादरूप इस गीताको रचकर भगवान् वेदव्यासने विश्वपर महान् उपकार किया।

(ज्ञाने, अ. १८।७८)

आस्तिक नास्तिकके लिये श्राद्धविज्ञान

(लेखक— श्री रणछोडदास ' उद्धव ')

वेदका वेदत्व एकमात्र इसी बातपर निर्भर करता है कि वह प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान आदि अन्य प्रमाणसे अज्ञात परलोक विषयका केवल प्रधान निरूपक है और इसलिए श्रद्धा-सम्बन्धी छोटीसे छोटी क्रियाका भी वेदमें विशद वर्णन विद्यमान है तो अत्युक्ति न होगी। वेदमूर्ति स्व. पद्मभूषण, म म. डॉ. पं. श्री दा. सातवलेकरजीने परलोक-विद्या पर वेदोंसे हजारों मंत्रोंका संग्रह किया था। अथर्ववेद काण्ड १८ के अंतमें मनन करते हुए लिखते हैं—

' वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक बडा भारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बडे महत्त्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है। वेद ही हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उसीकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबंधमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है। हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहले कहां जाता है और कब फिर जन्म लेता है। वर्तमान समयके लोग जो यम व पितर संबंधी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं क्या वेदोंमें भी इसका मूल पाया जाता है? मरनेके बाद जीव कहां जाता है, किस रूपमें रहता है, कबतक बिना पुनर्जन्म लिए रहता है, मरनेके बाद मृतककी जीवात्माका उसके सांसारिक सबंधियोंसे कोई संबंध रहता है या नहीं, यदि रहता है तो किस रूपमें, उस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए तो किस रूपमें, यम क्या है, कहां रहता है, मृत पितरोंसे उसका क्या संबंध है, यमके दूत क्या है, यम कहांका राजा है इत्यादि-इत्यादि अनेक महत्त्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं। क्योंकि मरनेके बादका वृत्तान्त जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है, अतः हम इन उपरोक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके सम्बन्धमें वैदिकविचार जाननेकी कोशिश करेंगे।' आगे आपने इन विषयोंपर प्रकाश डाला है। आप उपसंहारमें लिखते हैं—

इस प्रकरणका आदिसे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ पितृलोक हैं जिनमें पितर रहते हैं। उनके नाम उस प्रकार हैं— (१) पृथ्वी (२) अंतरिक्ष (३) द्युलोक (४) पिताका कुल वा घर (५) पितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन कालसे हमारे पूर्व पितर रहते चले आए हैं वह देश। इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकरणसे स्पष्ट रूपसे ज्ञात है।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गका नाम पितृयान है। इस मार्गको एक तो अग्नि जानता है। देखो ऋ० १०।२।७) और दूसरा वह मनुष्य, जो कि अतिथि आदियोंके सत्कारमें सर्वदा तत्पर रहता है। जो मनुष्य देवहिंसक है वह कभी भी पितृयानमार्गको प्राप्त नहीं करता। यह पितृयानमार्ग ' सूर्य किरणें ' भी हैं ऐसा ऋ० १।१९।०७ से पता चलता है। अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोकमें रहनेवाले पितर इस मार्गसे जाते हैं, ऐसा इससे जान पडता है। ऊपर जो ५ पितृलोक दर्शा आए हैं उनमेंसे इन दो अन्तरिक्ष व द्युमें जानेका मार्ग सूर्यकिरणें होनी चाहिए। हमने ऊपर देखा है कि अग्नि ही पितृयानमार्गको जानती है। हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सब प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों अदृश्य हों, किसी भी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है, उनके लिए हवि पहुंचाती है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ पितरोंके पास जानेका जो पितृयानमार्ग है, वह पृथिवीकी हद तक तो जो अग्नि जानेका मार्ग है वह है और आगे जो सूर्यकिरणोंके जानेका है वह है। आगे अपने पितरोंके कार्य, पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य, पितर और यज्ञ, अग्नि और पितर,

क्रव्याद अग्नि, अग्निष्वात्त पितर, प्रेत व अन्त्येष्टि, भिन्न-भिन्न अर्थमे पितर, यम, यमलोक व यमराज्य, द्युलोकमें यमलोक, यमदूत, यमके कार्य, यमकेप्रति हमारे कार्य, यम और स्वप्न, यम कौन है ?– इस विषयमें लिखा है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम यम नामवाला जो कि विवस्वान्का पुत्र था, वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर यहांसे मृत्युलोकमें गया और वहांका राजा बन गया। (देखो अथर्व १८।३।१३) ' फिर यम व पितरोंके संबंधमें लिखते हैं—

' हम पहले भी इस विषय पर थोडीसी नजर डाल आए हे। वहां पर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसीकी इस प्रकरणमें विशेषरूपसे पुष्टि की गई है– (१) यम पितरोंका अधिपति है। (२) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमकी प्रजा हे व वह उनका राजा है। यमके राज्यमें पितरोंका उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहकार्यद्योतक मन्त्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हें, उसके साथ ही यत्र तत्र विचरण करते हें। '

हमें और भी प्रमाण उपलब्ध हुए हे। विशेष श्राद्ध विज्ञानमें श्री ओझाजीके शिष्य वैदिक विज्ञानाचार्य पंडित मोतीलालजी शास्त्रीके ग्रंथोंसे भी प्राप्त हुए हे। उन सबका सारांश ' नास्तिक–आस्तिकके लिए–श्राद्धविज्ञान ' लिख रहे हे। इस विषय पर लिखनेकी प्रेरणा श्रद्धेय डॉ० सूर्यनारायण व्यासजीसे मिली थी। इस श्रद्धाके विषयमे लिखना ही चाहते थे कि हमारी संस्था–अखिल भारतीय श्रुतिरविद्यामके प्रचारमन्त्री श्री राधाकृष्णजी गांधी दैवयोगसे सहसा स्वर्गवासी हो गए। तब सोचा—

" गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् "

' अपनी चोटी मृत्युके हाथमें ही रहती है, अतएव शुभकार्य शीघ्र करना चाहिए। ' यह समझकर सत्साहित्य सुमनमालाके १३ वें सुमनका द्वितीय भाग पूर्ण हो रहा है।

मंगल

स इज्जनेन स दिशा स जन्मना
स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति
श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

(ऋग्वेद २।२६।३)

(आपोमय परमेष्ठीके मण्डलमें स्थित ' पितर ' नामसे प्रसिद्ध आङ्गिरस या आग्नेय देवताओंका तृप्तिकारक ब्रह्मणस्पति सोम आग्नेय-देवकी आहुति होनेसे देवमूर्ति है और अपने सौम्यरूपसे पितर-प्राणात्मक है,) इसप्रकार आग्नेय देवताओं तथा सौम्यपितरोंके पालन करनेवाले इस परमेष्ठीके ब्रह्मणस्पतिका जो यजमान हविर्द्रव्यसे यजन करता है, वह आपोमय सम्पूर्ण लोकोंसे (जनसे) सम्पूर्ण प्रजासे, अपने आपसे, अपने पुत्रादि वंशजोंसे तथा अपने सेवकवर्गसे इच्छित सम्पत्ति प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। ब्रह्मणस्पति द्वारा परमेष्ठीके आग्नेयदेव देवता एवं सौम्य-पितृदेवता, इन दोनोंके यजनसे यजनकर्ता सम्पूर्ण सम्पत्तिका अधिकारी बन जाता है, यही मंत्रका सारांश है।

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं
लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पक्वं परि विष्टमग्नौ
तस्य गुप्तये दम्पती संश्रयेथाम् ॥

(अथर्ववेद ६।१२२।३)

हे दम्पती ! (यजमान और यजमानपत्नी) आप दोनों परलोकके हितसाधक कर्मको तथा कर्म द्वारा प्राप्त होनेवाले परलोकके फलको अपना लक्ष्य बनाकर कर्मका आरम्भ कीजिए, प्रारम्भ किए हुए कर्ममें मनसे, वाणीसे और कर्मसे लग जाइए। क्योंकि देव और पितृके यजनरूपी कर्मसे प्राप्त होनेवाले परलोकके फलको लक्ष्य बनाकर ही इस इन्द्रियातीत परलोकके फल पर श्रद्धा करनेवाले श्रद्धालुजन ही कर्मका अनुगमन करते है। इसलिए आप भी श्रद्धापूर्वक देवताओं और पितरोंका यजन कीजिए। आप दोनोंके लिए स्थालीपाक आदि लक्षणवाले जो पके हुए अन्न हविरूपसे अग्निमें दिये हुए हें, उसकी रक्षाके लिए आप प्रयत्नशील बनिए। अर्थात् अग्निमें दी गई आहुतिके द्रव्य द्वारा

" यावद्वित्तं तावदात्मा "

' यहां तक द्रव्य है वहांतक आत्मा है ' के अनुसार आपके लिए परलोककी स्थितिवाले जिस सुसंस्कृत दैवात्माका स्वरूप सम्पन्न हुआ है, उसे अपने श्राद्धकर्मसे आप सुरक्षित रखिए।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥

(ऋग्वेद १०।१५१।५)

हम प्रातःकालमें भी श्रद्धाकी आराधना करते हैं, मध्याह्नमें भी इसी श्रद्धाका अनुगमन करते हैं और सूर्यास्तकालमें उसीका अनुगमन करते हैं। हे श्रद्धे ! आप हमारे कर्मानुष्ठानोंके लिए हमें श्रद्धावान् बनाइए। (यही उस श्रद्धासे हमारी विनम्र प्रार्थना है।)

श्रद्धा देवानधिवस्ते " श्रद्धा विश्वमिदं जगत् "
श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्धयामसि ॥
(तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८।९)

सौम्य श्रद्धातत्त्व अपने सोमात्मक आहुतिभावसे सदा आग्नेय प्राणात्मक यज्ञिय देवदेवताओंका अनुगामी बना रहता है (श्रद्धा द्वारा ही देवप्राणकी अध्यात्ममें प्रतिष्ठा होती है)। अपने आपोमय परमेष्ठीके ' श्रत् ' लक्षणवाले सत्यरूपसे लोकसृष्टिकी रचना भी यही श्रद्धा है और पांच–आहुतिके क्रमसे लोकस्थित प्रजासृष्टिकी मूल-उत्पादिका भी यही श्रद्धा है। अतएव यह सम्पूर्ण विश्व (स्थावर सृष्टि) भी श्रद्धामय है और सम्पूर्ण जगत् (जंगम लक्षणवाली प्राणिसृष्टि) भी श्रद्धात्मक ही है। हृदयस्थ सौम्य मनमें चन्द्रकी नाडी द्वारा प्रतिष्ठित होती हुई यही श्रद्धा मानस कामनाओंकी जननी है। ऐसी सर्वरूपा इस श्रद्धाको वाङ्मय इस (श्राद्धविज्ञानरूप) हवि-प्रदान द्वारा मैं समृद्ध कर रहा हूँ।

ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥
(ऐतरेय-आरण्यक ३।२।५)

कृमि, कीट, पक्षी, पशु, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच इन्द्र, पितर, ब्रह्मा और प्रजापति आदि सब भूतसर्गोंके वाङ्मय प्रपंचकी अधिष्ठात्री (' पितरः वाक्यमिच्छन्ति ' के अनुसार पितृप्राणका आकर्षण करनेवाली) वस्त्रके आच्छादनकी भांति दोनों ओष्ठोंसे सुरक्षित, छेदरहित अतएव वज्रके समान दृढ दन्तपङ्क्तिसे घिरी हुई यह वाग्देवी इस वाग्यज्ञ (श्राद्धविज्ञानके निबन्ध) में मुझसे प्रिय, हित और मित सत्यवाणीका प्रयोग करावे।

पुरुषसृष्टिका विकास १ ' श्रद्धा ' तत्त्वकी आहुतिसे २ ' सोम ' ३ ' वृष्टि ' ४ ' अन्न ' और ५ ' रेत ' इस क्रमसे पाँचमी आहुतिसे हुआ है। छांदोग्य-उपनिषद् (५।९।१) में कहा है—

' इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति "

' इस प्रकार पाँचवीं आहुतिके दिये जाने पर आप् " पुरुष ' शब्दवाची हो जाते हैं। जो ' श्राद्ध " तत्त्व अपने आपोमय रूपसे सम्पूर्ण विश्व तथा विश्व प्रजाका उपादान कारण (वह कारण जो स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाय) है, जो 'श्रद्धा' तत्त्व सत्यमूर्ति प्रतिष्ठा ब्रह्मके साथ रह कर सम्पूर्ण विश्वकी स्थिति बना हुआ है, जिस ' श्रद्धा ' तत्त्वकी आहुतिसे दिव्यलोक–निवासी प्राणदेवता अपने संवत्सरकी अग्निको जाग्रत रखनेमें समर्थ हो रहे हैं, द्युलोकवाले सूर्यके केन्द्रसे भूके केन्द्रतक फैले हुए जिस 'श्राद्ध' सूत्रके द्वारा द्युलोकवाले प्राणदेवता और द्युलोकवाले पितर भूलोकवाले यजमानोंसे दिये हुए अपने–अपने आहुतिद्रव्यको प्राप्त करनेमें समर्थ बन रहे हैं जिस ' श्राद्ध ' तत्त्वके आधार पर अग्नि और सोमात्मक पांच महाभौतिक विश्वका स्वरूप सम्पादक आधिदैविक (प्राकृतिक) अग्नि सोमका अग्निहोत्र स्थित है, जिस ' श्रद्धा तत्त्वकी अपनी स्वरूप रक्षाके लिए वायुसे सुरक्षित (वायुमय प्राणमय) देवता सदा उपासना किया करते हैं, जो ' श्रद्धा ' हृदयनिवासी मनमें स्थित होती हुई सब प्रकारकी कामनाओंकी जननी बन रही है, जो ' श्रद्धा ' अपने ' श्रत् ' लक्षणवाले सत्य धर्मसे सत्यभावकी मूल प्रतिष्ठा बना रही है, जो ' श्रद्धा ' का सूत्र पुरुषोंके शुक्रमें स्थित महानात्माके द्वारा चन्द्रके उपरके भागमें स्थित प्रेत परपुरुषोंके महान् आत्माओंको तृप्तकर पिण्डदान द्वारा ' श्राद्धकर्मकी ' मूलप्रतिष्ठा बन रहा है, जिस ' श्रद्धा ' तत्त्वके संस्कारके अभावसे अशिक्षा, कुशिक्षा, परशिक्षा और वर्जित कर्मोंके करनेसे गिरजानेके कारण मानववर्ग सत्यधर्मसे विमुख हो जाता है, उस श्रद्धाके लिए ' श्राद्धविज्ञान ' पर कुछ कहा जाता है।

श्राद्धकी आवश्यकता—

' देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते। "

' द्विजातियोंके देवकार्यसे पितृकार्य विशेष होता है, किन्तु कुछ महाशयोंकी दृष्टिमें अश्रद्धेय बन गया है और उसका दुष्परिणाम सङ्ग दोषसे आस्तिक श्रद्धालु प्रजावर्गको भी भोगना पड रहा है। अतएव आर्यप्रजाके लिए शास्त्र-प्रमाण दिये जाते हैं—

स्थूलशरीर त्यागनेपर आतिवाहिक नामके अंगूठेके समान सूक्ष्मशरीर धारणकर प्रेतसंज्ञक 'प्रत्यगात्मा' या भोक्तात्मा कर्मफल भोगनेसे पहले एकबार चन्द्रके संवत्सरवाले १३ महीनोंमें चन्द्रलोकमें पहुँचता है। कहा है—

'ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।' (कौषीतकि–उपनिषद् १।२।२) इसके साथ साथ आकृति, प्रकृति और अहंकृति उन तीनों भावोंका अधिष्ठाता सत्व, रज और तमोगुणवाला, ८४ कलाके ऋण और धनवाला, पितरके सह पिण्डोंसे युक्त, शुक्रमें स्थित 'पितर' संज्ञक 'महानात्मा' भी अपने रचयिता चन्द्रलोकके ऊपरके भागमें उसी एक चन्द्रके संवत्सरमें स्थित हो जाता है।

उत्तरायणवाली स्वर्गलोकगति और दक्षिणायनवाली नरलोकगति, इन दोनों आत्मगतियोंके विभाजक दोनों लोकोंके द्वार नामसे प्रसिद्ध चन्द्रमामें जब भोक्तात्मा तथा महानात्मा, ये दोनों प्रेतात्मा पहुँच जाते हैं। कौषीतकि–उपनिषद्में कहा है—

"एतद्वै लोकस्य द्वारं, यच्चन्द्रमाः" (१।२।६)

फिर महानात्मा तो अपनी प्रतिष्ठावाले चन्द्रके ऊपरके भागमें ही स्थित रह जाता है और कर्मभोक्ता प्रत्यगात्मा अपने शुभ और अशुभ कर्मफल भोगनेके लिए शुभ और अशुभ उत्तर या दक्षिणमार्गोंमेंसे किसी एक मार्गको अपनी गतिका निमित्त बनाता हुआ लोकको जानेवाला बन जाता है।

परलोकवासी चन्द्रलोकमें स्थित पिता, पितामह और प्रपितामह आदिके महानात्मा ही 'प्रेतपितर' कहलाता है। इन अपने मृतपितरोंके लिए श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करना ही श्राद्धकर्म है। इस संबंधमें आस्तिकप्रजाका यह दृढ़ विश्वास है कि शास्त्रोक्त पद्धतिसे पुत्र–पौत्रादि वंशजोंके द्वारा दिया हुआ पिण्ड–रस इन्द्रियरहित श्राद्धसूत्रके द्वारा परलोकवाले पिता, पितामह और प्रपितामह आदिकी तृप्तिका कारण बनता है। दिया हुआ पिण्डरस (प्राणात्मक रस) से सबल बनता हुआ प्रेतात्मा पृथिवीके आकर्षणसे होनेवाले दुःखकी अपनी अश्रुमुखवाली अवस्थाको छोड़ता हुआ सुखपूर्वक चन्द्रलोकमें पहुँच कर पिण्डवाले भावको प्राप्त हो जाता है।

श्राद्धपक्षमें उन-उन प्रेतपितरोंकी तिथियोंमें पुत्रादिद्वारा सम्पादित पिण्डदानादि श्राद्धकर्मसे उनके प्रेतपितर प्रतिवर्ष तृप्त हुआ करते हैं। श्राद्धके अन्नसे तृप्त पितर श्रद्धाके सूत्रके द्वारा भूपिण्डके अपने पुत्रादिके शुक्रमें रहनेवाले पितरके साथ पिण्डात्मक महानात्मामें जीवनीय सन्ततिके विस्तारवाले पितर के रसका स्थापन करते रहते हैं। इस दिये हुए रससे प्रजा-तन्तुका विस्तार अखंड बना रहता है अतएव वंशके नाशका अवसर नहीं आने पाता। हठधर्मीलोग परलोकमें जाते हुए और परलोकमें पंहुचे हुए प्रेत-पितरोंके निमित्त पिण्डदानादि लक्षणवाले श्राद्धकर्मको नहीं करते हैं उनके प्रेतपितरोंके साथवाले पिण्डक्षीण हो जाते हैं। संबंध टूट जाते हैं उनके क्षीण हो जानेसे उनके लगे हुए उनके पुत्रादिके शुक्रमें स्थित महात्माके पितरके साथवाले पिण्ड क्षीण हो जाते हैं, शुक्र निर्बल हो जाता है। यही पिण्डक्षय इनके वंशको छेदनका एक प्रधान कारण बनता है। इस वंशनाशके साथ-साथ भूखे पितरोंके अभिशापसे इस लोककी समृद्धिसे भी वञ्चित रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि प्रजातन्तुको चलानेके लिए तथा प्रेतात्माको तृप्तकर उस तृप्तिके द्वारा दोनों प्रकारके सुखकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक श्रद्धालु श्रद्धाके अनुसार पदार्थों-का संग्रह कर यथाविधि पिण्डदानादि श्राद्धकर्मको करता रहे। भगवान् याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें स्पष्टीकरण किया है—

'आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

नास्तिक कहता है

आत्मा और परमात्माकी सत्तासे रहित, प्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले वेदविरोधी चार्वाकलोग अज्ञानताके वशमें होकर बोले कि—

"मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पना॥"

'मरे हुए प्राणियोंकी तृप्तिका साधन यदि श्राद्ध अर्थात् श्राद्धधर्ममें मृतपितरोंके लिए दिया हुआ पिण्डादिरूप श्राद्धका अन्न है, तो विदेशयात्रा करनेवाले जीवित प्राणियोंके लिए मार्गके भोजनकी कल्पना व्यर्थ है। फिर तो जिस द्वारसे परलोकमें गए हुए मृतप्राणियोंको भोजन पहुँचा दिया जाता है, उसी द्वारसे विदेश गए हुए प्राणियोंको भी तृप्त किया जा सकता है।

(क्रमशः)

क्रिया कैसे आरम्भ हुई ? यदि उस क्रियाका कारण कोई ईश्वरातिरिक्त चेतन सत्ता थी, तो ईश्वरको ही उस क्रिया का कारण माननेमें क्या आपत्ति है ? और यदि चेतनसत्ता-के अभावमें ही जडतत्वमें क्रिया आरम्भ हुई तो क्रिया कैसे और किस कारण हुई ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनके सामने पाश्चात्य विद्वान् अपने आपको श्रीहीन अनुभव करते हैं। डार्विनके परवर्ती विद्वानोंने यद्यपि इन प्रश्नोंको ध्यानमें रखकर अपने सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया, पर वे भी असफल रहे। आइए उनके सिद्धांतोंका भी सिंहावलोकन कर लिया जाए।

स्मट्सका सम्पूर्णात्मक विकासवाद (हॉलिस्टिक इवोल्यूशन)—

स्मट्स अपने ग्रन्थमे लिखता है, कि सम्पूर्णतावाद अथवा वह प्रवृत्ति जो ससारको पूर्णताकी ओर अग्रसर कराती है, एक सर्वमान्य सिद्धांत है। प्रत्येक इकाई चाहे वह परमाणु हो या अमीबा अपनी योजनाको सामने रखकर विकसित होती है और उस विकासका एक उत्पादन प्रकृतितत्त्व भी है। विकासके आरम्भ होनेके बहुत समयके बाद चेतनाका आविर्भाव हुआ। वह लिखता है कि "चेतना प्रारम्भमें नहीं थी अपितु अन्तमें आई[४]" उसके अनुसार सम्पूर्णताकी शक्ति (हॉलिस्टिक फोर्स) ही वास्तविक है, जो कि एक गुणहीन शक्ति है। स्मट्स कहता है कि "चार मुख्यतत्व, प्रकृति जीवन, चेतना, और व्यक्तित्व उस एक ही प्रवृत्त्यात्मक शक्तिके विकास हैं। और यह सम्पूर्णताकी शक्ति ही उन्हें (चारोंको) परस्पर सम्बद्ध करती है।"[५]

पर यहां स्मट्स अपने सम्पूर्णको, जिसे वह तत्त्व कहता है, स्पष्ट नहीं करता कि उसका क्या स्वरूप है। तथा स्मट्सके अनुसार चेतना उसके संपूर्णतत्त्वके विकासका एक रूप है, पर अचेतन संपूर्णतत्त्वसे चेतनाका आविर्भाव कैसे हो सकता है, अथवा कैसे हुआ ? इसका कोई विवरण स्मट्स नहीं देता। इसके अतिरिक्त उसका सम्पूर्णतत्त्व एक भाव-भूत (अबस्ट्रक्शन) तत्त्व है! उससे सत्ताभूत (कॉंक्रीट) ये संसारिक पदार्थ कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? अथच स्मट्स यह तो कहता है, कि इस सम्पूर्ण शक्ति (हॉलिस्टिक फोर्स) का विकास निरन्तर हो रहा है। पर उसने यह कहीं नहीं बताया कि इस विकासका उद्देश्य क्या है, अथवा इस विकासकी चरमसीमा भी है या नहीं ? ऐसी कतिपय आपत्तियां हैं, जो पाठकको सन्दिग्धावस्थामें ही रखती हैं।

अलेक्जेण्डरका आकस्मिक या नूतन विकासवाद (इमर्जेण्ट इवोल्यूशन)—

अलेक्जेण्डरके अनुसार यह सारा संसार काल और देश (टाइम एण्ड स्पेस) के विकासका परिणाम है और यह विकास अन्तिम उद्देश्यकी ओर, जिसे वह देव (डिटी) कहता है, निरन्तर होता चला जा रहा है[६]। इस विकासके साथ-साथ काल और देशमें नूतन-नूतन पदार्थोंका आविर्भाव होता जाता है। काल और देशमें क्रिया होनेसे सर्व प्रथम प्रकृतितत्त्व पैदा हुआ, फिर जीवन निकला; तत्पश्चात् चेतना निकली और इस विकासकी अन्तिम स्थिति देव या ईश्वरकी है, जिसका आविर्भाव अभी होना शेष है। पर इस सब विकासके लिए किसी ससारातिरिक्त चेतन सत्ताकी आवश्यकता नहीं है[७]। क्योंकि ईश्वर भी काल और देशका ही परिणाम है। अलेक्जेण्डर एक स्थलपर लिखता है कि "काल और देश सब सत्ताओंसे बडा है चाहे वह पदार्थ सांत हो या अनन्त, क्योंकि देश और काल ही उन सबका उत्पादक है"[८]।

पर इस आकस्मिक विकासवादमें काल और देशकी स्थिति सन्दिग्ध है। अलेक्जेण्डरने इनकी स्थिति और इनका स्वरूप कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है। अलेक्जेण्डरका विकासवाद भारतीय दर्शनोंके असत्कार्यवादके समान है, जिसके अनुसार कार्य कारणमें प्रथमतः नहीं रहता, अपितु कार्य व्यापारसे कारणके द्वारा एक नई ही वस्तु पैदा होती है। इसी कारण अलेक्जेण्डर अपने काल और देशको याथातथ्य रूपमें प्रस्तुत न करके एक भानुमतिके पिटारेके रूपमें लोगोंके सम्मुख रखता

४. हॉलिज्म एण्ड इवोल्यूशन—स्मट्स पृ. ३३५

५. उपरोक्त—पृ. ३२०.

६. स्पेस, टाइम एण्ड डिटी—अलेक्जेण्डर।

७. टी. एस. महाबले—जॉर्नल ऑफ बोम्बे यूनिवर्सिटी, सित. १९४७ पृ. ११४.

८. स्पेस, टाइम एण्ड डिटी—अलेक्जेण्डर पृ. ३४२.

है। जो कि (काल और देश) स्वयं एक भावभूत, अचेतन और निष्क्रिय तत्त्व है, पर समय आनेपर बिना किसी सत्ताके स्वत, ही उनमें क्रिया पैदा हो जाती है, तथा स्वयं अचेतन होते हुए भी चेतन सत्ताको पैदा कर देते हैं। इन सिद्धान्तोंके सिद्ध करनेकी अलेक्जेण्डरकी चेष्टा बालूमेंसे तेल निकालनेकी चेष्टाके समान है। तथा मुख्य आपत्ति यह है कि यदि ईश्वर भविष्यमें होनेवाला है, अभी उसका आविर्भाव नहीं हुआ, तो उसके अनुसार मनुष्योंकी अबतक की गई ईश्वरकी पूजा, ईश्वरकी न होकर एक भ्रान्तियुक्त तत्त्वकी पूजा थी, क्योंकि अभीतक ईश्वर पैदा ही नहीं हुआ है। अतः अलेक्जेण्डरके सिद्धान्तसे यह सिद्ध होता है कि सारी पूजा या धार्मिक कृत्य निरर्थक है[९]।

इसीप्रकार ह्वाइटहेडने भी अपने विचारोंसे विकासवादकी पुष्टि की। उसके अनुसार यह विश्व घटनाओंका पारस्परिक सम्बन्धमात्र है, इसीप्रकार व्यक्ति भी घटनाओंका एक व्यवस्थित प्रवाह है, तथा भौतिक वस्तुत्वमें एकताकी दृष्टि ही ईश्वर है[१०]। पर ह्वाइटहेडका यह सिद्धात ईश्वर और व्यक्तिको एक ऐसे रूपमें प्रस्तुत करता है, कि वे ईश्वर और व्यक्ति न रहकर केवल घटनामात्र रह जाते हैं। पर इन दोनोंको घटनामात्र नहीं माना जा सकता, अपितु घटनाओंके ऊपर इन दोनोंकी एक ऐसी सत्ता है, जिनके अभावमें घटनाओंकी सत्ता भी असम्भव हो जाती है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है, कि घटनाएँ इन दोनोंके आधारपर चलतीं हैं, न कि ये दोनों घटनाओंके आधारपर चलते हैं। इसके अतिरिक्त ह्वाइटहेडके सिद्धांतोंमें घटनाओंकी स्थिति और स्वरूप भी स्पष्ट नहीं है, कि वास्तवमें घटनाओंसे लेखकका क्या तात्पर्य है। इसीप्रकार बर्गसां आदि अन्य विद्वानोंने भी अपने विचार प्रस्तुत किए पर यह सब पाठकको सन्दिग्धावस्थामें रखते हैं। इसके विपरीत यदि भारतीय विकासवाद या परिणामवादके सिद्धांतोंका अनुशीलन करें, तो उनके द्वारा हम ऐसे तथ्योंपर पहुंचते हैं, जो स्पष्ट और सुव्यस्थित हैं।

भारतीय दर्शनोंमें परिणामवादका सुविशद वर्णन सांख्य दर्शनमें आता है। सांख्यके परिणामवादके सिद्धान्तोंमें मनोविज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि सभी पक्षोंका समावेश है।

सांख्यके अनुसार इस संसारका मूल कारण एक मुख्य तत्त्व है। जिसमें विरुद्ध धर्मोंका समावेश है, जिसे सांख्य प्रकृति कहता है[११]। प्रकृति सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंका संगठित रूप है। ये तीनों गुण परस्पर विरोधी तत्त्व हैं, इनमें सत्त्व प्रकाशक है, रज प्रवृत्ति करानेवाला है और तम प्रवृत्तिका नियामक है (सांख्य कारिका) जब ये तीनों गुण साम्यावस्थामें रहते हैं, उस दशाका नाम प्रकृति है, पर जब इन गुणोंमें क्रियासे विषमता पैदा होती है तो परिणाम प्रारम्भ होता है. 'यह प्रकृति (अव्यक्त) अनादि, अनन्त तथा अविभाज्य है। और अदृश्य नित्य और अविनाशी है'[१२]। सर्वप्रथम यह अविकासित रहती है पर जब इसके गुणोंमें विषमता आती है, तो इसमें विकास आरम्भ होता है। "प्रकृतिका यह विकास एक ऐसा विकास है, जो समानता, अयुत सिद्ध और सामान्यसे विषमता, युतसिद्ध और विशेषकी तरफ चलता है"[१३]।

प्रकृतिका सर्वप्रथम परिणाम महत्तत्त्व या बुद्धि है, तथा बुद्धिसे अहंकार उत्पन्न होता है, जो कि व्यक्तियोंमें 'अहं' भावनाका कारण होता है। इनमें बुद्धि विज्ञानभिक्षुके अनुसार संस्कारोंका आश्रय है, क्योंकि जब सत्यज्ञानसे अहंकार और मनका विनाश हो जाता है, तो भी बुद्धिके अन्दर स्मृतियां अवशिष्ट रह जाती हैं[१४]। पर अन्य दर्शनोंके अनुसार संस्कारका आश्रय स्थान आत्मा है। ये दोनों परिणाम भूत तत्त्व (अहंकार और बुद्धि) विकासके मनोवैज्ञानिक पक्ष हैं। इनसे उत्पन्न होनेवाले तत्त्व पंच तन्मात्राएं,

---

९. एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ—राधाकृष्णन् पृ. ३२३

१०. दर्शनदिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन पृ. ३६७.

११. इण्डियन फिलॉसॉफी—राधाकृष्णन् भाग २ पृ. २६६.

१२. सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी—मेक्समूलर, पृ. २४२.

१३. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी—दास गुप्ता-भाग १, पृ. २४२.
तथा पॉजिटिव साइन्सेज ऑफ एनशियन्ट हिन्दूज-सील, पृ. ७

१४. सांख्य प्रवचन भाष्य—२.४२.

इन्द्रिय और मन है। इनमें मनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांख्य कारिका (३५) में मनको द्वाररक्षक बताया गया है और सब इन्द्रियोंको द्वार। विज्ञानभिक्षुके अनुसार यह मन ही सब इन्द्रियोंके साथ मिलकर पांच प्राणोंका उत्पादक है। इसी प्रकार पांच तन्मात्राओंसे पांच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है, जो कि संसारके कारण हैं। इसप्रकार इस प्रकृतिका विकास होता है। इसमें हर परिणाम अपने पूर्ववर्तीकी अपेक्षा स्थूलतर और परवर्तीकी अपेक्षा सूक्ष्मतर होता है। " यह सारा प्रकृतिका परिणाम मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित है[१५] "। चेतन सत्ता सांख्यके अनुसार इस प्राकृतिका उत्पादन नहीं है जैसा कि पाश्चात्य विकासवादी मानते हैं। अपितु वह प्रकृतिसे अतिरिक्त एक सत्ता है, जो प्रकृतिकी क्रियाशीलताका मूल कारण है, इस सत्ताको सांख्य पुरुष कहता है। कुछ सांख्य भाष्यकारोंके अनुसार जो सांख्यको अनीश्वरवादी दर्शन मानते हैं, इसी पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिमें क्रिया आती है। जैसे चुम्बकके सान्निध्यसे जडभूत लोहेमें भी क्रिया पैदा हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषसान्निध्यसे जडात्मक प्रकृतिमें भी क्रिया हो जाती है (सांख्य तत्त्वकौमुदी), पर कुछ अन्य विद्वानोंके अनुसार, जिनके मतमें सांख्य ईश्वरवादी है, प्रकृतिमें क्रियाका कारण ईश्वर है। यद्यपि यह पुरुष स्वरूपसे दैविकशक्तिवाला है, पर अपने कर्मोंके कारण प्रकृतिसे सम्बद्ध होकर स्वयंको बद्ध समझता है। पर जब पुरुष तत्त्वज्ञानसे, जिसे सांख्य विवेकख्याति कहता है, यह जान जाता है, कि मैं इस प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न हूं, किसी प्रकार भी इसके बन्धनमें नहीं हूं, तब वह बद्ध पुरुष मुक्त हो जाता है। योगभाष्यकार व्यास और सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्णके अनुसार इस बद्ध पुरुषको मुक्त करा देना ही प्रकृतिके इस परिणामका चरम उद्देश्य है। मुक्त होनेके पश्चात् प्रकृतिका मुक्त पुरुषके प्रति कार्य समाप्त हो जाता है। जैसे एक नर्तकी दर्शकोंको नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषको मोक्ष दिलाकर प्रकृति भी उससे निवृत्त हो जाती है[१६]।

इसप्रकार सांख्यप्रतिपादित परिणामवाद एक सुव्यवस्थित ढंगका इस संसारकी पहेलीका हल है। जहां पाश्चात्य विकासवाद पाठकके लिए चक्रव्यूहके समान है, जिसमें मनुष्य एकबार प्रवेश कर अन्दर ही अन्दर चला जाता है पर बाहर निकलनेके लिए द्वार नहीं पाता, वहां भारतीय परिणामवाद एक ऐसा सरल मार्ग है कि जिसपर चलकर पाठक गहराइयोंतक पहुंचकर भी सरलतासे फिर लौकटर आ सकता है।

---

१५. इण्डियन फिलॉसॉफी—राधाकृष्णन्, भाग २, पृ २४७.

१६. रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
सांख्यकारिका–५९॥

क्या भारतीय दर्शन निराशावादी हैं ?

भारतीय दर्शन भारतीय वाङ्मयकी मूल्यवान् सम्पत्तिके रूपमें हैं। इनके भाव गाम्भीर्य और भाषासौष्ठवने न केवल भारतीयोंको ही, अपितु पाश्चात्य दार्शनिकोंको भी प्रभावित किया, जिससे आकर्षित होकर पाश्चात्योंने भी अपनी कृतियोंसे इसकी अभिवृद्धि की। मेक्समूलर स्वयं Six systems of Indian Philosophy नामक अपनी पुस्तकमें लिखते हे कि :—

What I admire in Indian Philosophers is that they never try to deceive us as to their principles and the consequences of their theories. We know that a great amount of labour is being spent to ascertain the exact views of plato. Aristotle, even of Kant and Hegel. They leave us in doubts, whether they are idealists or materialists, or monists or dualists. But Indian philosophers seldom leave us in doubt on such important points and they certainly never shrink from the consequences of their theories.

अर्थात् कभी भी भारतीय-दार्शनिक अपने सिद्धान्तोंके विषयमें हमको वंचित करनेकी कोशिश नहीं करते। पर इसके विपरीत प्लेटो, अरस्तू, कांट और हेगेल आदिके ठीक-ठीक सिद्धान्तोंके निर्णय करनेमें बहुतसा समय व्यय किया जा रहा है। उनके सिद्धान्त हमें सन्दिग्धावस्थामें डाले हुए हे, यह नहीं पता चलता कि वे अद्वैतवादी थे या द्वैतवादी, अथवा वे प्रकृतिवादी या आदर्शवादी। पर भारतीय दार्शनिकोंने अपने सिद्धान्त स्पष्ट कर दिए ह, और उन्होंने कहीं भी हमें सन्दिग्धावस्थामें नहीं छोडा।

भारतीय दार्शनिकोंकी सत्यज्ञानके प्रति जितनी जिज्ञासा रही है, उतनी अन्य ज्ञानके प्रति नहीं। सारे दर्शनोंका लक्ष्य एक सत्यज्ञान ही रहा है और उसी लक्ष्यकी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न मार्ग उन्होंने दिखाये हे। सभी दर्शनकार सत्यज्ञानकी प्राप्तिके मार्गका आरम्भ संसारके दुःखसे करते है। उनका प्रथम उद्देश्य इस सांसारिक दुःखसे छूटनेका था। उपनिषद् से लेकर सभी दर्शन प्रारम्भमें ही स्पष्ट कर देते हे, कि सांसारिक दुःखसे छूटकर शाश्वत सुखकी प्राप्ति ही उनका उद्देश्य है। कहीं न्याय-वैशेषिकमें [तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः] निःश्रेय पदसे अपना उद्देश्य प्रकट किया है, और कहीं साख्य और बौद्ध दर्शनोंमें स्पष्ट ही कर दिया है, कि सब प्रकारकी दु.खकी निवृत्ति ही अन्तिम उद्देश्य है। इस स्थलपर आकर सब दर्शन [यहां तक चार्वाक भी] एकाकार हो जाते हे। पर भारतीय दर्शनोंके इस विचारने कई विद्वानोंको भारतीय दर्शनकी आलोचना करनेका अवसर दिया। कई पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार सारे भारतीय दर्शन निराशावादके परिपोषक हे। और " सर्वं दुःखम् " आदि कथनोंसे पूर्ण होनेसे उत्साहहीन हे। भारतीय दर्शन इस संसारको छोडकर अन्य संसारकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्त कराते हे। इन बातोंसे कुछ विद्वान् ये निष्कर्ष निकालते हे, कि भारतीय दर्शनोंका सम्बन्ध इस संसारसे कुछ नहीं है अतः अव्यावहारिक हे। पर ये कथन भारतीय दर्शनोंके गम्भीर अध्ययनसे स्वयमेव अप्रमाणित हो जाते हे। इसके विपरीत उनके कथनकी सत्यता हमें कुछ अंशमें पाश्चात्य दर्शनोंमें ही दिखाई पडती है। उनके दर्शनोंकी अधिकांश सीमा यह ही संसार है, इससे आगे बढनेका प्रथम तो उन्होंने प्रयास ही नहीं किया और यदि किया भी तो उन्हें सफलताका श्रेय नहीं मिला। इससे पाश्चात्य दर्शनोंमें निराशावादकी झलक स्पष्ट है। पाश्चात्य जगत्का महान् दार्शनिक शोपेनहावर अपने निराशावादी सिद्धान्तोंके लिए प्रसिद्ध है। उसके लिए यह संसार सब सम्भावित ससारोंमें निकृष्टतम है [The worst of the possible worlds] और इस संसारको

जितना शीघ्र छोडा जाए उतना ही श्रेयस्कर है, अतएव वह आत्महत्याका भी पक्षपाती है। यदि आत्महत्याके द्वारा भी यह संसार छोडा जा सकता है, तो वह भी श्रेष्ठ है। पर इसके विपरीत भारतीय दर्शनका यह सिद्धान्त आशावादका स्पष्ट परिचायक है कि—

" जो आत्महत्या करने वाले पुरुष हे वे प्रकाशरहित लोकको जाते हे, अतः इस ससारमें सौ वर्ष या इससे भी अधिक कर्म करते हुए जीनेकी इच्छा करो।

[ईशोपनीषद् - २ ३]

यह संसार मानव-जीवनके लक्ष्यका साधन है, इसीके द्वारा चलकर मनुष्य अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है। यह शरीर रथ है (कठोपनिषद्) अतः इस यात्राके साधनको पुष्ट रखना हमारा कर्तव्य है। इसी प्रकार गीताके मूलभूत सिद्धान्त कर्मयोग-शास्त्रकी नींव ही आशावाद है। कर्म करते हुए चलो, कर्मफलकी आकांक्षा न करो, कर्मफलका दाता स्वयं फल दे देगा। इस सिद्धान्तमें कितने महान् आशावादकी झलक है। यहां आकर यह स्पष्ट हो जाता है, कि इतने आशावादसे पूर्ण भारतीय दर्शनोंपर सब कुछ दुःखमय बताकर संसारको छोड देनेका पाश्चात्योंका आक्षेप भ्रान्तिमात्र है। अथवा वादितोषन्यायसे उनका आक्षेप ठीक भी मान लिया जाए तो उसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि जैसे एक बच्चा अपने खिलौनोंसे खेलता है, और माता पिता उसे कुछ नहीं कहते, पर ज्यों-ज्यों वह बडा होता जाता है वैसे-वैसे माता-पिता उसे समझाते हे, कि अब तुम्हारे लिए इनमें कोई सार नहीं, अब तुम बडे हो गए हो, अतः अब तुम्हें इन खिलौनों से खेलना शोभा नहीं देता। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे खिलौने सर्वथा सारहीन या दुःखमय हे, अपितु यह है, कि उस बच्चेका लक्ष्य वे खिलौने ही नहीं हे, अपितु उनसे बढकर अन्य ही उद्देश्य है, जिसको पानेके लिए बच्चेको इन खिलौनों को छोडना आवश्यक है। पर क्या यह छोडना बच्चेको माता-पिताके धमकानेसे हो सकता है? इसका उत्तर उन्हें सर्वदा असफलताके रूपमें मिलेगा। अतः आवश्यक है, कि बच्चेके सामने इन खिलौनोंकी सारहीनताका वर्णन इस प्रकार करें कि बच्चा स्वयमेव उनसे विरक्त हो जाए। ठीक यही प्रणाली हमारे दर्शनकार ऋषियोंकी रही है। हमारा अन्तिम लक्ष्य यह संसार नहीं है। अपितु वह लक्ष्य संसारातीत है, जिसके लिए हमें इस संसारमें आसक्ति छोडनी ही पडेगी। पर आसक्तिका छोडना आसान नहीं है,

इसीलिए ऋषियोंने इस संसारको दुःखमय बताया जिससे कि मनुष्य स्वयमेव आसक्ति छोडकर अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो अन्यथा यदि ऋषियोंका संसारको दुःखमय बताकर संसारके प्रति सबके हृदयोंमें निराशा पैदा करनेका ही मन्तव्य होता, तो महर्षि कणाद अपने वैशेषिक सूत्रोंमें धर्मकी परिभाषा करते हुए (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः) उसमें अभ्युदय शब्दका समावेश क्यों करते? उनके अनुसार धर्म वही हे, जिससे इस संसारमें उन्नति तथा परलोकको सिद्धि हो। पर क्या इस ससारकी उन्नति संसारको छोडकर निराशामें पडनेसे हो सकती है? अथ च मीमांसा दर्शनके कर्मकाण्डके सिद्धान्तमें निराशावाद लेशमात्रभी नहीं है। क्योंकि कर्मकाण्ड आदि सद्यः-फल-प्राप्तिके कारण नहीं हें, अपितु वे भविष्यमें ही फलप्राप्तिके कारण हें। इसी प्रकार भारतीय दर्शनोंका कर्म-सिद्धान्त भी निरन्तर आशावादी दृष्टिकोणका समर्थक है। इस कर्म-सिद्धान्तको हर दर्शन स्वीकार करता है। यह सिद्धान्त पूर्ण आशावादी है, क्योंकि एक चार्वाक भी इसीलिए प्रयत्न करता है, कि उसे उस पदार्थकी प्राप्तिकी आशा है। अन्यथा यदि यह कर्म निराशावादका पोषक होता तो चार्वाक किसी प्रकारकी चेष्टा न करके निष्कर्मण्य बैठ जाता। अतः चार्वाक चाहे संसारातीत कर्मपरिणामको न माने, पर इस संसारमें कर्मके परिणामको अवश्य मानता है। यहां यह शंका होती है कि जब सारे दर्शन आशावादी हे, निराशावादका सिद्धान्त कहां दृष्टिगोचर हुआ। जिससे पाश्चात्योंको आक्षेप करनेका अवसर मिला। कुछ विद्वान् (भारतीय भी) इसका सारा श्रेय महात्मा बुद्धको देते हें। उनके अनुसार महात्मा बुद्धकी यही शिक्षा थी कि इस दुःखमय संसारका छोडकर प्रव्रज्या धारण ही श्रेष्ठ है। पर तथ्य यह है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनोंके विषयमे भ्रान्ति है, उसी प्रकार इस दर्शनके विषयमें भी। यदि महात्मा बुद्धमें संसारके प्रति निराशा होती तो वे फिर कभी प्रव्रज्याके बाद जनतामें न आते, और न कर्म सिद्धान्तको स्वीकार करते। प्रतीत्यसमुत्पादवादके सिद्धान्तमें उन्होंने संस्कारको भी स्थान दिया है, जो कर्मके आशयरूप हें, और अगले जन्ममें सुख-दुःखके कारण हें। सर्व प्राणीमात्रके प्रति प्रेम और दयाकी भावना ही उनके दर्शनकी कुंजी है। वे महान् आशावादी थे, उनका विश्वास था कि मनुष्य अपने अन्तरमें ऐसी महत्ता रखता है, जिससे वह बिना बाह्य

साधनोंकी सहायताके भी अपनी मुक्तिके लिए प्रयत्न कर सकता है। धम्मपदमें बुद्ध कहते हैं कि 'हे भिक्षुओ, तुम सत्यता और परिश्रमसे जो कुछ कमाओ, उसे गरीबोंमें बांट दो तुम्हें अपनेलिए चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है।' इतने महान् सिद्धान्तको अपनाने वाला बौद्धदर्शन निराशावादी कैसे हो सकता है?

इसके विपरीत यदि हम पाश्चात्य दर्शनों पर दृष्टिक्षेप करें तो ज्ञात होगा, कि पाश्चात्य विद्वान् स्वयं ऐसे सिद्धातों का आधार बनाए हुए हे, जो निराशावादसे परिपूर्ण हे। जर्मन दार्शनिक कांटका सिद्धान्त जो पाश्चात्य दर्शनोंमें महत्त्वपूर्ण है निराशावादका द्योतक है। उसके अनुसार यह सारा जगत् या पदार्थ ऐसे तत्त्वोंसे बना है, जिन्हें वह Things in-themselves कहता है। वह तत्त्व है क्या, हम नहीं जानते और न जान ही सकते हैं। क्योंकि यदि हम जान सकते हें तो केवल प्रकट जगत् (appearnce) को ही, उससे परे नहीं। यदि हम Things-in-themselves को जान भी जाएं तो वह Things-in-themselves न रहकर प्रकट जगत् (appearance) हो जाता है। अतः उसका जानना नितान्त असम्भव है। इसी प्रकार इसका दूसरा सिद्धान्त यह है कि द्रष्टा (आत्मा) जो इस सारे जगत्को देखता है, जिसे कांट Synthetic-unity of apperception कहता है वह भी अज्ञात है उसे भी नहीं जाना जा सकता, इसी कारण कांटको अज्ञेयवादी (Agnostic) कहते हैं।

पर इसके विपरीत भारतीय दर्शनोंका सिद्धान्त यह है कि वह प्रकृति जिससे सारा जगत् बना है, समाधिकी अवस्थामें योगियों द्वारा देखी जा सकती है, तथा उसका द्रष्टा आत्मा भी प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार दूसरे दार्शनिक हेगेलका सिद्धान्त है। उसके अनुसार यह सारा जगत् एक सत्तातत्त्व (Being)का कार्य है, पर वह सत्तातत्त्व (Being) है क्या, और क्या वह जाना जा सकता है? इसका उत्तर वह नकारात्मक देता है। पर भारतीय दार्शनिक शंकराचार्य, जिनके सिद्धान्तकी तुलना हेगेलके सिद्धान्तसे की जाती है, स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं कि वह आत्मा द्रष्टव्य और ज्ञातव्य है। इसी प्रकार नित्शेके श्रेष्ठमानव (Superman) का सिद्धान्त भी निराशावादी है। पता नहीं वह (Superman) कब भूमि पर होगा, सौ दोसौ वर्षोंमें भी होगा, या कब होगा, कोई आशा नहीं है। पर भारतीय दार्शनिकों के अनुसार वह ही श्रेष्ठ मानव (Superman) हैं जिसने इन्द्रियोंको वशमें कर लिया हो, काम-क्रोधादि शत्रु जिसके वशमें हों। ऐसे श्रेष्ठमानव जाने कितने अब तक इस भारतभूको अलंकृत कर चुके हे।

इन सब सिद्धान्तोंको सामने रखकर जब विचार करते हैं तो यह ही स्वीकार करना पड़ता है, कि भारतीय दर्शन नितान्त आशावादी दृष्टिकोणके है।

भारतीय दर्शनोंमें आशावादका मण्डन केवल भारतीयों ने ही नहीं, अपितु कुछ पाश्चात्योंने भी यत्र-तत्र किया है। पाश्चात्य जगत्के महापण्डित प्रो० मेक्समूलर अपनी पुस्तक Six Systems of Indian philosophy में लिखते हैं कि:—

Indian philosophers are by no mean dwelling for ever on the miseries of life. They are not always whining or protesting that life is not worth living. That is not their passi mism. they simply state that they received their first impulse to philosophic reflection from the fact, that there is suffering in the world. They evidently thought that, in a perfect world suffering had no place. Pain certainly seems to be an imperfecti on. But this is not the desposition, which we are accustomed to call passimism.

अर्थात् भारतीय हमेशा दुःखके सिद्धान्त पर ही नहीं रहते। तथा वे कभी नहीं कहते कि जीवन रहनेके योग्य नहीं है। यह उनका निराशावाद नहीं है। वे केवल यह कहते हैं कि उन्हें दार्शनिक विचारोंकी प्रेरणा संसारके दुःखोंसे ही मिली है। उन्होंने यह सोचा कि एक पूर्ण संसारमें दुःखका कोई स्थान नहीं है क्योंकि दुःख अपूर्णताका परिचायक है। पर हम इस सिद्धान्तको निराशावाद नहीं कह सकते।

इसप्रकार भारतीय दर्शनोंको निराशावादका पोषक बताना नितान्त भ्रम है, हम उन्हें किसी भी रूपमें निराशावादी नहीं कह सकते।

संगीत--शास्त्रका उद्‌गम--स्थान :

सा म वे द

चारों वेदोंमें ' सामवेद ' का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। यह वेद सबसे अधिक विभूतिवान् है। गीतामें भगवान् कृष्णने अपनी विभूतियोंकी गणना करते हुए कहा है, 'वेदाना सामवेदोऽस्मि ' अर्थात्— ' मैं वेदोंमें सामवेद हूँ। '

' सामवेद ' भगवान्की विभूति है। महाभारतकार व्यास भी ' सामवेदश्च वेदानाम् ' कहकर ' सामवेद ' का सर्वश्रेष्ठ विभूतिमत्त्व घोषित करते हैं। इसका कारण यह है कि ' साम ' की रचना गान-वेदके रूपमें ही हुई है और गान एक ऐसा आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक साधन है, जो मनुष्यके जीवनको सत्त्वसम्पन्न बनाकर उसे श्रेष्ठ बनाता है।

मानव-मन पर गानका सीधा प्रभाव पड़ता है। साम-गान के द्वारा रोगियोंको भी स्वस्थ किया जा सकता है। इस विषयमें पद्मभूषण वेदमहर्षि स्वर्गीय पं. श्री. दा. सातवलेकर अपना एक संस्मरण सुनाया करते थे। उनके एक रिश्तेदार अनिद्रा रोगसे पीडित थे। अनेक प्रकारकी चिकित्साके बावजूद भी वे इस रोगसे मुक्त न हो सके। एक दिन वे अपने घरके बाहर बरामदेमें बैठे हुए थे कि एक दक्षिणी ब्राह्मण आया और उनसे कुछ आर्थिक सहायता मांगने लगा। इसपर वे थोड़ा नाराज होकर बोले, "जाओ-जाओ! मेरी कुछ सहायता तो करते नहीं; मांगने आ जाते हो।" इसपर ब्राह्मणने उनकी कठिनाई पूछी, तो उन्होंने अपने अनिद्रा रोगकी बात बताई। ब्राह्मणके कहने पर तत्काल एक तानपूरा मंगवाया गया। उसने तानपूरा हाथमें लेकर उनसे कहा कि आप बिस्तर पर लेट जाएं। उनके लेट जाने पर उसने तानपूरे पर साम-गान करना प्रारम्भ किया, जो लगभग आधे घंटे तक चलता रहा। इस गानको सुनते सुनते उनकी आँखें अपने-आप मुंदने लगीं और कुछ समय पश्चात् ही वे प्रगाढ निद्रामें निमग्न हो गए। जो एक अरसे से अनिद्रा रोगसे पीडित थे, वे उस दिन कई घंटों तक सोते रहे।

' छान्दोग्य उपनिषत् ' में ' सामवेदको ' पुष्प ' कहा गया है, ' सामवेद एव पुष्पं ' (३।३।१)। वस्तुतः संगीत की मृदुता पुष्पसे किसी भी प्रकार कम नहीं होती। पुष्पके समान संगीत भी मनुष्यके मनको प्रफुल्लित कर देता है।

' साम ' की रचना ही ऋषियोंने संगीतके उद्देश्यसे की थी। महामुनि भरतने ' ऋग्वेद ' से पाठ, ' सामवेद ' से संगीत, ' यजुर्वेद ' से अभिनय और ' अथर्ववेद ' से रसोंको लेकर अपने नाट्यशास्त्रकी रचना की थी :—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयं रसानाथर्वणादपि ॥

' सामवेद ' का उपवेद भी ' गान्धर्व वेद ' है, जो संगीतका ही उपवेद है। ' गान्धर्व ' का अर्थ ही ' वाणीको धारण करनेवाला ' है। संगीतके द्वारा वाणीकी रक्षा होती है, अथवा कहना चाहिए कि संगीतके द्वारा वाणीकी देवी सरस्वतीकी रक्षा होती है। सरस्वती स्वयं भी संगीत-स्वरूपा है। ऋषियोंने उसे वीणाधिराणी बनाकर संगीतके प्रतीकके रूपमें उसकी स्थापना की है। उस वीणाधारिणी सरस्वतीकी रक्षा संगीतसे होती है, इसी कारण संगीतको प्राचीन संगीत-शास्त्रोंमें ' गान्धर्ववेद ' कहा गया है। वही ' गान्धर्व ' शब्द, जो वैदिकसाहित्यमें संगीतके लिए प्रयुक्त होता था, आगे जाकर पौराणिक साहित्यमें एक विशेष जातिके लिए व्यवहृत होने लगा। यह जाति भी अपनी संगीतप्रियताके लिए पुराणोंमें सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसी जाति

ने ' गान्धर्व वेद ' की रक्षा की, इसीलिए इस जातिका नाम भी ' गान्धर्व ' अथवा ' गन्धर्व ' पड गया ।

' साम ' को ' वाणीका रस ' बताया गया है, ' वाचः ऋग्रसः ऋचः सामरसः । साम्नः उद्गीथो रसः ' (छा० उ०, १।१।२); अर्थात्— ' वाणीका रस ' ऋचा ' है, ऋचाका रस ' साम ' है और सामका रस ' उद्गीथ ' अथवा ' आलाप ' है । '

' ऋग्वेद ' के मन्त्रोंको ' ऋचा ' कहते हैं । वस्तुतः ' या ऋक् तत् साम. ' इस वचनके अनुसार ऋचाएँ ही ' साम ' हे । जब ये मन्त्र बिना स्वरके गाए जाते हं, तब इन्हें ' ऋचा ' कहते हं, किन्तु जब ये ही मन्त्र स्वर एवं आलाप-सहित गाए जाते हे, तब ये ' साम ' बन जाते हे । ' साम ' की व्युत्पत्ति देते हुए कहा गया है, सा =अमः = साम । ' सा ' का अर्थ है ऋचा ' और ' अम ' का अर्थ है ' आलाप ' इस प्रकार ' साभ ' का अर्थ है, ' आलापसे युक्त ऋचाओंका गान ' ।

' सामवेद ' का काव्यत्व

' सामवेद ' के ही एक मन्त्रमें उसे काव्यकी संज्ञा दी गई है, ' देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ' अर्थात्— हे मनुष्यो, भगवान्के इस काव्यको देखो, जो न कभी क्षीण या पुराना होता है और न कभी मरता है । भगवान्को कवि भी इसीलिए कहा गया है कि उसने इन ऋचा-रूपी काव्योंकी रचना की । उसके इस काव्यमें उपमा, लुप्तोपमा, रूपक, श्लेष आदि अनेक अलंकारोंका उपयोग हुआ है, साथ ही गायत्री, त्रिष्टुप, जगती आदि छन्दोंकी विभिन्नता भी दिखाई देती है । यह काव्य शृंगार, वीर, शान्त आदि रसोंसे भी परिपूर्ण है । इसीलिए वेदोंको सर्वोत्तम काव्य और भगवान्को सर्वश्रेष्ठ कवि कहा गया है ।

' सामवेद का ' स्वर-मंडल

' छान्दोग्य-उपनिषत् ' के शालावत्य दाल्भ्यके संवादमें एक प्रश्न पूछा गया है, ' का साम्नो गतिरिति ? ' (सामकी गति अर्थात् उसका स्वरूप क्या है ?) उत्तर है, ' स्वर इति होवाच । ' (स्वर ही उसकी गति या उसका स्वरूप है ।) वस्तुतः स्वर या आलापके बिना ' साम ' हो ही नहीं सकता । ' साम ' के स्वरोंसे ही आधुनिक संगीतशास्त्रके स्वरोंकी उत्पति हुई है । इसे यों भी कहा जा सकता है कि समस्त संगीतशास्त्रकी उत्पत्ति ' सामवेद ' से ही हुई है । आधुनिक संगीत-शास्त्रके मूल सप्त स्वर (सा, रे, ग, म, प, ध, नि) हें । इन्हीं सप्त स्वरोंकी गणना ' सामवेद ' में प्रथम, द्वितीय तृतीय आदि स्वरोंमें की गई है । ' सामवेद ' के स्वर-मंडलकी गणना ' नारदीय शिक्षा ' में इस प्रकार की गई है :—

सप्तस्वराः त्रयो ग्रामाः मूर्च्छनाः त्वेकाविंशतिः ।
ताना एकोनपञ्चाशत् इत्येतत्स्वरमण्डलम् ॥

अर्थात्— ' सात स्वर ' तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाएँ, उनचास तानें, ये सब मिलकर एक स्वर-मंडलका निर्माण करते हं । '

इनमें सप्त स्वरोंकी गणना इस प्रकार की गई है :—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः ।
यो द्वितीयः स गान्धारः तृतीयः ऋषभः स्मृतः ॥
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पंचमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः ॥

(नारदीय शिक्षा)

साम-स्वरों और आधुनिक संगीत-शास्त्रके स्वरोंकी गणना इस प्रकार की जा सकती है :—

साम-स्वर	आधुनिक संगीत-शास्त्रके स्वर	प्रतीक
प्रथम	मध्यम	म
द्वितीय	गान्धार	ग
तृतीय	ऋषभ	रे
चतुर्थ	षड्ज	सा
पंचम	धैवत	ध
षष्ठ	निषाद	नि
सप्तम	पंचम	प

आधुनिक संगीत-शास्त्रकी दृष्टिसे ' साम ' के ये स्वर कुछ परिवर्तित दृष्टिगोचर होते हें । आज इन स्वरोंका क्रम सा, रे, ग, म, प, ध, नि, इस प्रकार है, जबकि ' नारदीय शिक्षा ' में इनका क्रम बदला हुआ दिखाई देता है । उसके अनुसार वेणु या बाँसुरीका स्वर हमेशा ' मध्यम ' ही होता है, ' साम ' में यह ' प्रथम ' स्वर माना गया है ।

Regd. No. G. 71

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर भारत-मुद्रणालय. पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [वलसाड]

वैदिक धर्म



स्वदेशहितचिंतने निजमति सदा याजते ।
स्वदेशहितरक्षणेऽपि धनो मुदा सर्वथा ॥
स्वदेशपदपंकजे रततनु सुधीरो नरो ।
भवेदिह पदे पदे प्रभुपदे नतप्रार्थना ॥

अप्रैल-मई १९६९

७५ पैसे



वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक ४-५ : चैत्र-वैशाख : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७·००, विदेशके लिये रु. ८·०० डाक व्यय अलग रहेगा।

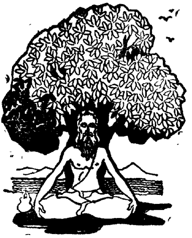
मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिकधर्म

हम ऐश्वर्य पाकर आनन्दित हों

राया व॒यं स॑स॒वांसो॑ मदेम
ह॒व्येन॑ दे॒वा यव॑सेन॒ गावः॑ ।
तां धे॒नुमि॑न्द्रावरुणा यु॒वं नो॑
वि॒श्वाहा॑ धत्त॒मन॑पस्फुरन्तीम् ॥

(ऋ. ४।४२।१०)



हे (इन्द्रावरुण) इन्द्र और वरुण ! (युवां ससवांसः) तुम दोनोंको नमस्कार करनेवाले (वयं) हम (राया मदेम) ऐश्वर्यसे आनन्दित हों। (हव्येन देवः) हव्यसे देवगण आनन्दित हों (यवसेन गावः) जौ आदिसे गायें आनन्दित हों। (युवं) तुम दोनों (विश्वाहा) प्रतिदिन (नः) हमें (अनपस्फुरन्तीं तां धेनुं) उपद्रव न करनेवाली उस गायको (धत्तं) प्रदान करो।

हे इन्द्र और वरुण ! तुम दोनोंको नमस्कार करनेवाले हम ऐश्वर्यसे आनन्दित हों। उसी तरह हमारे द्वारा दी गई हविसे देवगण और हमारे द्वारा दिए गए जौ आदि धान्य तथा तृणसे गायें प्रसन्न हों। तुम भी हमें रोज ऐसी गायें प्रदान करो कि जो उपद्रव करनेवाली न हों।

वैदिकज्ञान और भाषाका स्वरूप

(लेखक— सुश्री कु० विमला एम. ए., रिसर्च स्कॉलर, पटना विश्वविद्यालय)

वैदिकज्ञान और भाषाके सम्बन्धमें विभिन्न विप्रतिपत्तिया हैं। सर्वप्रथम इस सम्बन्धमें प्रश्न उपस्थित होता है कि वैदिक ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? तथा दैवी ज्ञानकी आवश्यकता क्यों स्वीकार की जाये ? डार्विनके विकासवादके अनुसार ज्ञानकी वृद्धि क्रमशः होती है, इससे भी इस समस्याका समाधान सम्भव है; किन्तु डार्विनके अनुसार ज्ञानका विकास माना जाय, तो हमें वेदोंके निर्माण-कालको सृष्टि-उत्पत्तिके सैकडों वर्षोंके बादका मानना पडेगा; जबकि वैदिक मन्त्र स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि वेदोंका निर्माण सृष्टिके प्रारम्भमें हुआ था।[1] वे विद्वान्, जो वेदोंके निर्माण-कालको सृष्टिके काफी बादका मानते थे, वे भी क्रमशः सृष्टि-उत्पत्तिके समय की ओर ही जा रहे हैं, पीछे नहीं, अतः विकासवादके अनुसार ज्ञानको क्रमिक विकासका परिणाम नहीं बताया जा सकता। एक अन्य बात यह है कि विकासवादमें ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है, अतः ईश्वरीय ज्ञान होनेका प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। स्वयं वेद, प्राचीन ग्रन्थ एवं विद्वज्जन वेदोंको ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। ब्रह्मसूत्र स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि वेदका कारण ईश्वर है, और ईश्वरका कारण वेद है, अर्थात् ईश्वर वेदको उत्पन्न करता है। वेदके द्वारा ईश्वर जाना जाता है, अतः ईश्वरके अस्तित्वका प्रमाण यह है कि उसने वेदको दिया, तथा वेदका प्रमाण यह है कि इस प्रकारके आश्चर्यमय ग्रन्थको केवल ईश्वरही उत्पन्न कर सकता है। वेद सम्पूर्णज्ञानका भण्डार है वेदोंकी उत्पत्ति ईश्वरसे स्वतः उसी प्रकार हुई है, जिस प्रकार प्राणियोंसे श्वास प्रश्वास स्वतः निकलते हैं। वस्तुतः यह महत्त्वका विषय नहीं है कि ईश्वरने सृष्टिको उत्पन्न किया अथवा नहीं। अपितु यह अधिक महत्त्वका है कि उसने वेदका ज्ञान दिया।[2] ब्राह्मणग्रन्थमें उल्लेख है कि प्रथम सृष्टिके आदिमें परमात्माने अग्नि, वायु आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियोंकी आत्मामें एक, एक वेदका प्रकाश किया।[3] उपनिषद् भी इसी बातको संकेतित करती है कि ब्रह्माके हृदयमें वेदोंका उपदेश किया गया।[4] मनुस्मृतिमें भी मनु वर्णन करते हैं कि आदि सृष्टिमें चारों ऋषियोंको चारों वेदोंका ज्ञान मिला।[5]

डॉ० फ्लेमिंग (Fleaming) ने भी स्वीकार किया है कि " मनुष्य पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक असीम ईश्वरसे मानवके सीमित मस्तिष्कको ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती।[6] फ्लींट भी इन्हीं विचारोंसे सहमत हैं वे लिखते हैं " प्रकृतिका प्रकाश और सृष्टिका कार्य ईश्वरीय ज्ञान प्रदान करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। मुक्ति-प्राप्तिकी तीव्र अभिलाषा एवं उच्चतर ज्ञान केवल दैवी स्रोतसे आ सकते हैं।[7] स्वामी विवेकानन्द भी स्वीकार करते हैं कि " मनुष्योंको ज्ञानका स्रोत किसी विशेष असाधारण व्यक्तिसे मिलता है। ऐसे असाधारण व्यक्तिकी उत्पत्ति संयोगवश ईश्वरकी आज्ञासे या उनके विशेष कर्मों द्वारा होती है। असाधारण

---

१. ऋ. १।७२।१;
२. ब्रह्मसूत्र १।१।३
३. शत. ११।५।८।३
४. श्वेताश्व. ६।१८
५. मनुस्मृति १।२३
६. महात्मा नारायण स्वामी- वेदरहस्य पृ. २६
७. R. Flint Theism 202, 203

व्यक्तियोंके अतिरिक्त अन्य कोई साधन ज्ञान-प्राप्तिका नहीं है ।[1]

इसी प्रकारके विचार जैन, बौद्ध, मुस्लिम, यहूदी, ईसाई आदि धर्मावलम्बियोंमें भी है। यद्यपि मनुष्यमें अनन्तज्ञान है, किन्तु उसके विकासके लिये गुरु या अन्य साधन आवश्यक है।

अग्नि, वायु आदि ऋषियोंने इस ज्ञानको जिस अवस्थामें पाया होगा, वह अवस्था साधारण अवस्था न होगी। वे चारों ऋषि, जिनको वेदका प्रथमतः ज्ञान हुआ था, उत्कृष्ट कोटिके योगी होंगे। एकाग्रचिन्तनसे सभी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। जिसे हम असाधारण समाहितचित्त और स्वतः प्रकाशित ज्ञान कहते हैं वह केवल परिमितेतर ज्ञानी ऋषिका उच्च चेतना या ज्ञानके विकासका परिणाम है। इस अवस्थाको समाधिस्थ व्यक्ति निरन्तर परिश्रम और उद्योगके पश्चात् पाता है। साधारण और असाधारण व्यक्ति या ऋषिमें अन्तर यह है कि असाधारण ऋषि अपने ज्ञानकी पराकाष्ठाको प्राप्त कर लेता है जब कि दूसरेका ज्ञान परिमितताके कारण अप्रकाशित ही रहता है। ईश्वर या आत्माके स्वरूपका चिन्तन करनेसे उसका पूरा प्रकाश उपस्थित होता है, उसी प्रकार शब्दों पर ध्यान करनेसे सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसीलिये, भारतीय परम्परा वैदिक ज्ञानको ईश्वरीय मानती हैं, ऋषिप्रणीत नहीं। अतः यह ज्ञान ऋषियोंका न होकर ईश्वरीय है।

वैदिक ज्ञान ऋषियोंको किस रूपमें मिलता है यह विचारणीय है। सम्भवतः, यह ज्ञान ऋषियोंको प्रेरणाके रूपमें मिला होगा, तथा यह प्रेरणा संहिताके रूपमें आई होगी। यहाँ 'संहिता' का अर्थ 'संग्रह' नहीं लेना चाहिए। वेदका ज्ञान वर्णों या शब्दोंके समूहमें नहीं मिला था। यहाँ संहिता का अर्थ व्याकरणसम्मत है। ऋक्-प्रातिशाख्यमें पदोंकी प्रकृतिका नाम संहिता है, तथा इसके बाद लक्षण दिया है कि संहिता वह है जो पदोंके अन्तको पदोंके आदिसे जोड़े।[2] पाणिनिके अनुसार वर्णोंके अत्यन्त सामीप्यको संहिता कहा जाता है।[3] निरुक्तके वाक्यसे भी पुष्टि होती है कि पदोंकी प्रकृति संहिता है।[4]

उपर्युक्त लक्षण यह स्पष्ट करता है कि ऋषियोंको यह ज्ञान संहिता रूपमें मिला था, पदरूपमें नहीं; इसी कारण वेदोंके सभी पद आपसमें इस प्रकार मिले रहते हैं कि उनका विभाग ज्ञात करना दुरूह होता है, अतः इन पदोंका विभाग निरुक्त आदिके नियमसे सम्भव है।

ऊपर वैदिक ज्ञानकी आवश्यकता और उसके प्रदान करनेके माध्यम पर प्रकाश डाला गया। इसके पश्चात् वैदिक ज्ञान एवं भाषाकी नित्यता एवं अनित्यताका प्रश्न उपस्थित होता है। वैदिक ज्ञान एवं भाषाकी नित्यताके सम्बन्धमें विभिन्न विद्वानोंके विभिन्न मत हैं। वेद ब्राह्मणग्रंथ, महामुनि पाणिनी पतञ्जलि, जैमिनि आदि शब्दोंको नित्य घोषित करते हैं। वेदमें भी वाणीको नित्य कहा गया है।[5] महाभाष्यकार पतञ्जलिका भी मत है कि सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि शब्दोंके अवयव अक्षरादि नित्य हैं। उनका कभी अभाव, विनाश या उत्पत्ति (आगम) नहीं होती। शब्दोंका निवास आकाश है[6] कर्णेन्द्रियसे सुनकर उनका ग्रहण करते हैं। वाक् इन्द्रिय से उच्चरित करने पर वे प्रकाशित होते हैं। और बुद्धि द्वारा बोधगम्य होते हैं। जैमिनी भी शब्दोंको नित्य माननेके पक्षमें हैं। वे उनका कभी विनाश नहीं मानते। उच्चारण क्रियासे जो शब्दका श्रवण होता है, वह अर्थका बोध करानेके लिए, इससे शब्द अनित्य नहीं होता।[7]

शब्दोंका नित्यतासे ही वैदिक भाषाकी उत्पत्तिकी समस्या हल नहीं हो जाती है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि जिस प्रकार ईश्वरने मानव-कल्याणार्थ उपयोगी वस्तुएं एवं विचारनेकी शक्ति दी थी उसी प्रकार विचाराभिव्यक्तिके लिए बोलनेकी शक्ति भी प्रदान की। विकासवादके अनुसार भाषा का क्रमशः विकास माना जाता है। पाश्चात्य विद्वानोंके अनुसार भी भाषा-उत्पत्तिके कई सिद्धान्त हैं, किन्तु इन सभी

१. Complete work of Swami Vivekananda, Vol. VII. P. 367
२. ऋक्प्रातिशाख्य २।२।
३. पाणिनी सूत्र १।४।१०९।
४. नि. १।१७।
५. ऋ ८।७५।६।
६. महाभाष्य प्रथमाह्निक
७. जैमिनी-पूर्वमीमांसा १।१।१८।

सिद्धान्तोंसे भाषा – उत्पत्तिको समस्या हल नहीं होती। भाषा–उत्पत्तिकी समस्याको वेद भलीभांति सुलझाता है। वाणी सृष्टिके प्रारम्भमें ऋषियों पर प्रकट होती है, पुनः इसी वाणीका लोग आगे विस्तार करते हैं।[१] एक अन्य मन्त्रमें वाणीके विस्तारको बताते हुए उसके चार परिमित पद बताये गये हैं।[२] इसमें यह भी बताया गया है कि इनकी तीन अवस्थाओंका ज्ञान केवल मनस्वीको होता है, सर्वसाधारणको नहीं। ये तीनों वाणियां आभ्यन्तरलोकमे अव्यक्त तथा गुप्त रूपमें निहित रहती हैं, अतः सर्वसाधारणका विषय नही बन पातीं। वाणीका चौथा पद मनुष्योंके प्रयोगमें आता है। इन्हींको परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी कहते हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमाको ही सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म भी कहा जाता है।

छान्दोग्योपनिषदमें एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्यका उल्लेख है कि पहले मनमे सकल्प करते हैं पुन उसका उच्चारण करते हैं।[३] तात्पर्य यह है कि किसी भी बात या भावको हम पहले अपने मनमें सोचते हैं फिर यही सोचनेकी क्रिया वाणीके उच्चारणके लिए प्रेरणा देती है। इसी कारण मध्यमा वाक्को वैखरीकी प्रारम्भिक स्थिति या वैखरीकी जन्मदात्री कहा जाता है। मध्यमा कर्णका विषय नहीं बन पाती, किन्तु वैखरी कर्णके माध्यमसे सुनी जाती है और इसका उच्चारण होता है। मध्यमा वाक् जब तक अव्यक्त अवस्थामें रहती है, तब तक आकाशमें व्याप्त रहती है, जब यह व्यक्तसे अव्यक्तकी ओर अग्रसर होती है, तब उसमें सूक्ष्म वेपन प्रकट होते हैं, इस अवस्थाको पश्यन्ती कहा जाता है। इसीसे साक्षात्धर्मा ऋषियोंको मन्त्रोंका ज्ञान होता है।

अन्ततोगत्वा यह बात स्पष्ट होती है कि सृष्टिके आदिमें ईश्वरकी अनुकम्पासे योगावस्थामें योगियों द्वारा सूक्ष्म वेपनोंसे वैदिक ज्ञान देखा जाता है। इसको पश्यन्ती कहा जाता है। यह परावाक् ब्रह्ममें रहती है। ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतः परावाक् भी व्यापक है।[४] अन्य मन्त्र भी यही कहता है कि यह वाक् तीस धामोंमें सुशोभित होती है।[५] ब्राह्मण ग्रंथ भी उल्लेख करता है कि ब्रह्मकी जो वाणी है, वह परमव्योममें परम ब्रह्मकी भांति व्यापक है।[६] परावाक् ही सृष्टिके आरम्भमें समाहितचित्त ऋषियोंसे साक्षात् की गई, मध्यमा रूपसे प्रकट होती है, फिर इसी ' मध्यमा ' वाणीके विस्तारसे वैखरी होती है। जिस प्रकार शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार मध्यमा और पश्यन्तीका भी व्यक्त और अव्यक्त भावसे नित्य सम्बन्ध है, ये दोनों एक दूसरेके बिना अपनी सत्ता कायम रखनेमें असमर्थ रहती हैं।

शतपथ ब्राह्मण भी इसी बातका उल्लेख करता है कि वाणीके चार पद हैं। वाणीका चौथा रूप ' निरुक्त ' रूप है, जिसे मनुष्य बोलते हैं। अनिरुक्तरूपको ही पशु, पक्षी, क्षुद्रजीव आदि बोलते हैं।[७] इसीका वर्णन यास्कने इस प्रकार किया है– " यह स्रष्टा वाक् चार प्रकारकी होती है, यह तीनों भुवनोंमें स्थित है। जो वाणी पृथिवीमें है वही अग्नि और रथन्तरमें है, जो अन्तरिक्षमें है, वही आदित्य, बृहत्साम और पशुओंमें है। जो वाणी शेष रहती है, वह ब्राह्मणमें निवास करती है, इसलिये ब्राह्मण वैदिकी लौकिकी दोनों प्रकारकी वाणी बोलते हैं।[८]

ऊपर वाणीकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया पर प्रकाश डालनेसे यह निष्कर्ष निकला कि वैदिक वाणी नित्य है। शब्द और वाणीके नित्य होनेसे ज्ञानकी नित्यता भी स्पष्ट होती है। इस विषयमे विवेकानन्दके विचार द्रष्टव्य हैं ' ज्ञान शाश्वत रूपसे ईश्वरके साथ स्थिर रहता है, अत जो व्यक्ति इसे प्राप्त करता है, वह ' ऋषि ' कहा जाता है। प्राप्त ज्ञानको ईश्वरीय प्रकाशन कहा जाता है। यह ईश्वरीय ज्ञान नित्य है।[९]

१ ऋ १०।७१।३
२. ऋ १।११६।४५
३ छान्दोग्य उप ७।४।१
४. ऋ १०।११४।८
५. ऋ. १०।१८९।३
६. तैत्ति– ३।९।५।५ तथा शत ३।५।१।३४।
७ शत. ४।१।३।१६
८ नि १३।८
९ Complete work of Swami Vivekanand, vol. VII. p 24

वेदके शब्दोंसे सृष्टिगत पदार्थोंकी रचना हुई है।[१] कुल्लूकभट्ट और मनु[२] इस रहस्यको स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करते हैं कि शब्दसे ही जगतके पृथक्-पृथक् कर्म और नामोंकी उत्पत्ति होती है पुनः वही शब्द प्रलयकालमें ईश्वरमें सूक्ष्म-रूपसे निहित रहता है। इस रहस्यको स्वामी विवेकानन्दने भी अपनी गम्भीर साधनाके पश्चात् अनुभव किया कि वेद ज्ञान शाश्वतिक नित्य है। इसीके द्वारा शक्तिमान् ईश्वरने विश्वकी उत्पत्ति की।[३]

कुछ विद्वज्जनोंका विचार है कि चारों वेदोंकी संहिताओंके शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरोंके क्रम जिस रूपमें वर्तमान हैं, उसी रूपमें सर्वदा रहते हैं। ये सब ज्ञानके समान नित्य हैं। साधारण मनुष्योंको शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनोंसे युक्त ज्ञान होता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों पृथक् पृथक् हैं; किन्तु मनुष्यका ज्ञान देश, कालसे परिच्छिन्न होनेके कारण वह अर्थ और ज्ञानको पृथक्-पृथक् करके जाननेमें असमर्थ होता है। जब हम गो शब्द बोलते हैं, तब उसमें गो शब्द, गो अर्थ और गो ज्ञान तीनों मिले रहते हैं। योगी जब ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त कर लेता है, तब शब्द, अर्थ और ज्ञानको पृथक्-पृथक् करके जाननेमें समर्थ होता है। योगदर्शन भी इसे पुष्ट करता है " शब्द अर्थ और प्रत्ययोंका आपसमें अध्यास होनेसे इनके भागोंमें ध्यान लगानेसे योगीको सभी प्राणी, जीव जन्तु आदिकी बोलियोंका ज्ञान होता है।[४] शब्दोंके अर्थमात्र ज्ञानकी ही एक अवस्था है, जिसमें योगी चाहे तो उसे केवल अर्थ-मात्रका ज्ञान हो सकता है। यह केवल योगीमें ही सामर्थ्य है कि वह तीनोंको पृथक् पृथक् करके अर्थमात्रका ज्ञान प्राप्त कर सके।[५]

योगदर्शन शब्द अर्थ और ज्ञानको नित्य मानता है। अन्य दर्शनोंमें भी नित्य कहा गया है। न्यायके अनुसार ईश्वरीय इच्छामें शब्द और अर्थ निश्चित है, अर्थात् अमुक शब्दका अमुक अर्थ है, यह ईश्वर द्वारा निश्चित है, कृत्रिम नहीं। वेदान्तके अनुसार भी शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य और शाश्वतिक है, परम्परागत या लौकिक नहीं। शब्द किसी जाति या समूहको ही द्योतित करता है, किसी व्यक्तिगत वस्तुको नहीं। ' गाय ' यह शब्द सम्पूर्ण ' गाय ' जातिको ही अभिव्यक्त करता है, पीत, श्वेत या किसी विशेष व्यक्ति की गायको नहीं। जैमिनि मुनिने भी शब्द अर्थका सम्बन्ध अपौरुषेय माना है।[६] महाभाष्यकार पतञ्जलिने वेदके स्वरोंको भी नित्य ही स्वीकार किया है।[७] मन्त्रोंके वर्णानुपूर्वी भी नियत होते हैं, अतः इन वर्णोंका क्रम सभी कालोंमें समान होता है, इसी कारण इसे नित्य माना जाता है। जब वह काठक, कापालक, मौदक, पैप्पलाद आदि शाखाओंमें परिणत होगा। तब उसका वर्णक्रम अनित्य होगा, क्योंकि शाखा व्याख्या भाग है।[८] जो भी विचार हमारे मस्तिष्कमें रहता है, उसकी अभिव्यक्तिके लिये शब्द अवश्य ही रहता है, अतः शब्द और अर्थ पृथक् नहीं किये जा सकते हैं। वाणीका बाह्य-रूप शब्द है, आन्तरिकरूप विचार। शब्दोंको अलग करके किसी विषयका विचार नहीं कर सकते, अतः यह सिद्धान्त भी असत्य प्रतीत होता है कि मनुष्योंने एकत्र होकर भाषाको बनाया अथवा उसका रूप दिया। जबसे सृष्टि एवं प्राणियोंका अस्तित्व स्थापित हुआ है, तबसे भाषाका भी। अतः वेदकी भाषा एवं ज्ञान नित्य हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह विदित होता है कि वेदका दैवीज्ञान सर्वसाधारणके ज्ञानसे भिन्न है। दैवीज्ञान वह विशेष ज्ञान

---

१. जैमिनि- मीमांसा दर्शन १।१

२. मनु. १।२१

३. Complete work of Swami Vivekananda, vol. VII. p. 77.

४. योगदर्शन ३।१७

५ " " १।३४

६. जैमिनी मीमांसा दर्शन १।१।५

७. पतञ्जलि महाभाष्य ५।२।५९

८. वही ४।३।१०१

है जिसकी विषयवस्तु पहलेसे अज्ञात होती है। जिसे न तो किसीने पहले किया है, या न देखा हो। पहलेसे ही जाने, देखे और सुने हुए ज्ञानको ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहा जा सकता, अतः वेदका वह हिस्सा जो किसी इतिहाससे सम्बन्ध है, या पहलेसे जाना, देखा या सुना हुआ है, वह न ईश्वरीय ज्ञान है, और न ईश्वरका वाक्य ही कहा जा सकता है। दैवीज्ञानके लिये दो वस्तुओंके अस्तित्व अनिवार्य है — एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर, जो इस ज्ञानको देने योग्य हो, दूसरा ग्रहण करनेवाला व्यक्ति, जो इसे ग्रहण कर पूर्ण उपयोगमें ला सके। इस प्रकार दैवीज्ञान ईश्वरकी प्राकृतिक देन है, जिसे वह मानवके कल्याणार्थ प्रदान करता है। इस ज्ञानको केवल आस्तिक ही स्वीकार कर सकते हैं।

उक्त विवेचनके आधार पर कहा जा सकता है कि दैवी-ज्ञानके निम्नलिखित वैशिष्ट्य हैं :-

(क) यह ज्ञान सार्वभौमिक और शाश्वतिक है।

(ख) यह ज्ञान सृष्टिके प्रारम्भमें दिया गया है जिस समय अन्य कोई मानव गुरु नहीं था।

(ग) यह पूर्ण एवं सभी विरोधोंसे शून्य है।

(घ) इसको इस प्रकारके माध्यम द्वारा दिया जाता है, जो मानवके द्वारा ग्राह्य हो।

वेद दैवीज्ञान है। वह दैवीज्ञानके सभी विशेषताओंसे पूर्ण है।

इस मंत्रसे प्रकट होता है । इसलिए स्वभावतः ही नहुष इन्द्रके शत्रु थे, जिन्हें वह प्रायः मारा करता था, वेदका मंत्र कहता है कि—

करो वज्रिन् सुतुका नाहुषाणि ॥
(ऋ. ६।२२।१०)

(इस इन्द्रने नहुषोंको मारा ।)

इन्द्रने नहुषोंके घरों और नगरोंको भी तोडा—

स नृतमो नहुषाः......पुरोऽभिनत् ॥
(ऋ १०।९९।७)

(उस उत्तम नेता इन्द्रने नहुषके नगरोंको तोडा ।)

कव्येराधि सुवानो नहुष्येभिरिन्दुः ।
(ऋ. ९।९१।२) के समान—

मातली कव्यैः० ॥ (ऋ. १०।१४।३)

में भी नहुषों द्वारा किए जानेवाले स्तोत्रोंके लिए कव्य शब्द आया है । इससे यह मालूम पडता है कि कव्य स्तोत्र ऋक् स्तोत्रोंसे भिन्न थे ।

इस प्रसंगमें क्या हम यह भी कह सकते हैं कि आयु,नहुष और मनुष्योंके यज्ञ क्रमशः आयु, विश्पति और इळा कहे जाते थे । क्योंकि इस बातका बोधक ऋग्वेदका निम्न मंत्र प्रतीत होता है—

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्
नहुषस्य विश्पतिम् ।
इळामकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत् पुत्रो
ममकस्य जायते ॥ (ऋ. १।३१।११)

नहुषोंका महत्त्व

अध रमन्ता नहुषो हवं सूरेः॥ (ऋ. १।१२२।११)

इस मंत्रमें दिखाया गया है, जिसमें कवि तेजस्वी देवों (सम्भवतः मित्र और वरुण) से प्रार्थना करता है कि वे देव नहुषकी प्रार्थनाको ध्यानसे सुनें और उसके पास जायें।

प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य शेषः ॥ (ऋ. ५।१२।६)

इस मंत्रमें आया हुआ ' प्रसर्स्राण ' शब्द यह भाव व्यक्त करता है कि नहुष बहुत अत्यधिक क्रियाशील व्यक्ति था ।

ऋग्वेदमें ६।२२।१० पर आया हुआ—

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृह—
तीममृध्राम् । यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो
वज्रिन् सुतुका नहुषाणि ॥

उपरोक्त मंत्र अथर्ववेदमें २०।३६।१० स्थानपर भी आया है । इन दोनों जगहोंके मंत्रोंमें आए हुए ' सुतुका ' शब्दका सायण भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं । पहले स्थानपर सायण ' सुतुका ' का अर्थ करते है ' शोभन हिंसोपेतानि ' और अथर्ववेदमें इसी शब्दका अर्थ करते हैं शोभनापत्यभूतानि-पुत्रस्थानि-यानि ' । मेरे विचारसे दूसरी व्याख्या युक्ति-युक्त है । इसका अर्थ यह होता है कि नहुषके सभी पुत्रोंको इन्द्रने नष्ट कर दिए । दासानि, आर्याणि, वृत्राणि (ऋ.६।२२।१०; ७।८३।१) पर सायणका भाष्य ग्राह्य है ।

आ यातं नहुषस्पर्याऽऽन्तरिक्षात् सुवृक्तिभिः ।
पिबाथो अश्विना मधु कण्वानां सवने सुतम् ॥
(ऋ. ८।८।३)

(हे अश्विनो ! तुम उत्तम गुणोंसे युक्त होकर अन्तरिक्ष-से नहुषके यज्ञ बाद कण्वके यज्ञमें आओ, और सोम पीओ।)

इस मंत्रसे यह मालूम पडता है कि नहुषका यज्ञसमय कण्वसे पहले था ।

अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः ॥ (ऋ. १०।८०।६)

इस मंत्रमें आए हुए ' मनुषः नहुषः वि जाताः ' वाक्य से यह मालूम पडता है, कि नाहुष एक यज्ञीय सम्प्रदायका एक विभाग था जो सम्प्रदाय ' मनुषः ' के नामसे प्रसिद्ध था। इसलिए मनुष और नहुष ' दोनों यज्ञकी दृष्टिसे परस्पर सम्बन्धित थे मेरे विचारसे ठीक यही सम्बन्ध नहुषों और ययातिके बीचमें भी था। यह सम्बन्ध ऋग्वेदके १०।६३।१ के मंत्रमें आए हुए ' नहुष्यस्य ययातेः ' पदसे स्पष्ट होता है । ययाति और नहुषोंके यज्ञकी प्रणाली कुछ अंशमें समान ही होगी ।

स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे
बलिहृतः सहोभिः ॥ (ऋ. ७।६।५)

इस मंत्रमें आया है कि अग्निने अपनी शक्तिसे नहुषकी प्रजाओंको हराकर उनसे कर (tax) लिया ।

शांकरवेदान्तकी व्यावहारिकता

●

पाश्चात्य विद्वान् हक्सलेका कथन है, कि अपने पूर्वजोंका अनादरपूर्वक उपहास करना या आलोचना करना सरल है, परन्तु उससे कहीं अधिक हितकर होगा, यदि हम इस बातके पता लगानेका प्रयास करें कि वे लोग जो वास्तवमें हम महानुभावोंसे लेशमात्र भी कम विवेकशील नहीं थे, ऐसे तथ्यों पर किन कारणोंसे पहुंचे, जो कि हमें आज निरर्थकसे प्रतीत होते हैं।

इस कथनकी सत्यता कुछ अंशोंमें हमें जगद्गुरु शंकराचार्यके सिद्धान्तोंके आलोचकोंमें मिलती है। यद्यपि शंकराचार्यकी विद्वत्तामें किसीको सन्देह नहीं है, पर फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कई विद्वानोंको निरर्थकसे प्रतीत होते हैं; क्योंकि आलोचकोंके विचारमें शंकरके अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत् भ्रम है, जैसे हम रज्जुमें सर्पका अध्यास कर लेते हैं, उसी प्रकार वास्तविक ब्रह्ममें अवास्तविक जगत्का अध्यास कर लेते हैं। पर आलोचकोंके विचारमें यह अध्यास हो नहीं बनता है जो कि अद्वैतदर्शनका आधार है, अतः उस पर आधारित अद्वैतदर्शन स्वतः ही निरर्थक हो जाता है।

दूसरा कारण इस दर्शनके निरर्थकत्वका यह देते हैं, कि शंकरके सिद्धान्तोंमें व्यवहारका अभाव है, क्योंकि शंकरके अनुसार यह जगत् भ्रममात्र है, अतः भ्रममय जगत्में व्यवहार असम्भव है। पर यह दोनों आक्षेप आधार-हीन हैं। यहां इन आक्षेपोंके खण्डनसे पूर्व यह आवश्यक है कि इन आक्षेपोंके आधार समझ लिए जाएं। अध्यासके खण्डन करनेवालोंका यह मत है कि शंकरके अनुसार जगत् अवास्तविक है, अतः अवास्तविक जगत्का वास्तविक ब्रह्ममें अध्यास असम्भव है, क्योंकि अध्यासका लक्षण शंकरने "अतद्में तद्बुद्धि" किया है, जो कि असम्भव है। क्योंकि शंकरके अनुसार ब्रह्म ही एक वस्तु है, अन्य कुछ नहीं, अतः यहां "अतद्में तद्बुद्धि" का अवकाश ही नहीं है। सीप और चांदीमें तो अध्यास बन जाता है, क्योंकि ये दोनों पृथक्-पृथक् वस्तु हैं और दोनों ही वास्तविक हैं, पर यहां एक (जगत्) के अवास्तविक होनेके कारण अध्यास नहीं बन सकता और यदि दोनों [ब्रह्म और जगत्] को वास्तविक मान लें तो अद्वैतमतकी हानि और द्वैतमतकी पुष्टि होती है, अतः अध्यास असम्भव है।[1]

तथा इसी जगतकी अवास्तविकताका आधार लेकर अन्य विद्वानोंने भी इस पर अव्यावहारिकताका आरोप लगाया है।[2]

पर शंकराचार्यके ब्रह्मसूत्रों पर शारीरक भाष्यके अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि ये आरोप आधार-हीन हैं। क्योंकि शंकरके सिद्धान्तोंका खण्डन करते समय विद्वान्, शंकर द्वारा प्रतिपादित तीन सत्ताओंकी अवहेलना कर जाते हैं। शंकराचार्यने (१) व्यावहारिक सत्ता, (२) परमार्थिक सत्ता और (३) प्रातिभासिक सत्ता, इन तीन सत्ताओंके स्तम्भों पर अपने सिद्धान्तोंके महलको खड़ा किया है, पर जब विद्वान् इन तीन सत्ताओंकी अवहेलना कर देते हैं, तो शंकरके महलका ध्वंसावशेष या निरर्थक रूपमें [विद्वानोंको] दिखाई पड़ना सामान्य है। शंकर अपने भाष्यमें इन सत्ताओंकी पुष्टि करते हैं। "अध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः[3]" इस कथनसे व्यावहारिक सत्ताकी पुष्टि करते हैं, तथा "परामर्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति सर्वे वेदान्ताः[4]" इस वचनसे पारमार्थिक सत्ताका परिचय देते हैं, और स्थल स्थल पर सीप और चांदीके उदाहरणोंसे प्रातिभासिक सत्ताका प्रतिपादन करते हैं। इन अवस्थाओंमें शंकर जगत्की स्थिति भिन्न-भिन्न रूपमें मानते हैं, पर इन तीनों ही अवस्थाओंमें कहीं पर भी जगत्को अव्यावहारिक बताया हो, ऐसा शंकर भाष्यसे ज्ञात नहीं होता। शंकर द्वारा प्रतिपादित

---

१. देखो, वेदान्तदर्शन ब्रह्ममुनिकृतभाष्य-भूमिका। २. देखो गंगाप्रसाद उपाध्याय-कृत शांकर भाष्यालोचन।
३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-उपोद्घात। ४. शांकर भाष्य २।१।१४

जगत्की अवास्तविकताकी समस्या न केवल भारतीयोंके ही समक्ष, अपितु पाश्चात्य विद्वानोंके समक्ष भी इसी रूपमें आई, पर उन्होंने इसका विवेचन कर बड़े सुंदर ढंगसे इस समस्याका हल निकाला ! यद्यपि शंकराचार्यने पारमार्थिक सत्ता पर पहुंच कर जगत्की अवास्तविकता मानी, पर व्यावहारिक सत्तापर उन्होंने जगत्को भ्रममय या अवास्तविक नहीं कहा, अपितु व्यवहारार्थ जगत्की वास्तविकता मानी है। प्रो. मेक्समूलर लिखते हैं[1], "यद्यपि शंकर कहते हैं कि सारा जगत् अविद्याका परिणाम है, पर फिरभी (शंकर) व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिए संसारको वास्तविक मानते हैं, और व्यवहारके लिए कर्त्ता [विषयी] और कर्म [विषय] को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं।"

जब शंकर कर्त्ता और कर्म या विषयी और विषयको भिन्न-भिन्न मानते हैं, तो फिर जगत्की वास्तविकतामें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। क्योंकि बिना जगत्को वास्तविक माने कर्ता और कर्मके भिन्नत्वका व्यवहार असम्भव है। "यह सत्य है, कि वेदान्तमें प्राकृतिक (Material) और वास्तविक [Real] का अर्थ सन्दिग्ध है, कुछ विद्वानोंके मतमें ब्रह्मके सिवाय यह सारा जगत्, जो अविद्याका परिणाम है, अवास्तविक है,। पर यह सिद्धान्त कुछ अंश तक सत्य है, क्योंकि इसके साथही शकर व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिए इस जगत्को वास्तविक भी मानते हैं"![2] अन्यथा यदि सर्वांशमें उन्हें (शंकरको) जगत्की अवास्तविकता मान्य होती, तो वे अपने भाष्यमें बौद्धदर्शनके शून्यवाद (माध्यमिक) तथा विज्ञानवाद (योगाचार) का खण्डन न करते। माध्यमिक बौद्धके अनुसार यह सारा जगत् अवकाश [शून्य] है, इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। इसीप्रकार योगाचार [विज्ञानवादी] का मत है कि यह संसार और पदार्थ अवास्तविक हैं, ये जो पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, उन सबमें विज्ञान भासता है, अतः सर्वविज्ञान ही विज्ञान है अन्य कुछ नहीं, और सब ससार स्वप्नवत् है, पर इन सिद्धान्तोंका खण्डन शंकरने अपने भाष्यमें किया है[3] कि यह जगत् स्वप्नवत् नहीं, क्योंकि जागनेके बाद तो स्वप्नकी अवास्तविकता स्पष्ट हो जाती है, पर यह संसार सोनेसे पूर्व भी उसी प्रकार था और सोकर जागनेके बाद भी उसी प्रकार दिखाई देता है, तथा स्वप्नके पदार्थोंका निर्माण मन स्वयं करता है, पर इस सांसारिक पदार्थका नहीं, अतः जगत् वास्तविक है, स्वप्नवत् मिथ्या नहीं।

"इसप्रकार शंकर न केवल जगत्की वास्तविकता स्वीकार करते हैं, अपितु बौद्धोंके शून्यवाद और विज्ञानवादके विरुद्ध अकाट्य तर्क उपस्थित कर बौद्धों द्वारा मान्य, जगत्की अवास्तविकताके सिद्धान्तका खण्डन करते हैं"[4]। शंकर अपने ग्रंथका आरम्भ भी जगत्की वास्तविकता तथा विषय और विषयीके भिन्नत्वके प्रतिपादनसे करते हैं" कि "अहं" प्रत्यय विषयी [कर्त्ता] के धर्मोंमें तथा "इदं" प्रत्यय विषय [कर्म] के धर्मोंमें प्रकाश और अन्धेरेके समान विरोध है अतः इन दोनोंका एक दूसरेमें अन्तर्भाव अशक्य है"[5], अतः इन दोनोंकी वास्तविकता मानना अनिवार्य है। और भी, शंकरके अनुसार यह जगत् अविद्याका कार्य है और अविद्या वास्तविक है, अतः अविद्याके कार्य [जगत्] की वास्तविकता भी आवश्यक है, क्योंकि वैशेषिक सूत्रकार कणादके अनुसार कारणके गुण कार्यमें अवश्य जाते हैं,[6] अतः यदि अविद्या वास्तविक है, तो उसके कार्य [जगत्] की वास्तविकता भी असन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त शंकर द्वारा प्रतिपादित सत्यासत्यका विवेचन तथा संसार द्वारा मोक्ष-प्राप्ति आदि ये सब सिद्ध करते हैं कि शंकरके अनुसार भी जगत् वास्तविक है, भ्रममात्र नहीं[7]। "ब्रह्म इस संसारमें है, पर स्वयं संसार नहीं[8]। क्योंकि यदि संसार भ्रममात्र होता, तो भक्ति, ज्ञान और संन्यासके द्वारा भी [हम] उच्च जीवनको प्राप्त नहीं कर सकते थे[9]। और शंकर स्वयं कहते हैं कि यदि यह संसार भ्रममात्र होता तो ब्रह्मकी

---

१. Maxmullar-Six Systems of Indian Philosophy-page 154, २. maxmullar-Six Systems of Indian Philosophy-Page 160, ३. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य " वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् २।२।१४।, ४. Maxmullar-Six Systems of Indian Philosophy-page- 160, ५. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य-उपोद्घात। ६. कारणगुण पूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः—वैशेषिक दर्शन। ७. Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol. II, page 583. ८. Radhakrishnan-Indian Philosophy Vol. II, p. 583. ९. Radhakrishnan-Indian Philosophy, Vol. II, page. 583,

+

सत्ता भी सन्दिग्ध हो जाती[1] क्योंकि शंकर भी जगत्के आधारपर ही ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं। अपने भाष्यमें स्पष्ट लिखते हैं कि–' नाम, स्वरूप तथा कर्त्ता, भोक्तासे संयुक्त तथा मनके द्वारा भी जिसकी रचनाका चिन्तन नहीं किया जा सकता, ऐसे इस जगत्का जन्म स्थिति और संहार जिस सर्वशक्तिमान्से होता है, वह ब्रह्म है[2]। इस-प्रकार शंकराचार्य अपने भाष्यमें स्थल-स्थल पर जगत्की वास्तविकता सिद्ध करते है और कहते है, कि इसी जगत्के आश्रयसे सारे प्रमाण प्रमेय आदिका व्यवहार चलता है।

इस प्रकार जगत्की वास्तविकता सिद्ध होजानेपर अध्यासके सिद्ध न होनेका आक्षेप स्वयमेव समाप्त हो जाता है। [क्योंकि जगत्को अवास्तविक मानकरही अध्यास सिद्ध न होनेका आक्षेप किया गया था) पर अब यहां एक शंका पैदा होती है, कि यदि शंकरके अनुसार ब्रह्म और जगत् दोनोंही वास्तविक हैं तो अद्वैतमतकी हानि स्पष्टही है, जैसा कि कुछ विद्वानोंका मत भी है[3]। इसका उत्तर शंकर देते हैं, कि पारमार्थिक सत्तापर आकर तत्त्वज्ञानी सब स्थानपर ब्रह्म ही ब्रह्म देखता है। यद्यपि व्यावहारिक सत्तापर रहकर केवल ब्रह्मकोही वास्तविक समझना नितान्त असम्भव है, पर वही पुरुष [जो व्यावहारिक सत्तापर ब्रह्म और जगत् दोनोंको वास्तविक मानता है] नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहलोक तथा परलोकमें फलकी कामनाका त्याग, शमदमादि षट्कसम्पत्ति, तथा मुमुक्षुत्व इन साधन-चतुष्टय द्वारा जब पारमार्थिक सत्तापर पहुंचता है तो उसे केवल ब्रह्म ही वास्तविक तथा जगत् अवास्तविक प्रतीत होता है।[4]

पर यहां वास्तविक और अवास्तविक शब्द संदिग्ध हैं। शंकरके अनुसार वास्तविकका तात्पर्य कुछ भिन्न है, इसका विवेचन आगे करेंगे। शंकराचार्यके अनुसार यह सारे संसारका व्यवहार ब्रह्मज्ञानके पूर्वही होता है। जबतक मनुष्यको आत्मैकत्वका तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक मनुष्य अविद्यासे अभिभूत होकर सारे सांसारिक विकारोंको "यह वस्तु मेरी है" कहकर ममत्वसे अपनाता है। अतः ब्रह्मज्ञानसे पूर्वकी स्थितियोंमें ये सारे लौकिक और वैदिक व्यवहार सत्य और उचित हैं, पर पारमार्थिक सत्तामें सारे व्यवहारोंका अभाव हो जाता है। यहांपर व्यवहारके अभावसे शंकरका तात्पर्य आसक्तिका न रहना है। क्योंकि यदि किसी मनुष्यकी किसी पदार्थमें आसक्ति नहीं है, तो उस पदार्थके विद्यमान रहनेसे न उसे कोई लाभ है, और अविद्यमान रहनेसे न उसे कोई हानिही है, अतः उस पुरुषके लिए उस पदार्थकी विद्य-मानता तथा अविद्यमानता एक बराबर है, अत यहां अभावसे तात्पर्य अनासक्ति है। अन्यथा यदि व्यवहाराभावसे शंकरका तात्पर्य व्यवहारका नितान्त अभाव होता, तो वे जीवन्मुक्तके सिद्धान्तका प्रतिपादन अपने मतमें न करते। क्योंकि शंकरके अनुसार भी कोई भी मनुष्य बिना कर्मके एक क्षण भी नहीं रह सकता[5], तो जीवन्मुक्त बिना व्यवहार (कर्म) के कैसे रह सकता है? इसके विपरीत जीवन्मुक्तके लिए कहा गया है, कि वह करता हुआ भी नहीं करता, देखता हुआ भी नहीं देखता[6], और शंकर स्वयं भी कहते हैं कि – देखता, सुनता, सूंघता, सोता, चलता हुआ भी, इन्द्रियां अपने विषयों-में बरत रही हैं, मेरा कुछ नहीं, इसप्रकार जो कर्ममें अकर्म देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है[7]।

इससे स्पष्ट है कि शंकरका व्यवहाराभावसे तात्पर्य अनासक्तिसे है। इसप्रकार मनुष्य व्यावहारिक-सत्तापर जगत्को वास्तविक मानकर आसक्ति भावसे कर्म करता है और पारमार्थिकमें अनासक्तिभावसे। इसके अतिरिक्त भी शंकर जगत्की वास्तविकता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि–जैसे ब्रह्मकी सत्तामें तीनों कालोंमें भी व्यभिचार (दोष) नहीं आता है, उसी प्रकार जगत्की सत्तामें भी तीनों कालोंमें व्यभिचार (दोष) नहीं आता है[8]। अतः व्यावहारिक सत्तामें यह जगत् वास्तविक है और व्यवहार भी चलता है, तथा पारमार्थिक सत्ता (जीवन्मुक्तावस्था) में जगत् अवास्तविक है, पर व्यवहार चलता है, तथा पूर्ण मोक्षा-वस्थामें यह जगत् भी अवास्तविक प्रतीत होता और व्यवहार भी समाप्त हो जाता है, क्योंकि मोक्षावस्थामें व्यवहारके आधारभूत द्रष्टा और दृश्यका भेद ही नहीं रहता, " क्योंकि

---

१. यदि ह्यसत्त्वमेव जगत् स्यात्तर्हि ब्रह्मणोऽपि ह्यसत्त्वप्रसङ्गः शांकरभाष्य। २. जन्माद्यस्य यतः १।१।२। ३. वेदान्तदर्शन ब्रह्ममुनिकृत–भाष्य–भूमिका। ४. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, १।१।१। ५. गीता–शांकरभाष्य ३।५। ६. देखो, सदानन्द-कृत वेदान्तसार। ७ गीता–शांकरभाष्य ५।८। ८. यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु न व्यभिचरति, इत्येवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु न व्यभिचरति।

जब सब आत्मा ही आत्मा हो जाता है तब कौन द्रष्टा है और कौन दृश्य है"[1] और "उस अवस्थामें पुरुषको इस संसारमे कुछ भी वास्तविकता दृष्टिगोचर नहीं होती है, केवल ब्रह्म ही वास्तविक प्रतीत होता है और संसार अवास्तविक। उसे इस संसारमें ग्रहण करने योग्य या उपभोग करने योग्य कोई वस्तु दिखाई नहीं देती, तथा ज्ञानके योग्य भी कोई पदार्थ दिखाई नहीं देता"[2]।

इसप्रकार उसे इस संसारमें आसक्ति नहीं रहती और अवास्तविक प्रतीत होने लगता है। पर यहां वास्तविक और अवास्तविकका अर्थ कुछ सन्दिग्ध है, कुछ विद्वानोंके मतमें अवास्तविक का अर्थ आधार-हीन है जैसे आकाशका फूल। पर शंकराचार्य का तात्पर्य यह नहीं है, अपितु अवास्तविकसे उनका तात्पर्य अनित्यका है और वास्तविकसे नित्यका। अतः शांकरके अनुसार अवास्तविक जगत्का अर्थ अनित्य जगत् है, भ्रममय नहीं। यह सारा संसार ज्ञेय है और दृश्य है जो द्रष्टासे सर्वथा विपरीत है। अतः यह संसार ज्ञेय (दृश्य) होनेके कारण अनित्य है [यद् दृश्यं तन्नश्यम्, शांकर भाष्य] और यह जगत् सान्त भी है, इसलिए भी अनित्य है। नित्यकी परिभाषा करते हुए शंकर लिखते हैं, कि जो तीनों कालोंमें रहे वह नित्य है [त्रैकालिकाबाध्यत्वम्] पर यह दृश्य जगत् भविष्यमें नष्ट हो जानेवाला है अतः अनित्य है। इसीको राधाकृष्णन् और स्पष्ट करते है कि—' जो वास्तविक पदार्थ हैं वे आज रहें और कल नष्ट हो जाएं ऐसा नहीं हो सकता, पर सांसारिक पदार्थ हमेशा नहीं रहते, क्योंकि ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति हो जाती है, अतः जगत् अनित्य या अवास्तविक है[3]।" इस बातकी पुष्टि उपनिषद् भी करती है "नचिकेता सारे सांसारिक पदार्थोंको अवास्तविक (नाशवान्) बता कर गाय, घोडे आदिकोंको लेनेसे मना कर देता है और केवल आत्मज्ञान चाहता है"[4]। इसी प्रकार यहां भी अवास्तविक जगतसे शंकराचार्यका तात्पर्य अनित्य जगत्का है, भ्रांतिमय जगत्का नहीं।

इन सबके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि शांकर वेदान्तमें व्यावहारिकता बहुत अंशोंमें विद्यमान है, अतः हम उसे अव्यावहारिक बताकर निरर्थक नहीं कह सकते। यह जगत् पारमार्थिक अवस्थामें भी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता है, अपितु अनित्य होनेके कारण अवास्तविक प्रतीत होता है, पर यह स्थिति भी तत्त्वज्ञानियोंकी है, सर्वसाधारणकी नहीं।

इन सबसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो मेक्समूलरके शब्दोंमें स्पष्ट है—

"इसप्रकार परमार्थावस्थामें पहुंचकर तथा जगत्को अवास्तविक बताकर, तथा आत्माको संसार और शरीरसे ऊंचा उठाकर भी शांकर दर्शन उन मनुष्योंके जीवनको कोई हानि नहीं पहुंचाता, जिन्हें अभी इस संसारमें रहकर अपने कर्तव्य पूरे करने हैं, अपितु यह बताता है कि उच्च ज्ञानकी प्राप्तिके लिए नैतिकता, गुण, विश्वास और शुभताकी आवश्यकता है जो कि आत्माको वापिस इसके घर [ब्रह्म] तक पहुंचाते हैं[5]।"

इससे स्पष्ट है कि शांकर वेदान्त व्यावहारिक है अव्यवहारिक नहीं। और उसको अव्यावहारिक बताना निराधार और अनुचित है।[6]

---

१. यदा सर्वमात्मैवाभूत्तर्हि केन कं पश्येत्—छान्दोग्योपनिषद्। २. माण्डूक्योपनिषद्। ३. Radhakrishnan's Indian Philosophy, vol II, page 562, ज्ञानैकनिवर्त्यत्वम्—शांकरभाष्य। ४, कठोपनिषद्, प्रथमवल्ली। ५. Maxmullar—Six Systems of Indian Philosophy—page 183. ६. Maxmullar—Six Systems of Indian Philosophy—page 183.

वैदिक राष्ट्रगीत

☆

किसी भी राष्ट्र या जातिकी राष्ट्रीय आकांक्षाओंका ज्ञान करना हो, तो उस राष्ट्रके " राष्ट्रगीत " को ही देखना चाहिए। प्रजाकी राष्ट्रीय आकांक्षाएं " राष्ट्रगीत " में प्रतिबिम्बित होती हैं। इसीलिए राष्ट्रका राष्ट्रगीत उत्तम और ओजस्वी भावनाओंसे ओतप्रोत होना चाहिए। यह गीत ऐसा होना चाहिए कि जिसे सुनकर ही लोगोंमें उत्साहकी लहर दौड़ जाए। वैदिक राष्ट्रगीत ऐसे गुणोंसे भरपूर है।

अथर्ववेदके बारहवें काण्डका प्रथम सूक्त ही " वैदिक राष्ट्रगीत " है। सूत्रकारोंने इस सूक्तका विनियोग इस प्रकार बताया है:—

१. गांव और नगर आदिकी रक्षाके समय,

२. शत्रुओंके राष्ट्रपर हमला करके उनकी भूमिको जीतते समय, और

३. पृथ्वी या राष्ट्रमें शान्ति प्रस्थापित करते समय, इस वैदिक राष्ट्रगीतका उपयोग होना चाहिए।

इस सूक्तमें ६३ मंत्र हैं। यह गीत वैदिककालमें प्रचलित था। इसे युद्धके समय गाया जाता था, जिससे सैनिक उत्साहसे प्रेरित होकर युद्धके लिए चल पड़ते थे।

वैदिककालमें सर्वत्र शान्ति रहती थी। सभी राष्ट्र शान्तिसे अपना शासन किया करते थे। पर यदि किसी कारण युद्ध करना ही पड़ जाता, तो उस युद्धकी सारी योजना ब्रह्मविद्याके जानकार ब्राह्मण ही निश्चित किया करते थे। इसके पीछे उद्देश्य यही था कि ब्रह्मविद्याके कारण पवित्र, शान्त और समवृत्तिसे युक्त मनवाले ही युद्धकी योजना बनायें, युद्ध-पिपासु न बनायें। क्योंकि समवृत्तिके ब्राह्मणोंमें अन्योंके प्रति भी प्रेम होता है। अतः उनके हाथोंमें युद्ध संचालनका अधिकार होनेके कारण अनावश्यक लूटमारके अवसर कम ही आयेंगे; इसके विपरीत युद्ध-पिपासु लोग युद्धमें नादिरशाही नजारे उपस्थित कर देते हैं। इतिहास इस बातका साक्षी है। युद्ध तो चन्द्रगुप्त मौर्य करता था, पर उस युद्धकी योजना, राज्यसंचालन आदि सभी मुख्य काम चाणक्यके हाथोंमें थे।

आज जो युद्धकी योजनायें बनाते हैं, उन्हें अध्यात्म विद्याका ज्ञान रत्तीभर भी नहीं होता। इसी कारण युद्धके बाद युद्ध—इसप्रकार अनेकों युद्धोंकी शृंखला-सी बनती चली जाती है और उसका फिर अन्त नहीं होता।

मातृभूमिकी कल्पना

किसी भी " राष्ट्रगीत " में मातृभूमिकी सुस्पष्ट कल्पना होनी चाहिए। यह विशेषता भी " वैदिक राष्ट्रगीत " में देखी जा सकती है।

यह भूमि मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूं।
(अथर्व. १२।१।१२)

हे मातृभूमे! तू हमें उत्तम रीतिसे सुरक्षित और कल्याणकारक परिस्थितिमें रख। (अथर्व. १२।१।३२)

वह हमारी मातृभूमि हमें दूध आदि उत्तम पदार्थ प्रदान करे। (अथर्व. १२।१।१०)

इन मंत्रोंमें मातृभूमिकी स्पष्ट कल्पना है। अपनी राष्ट्रभूमिकी इंच-इंच जगहकी भी उसी तरह रक्षा करनी चाहिए, जिस प्रकार कोई सुपुत्र अपनी माताकी करता है। मातृभूमिको उपजाऊ बनाना भी हर एक नागरिकका कर्त्तव्य है। उपजाऊ होकर मातृभूमि हर प्रकारके पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करेगी।

सामुदायिक भाव

कोई राष्ट्र अथवा देश किसी एक व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं होता, वह सब प्रजाकी सम्पत्ति है। उसे समृद्ध बनाना हर नागरिकका कर्त्तव्य है—यही है सामुदायिक भावना। वेदने हमेशा " संभूय समुत्थान " (इकठ्ठे होकर उन्नति करना) का ही उपदेश दिया है। व्यक्तिवाद उसकी दृष्टिमें हेय है क्योंकि इससे समाज या राष्ट्रकी अवनति ही होती है। इसी दृष्टिसे " वैदिक राष्ट्रगीत " में सदा " नः " (हमारा) शब्दका ही प्रयोग हुआ है। " नः पृथ्वी " " नः भूमि " आदि मंत्रभागोंका अर्थ " हमारी पृथ्वी " " हमारी मातृभूमि " ही होता है। यह मातृभूमि हम सबकी है। यह सामुदायिक भाव राष्ट्रीय एकताका परिपोषक है। " मेरा भारत " कहनेकी अपेक्षा " हमारा भारत " कहनेमें राष्ट्रीय एकताके भाव द्योतित होते हैं। वही भाव " नः माता भूमि " इस वचनमें भी है।

मातृभूमिकी सेवा

मातृभूमिकी सेवा ज्ञानसे करनी चाहिए। " वैदिक राष्ट्रगीत " का एक मंत्र कहता है :—

" जिस हमारी मातृभूमिकी सेवा मननशील विद्वान् अपने अतुलनीय कौशल्यसे करते चले आए हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे राष्ट्रमें उत्तम तेज स्थापित करे "।

(अथर्व. १२।१।८)

मननशील विद्वान् " माया " से इस मातृभूमिकी सेवा करते हैं। " माया " के दो अर्थ हैं (१) कुशलता और (२) कुटिलता। इन दोनोंसे राष्ट्रकी सेवा करनी चाहिए। राष्ट्रकी आन्तरिक व्यवस्था सुधारनेके लिए कुशलताका सहारा लेना चाहिए और राष्ट्रको बाह्य शत्रुओंसे सुरक्षित रखनेके लिए कपटनीतिका भी सहारा लेना चाहिए। राष्ट्रके शत्रुओंका नाश यदि सरल उपायोंसे न हो सके, तो कपटपूर्ण नीतिसे ही उसका नाश करना चाहिए। यह वेदोंका स्पष्ट आदेश है। राष्ट्रकी रक्षाके लिए भगवान् रामको भी कपटनीतिका सहारा लेकर बालिका संहार करना पडा। भगवान् कृष्णने भी कौरवोंका संहार करनेके लिए कपटनीतिका सहारा लिया।

मातृभूमिका धारण

" वैदिक राष्ट्रगीत " में धर्मको मातृभूमिको धारण करनेवाला बताया है " हमारी मातृभूमिका धारण धर्मसे होता है " (अथर्व १२।१।१७,) पर यहां धर्मका अर्थ हिन्दू धर्म, मुसलमानी धर्म, ईसाई धर्म, आदि नहीं हैं। ये धर्म तो राष्ट्रमें झगडेके कारण बनते हैं। राष्ट्रमें नाना भाषा-भाषी और विभिन्न धर्मावलम्बी प्रजा तो रहेगी ही और ऐसी प्रजा वैदिककालमें भी थी, पर वे सब भाईचारेसे रहती थी।

" यह हमारी मातृभूमि (विवाचस) नाना भाषा-भाषी और (नानाधर्माण) विभिन्न धर्मवाले लोगोंको एक घरके समान धारण करती है। " (अथर्व. १२।१।४५)

जिस प्रकार एक परिवारके सदस्य विभिन्न धर्मानुयायी होनेपर भी परस्पर प्रेमसे रहते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रमें भी सब रहें। ये धर्मके झगडे राष्ट्रसेवाके कार्यमें विघ्न न करें। अतः " वैदिक राष्ट्रगीत " में आया हुआ धर्म शब्द हिन्दू, ईसाई, आदि धर्मोंका वाचक नहीं है। धर्मका तात्पर्य वे सभी गुण हैं जिनसे मातृभूमिकी उन्नति होती है। उन गुणोंकी गणना " वैदिक राष्ट्रगीत " के प्रथम मंत्रमें ही की है। जो इस प्रकार हैं:—

" सत्य, ऋत, वीरता, चतुरता, तप, ब्रह्म अर्थात् ज्ञान, बृहद्भाव और यज्ञ ये मातृभूमिको धारण करते हैं। "

(अथर्व. १२।१।१)

(१) राष्ट्रकी प्रजामें सत्य व्यवहार हो; (२) " ऋत " अर्थात् अनुशासन हो; (३) वीरता हो; शत्रुसे युद्ध करते समय कायरता न दिखायें। (४) सभी अपने-अपने कामोंमें कुशल हों, कामचोर न हों; (५) राष्ट्रकी सेवा करते समय सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि कष्ट सहनेकी शक्ति हो, यही " तप " है। (६) राष्ट्रके सभी नागरिक ब्रह्म अर्थात् ज्ञानसे सम्पन्न हों; सुशिक्षित हों; (७) सबमें बृहद्भाव अर्थात् विशाल मनोवृत्ति हो। जातीयता और प्रान्तीयताकी संकुचित मनोवृत्ति न हो। सभी अपनेको मातृभूमिका पुत्र समझनेवाले हों। (८) राष्ट्रमें श्रेष्ठोंका सत्कार हो, प्रजामें संगठन हो और दरिद्रता निर्बलता और अशिक्षा दूर हो, यही यज्ञ है। इसप्रकार ये आठ गुण मातृभूमिको धारण करते हैं, इन्हींको " वैदिक राष्ट्रगीत " में धर्म कहा गया है।

वेद किसीको भी पराये और घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखता। उसके लिए सभी अपने हैं। राष्ट्रके प्रति जो वफादार रहता है वही राष्ट्रका सच्चा सेवक है, भले ही वह किसी भी धर्मका अनुयायी हो।

" हे मातृभूमे! तुझमें उत्पन्न लोग तुझमें ही आनन्दसे विचरण करें। तू दोपाये और चौपाये पशुओंको धारण करती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अरण्यवासी ये पांच तरहके मनुष्य तेरे अपने हैं। प्रतिदिन उदय होता हुआ सूर्य इन पाँचों मनुष्योंके लिए अमृत बरसाता है। "

(अथर्व. १२।१।१५)

समताभावका इससे उत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिल सकता है? इसी समता और सच्चे राष्ट्रीय भावोंसे प्रेरित होकर प्रजा कहती है :—

" हे मातृभूमे! तुझमें उत्पन्न हुए हम निरोग होकर रहें और तेरी सेवामें हम अपना प्राणोत्सर्ग करें। "

(अथर्व. १२।१।६२)

यह है " " वैदिक राष्ट्रगीत " का सच्चा सन्देश।

विकासवाद--प्राच्य और पाश्चात्य

★

इसमें संदेह नहीं, कि यह संसारकी विचित्र रचना विद्वानोंके लिए अनन्त कालसे प्रेरणाका स्रोत रही है। इसी प्रेरणाके कारण हमारे सामने कई ऐसे वाद उपस्थित हुए, जो कि उस-उस समयके युग-परिवर्तनकारी सिद्धान्त हुए हैं। अथवा थोडेसे शब्दोंमें यह कहनेमें लेशमात्र भी अत्युक्ति न होगी, कि सारे दार्शनिक सिद्धांतोंका, चाहे वे भारतीय हों चाहे पाश्चात्य, मूल कारण यह ही विचित्र रचना है। इस रचनाके विकासके मतमें अनेक सिद्धान्त सामने आए हैं, जिनमें विकासवाद या भारतीयदर्शनके अनुसार परिणामवादका सिद्धांत मुख्य है। वैशेषिक दर्शनके अनुसार यह सारा संसार परमाणुके विकासका परिणाम है। प्रलयावस्थाके उपरान्त नित्य परमाणुओंमें क्रिया होनेसे क्रमशः द्व्यणुक त्र्यणुक बनते हुए अन्तिम अवस्थामें पांच महाभूतोंकी उत्पत्ति हुई, और इन महाभूतोंसे संसार बना। पर आजका विज्ञान इस सिद्धांतका स्पष्ट खण्डन कर कहता है, कि संसारकी सूक्ष्म स्थिति परमाणु नहीं है, अपितु परमाणुसे भी सूक्ष्म तत्त्व है, जो कि इस विकासके मूलकारण है। यह विकासवाद या परिणामवाद एक युगपरिवर्तनकारी सिद्धांत प्रमाणित हुआ है। पाश्चात्य जगत्में यद्यपि इस वादके अनुयायी लेमार्क, अलेक्जेण्डर, मॉर्गन, व्हाइट हेड आदि अनेक विद्वान हुए हैं, पर जितना प्रारम्भिक विशद विवरण डार्विनकी कृतियोंमें मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। और भारतीय दर्शनोंमें परिणामवादका सिद्धांत सांख्य दर्शनमें सुव्यवस्थित रूपसे देखनेको मिलता है। यद्यपि दोनों सिद्धांतोंके अनुयायी अपने अपने तर्कोंसे अपने सिद्धांतोंको सुसम्बद्ध और सर्वोपरि स्थापित करना चाहते हैं, पर इन दोनोंके तुलनात्मक अध्ययनसे पाठकको स्पष्ट हो जाएगा कि इन दोनोंमें कौनसा सिद्धांत तर्ककी कसौटीपर ठीक उतरता है।

डार्विन और लेमार्क

इनके अनुसार सारा विकास अमीबाके रूप परिवर्तनके कारण ही है। इसमें अमीबासे लेकर मनुष्य बननेतक समयानुसार बडे बडे परिवर्तन होते आए हैं। समयके अनुसार जिन जिन अंगोंकी अनुपयोगिता हो जाती है वे अंग स्वतः नष्ट हो जाते हैं, और जिन नए अंगोंकी आवश्यकता होती है वे स्वतः पैदा हो जाते हैं। यही कारण है, कि बन्दरोंको पूंछकी आवश्यकता थी और वह पैदा हो गई जब कि बन्दरोंसे पूर्ववर्ती प्राणियोंमें पूंछका अभाव है। पर मनुष्यके लिए पूंछकी आवश्यकता नहीं थी अतः वह स्वयं नष्ट हो गई और उसके स्थानपर अनेक नए अंगोंकी उत्पत्ति स्वयं हो गई। अंगोंका घटना बढना सब समयके द्वारा ही हो जाता है, अतः इस परिवर्तनके लिए अन्य किसी चेतन सत्ताकी आवश्यकता नहीं है[1]। पर इस सिद्धांतमें एक आपत्ति तो यह है, कि यदि समयके द्वाराही अंगोंका घटना बढना हो जाए, तो अन्त्रपुच्छ, आदि अंग, जिनकी अनुपयोगिता संसारके सब डाक्टरोंने सिद्ध की है, क्यों नहीं समाप्त हो जाते? अतः डार्विन और लेमार्कके समयानुसार परिवर्तनका सिद्धांत उसके इस परिवर्तनके मूल स्रोतको दर्शानेमें असमर्थताका परिचायक है इसके अतिरिक्त अनेक सुसंगठित अवयव जैसे आंख आदि केवल समय परिवर्तनके परिणाम नहीं मालूम होते[2]। यद्यपि डार्विन ईश्वरकी सत्ता मानता है, पर एक उदासीन द्रष्टाके रूपमें।[3] इसप्रकार परमात्माका विकासमें कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहीं आकर पाठकके मनमें एक प्रश्न पैदा होता है और जो सम्भवतः हर पाश्चात्य विकासवादीके सिद्धांतोंके अवलोकनसे मनमें उठेगा, कि जब ईश्वरका स्थान विकासवादमें शून्यवत् है, तो विकासके लिए तत्त्वमें सर्वप्रथम

---

१. एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ—एस. राधाकृष्णन्, पृ. २५२.

२. पूर्वोक्त—पृ. २५४.

३. कॉन्टेम्परेरी इथिकल थियरीज—टी. ई. हिल।

राक्षसराज्यमें यज्ञ

पर जहां राक्षसोंकी सत्ता होती थी, वहां ये ब्राह्मण क्यों जाते थे ? और वहां जाकर जान बूझकर यज्ञ क्यों करते थे ? इसमें भी एक रहस्य है। केवल विश्वामित्र ही नहीं अपितु भरद्वाज, अगस्ति, शरभंग आदि जो बडे बडे ऋषि थे, वे भी दक्षिणमें जाकर राक्षसोंके द्वारा अधिकृत प्रदेशोंमें यज्ञ करते थे। इसपरसे इतना तो जरूर स्पष्ट है कि उनकी इस योजनामें कुछ न कुछ रहस्य अवश्य रहा होगा, अन्यथा वे ऐसे काम करते ही नहीं।

यह तो संभव ही नहीं था कि उत्तरभारतके आर्यराजा इन ब्राह्मणोंको अपने राज्यमें यज्ञ करनेकी अनुमति न देते। पर उन्हें तो राक्षसोंके प्रदेशोंमें ही जाकर यज्ञ करना था। राम जब वनवासके दौरान दक्षिण भारतके भागमें उतरे, तो वहां ऋषियोंने उन्हें ऋषियोंकी हड्डियोंके अनेक पहाड दिखाये। इसका मतलब यह था, कि राक्षसोंने इतने ऋषि मारे थे कि उनकी हड्डियोंके ढेर लग गए। राक्षसोंने असंख्य ऋषि मार डाले हैं, यह जानकर भी ऋषि और ऋषिकुमार उधर ही जाते थे, वहीं अपनी बस्ती बसाकर यज्ञोंमें राक्षसोंके द्वारा अनेक तरहके विघ्नोंके उपस्थित किए जानेके बावजूद भी यज्ञ करते थे। पर ऐसा क्यों ? यह द्रष्टव्य है।

अगस्तिका साहस

ऋषि अगस्त्य इन सभी ऋषियोंमें सबसे ज्यादा साहसी थे। वे कम्बोडियातक पहुंच गए थे। उनके पहले दक्षिण दिशामें उतरनेका कोई साहस नहीं करता था, पर अगस्त्य ऋषिने सर्वप्रथम उस दिशामें जाकर उसे निर्भय करनेका बडा भारी काम किया। उनके जानेके बाद तो ऋषियोंके काफिले उस दिशामें निकल पडे। उस समय नासिकतक उन राक्षसोंका आधिपत्य था। दण्डकारण्यमें वानरजाति थी तो सही, पर वह भी राक्षसोंकी मददगार बन चुकी थी। दक्षिण दिशामें राक्षस नासिकतक निर्भय होकर घूमते फिरते थे। इसके ऊपरके भूभागपर आनेपर उन्हें आर्य राजाओंका सामना करना पडता था। इस तरहसे राक्षसोंसे व्याप्त इस दक्षिण भूभागमें ऋषियोंके जाने तथा उनकी हड्डियोंके पर्वत खडा कर देनेपर भी वहीं जाकर यज्ञ करनेके आग्रहके पीछे जो रहस्य छिपा हुआ था, वह राष्ट्रोन्नतिकी दृष्टिसे मननीय है।

तत्कालीन पद्धति यह थी कि जिस स्थानपर यज्ञ होकर अवभृथ स्नान होता था, उतना भूभाग आर्यराज्यमें शामिल कर दिया जाता था। उस प्रदेशकी सीमातक आर्यसाम्राज्य-की मर्यादा स्थापित हो जाती थी। इसी कारणसे राक्षस ऋषियोंके द्वारा रचाये जानेवाले इन यज्ञोंमें बाधायें डालते थे और भरसक कोशिश करते थे कि ऋषियोंके ये यज्ञ पूर्ण न हों। राक्षसोंके राज्यमें ऋषि घुस जाते थे और उस प्रदेशमेंसे राक्षसोंको अर्धचन्द्र देनेके लिए वहां यज्ञ करते थे और यज्ञको पूरा करके उतना हिस्सा आर्यसाम्राज्यमें मिला देते थे। भला उनकी यह प्रवृत्ति राक्षसोंको किस तरह पसन्द आती ?

यह भूभाग भी थोडा थोडा ही जाता हो ऐसी बात नहीं। जहां हिरण स्वेच्छापूर्वक विचरण करते थे, उस जगह ये ऋषि यज्ञ करते थे, अर्थात् यह जगह लोगोंकी बस्तीसे कमसे कम ८-१० मील दूर तो होती ही थी। इसके अलावा इन ऋषियोंके यज्ञ भी कुछ छोटे मोटे नहीं होते थे। दो यज्ञकुण्डोंके बीचमें इतना फासला होता था कि एक गाडी आसानीसे गुजर सके। लोग हजारोंकी संख्यामें इकट्ठे होते थे। वहां व्यापार और लेन देन भी चलता था। यज्ञमण्डप भी विशाल होते थे। इसप्रकार एक यज्ञके पूर्ण होनेपर कमसे कम १०।२० चौरस मीलका भूभाग आर्य-साम्राज्यमें शामिल हो जाता था। इसकारण भारतीय आर्यराजा इन यज्ञोंके कार्यमें ऋषियोंकी मदद किया करते थे, क्योंकि उन्हें इससे लाभ ही होता था।

एक जगह अपना यज्ञ पूरा करके वह ऋषि अपनी पर्णकुटिका १५।२० मील और आगे जाकर स्थापित करते थे और वहां भी जाकर यज्ञका आयोजन करते थे। इसप्रकार आगेकी भूमि भी आर्यसाम्राज्यमें सम्मिलित हो जाती थी। इसकारण राक्षस इन ऋषियोंसे बहुत चिढते थे, जो स्वाभाविक ही था। युद्ध नहीं, हत्या नहीं, कुछ भी नहीं, सिर्फ यज्ञ किया कि उतनी भूमि आर्योंकी। जहां यज्ञ होता उतनी भूमि आर्योंकी हो जाती थी, यह एक नियम ही था।

इसकारण राक्षस यज्ञ पूरा होने ही नहीं देते थे। नाना प्रकारके विघ्न डालते थे, अडचन पैदा करते थे और अन्तमें लाइलाज होकर वे ऋषियोंको खा भी डालते थे। ऐसे खाये गए ऋषियोंकी हड्डियोंके पहाड दण्डकारण्यमें पडे हुए थे। इतने ऋषि मर जाते थे, पर उन्होंने भयभीत होकर कभी

कदम पीछे नहीं हटाये। इसी कारण आर्योंका साम्राज्य कम्बोडियातक फैल गया था।

प्राचीन ऋषियोंका यह आग्रह था कि जहां यज्ञ हों, जहां किसी देवताका मन्दिर हो या जहां पवित्र तीर्थ हों वह स्थान आर्यसाम्राज्यमें शामिल अवश्य होना चाहिए। उन स्थानोंपर विधर्मी लोगोंका अधिकार न रहे। आजकल यह आग्रह मुसलमानोंमें दृष्टिगोचर होता है। ईसाई भी बहुत कुछ इसी प्रवृत्तिके हैं। आज जिस जगह स्वाध्याय मण्डल अपना कार्य कर रहा है, वह जगह अमेरिकन ईसाई मिशनरीकी थी। उसे हमने खरीद लिया। उस स्थानपर एक गिर्जाघर था। वह गिर्जाघर हिन्दुओंके अधिकारमें न जाने पाये यह सोचकर उन मिशनरियोंने स्वयं वह गिर्जाघर तोड डाला और उसकी मिट्टी, चूना तथा अन्य मालमसाले अपने साथ उठा ले गए।

पर आज हिन्दुओंमें अपने मन्दिरोंके बारेमें ऐसा आग्रह नहीं दीखता। पर यह आग्रह हमें अपने प्राचीन ऋषिमुनियोंमें दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि आजके हिन्दु अपने धर्मप्रचारके कार्यकी तरफसे बिलकुल उदासीन हैं। आजकल जैसे ईसाई पादरी अपने धर्मप्रचारके लिए अफ्रीकाके जंगलों और हिमालयकी दुर्गम घाटियोंमें वर्षोंसे अपना डेरा डाले रहते हैं तथा जिस प्रकार मध्ययुगमें गाणपत्य, वैष्णव और बौद्ध स्वधर्मप्रचारके लिए देशविदेशमें घूमते फिरते थे, उसीतरह प्राचीनकालमें हमारे ऋषि भी घूमते, कष्ट सहते और यहांतक कि मृत्युका भी आलिंगन करते हुए अपने धर्मका प्रचार करते थे। वे मर भले ही जाते थे, पर अपना पैर पीछे नहीं हटाते थे। इसकारण उनके जीवनमें उत्साह था। आज हमारे देवता गणेशकी मूर्तियां तिब्बत, चीन, मेक्सिको, जावा, सुमात्रा, अफगानिस्तान आदि देशोंमें पाई जाती हैं। वैष्णवोंने अपने पैर मिश्रतक फैला लिए थे। इस क्षेत्रमें बौद्ध भी कुछ पीछे न रहे, उन्होंने भी और शोरसे अपने धर्मका प्रचार किया। इसी तरह वैदिककालीन ऋषि भी वैदिकधर्मका खूब प्रचार करते थे और अपने शिष्योंको भी पण्डित बनाकर इसी कामके लिए तैय्यार करते थे।

विद्याध्ययनके बाद प्रवास

स पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्। अथर्ववेद।

"पूर्व समुद्रसे लेकर उत्तर समुद्रतक धर्मका प्रचार करे, लोगोंको वैदिकधर्मकी दीक्षा दे; तदनन्तर स्वयं विवाह करके गृहस्थ धर्मका पालन करे।"

आज हिन्दुओंकी अवस्था बडी दयनीय हो गई है। आजसे कुछ साल पहलेतक हिन्दुओंमें ऐसी प्रवृत्ति थी कि कोई भी हिन्दू परदेश न जाए, समुद्र न लांघे, अपने धर्ममें इतर धर्मानुयायीको शामिल न करे, सभी अपने अपने स्थानपर रहें, यदि कोई हमपर आक्रमण करे, तो उसका प्रतिकार न करके उससे मैत्री जोडनेका प्रयत्न किया जाए, यदि कोई हमें लूटने भी आए, तो हम बडी ही खुशीसे हमारी सारी जायदाद लूट ले जाए, पर हम ठहरे अहिंसाके पुजारी, हम उसपर कैसे हाथ उठाये। हिन्दुओंकी इस वृत्तिने इस वीरजातिको कायर और नपुंसक बना दिया। आज भारतमें हजारों ईसाई पादरी अपने धर्मप्रचारके कार्यमें व्यस्त हैं और वे प्रतिवर्ष हजारों हिन्दुओंको धर्मपरिवर्तनका शिकार बनाते जा रहे हैं। पर विदेशमें जाकर हिन्दुधर्मका प्रचार करनेवाला आज कोई भी हिन्दु नहीं है। यदि खुदा न खास्ता कोई हिन्दु चला भी जाए और वह किसीको अपने धर्ममें घसीट भी लाए तो यह हिन्दुजाति उसे पचा भी नहीं पाती। इस जातिकी पाचन शक्ति सर्वथा बिगड चुकी है।

इसके विपरीत प्राचीनकालीन ऋषि तथा उनके अनुयायी दक्षिण भारत, जावा, सुमात्रा आदि देशोंमें गए थे। अफगानिस्तान, तुर्कस्तान आदि देशोंमें उनका संचार होता था। कश्यपऋषिका आश्रम तो पश्चिम दिशामें भारतसे हजारों मील दूर था। उत्तर ध्रुवपर भी इन ऋषियोंके कदम जा पडे थे। इन सब प्रचारकोंके मार्गोंपर किसीने फूल नहीं बिछा रखे थे। इन्हें कांटोंपरसे गुजरना पडा, अनेक भयंकरसे भयंकर कष्ट सहन करने पडे। तो भी वैदिकधर्मं प्रचारसे उन्होंने कभी मुंह नहीं मोडा। उनका एक ही ध्येय था—

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्॥ ऐ. ब्राह्मण

समुद्रतक फैले हुए भूभागका एक ही आर्य राजा हो और उसका राज्यशासन वैदिक विधानके अनुसार हो। यह उसका कार्य अबाध गतिसे चलता, और समुद्रपर्यंत भूभागपर एक ही आर्यराजाकी प्रतिष्ठा भी हो जाती, पर होनहारको क्या कहिए कि जिसने हम हिन्दुओंकी मति ही फेर दी।

विदेशोंमें हमारा जाना बन्द हो गया, इतर धर्मावलम्बियोंको पचा जानेकी शक्ति हमारे अन्दर नहीं रही।

प्राचीनकालीन ऋषि स्वधर्मप्रचारके लिए जिस तरहका अखण्ड प्रयत्न करते थे, वही रीति हमें भी अपनानी चाहिए। हिन्दुओंमें भी "मैं एक हूं, मैं अनेक हो जाऊं" की प्रवृत्ति होनी चाहिए। यह आत्माकी स्फूर्ति है। "एकोऽहं बहु स्यां" के घोषको प्राचीन ऋषि क्रियान्वित करते थे। धर्म हो, राजनीति हो, हरक्षेत्रमें बढनेकी प्रवृत्ति होनी चाहिए। प्राचीन ऋषियोंकी यज्ञसंस्थाओंके प्रसरणके पीछे आर्यधर्मप्रचार तथा आर्यसाम्राज्य विस्तारका ही एकमात्र उद्देश्य था।

३४ मुक्तिकी कल्पना

हमने पिछले लेखोंमे यह देखा ही है कि जो वैदिक आर्यों-की विजयी वृत्ति थी, वह आगे जाकर नहीं रही, लिहाजा यह जाति पराभूत हो गई। बीच बीचमें कोई वीर उत्पन्न अवश्य होता था, पर वीरपरम्परा आर्यावर्तमें दीर्घकालतक टिक नहीं सकी। इसलिए विदेशी आकर यहां बस गए और उन्होंने भारतको भी अपने साम्राज्यका एक अंग बना लिया। भारतके वृक्षकी जडमें ही जब कीडे समा गए, तब उस वृक्षका विकास हो भी तो किस तरह।

श्रेयकी प्राप्ति

श्रेयप्राप्तिकी आकांक्षा बहुत प्राचीन है। अत्यन्त कल्याण प्राप्त करना, सर्वोत्कृष्ट स्थिति पर पहुंचना, उत्तमसे उत्तम अवस्थामें रहना इसीका नाम श्रेयस् अथवा नि.श्रेयस् है। श्रेयस्की स्थिति वह है, कि जिससे अच्छी स्थिति और कोई न हो। मनुष्यको इस अवस्थातक पहुंचनेकी महत्वाकांक्षा अवश्य रखनी चाहिए। मनुष्यमें यह उत्साह होना चाहिए कि मैं ऐसी अवस्थाको प्राप्त करके उसे शाश्वत रखूंगा।

श्रेय और प्रेय

श्रेय और प्रेय दो स्थितियां हैं। अल्पसुखको प्रेय और शाश्वत या भूमासुखको श्रेय कहते हैं। साधारण मनुष्य प्रेयमार्गका पथिक होकर अल्पसुखका ही भागी बनता है, पर ज्ञानी एवं दृढनिश्चयी व्यक्ति श्रेयमार्गसे चलकर अखण्ड आनन्द प्राप्त करता है। अल्पसुखकी अपेक्षा अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति अधिक श्रेयस्कर है।

अथवा श्रेयको सच्चा एवं शाश्वत कल्याण तथा प्रेयको कल्याणका आभासमात्र मान सकते हैं। एक छोटा लडका न पढनेमें ही सुख समझता है, यह प्रेयमार्ग है। पर जब वही लडका भरपूर शिक्षा ग्रहण करनेके बाद जो आनन्द प्राप्त करता है, वही सच्चा आनन्द है और वही श्रेयमार्ग है।

अमृतत्व

श्रेयम् अथवा निःश्रेयस् ये पद सच्चे कल्याणके वाचक हैं। इसीतरह अमृतत्वपद दुःखनिषेधका वाचक है। नि श्रेयस् पद विधेयात्मक है और अमृतत्व पद निषेधात्मक है। "अमृतं, अमृतत्वं, अमरत्वं" आदि सभी पद दुःखका निषेध करके निःश्रेयसका बोध कराते हैं।

अमृतकी प्राप्ति

हिन्दुसमाज तथा इतर धर्मोंमें भी इस अमृतके बारेमें अनेक विलक्षण धारणायें हैं। उन धारणाओंको दूर करनेपर ही नि.श्रेयस् तथा अमृतकी वैदिककल्पना व्यक्त हो सकेगी।

आयुर्वेदिक ग्रंथोंमें "पारा" को अमृत तथा "हरडें, छोटी हरडको" श्रेयसी कहा गया है। इन दोनों औषधि-योंके प्रयोगसे मनुष्य लम्बी उम्रवाला हो सकता है। ये दोनों रोगोंको दूर करके अपमृत्युका निवारण करती हैं और इस प्रकार दीर्घायु प्रदान करती हैं। इसीलिए इन्हें "श्रेयस्" और "अमृत" कहते हैं। इसप्रकार अमृत और श्रेयस्का अर्थ हुआ, अकालमृत्युको दूर करना, रोगी न होना और दीर्घायु प्राप्त करना।

मनुष्य समाजके रूपमें अमर रहता है। व्यक्तिदृष्ट्या वह मर्त्य है, समाजदृष्ट्या वह अमर्त्य है। इसी तरह प्रजा या सन्तानसे भी अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है—

प्रजया अमृतत्वं अश्याम। ऋ.

'प्रजासे अमरत्व प्राप्त करें।" ऋग्वेदमें ऐसा भी एक वचन है कि जिसमें अपनी स्त्रीमें दस सन्तान उत्पन्न करनेकी बात कही है—

दश अस्यां पुत्रान् आधेहि॥ ऋ

"अपनी स्त्रीमें दस पुत्रोंको उत्पन्न कर"। यदि पहली जोडीको दस सन्तानें उत्पन्न हुई और हर पीढीमें हर सन्तानकी दस-दस सन्तानें पैदा होती गई, तो दसवीं पीढीमें ही जनसंख्या एक करोडतक पहुंच जाएगी। इसप्रकार प्रजासे अमरत्वकी प्राप्ति होती है।

ज्ञानप्रसारसे भी इसी तरह अमरत्व प्राप्त होता है। एक गुरु सौ विद्यार्थियोंको ज्ञान देता है। वे सौके सौ विद्यार्थी ज्ञानी बनकर उनमेंसे प्रत्येक सौ सौ छात्रोंको ज्ञानवान देगा। इसप्रकार यह ज्ञान परम्परा चालू रहेगी। इस परम्परासे जगको व्याप्त करनेका काम शीघ्र हो सकता है।

एकोऽहं बहु स्याम्।

' मै एक हू, अनेक हो जाऊ " उपनिषद्का यह वचन विश्वको व्यापनेकी दृष्टिसे ही अपना मन्तव्य व्यक्त करता है। मै एक हू, मे छोटा हूं, मै अनन्त होऊगा, मै विशाल होकर जगको व्याप्त करूगा। इसप्रकारकी विचारधारा इस वचनमें है

ज्ञानके द्वारा विश्वको व्यापना। प्रजाके द्वारा विश्वको व्यापना, इसीको उपनिषद्में आनन्त्यको प्राप्त करना बताया गया है-

तदा आनन्त्याय कल्पते। उपनिषद्

" तब वह आनन्त्यप्राप्तिके योग्य होती है। " वह अनन्त होती है। आज हम यह देखते भी हैं कि- वसिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र आदि ऋषि अपने गोत्रपरम्पराके कारण अमर हो गए। इन ऋषियोंमें कश्यप सबसे बडे थे। क्योंकि वैदिक वाङ्मयमें पृथिवीको काश्यपी कहा गया है। जिन्हें अपने गोत्रका पता नहीं होता उनका काश्यप गोत्र मान लिया जाता है। यहां प्रजामूलक आनन्त्य है।

ज्ञानमूलक अमरत्व भी वैदिकऋषियोंको प्राप्त था। क्योंकि इन ऋषियोंके सूक्त आजभी सम्मानपूर्वक पढे जाते हैं। प्राचीन होनेपर भी इन सूक्तोंके आदरमें कुछ कमी नहीं आई। उनका जितना अधिक मनन किया जाये, उतना ही अधिक तद्गत रहस्योंका ज्ञान होता जाता है। उन ऋषियोंने अपने ज्ञानको शिष्य परम्परासे स्थिर किया।

पिता जिस तरह पुत्रके रूपमें अमर होता है, उसी तरह गुरु भी शिष्यके रूपमें अमर होती है। इसी तरह वह ग्रंथोंके रूपमें भी अमर होते है। व्यास महाभारतके कारण वाल्मीकि अपने रामायणके कारण और वैदिकऋषि अपने सूक्तोंके कारण अमर हो गए।

आधुनिकयुगमें रामदास दासबोधके कारण, तुकाराम अपने अभंगोंके कारण, ज्ञानेश्वर अपनी ज्ञानेश्वरीके कारण अमर हो गए।

यह विश्व अनन्त है। इस अनन्त विश्वमें अनन्त होकर रहनेकी ऋषियोंकी महत्त्वाकांक्षा यहां स्पष्ट दीखती है। यहां ऋषि दूसरेका नाश करके स्वयं महान् होनेके अभिलाषी नहीं है। दूसरेकी वृद्धि या समृद्धिके कारण इन ऋषियोंकी महानतामें कोई कमी नहीं आती। प्रत्येक वैदिक ऋषि ज्ञानके समृद्ध आगार थे, पर वे एक दूसरेकी उन्नतिमें विघ्नरूप नहीं बने। यही इनकी दिव्य महत्ता है।

श्रेय प्राप्त करना, नि श्रेयसका अनुभव लेना, अमरत्वसे विश्वको व्यापना ही वैदिक ऋषियोंका मार्ग था। इसीको " उद्धार, परमगति, ऊर्ध्वगति " कहते हैं। इसीको नरका नारायण, देवका महादेव, इन्द्रका महेन्द्र, पुरुषका पुरुषोत्तम और जीवका शिव होना कहते हैं। यही ब्राह्मी स्थिति है। इसीमें शक्तिकी परिपूर्णता है, यही परम विकसित स्थिति है। यही परम मंगल है। इस स्थितिमें " अहं ब्रह्मास्मि " अर्थात् मैं एक महाशक्ति हू इस सत्यताका अनुभव होता है। यही भूमा अवस्था है। इस स्थितिमें अल्पता, दुख, न्यूनता, हीनता, दुर्बलता, दोष, अपूर्णताका नाम भी नहीं है, यह स्थिति हरतरहसे पूर्ण है। यह अवस्था निषेधात्मक न होकर विधेयात्मक है। इस पूर्णतारूप मुक्तिका स्वरूप आगे जाकर किस तरह बिगड गया, यह हम आगेके लेखोंमें देखेंगे।

३० श्रेयस्, निःश्रेयस, अमृतत्व व आनन्त्य

पीछले लेखमें हमने " नि.श्रेयस्, अमृतत्व, आनन्त्य " इन शब्दोंके अर्थ देखे। वैदिक विचारोंके अनुसार इन शब्दोंके भाव है ' शाश्वत आनन्दमय स्थिति, नीरोगता, दीर्घ, आयु, प्रजा परम्परा तथा शिष्य परम्परासे अमरत्व, ज्ञान परम्परासे आनन्त्य, ज्ञानसे विश्वको व्यापना " इत्यादि। पर आगे जाकर इन शब्दोंके भाव बिल्कुल बदल गए और इस मोक्षमें अभावकी कल्पना प्रविष्ट हो गई। इस प्रकार इन वैदिकशब्दोंका गंभीर अर्थ तो लुप्त हो गया और उसकी जगह ले ली विकृत अर्थोंने।

निर्वाण

दियेका बुझ जाना, अग्निका बुझ जाना, सूर्यका अस्त होना इस तरहके अस्त होनेकी स्थितिका द्योतक यह " निर्वाण " पद है। इस शब्दसे " शान्त होना, चचलता दूर होना, पिघल जाना, मिल जाना, डूब जाना, " इत्यादि भाव व्यक्त होते हैं। इस तरह निर्वाण पदमें अपने अस्तित्वको लुप्त करनेके ही भाव हैं।

वैदिक शब्द " श्रेयस् या नि श्रेयस " में विकसित होकर विश्वको व्यापनेका भाव था। दिया छोटा होनेपर थोडा

प्रकाश देता है, पर वही बडा होकर ज्यादा प्रकाश देता है। यही महत्त्वाकांक्षा वैदिकाद श्रेयसमें थी। वह महत्त्वाकांक्षा तो खतम हुई और बुझ जाना, अस्त हो जाना, अपनी ज्योतिको समाप्त कर देना आदि भाव रह गए।

" मै एक हूं, अनेक हो जाऊं " इस तरहके भावोंको पनपानेवालोंके वंशज " मैं अस्त हो जाऊं, मैं बुझ जाऊं " आदि निराशावादी तत्त्वज्ञानको ही श्रेष्ठ मानने लगे। प्रजासे, ज्ञानसे तथा संख्यासे आनन्त्य प्राप्त करनेकी महत्त्वाकांक्षा धारण करनेवालोंके वंशधर ही आगे चलकर इस आनन्त्यप्राप्तिसे द्वेष करने लगे और अपने अस्त होनेका रास्ता ढूढने लगे।

अपवर्ग

इस पदकी दुर्दशा भी " निर्वाण " के समान ही है। अपवर्गका अर्थ है 'पूर्णता, मार्गका अन्त।' पर लोगोंने इसका अर्थ कर दिया " शारीरिक स्थितिसे छुटकारा पाना, पुनः शरीर धारण न करना " आदि।

पर जब एक बार इस विश्वको ब्रह्मका रूप मान लिया फिर इसे बन्धनकारक माननेमें क्या तुक है? यह शरीर भी तो ईश्वरका ही रूप है, फिर इससे छुटकारा पानेकी क्या आवश्यकता है। और फिर जब सभी कुछ ईश्वररूप है, तो वह साधक इससे बचकर जाएगा कहाँ?

इसी तरह " कैवल्य " पदका अर्थ भी इन विद्वानोंने तोड मरोड दिया। वैदिककालमें इस पदका अर्थ था " किसी दूसरेकी सहायताके बिना ही केवल अपनी शक्तिसे यशस्वी होकर अपने यशसे इस संसारको व्यापना। " पर इस पदका अर्थ आगे जाकर लोगोंने ऐसा कर दिया कि मनुष्य अकेला है, वह अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है, इसलिए वह अकेला ही रहे। इस तत्त्वज्ञानने घोर व्यक्तिवादका प्रसार किया, समुदायवाद समाप्त हो गया, लिहाजा " संभूत्या अमृतमश्नुते " की भावना हो विलीन हो गई। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुजाति व्यक्तिवादके चक्करमें पडकर तितर बितर हो गई, उसमें संघटन न रहा और संघटनके अभावमें वह सबके पैरकी जूतियां बन गई। जो भी आता, वही इसमें अपना पैर डाल लेता।

इस प्रकार मुक्तिकी इस अनर्थ कल्पनाने व्यक्तिवाद रूपी एक अनर्थ खडा कर दिया और इससे हमारे भारतीय समाजका घोर अधःपतन हो गया।

३८ शत्रुसंहार

महाभारत और पुराणोंमें कतिपय प्रसंग बहुत मजेदार हैं। उनका महत्व तभी समझमें आ सकता है कि जब उनका अध्ययन ऐतिहासिकदृष्ट्या किया जाए। महाभारतमें जगह जगहपर व्यासने तत्त्वज्ञान भर दिया है। उस तत्त्वज्ञानको प्रसंगानुसार समझनेसे ही लाभ हो सकता है महाभारतमें जगकी क्षणभंगुरताके बौद्ध-निराशावादका उपयोग कौरवोंने पाण्डवोंको निरुत्साहित करनेके कार्यमें ही किया है।

स्वराज्यके प्रयत्नमें बाधायें

कौरव और पाण्डव भले ही भाई भाई थे, पर उनमें असन्तोष बहुत हद्दतक बढ गया था। अन्तमें कौरवोंने कपटसे पाण्डवोंका राज्य हर लिया। बादमें पाण्डवोंने अपना बल बढा लिया और अपना स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिए युद्धकी तैय्यारी भी कर ली। कौरवोंके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवोंके पक्षमें सात अक्षौहिणी सेना थी। तथापि अपने पक्षकी विजयके प्रति कौरवोंको संशय ही था, इसीलिए उन्होंने पाण्डवोंको युद्धसे विमुख करनेके लिए चालाक संजयको पाण्डवोंके पास भेजा। संजयने भी पाण्डवोंको उनके स्वराज्यके युद्धसे पराङ्मुख करनेके लिए भरपूर प्रयत्न भी किया। उसका परिणाम अर्जुनपर पडा और ऐन युद्धके समय उसने धनुष बाण डाल दिए और युद्ध करनेसे साफ इन्कार कर गया। इसप्रकार अपनी कपटनीतिमें कौरव पूर्णतया सफल हो ही गए थे। पर भगवान् कृष्णने कौरवोंकी इच्छाओंपर पानी फेर दिया। यदि ऐसे नाजुक वक्तपर भगवान् न होते, तो पाण्डव सब कुछ छोडछाडकर वैरागी बाबा बन जाते।

पाण्डवोंको रसातलमें भेजनेके लिए धूर्त धृतराष्ट्रने जो कपटपूर्ण दांव खेला था, उसने जिस तत्त्वज्ञानकी घुट्टी पाण्डवोंको पिलायी, वह तत्त्वज्ञान निराशावादकी नींवपर ही खडा किया गया था। शत्रुको निर्बल करनेके लिए उस तत्त्वज्ञानका उपयोग धृतराष्ट्रने किया था। अब उस प्रसंगपर हम विचार करेंगे-

युद्ध करनेके लिए पाण्डव जब सन्नद्ध हो गए, तब कपटी धूर्त साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त करनेके लिए संजयसे कहा कि तुम जाकर पाण्डवोंको इस तरहका

उपदेश दो। संजय भी ऐसे कामोंमें बडा चालाक था। इसलिए उसने यह काम बहुत ही सुन्दर ढंगसे किया। इसका वर्णन महाभारतके उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययान नामक उपपर्वमें है। शत्रुओंको निर्बल और निरुत्साही बनानेके काममें बहुत ही धूर्तता बरतनी पडती है। इसतरहके निराशावादी और भीरुतापूर्ण तत्त्वज्ञानसे एक बार शत्रुओंका मन निर्बल कर दिया जाए, तो वे कभी भी अपना सिर नहीं उठा सकते।

धार्मिकता और अहिंसा

(अध्याय २४) संजय धर्मराज युधिष्ठिरको इस तरह उपदेश देता है- हे धर्मराज ! तुम पाण्डव जन्मसे सज्जन हो और दुर्योधन आदि कौरव स्वभावतः दुष्ट हैं। तुम धन्य हो। अब तक कौरवोंने अनेक अपराध किए, पर तुम उन्हें क्षमा ही करते आए हो। आजतक तुम धर्मानुसार आचरण करते आए हो। अहिंसाका पालन किया। वे ही तुम आज स्वार्थसे अन्धे होकर हिंसा जैसे अघोरी कर्म करके अपने ही कुलके नाश करनेके कार्यमें प्रवृत्त हुए हो, यह सचमुच एक आश्चर्यकी बात है। मुझे विश्वास ही नहीं आता कि तुम इसप्रकार अपने ही कुलके नाश करनेमें प्रवृत्त होओगे। क्षत्रियोंका धर्म कसाईयोंकी तरह हिंसामय है, इसमें हिंसा और क्रूरता है। यह कर्म तुम्हारे लिए शोभा नहीं देता। मुझे विश्वास है कि तुम इसप्रकारके क्रूरतामय कर्म कभी नहीं करोगे। धृतराष्ट्र तुमसे अत्यधिक प्रेम करता है और वह तुम्हारे हितके लिए दिनरात प्रयत्नशील रहता है। पर उस बूढेका अपने दुर्योधनादि पुत्रोंके आगे कुछ चलता नहीं। इसलिए क्या तुम सबके सब भाइयोंको मारकर उस बूढेको शोकसागरमें डुबा देना चाहते हो ? आजतक धर्मका आचरण करनेवाले तुम्हें क्या यह कृत्य शोभा देगा ? हे धर्मराज ! तुम धन्य हो, तुम्हारे मनमें दुश्मनीके लिए कोई स्थान नहीं है। शत्रुसे भी तुम शत्रुता नहीं करते। दुर्योधनादि भले ही कुछ भी करें, पर हैं तो तुम्हारे भाई ही। अब तुम्हीं उन्हें मारकर अपने कुलका क्षय करना चाहते हो। इस क्षयको टालना तुम्हारे ही हाथोंमें है। इसलिए अच्छा है कि तुम कौरवोंसे सन्धि कर लो।

दया और शान्ति

हे पाण्डवो ! तुम दयालु हो। तुम्हारे अन्तःकरणोंमें जरा भी क्रूरता नहीं है। तुम्हारे अन्तःकरण अहिंसामय हैं। धृतराष्ट्रपुत्र तो दुष्ट है ही। उसकी दुष्टताकी कोई सीमाही नहीं है। पर तुम तो धार्मिक हो। इसलिए तुम्हें इसप्रकार के हिंसामय युद्ध शोभा नहीं देंगे। तुम्हें यदि विजय मिल भी जाये, तो वह भी पराजयके समान ही होगी। इसमें निःसंशय कुलक्षय, हिंसा और क्रूरता है।

इसके अलावा युद्धमें विजय किसकी होगी, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। विजय अनिश्चित है, पर कुलक्षय तो हर हालतमें निश्चित ही है। यह कुलक्षयका काम तुम जैसे धर्मशीलोंके लिए योग्य है क्या ?

बन्धुप्रेम

युद्ध करना नीच मनुष्योंका काम है। इसलिए तुम जैसों को वह बिल्कुल पसन्द नहीं आयेगा। धृतराष्ट्रपुत्र तुम्हारे भाई हैं। बन्धुओं का हित करना कर्तव्य ही है। तुमने आजतक उनसे वैसा व्यवहार भी किया ही है। चित्रसेन गन्धर्वने जब उन्हें पकड लिया था, तब तुम्हींने उन्हें छुडाया था। अब तुम्हीं उन्हें मारने जा रहे हो। (अध्याय २६)

जगक्षणभंगुर

हे धर्मराज ! तुम जानते हो ही कि यह जीवन क्षणभंगुर है। सब कुछ अशाश्वत और क्षणभंगुर है। धृतराष्ट्रपुत्रोंका संहार करके क्या तुम चिरजीवि हो सकोगे ? तुम्हारे राज्यको कौरवोंने कपटसे छीन लिया, यह ठीक है, पर आखिर वे तुम्हारे भाई ही तो हैं। राज्य आदि नश्वर भोग तुम्हारे पास रहें या उनके पास, क्या फरक पडता है। इन नश्वर भोगोंसे तुम्हारा शाश्वत कल्याण थोडे ही होनेवाला है। यदि ये नश्वरभोग कौरव तुम्हें न भी दें तो तुम्हारा क्या बिगडेगा। ये भोग उन्हें ही मुबारक हों। तुम तो धर्माचरणके द्वारा अपने शाश्वत सुखकी प्राप्तिका प्रयत्न करते रहो। ये क्षणभंगुर विलास तुम्हें नभी मिलें, तो भी कोई बात नहीं, पर तुम अपनी धर्मशीलता न छोडो। अशाश्वत राज्यकी अपेक्षा शाश्वत धर्मका पालन ही श्रेयस्कर है।

मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है। इसलिए अपने बान्धवों-का संहार करके यदि तुमने यह राज्य पा भी लिया तो उसमें मजा क्या है ? क्या भला इस क्षणभंगुर जगमें तुम्हारा राज्य शाश्वत होकर टिक सकेगा ? इस राज्यप्राप्तिके लिए जो महान् अधर्म तुम्हारे हाथोंसे होनेवाला है, भला वह तुम्हारी नजरमें क्यों नहीं आता ? इस युद्धके कारण

कुलघाती होनेका जो कलंक एकबार तुमपर लग जाएगा, वह जीवनभर नहीं धुल सकता।

विषय वासना ही मनुष्यको इस तरहके क्रूर कर्मोंमें प्रवृत्त करती है। इसलिए इन दुष्ट विषय वासनाओंपर नियंत्रण रखना ही उत्तम है। तुम जैसे ज्ञानियोंका इस तरह विषय लंपट होना बहुत बुरी बात है। सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य मिल जाए, तो सुख भी मिल ही जाएगा, ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल धर्मसे ही सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिए धर्मकी ही रक्षा करो।

तुम जैसे ज्ञानियोंको तो ऐहिक नश्वर सुखकी अपेक्षा पारलौकिक शाश्वत सुखपर ही ज्यादा विचार करना चाहिए। पारलौकिक आनन्दपर ऐहिक सुखको न्योछावर कर देना चाहिए। चाहो तो योगसाधना करो, ध्यानधारणामें मग्न होओ, ऐसे अनुष्ठानोंसे तो परलोकप्राप्ति हो भी सकती है, पर ऐसे हिंसामय क्रूर युद्धसे तुम्हें कौनसा लाभ होगा? हे धर्मराज! आजतक तुम क्रोधके वशीभूत कभी नहीं हुए। पर इतने दीर्घकालतक धर्माचरणके बावजूद भी तुम्हारे अन्दर यह स्वार्थभावना कहांसे जड जमा गई?

युद्ध करके तुम परम पूज्य भीष्म पितामह और गुरुवर्य द्रोणाचार्यका ही तो नाश करोगे। भला इन बूढोंको मारकर तुम्हें क्या मिल जाएगा? तुम उनके रक्तसे सने हुए ऐश्वर्यका ही तो भोग करोगे? इसलिए, हे धर्मराज! तुम शान्त हो जाओ, अहिंसा वृत्तिका अवलम्बन करके क्रूर कर्मोंसे निवृत्त हो जाओ।

संजयके उपदेशका सारांश

इस प्रकार संजयने पाण्डवोंको उपदेश दिया। यह उपदेश कितना कपटपूर्ण है, इसे पाठक सरलतासे ही समझ सकते हैं। एक साम्राज्यवादी स्वयं दुष्ट और दुराचारी होकर दूसरे स्वराज्यवादियोंको सदाचार और अहिंसाके गुण बता रहा है। संजयके उपदेशोंका सारांश यह है–

१— यह जगत् नश्वर, अशाश्वत और क्षणभंगुर है।

२— इसलिए यहांका राज्य भी क्षणभंगुर है इस क्षणभंगुर राज्यके लिए हिंसात्मक युद्ध मत करो।

३— स्वराज्य न मिले तो भी कोई बात नहीं, पर स्वराज्य प्राप्तिके लिए युद्ध करना ठीक नहीं।

४— सांसारिक भोग नाशवान् है। भोगवासनासे क्रूर कर्मोंको उत्तेजना मिलती है। इसलिए अपनी विषयवासना की इच्छापर नियंत्रण रखना चाहिए। संयम करके अहिंसासे जीवन यापन करे। इस अवस्थामें भिक्षा मांगकर जीवन गुजारना भी श्रेयस्कर है।

५— क्षणिक स्वराज्य सुखको भोगनेके लिए क्रूर कर्म करनेकी अपेक्षा भिक्षुक बनकर जिन्दगी गुजारना अच्छा है।

६— मनुष्य ऐहिक सुखकी लालसा न करके पारमार्थिक सुखकी कामना करे और उस कार्यमें बाधा उत्पन्न करनेवाली भोगवासनाका त्याग करे।

संजयके उपदेशोंका यह सारांश है। ये ही भाव आज हिन्दुओंके अन्तःकरणोंमें समाया हुआ है।

ऐहिकसुखके प्रति घृणा

ऐहिक उन्नतिके प्रति हिन्दुसमाजमें आज इतनी उदासीनता फैल गई है कि जिसकी कोई मर्यादा ही नहीं। लूटनेके लिए भारतमें आये हुए डाकू सम्राट् बन बैठे, तो भी हिन्दू अपने पारलौकिक सुखप्राप्तिकी कोशिशोंमें ही मशगूल रहे। पिछले दो हजार वर्षोंका हमारा यही इतिहास है।

महाभारतकार तथा उनके परवर्ती आचार्योंने क्षणभंगुर वादका उपयोग शत्रुओंको निरुत्साहित करनेके काममें करनेके लिए ही कहा है। कौरवोंने इसका उपदेश पाण्डवोंको स्वराज्यप्राप्तिके प्रयत्नोंसे दूर रखनेके लिए ही किया था। अर्जुनपर इस उपदेशका परिणाम भी हुआ। पर सौभाग्यसे भगवान् कृष्ण वहां मौजूद थे और वे अर्जुनको वैदिकधर्मका उपदेश कर उसे सन्मार्गपर ले आए।

निर्बलताके उत्पादक विचारोंको शत्रुपक्षमें फैलाकर उनकी मानसिक शक्तिका निर्वीजीकरण कर दिया जाए, यह एक राजनीति ही है। पर आज दुर्भाग्य यह है कि हिन्दु समाज आज भी इन विचारोंको अपनी छातीसे उसी तरह चिपकाये है, जिस तरह बन्दरिया अपने बच्चेको चिपकाये रहती है।

१९ अव्यय राज्यशासन

" अव्यय राज्यशासन " का मतलब है " कम खर्चसे चलनेवाला राज्यशासन "। इसका उल्लेख भगवद्गीतामें इसप्रकार है–

राजविद्याका ग्रंथ

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रं इदं उत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुं अव्ययम्॥
(गी. अ. ९।२)

इस श्लोकमें जिनका उल्लेख किया गया है वे बातें ये हैं-

१ राजविद्या— भगवद्गीता राज्यशासनका शास्त्र है। गीतामें यह बताया गया है कि राज्यशासन किसप्रकार चलाया जाये।

२ राजगुह्यं— राज्यशासनके दौरान जो गुह्य बातें हैं, उनकी शिक्षा देनेवाला यह ग्रंथ है। राज्यशासनमें जो गुप्तता तथा रहस्य होते हैं उन रहस्योंको इस गीतामें बताया गया है। इसलिए इसे राज्यशासनका रहस्य कहते हैं।

३ इदं उत्तमं पवित्रं— यह राज्यशासनका उत्तम और पवित्र ग्रंथ है।

४ प्रत्यक्ष-अवगमं— इसके आचरणसे सुखप्राप्तिका अनुभव प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

५ धर्म्यं— यह राज्यशासन धर्मयुक्त है। इसमें अधर्मका आचरण नहीं करना पडता।

६ कर्तुं सुसुखं— यह सरल है, इसलिए इसे करना कोई कठिन नहीं है। इसमें कोई ऐसा काम नहीं है कि जिसे किया न जा सके।

७ अव्ययं— यह राज्यशासन अल्पव्ययमें होनेवाला है। अन्य प्रकारके राज्यशासनोंमें होनेवाले खर्चकी अपेक्षा कम ही खर्च इस गीतोक्त राज्यशासनमें होगा।

श्रेष्ठविद्या

गीतामें " राजविद्या " और " राजगुह्य " ये शब्द बिल्कुल स्पष्ट हैं। राजाओंकी विद्या " राजविद्या, " राजाओंका गुह्य " राजगुह्य "। इस स्पष्ट अर्थको स्वीकार न करते हुए गीताके व्याख्याकारोंने " विद्याओंमें श्रेष्ठ विद्या और गुह्योंमें सर्वोत्तम गुह्य " ऐसा अर्थ किया है। इसमें शंका नहीं कि अध्यात्मविद्या सभी विद्याओंमें श्रेष्ठ और परम गुह्य है। यह भी उतना ही सत्य है कि आर्योंका राज्यशासन और जीवनका मन्दिर आत्मज्ञानकी सुदृढ नींव-पर ही खडा किया गया है। इस कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि, गीता एक अध्यात्मशास्त्र है और इसीकारण वह आर्योंके राज्यशासन तथा अन्यान्य व्यवहारोंका भी आधार बना। इसलिए यदि कोई राजविद्याका अर्थ राज्य-शासनकी विद्या न करके " श्रेष्ठ विद्या " ही करे, तो भी वह अध्यात्मविद्या सभी भारतीय राज्यशास्त्रका आधार है, इस तथ्यसे इन्कार नही कर सकता।

अध्यात्मकी परम्परा

भगवानने गीताके चौथे अध्यायके प्रारंभमें ही, गीताज्ञान के ज्ञाता विद्वानोंकी परम्परा गिना दी है; जो इसप्रकार है, (अहं) विष्णु, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, अनेक श्रेष्ठराजा, (मया) कृष्ण और अन्तमें (ते) अर्जुन। यह परम्परा क्षत्रियोंकी है। इस प्रसंगमें यह द्रष्टव्य है कि इस परम्परामें जिन्होंने भी गीताका ज्ञान प्राप्त किया, वे सभी क्षत्रिय राजा थे। वर्तमान प्रसंगमें भी गीता सुननेवाला अर्जुन एक क्षत्रिय है जो स्वराज्यप्राप्तिके लिए प्रयत्नशील है तथा उस अर्जुनको गीताका ज्ञान देनेवाले भगवान् भी क्षत्रिय हैं, जो अर्जुनके द्वारा स्वराज्यप्राप्तिके लिए किए जानेवाले प्रयत्नोंमें उसके सहायक होते हैं। इसप्रकार गीताका ज्ञान लेने और देनेवाले दोनों ही क्षत्रिय तथा स्वराज्यप्राप्तिके लिए प्रयत्नशील हैं। जिस युद्धभूमिपर गीता सुनाई गई, वह युद्धभूमि स्वराज्यके लिए लडनेवाले वीरोंसे सुशोभित थी। स्वराज्यप्राप्तिके प्रयत्नोंसे वीर अर्जुन निवृत्त न हों, इसके विपरीत स्वराज्यप्राप्तिके लिए वीर अर्जुन यशस्वी रीतिसे युद्ध करे, इसीलिए गीता सुनाई गई थी। गीता सुननेसे पूर्व वीर अर्जुन हताश होकर संसार छोडकर, जंगलमें जाकर, कन्दमूल खाकर तपस्या करनेके लिए तैय्यार हो गया था, पर वह गीताके उपदेशके बाद समझ गया और उसने संसार-त्यागका अपना निश्चय बदल दिया और युद्ध करके स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए कटिबद्ध हो गया। अर्थात् संसारमें रहकर राज्यशासन करनेके लिए तैय्यार हो गया।

जिस गीताने बैरागी बननेवाले अर्जुनको स्वराज्योन्मुख किया, वही गीता आजके बुड्ढों ठुड्ढोंको स्वराज्य विमुख करती दिखाई देती है। यह एक आश्चर्य ही है। ऐसा विपरीत परिणाम क्यों हुआ, इसका विचार करना चाहिए।

राजनीतिशास्त्र कुशल राजा

विष्णु, विवस्वान्, मनु आदि प्रजापालनमें तत्पर विख्यात राजा थे। वे सर्वसंगोंका परित्याग करके वनमें रहनेवाले तपस्वी नहीं थे। इन राजनीति कुशल राजाओंकी परम्परासे ही यह गीता है और यह गीता उपनिषदोंका सार है। इसका अर्थ यह है कि उन उपनिषदोंमें भी वही उद्देश्य होना चाहिए।

राजा जनक एक तरफ राज्यशासनमें कुशल थे, तो दूसरी तरफ रहस्यज्ञानमें भी पारंगत थे, राजा जनक वेद-विद्यामें पारंगत होनेके कारण राजनीतिमें भी कुशल थे।

इसका एक दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है। भगवान् राम सब विद्याओंका अध्ययन करके गुरुकुलसे घर आए। अपने पिता दशरथकी आज्ञा लेकर वे सब राज्यों तथा सब ऋषियोंके आश्रमोंका निरीक्षण करके एक वर्षमें अपने घर लौट आए। इस प्रवासमें उन्होंने एक बात देखी, कि राज्यमें सर्वत्र राक्षसोंका उपद्रव चला आ रहा है और उनका कोई भी प्रतिकार नहीं करता, यह देखकर रामचन्द्र भी वैदवादी बन गए और इस संसारके विषयमें बिल्कुल उदासीन हो गए।

वसिष्ठऋषिने रामचन्द्रको वेदान्तशास्त्रका उपदेश दिया। उसीका नाम "योगवासिष्ठ" है। यह उपदेश सुनकर भगवान् राम राक्षसोंका दमन करके राज्य करनेके लिए तैय्यार हो गए। उन्होंने रावणके साम्राज्यका नाश किया। सब देवोंको रावणके कैदखानेसे छुडाया और भारतपर आया हुआ संकट दूर किया। रामचन्द्रने योगवासिष्ठका ज्ञान प्राप्त करके इतना महान् पराक्रम किया और बादमें उत्तम रीतिसे राज्य किया। आज भी "रामराज्य" के रूपमें उस राज्यकी सब लोग प्रशंसा करते है। यह रामराज्य योगवासिष्ठके अध्यात्मज्ञानकी नींवपर स्थापित हुआ था। इसप्रकार अध्यात्मज्ञान भारतीय राज्यशासनका आधार है।

इस अध्यात्मशास्त्रसे मनुष्यका आत्मिक बल बढता है, और आत्मशक्तिसे सम्पन्न मनुष्य बडे बडे कार्य कर सकता है। भला एक निर्बल मनुष्य क्या कर सकेगा? वेदान्तशास्त्र मनुष्यको आत्मिक बल देता है। यह अध्यात्मशास्त्र मनुष्य को "तू ही सब शक्तियोंका केन्द्र है" की शिक्षा देता है। मनुष्यको यदि अपने शक्तिका अनुभव हो जाए, तो उससे बडे बडे कर्तव्य हो सकते हैं। फिर वह किसीसे नहीं दबता। वह शत्रुको हराकर विजयी होता है।

इसप्रकार यह गीता "राजविद्या और राजगुह्य" अर्थात् राज्यशासनकी विद्या और राज्यशासनके रहस्योंसे युक्त है। इससे "अव्यय राज्यशासन" अर्थात् कम व्ययसे होनेवाला राज्यशासन हो सकता है। इन राजविद्या और राजगुह्यके ज्ञानकी प्रस्तावना करते हुए भगवान् लिखते हैं—

अशुभ दूर करनेवाला ज्ञान

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं तज्ज्ञात्वा
मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

"विज्ञान सहित जिस ज्ञानको जान लेनेपर अशुभसे मुक्तता होती है, वह गुह्यज्ञान मैं तुझे बतलाता हूं।" अर्थात् राजविद्या और राजगुह्यका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर मनुष्यों पर अशुभका प्रभाव नहीं होता। अशुभ स्थितिसे यदि अपनी रक्षा करनी हो तो राजविद्याका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह "अशुभ" क्या है और उससे किसतरह कष्ट होते हैं, इन बातोंको समझ लेनेसे यह बात भी समझमें आ जाएगी कि ज्ञानसे यह अशुभ कैसे दूर किया जा सकता है।

शुभ और अशुभका क्षेत्र

बुद्धि, अहंकार, चित्त,मन, इन्द्रिय, शरीर, व्यक्ति, समाज, जाति, राष्ट्र और मानव समाज इतने क्षेत्र मनुष्यसे सम्बन्ध रखते हैं। इनमें शरीरतकके क्षेत्र व्यक्तिके आन्तरिक व बाकीके बाह्य क्षेत्र हैं। इतने क्षेत्रोंमें मनुष्यको शुभ और अशुभकी अवस्थायें प्राप्त होती हैं।

इन क्षेत्रोंमें शुभ अवस्था कैसे प्राप्त हो सकती है और अशुभ अवस्था कैसे प्राप्त हो सकती है, इसके कुछ नियम निश्चित किए हुए हैं। उदाहरणार्थ—

(१) बुद्धिः ज्ञानेन शुध्यति– बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है और ज्ञानसे बुद्धिके क्षेत्रमें अशुभ दूर होता है।

(२) चित्तको चिन्तन करनेके लिए उत्तम विषय मिल जाए तो चित्तके क्षेत्रके अशुभ दूर होते हैं। इसीलिए उत्तम ध्यान और धारणाकी योजना योगशास्त्रने बनाई है। उन ध्यान धारणासे चित्तकी एकाग्रता सधती है। विक्षेप दूर होकर अशुभ स्थिति दूर होती है।

(३) मनः सत्येन शुध्यति– मन की शुद्धता सत्यसे होती है। सत्यपालनसे व्यवहार शुद्ध होता है। मनका बल बढता है। मनमें निर्भयता स्थिर होती है और मानसिक क्षेत्रमें अशुभ दूर होता है।

(४) इन्द्रियें दस हैं, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय। इन्द्रियोंको उत्तम शिक्षा दी जानी चाहिए। ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान होता है और कर्मेन्द्रियोंसे कर्म होते हैं। इनके क्षेत्र

बहुत ही विस्तृत है। सभीकी आंखें और हाथ हैं, पर एक चित्रकार अपने आन्तरिक नेत्रोंसे विश्वरूपको देखकर उसे अपने हाथोंमें अंकित कर सकता है। दूसरे अशिक्षित वैसा नहीं कर सकते। प्रत्येक इन्द्रियके बारेमें मनुष्यको आवश्यक शिक्षा दी जाए, तो इन्द्रियोंके क्षेत्रसे अशुभता दूर हो सकती है।

मनुष्य बोलता है। पर एक सुशिक्षित मनुष्य कहाँ, क्या और किसतरह बोला जाए, यह अच्छी तरह जानता है, इसलिए वह योग्य रीतिसे बोलता है और अपने वक्तृत्वमें यशस्वी होता है। अशिक्षित मनुष्यके लिए यह संभव नहीं। इन इन्द्रियोंका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उस क्षेत्रमें शुभता प्राप्त करना और सफल होना बड़ा ही कष्टसाध्य और अनेक वर्षोंके सतत परिश्रमसे ही सिद्ध हो सकता है। यह सहज साध्य नहीं है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयत्नोंसे आंशिक सफलता प्राप्त अवश्य कर सकता है, पर यदि सरकारके द्वारा सभी शिक्षणालयोंमें ऐसी व्यवस्था की जाए, तो इस शिक्षाके द्वारा उत्तम तरुण तैयार हो सकते हैं।

सब तरहके धन्धों और शिल्पोंका समावेश इस शिक्षामें होता है। शिल्पशिक्षाके सम्बन्धमें जो प्रयत्न होना है, वह सरकारकी तरफसे सामूहिक रूपसे ही होना चाहिए। यही राजविद्या अर्थात् राज्यशासनकी विद्या है। जिस राष्ट्रमें उत्तम शिल्पकी शिक्षा दी जाती है, वहांकी प्रजा शिल्प-विद्यामें प्रवीण होकर इस विद्यासे धन प्राप्त कर सकती हैं। दारिद्र्यरूपी यह सामाजिक अकल्याण शिल्पज्ञानसे दूर हो सकता है।

प्रत्येकके हाथ और उंगलियां हैं, पर राष्ट्रीय विद्यालयमें सीखकर शिल्पकलामें प्रवीण हुए हुए एक वैज्ञानिककी उंगलियां थोडीसी देरमें जिस कलाका निर्माण करती हैं, वैसा निर्माण एक अशिक्षित कभी भी नहीं कर सकता। यह निर्माण ही धन है। " कराग्रे वसति लक्ष्मीः " अर्थात् हाथके अग्रभागमें लक्ष्मी रहती है, यह कथन सर्वांशमें सत्य है। कराग्र माने हाथकी उंगलियां, ये उंगलियां यदि शिल्प-विद्यामें प्रवीण हों तो उससे धन प्राप्त किया जा सकता है।

इस संसारमें इने गिने राष्ट्र ही शिल्पशास्त्रमें प्रवीण हैं। इसका कारण यही है कि वहांकी सरकारने वहांकी प्रजाओं-को योग्य शिक्षा दी है। इसी तरह यदि इन्द्रियोंके क्षेत्र विषयक अकल्याणको दूर करना हो तो उन इन्द्रियोंको उत्तम शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षाकी यह व्यवस्था सरकारके द्वारा ही होनी चाहिए। पर यदि यह व्यवस्था किसी शत्रुके अधीन हो तो वह अशुभदायक ही होगी।

इसके बादके शरीर, समाज राष्ट्र आदि जो क्षेत्र हैं, वह सब राष्ट्रकी शासन व्यवस्थासे सुधरने और बिगडने-वाली हैं।

गीतामें यह जो लिखा है– " विज्ञानको ज्ञानसहित प्राप्त करनेसे अशुभसे मुक्तता हो सकती है " उसमें अशुभकी उत्पत्ति कैसे होती है और वह मनुष्यके लिए त्रासदायक किसतरह होता है, इसे समझे बिना यह भी नहीं समझा जा सकता कि वह राजविद्यासे कैसे दूर होती है। इसी कारण इस विषयमें इतने विस्तारसे लिखना पडा। इस विषय विस्तारसे पाठक समझ ही गए होंगे कि राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्थासे इस शुभ अशुभ परिस्थितिका क्या सम्बन्ध है। इस अशुभको दूर करना हो तो राष्ट्रीय शिक्षाके आधारपर ही प्रयत्न होने चाहिए। फिर वह प्रयत्न चाहे एक व्यक्ति करे अथवा राष्ट्रकी शासन संस्था करे। इसीको वैदिक-कालमें " प्रजापति संस्था " कहते थे।

किसी राष्ट्रपर किसी विदेशी राष्ट्रकी सत्ता स्थापित हो जाए, तो वह विदेशी सत्ता उस पराधीन राष्ट्रमें अपनी शिक्षा व्यवस्थाका प्रसार करके उस राष्ट्रमें उद्योग धन्धोंका नाश करके १५–२० सालमें उस राष्ट्रमें अशुभावस्थाका साम्राज्य स्थापित कर सकता है।

ज्ञानविज्ञानसे अशुभका दूर होना

पर यदि वही पराधीन राष्ट्र स्वाधीन हो जाए और वह स्वाधीन राष्ट्र अपनी उन्नतिके लिए कृतसंकल्प हो जाए, तो वह उत्तम शिक्षाकी व्यवस्था करके १५–२० सालमें अपनी उन्नति भी कर सकता है। यह शुभाशुभ अवस्थाकी विद्या गीताके इस राजविद्याके अध्यायमें बताई गई है। इन शुभ और अशुभकी अवस्थाओंको जो पूर्णतया आध्यात्मिक बताते हैं, वे गलत हैं। वस्तुतः यह गीता ही आर्य राज्य-शासनका आधार है।

दुर्योधनके राज्यशासनके कारण भारतीय राष्ट्रपर जो अशुभ अवस्था छा गई थी, वह नष्ट हो और पाण्डवोंके राज्यशासनके कारण भारतमें शुभावस्थाका साम्राज्य हो, इसलिए यह भारतीय युद्ध हुआ था और उस भारतीय युद्धमें यह गीता सुनाई गई थी। यह थी राज्यविद्याकी पृष्ठभूमि।

भगवान कहते हैं– "मैं (१) साधुओंका परित्राण (२) दुष्टोंका नाश और (३) धर्मकी स्थापना करनेके लिए आया हूं। दुर्योधनके राज्यशासनमें ये तीनों बातें नहीं होती थीं। अतः भगवान् उस राज्यका नाश करना चाहते थे। ये सभी उद्देश्य राष्ट्रको सुधारनेके लिए ही हैं। यहां भगवान्का भी यही ध्येय है कि राष्ट्र अशुभावस्थामेंसे निकल कर शुभावस्थामें प्रवेश करे। इसी दृष्टिसे भगवान्ने अर्जुनको इस राजविद्याका और राजगुह्यका उपदेश दिया था।

यहां सज्जनोंकी रक्षा करने और दुर्जनोंका नाश करने तथा राष्ट्रकी शुभावस्थाको स्थापित करनेकी घोषणा भगवान्ने की है। यह घोषणा राष्ट्रीय स्वरूपकी है। इसे केवल वैय्यक्तिक समझना भूल होगी। राजविद्या और राजगुह्यका सम्बन्ध राष्ट्रीय उन्नतिसे है। गीताका अध्ययन आजकल वैय्यक्तिक उन्नतिको लक्ष्यमें रखकरही किया जाता है इसकारण गीताका अर्थ बहुत ही संकुचित हो गया है। पर यह अर्थसंकोच अभीष्ट नहीं है। उपनिषद्का एक राजा अपने राष्ट्रका जो वर्णन करता है, वह द्रष्टव्य है।

आदर्श राज्य

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छा. उ. ५।११।५)

"मेरे राज्यमें चोर नहीं, कृपण नहीं, शराबी नहीं, अग्निहोत्र न करनेवाला नहीं, अशिक्षित निरक्षर नहीं, स्वैर आचरण करनेवाला नहीं, फिर स्वैरिणी स्त्री कहांसे रहेगी?" इसप्रकार यदि इस पृथ्वीपर सदाचारी राज्य हो जाएगा, तभी वहां 'अव्यय राज्यशासन' हो सकेगा। जहां चोर नहीं होंगे, वह रक्षक सैनिकोंकी संख्या भी कम ही होगी और जहां दिनदहाडे लूटमार मची रहती हो वहांपर रक्षकोंकी संख्याका अधिक होना स्वाभाविक ही है। जिस देशकी प्रजा शिक्षित और सदाचारी हो वहां राज्यशासन कम खर्चीला होगा ही होगा, यह निर्विवाद है।

इसप्रकार जिस देशमें 'अव्यय राज्यशासन' करना हो वहांकी जनताको प्रथम धार्मिक, सदाचारी और शिक्षित करना चाहिए। इसप्रकारसे शिक्षितप्रजा इस रीतिसे व्यवहार करेगी और अपने काम स्वयं करेगी, उससे राज्यशासनका खर्च कमही होगा। इसका मतलब यह है कि राज्यशासनको कम व्ययवाला बनाना प्रजाकी उन्नतिपर अवलंबित है।

+

मैंने स्वयं हिमालयमें देखा है कि हिमालयमें चोरी ज्यादा नहीं होती। वहांके लोग दरिद्री तो हैं, पर चोरी नहीं। हिमालयमें तीर्थयात्रा करनेवालोंका अनुभव भी वैसा ही है। यदि वहां चोरी करनेवाले हों, तो वहां यात्रा करना कठिन हो जाएगा। चोरी वहां होती ही नहीं इसलिए वहां यात्री निश्चिन्त रहते हैं। इसीका नाम "अव्यय राज्यशासन" है। इसप्रकार गीताका अव्यय राज्यशासन केवल कविकल्पना न होकर यथार्थ है और पृथ्वीपर वैसा प्रबन्ध किया जा सकता है।

इस राज्यशासनके इस वर्णनमें (१) उत्तमं पवित्रं (२) धर्म्यं (३) सुसुखं कर्तुं ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(१) उत्तमं पवित्रं– यह राज्यशासन उत्तम और पवित्रता बढानेवाला होगा। राज्यशासनके द्वारा प्रजामें आचारकी पवित्रता बढनी चाहिए। शुद्ध और सत् आचरणपर ही राज्यशासन-व्ययकी न्यूनता अवलम्बित है। व्यवहार में यदि पवित्रता तथा ईमानदारी न हो तो अनाचार, कालाबाजार बढेगा, लिहाजा कम खर्चमें राज्यशासन असंभव हो जाएगा। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुचिता, सन्तोष, तप, विद्याध्ययन आदि गुण पवित्रताके सहचारी गुण हैं। ये यमनियम जितना प्रजामें बढेंगे, उतना ही व्यय राज्यशासनमें कम होता जाएगा।

(२) इस राज्यशासनका दूसरा गुण धर्म्य है। धर्मकी सुदृढ नींवपर ही राजनीतिका महल खडा करना चाहिए। कर्ताको पहले देख लेना चाहिए कि वह जो कुछ करने जा रहा है, वह धर्मानुकूल है या नहीं? धर्मपर निष्ठा रखनेसे व्यवहार उत्तम हो जाता है और फिर कोई उलझन पैदा नही होती। इसलिए धार्मिकता प्रजामें बढनी चाहिए।

(३) सुसुखं कर्तुं– राज्यशासन अत्यन्त सरल हो। उसमें छलकपट, उलझनें, धूर्तता और कठोर नियम न हों। सरल मार्गोंसे जानेवालोंके लिए मार्ग निष्कण्टक हो। राज्यशासन सीधा और सरल हो तो वह कम व्ययमें किया जा सकता है।

इसतरहके अव्यय राज्यशासनको क्रियान्वित करनेके कौन कौनसे नियम हैं, उन्हें हम अगले लेखमें देखेंगे।

४० अव्यय राज्यशासन (२)

वैदिककालीन राज्यशासन किस तरहका था, इसका थोडासा दिग्दर्शन पिछले लेखमें किया जा चुका है। अब इस लेखमें उसी का और ज्यादा विस्तार करते हे। वेदकालीन समाजव्यवस्था चार वर्ण और चार आश्रमोंमें बंटी हुई थी। इस वर्णव्यवस्था और आश्रम व्यवस्थाके अवशेष आज भी हिन्दुसमाजमें देखे जा सकते हे। इनमें आश्रम व्यवस्थाका पहले विचार करें।

ब्रह्मचर्याश्रम

पहला ब्रह्मचर्याश्रम छठे या आठवें वर्षसे शुरु होता है। बुद्धिमान् बालकको छठे और साधारण बालकको आठवें वर्षमें गुरुकुलमें प्रविष्ट किया जा सकता था। क्षत्रिय और वैश्योंके बालक तो १०-१२ वर्षतक भी गुरुकुलमें प्रविष्ट किए जाते थे। वह बालक एक बार गुरुकुलमें प्रविष्ट हो गया कि उसका उसके जन्मदाता मां बापसे सम्बन्ध टूट जाता था। गुरुकुल प्रवेशके बाद वह विद्यादेवी और गुरुका पुत्र ही समझा जाता था। उपनयन संस्कार करके बालकका प्रवेश गुरुकुलमें होता था और उपनयनके बाद बालक मृत्युके लिए समर्पित कर दिया जाता था। " मृत्योरहं ब्रह्मचारी " (अथर्व.) ऐसा ही बालक भी समझता था। उस समय यही समझा जाता था कि अपने जन्मदाता मां बापका लडका तो मर गया है और दूसरा जन्म लेनेके लिए यह बालक विद्यादेवीके गर्भमें चला गया है। इसकारण मां बापपर गुरुकुलमें प्रविष्ट हुए वटुकी शिक्षा और उदरपोषणके लिए होनेवाले खर्चका भार नहीं पडता था। उनपर होनेवाला सब व्यय गुरुकुल सहन करता था। इसलिए उस वटुके मां बाप निश्चिन्त रहते थे।

आज अन्ततक शिक्षाका भार या तो मां बापपर पडता है और शिक्षा मुफ्त हो तो उसका भार सरकारपर पडता है। पर प्राचीनकालमें यह सारा खर्च गुरुकुल करता था। गुरुकुलों अर्थात् ऋषियोंके आश्रमोंको धनिक भरपूर दान देते थे। इसप्रकार इन आश्रमोंमें हजारों वटु रहते थे। शिक्षासमाप्तिके बाद वटु गुरुको " गुरुदक्षिणा " देते थे। इन आश्रमोंके नामपर हजारों एकड जमीन होती थी, उनमें धान्य पैदा होता था।

वस्त्र—स्वावलम्बन

आज पुराने विचारोंके परिवारोंमें लोग स्वयं काते हुए सूतका ही यज्ञोपवीत पहनते हैं। अनेक परिवारोंमें स्त्रियां भी सूत कातती हैं।

गुरुकुलोंमें इस पद्धतिके अनुसार हजारों छात्र करीब १२ वर्षतक रहकर शिक्षा- सम्पादन करते थे। ये छात्र राष्ट्रकी सम्पत्ति होकर गुरुकुलोंमें रहते थे। जिसके मां बापके पास अपने बच्चोंको पढानेके लिए एक भी पैसा नहीं होता था, वह भी आनन्दसे इन गुरुकुलोंमें पढता था। इस-प्रकारकी व्यवस्था " अव्यय राज्यशासन " से ही हो सकती है।

वानप्रस्थ—आश्रम

गृहस्थाश्रमका विचार हम बादमें करेंगे। लोग पचासवें वर्षमें वानप्रस्थी होकर उन्हीं गुरुकुलोंमें जाकर शिक्षकका काम करते थे। गुरुकुलोंमें सीखकर तैय्यार हुए हुए तरुण यह समझते थे कि हम जो विद्या पढे हैं उससे हमपर यह ऋषिऋण आ पडा है, इसलिए हमें भी चाहिए कि हम वानप्रस्थी होकर अन्य विद्यार्थियोंको विद्याका दान देकर यह ऋषिऋण उतार दें। इसकारण वे तरुण २५-३० वर्षतक गृहस्थाश्रमके सुख भोगकर वानप्रस्थी हो जाते और फिर गुरुकुलोंमें जाकर ऋषिऋण चुकानेका काम करते थे। इसकारण इन गुरुकुलोंको शिक्षक अवैतनिक मिल जाते थे। ऐसे शिक्षकोंके लिए भी उन गुरुकुलोंमें हरतरहकी व्यवस्था रहती थी। उन्हींमें ये अध्यापक समाधान मानकर अध्यापनका काम करते थे।

धर्मके शिक्षक और शिष्य

वानप्रस्थाश्रममें रहनेवालोंका अपना घर नहीं होता था। वे सब गुरुकुलके आवासोंमें ही रहते थे। उसमें जिस-प्रकार ब्रह्मचारी " राष्ट्रके पुत्रों " के रूपमें रहते थे, उसी प्रकार वानप्रस्थी भी शिक्षकके रूपमें रहते थे। " राष्ट्र " शब्दका प्रयोग यहां मैंने जानबूझकर किया है। उस समय उन्हें " धर्म " का शिक्षक कहा जाता था। जिसप्रकार आज हम " राष्ट्र " शब्दका उपयोग करते हैं, उसी तरह प्राचीनकालमें " धर्म " शब्दका उपयोग करते थे। राष्ट्र शब्द मर्यादित है, उसकी मर्यादा अपने देशकी सीमाओंतक ही है, पर धर्म अमर्यादित है। जहां मानव है, वहां धर्मका भी अस्तित्व है ही। इस कारण व्यापक अर्थवाले " धर्म " का उपयोग अधिक होता था।

चतुर्थ आश्रम

संन्यास चौथा आश्रम है। वैदिककालमें संन्यासका प्रचलन अधिक नहीं था। सभी वैदिक ऋषि गृहस्थाश्रमी ही हैं। उनमें कोई भी यति या संन्यासी नहीं दिखाई देता। इस यति संप्रदायको जोर तो बुद्धोत्तरकालमें मिला है। तथापि स्मृतिकारोंका वचन है कि वानप्रस्थके बाद जिसकी इच्छा हो, वह संन्यास ग्रहण कर सकता है। पर अक्सर लोग वानप्रस्थी रहकरही विद्याध्यापनका काम करते थे, क्वचित् ही कोई संन्यास ग्रहण करता था।

वह चाहे वानप्रस्थी रहे या संन्यासी, उसका अपना घर नहीं होता था। उसे "अनिकेत" (जिसका अपना घर न हो) कहते थे। न उसका अपना घर होता था और न अपना व्यापार ही। उसकी वृत्तिही धन कमानेकी नहीं होती थी, इसलिए धन कमानेके साधनोंकी भी आवश्यकता उन्हें नहीं पडती थी।

वैदिक परिभाषामें संन्यासीकी एक संज्ञा 'व्रात्य' भी है। ये व्रत करनेवाले अथवा घूम फिरकर उपदेश देनेवाले होते थे। वानप्रस्थी गुरुकुलमेंही रहते थे, वे घूमते नहीं थे। पर संन्यासी एक स्थानपर बहुत कालतक नहीं रहते थे अर्थात् सर्वत्र घूमकर उपदेश करते थे।

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षक

आजकी भाषामें हम यह कह सकते हैं कि वानप्रस्थी "राष्ट्रीय शिक्षक" हैं और व्रात्य अथवा संन्यासी अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षक हैं। स्मृतियोंमें व्रात्य पतितका वाचक है और अथर्ववेदमें "परमपूजनीय" का। ज्ञानी और विद्वान् उपदेशक देशविदेशमें घूम घूमकर धर्मप्रचारका कार्य करते थे, इसलिए सब लोग उनका सम्मान करते थे।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी (अथवा व्रात्य) तीनों ही अन्योंकी मददपर जीवन व्यतीत करनेवाले होते थे। पैसोंके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता था।

ब्रह्मचारी अपने विद्याध्ययनमें तत्पर रहते थे और वानप्रस्थी अपने अध्यापनके कार्यमें व्यस्त रहते थे और संन्यासी उपदेश करते हुए सर्वत्र उपदेश करते थे। इसकारण वे लोगोंके आदरके पात्र बनते थे।

इन तीनोंका व्यवहार धनके अभावमें भी चलता रहता था। संन्यासी तो किसी गांवमें ३ दिनसे अधिक नहीं रहता था। इसकारण किसीपर भी अधिक भार नहीं पडता था। इसीतरह ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी गुरुकुलमें ही रहते थे और वहीं उनका पालनपोषण होता था, इसलिए उनका भी भार किसीपर नहीं पडता था। इसतरह किसी एक व्यक्तिपर इनका भार न पडनेके कारण शिक्षण और धर्मप्रचारका काम अप्रतिहत गतिसे चलता था। यही राष्ट्रके जीवित रहनेका लक्षण है। आज संस्थाओंके लिए धन मांगना पडता है और वह देनेके लिए कोई उत्सुक नहीं दिखाई देता।

गृहस्थाश्रम

अब हम गृहस्थाश्रमपर विचार करें। ब्रह्मचारी १२ वर्षतक गुरुकुलीय अनुशासनमें रहकर, यम-नियम पालन करनेका व्रत आत्मसात् करके, शम, दमका पालन करनेवाले अपने गुरुजनोंका आदर्श सामने रखकर और तद्वत बननेका प्रयत्न करके और गुरुजीकी आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेकी तैय्यारीसे घर आता था। आचार्योंका आदर्श और ध्येय ही उसका भी आदर्श और ध्येय रहता था। गुरुकुलके १२ वर्ष तो वह कठोर तपस्यामें बिता देता था। ये तरुण प्रायः ध्येयवादीही होते थे। समावर्तनके बाद भी वह ध्येयवादीही होते थे। समावर्तनतक इनका धनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता था। गुरुकुलकी ओरसे ही उनका पालनपोषण होता था। इसलिए उन्हें पैसेकी उपयोगिताकी कल्पना भी नहीं होती थी। उन्हें पुस्तकोंके आधारपर जो कुछ व्यवहारकी कल्पना आ सकती थी, बस, उतनाही उन्हें ज्ञान होता था।

मेरा परिवार

ऐसे यह तरुण गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर विवाह करता था। नवीन वातावरणमें आकर उसे काम करना होता था। इससे पूर्व मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, मेरा परिवार, मेरा धन इसप्रकारके मेरे पनके विचारोंसे वह बहुत दूर था। घर, अन्न परिवार आदि जो भी कुछ गुरुकुलमें होता था, वह सबका मिलकर होता था। अब वह उस वातावरणसे निकलकर "मेरे और पराये" के वातावरणमें आता है।

स्वामित्वकी इच्छा

मनुष्यमें स्वामित्वकी इच्छा होती है। स्वामित्वकी मनमें गुप्त इच्छा होती ही है। 'मैं सम्पत्तिका स्वामी बनूं' इस तरहकी इच्छा मनुष्यको दौडाती रहती है। ब्रह्मचर्या-

श्रममें इस इच्छाकी पूर्तिका कोई प्रश्नही उठता। वह इच्छा गृहस्थाश्रममेंही पूर्ण हो सकती है।

गृहस्थाश्रममे आकर यह सम्राट् और उसकी पत्नी सम्राज्ञी बन गई। वह घर, जमीन, गाडी घोडे, नौकर चाकर इन सब पर अपना अधिकार चलाने लगा। स्वामित्वकी उसकी इच्छा अब जाकर पूर्ण हुई। इस पूर्णतासे उसके मनका समाधान हुआ।

ऐसी स्वामित्वकी अवस्थामें भी वह अपने पूर्वाश्रमके कालमें सीखे हुए समत्वभावके कारण अपने सेवकों और कर्मचारियोंके साथ उन्मत्तताका व्यवहार नहीं कर सकता।

तीन आश्रमोंका आधार

गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमोंका पालन करनेवाला आश्रम है। सब नागरिक कर्तव्योंका भार इसपर ही रहता है। इसलिए गृहस्थाश्रमीको धनका अर्जन भी करना पडता है और उसका दान भी। यज्ञ करने चाहिए। अनेक व्यवसाय और कार्य करने चाहिए। इसतरहसे यह गृहस्थाश्रम चलता है। अतिथियोंकी सेवा करना, गुरुकुलोंको सम्पन्न करना, ग्रामसभा और राष्ट्रसमितिका काम देखना आदि कार्योंमे ही उसका समय बीत जाता है। यह सभी काम करके वह यशस्वी होता है। इसप्रकार २५ वर्षतक गृहस्थाश्रमका सुख भोगकर वह वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी तैय्यारी करता है।

इसप्रकार आश्रमोंकी वैदिकव्यवस्था थी। यह आश्रम-व्यवस्था " अव्यय राज्यशासन " का एक हिस्सा थी। इस व्यवस्थाके अनुसार मनुष्यके १०० वर्षके जीवनमें ७५ वर्ष तो धनके अभावमें भी आरामसे बीत जाते थे। लोगोंपर इस खर्चेका भार अप्रत्यक्ष रीतिसे पडता था। प्रत्यक्ष खर्चेका भार मनुष्यके लिए असह्य हो जाता है, पर यदि वही अप्रत्यक्ष रीतिसे हो तो सुसह्य हो जाता है। इसीप्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमका भार जनतापर पडता था, पर किसी एकपर इसका भार नहीं पडता था। ऋषि आश्रमों और ब्राह्मणोंपर राज्यकर नहीं लगता था, क्योंकि ये अध्यापनका काम मुफ्तमें करते थे।

इस विवेचनसे आश्रमव्यवस्थाकी कल्पना पाठकोंको मिल ही गई होगी। ब्रह्मचर्य और गृहस्थका पालन सभी त्रैवर्णिक करते थे, पर वानप्रस्थ और संन्यासका पालन कुछ थोडे ही करते थे। संन्यास तो बहुतही थोडे ग्रहण करते थे, विशेष योग्यतावालेही संन्यासाश्रममें प्रविष्ट हो सकते थे।

आगे चलकर ऐसा भी एक समय आया कि सभी बैरागी और गोसाई बनने लगे। इनकी संख्या करोड डेढ करोडतक पहुंच गई। अब इनकी संख्या घटने लग गई है। इसीतरह सम्राट् अशोकके समय भिक्षुओंकी संख्या एकदम बढने लगी। यह सचमुच राष्ट्रपर एक बडी भारी आपत्ति थी। पर वैसी स्थिति वैदिककालमें नहीं थी—

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः मोदमानौ स्वस्तकौ॥
(ऋग्वेद)

" लडके और पोतोंके साथ खेलते हुए अपने घरोंमें आनन्दसे रहें। " ऐसी वेदमन्त्रकी आज्ञा है। इस मंत्रपरसे प्रतीत होता है कि संन्यास बहुतही थोडे लोग लिया करते थे। जो ज्ञानी होते थे, वे ही धर्मप्रचार तथा ज्ञानप्रचारके लिए इस सन्यासको ग्रहण करते थे। दीक्षा देनेवाला गुरु प्रथम अपने शिष्यकी योग्यता देखता था, फिर उसे दीक्षा देता था। इसकारण अनधिकारियोंकी भीड इस आश्रममें नहीं होने पाती थी। इसीकारण प्रजाओंकी दृष्टिमें संन्यासीका बहुमान होता था।

वर्णव्यवस्था

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णोंमें प्रत्येक जातिका अन्तर्भाव हो जाता है। यजुर्वेदका वाजसनेयी संहिताके ३० वें अध्यायमें १८४ जातियोंका निर्देश है। ये सभी जातियां इन चारों वर्णोंमें समाविष्ट हो जाती हैं। इन वर्णोंके अपने अपने व्यवसाय भी बंट हुए है। प्राचीनकालमें ऐसा नियम था कि प्रत्येक जातिका व्यवसाय वह वह जाति ही करे, इतर जातिका व्यवसाय इतर जातिवाला न करे।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। (गी.)

" अपनी जातिका जो कार्य हो, उसे ही वह जाति करे। दूसरी जातिका काम न करे। " इस व्यवस्थापर राजाका नियंत्रण भी होता था। जातिके पंच भी इस नियमका अतिक्रमण होने नहीं देते थे। इस कारण स्पर्धा भी नहीं होती थी। स्पर्धासे व्यवसायमें कुशलता तो बढती है, पर लाभ कम होता है। इसलिए प्राचीनकालमें जातिवार धंधे बंटे हुए होनेके कारण कार्यमें कुशलता तो बढती ही थी साथ ही स्पर्धासे होनेवाली हानि भी टल जाती थी।

गांवोंमें प्रायः सभी धन्धेवाले मिलकर रहते थे और समयपर एक दूसरेकी सहायता करके पैसेका सम्बन्ध बीचमें न लाकर अपने अपने काम करते थे। इस तरहका व्यवहार आज भी गांवोंमें चलता है। पहले गांवोंमें बढई किसानोंके हल आदि सुधार देते थे, लोहार फावडा, कुदाल कुल्हाडी आदि बनाकर दे देते थे और फसल कटने पर उतना अनाज ले लेते थे। इसप्रकार बगैर पैसेके भी ग्रामीणजनोंका आपसी व्यवहार चलता रहता था।

पर अंग्रेजी राज्यके आने तथा अनेकों कल कारखाने निकल आनेसे एक नयाही दृष्टिकोण प्रजाके सामने आया और उस कारण यह ग्रामव्यवस्था टूट गई। अब तो आए दिन यूनियन्स बन रहे है। यह एक नया जातिभेद बनता चला जा रहा है। पूर्वकालमें जातिव्यवस्था थी, अब उसके स्थानपर संघोंका निर्माण हो रहा है। यदि आज भी व्यवहारमें पैसेको न लाकर ग्रामव्यवस्था अनायास ही लाई जाए, तो बहुत उत्तम हो, पर वैसी व्यवस्था आ सकेगी इसकी संभावना कम ही दिखाई देती है।

पूर्वकालीन ग्रामव्यवस्था वस्तुतः एक दूसरेके लिए उपयोगी पढनेवाली जातियोंका एक संघ ही था। ये जातियां एक दूसरेके लिए उपयोगी होती थीं और पारस्परिक सहकारिता से वे अपना योगक्षेत्र चलाती थीं। उसमें पैसेकी मुसीबत नहीं होती थी। वस्तुओं और कार्योंका विनिमय होता था। प्रत्येक दूसरेके लिए आवश्यक काम करता था और उसकी कीमत पैसोंमें न लेकर अनाज अथवा अन्य किसी वस्तुके रूपमें ले लेता था। जब वस्तुयें ही मिल जाती थीं, तब महंगाईका जीवनपर कोई अनिष्ट परिणाम नहीं होता था। आज पैसेका व्यवहार होनेके कारण महंगाई और सस्ताईका परिणाम तत्काल मानव जीवनपर दिखाई देने लगता है और उसके कारण ग्राम्यजीवन विस्खलित हो जाता है।

मनुष्यको प्रतिदिन एक सेर धान्यकी आवश्यकता होती है. उतना धान्य यदि उसे मिल जाए, तो उसका काम चल जाता है। फिर बजारमें चीजें मंहगी हों या सस्ती, उसे क्या मतलब? पर पैसेके आधारपर चलनेवाले व्यवहारमें यह सुविधा नहीं रहती। एक रुपयेमें बीस सेर गेहूं लेनेवाले परिवारको यदि आज एक रुपयेमें दो सेर गेहूं लेना पडे तो उसे वह आनन्द कहांसे मिल सकता है? मजूरी भी यदि दसगुनी बढ जाए तो कोई बात नहीं, पर यदि मजूरी तो चौगुनी बढे और मंहगाई बढ जाए आठगुनी, तो उससे प्रजाको कष्ट तो होंगे ही। इसलिए प्राचीनकालमें वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्थाके आधारपर समाजकी व्यवस्था इसप्रकार बनाई गई थी कि बिना पैसेके भी सबकी आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं। इसकारण तबके लोग सुखी थे।

हमने इस लेखमें ‘ अव्यय राज्यशासन ’ का विचार करते हुए वर्ण और आश्रमव्यवस्था किसतरह सहायक होती थी, यह बताया। इन दोनों पद्धतियोंमें और भी अनेकों ऐसी विशेषतायें है कि जिनसे उस समयके लोगोंको लाभ होता था।

संस्कार, धर्मकार्य, यज्ञ, शान्तिकर्म इष्टापूर्त आदि अनेकों धर्मकार्य ऐसे हैं, कि जिन्हें करनेसे सम्पत्तिका योग्य विभाजन होकर कारीगरों और शिल्पियोंको प्रेरणा मिलती है। अन्नदानसे समाजमें स्थिरता आती है और संगठन बढता है।

४१ अव्यय राज्यशासन (३)

कर्मफलत्याग

गीतामें कर्मफलत्यागके बारेमें बहुत कुछ कहा है। पर गीतासे भी पहले यह सिद्धान्त उपनिषदोंमें और संहिताओंमें संक्षिप्तरूपसे आया है। पर वहां वह अत्यन्त संक्षिप्तरूपमें आनेके कारण किसीके ध्यानमें नहीं आता और गीतामें वही विषय विस्तारसे प्रतिपादित होनेके कारण सबको अपनी तरफ आकर्षित करता है। इस लेखमें हम कर्मफलत्यागका ही विचार करेंगे।

कर्मफलका अर्थ

कर्मफलत्यागका विचार करनेसे पूर्व कर्मफलका क्या अर्थ है और उसका त्याग किस तरह हो सकता है, यह देखना आवश्यक है। गीताको व्यवहारके लिए न समझकर परमार्थ के लिए समझनेके कारण गीतामें प्रतिपादित अनेक बातें निरुपयोगीसी प्रतीत होती हैं। उन्हींमें “ कर्म, कर्मफल, और कर्मफलत्याग ’ की बात भी एक है।

आज “ कर्म कर्मफल और कर्मफलत्याग ’ का उच्चारण करते ही लोग यह समझते हे कि हम किसी अभौतिक और पारलौकिक विषयपर बोल रहे हैं। पर ये शब्द वस्तुतः पारलौकिक न होकर इहलौकिक ही हैं।

कर्मोंका स्वरूप

" कर्म " वही है, जो हम नित्यप्रति करते हैं। ज्ञानी पठन, पाठन, लेखन, उपदेश करना, प्रवचन करना, ग्रंथ लिखना आदि जो व्यवहार करते हैं, वह ज्ञानियोंका व्यवसाय है। यही ज्ञानियोंके द्वारा किए जाने योग्य कर्म हैं। रक्षण करना, सैनिक बनना, युद्ध करना, ग्राम नगरादिकी रक्षा करना, शासन करना, प्रभुत्व प्रस्थापित करना ये शूरवीरके काम हैं। ये ही क्षत्रियोंके कर्म हैं। व्यापार, व्यवहार, खेती, मालोंका लाना ले जाना व विनिमय करना, पशुपालन आदि वैश्योंके कर्म है। शूद्रोंका काम नौकरी चाकरी और शिल्पका व्यवसाय है। इस शिल्पमें अनेक तरहकी कारीगरियोंका समावेश होता है। इन सभी व्यवसायोंको कर्म कहते हैं। ये कर्म सदा चालू हो रहते हैं। सभी जगह ये कर्म चलते रहते हैं।

कर्मका फल

इन कर्मोका जो फल मिलता है, वह कर्मफल है। स्कूलमें शिक्षक महिनाभर सिखानेका काम करके महीनेके अन्तमें वेतन लेता है। यह उसका कर्मफल है। कर्मकी योग्यता और दायित्वके अनुसार यह कर्मफल छोटा बडा हो सकता है। पर कर्ताको कर्मफल मिलता है, इसमें कोई शक नहीं।

पर आजके लोग स्नानसंध्या, पूजा, होमहवनको ही कर्म मानते हैं और इनका फल पारलौकिक मानकर समझते हैं कि गीतामें इन्हीं कर्मोका विचार किया गया है। पर यह उनका मानना दोषपूर्ण है। गीतामें जिन कर्मोका विचार किया गया है, वे मानवीय व्यवहारके ही कर्म हैं। उन व्यावहारिक कर्मोका जो प्रतिफल मिलता है, उसीको गीताके शब्दोंमें कर्मफल कहा गया है। इसी कर्मफलको त्यागना चाहिए।

आज वेतनवृद्धिके लिए सर्वत्र आन्दोलन चल रहे हैं। ऐसे समयमें यदि हम " वेतनत्याग " का राग अलापें, तो वह किसीको पसन्द नहीं आएगा। पर हम यहां भारतीय संस्कृतिके एक अपूर्व शासनव्यवस्थापर विचार कर रहे हैं। इस व्यवस्थामें वेतन लिए बिना ही उत्तम शासन चलता था और किसीको कठिनाई नहीं होती थी। इसलिए पेश्तर इसके कि हम इस पद्धतिपर अनुकूल या प्रतिकूल विचार करें, हमें यह जान लेना चाहिए कि यह पद्धति कैसी थी। इसके बाद हम उस पद्धतिकी योग्यता और अयोग्यता के बारेमें निश्चय करें।

कर्मफलका अर्थ है वेतन या मजदूरी। किसीको प्रतिदिन मजदूरी मिलती है, किसीको सप्ताहमें, किसीको पन्द्रह दिनमें और किसीको महीनेमें। पर कहलाता वह वेतन ही है और वही कर्मफल है। यह वेतन न लेना ही कर्मफलत्याग है। कर्म तो करे पर उसका फल न ले।

कर्ताका योगक्षेम

" कर्मफलत्याग " किसप्रकार होता था और कर्ताका योगक्षेम किस प्रकार चलता था, वह द्रष्टव्य है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
(गी २।४७)

(१) कर्म करनेका तुझे अधिकार है, (२) फलपर तेरा अधिकार नहीं है। (३) कर्मफलकी इच्छा तू मनमें धारण न कर, (४) और कर्म न करनेकी तरफ भी तेरी प्रवृत्ति न हो। इस श्लोकमें भी यही कहा है कि कर्म कर, पर उनका फल तू मत ले। महीनाभर तो कसकर काम करें और महिनेके बाद वेतन न लें, भला यह कैसे हो सकता है? आज यह विलक्षण दीखता है, पर भगवद्गीताको यह संभव प्रतीत होता था, इसीलिए गीताने कर्मफलत्यागके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है।

प्राचीनकालमें कर्मफलभोगी और कर्मफलत्यागी इसप्रकार दो तरहके कर्मचारी होते थे। कर्मफलभोगी कर्मचारी प्रत्येक मासके अन्तमें अपना वेतन ले लेता था, और कर्मफलत्यागी अपना वेतन नहीं लेता था। इनमें श्रेष्ठता किसकी, यह भी प्रेक्षणीय है—

दोनों तरहके कर्मचारियोंका अपना परिवार है, स्त्रीबच्चे हैं, जो वेतन लेता है, उसकी घरगिरस्ती किसप्रकार चलेगी यह तो हम जान सकते हैं। आज प्रायः सभी वेतन लेनेवाले हैं, और उनकी गृहस्थी चल रही है। पर जो वेतन ही नहीं लेते, उनकी गृहस्थी किसप्रकार चल सकेगी, यह एक प्रश्न है। पर इस प्रश्नका उत्तर भगवान् देते हैं।

योगक्षेमं वहामि अहं। (गी.)

" जो कर्मफलका त्याग करके राष्ट्रसेवाका कार्य करते है, उनका योगक्षेम मैं चलाता हूं।" भगवान् नियन्ता और शासक हैं, इसलिए जो नियन्ता और शासक है, उनका यह कर्तव्य है कि वे ऐसे कर्मफलत्यागियोंका योगक्षेम चलायें। स्वयंसेवक अपने ऊपर सौंपी गई जिम्मेवारीको पूरा करनेमें कोई कसर न छोडे, उन किए गए कामके बदलेमें वे कुछ वेतन न लें और ऐसे स्वयंसेवकोंका योगक्षेम शासन चलाए। यह योजना यदि सचमुच ऐसी ही है, तो वह संभाव्य है, उसमें सन्देह करनेकी कोई गुंजाइश नहीं है।

इसप्रकार कार्यकर्ताओंके दो वर्ग हैं- (१) कर्मफलभोगी और (२) कर्मफलत्यागी। ये दोनों ही राष्ट्रकी सेवा करते हैं। पर प्रथम वर्गके लोगोंको उनके कार्योंका भरपूर प्रतिफल देना पडता है जब कि दूसरे वर्गके लोगोंका सिर्फ योगक्षेम चलाना पडता हैं। पहले वर्गके लोगोंको वेतनधारी और दूसरे वर्गके लोगोंको स्वयंसेवककी संज्ञा दी जा सकती है।

वेतन पानेवालोंका ध्यान वेतनकी तरफ अधिक और अपने कार्यकी तरफ कम रहेगा उनकी हमेशा यही मांग रहेगी कि उन्हें यथासमय वेतन मिलता रहे, वक्त आनेपर उसमें वृद्धि हो, बीचमें विश्राम मिले, बोनस मिले, ग्रेच्युइटि मिले। उनकी मांगोंपर विचार किया जाए तो पता चलेगा कि उनके ऊपर होनेवाले व्ययका भार राष्ट्रके कोषपर दिन ब दिन बढता ही जाएगा और इस भारको टाला नहीं जा सकता। इसकारण एक समय ऐसा आएगा, कि जब यह भार राष्ट्रके लिए असह्य हो जाएगा और एक दिन राष्ट्रका दिवाला पिट जाएगा।

दूसरी तरफ इन वेतनभोगी सेवकोंकी घरकी स्थितिपर नजर डाली जाए, तो वह भी समाधानकारक नहीं दीखती। गृहस्वामी प्रतिमास हजार, दो हजार रु. वेतन लाता है। उसे सुरक्षित रखनेके लिए एक तिजोरीकी आवश्यकता होती है, बेंकमें रखनेमें यह डर बना रहता है कि बेंक ही दिवालिया न बन जाए। घरमें रखा जाए तो एक पहरेदारकी जरूरत होती है। जेवरात बनवाये जाएं तो चोरोंका डर बना रहता है। इसप्रकार दिनरात एक प्रकारकी चिन्ता बनी रहती है। यदि खर्च जरा अधिक हो जाए, तो उसे बराबर करना मुश्किल हो जाता है। दूसरे जो आर्थिक दृष्टया कमजोर होते हैं, वे लूटमारका बाजार गरम कर देते हैं और इसप्रकार गुनाहोंकी तादाद बढती चली जाती है। ऐसे लोगोंको एक ही अनुभव आता है वह यह कि धनके-

"आये दुःखं व्यये दुःखं" इसलिए "धिगर्थाः कष्टकारणं"। धन मिल जाए तो भी दुःख है, उसका व्यय हो तो भी दुःख है, इसलिए धन बडा ही कष्टकारक है। वस्तुतः यह दुःख धनके आयव्ययमें नहीं है, अपितु—

रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
(गी. १८।२७)

"कर्मफलको अपने पास रखनेकी अभिलाषा करनेवाला यह भोगी लोभी, अपवित्र और हिंसा करनेवाला है, इसीलिए उसे दुःख होता है। यदि वह अपने कर्मफलको भोगनेकी वृत्ति छोड देगा और कर्मफलका त्याग करने लगेगा तो उसका दुःख दूर हो जाएगा। अपना वेतन स्वयं भोगना, दूसरोंको न देना, उसपर अपना ही अधिकार समझना ही लोभ है। दूसरोंको देना न पडे, इसलिए पचास बहाने बनाने पडते हैं उसके कारण अपवित्रताका निर्माण होता है और उसके कारण उसे दुःख भोगने पडते हैं। उसके विपरीत—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति।
(गी. ५।१२)

"कर्मफलका त्याग करनेपर शान्ति प्राप्त होती है।" यह वृत्तिका भेद है। भोगवृत्ति और त्यागवृत्तिमें यह भेद है।

नित्यनैमित्तिक आवश्यकतायें

कोई मनुष्य कर्मफलत्यागी भले ही हो, फिर भी उसकी नित्य नैमित्तिक आवश्यकतायें तो रहती ही हैं। रहनेके लिए जगह, भूख लगनेपर अन्न, प्यास लगनेपर पानी, शरीर ढकनेके लिए वस्त्र, रोगनिवारणके लिए औषध, आदि नित्य नैमित्तिक आवश्यकतायें मनुष्यके सामने होती ही हैं। इन आवश्यकताओंका कभी अभाव नहीं होगा। इन आवश्यकताओंकी पूर्ति भी आवश्यक ही है। बच्चे होनेपर उनका पालन-पोषण और शिक्षण तो होने ही चाहिए। इन आवश्यकताओंकी पूर्ति किस प्रकार हो, यह प्रश्न यहां है। ये सभी आवश्यकतायें शासन पूरी करे, यह भगवान्का कथन है। इसपर यही एक उपाय है।

सरकारकी जिम्मेदारी

सरकारपर यह जिम्मेवारी है कि वह इन स्वयंसेवकोंके

रहने, ओढने, बिछाने, खाने, पीने आदि सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

स्वयंसेवक शासनसंस्थाकी सर्वतोमना सेवा करे और शासनसंस्था ऐसे स्वयंसेवकोंकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति करे। इसतरह शासनसंस्थापर भी व्ययका असह्यभार नहीं होगा और स्वयंसेवकोंको भी कष्ट न होंगे।

ऐसी व्यवस्थामें " कर्मफलत्याग " का सिद्धान्त सबके लिए फायदेमन्द हो सकता है। इसी व्यावहारिक दृष्टिसे इसका विचार करना चाहिए।

कर्मफलत्यागके भेद

कर्मफलत्यागमें भी अनेक भेद हैं। सभी स्वयंसेवक स्वयं सेवा करनेवाले हों, वे अवैतनिक हों, तो भी कर्मफलत्यागके विवरणमें भेद हैं उन भेदोंको सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेकी जरूरत है। इन भेदोंका उल्लेख गीतामें किया है। पर उन सूक्ष्म भेदोंकी तरह किसीका ध्यान नहीं जाता, इसका कारण सिर्फ यही है कि लोगोंका ख्याल यही है कि गीता व्यावहारिक न होकर पारमार्थिक है। इसलिए उसपर व्यावहारिक दृष्टया कोई विचार नहीं करता। अनेकों सदियोंसे गीताको एक पारमार्थिकग्रंथ माननेके कारण उन उन पारिभाषिक शब्दोंके भौलिक अर्थ तो लुप्त हो गए और वे ही पारिभाषिक शब्द परमार्थके सांचेमें ढल गए या ढाल दिए गए। इसलिए गीतोक्त राज्यव्यवस्था भी अदृश्यसी हो गई। पर यदि हम गहराईमें उतरकर एक संशोधककी नजरसे देखें और उन शब्दोंपर व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करें, तो हमें आज भी उन शब्दोंके मौलिक अर्थ नजरमें आने लगेंगे और यह भी पता लग सकेगा कि प्राचीनकालमें राज्यव्यवहार किस रीतिसे चलता था।

- कर्मफलका अनाश्रय
- कर्मफलका त्याग
- कर्मफलन्यास
- कर्मफल संन्यास
- कर्मफल दान
- कर्मफल समर्पण

इन शब्दोंकी तरफ देखनेसे ज्ञात होगा कि ये शब्द अलग अलग व्यवहारोंके निदर्शक हैं। भला कर्मफलका अनाश्रय और कर्मफलका संन्यास " एक कैसे होगा ? कर्मफलका समर्पण करनेके लिए उसपर प्रथम अपना अधिकार होना चाहिए। पर यदि कर्मफलका अनाश्रय लेना हो, तो कर्मफलपर अपने अधिकार स्थापनाकी कोई अवश्यकता नहीं है। प्रत्येक शब्दका हम यदि सूक्ष्म अर्थ देखें तो हमें प्रतीत होगा कि ये सभी व्यवहार पृथक् पृथक् हैं। ये व्यवहारके प्रकार हैं। पर इन सबमें एक बात अवश्य समान है और वह है " अपने कर्मका फल न भोगना। " अब हम इनमें सूक्ष्मभेदोंका विचार करें।

कर्मफलका अनाश्रय

" अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।। (गी ६ १)

" कर्मफलका आश्रय न करके जो अपना कर्तव्य करता रहता है। " अपने कर्तव्य उत्तम रीतिसे करने ही चाहिए। उसमें जरा भी अनवधानता न हो, पर अपने वेतनरूप फलका आश्रय हम न लें। इसे करने के लिए मनुष्यको ऐसा करना चाहिए कि उसे वेतनके आश्रयसे जीवन निर्वाह करनेकी आवश्यकता ही प्रतीत न हो।

कल्पना कीजिए कि एक प्राध्यापक है। उसके अपने घरमें हजार दो हजारकी आय होती है और उस उत्पन्नसे उसका उदरनिर्वाह उत्तम रीतिसे हो सकता है। अपने उदर निर्वाहके लिए अपने प्राध्यापकीय व्यवसायके वेतनका उसे आश्रय नहीं लेना पडता। इसलिए वह यह कहता है कि मैं महाविद्यालयमें प्राध्यापकीका काम करूंगा अवश्य, पर उसे अपना कर्तव्य समझकर ही करूंगा, अतः मुझे वेतनकी जरूरत नहीं है।

यदि समाजके विद्वानोंमें ऐसी प्रवृत्ति बढ जाए, तो कर्मफलका अनाश्रय करनेवाले बहुतसे आदमी मिल जाएंगे पर आजकल धनपूजा ही बढती जा रही है, इसलिए ऐसा वर्ग अस्तित्वमें होगा, यह बात किसीको सत्य भी प्रतीत नहीं होती।

कर्मफलत्याग भी कर्मफलके अनाश्रय जैसा ही है। वेतन लेना ही नहीं, अथवा लेकर उसे धर्मके लिए दानमें दे डालना इसीको कर्मफलका दान कहते हैं। वेतन लेकर इसे अपने उपभोगके लिए खर्च न करके दूसरेको दे देना ही कर्मफलका त्याग है। ऐसे कितने ही मनुष्य हैं, जो अपने वेतनका उपयोग विद्यार्थियोंके स्कूलकी फीस देने और उन्हें पुस्तकें देने आदि कामोंमें करते हैं। कर्मफलका आश्रय न करना और उसका

दान करना ये दोनों व्यवहार बिल्कुल भिन्न हैं ।

कर्मफलका संन्यास

संन्यास अथवा संन्यासीका अर्थ हम आज "गेरुवे वस्त्र पहननेवाला" समझते हैं । पर प्राचीन वेदकालमें इन शब्दोंका व्यावहारिक अर्थ दूसरा होता था । ये मौलिक व्यावहारिक अर्थ इतने गर्भमें विलीन हो गए हैं कि आज कोशमें उनका वैसा अर्थ नहीं मिलता । पर आज भी हमारे वाङ्मयमें उनके अवशेष मौजूद हैं, कि जो ढूंढने पर मिल सकते हैं ।

प्राचीनकालीन वाङ्मयमें "सभूय समुत्थान" की बडी महिमा गाई गई है –

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते ।
तत्संभूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् ॥
(नारदस्मृति)

कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः ।
आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात् सहक्रियाम् ।
(बृहस्पतिस्मृति)

"वैश्य आदि व्यापारी सम्मिलित होकर जो कार्य करते हैं, उस सम्मिलित व्यापारको "संभूय समुत्थान" कहते हैं । कुलीन, चतुर, उद्यमी, ज्ञानी, मुद्राओंका ज्ञान रखनेवाले, आय-व्ययमें प्रवीण, व्यापार, व्यवहारमें शुद्ध आचरण करने-वाले और शूरवीरोंके साथ सहकार्य करे ।" इस संभूय समुत्थानको प्राचीनकालीन रीतिका आधुनिकतमरूप आजकी कम्पनियां तथा लिमिटेड हे । वेदोंमें "पणी" व्यापारी संघके प्रतीक हैं । ये युद्ध भी करते थे । इन्द्र जैसोंके साथ दो चार हाथ करनेके लिए भी तैय्यार रहते थे ।

ऐसे व्यापार व्यवहारमें धनिकजन अपने धनका कुछ भाग व्यापारकी सुविधाके लिए एक जगह रख देते थे और भी अन्य अनेक व्यापारी एकत्र होकर इस कोषको खडा करते थे । इस कोषमें हरएक व्यापारी जो व्यक्तिशः धन रखता था, उसे 'संन्यास" कहते थे । इसप्रकार अनेक मिलकर (सं) धनकी पूंजी इकट्ठी करके (न्यास) रखते थे, उसे संन्यास कहा जाता था ।

आज संन्यास शब्दसे जिन गेरुवे वस्त्रोंकी कल्पना करते हैं, वह कल्पना गीताके कर्मसंन्यासमें नहीं है । कर्मफलके रूपमें हमारे पास जो धन आया हो, उसे धरोहरके रूपमें किसी भी संभूय समुत्थानके कार्यमें लगाना, और उससे जो लाभ हो, उसका उपयोग राष्ट्र या समाजके हितके लिए करना ही "कर्मफल सन्यास" है । इसमें अपनेको कर्मफलके रूपमे मिलनेवाले धनको ग्रहण करके उसे धरोहरके रूपमें सुरक्षित रखनेकी रीतिका भी वर्णन है । पर उसे सार्वजनिक हितके लिए ही सुरक्षित रखना चाहिए, यही बात यहां मुख्य है ।

यहां सन्यासका पारलौकिक कल्पनाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐहिक अर्थव्यवस्थाके साथ ही इसका सम्बन्ध है । यहां इस शब्दका आशय ही यह है कि धनकी राशि एकके पास इकट्ठी होकर न रहे, अपितु उसका उपयोग सार्वजनिक हितके कामके लिए हो । आजकी तरह "सार्वजनिक हित" शब्दोंका प्रयोग उस कालमें नहीं किया जाता था । "सार्व-जनिक हित" के आशयको व्यक्त करनेके लिए उस 'यज्ञ" शब्दका उपयोग किया जाता था । 'यज्ञ" शब्दसे (१) महापुरुषोंका सत्कार, (२) मनुष्योंका संगठन और (३) दीनोंकी सहायता इन तीन कर्तव्योंका बोध होता था । जिन कार्योंसे इन तीन कर्तव्योंकी पूर्ति हो वही यज्ञ है । इन तीन अर्थोंका आशय है "सार्वजनिक हित" और उसमें पवित्रता-का समावेश और हो जाए तो वही यज्ञ बन जाता है ।

कर्मफलका अनाश्रय, कर्मफल त्याग, कर्मफलका दान, कर्म-फलका न्यास और कर्मफलका समर्पण इन सबका एक ही भाव है कि अपने कर्मका जो धनादिके रूपम फल प्राप्त हो, उसका स्वयं उपभोग न करके सार्वजनिक हितके लिए उपयोग करना । प्राध्यापक यदि अपना वेतन न लें और अपना काम उत्तमरीतिसे करें, तो राष्ट्रके कोष पर धनके व्ययका भार नहीं पडेगा । अपना वेतन धरोहरके रूपमें किसी कार्यमें लगा दिया जाए और उसके लाभका उपयोग जनहित और धर्मकार्यके लिए किया जाए, यही भाव यहां मुख्य है ।

यह थी प्राचीन पद्धति । पर यह समझना गलत होगा कि सभी काम बिना वेतनके होते थे । कुछ सेवक वैतनिक भी होते थे । वैतनिकोंका मान कम और अवैतनिकोंका मान अधिक होता था । शरीरमें इन्द्रिय वैतनिक सेवक हैं और प्राण अवैतनिक स्वयंसेवक हैं । इन्द्रियोंकी अपेक्षा प्राणोंका महत्त्व अधिक है । यही स्थिति राष्ट्रमें वैतनिक और अवैतनिक सेवकोंकी है ।

कल्पना कीजिए, किसीके घरमें कुछ उत्सव है । प्रत्येक गृहस्थ अपने घर हाथी, घोडे आदि पाल नहीं सकता । अतः यदि उत्सवोंके ये साधन सरकारी हों तो ग्रामीणोंको ये

साधन समय पर मिल सकते हैं। इन सामूहिक साधनोंके कारण उत्सवके कार्य बड़े ही ठाठ-बाटसे हो सकते हैं, और किसी एक व्यक्ति पर इतना भार नहीं पड सकता। यह सामूहिक योजना अनेक तरहसे की जा सकती है। यदि ये सामूहिक योजनायें इस प्रकार चलाई जायें, तो अव्यय राज्य-शासन हो सकता है।

राष्ट्रीयव्यवहारकी दृष्टिसे " कर्मफलत्याग " के सिद्धान्त का विचार व्यापक दृष्टिसे करना चाहिए। इसके लिए अवैतनिक स्वयंसेवकोंके लिए राष्ट्रव्यापी योजनायें बनाई जायें, तो राज्यशासन कम खर्चीला और सबके लिए सुख-दायी होगा। त्यागमय राज्यशासनका अर्थ कष्टपूर्ण राज्य शासन नहीं है। इस राज्यशासनमें वैसे कष्ट होने संभव नहीं हैं। सभी आवश्यक सुखके साधन सरकारकी तरफसे दिए जाते थे। वे साधन पैसेके रूपमें न देकर वस्तुके रूपमें दिए जाते थे। पैसेके कारण आवश्यक धान्य कम ज्यादा मिलनेकी सभावना रहती है, पर यदि वह वस्तुके रूपमें लिया जाए, तो लेनेवालेका नुकसान नहीं होता।

इसीप्रकार जमीन भी मनुष्यको कामके अनुसार दी जाती थी। जमीनका स्वामी जमीनमें काम करे और उस जमीनसे उत्पन्न पदार्थोंका उपभोग करे। जो काम करता, उसे ही जमीन मिलती थी और जबतक वह जमीन पर परिश्रम करता तबतक वह जमीन उसके पास रहती थी।

इस गीतोक्त " कर्मफलत्याग " के सिद्धान्तके अनुसार आजके राज्यशासनका गठन किया जाए। प्रजा अपनी आवश्यकताओंको कम करे और सरकार प्रजाको ज्यादासे ज्यादा सुखसुविधायें देनेका प्रयत्न करे। इसतरहसे चलाया गया राज्यशासन कम खर्चीला अर्थात् " अव्यय राज्य-शासन " होगा।

ॐ ॐ ॐ

४२ अव्ययराज्यशासन ४

श्रेष्ठमानव निर्माण

भारतीय राज्यशासनमें अथवा भारतीय जीवनमें " मानव-निर्माण " का भाग विशेष था। इस पृथ्वी पर उथल पुथल करनेवाला मनुष्यके सिवाय और कोई दूसरा नहीं है। अतः यदि यह मनुष्य ही ठीक न हो तो उसके कारण होनेवाले कर्म भी ठीक नहीं हो पायेंगे, यह स्पष्ट है।

शासनका संविधान भले ही कितना भी उत्तम हो, पर उसे व्यवहारमें लानेवाले लोग जैसे होंगे, वैसा ही वह व्यवहारमें आएगा। लोग यदि स्वार्थी होंगे, तो कालाबाजार होगा ही तथा अन्य व्यवहारोंमें भी इसी तरह काले कारनामें होते रहेंगे। रिश्वत लेने और देनेवाले जहां रहेंगे, वहां रिश्वतखोरी चलेगी ही। जहांके लोगोंके रहनेकी व्यवस्था गन्दी होगी, वहां लोगोंमें रोग बढेंगे ही और वहांकी मृत्यु-संख्यामें वृद्धि होगी ही। इस तरह जैसे मनुष्य होंगे, वैसा ही उनका व्यवहार होगा, इसलिए यदि हमें यहां स्वर्गीय सुख प्राप्त करनेकी इच्छा हो, तो हमें ऐसे मनुष्योंका निर्माण करना पडेगा, कि जिनमें दिव्य गुण विकसित हों। आर्योंकी समाजव्यवस्थामें मानवनिर्माणके मुद्दे पर जो ज्यादा जोर दिया जाता था, वह इसीकारण दिया जाता था।

कुशल कारीगरके पास उत्तम साधन हों, तो उनके जरिये वह उत्तम मूर्तिका निर्माण कर सकेगा, पर यदि उसमें कुशलता ही न हो तो वह श्रेष्ठ मूर्ति बनानेकी अपेक्षा उसे बिगाड अवश्य देगा। यही बात राष्ट्रनिर्माणके बारेमें भी सत्य है।

जीवनके चार भाग

पिछले अध्यायोंमें आर्योंके जीवनके चार भाग दिखाये थे। उन भागोंमें जो नियमोंका सांचा होता था, उन सांचोंमेंसे ढलकर निकला हुआ व्यक्ति आदर्श होता था। प्रथम ब्रह्म-चर्याश्रमका पालन २२-२५ वर्ष तक होता था। इस आयुमें योगसाधनाका अभ्यास प्रत्येकके लिए आवश्यक था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (अपने पास अधिक भोग संग्रहका न रखना), स्वच्छता, संतोष, कष्ट सहन करनेकी शक्ति बढाना, विद्याध्ययन, ईश्वर पर दृढ विश्वास ये यम-नियम सबको पालने पडते थे। पाठ्यक्रममें ही इनका समा-वेश होता था, इसलिए विद्यार्थियों पर इस साधनाके उत्तम संस्कार पडते थे और उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि जिससे वे उत्तम पुरुष बनते थे।

अहिंसा जिसके अन्तःकरणमें होगी वह दूसरोंसे ऐसा व्यवहार करेगा कि उसके व्यवहारके कारण दूसरोंको किसी-

तरहका दुःख न होगा। काया वाचा और विचारसे अहिंसा का पालन करना होता है। वह जब सोचेगा या बोलेगा, तब उसके इन व्यवहारसे दूसरोंको कोई कष्ट न होगा। ऐसा नागरिक निस्सन्देह उत्तम होगा। इसीतरह जिस मनुष्यके व्यवहारमें सत्य और अस्तेय रहेगा, उसका व्यवहार उत्तम होगा ही।

गुरुकुलका रहन सहन भी कुछ इस तरहका होता था कि जिसमें हिंसा, असत्य, चोरी आदिका व्यवहार करना ही नहीं पडता था। इसप्रकार "पुरुषका पुरुषोत्तम" बननेके अत्यन्त योग्य और उच्च परिस्थितिमें विद्यार्थियोंके १४।१६ वर्ष गुजर जाते थे। इसकालमें उनका ऐसे जगत्से सम्बन्ध भी नहीं आता था कि जिसमें हिंसा और क्रूरचोरताकी आवश्यकता होती है। इसकारण वह शुद्ध होकर ही गुरुकुलसे बाहर निकलता था।

ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थाश्रममें उस तरुणका प्रवेश होता था। गृहस्थाश्रममें उसे यज्ञ करने पडते थे। धनका अर्जन करके उस धनका उपयोग यज्ञ करनेमें करता था—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(यजु. ४०।२)

जीवन भर यज्ञ करनेका आदर्श उसके सामने रहता था। ब्रह्मचर्याश्रममें यही उपदेश उसे दिया जाता था। इसके अलावा वह अन्य अनेक उत्तम गृहस्थियोंका यही श्रेष्ठ आदर्श वह देखता था। वह यह भी देखता था कि ऐसे यज्ञ करनेवालोंका सम्मान होता है। इसकारण उसे यही प्रेरणा मिलती थी कि मैं ये यज्ञ करता रहूं और वह हमेशा यही महत्त्वाकांक्षा धारे रहता था कि मैं ये यज्ञ करते हुए सौ वर्ष जीऊं। मान्यजनोंका सत्कार, समाजका संगठन, दीनोंकी सहायता, यही यज्ञके मुख्य उद्देश्य होनेके कारण इन यज्ञोंको करनेसे समाजकी सतत उन्नति होती रहती है।

यज्ञसे सत्प्रवृत्ति

यज्ञकी दीक्षा लेना, व्रतस्थ रहना, अयज्ञीय दुष्टकर्म न करना इसप्रकारके बंधनोंमें रहनेके कारण ऐसे समयमें उससे बुरे काम नहीं होते। यज्ञोंका यह क्रम एकके बाद एक इस प्रकार सतत चलता रहता है। इसलिए जो इस मार्गसे जाता है, उसके इधर उधर भटकनेकी कोई संभावना नहीं रहती। इसप्रकार गृहस्थाश्रममें भी उसे इस यज्ञके अनुशासनमें रहना पडता है। जिन यमनियमोंका पालन उसने गृहस्थाश्रममें किया था, वे ही नियम सामाजिक जीवनका पालन करते हुए उसे गृहस्थाश्रममें पालने पडते हैं। सार्वजनिक व्यवहारमें रहकर अनेक मनुष्योंके साथ सम्बन्ध आने पर भी वह इसप्रकार उन्हीं यमनियमोंका पालन करता रहता है। जनसमुदायके सम्पर्कमें न आकर व्यक्तिशः यम नियमोंका पालन करना सरल है, पर व्यवहारमें पडकर अनेक लोगोंसे सम्बन्ध स्थापित करके यमनियमोंका पालन करना बहुत कठिन है। पर वह अब यज्ञके अनुशासनके कारण उनका पालन करता है। ऐसे अनुशासनमें उसका गृहस्थाश्रम पूर्ण होता है और तत्पश्चात् आयुके पचासवें वर्षके बाद वह वानप्रस्थाश्रमकी तैय्यारी करने लगता है।

वानप्रस्थी शिक्षक

वानप्रस्थाश्रममें वह गुरुकुलमें रहकर कुमारोंको विद्या सिखाता है। अर्थात् जो जीवन इसने कुमार वयमें बिताये, वही जीवन इसे फिर प्राप्त होता है। उस समय फिर उसका सम्पर्क लोगोंसे टूट जाता है। इस कारण इसे इस कठोर अनुशासनमें रहना सरल पड जाता है। इसके बादका आश्रम संन्यास अथवा विश्वकुटुम्ब वृत्तिका आश्रम है। यह आदर्श सभीके लिए आवश्यक नहीं था, कुछ ही विशेष योग्यताके विद्वान् इस आश्रममें प्रविष्ट होते थे।

श्रेष्ठ पुरुष बनने का कार्यक्रम

पहिली पच्चीसीमें विद्या प्राप्त की, दूसरी पच्चीसीमें उस विद्यासे अर्थका उपार्जन करके यज्ञ किए, तीसरी पच्चीसीमें राष्ट्रके पुत्र तैय्यार करनेका काम किया और चौथी पच्चीसीमें विश्वसेवा और वसुधैव कुटुम्बककी वृत्तिसे जीवनकी कृतकृत्यताका सम्पादन किया। इस प्रकारका यह कार्यक्रम था जो जीवन भर चलता रहता था।

मानवका अतिमानव बनना, पुरुषका पुरुषोत्तम होना, अथवा नरका नारायण होना, इन सबका अर्थ एकही है। यह कार्यक्रम सतत जागरूकतासे करते रहना चाहिए। इसमें जरा भी शिथिलता आ जाए, तो सभी कुछ धरा धराया रह जाता है। ऐसी अनेकों कथायें हमारे अध्ययनमें आती

हैं। विश्वामित्रने अनेक वर्षोंतक तप किया, पर मेनकाके दर्शन होते ही उनकी सब तपस्या बेकार हो गई। वसुराजा आकाशमें संचार करते थे, पर अल्पसे कारणसे उनकी यह शक्ति नष्ट हो गई। इस प्रकार अनेकों कथाओंको रचकर अनुशासन और दक्षताका महत्त्व लोगोंको बताया है। इस परसे अनुशासन पालनकी आवश्यकता कितनी है, यह पता चलता है।

समाजकी ऊंचाई

इतनी सावधानी बर्तने पर भी उनमेंसे कुछ मनुष्य कुमार्गी निकल ही आते है। पर ऐसे मनुष्योंकी सख्या जितनी कम होगी, उतनीही समाजकी उन्नति होगी। उपनिषत्कालीन एक राजा घोषणा करता है कि " न मे स्तेनो जनपदे " अर्थात् मेरे राज्यमें चोर नहीं, डाकू नही, निरक्षर नहीं, व्यभिचारी और व्यभिचारिणी नहीं। सम्पूर्ण राज्यमें यदि ऐसे गुनहगार एक दो हों तो उतनेसे राज्यकी व्यवस्थामें कोई बाधा नहीं आती। इस प्राचीन भारतीय सभ्यताके अवशेष आज भी हिमालयमें देखे जा सकते है। मौर्यकालमें ग्रीक भारतमें आए थे, उन्होंने यहां आकर देखा कि भारतमें किसीके भी घरमें ताले नही लगे थे। पर आज भारतमें यह स्थिति नहीं रही। पिछली अनेक सदियोंमें ग्रीक, हूण, यवन, ईसाई आदि आक्रमणकारी आए, वे अपने साथ अपने यहांके रीतिरिवाजभी लाये, उन रीतिरिवाजोंकी छाप भारतीयों परभी पडी। इसीकारण आज देशकी यह स्थिति हो गई है। हमारे देशमें चोर नहीं, व्यभिचारी नहीं, छलीकपटी नहीं, निरक्षर नहीं, इस प्रकार जिस देशके बारेमें छाती तानकर घोषणा की जाती थी, उसी देशमें आज चोरी, कालाबाजार, कपटयुक्त व्यवहार और अज्ञान इनका साम्राज्य छाया हुआ है। जिस देशमें ताले ठोकनेका रिवाज नहीं था, उसी देशमें आज तिजोरियां तोडी जाती हैं। भरदोपहर खून और चोरियां की जाती है। यह सब दी जानेवाली शिक्षाका परिणाम है।

इस लोकस्थितिपरसे " मानवनिर्माण " का महत्त्व जाना जा सकता है। दो हजारवर्ष पूर्व भारतीय मानवका निर्माण किस प्रकारका होता था, यह इतिहासपरसे स्पष्ट होता है। इसके बाद फिरंगी आए, और वे अपने साथ रोग भी ले आए। यवनोंके कारण गुण्डागर्दीका जोर हो गया। ईसाइयोंके कारण लोग मद्य और कपटव्यवहारके आदी हो गए, इसकारण आज अपना समाज दुर्गुणोंसे युक्त हो गया। जिसप्रकारका यत्न हुआ, वैसाही फल सामने आया।

कुसंस्कारों का दुष्परिणाम

अंग्रेजोंका शासन जब शुरु ही हुआ था, तब कागजातोंपर " मारुति और विठोबा " की साक्षीभी मान ली जाती थी। पर आज जीवित मनुष्योंकी साक्षी भी विश्वासार्ह नहीं होती। यह फरक है समाजपर हुए हुए संस्कारोंका। आज जिसप्रकारके संस्कार समाजपर होते हैं, वैसा ही समाज बनता है। पहले समाज पर उत्तम संस्कार करनेके प्रयत्न किए जाते थे। पर आज शिक्षणक्रममें साक्षरताकी वृद्धिके लिए जितने प्रयत्न किए जाते हैं, उतनेका सौवां हिस्साभी शीलसम्पन्नताकी वृद्धिके लिए नहीं किया जाता। छात्र-छात्रायें स्कूल जाती हैं, लिखना पढना सीखती हैं। इस साक्षरताके प्रचारके अलावा इन छात्र-छात्राओंपर दूसरे किसी भी अनुशासनका प्रभाव इन स्कूलोंमें नहीं पडता।

पढने योग्य वाङ्मय

इस साक्षरताकी वृद्धिके बाद उन्हें पढनेके लिए जो पुस्तकें या मासिक पत्रिकायें मिलती हैं, वे तो कमसे कम पवित्र विचारोंकी हों, पर वेभी स्वच्छन्द व्यवहारको और ज्यादा स्वच्छन्द बनाने वाली होती हैं। इन वाङ्मयोंसे मनका संयम होना तो दूर रहा, उसके उलट मन अधिकाधिक कामुक ही होता जाता है, विषयवासनामें अधिकाधिक मन फसता चला जाता है। आशिक और माशूकाओंके जो चित्र आज आए दिन पुस्तकों और पत्रिकाओंके मुखपृष्ठों पर छापे जाते हैं, उनका कुप्रभाव तरुणोंके मनोंपर पडता ही है। उसके अन्दर छपा हुआ वृत्तान्त भी उतनाही कामोत्तेजक होता है। स्त्रियोंका खूबसूरत चेहरा आज पुस्तकोंके सजावटका एक साधन समझा जाता है। इसी प्रकार स्त्री विषयक वृत्तान्तोंसे भरपूर कथा-कहानियां ही श्रेष्ठ वाङ्मय समझी जाती हैं। पहले जहां इन्द्रियसंयम और विकारोंका दमन करनेके लिए प्रयत्न किए जाते थे, वहां आज स्वेच्छा प्रवृत्तिकी वृद्धिके लिए प्रयत्न किए जाते हैं। जो प्रयत्न आज हमारे देशमें किए जा रहे हैं, वह निस्सन्देह " नरसे नारायण " होनेका मार्ग नहीं है। हमारे पूर्वजोंने मानवको अतिमानव बनानेका जो प्रयत्न किया, उनका प्रयत्न आज पूर्णतया रसातलमें पहुंच गया और आजका प्रयत्न मानवको असुर बनानेकी दिशामें हो रहा है।

युरोप और अमेरिकामें जिसप्रकारकी धनकी पूजा चल रही है, वही यहां भी शुरु है। आज तो सात्त्विक गुणोंकी उन्नति करनेके लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करना चाहता।

इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहकी हंसी उडाई जाती है। इतना ही नहीं, आज ऐसा भी प्रचार किया जाता है कि ऐसे सयमसे स्वास्थ्य बिगडता है। इससे अधिक विपरीतता क्या होगी?

यह है आजकी परिस्थिति, जो आज हमें दिखाई दे रही है, और इस परिस्थितिका कटु परिणाम भी हमें दृष्टिगोचर होता है। इतने पर भी प्राथमिक स्कूलसे कुमारोंका सुधार करके एक विशिष्ट उच्चशीलके तरुण बनानेके लिए जिस तरहके प्रयत्न होने चाहिए, वैसे प्रयत्न नहीं होते। श्रद्धानन्द जैसे कतिपय व्यक्तियोंने गुरुकुलोंका निर्माण करके आजकी परिस्थिति पर रोक लगानेका प्रयास किया, पर वे अपने प्रयत्नोंमें अत्यधिक सफल नहीं हो पाये। इसका कारण यह नहीं है कि उस पद्धतिमें कुछ दोष है। यह दोष उनमें है जो गुरुकुलके अधिकारी है। उन अधिकारियोंका परिणाम उन सस्थाओं पर पडा और वे गुरुकुल भी सरकारी स्कूल और कॉलेजोंके समान हो गए।

राष्ट्रकी हानि

इन सबका अर्थ यह है कि जिस उच्चस्तरके शील सम्पन्न मनुष्योंकी आवश्यकता है, वैसे मनुष्य आज दुर्लभ्य हे। यह राष्ट्रीय अधःपात है। प्राचीनकालमें ५० वें वर्ष वानप्रस्थी होकर गुरुकुलमें मुफ्तमें शिक्षा देनेवाले शिक्षक मिलते थे, पर आज ८० वर्षके होनेपर भी वानप्रस्थ आश्रमको ग्रहण नही करते। आज चारो ओर यही सुनाई पडता है कि राष्ट्रको जिस तरहके आदमी चाहिए वैसे आदमी नहीं मिलते। राष्ट्रके स्वतंत्र होनेके बाद भी यदि ऐसे आदमी न मिलें, तो यह कितनी बडी राष्ट्रीय आपत्ति है? इसका विचार पाठक करें।

आज भी ऐसे योग्य मनुष्य यदि हमें बाहरसे लाने पडें, तो इससे अधिक लज्जास्पद बात और क्या होगी? इसके अलावा युद्ध जैसे कार्योंके लिए यहां सैनिक भरपूर न हों और हमें सैनिकोंका भी आयात यदि करना पड जाए, तो हमारी स्थिति कितनी भयंकर हो जाएगी, यह सहज अनुमेय है। हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि हमें हर क्षेत्रमें अपने ही मनुष्य मिल सकें। यह स्थिति सिद्ध करनेके लिए हमे वैसी शिक्षाव्यवस्था अपने राष्ट्रमें करनी चाहिए।

हमारी संकृतिकी परीक्षा

स्वातंत्र्यप्राप्तिके बाद हमारे पास इतना अधिक भूभाग एक छत्रके नीचे आ गया है, कि जितना पहले कभी नहीं था। आज हमारी संस्कृतिकी परीक्षाका समय आ पहुंचा है। हमारा यह सौभाग्य है कि योरोप और अमेरिकाके निवासी आज भी हमारी भारतीय संस्कृतिके प्रशंसक बने हुए है। यह प्रशंसा देखकर हम भारतीय भी अपनी संस्कृतिके प्रति गौरवशाली हैं। पर हमें देखना यह है कि आज अपने राष्ट्रमें भारतीय संस्कृति कितने प्रमाणमें जीवित और जाग्रत है। वेदोपनिषदादि ग्रंथोंमें जिस संस्कृतिका वर्णन है, वही हमारी सच्ची सस्कृति है, पर वह आज हमारे अन्दर जाग्रत है क्या? हमारी यह संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है, यह निर्विवाद है, और यह भी निर्विवाद है कि इस संस्कृतिके प्रचारसे जागतिक अशान्ति दूर हो सकेगी। पर जग पर इस सस्कृतिका प्रभाव डालनेके लिए हमें प्रथम अपने राष्ट्रमें इस संस्कृतिको जीवित और जागृत रखना पडेगा।

भविष्यमें भारत पर बडी भारी जिम्मेदारी आनेवाली है। विश्वशान्तिकी स्थापनाका काम इसे करना है। यह काम कोई दूसरा राष्ट्र कर सकेगा, इसकी आज कोई संभावना नहीं है। इस कार्यको करनेके लिए जो सामर्थ्य चाहिए, उस सामर्थ्यको अपने अन्दर लानेके लिए बडी भारी तपस्या करनी पड़ेगी। पर स्वराज्यप्राप्तिके बाद भी इस तपस्याके लिए अभी शुरुआत नहीं हुई है।

शक्तिका संयम

भारतीय संस्कृतिमें शक्तिके संयम पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है। हमारी सस्कृतिके मूलमें एक ही सूत्र है कि अपनी शक्तिका विकास किया जाए और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखा जाए। आगे जाकर इसका इतना विपर्यास हो गया, कि लोग अपनी शक्तिका समाप्त कर देनेके कार्य ही को संयम मानने लगे। कई लोग अपना हाथ ऊपर करके सुखाने लगे और इसीको तपस्याका लक्षण समझने लगे। पर यदि हाथको सुखाना ही उन्नति या तपस्याका लक्षण होता, तो ईश्वरने मनुष्यको सूखे हुए हाथ ही दिए होते। काम, क्रोध, लोभ आदि सभी उपयोगी हैं उन्नतिमें वे सहायक हैं, पर सिर्फ उन्हें स्वाधीन रखना चाहिए। उन्हें मारना नहीं है, उन्हें संयममें रखना है।

भारतमें ऐसे अनेकों पंथ हैं कि जिनमें इस संयमकी उपेक्षा की गई है। वस्तुतः वे काम, क्रोधको मारनेके लिए शरीरका शोषण करते हैं, पर यह शोषण मानवी उन्नतिका मार्ग

नहीं है, इन्द्रिय संयम ही उन्नतिका मार्ग है।

केवल नजर डालने भरसे दूसरों पर यथेच्छ प्रभाव डाला जा सकता है। वाणीसे झगडे बढाये भी जा सकते हैं और कम भी किए जा सकते हैं। जननेन्द्रियसे अकालमृत्युको भी निमंत्रण दिया जा सकता है और इष्ट संततिका निर्माण भी किया जा सकता है। इसप्रकार इन इन्द्रियोंके सदुपयोगसे उन्नति भी की जा सकती है और दुरुपयोगसे अवनति भी की जा सकती है। इसकारण ये शक्तियां स्वाधीन रहें और उनके सदुपयोगके द्वारा उन्नति करनेकी बुद्धि मनुष्यमें बढे, इसीपर भारतीय संस्कृतिमें बल दिया गया है।

कानूनके डरसे, स्वर्गके लालचसे, समाजके भयसे तथा आत्मप्रशंसाकी लालसासे बहुतसे लोग सत्कर्मका अनुष्ठान करते हैं। लालचसे प्रेरित होकर सत्कर्मोंका अनुष्ठान दुष्कर्मोंके अनुष्ठानसे तो बेहतर है ही, पर यदि सत्कर्मोंकी ओर प्रवृत्ति और दुष्कर्मोंसे निवृत्ति स्वभावतः ही हो, तो वह और ज्यादा बेहतर होगा। प्रथम मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक सत्कर्मकी तरफ प्रवृत्त होना पडेगा, फिर कुछ वर्षोंके बाद वह उसका स्वभाव ही बन जाएगा। मनुष्यके जीवनसे कृत्रिमता दूर हो, यही हमारी संस्कृतिका साध्य है।

बहुतसे मनुष्य चोरी नहीं करते, गोकि उनके मनमें चोरी की भावना उत्पन्न होती अवश्य है, पर समाजके डरसे वे चोरी नहीं करते, पर ऐसे मनुष्योंसे बेहतर वे हैं, कि जिनके मनमें चोरीकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। यह सत्प्रवृत्ति स्वाभाविक होनी चाहिए। इसमें किसी तरहकी कृत्रिमता लाभदायक नहीं होगी। इस तरहकी स्वाभाविक सत्प्रवृत्ति अभ्याससे साध्य हो सकती है। इसी कारण प्राचीन गुरुकुलोंमें यम नियमादिका अभ्यास कराते थे और १०-१२ वर्ष तक इनके अभ्याससे उनकी सत्प्रवृत्ति स्वाभाविक बन जाती थी। सभी उत्तम आदतोंको डालनेकी यही रीति है। वे उत्तम आदतें आत्मसात् हो जानी चाहिए। वैदिकधर्ममें मनुष्यके पीछे यज्ञ याग आदि कर्म जो लगे हुए हैं, वह अभ्यास करनेके लिए ही हैं। इन कर्मोंको बार बार करनेसे आगे चलकर वह उसकी आदतसी पड जाती है। आज हमारा यह कर्म-मार्ग छूट गया है, पर दूसरी अच्छी आदतें हम न डाल सके। इस कारण आज हमारी स्थिति " इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः " की हो गई है।

मनुष्य सत्प्रवृत्त हो और वह वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे। प्राचीनकालके आचरणमें सामुदायिक हितकी दृष्टि कितनी महत्वपूर्ण थी, वह द्रष्टव्य है।

सामुदायिक हित

प्राचीनकालीन शिल्पशास्त्रकी पद्धतिमें घरके बाहरके प्रवेशद्वारके दोनों ओर ताक बनानेकी रीति थी। यह रीति आजभी गांवोंमें जीवित है। प्राचीन पद्धतिके अनुसार बनाये गए घरोंमें ऐसे ताक दिखाई भी देंगे। रास्ते परके दरवाजोंमें ऐसे दो ताक तो होते ही थे। यदि दीवार बडी होती तो ताक अधिक भी होते थे। इन ताकोंमें गृहलक्ष्मी संध्याको दिये जलाकर रख देती थी। दियोंका बालना गृहपूजाका एक अंग समझा जाता था। हम जिस घरमें रहते हैं, उस घरकी यह आरती मानी जाती थी। हर गृहलक्ष्मी ऐसा करती थी, लिहाजा रास्ते बिना किसी विशेष कोशिशके प्रकाशित हो जाते थे।

इसी तरह प्रातःकाल उठकर गृहपूजा होती थी। घरका दरवाजा, घरकी सीढियां, घरके सामनेका आधा मार्ग झाड पोंछकर साफ कर दिया जाता था, उसपर रंगोली रचकर मार्गको सजाते थे। द्वारपर रंगोली सजाकर उसकी शोभा बढाते और दरवाजेपर फूलोंकी माला लटकाते थे। यह पूजा रोज ६ से ७ तक होती थी। आजभी कई घरोंमें इस प्राचीन रीतिरिवाजका पालन किया जाता है। यदि हर गृहलक्ष्मी इस प्रकार करे, तो गांवके सभी घर स्वयं स्वच्छ हो जाएंगे, और सजेसजाये दिखाई देंगे। इस प्रकार स्वाभाविक रूपसे सजे संवरे घर और नगर कितने उत्तम दिखाई देंगे, यह सहज अनुमेय है। घरके सामनेकी सफाई किस मर्यादा तक स्त्री करे, यह निश्चित हो जाए, तो मार्ग स्वच्छताका काम बिना किसी शोर- शराबेके स्वयं ही हो जाया करे।

घरके सभी स्त्री पुरुष सात बजे तक स्नान, संध्या और पूजा करके पवित्र अन्तःकरणसे यदि अपने कामोंमें लग जाएं, तो कितना उत्तम होगा ? इस पूजासे एक और सार्वजनिक हित सधता है, वह यह कि संध्या, पूजा, हवन, धूप, दीप और सुगन्धित द्रव्योंके हवनसे सारे मोहल्लेका वातावरण प्रातः साय सुगंधिसे प्रसन्न हो जाएगा। यदि मोहल्ले या गांवके सब लोग सायं प्रात. इस संध्या, पूजा आदिके द्वारा पवित्र होकर अपने काममें लग जाएंगे, तो उस स्थानपर आनन्दका साम्राज्य ही हो जाएगा। इसके विपरीत घरके

सवस्य यदि १० बजे सोकर उठें, १२ बजे नहायें, तब तक घर बुवार झाडा पोंछा भी न जाए, तो उस घरकी स्थिति कैसी होगी, यह भी सहज अनुमेय है।

आरोग्य, पवित्रता, उत्साह, कार्यक्षमताकी दृष्टिसे विचार किया जाए, तो प्राचीन पद्धति ही श्रेयस्कर होगी, और वही अनुकरणीय होगी, इस विषयमें किसीके दो मत नहीं हो सकते।

आज जिन कामोंके लिए म्युनिसिपैलिटी, कार्पोरेशन आदियोंकी स्थापना की जाती है, वे ही काम प्राचीनकालमें स्वयं हो जाया करते थे। यह है " अव्यय राज्यशासन " की महिमा।

अनेक इतिहास पुराण ग्रंथोंमें " प्राचीनकालमें राजा नहीं था, संरक्षक थोडे होते थे, प्रजायें स्वयं अपना काम करती थीं, इसकारण राजाको ज्यादा काम करना नहीं पडता था।" आदि लिखा हुआ है। यदि आज भी सब लोग सुशिक्षित हो जाएं, अहिंसा, सत्य और अस्तेयका व्यवहार करने लग जाएं, वे अपनी आवश्यकतायें कम कर दें, सहकारिता की प्रवृत्ति हो, तो आज भी वही स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

यदि कोई गांव इसप्रकार सहकारी वृत्तिसे व्यवहार करने लग जाए, अहिंसा, सत्य, अस्तेयकी वृत्तिसे अपना व्यवहार करने लग जाए, सब गांवमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ आवश्यकतानुसार सब लोगोंको मिलनेकी व्यवस्था हो जाए, सब स्वसंरक्षण स्वयं करने लग जाएं तो उस गांवका शासन बगैर खर्चके चलने लगेगा।

सहकार्यसे बडेसे बडे काम भी अनायास ही सिद्ध हो सकते हैं। इसमें एक बात अवश्य विचारणीय है कि राक्षसी आक्रमणके आगे ऐसे सात्विक वृत्तिके लोग टिक भी सकेंगे या नहीं। राक्षसी आक्रमणकारीके आक्रमणका प्रतिकार ऐसे ग्रामस्थ लोग नहीं कर सकेंगे, यह बात निश्चित है। पर यदि ऐसे अनेक गांवोंका संगठन हो जाए, तो वे आसानीसे उन आक्रमणकारियोंका प्रतिकार कर सकेंगे। नगरके चारों ओर परकोटे बांधकर अच्छी तरह किलेबंदी करनेके लिए योजनायें निश्चित करनी पडेंगी। ये योजनायें अव्यय राज्यशासनके समयमें भी की जाती थीं।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या (अथर्व)

" आठचक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवनगरी अयोध्या है।" इस नगरीकी किलेबंदी अभेद्य है। इस परकोटेमें जो दरवाजे हैं। इस नगरीकी बुरजों पर तोपें रखी हुई हैं। शत्रुको दूरसे ही देखकर उसका संहार इन तोपोंके द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्रमें स्थान स्थान पर संरक्षणकी व्यवस्था हो और उन व्यवस्थाओंकी सहायतासे प्रबल राक्षसी आक्रमणकारी शत्रुका पूर्णतया संहार किया जा सकता है।

इसप्रकार कम खर्चमें राज्यशासन चलानेकी पद्धति इस प्रकार सहकारी तत्वों पर प्राचीन आर्योंने आविष्कृत की थी। यही पद्धति आज भी अपने गांवों और राष्ट्रोंमें स्थापितकी जा सकती है और इसके कारण प्रजाको बहुत सुख भी प्राप्त हो सकता है। सब लोगोंका मिलकर सामुदायिक जीवन है। इस एकत्व दर्शनके आधार पर ही यह सहकारिताकी योजना बनानी चाहिए। प्रजामें यह सहकारिता जितनी अधिक होगी, उतना ही राज्यशासन अव्यय अर्थात् कम खर्चीला होगा।

अव्यय राज्यशासनमें अनन्यभावका बहुत महत्त्व है। गीतामें बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें " अनन्यभाव " का प्रतिपादन किया है। पर गीताकी गणना निवृत्तिमार्गके ग्रंथोंमें होनेके कारण इस अनन्यभावके व्यावहारिक पक्षकी तरफ कोई दृष्टि नहीं डालता, यह एक बहुत शोचनीय स्थिति है।

४३ अव्यय राज्यशासन (५)

अन्यभाव व अनन्यभाव

अन्यभाव और अनन्यभाव ये दो व्यवहारके प्रकार हैं। मैं अलग और तू अलगकी द्वन्द्वभावनासे जो व्यवहार होता है, वह अन्यभावका व्यवहार है। इस व्यवहारमें पारस्परिक एकता न होकर पृथक्त्वभावका सम्बन्ध है। " मैं अकेला ही यहां आया हूं, अकेला ही यहां रहूंगा, जाते समय अकेला ही जाऊंगा, यहां कोई किसीका मित्र नहीं है, सभी स्वतंत्र हैं, मैं स्वयंकी मुक्तिके लिए प्रयत्न करूंगा, मुझे दूसरेसे क्या लेना देना " आदि विचार द्वन्द्वभावसे युक्त हैं। जब तक ये विचार काम करते रहेंगे, तबतक समाजमें, द्वन्द्व, स्पर्धा और युद्ध होंगे ही। क्योंकि द्वन्द्वभाव ही इस व्यवहारका आधार है। द्वन्द्वभावसे निर्द्वन्द्वके फल कभी प्राप्त नहीं किए जा सकते। द्वन्द्वभावसे युद्धोंकी वृद्धि ही होगी और उसके कारण पारस्प-

रिक संहार भी होता रहेगा। इसपर उपनिषदोंने एक उपाय बताया है—

नेह नानास्ति किंचन, य इह नानेव पश्यति।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति ॥ (बृ. उ. ४।४।१९)
द्वितीयाद्वै भयं भवति। (बृ. १।४।२)
द्वितीयो वै सपत्नः ॥ (बृ. उ. १।५।१२)

" यहां नाना या अनेकता कुछ नहीं है। जो यहां नानात्व देखता है, उसे मृत्युके बाद मृत्यु प्राप्त होती है। दूसरेसे उसे भय होता है। दूसरेका मतलब है शत्रु। " यह तत्त्वज्ञान उपनिषदोंमें कहा गया है, वह इसीलिए कि व्यवहार में शुद्धता आवे। पर आगे चलकर गीता और उपनिषदोंका विचार व्यवहारको ताक पर रखकर किया जाने लगा, इसकारण व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य पृथक् पृथक् माने जाने लगे। इसके साथ ही यह भी माना जाने लगा कि पारमार्थिक सत्यका उपयोग व्यवहारके लिए नहीं हो सकता। इसकारण व्यवहारकी शुद्धताके लिए जो सिद्धान्त थे, वेही व्यवहारमेंसे निकाल दिए गए। इसकी वजहसे हमें बहुत नुकसान उठाना पडा पर, अब भी लोगोंकी समझमें यह बात नहीं आती।

अध्यात्मज्ञानके सभी सिद्धान्त मानवीय व्यवहारमें लागू होने चाहिए। इसीलिए उनका विचार किया गया। जनक-राजा भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् रामचन्द्रने जो व्यवहार किया, वह समझ बूझकर ही किया। जनकको तो विदेह कहते थे। यह प्राचीन परम्परा है।

वस्तुतः नानात्व और द्वन्द्वभावका न होना ही अनन्यत्व है। स्थूलदेह भले ही सबकी अलग अलग हो, पर कारणदेह सबकी एक ही है। इस प्रकार सबका अनन्यत्व शास्त्रसिद्ध है। इस अनन्यत्वको किस मर्यादातक व्यवहारमें लाया जा सकता है यह एक विचारणीय प्रश्न है।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
(गी. ५।३)
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
(गी. २।४५)

" निर्द्वन्द्व हुआ हुआ मनुष्य सुखपूर्वक बन्धन से छूट जाता है। निर्द्वन्द्व होओ, सदा सत्त्वगुणमें रहो, आत्मबलसे युक्त रहो। " बन्धनोंका दुःख यदि दूर करना हो तो प्रथम यह द्वन्द्वभाव दूर करना चाहिए। द्वन्द्वभावसे यदि हम व्यवहार करने लगें तो बन्धनसे मुक्ति तो हो ही नहीं सकती, इसके विपरीत बन्धनका दुःख सहन करना पडेगा। बन्धनमें पडना हमें पसन्द नहीं, पर उसके लिए जो अनन्यभाव धारण करना पडता है, उसे हम अपनाना चाहते नहीं। इसीकारण हमारा बन्धन और उसका दुःख नहीं छूटता।

निर्द्वन्द्व व्यवहारमें योगक्षेमकी चिन्ता नहीं करनी पडती (निर्द्वंद्वः निर्योगक्षेमः) और अपनी शक्ति (आत्मवान्) बढती जाती है। द्वन्द्वव्यवहारमें स्थिति इसके विपरीत होती है। यही द्वन्द्वभाव आज व्यवहारमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। संसारके किसी भी देशमें जाये, वहां इस द्वन्द्वके आधार-पर ही सब व्यवहार चलते है। आजके कायदे कानून भी द्वन्द्वव्यवहारपर ही आधारित है।

लोग बचपनसे ही द्वन्द्वभावसे व्यवहार करनेके आदि हो गए है। अन्यभावसे विचार करनेकी आदत लोगोंमें पड गई है। इसीलिए आजका व्यवहार तेरे मेरेका हो गया है। द्वन्द्वभावको छोडकर व्यवहार चलभी सकता है, यह बात हमारे लिए आज अकल्पनीय सी प्रतीत होती है।

गीताके ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन दिया। उसमें दिखाया कि सब विश्व सब कौरव और पाण्डव उस विश्वरूपमें सम्मिलित थे। ईश्वरके रूपमें वे एक रूप हो गए थे। यहां ईश्वरको ' सर्व ' सिद्ध किया गया है। इस प्रकार भगवान्ने सबका अनन्यभाव अर्जुनको प्रत्यक्ष दिखाया और अर्जुनके बहानेसे यह अनन्यभाव सब संसारको बताया। यह अनन्यभाव ही त्रिकालाबाधित सत्य है। इसका उपदेश जो भगवान्ने समस्त संसारको दिया, वह इसीलिए कि संसारका सारा व्यवहार इसी सिद्धान्तके आधार पर चले। यह नहीं बताया कि उपदेश तो सुन लें, पर तदनुसार आचरण न करें।

सच्ची और स्थायी शान्ति

इस उपदेशको सुननेके बाद कौरव और पाण्डवोंने यदि तदनुसार आचरण किया होता तो युद्ध टल जाता, पर यह उपदेश अर्जुनने तो सुना और दुर्योधनने सुना नहीं, इसी-कारण युद्धकी आवश्यकता हुई। तात्पर्य यह कि यदि यह

अनन्यभाव और निर्द्वन्द्वभाव संसारके सब लोगोंको समझा दिया जाए, तो संसारके युद्ध समाप्त हो जायेंगे और सच्ची शान्ति इस पृथ्वी पर स्थापित हो जायेगी। पृथ्वी पर सच्ची शान्तिको स्थापित करना ही हम सबका ध्येय है। हम विश्वशान्तिको तो चाहते हैं, पर अनन्यभावको धारण नहीं करना चाहते।

इसके लिए हम प्रथम यह देखें कि भगवान् श्रीकृष्णने अनन्यभावके सम्बन्धमें क्या कहा है और फिर यह देखें कि- उसे हम मानवीय व्यवहारमें किसतरह ला सकते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गी. ९।२२)

"जो लोग अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते हैं, और मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त लोगोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूं। मैं चलाता हूं।" इसप्रकार गीतामें कहा है।

इस श्लोकमें (मां) मैं माने कौन (चिन्तयन्तः) चिन्तन माने क्या और (उपासते) उपासनाकी रीति क्या है ये तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। मैं इस सर्वनामका उपयोग भगवान्‌ने स्वयंके लिए किया है। ये भगवान् 'विश्वरूप" है, यह गीता पहले ही बता चुकी है। इस विश्वरूपदर्शनके अध्याय (११) में भगवान्‌को 'सर्व" कहा गया है। यह सर्वरूप भगवान्‌का शरीर है। मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्ष, पाषाण, समाज, राष्ट्र, देश आदि सब कुछ इस भगवान्‌के सर्वरूप हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद ये मानवरूप गाय, बैल, घोडे-बकरी आदि पशुरूप, हंस-मयूर-कोकिल आदि पक्षीरूप, बरगद-पीपल-गूलर-आम आदि वृक्षरूप, पर्वत-नदियां आदि जडरूप ये सभी भगवान्‌के विश्वरूप हैं। ये ही भगवान्‌के सर्वरूप हैं। इस सर्वरूपकी उपासना ही भगवान् की उपासना है।

मैं (अहं) यह शब्द गीतामें (१) विश्वरूपी ईश्वरके अर्थमें आया है तथा (२) द्विभुजी वसुदेवपुत्र कृष्णके अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है। ऐसे भगवान्‌का चिन्तन अनन्यरूप होकर करना चाहिए।

द्विभुजी वसुदेवपुत्र कृष्ण तो पांच हजार वर्ष पहले हो गए, अतः उनसे उस समयके या आजके मनुष्य एकरूप नहीं हो सकते। पर विश्वरूपमें हम सब एकरूप हैं। पर आज वसुदेवपुत्र कृष्णकी अनन्यभावसे भक्ति करते हैं। जिस शरीरमें वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण पांच हजार वर्ष पूर्व थे, उस समयके लोग भी उनसे अनन्य होकर व्यवहार नहीं कर सके। वह आज पांच हजार वर्षके बाद कैसे संभव हो सकता है ?

आज लोगोंने अनन्यभक्तिका अर्थ किया है, किसी अन्य देवकी भक्ति न करना। इसी दृष्टिसे वे कहते हैं कि कृष्ण-भक्त किसी दूसरे देवकी भक्ति न करें। यह सब अज्ञान ही है।

इसके विपरीत भगवान् कहते हैं कि किसी भी देवकी भक्ति की जाए, वह मेरी ही भक्ति है।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(गी. ९।२३)

जब किसी भी देवकी की हुई पूजा श्रीकृष्णके पास ही पहुचती है, तब यह स्पष्ट है कि जो अनन्य पदका अर्थ किया जाता है, वह अर्थ दोषपूर्ण है। अतः ' अनन्या मां चिन्तयन्तः " का अर्थ होगा, " विश्वरूपी कृष्णसे अभिन्न होकर विश्व रूपकी सेवा या चिन्तन करना।'

कुटुम्बमें अनन्यभाव

हम जिस कुटुम्बमें रहते है, उस कुटुम्बमें एकरूप होकर व्यवहार करना चाहिए। यदि सभी भाई अनन्य होकर रहने लगें, तो उस कुटुम्बकी स्थिति सुधरती जाती है। उसी सुसंगठित कुटुंबमें पृथग्भाव हो जाए, अन्यभाव उत्पन्न हो जाए, मैं और मेरे भाई अलग है ऐसे सभी समझने लग जाएं तो वह कुटुम्ब उध्वस्त हो जाएगा। इसी द्वन्द्वभावके कारण उध्वस्त हुए हुए कुटुम्बोंकी कहानी हम सुनते ही हैं। इस प्रकार अनन्यभावसे किया गया व्यवहार अभ्युदयका साधक है। जो स्थिति कुटुम्बके बारेमें है, वही प्रान्त और राष्ट्रके बारेमें भी सही है।

मैं गांवमें रहता हूं, इसलिए मैं गांवसे अनन्य हूं, मैं प्रान्तमें रहनेवाला हूं, इसलिए मैं प्रान्तसे अनन्य हूं। मैं राष्ट्रमें रहता हूं, इसलिए राष्ट्रसे पृथक् नहीं हूं, यह अनन्यताकी भावना जीवित और जागृत रहनी चाहिए। कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त और राष्ट्रके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि मानों ये एक ही जीवन हों। इसीका नाम अनन्यभाव है।

गीतामें इस अनन्यभावको विश्वरूप परमेश्वरसे संयुक्त किया गया है। विश्वरूपका अनुभव मनुष्यके अनुभवकी चरम सीमा है। कुटुम्बका व्यवहार अनन्यभावकी शुरुआत है और विश्व-रूपका व्यवहार अनन्यभावका अन्त है। इस शृंखलामें ग्राम, नगर, प्रान्त और राष्ट्र ये कड़िया है। इनमें हर एकमें अनन्यभावसे लाभ और अन्यभावसे हानि होती है।

गांवके लोग यदि अनन्यभावसे व्यवहार करें, तो गांवकी शक्ति सगठित होकर उमकी शक्ति बढ सकती है और वह गांव निर्भय हो जाएगा। इसी तरह राष्ट्रमें यदि विभिन्न पक्ष उत्पन्न हो जायें, तो वे एक दूसरेको नष्ट कर देनेके लिए यत्न करेंगे और वह राष्ट्र इस द्वेषकी अग्निमें जलकर भस्म हो जाएगा। पर यदि इसी राष्ट्रकी प्रजा अनन्यभावसे व्यवहार करेंगे, तो वे अनुभव करेंगे कि वे राष्ट्रके साथ एक-रूप हैं और राष्ट्रके एक घटक हैं। राष्ट्रसे में अलग नहीं हूं, यह समझकर जिस राष्ट्रकी प्रजायें राष्ट्रके लिए अपना जीवन समर्पित करेंगी, तो वह राष्ट्र निश्चित रूपसे उन्नत होगा।

अनन्यभावसे इसप्रकार सामर्थ्य बढता है। अनन्यभावसे संगठन बढता है और संघटनसे सामर्थ्य बढता है। अनन्य-भावसे पृथक्ताका भाव उत्पन्न होता है, उससे द्वन्द्व, द्वेष, स्पर्धा और युद्ध उत्पन्न होकर अन्तमें नाश ही होता है। इस तरह राष्ट्रको अनन्यभावनासे उपासना करनी चाहिए।

उप-आसनाका अर्थ है पासमें जाकर बैठना। राष्ट्रमें विभिन्न लोग होते हैं, उनके स्तर भी विभिन्न होते हैं। उनके साथ अपृथक्त्वभाव से व्यवहार करना चाहिए। उनके पास जाकर उनके साथ रहकर उनकी स्थितिका निरीक्षण करना चाहिए। और स्वयंका उनसे अभिन्न समझकर उनकी उन्नतिके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

उपासना करते समय हम मूर्तिके लिए आसन, पद्य, अर्घ्य, वस्त्र, चन्दन, पुष्प, धूपदीप नैवेद्य, गीत आदि समर्पित करते हैं और इन उपायोंसे हम उस मूर्तिका सत्कार करते हैं। मूर्तिको इन सत्कारोंकी कभी अपेक्षा नहीं होती। वस्तुतः तो यह देवपूजाके बहाने सत्कारकी पद्धति ही बताई गई है। यही पद्धति हमें विश्वरूपके अन्तर्गत मनुष्योंके सत्कारके बारेमें अपनानी चाहिए। जो विश्वरूप परमेश्वर जनताके रूपमें मेरे चारों ओर फैला हुआ है, उसे हरतरहकी सुख सुविधायें मिलती हैं या नहीं? उसे पहननेके लिए भरपूर वस्त्र मिलते हैं या नहीं? उसे खानेके लिए अन्न मिलता है या नहीं? यह देखना हरएकका काम है। यदि न मिलते हों तो तदर्थ प्रयत्न करना ही भगवान्की उपासना है।

सम्प्रति ये सभी उपचार मूर्ति तक ही सीमित हैं। ज्यादासे ज्यादा मूर्ति जिस विभूतिकी होगी, उसके चरित्रका पठन वह मनुष्य कर लेगा। पर वह इस विश्वरूप परमेश्वरकी उपासनाकी तरफसे उदासीन ही रहेगा।

अव्यय राज्यशासनमें अनन्यभावका बहुत महत्व है। प्रजाके इस अनन्यभावसे ही राज्यशासन सुनियंत्रित रूपसे हो सकता है। पर उनमें यदि अन्यभाव धारण करनेवाले कुछ व्यक्ति निकल आयें और वे उपद्रव करने लग जायें, तो उनके इन उपद्रवोंके कारण राज्यशासन ज्यादा खर्चीला हो जाएगा और वह राज्यशासन कष्टदायक भी होगा।

कल्पना कीजिए, एक घरमें पांच भाई हैं। वे अनन्यभावसे मिलजुलकर रहते हैं। थोडे समयके बाद वे विभक्त हो गए, ऐसी हालतमें यह निश्चित है कि मिलजुलकर रहनेपर जो कुटुम्बपर खर्च होता था, उसकी अपेक्षा अब खर्च ज्यादा होगा। यही स्थिति राष्ट्रके विषयमें भी समझनी चाहिए। राष्ट्रमें यदि सभी वर्णवाले तथा सभी सम्प्रदायवाले मिलजुल कर रहें, तो उस राष्ट्रमें राज्यशासन पर खर्च कम होगा, इसके विपरीत यदि सभी विभक्त होकर रहने लग जाए तो उन पर खर्च ज्यादा होगा। अतः यदि अव्ययराज्यशासन करना हो तो प्रजाओंमें अनन्यभावको भी बढाना होगा, यह भावना प्रजाओंमें शिक्षासे ही बढाई जा सकती है।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥
(गी. १२।६-७)

" अनन्यभावसे जो लोग मेरा ध्यान करते हैं और मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं दुःखसागरसे उद्धार करता हूं।" दुःखसागरको पार करके यदि सुख प्राप्त करना हो तो इस अनन्ययोगका सहारा लेना चाहिए।

उत्तम व्यवहारकी योजना

अनन्ययोगसे सभी दुःख दूर किए जा सकते हैं। वह अनन्ययोग मरणोत्तरकी अवस्था न होकर जीवितावस्थामें व्यवहार करनेकी योजना है। प्रजाओंमें यह अनन्ययोग

जितना अधिक होगा, उतनाही अधिक सुख उन्हें मिलेगा। गीतामें जो अनन्ययोग कहा गया है वह आचरणमें लानेके लिए है। यदि लोग उसे आचरणमें लायेंगे, तो उन्हें सुख मिलेगा, अन्यथा वे अनन्त दुःख भोगते रहेंगे और अन्तमें उन्हें इसी मार्गपर आना पडेगा।

सारा संसार ठोकरें खाता हुआ इसी अनन्ययोगकी तरफ बढता जा रहा है। सब राष्ट्रोंका संघ "यूनो" के नामसे पहचाना जाता है। इस संघके बावजूदभी यदि सब राष्ट्र अन्य-भावसे रहेंगे तो युद्ध होंगे ही। उन युद्धोंको यदि टालना हो तो राष्ट्रोंमेंसे पृथक्त्वभाव दूर करना पडेगा। ये राष्ट्र यद्यपि एक दूसरेके पास आ रहे हैं, पर सच्चे प्रेमसे पास आनेवाले राष्ट्रोंमें आज भारतके सिवाय दूसरा कोई भी राष्ट्र नहीं दीखता। इसी कारण यह राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो पा रहा। प्रत्येक राष्ट्र अपना स्वार्थ ही देखता है, इसलिए यह भविष्यमें सफल हो सकेगा, इसकी भी संभावना नहीं है।

प्राचीन ऋषियोंने राष्ट्रसंघकी स्थापना की हो या नकी हो, पर वे पृथ्वीपर एकही राज्यशासनके पक्षपाती थे। "समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्" की ऋषियोंकी घोषणा आजके राष्ट्रसंघका एक प्रारूप ही थी। वह अनन्य-भावकी पृष्ठभूमिपर ही आधारित था।

सहकारी संस्था

प्रत्येक राष्ट्रमें सहकारी संस्थायें हैं, कर्मचारीसंघ हैं, बीमा कंपनियां हैं, सामुदायिक कृषिसंघ हैं। यह सभी कुछ अनन्ययोगका व्यवहार लानेके लिए अनजाने ही हो रहा है। इस अनन्ययोगकी घोषणा भगवान्ने योरोपमें नहीं की थी, उन्होंने की थी तो कुरुक्षेत्रमें, पर आज इस अनन्यभावपर प्रयोग योरोपमें किए जा रहे हैं। साम्यवाद और समाजवादके प्रयोग इसी अनन्यभावके प्रयोगके रूपमें वहां किए जा रहे हैं और मानवजाति यह प्रयोग करती करती और अनुभव लेती हुई अनन्ययोगकी तरह अग्रसर हो रही है। फिर ऐसे समय भारत अपने व्यवहारमें इस अनन्य व्यवहारको लाकर उसके साथ साथ चलनेवाले अद्वय राज्यशासनको सिद्ध करके जगके सामने एक उदाहरण स्थापित करे।

वास्तववादी दृष्टिकोण

अनन्ययोग कोई कवि-कल्पना नहीं है, यह एक वास्तव-वादी व्यावहारिक और लाभदायक दृष्टिकोण है। व्यवहारमें तो वह अत्यन्त ही लाभदायक है। गीताने इसे अनन्ययोग कहा है, और वेदोंमें इसे ही एकत्वानुदर्शन कहा है। इन दोनोंका तात्पर्य एक ही है। गीताका "अनन्ययोग" अन्यभावका निषेध करनेसे निषेधात्मक है और वेदोंका एकत्वानुदर्शन एकत्वका विधान करनेसे विधेयात्मक है। प्राचीनकालका संभूय समुत्थान भी एकत्वानुदर्शनका एक महान् प्रयोग था। इसी तरह भारतमें "गणदेवसंघ" आदि संघ थे। इन संघोंमें अनन्ययोगका प्रयोग बहुत बडे प्रमाण पर हुआ हम इतिहासमें देखते हैं।

मरुत, विश्वेदेव, ऋभु, आदित्य और वसु ये गणदेव हैं। इस देशमें अनेक गणसंघ थे और गणराज्य तो इस देशमें इतिहास-कालमें भी थे। गणदेवोंके सब व्यवहार गणशः होते थे, इसलिए उनकी शासन-संस्था कम खर्चमें चलती थी।

संघबुद्धिकी जागृति पर यह सब अवलम्बित है, इसलिए संघभावकी जागृति प्रथम प्रजामें करनी चाहिए।

४४ धर्मका प्राचीन दृष्टिकोण

अपनी तपस्याके बलसे भारतीयसंस्कृतिकी परम्पराका निर्माण करनेवाले अनेक ऋषि इस भारतमें हो गए हैं। इन्होंने मानवीय जीवनके बारेमें भारतीय दृष्टिकोणका निर्माण किया था, और वह दृष्टिकोण "धर्म" के नामसे जाना जाता था। 'धर्म और अधर्म' इन शब्दोंमें जो अपूर्व भाव भरा हुआ था, वह आजके "धर्म" शब्दमें नहीं रहा और इस शब्दके लिए अन्यभाषामें प्रयुक्त होनेवाले, उदाहरणार्थ अंग्रेजी शब्द "रिलीजन" और फारसी शब्द "मजहब" इन शब्दोंमें भी धर्मका वह अपूर्व भाव पूरी रीतिसे नहीं उतरता। धर्म शब्दके विषयोंमें ऋषियोंके मनके भावोंको समझे बिना धर्म शब्दका महत्त्व नहीं समझा जा सकता। इसलिए धर्म शब्दसे व्यक्त होनेवाले भावों पर हम प्रथम विचार करेंगे।

विचारोंका सम्मिश्रण

आजकी हमारी विचारसरणी योरोपियन पद्धति पर चल रही है। हमारा सारा रहनसहन योरोपियन पद्धतिपर ही चल रहा है। इस योरोपियन शिक्षा पद्धतिके कारण विचारों में परिवर्तन हुआ तदनन्तर उन विचारोंके अनुसार हमारी वेषभूषा खानपान भी बदल गया। परिणामतः हम आज भारतीयशरीरोंमें योरोपियन आत्माको देखते हैं। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि योरोपियन्स और अमेरिकन्समें जो जो अच्छी बातें थीं, वे तो हम ग्रहण न कर सके, पर उनमें जो हीन विचार थे उनका हमने अन्धानुकरण अवश्य किया। उसका परिणाम यह हुआ कि आजका भारतीय जीवन युरोपियन हीनविचारों और भारतीय हीनविचारोंका सम्मिश्रणमात्र होकर रह गया और हम दोनों देशोंके उच्च विचारोंसे अपरिचित रह गए। इसके उदाहरणस्वरूप अनेक घटनायें प्रस्तुत की जा सकती हैं, पर हम यहां दो तीन ही उदाहरण देते हैं। योरोपमें खुली जगहमें अखबार रख दिए जाते हैं और उन्हींके बगलमें उनकी कीमत डालनेके लिए एक सन्दूकची रख दी जाती है। लोग अखबार ले लेते हैं और उसकी कीमत उस सन्दूकचीमें डाल देते हैं। कोई देखनेवाला नहीं है यह सोचकर कोई मुफ्तमें अखबार उठा ले जाए, ऐसा नहीं होता। व्यवहारमें इतनी ईमानदारी वहां बरती जाती है। पर यदि उसी पद्धतिका अनुकरण भारतमें किया जाएगा, तो घोडा तो जाएगा ही जाएगा, साथमें उसकी जीनभी गायब हो जाएगी।

इतर व्यापार व्यवहारमें भी नमूनेके अनुसार माल बनाकर भेजना योरोपनिवासियोंकी विशेषता है और नमूना कुछ और भेजना और माल कुछ और भेजना यह भारतीयों की विशेषता है। इसी कारण भारतीय सरकारके लाख कोशिशें करने पर भी व्यापारमें वृद्धि नहीं होती।

इसीतरह योरोप अमेरिकाके निवासी गोभक्षक और भारतीय गोरक्षक समझे जाते हैं। भारतवासी भले ही रोज गोपाष्टमीका पर्व मनायें, पर हररोज होनेवाली गोकशीपर उसका कोई असर नहीं होता, इसके विपरीत गोभक्षकोंके देश योरोप अमेरिकामें गौओंकी नस्लको सुधारनेके कारण वहांकी गायें कामधेनु बनती जा रही हैं। संक्षेपमें गोरक्षकोंके देशमें गोमाताका सुधार न होकर गोवंशका नाश होता जा रहा है, इसके विपरीत गोभक्षकोंके देशोंमें गोवंश सुधरता जा रहा है।

इसप्रकार आजके देशोंमें कल्पनाकी उडान यद्यपि बहुत ऊंची है, पर वे कल्पनायें आचरणमें नहीं लाई जातीं। इसके अलावा इतर देशोंके उत्कृष्ट विचारोंको हमने आत्मसात् नहीं किया, ऐसी त्रिशंकुकी स्थितिमें भारत है। वही स्थिति आज भारतमें " धर्म ' शब्दकी भी है। धर्मशब्दकी व्याख्या भी आज योरोपियनपद्धति पर ही की जाती है, भारतीयपद्धति पर नहीं।

भारतीय ऋषियोंने धर्मकी परिभाषा की थी, " सम्पूर्ण-मानवीयजीवनका एक विशेष प्रकारका उच्च दृष्टिकोण "। यह धर्मकी परिभाषा सम्पूर्ण मानवीजीवनको व्यापती है। जीवनके अलग अलग भाग करके उसकी तरफ अलग अलग दृष्टिसे देखनेके बजाय उसकी तरफ अखण्ड और अनन्यदृष्टिसे देखनेकी जरूरत है।

जीवनमें एकता

यह समझनेके लिए हम एक उदाहरण लें। सम्प्रति हम मनुष्य जीवनकी तरफ योरोपियन पद्धतिसे देखते हैं और अखण्ड और अनन्य मानवी जीवनका विचार ही नहीं करते। सम्प्रति हम यही समझते हैं कि यह काम वैयक्तिक है, यह कौटुम्बिक है, यह जातीय है, यह राष्ट्रीय है, यह पारमार्थिक है आदि आदि। इसप्रकार इस मनुष्य जीवनका विभाग करके हम उसकी तरफ देखते हैं।

पर ऋषि इस मानवीय जीवनको तरफ इस खंडित दृष्टिसे नहीं देखते। उनका मुख्यदृष्टिकोण यही था कि मानवीय जीवन एक अखण्ड जीवन है और उसकी तरफ अखण्डित दृष्टिसे ही देखना चाहिए। आज जीवनकी अखण्डताका यह सिद्धान्त अदृश्य हो गया है, इस कारण प्राचीन धर्मकी कल्पना भी अदृश्यसी हो गई है। आज भारतीय यही समझते हैं कि उनका वैयक्तिक और सामाजिक जीवन अलग अलग है। पर वस्तुस्थिति यह नहीं है। मनुष्य एक ही है, चाहे वह कुटुम्बमें रहे या समाजमें। प्राचीन ऋषि मानवीयजीवनको धर्म-अधर्मकी कसौटी पर कसते थे। मनुष्य कहीं भी हो, उसका आचरण धर्मसे बंधा हुआ होना चाहिए। इसीलिए

भारतीय विचारसरणीमें इस बातकी कोई सुविधा नहीं है कि रविवारको सम्मिलित होकर प्रार्थना कर लें और फिर दूकानपर जाकर यथेच्छ लूटें। आज कालाबाजार करनेवाले सेठभी हजार दो हजार ठाकुरजीको भेंट करके अपना पाप धो डालनेका प्रयत्न करते हैं। पर वे नहीं समझते कि देव इतना भोला नहीं है।

सहजधर्म

मनुष्यके जन्मके साथ ही उसके पीछे धर्म लग जाता है। वह चाहे एकान्तमें रहे, या समाजमें रहे। धर्मके बिना वह रह नहीं सकता। यह भारतीय सिद्धान्त है। आजके भारतीय यह सिद्धान्त भूल गए हैं। आज भारतीय यही समझते हैं कि स्नान संध्या देवपूजा, जप, आदि ही धर्म है। ईसाई भी रविवारको प्रार्थनाको ही धर्म समझते हैं। पर चाहिए यह कि कि मनुष्य अपने प्रत्येकक्षणके आचरणकी परीक्षा धर्मकी दृष्टिसे करे।

यह कोई न समझे कि स्नान, संध्या, जपसे पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। ये साधन तो मनको पवित्र करनेके लिए हैं। इन साधनोंसे मन पवित्र करके प्रत्येक दिनका काम उस पवित्रतासे जितना अधिक दोषरहित किया जा सके, उतना करना चाहिए। रातदिन जो भी काम हम करते हैं, वह धर्मकी दृष्टिसे शुद्ध होना चाहिए।

धर्ममें प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि श्रेणियां भी नहीं हैं। धर्मकी एक ही श्रेणी है। मनुष्य या तो धर्मका आचरण करेगा, या अधर्मका। पर जहां तक संभव हो, वहां तक सावधानीसे धर्मकाही आचरण करना चाहिए। कहीं कहीं तो धर्म और अधर्मकी मर्यादा इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि उस समय धर्म-अधर्मको समझना भी कठिन हो जाता है। बडे बडे विचारशील भी धर्म-अधर्मके निर्णयमें चक्कर खा जाते हैं। धर्मका विचार इतना सूक्ष्म है। वह धर्म सर्वतोगामी है। धर्माचरणका ढोंगसे कोई सम्बन्ध नहीं है। आजके भोले मनुष्य अपने घरोंमें ब्राह्मणोंको जप करनेके लिये बैठा देते हैं और समझते हैं कि घरमें पुण्यकी बरसात हो रही है! वस्तुत. तो प्रत्येक व्यवहारमें ही धर्मका आचरण होना चाहिए। व्यवहार ही धर्ममय होना चाहिए। मनुष्य संध्या पूजा करे या न करे, पर उसका व्यवहार शुद्ध हो, उसका व्यवहार पूर्णतया धर्मसे युक्त हो।

धर्मसे छुटकारा नहीं

मनुष्य जागता रहे या सोता रहे, उसपर धर्म-अधर्मका साया हमेशा पडा ही रहता है। मनुष्य प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता ही रहता है, और जो कुछ वह करता है, वह धर्म या अधर्ममें समाविष्ट होता है। भले ही मनुष्य इमसे परिचित हो या न हो। मनुष्य यदि अनजानेमें भी अधर्म कर बैठे, तो भी वह उसके परिणामसे छूट नहीं सकता। मनुष्य पशु, वृक्ष अथवा पाषाण नहीं है कि जो अपने अज्ञानके कारण पापसे मुक्त हो सके। स्थावर जंगमोंमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है, इसी श्रेष्ठताके कारण इसपर धर्म या अधर्मकी जिम्मेदारी है। "मुझे मालूम नहीं था" इस प्रकार कहनेसे वह अपने उत्तरदायित्वसे छूट नहीं सकता। मनुष्य ज्ञान प्राप्त करे और अपने कर्तव्य पहचाने। यह मनुष्यके लिए एक आवश्यक कर्तव्यके रूपमें है। मनुष्य यदि मनन करेगा, तो वह धर्म-अधर्म समझ सकेगा। इसी कारण कहा गया है कि मनुष्यके साथ ही धर्म आया है।

मनुष्य जब जन्मता है, तब उसके साथ धर्म भी जन्म लेता है। उसके जीवनके सभी क्षणोंमें धर्म उसके साथ रहता है और मृत्युके बाद भी धर्म उसकी आत्माके साथ रहता है।

> भार्या गृहद्वारि सखा श्मशाने।
> देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।

"स्त्री घरके दरवाजे तक ही रहती है इष्टमित्र श्मशान तक जाकर उसे पहुंचा आते हैं देह चिता तक जाती है। इसके बाद परलोकके मार्गमें अकेला धर्मानुसारी जीव ही जाता है।" अर्थात् जीवके साथ धर्म हमेशा रहता है। स्त्री, पुत्र, इष्टमित्र आदि तो कुछ ही समय तक रहते हैं, पर धर्ममात्र उसके साथ हमेशा बना रहता है। यहां धर्मशब्द को धर्म और अधर्म दोनोंका वाचक समझना चाहिए।

भयसे धर्मका आचरण

मनुष्य परलोकके भयसे, ईश्वरी नियमोंके भयसे, यमके भयसे धर्माचरण करता है और अधर्मसे दूर रहता है। पर भयसे पीडित होकर एक कैदीके समान उत्तम आचरण करनेकी अपेक्षा पूर्ण स्वातंत्र्यसे और पूर्णज्ञानसे धर्माचरण जानबूझकर व्यवस्थित रीतिसे करना उत्तम है। कैदी कैद-

खानेमें रहकर वहांके नियमोंके अनुसार उत्तम आचरण करते है पर उस उत्तम आचरणका श्रेय उन्हें नहीं मिलता। क्योंकि कैदखानेमें रहकर कैदी अपराध कर ही नहीं सकते। अपराध करनेके लिए जो स्वतंत्रता चाहिए, वह उन्हें नहीं मिलती। राजकीय नियमोंसे कैदियोंका जीवन बंधा हुआ होता है। पर इतर मनुष्य स्वतंत्र हैं, भला या बुरा आचरण करनेमें वे समर्थ है, इसलिए वह जो भी करता है, उसके परिणामके लिए वह उत्तरदायी होता है। मनुष्य यह जानकर धर्मभावनासे व्यवहार करे।

धर्म अर्थात् मानवधर्म

धर्मानुसार व्यवहार करनेका अर्थ लोग हिन्दुधर्म, बौद्धधर्म ईसाईधर्म आदि करते है, पर यह धर्मका सच्चा अर्थ नहीं है। भारतीय ऋषियोंने तो सम्पूर्ण मानव धर्मका विचार किया है। आज तो हिन्दु, ईसाई मुसलमानी आदि धर्म समझे जाते है। धर्मकी यह कल्पना ऋषियोंके मनमें भी नहीं थी। इन प्रचलित धर्मोंमें हिन्दुधर्म ऋषियोंकी कल्पना से जरा अधिक मेल खाता है। आजके हिन्दु धर्ममें यद्यपि अनेक अवैदिक विचार प्रविष्ट हो गए हे, तथापि आजका हिन्दु धर्मभी अन्य धर्मोंकी अपेक्षा वैदिकधर्मके ज्यादा नजदीक है। अबतकके लेखोंमें हम दिखा ही आए हे कि मूल वैदिकधर्ममें किस प्रकार सम्मिश्रण होता चला गया। इसी सम्मिश्रणके कारण आजका हिन्दुधर्म कलुषित हो गया। वैदिककालीन ऋषि जो समझते थे, उसके विपरीत हम आज समझते हैं। इसकारण हमारे मौलिक विचारोंमें ही अन्तर आ गया और इसीकारण भारतका चहुंओरसे अधःपात हो गया। जब तक भारतीयोंके विचारोंका परिमार्जन न होगा, तब तक भारतका उत्थान संभव नहीं। इसलिए भारतीय तत्त्वज्ञानको समझकर तदनुसार आचरण करना आवश्यक है। यह काम अतिशय कठिन राष्ट्रीय प्रयत्नोंकी जरूरत रखता है। इसीको हम राष्ट्रीय दृष्टया विचारोंका संशोधन कहते हैं।

ऋषिगण " धर्म " शब्दका प्रयोग करते थे और हम भी करते हैं, पर इन दोनोंके भाव अलग अलग है। ऋषियों का धर्म शब्द मानवकी मानवता विकसित करनेके नीतिनियमोंका वाचक था। वहां धर्मके भला और बुरा होनेका प्रश्न ही नहीं है। वैदिक ऋषियोंकी संख्या करीब ३०० है, उनमें १२ ऋषि मुख्य माने जाते हैं। पर वे किसी नये धर्मके प्रवर्तक नहीं बने या किसी भी धर्मके पीछे उनका नाम नहीं जुडा। धर्मका निश्चय किसी मनुष्यके द्वारा नहीं होता, वह सनातन है। वह स्वयंभू है। वह स्वतःसिद्ध है। उसका खण्डन करनेसे वह नष्ट नहीं होता। उसका जो आचरण करेगा, उसका धर्म कल्याण अवश्य करेगा, पर मानव यदि उसका पालन न करेगा, तो भी वह नष्ट होने वाला नहीं है। उस मनुष्यका अहित अवश्य हो जाएगा।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

इस सुभाषितका यही अर्थ है। वसिष्ठ–वामदेव आदि महान् महान् ऋषियोंने भी धर्मके पीछे अपने नाम नहीं जोडे। इसका कारण यही है कि वे धर्मके निर्माता नहीं थे। वहतो सनातन, शाश्वत और अटल है। आगे चलकर कतिपय ऐसे हुए, जो स्वयंको धर्म प्रवर्तक कहने लग गए, अथवा उनके अनुयायियोंने उन उन धर्मोंके पीछे उनके उनके नाम जोड दिए। ऐसे ही व्यक्तिगत नामधारी धर्मोंके कारण युद्ध, कत्ल मारकाट और परस्पर लडाई झगडे उठ खडे हुए। इस जगमें केवल वैदिकधर्म ही ऐसा है कि जिसके पीछे किसी व्यक्तिका नाम नहीं है और जो मानवताके विचारोंसे परिपूर्ण है।

इतर धर्मोंका घोषणापत्र ही यह है कि " हमारे धर्मोमें आओ, दूसरेके धर्मोंमें मत जाओ। " यह हिन्दु धर्म ही एक ऐसा है कि जो मानवधर्म पालनेका उपदेश देता है। वह मतमतांतरकी निन्दाके पचडेमें न पडकर केवल मानवताकी उन्नतिके कार्यमें व्यस्त होता है। सब धर्मोंमें जितना भाग श्रेष्ठ है, उतनेका पालन करनेसे मनुष्यका कल्याण होगा, इसप्रकार करनेकी उदारता केवल वैदिकधर्ममें ही है। बाकीके प्रायः सभी धर्म अपना गुणगान और इतर धर्मकी निन्दा करके द्वेष बढानेका काम करते हैं। इससे स्पष्ट होगा, कि अपने इस अधःपतनकी अवस्थामें भी हिन्दुधर्म अपने उच्च स्तरसे खिसका नहीं है और द्वेष बढानेके निकृष्ट कामसे वह अभी बहुत दूर है।

धर्मकी संज्ञा धर्म ही

प्रस्फुटित होनेवाले विचार ईश्वरके स्फुरणके परिणाम हे। वह ईश्वरीय स्फुरण आज मुझे हुआ, और जैसा मुझे स्फुरण हुआ, वैसा मैने व्यक्त कर दिया। यह स्फुरण मेरा

अपना नहीं है, यह तो ब्रह्मरूपी सर्वव्यापक महाशक्तिका है। इस स्फुरणमें मेरा कोई अहंकार नहीं है दूसरे भी शुद्ध अंतः-करणोंमे ऐसा स्फुरण हो सकता है। समय समय पर अनेक सत्पुरुषोंके हृदयोंमें इस तरहका स्फुरण होता भी आया है। इन विचारोंका उद्गमस्थान वही परब्रह्मरूपी महाशक्ति है। उसी महाशक्तिके कारण हम यहां हैं। उसीके कारण हमारा पालन हो रहा है, अन्तमें हम उसीमे विलीन हो जाएंगे। वही आनन्दमय है, वही सबका परम आश्रय है, वही सबका आदि, मध्य और अन्त है, सब विश्व उसीका प्रत्यक्षरूप है। वही सत्य विचारोंका स्रोत है।

यह है ऋषियोंकी विचार–सरणी। यह विचारसरणी कितनी उदात्त और उदार है। इसकी तुलना पाठक आगे दी हुई विचारसरणीसे करें– ' हे मनुष्यों ! मैं ईश्वरका प्रेषित हूं। तुम मेरा ही सुनो। मैं तुम्हारा उद्धार करूंगा। तुम मेरे अनुयायी बनो। जो मेरा अनुसरण करेंगे और मुझपर विश्वास करेंगे, उनके उद्धारके लिए मैं परमात्माके पास सिफारिश करूंगा। दूसरे धर्म तुम्हारा उद्धार न करेंगे। केवल मेरा ही धर्म तुम्हारा उद्धार करनेमें समर्थ है। मुझपर विश्वास करो।"

यह विचारसरणी आज संसारमें करीब ४–५ धर्म प्रसृत कर रहे हैं। इनके कारण स्पर्धा और कलह बढते जा रहे हैं। ऋषियोंकी विचारपद्धतिमें और साधारण मनुष्योंकी विचार-पद्धतिमें यह फरक है। यही फरक भारतीय और अभारतीय संस्कृतिमें है।

एक मनुष्यका जीवन, चाहे वह घरमें हो या समाजमें हो, अधिकार पर हो या न हो, व्यक्तिकी स्थितिमें हो या राष्ट्रके कार्यक्षेत्रमें, वह उसी मनुष्यकी जीवन होता है। मनुष्यकी जो उच्चता है, वह सदा सर्वदा वैसी ही रहेगी। वह उच्चता वैय्यक्तिक कार्यक्षेत्रमें सिकुडती और राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें फैलती नहीं। इसीतरह मनुष्यके जीवन या उसके गुणोंमें परिवर्तन नहीं होता। एक सज्जन मनुष्यकी सज्जनता और एक धूर्त मनुष्यकी धूर्तता, भले ही वह किसी भी क्षेत्रमें कार्य करे, खुलकर सामने आ जाती है। अवसरके प्राप्त होते ही मनुष्यके गुण या अवगुण बाहर व्यक्त होने लगते हैं।

धर्म मनुष्यकृत नहीं

धर्म किसी एककी बपौती नहीं है। यह समझ लेनेसे मेरा धर्म और तेरा धर्मरूप कलह स्वयं शान्त हो जाएगा। ऋषियोंने केवल मानवधर्मका ही विचार किया। ऋषियोंकी दृष्टिमें धर्ममें कोई भेद नहीं थे। वे तो केवल यही देखते थे कि वह मनुष्य है या नहीं और मनुष्यको मनुष्य बनानेके लिए ही वे प्रयत्न करते थे। जिसप्रकार शक्करमें मिठास, मिर्चमें तीक्ष्णता, और करेलेमें कडुवापन स्वाभाविक है, उसी तरह मनुष्यकी आत्मामें सामर्थ्य, बुद्धिमें ज्ञान, मनमें मनन शक्ति ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञानग्रहण शक्ति और कर्मेन्द्रियोंमें कर्म करनेकी शक्ति स्वाभाविक है। ये शक्तियां अनेक प्रकारकी है। ये सभी शक्तियां मनुष्यकृत न होकर ईश्वरीय हैं। इन शक्ति-योंको सन्मार्गमें प्रेरित करना, योग्य मर्यादा तक उनको बढाना, उन सबको अपने आधीन रखना, उन्हें उन्नतिकारक मार्गमें प्रवृत्त करना, ये सब काम धर्मके हैं। इस धर्मसे जनसमुदायका महान् हित होना चाहिए, पारस्परिक प्रेम बढना चाहिए. पारस्परिक द्वेष और वैर न्यून होना चाहिए। इन्हीं सब प्रयोजनोंके लिए धर्मका आचरण करना होता है।

वस्तुतः तो मेरा धर्म और तेरा धर्मरूप कलह उत्पन्न होनेका कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि सभी मानवोंमें ये सभी शक्तियां तो हैं हीं। इसलिए तेरा और मेराका भेद होना नहीं चाहिए। सभी मनुष्योंका एक ही मानवधर्म होना चाहिए। मानवधर्मके जैसे विचार ऋषियोंकी वाणीमें प्रकट हुए हैं। उसी तरह वे इतर पैगम्बरोंकी वाणीमें प्रकट हुए नहीं दिखाई देते। इसप्रकार जो धर्म शान्ति बढानेका कारण बनना चाहिए था, वही द्वेष बढानेका कारण बन रहा है। सभी मनुष्योंमें आत्मा- बुद्धि- मन और इन्द्रिय समान हैं भले और बुरे गुणधर्म भी सब मनुष्योंमे हैं। उनको संयममें रखनेकी शक्तिभी समान है। तो भी सब मानवधर्मका विचार छोडकर मेराधर्म- तेराधर्मका नगाडा बजाते हुए एक दूसरेको मारें, अपने ही पंथमें लोगोंको खींचनेकी कोशिश करें, मानवधर्मके बारेमें निष्कारण स्पर्धा करें, इससे बढकर शोकका विषय और क्या हो सकता है ? अतः मनुष्य विभिन्न पंथोंका विचार तज दें और मानवीय शक्तिका एक ही लक्ष्य अपने सामने रखें, ऐसे विचारकोंके विचारोंका जो संग्रह होगा, वही मानवधर्म होगा और वह ऋषिप्रति-पादित धर्मकी तरह ही होगा।

ऋषि प्रतिपादित धर्म सहजधर्म है। " सहज धर्म " याने जन्मके साथ उत्पन्न हुआ धर्म। मनुष्यके शरीरकी शक्तियां उसके शरीरके साथ ही जन्मती हैं। उनके गुणधर्मभी जन्मके

साथ ही आते हैं, इसलिए उनके विकासका मार्ग भी सबके लिए समान ही होगा, यह स्पष्ट ही है। इसलिए यह धर्म जन्मके साथ आता है, जीवनपर्यन्त साथसाथ रहता है और मृत्युके बाद साथ ही साथ जाता भी है।

इस धर्ममें सब मानवोंको एकत्र लानेका सामर्थ्य है। श्रेष्ठ मनुष्योंका यदि निर्माण करना हो तो इसी धर्मका आश्रय लेना चाहिए। धर्मके विषयमें वैर द्वेष आदिको दूर भगानेका सामर्थ्य इस धर्ममें है।

भारतीयसंस्कृति इस धर्मके साथ सुसम्बद्ध है। अतः भारतीयसंस्कृतिका विचार करनेवालोंको इस स्वाभाविक सहज जन्मके साथ मनुष्यके साथ जुडजानेवाले धर्मका ही ही विचार करना चाहिए।

धर्म या संस्कृति साथसाथ चल सकते है या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि इन दोनोंका सहगमन शाश्वत है और सनातन है। भारतीयसंस्कृति इसी मानवधर्मके साथ सुसम्बद्ध है। इस धर्मके अभावमें भारतीयसकृति भी नही रह सकती। इसलिए भारतीयसंस्कृतिका विचार करनेवालों को इस स्वाभाविकधर्मका भी विचार करना चाहिए।

४५ शंका समाधान

अब तकके लेखोंको पढकर कई पाठकोंने अपनी कतिपय शंकायें प्रस्तुत की थीं, उनमेंसे कुछ शकाओंपर विचार करने की यहां योजना है। उनके उत्तरभी संक्षेपमें ही यहां दिए गए हैं। क्योंकि इन सभी शंकाओंका विस्तृत स्पष्टीकरण पिछले लेखोंमें किया ही जा चुका है। अब उन शंकाओंपर क्रमसे विचार करते हैं।

पुरुषोत्तम विश्व

प्रश्न - यह जगत् विनाशी और दुःखमय प्रत्यक्ष दीखनेपर भी आप इस जगको ईश्वरका रूप किसतरह कहते हैं ?

उत्तर- इस जगको केवल हमीं ईश्वरका रूप नहीं कहते, अपितु सभी वेद, उपनिषदोंके रचयिता और गीताके उपदेशक भगवान् कृष्णने भी इस विश्वको ईश्वरका रूप बताया है-

पुरुष एव इदं सर्वं। (ऋ. १०।९०)
वासुदेवः सर्वं। (गीता. ७।१९)
सर्वं खलु इदं ब्रह्म। नारायण एवेदं सर्वम्।
ओं इत्येतदिदं सर्वम्।

इसप्रकार इन ग्रंथोंने स्पष्ट कहा है। अतः यह हमारी कल्पना न होकर वेदशास्त्रोंकी कल्पना है। धर्मके विषयमें सन्देह होनेपर वेदादि सच्छास्त्रोंकाही प्रमाण मानना चाहिए।

प्रत्यक्षकी सत्यता

अब संभवत यहां एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि हम प्रत्यक्ष रूपसे जगत्को नाशवान् और दुःखमय देखते हैं, तथा वैसा अनुभव भी करते हैं। इस शंकाका उत्तर यही है, कि कई प्रत्यक्ष अनुभवभी गलत होते हैं, उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि सूर्य प्रतिदिन उगता है, दोपहर मध्याकाशमें आता है और शामको डूब जाता है। यह प्रतिदिनका अनुभव है। पर शास्त्रोंके अनुसार यह अनुभव ठीक नहीं है। शास्त्रका कथन है।

नैवोदेता नास्तमेता एकल एव मध्ये स्थाता।
(ऐ ब्री.)

" सूर्य उदय नहीं होता, वह अस्त नहीं होता वह अकेला ही मध्यमें स्थिर रहता है। " सूर्यका परिभ्रमण जो दिखाई- देता है, एक भ्रम है। सत्य यही है कि सूर्य स्थिर है, और पृथ्वी अपने अक्ष पर चारों ओर घूमती है, इसकारण दीखता ऐसा है कि मानों सूर्य ही घूमता हो।

सूर्यको " रथ " कहा है। सूर्यका रथ प्रसिद्ध है। रथ शब्दका निर्वचन निरुक्तकार इस प्रकार करते हैं-

स्थिरतेर्वा विपरीतार्थस्य (नि.)

" जो स्थिर होनेपर भी तद्विपरीत अर्थात् घूमतासा दीखता है, वह रथ अर्थात् सूर्य है। सूर्य स्थिर होते हुए भी घूमतासा दीखता है " " स्थिर " शब्दके अक्षरोंके इधर उधर होजानेपर " रथ " शब्द बना है। " स्थिर " शब्दके " थ-र " अक्षर आगे पीछे हो गए और " थर " का " रथ " बना गया। " स्थिर होनेपर भी चल भासना " इसभावको व्यक्तकरने वाला अन्वर्थक शब्द भी उल्टे अक्षरोंका बना। इस प्रकार जो दिखाई देता है, वह सदा सत्यही होता हो, ऐसी बात नहीं।

लडकोंका अनुभव

छोटे बच्चोंके लिए पढना दुःखदायक प्रतीत होता है पर वही अन्तमें सुखदायक प्रतीत होता है। इसलिए शास्त्र पद्धतिसे अनुभव हासिल करना चाहिए। शास्त्रदृष्टि ही सच्ची होती है।

यदि शास्त्र भी केवल अनुभव ही बतानेवाले हों तो ऐसे शास्त्रकी आवश्यकता नहीं है। जगके दुःखदायी होनेका अनुभव ही यदि शास्त्र बताता हो, तो उस शास्त्रकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि आबालवृद्धोंका यही अनुभव है कि जग दुःखदाई है। ऐसे अनुभवोंको सीखनेके लिए शास्त्रोंको पढनेकी जरूरत नहीं है। पर चूंकि शास्त्र सत्यका कथन करते हैं, इसलिए उन्हें पढनेकी आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ– प्रत्येक मनुष्यको प्रतीत यह होता है कि "मैं अल्प हूं" पर शास्त्र कहता है "त्वं ब्रह्म" अर्थात् तू महाशक्तिशाली है। शास्त्रका यह कथन बिल्कुल अनुभवके विरुद्ध है। यहांपर भी लोकानुभव असत्य और शास्त्रकथन सत्य है।

इसी तरह जगत् नश्वर और दुःखमय प्रतीत होता है, यह अनुभव भी असत्य है, क्योंकि जो दीखता है वह "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" है। अर्थात् सब कुछ सच्चिदानन्दमय है।

गीतामें भी यह सब वासुदेवका रूप बताया है। भला वासुदेवका रूपभी क्या कभी दुःखमय या नाशवान् हो सकता है? यह असंभव है।

विश्वका रूपान्तर

इस विश्वका रूपान्तर होता रहता है; पर रूपान्तर होनेका अर्थ नष्ट होना नहीं है। कपासका सूत बना, और सूतका कपडा और कपडेकी पोशाक बनी, यह पोशाक कपासका रूपान्तर है। इसमें किसीका भी नाश नहीं हुआ। इसी तरह मिट्टीके घडे बने, सोनेके आभूषण बने। इसमें किसीका नाश नहीं हुआ। रूपान्तरित होना विश्वका स्वभाव ही है। यह रूपान्तरण आनन्ददायक ही होता है। कपास, मिट्टी और सोनेसे बने हुए वस्त्र, घडे और जेवर मनुष्योंका सुख ही बढाते हैं। बीजका वृक्षहोना, उसमें फूल फिर फलका लगना बीजका रूपान्तरण है, यह सुखदायक है। इसी तरह यह प्रतिक्षण रूपान्तरित होनेवाला विश्व मनुष्योंके लिए सुखदायकही है। मनुष्य प्रतिक्षण सुख और आनन्द प्राप्त करता है। इसपर भी इस जगत्को दुःखदायी बताना कहां तक योग्य है?

दुःखमय जगत्

२–प्रश्न– जगतमें दुःख भरे हुए हैं, इससे कौन इनकार कर सकता है? क्या जग मृत्यु आदि दुःखदायी तत्वोंसे भरा हुआ नहीं है?

उत्तर– इस जगतमें रोग हैं, अपमृत्यु भी होती है, जो जन्मा वह मरेगा भी। अतः कोई भी इनके अस्तित्वको नकार नहीं सकता। पर सोचना यह है कि ये तत्व अच्छे हैं या बुरे, सहायक हैं या विघातक। कल्पना कीजिए कि यदि मृत्यु न होती तो क्या होता? जगके प्रारंभसे उत्पन्न हुआ प्राणी यहीं रहते और प्राणियोंको खडे होनेकी भी जगह न मिलती। मृत्युके कारण जगह जो खाली होती है, वह नये जन्मे हुए को मिलती है। मृत्युके अभावमें जन्मका भी अभाव हो जाएगा, तब उस हालतमें बालक जन्मके उत्सवका आनन्द मनुष्योंको कैसे मिल सकेगा? मृत्यु है, इसीकारण लोग पुत्रजन्मोत्सवका आनन्द लूटते हैं। इसप्रकार मृत्युका पृष्ठ भूमिपर ही जन्मका चित्र ज्यादा उठावदार दीखता है।

आधिव्याधि

इसी तरह रोग भी हैं। मनुष्य यदि स्वच्छतापूर्वक रहे, यमनियमोंका पालन करे, ब्रह्मचर्यका मर्यादित पालन करे, आरोग्यशास्त्रके नियमोंका पालन करे, तो उसे रोग अधिक कष्ट नहीं देंगे। शरीरमें संचित मलको बाहर निकाल फेंकना प्रकृतिका नियम है। नियमको सिद्ध करनेका यह जो उपाय है, वही रोग है। मनुष्य जो पाप करता है उसे नष्ट करनेके लिए प्रकृति जो उपाय अपनाती है, वही रोग है। इसप्रकार रोग भी मनुष्यके लिए हितकर ही है।

घरको स्वच्छ करते समय कष्ट उठाने पडते हैं, पर स्वच्छ होजानेके बाद वही घर उसे आनन्द देने लगता है। वही बात रोगोंके बारेमें भी सच है। मनुष्य यदि उत्तम जीवन बिताये, तो उसे रोग ही न होंगे, या बहुत ही कम होंगे। मनुष्य गल्ती करता है और रोगोंको निमंत्रण देता है। फिर रोगोंके द्वारा सताये जाने पर वह क्यों रोये? तात्पर्य यह कि रोग और मृत्यु भी एक तरहसे मनुष्योंके सहायक ही हैं।

मृत्यु ईश्वर

वेदोंमें " मृत्यु " ईश्वरकी एक संज्ञा है। गीतामें भी कहा है—

मृत्युः सर्वहरश्चाहं। (गी. १०।३४)

" सबका हरण करनेवाली मृत्यु भी ईश्वरका ही रूप है।" जन्म-मृत्यु दोनों ईश्वरके ही रूप हैं। यही वेद- उपनिषद् और गीताका कथन है।

नाशवान् जगत्

३-प्रश्न—जगत्‌को नष्ट होते हुए देखने पर भी उसे ईश्वरका स्वरूप किसतरह माना जाए ?

उत्तर- वैदिक ऋषि, उपनिषद्‌के कर्ता तथा गीताके उपदेष्टा आदि सब ज्ञानियोंने " इस विश्वको परमेश्वरका रूप " माना है। गीताके ग्यारहवें अध्यायमें तो ईश्वरका विराट् रूप दिखाया गया ही है। उसमें दिखाया गया है कि सब कौरव अपनी सेनाके साथ मृत्युके मुंहमें घुसे जा रहे हैं और वे सब मृत्युकी विशाल दाढोंके बीचमें आकर पिसे जा रहे हैं। यह विश्वरूप ईश्वर वहां कह रहा ' मैं काल हूं और मैं लोकोंका विनाश करनेके लिए आया हूं।" इस प्रकार जन्म और मृत्यु ईश्वरके अस्तित्वमें एकरूप हो गए हैं। जिसकी शक्तिमेंसे यह संसार प्रकट होता है और नष्ट होकर पुनः जिसमें विलीन हो जाता है, उसीका नाम ब्रह्म है अतः जन्म, जीवन और मृत्यु मनुष्योंकी दृष्टिमें कैसे भी हों, तात्त्विक दृष्टिसे वे सब ईश्वरके ही रूप हैं। यही सब शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है। मनुष्य स्वयं समझनेकी कोशिश करे, फिर भी कुछ समझमें न आवे, तो गीताशास्त्रको प्रमाण माने।

अंधविश्वास

४ प्रश्न—ऐसा अन्धानुकरण भला हम क्यों करें ?

उत्तर- जो गीताके वचनको मानना अन्धानुकरणका लक्षण समझते हों, वे इस पर कतई विश्वास न करें, पर जो गीता पर यह विश्वास रखते हैं कि यह शुद्ध दृष्टि देनेवाला ग्रंथ है, वे ही गीतावचनको विश्वासपूर्वक मानें।

घरमें कोई बीमार पड जाए, तो एक मित्र आकर कहता है कि अमुक वैद्यको बुलाओ। वैद्य बुलाया जाता हैं, उपचार शुरु होता है। इस स्थान पर अन्ध विश्वास रखकर ही वैद्यको बुलाया जाता है और उसके उपचारका भला या बुरा जो भी परिणाम होना होता है, होता है। ऐसे अवसर पर यदि कोई यह हठ करे कि मैं तो प्रथम अनुभव लेकर ही फिर उस वैद्यको बुलाऊंगा, तो वह असंभव ही होगा। विचारकर काम करना उत्तम है, पर पूज्य ग्रंथों, शास्त्रों और महाविभूतियों पर विश्वास करना भी लाभकारक ही होता है। उनमें अविश्वास करके कभी लाभ नहीं होगा। प्रत्येक अवसर पर मैं अनुभव लेकर ही अमुक काम करूंगा, यह कहना सरल है, पर करना कठिन है। हमेशा वैसा नहीं हो सकता।

आरोग्य साधनकी दृष्टिसे श्रेष्ठशासनके वचनों और श्रेष्ठ विभूतियों पर विश्वास रखनेसे अपने ही मनकी शक्ति बढती है। अविश्वासियोंको विश्वास चिकित्सासे होनेवाला लाभ नहीं मिल सकता। विश्वाससे रोग भी ठीक हो जाते हैं। मनोविश्लेषणकी चिकित्सा (psychotherapy) विश्वासपर ही आधारित है।

श्रद्धा और विश्वास

श्रद्धा या विश्वासके मध्यबिन्दु पर ही अपना मन केन्द्रित करना चाहिए। इस मध्यबिन्दुपर समभावनासे अपने मनको केन्द्रित करना बडा कठिन है। श्रद्धासे लाभ होता है, यह जानकर उस श्रद्धामेंसे प्रार्थनाकी दीवार, प्रार्थनाचक्र, सामुदायिक प्रार्थना करनेवालोंकी संस्था, रामनामी चादरोंका आविष्कार होने लगता है। यह देखकर यदि कोई कहे कि श्रद्धा जरा कम करो, तो श्रद्धा परसे उसका मन विचलित हो जाता है और उसका मन पूरी तरह अश्रद्ध होकर सर्वथा अविश्वासी हो जाता है। मनकी यह स्थिति है। इसलिए बहुत ही संभलकर व्यवहार करना चाहिए।

श्रद्धाकी मर्यादा

श्रद्धासे जो लाभ होता है, उसकी मर्यादा है। अपने शरीर में जहां तक मनका क्षेत्र है, वहां तक प्राथमिक अवस्थामें रोग दूर हो सकते हैं। पर श्रद्धासे हरतरहकी ऊटपटांग कामनायें पूर्णकी जा सकती हैं यह मानना श्रद्धाका दुरुपयोग करना है। यह विवेक ज्ञानसे हो सकता है। मनुष्यको इस मानसशास्त्रका ज्ञान देना चाहिए तभी वह अपनी श्रद्धासे लाभ ले सकेगा। ज्ञानकी सहायतासे वह विश्वासका अतिरेक भी होने नहीं देगा। ज्ञानके साथ श्रद्धा भी चाहिए। ज्ञानरहित श्रद्धा संकटकारक होती है। श्रद्धासे होनेवाले

परिणाम ज्ञानसे जाने जा सकते और ज्ञानी अपनी श्रद्धासे इष्ट परिणाम भी उत्पन्न कर सकता है।

आत्माका स्वराज्य

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा इनकी शक्ति क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक है और वरिष्ठ तत्त्वके अधीन उसके नीचेकी शक्तियां काम करती हैं। इनका ज्ञान यदि उपनिषदोंके मननसे हो, तो वह अपने स्वयंके आत्मिक बलकी श्रद्धासे दूसरोंके मन पर अपना प्रभाव डालकर अपना मनोरथ पूर्ण कर सकता है। इसप्रकार आत्मज्ञानसे जो श्रद्धा होती है, वह लाभदायक होती है। वह श्रद्धा कभी भी हानिकारक नहीं हो सकती। आत्मज्ञानविहीनोंमें जो श्रद्धा होती है, वह अन्धश्रद्धा होती है और वह बहुत हानि कर सकती है।

वेद उपनिषद् और गीताके समय तक यदि सभी वाङ्मय देखे जायें तो ज्ञात होगा कि उस समयमें ज्ञानजन्य श्रद्धाही थी। पुराणकालके बाद, बुद्धकालके बाद और सतकालके बाद भोले ज्ञानहीन श्रद्धाका ज्वार आया। अपने प्राचीन परम्पराके समान सतयुगमें ज्ञान और सात्त्विकता अधिक थी। आगे चलकर उसका प्रमाण क्रमशः कम होता गया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिककालमें ज्ञान और श्रद्धाकी समतोल अवस्था थी और कलियुगमें वह बिगड गई और ज्ञानरहित श्रद्धा बढ गई। आज आवश्यकता इस बातकी है कि सर्व साधारण जनतामें ज्ञानका प्रसार करके ज्ञान और श्रद्धाकी समतोल अवस्था पैदा की जाए। इस-प्रकार अन्धश्रद्धासे होनेवाला नुकसान कम किया जा सकेगा और ज्ञानयुक्तश्रद्धासे लाभ प्राप्त किया जा सकेगा। वेद और उपनिषदोंके कालमें जो संस्कृति थी वही सच्ची भारतीयसंस्कृति है।

भजनमें तन्मयता

५ प्रश्न– भजनसे तन्मयता प्राप्त होनेका अनुभव सभीको है, फिर उसका निषेध आप किस तरह करते हैं ?

उत्तर– हमने इस बातका कभी निषेध नहीं किया कि भजनसे तन्मयता होती है। भजनके द्वारा ज्ञानी और अज्ञानी मनुष्योंको एकत्र लाया जा सकता है, यह भजनका एक बडा भारी लाभ है। भजनसे तन्मयता प्राप्त होती है, एकतानता होती है, मन प्रसन्न होता है, यह सब ठीक है, पर योग्य रीतिसे किए गए भजनसे और भी अधिक लाभ उससे हो सकता है। वह लाभ आधुनिक पद्धतिमें नहीं हो सकता।

भजनमें शब्दोंका उच्चार वाणीका काम है, अर्थका मनन मनका काम है, इन्द्रियोंके द्वारा अर्थका अनुष्ठान शरीरका काम है। इस प्रकार सर्वांगीण अनुष्ठानसे ही भजनका सम्पूर्ण फल मिल सकता है। आज भजनमें सिर्फ वाणीका ही उपयोग किया जाता है, इसलिए उसका अंशत ही फल मिल पाता है। इसी कारण समाज या राष्ट्रके विशाल क्षेत्र में इस एकांगी भजनका अभीष्ट परिणाम नहीं होता। विष्णु सहस्रनाम और गणेशसहस्रनामका अध्ययन करके हमने उसका विस्तारसे विवरण दिया है।

केवल एकतानताके सिद्ध होनेसे मनुष्यकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती। मनुष्यको पूरी तरह विकसित होना चाहिए। उसकी मानवताकी दृष्टिसे योग्यता बढनी चाहिए। पुरुषका पुरुषोत्तम बनना चाहिए। भीष्मने युधिष्ठिरसे विष्णुसह-स्रनाम स्तोत्र कहा था, और उसकी फलश्रुति बताई कि इसके पठनसे ब्राह्मण ज्ञानी होता है, क्षत्रिय विजयी होता है, वैश्य धनी होता है, शूद्र सुखी होता है, और परतन्त्रमें रहने-वाला स्वतंत्र होता है। ये सभी फल एक ही जन्ममें मिलने चाहिए। इसीकारण भजन सर्वांगीण होना चाहिए। आज आंशिकरूपसे भजन होता है और उसका फल भी आंशिक मिलता है। साधुसन्तोंने भजनकी पद्धति बहुत बढाई, पर उन्होंने भी शब्दोंका जपमात्र किया है। मननकी पद्धति उन्होंने शुरु ही नहीं की यदि की। होती तो उसका भी अंश प्राप्त हो गया होता। विष्णुसहस्रनाममें निर्दिष्ट फलोंपरसे हम गलती कहां कर रहे हैं, वह समझमें आजाएगा।

वैदिककालमें भजन करनेकी पद्धति है–

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ॥
अथर्व.

" सूर्योदयसे पहले नामोंका जप करते हैं। " तथा

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ॥
ऋग्वेद

" किस देवके सुन्दर नामका जप करें। " ऐसा शुनःशेप ऋषिका कथन है। अमरदेवका नाम जपें, यही इस मंत्रका आशय है।

ये सभी नाम मननपूर्वक जपे जाते थे। मंत्रका अर्थ है मनन करनेका विषय। मंत्रोंका मनन होना ही चाहिए। " मननात् मंत्रः " मंत्रोंका मनन करना होता है। मननसे उन्नतिका कार्यक्रम भक्तके आगे स्वयंमेव आकर उपस्थित हो जाता है। उस उन्नतिके मार्ग पर भक्तको चलना चाहिए। इससे उसकी सर्वांगीण उन्नति होती है। यह विचार आज लुप्त हो गया है। आज मंत्रजपको लोग सिर्फ अक्षरोंका जप करना ही समझते है। वैदिककालमें उसे मननका विषय समझा जाता था।

मनोमूर्च्छना

६– प्रश्न– भजनसे होनेवाली एकतानता या तन्मयताको आपने मूर्च्छा क्यों कहा है ?

उत्तर- मूर्च्छा कहने पर भी कुछ अनर्थ समझना नही चाहिए। मनके जाग्रतावस्थाके व्यापार जब बन्द पड जाते हैं, वही अवस्था मूर्च्छाकी होती है। यह मूर्च्छा अनेकों उपायों से लाई जा सकती है। किसी एक पदार्थपर मनको एकाग्र करनेसे भी यह स्थिति प्राप्त होती है। ध्वनिपर मन एकाग्र हो जाए तो भी यह अवस्था होती है। औषधिके प्रयोगसे भी मनके व्यापार बन्द किए जा सकते हैं। औषधि प्रयोगसे मनोव्यापारको बन्द करना बिलकुल नीच स्तरका काम है। शब्दोंका जोर जोरसे उच्चारण करके उसमें मनका रमना भी एक प्रकार है। भजनसे यह सधता है। अत्यन्त सूक्ष्मध्वनि पर मन लगाना दूसरा प्रकार है। श्वासकी आवाज पर मनको एकाग्र करना तीसरा प्रकार है। अनाहत ध्वनिका आलम्बन चौथा उपाय है। इसप्रकार अनेक उपाय मनको स्तब्ध करनेके हैं। इन सब उपायोंसे जाग्रतोमें काम करनेवाला मन स्तब्ध होता है। मनकी स्तब्धता ही मूर्च्छा है। मनको धक्का लगाने पर भी यह अवस्था प्राप्त होती है। पर उस अवस्थामें घबरा हट होनेके कारण उससे कुछ लाभ नहीं होता, इसके विपरीत हानि ही होती है। नासाग्र दृष्टि और भ्रूमध्य दृष्टिका अभ्यास करनेसे भी मनोमूर्छना आती है। साधनाके मार्गमें कुछ अघोरपंथ भी निकल पडे हैं। उनमें मद्य, भांग, गांजा आदि मादक पदार्थोंका सेवन करके मूर्च्छा लानेका प्रयत्न किया जाता है। ये अब व्यसन बन गए है। जाग्रतावस्थाका मन इन पदार्थोंका कारण मूच्छित हो जाता है। पर ये पदार्थ अत्यन्त हानिकारक होनेके कारण कोई उनका सहारा न ले। इनसे मनोमूर्च्छना की अवस्था प्राप्त तो होती है, पर इनका अवलम्बन करके कोई भी आज तक बडी योग्यताको प्राप्त नहीं हुआ। औषधिका उपाय भी अनवलम्बनीय है।

प्रथम किसीका अवलम्बन लेकर चित्तको एकाग्र करें और धीरे धीरे उसका अभ्यास बढायें। उसके साथ ही आत्मा, बुद्धि, मन और इन्द्रियोंकी शक्तिका ज्ञान प्राप्त करे और यह समझ कि मैं यहांका अधिपति हूं और मेरी इच्छाके अनुसार ही यहां काम होगा, यह भाव मनमें रखकर ही अपना स्वराज्य यहां चलाना है, दूसरे किसीका अधिकार यहां नहीं चलेगा, इस प्रकार मनका पक्का निश्चय कर ले। इसप्रकार निश्चय कर लेनेके बाद मेरा मन एकाग्र हो, इस तरहकी भावना करें। धीरे धीरे वह स्वयं ही स्तब्ध होने लगता है। ज्ञानसहित मन एकाग्र करनेका यह सरल उपाय है।

इसप्रकार अनेक तरहसे मनके स्तब्ध हो जाने पर बुद्धि कार्य करने लगती है। यह देशकालातीतकी अवस्था है। मनस्तब्धताके कारण मनकी शक्ति बढती है। यह शक्ति विश्वकी सेवाके लिए लगानी चाहिए। मनोमूर्च्छना प्राप्त करके ही स्वयंको कृतकृत्य समझनेवाले गलती करते हैं।

व्यायाम करके शरीरके सुदृढ होने पर अपने नगरके संरक्षणके काममें उसका उपयोग होना चाहिए। इसी तरह योगादि साधनोंसे मनके स्थिर होनेके कारण उसकी शक्ति बढ जाए तो उसका उपयोग जनता जनार्दनकी सेवामें करना चाहिए। इसके विपरीत जो साधक तन्द्रोंमें बैठकर स्वयंको कृतकृत्य मानते हैं, वे बहुत गलती पर हैं। योग-साधन शरीर, इन्द्रिय, मन आदियोंकी शक्ति बढानेका साधन है। इन साधनोंके द्वारा शक्तिसंग्रह और शक्तिवृद्धि हो जाए तो आगेका कार्यक्रम निश्चित ही है। अपनी शक्ति से जो जनताकी सेवा नहीं करता, उसकी शक्तिका उपयोग ही क्या ?

७–प्रश्न– साधुसन्तोंने अपने समयकी परिस्थितिके अनुसार उत्तम काम किया, उससे आप इन्कार कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर– सभी साधु सन्तोंने अपने समयकी परिस्थितिके अनुसार जितना कुछ किया जा सकता था, उससे अधिक ही किया, इसमें कोई शका नहीं। उतने कष्ट यदि आज भोगने

पड़ जाए, तो शायद कोई करेगा भी नहीं। हिन्दुधर्मको टिकानेके लिए इन साधुसन्तोंका काम बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए सभी हिन्दुसमाज निस्सन्देह उनका ऋणी रहेगा।

ये सभी साधुसन्त अत्यन्त महान् थे। इन साधुसन्तोंने हिन्दुओंमें अपने धर्मके प्रति जागृति पैदा की, इतना ही नहीं, उन्होंने म्लेच्छ और यवनोंमें भी राम और कृष्णकी भक्ति उत्पन्न की। राम और कृष्णकी भक्तिसे भरपूर इन मुसलमान कवियोंके काव्य आज भी रसिकों को आनन्द देते हैं। यह चमत्कार संतोंका ही है। इनका यह काम अद्वितीय है। अंग्रेजों ने आकर यहां जो हिन्दू और मुसलमानोंमें " दांत काटी रोटी " का प्रेम देखा, तो वे भयभीत हो गये, और उन्होंने इन दोनों जातियोंमें भयंकर फूट डाल दी, यह उसीका परिणाम है कि आज ये दोनों जातियां पृथक् पृथक् हो गई हैं और निकट भविष्यमें उनके पास आनेकी कोई संभावना नहीं दीखती। आज भले ही ये जातियां पृथक् हो गई हों पर इनसे संतोंके प्रयत्नोंका महत्त्व कम नहीं होता। आजके भाविक लोग जितना महत्त्व इन साधुसंतोंको देते हैं, उससे कहीं अधिक इनका महत्त्व है। उनका काम इतिहासमें सुवर्णाक्षरोंसे लिखे जाने लायक है। इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है।

इन साधुसन्तोंने अपने समयके अनुसार जो विधान किए, वे विधान आजके अनुकूल न होनेके कारण न किए जाएं, तो इसमें सन्तोंका कोई अपमान नहीं है। यदि वे सन्त आज होते तो वे भी आज संभवतः यही बात कहते, जो मैं कह रहा हूं।

भगवान् परशुरामने फरसेसे अपने शत्रु काटे, भगवान् रामने धनुषबाणसे रावणका पराभव किया। भगवान् कृष्णने ' मैं हाथोंमें शस्त्र न लेकर उपायोंसे ही शत्रुओंका नाश करूंगा, ' ऐसा कहा और वैसा उन्होंने किया भी। अतः आजके भक्त भी तीरकमान हाथमें लेकर अणुबमका प्रतिकार करनेकी इच्छा करें, तो यह उनकी मूर्खता ही कही जाएगी। विभूतियोंके प्रति कितनी भी श्रद्धा हो, तो भी साधनोंमें समयानुसार परिवर्तन करना ही चाहिए। उसीतरह सिद्धान्तोंमें भी भेद करना चाहिए।

आज हमें स्वराज्य प्राप्त हो गया है, उसे स्थायी रखना और बढाना है, इसकारण उत्तम वीर तरुण उत्पन्न करने चाहिए। आजके समयमें गर्भवासकी निन्दा, स्त्रीकी निन्दा, तथा स्वराज्य ऐहिक होनेके कारण त्याज्य और दुःखमूलक समझना आदि कल्पनायें जो आज प्रगतिके मार्गमें विघ्नरूप हो सकती हैं उन पर वैसी ही श्रद्धा रखना सर्वथा अयोग्य होगा। श्री समर्थने बिठोबाकी उपासनाको तजकर सर्वत्र धनुर्धारी रामकी उपासना शुरु की। समर्थका यह काम तत्कालीन भक्तिक्षेत्रमें बडी भारी क्रान्ति थी। इसके कारण वारकरी (विठोबाका भक्त सम्प्रदाय) लोग समर्थके अभंगका पाठ भी नहीं करते। इतना द्वेष उत्पन्न हो गया, तो भी समर्थने इस द्वेषकी परवाह नहीं की, और उन्होंने धनुर्धारी रामकी उपासना शुरु की।

इसका कारण यही है कि राष्ट्रका प्रश्न धनुर्धारी वीरोंके द्वारा ही हल किया जा सकता था। रावणकी कैदसे ३३ करोड देवोंकी मुक्तता धनुर्धारी वीरके द्वारा ही की जा सकती थी। उसे ही समर्थने खडा किया। इस कार्यमें इतर सन्तोंसे कोई द्वेष नहीं था, अपितु समर्थका काम इतर सन्तोंके कामोंका पूरक ही साबित हुआ। कतिपय अदूरदर्शी भक्तोंने समर्थसे द्वेष किया, पर सन्तोंने उनसे कभी द्वेष नहीं किया और समर्थने भी उनसे द्वेष नहीं किया। राष्ट्रमें चैतन्यकी वृद्धिके लिए समयानुसार अपना चोला बदलना ही पडता है।

प्रश्न– कितने ही सन्त एक जगह बैठे बैठे ही अनेकों देशोंका अनुभव प्राप्त कर लेते हैं, यह बात कहां तक सच है ?

उत्तर– मनोमूर्च्छनामें जब जाग्रतावस्थाका मन स्तब्ध हो जाता है, तब वह स्थानातीत और समयातीत हो जाता है, और तब वह किसी भी स्थितिका ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार हमने इस ग्रंथमें भारतीय संस्कृतिका शुद्ध स्वरूप दिखलानेका प्रयत्न किया है। मैं आशा करता हूं कि इस ग्रंथके पढनेसे भारतीयसंस्कृतिके बारेमें जो भी दोषपूर्ण कल्पनायें हैं, उनका निराकरण हो सकेगा।

No. G. 71

अल्प मूल्यमें]   [अमूल्य उपहार

हमारा उद्देश्य

और

आपकी सहायता

आपकी यह लोकप्रियसंस्था स्वर्णजयन्ती मनाकर ५१ वें वर्षमें प्रविष्ट हुई है। इस शुभ अवसर पर " वेदोंका सर्वत्र प्रचार करके वैदिकधर्मके पांचजन्यका घोष गुंजाने " के उद्देश्यको पूरा करनेके लिए हमने श्री पं. श्री. दा. सातवलेकरजीके द्वारा सम्पादित चारों वेदसंहिताओंको रु. २०.०० के बजाय रु. १२.०० में देनेका निर्णय किया है। यह सुविधा चारों वेदोंके सम्पूर्ण सेटको खरीदनेवालेको ही मिल सकेगी। ग्राहकोंकी मांगपर अल्पमूल्यकी इस सुविधाकी अन्तिम तारीख बढाकर ३१-७-१९६९ तक कर दी गई है।

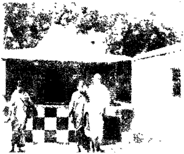
साइज डबल क्राऊन १६ पेजी, पृ. सं. १९००। मूल्य १२.०० रु. केवल (डा. व्य. २.५० पृथक्)। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा। आज ही मंगाइये।

व्यवस्थापक,
स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
(जि. बलसार)

ऑर्डर भेजते समय इस विज्ञापनका उल्लेख अवश्य करें।

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसार]

वैदिकधर्म



मार्च १९६९

५० पैसे



वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक ३ : फाल्गुन : २०२५
स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

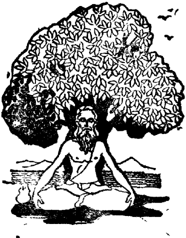
'वैदिक धर्म' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.
वी. पी. से रु. ७००, विदेशके लिये रु. ८०० डाक व्यय अलग रहेगा।
मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिकधर्म

देवोंका दूत अग्नि

ओ३म् अग्निं दूतं वृणीमहे
होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥

(ऋ. १।१२।१)



हम (होतारं) सब देवोंको बुलाकर लानेवाले (विश्ववेदसं) सर्वज्ञ (अस्य यज्ञस्य सुक्रतुं) इस यज्ञको उत्तम रीतिसे पूर्ण करनेवाले (दूतं) देवोंके दूत (अग्नि) अग्निको (वृणीमहे) बुलाते हैं ।

अग्नि सर्वज्ञ और देवोंका देव होनेके कारण सब देव इसकी आज्ञा मानते हैं। यह अग्नि यज्ञमें सब देवोंको बुलाकर लाता है, इसीलिए इसे देवोंका दूत कहा है। यह यज्ञमें आकर उसे उत्तम रीतिसे सम्पन्न करता है ।

सुयोग्य पिताके सुयोग्य पुत्र

लेखक— श्री सदानन्द चेंदवणकर

☆

महाराष्ट्र राज्यके कला विभागके निदेशकके रूपमें नवनियुक्त श्री माधवराव सातवलेकर वेदमहर्षि पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरके कनिष्ठ पुत्र हैं। ५३ वर्षीय श्री माधवराव, जिस कला महाविद्यालयमें उनके पिता सीखे संवरे तथा स्वयं भी जिस संस्थाके ऋणी है, उसी महाविद्यालयके आज प्रमुख बने हुए हैं।

श्री माधवरावका जन्म १३ अगस्त सन् १९१५को लाहौरमें हुआ था। औंधके श्री निवास श्री यमाई हाईस्कूलमें उनकी शिक्षा पूरी हुई। १९३२ सनमें उन्होंने मेट्रिककी परीक्षा उत्तीर्ण की। उनकी महत्त्वाकांक्षा भी अपने पिताके समान ही उत्कृष्ट चित्रकार होने की थी। अतः बम्बई आकर उन्होंने श्री केतकरके निरीक्षणमें चित्रकलामें नैपुण्य प्राप्त किया।

जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट्समें जब माधवराव प्रविष्ट हुए, उस समय उस संस्थाके प्राचार्य प्रिन्सीपल सोलोमन थे। उन्होंने श्री माधवरावकी चित्रकला विषयक निपुणता देखकर उन्हें एकदम चौथे वर्षमें प्रविष्ट होनेकी अनुमति दे दी। १९३५ में उन्होंने उस कलासंस्थासे जी. डी. आर्ट्सका डिप्लोमा प्राप्त किया। चित्रमहाविद्यालयमें सर्वोत्तम विद्यार्थीके रूपमें उन्होंने "मेयो मेडल" प्राप्त करके सिर्फ बीस वर्षकी अवस्थामें ही चित्रकलामें अपनी शिक्षा पूरी कर ली। तदनन्तर उन्हें "म्यूरल डेकोरेटर स्कॉलरशिप" मिल गई और उसकी सहायतासे उन्होंने पदव्युत्तर शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वे १९३७ में योरोप गए, वहां इटलीके फ्लोरेन्स शहरमें प्रो. जोहान्नी बस्तीमानी नामक एक प्रसिद्ध चित्रकारके स्टूडियोमें काम करना शुरु किया। वहांसे वे लन्दन आकर वहां स्लेड स्कूलमें भर्ती हो गए, वहां उनकी स्वतंत्र कल्पनाशक्तिका विकास हुआ। १९१० में वे इटली, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशोंका दौरा करके स्वदेश लौट आए। विदेश प्रवासमें उन्हें इचलकरंजी एज्युकेशन एण्डोमेंट फंडकी तरफसे भरपूर सहायता मिली। भारतमें आनेके बाद उन्होंने काश्मीरसे कन्याकुमारी तक यात्रा की और अनेक प्राकृतिक दृश्योंको अंकित किया। उनके द्वारा अंकित चित्रोंकी आजतक २५ से ज्यादा ही प्रदर्शनियां भर चुकी हैं। ताजमहल होटल (बम्बई) मे १९४५ व १९४६ में सम्पन्न प्रदर्शनियां बहुत बडी थीं। दिसम्बर १९५७ में बम्बईके ही जहांगीर आर्ट्स गेलरीमें उनके भव्य चित्रोंका प्रदर्शन हुआ। प्राकृतिक चित्रोंको चितारनेमें श्री माधवराव अत्यन्त कुशल हैं। १९४९ में उन्होंने अफ्रीकाकी यात्रा करके अपनी कूंचीकी करामात वहां भी दिखाई थी।

श्री माधवरावके चित्रोंकी प्रशंसा भारतके राष्ट्रपति भारतरत्न स्व. राजेन्द्रबाबू, बॅ. मुकुंदराव जयकर, सिक्किमके राजाधिराज नामग्याल तथा युगाण्डाके नेताओंने मुक्त कण्ठसे की है। आज कलाक्षेत्रमें श्री माधवरावका सम्माननीय स्थान है। इस सब सम्मानका श्रेय वे अपने पिताजीको ही देते हैं। पण्डितजीने अपनी कला पुत्रकी तूलिकामें उतार दी है, इस कथनमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

श्री माधवरावने अपना जीवन ही चित्र कलाके लिए समर्पित कर दिया है। १९५४ में उन्होंने "इण्डियन आर्ट इन्स्टीट्यूट" नामक एक संस्था स्थापित की थी जिसमें आज सैकडों विद्यार्थी चित्रकलाकी शिक्षा लेते हैं।

श्री माधवरावको इस पद पर उनकी नियुक्तिके लिए हम हार्दिक बधाई देते हैं।

+

वैदिक-संस्कृति

लेखक— श्री लालचन्द

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ (ऋ. १।२२।१९)

सर्वव्यापक ईश्वरके ये सब कर्म देखिये, जिनसे धर्मनियमोंको जाना जाता है। वहीं जीवात्मा सदा सब जगह साथी है।

अनन्तं विततं पुरुत्र ॥ (अथर्व. १०।८।१२)
अनन्त ब्रह्म फैला हुआ है

न अस्य प्रतिमानमस्ति ॥ (ऋ. ६।१८।१२)
वह अनुपम है उसकी कोई प्रतिमा नहीं है।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
(यजु. ३२।३)

जिसका महान् यश है उस परमात्माकी कोई प्रतिमा नहीं है।

पिता नोऽसि पिता नो बोधि, नमस्ते अस्तु
(यजु. ३७।२०)

हे परमात्मा ! तू हमारा पिता है। हे पिता तू हमें ज्ञान दे। तुझे नमस्कार हो।

दृते दृंह मा ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं
ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम् ॥
(यजु. ३६।१८)

हे परमदृढ परमेश्वर ! मुझे दृढ कर दे कि मैं तेरी देख रेखमें चिरकाल तक जीवन व्यतीत करूं। मैं तेरी देख रेखमें चिरकाल तक जीवन व्यतीत करूं

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्
स्युष्टे सत्या इहाशिषः (ऋ. ८।४४।२३)

हे जीवनसार ! यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं बन जावे तब इस लोकमें तेरे वे सब आशीर्वाद सत्य हो जाय।

यह एकत्व भावना है इसे संयुज्य अवस्था कहते हैं, यही अद्वैत है। जब उपासक परमात्मासे अत्यंत घनिष्ठ नाता जोड देता है उसका निकटतम सखा होजाता है।

न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन् ।
नकिरेव यथा त्वम् (ऋ. ४।३०। ?)

हे परमेश्वर ! तुझसे ऊंचा और तुझसे अधिक कोई भी नहीं है। हे विश्वविनाशक ! जैसा तू है वैसा भी और कोई नहीं।

परमात्मा अद्वितीय है।

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामये गिरः ।

तेरा पुत्र तेरे मनको परमपदसे परमधामसे प्राप्त करता है। हे जीवनसार ! मैं तुझे ही चाहता हूं। भगवान्का भक्त भगवान्के मनको भगवान्के परमधामसे प्राप्त करता है। भगवानका परमधाम मानवहृदय है। भगवान्का भक्त अपने प्रीतमको हृदयमें पाता है। वह भगवान्के सिवा किसी अन्य पदार्थको नहीं चाहता।

वैदिक संस्कृतिमें यह आदेश है कि बिस्तरेसे उठते ही भगवान्का स्मरण करो। उसके तेजोमयरूप उसके ज्ञानमय रूप उसके सर्व प्रेरक सर्व रक्षकरूपका चिन्तन करते हुए ब्राह्ममुहूर्तमें चेतन होकर दिनचर्या आरंभ कर दो।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे
प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं
प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥
(ऋ ७ ४१।१; यजु. ३४।३४; अथर्व. ३।१६।१)

हम प्रातः तेजस्वरूप प्रकाशस्वरूप, परमेश्वरको, सर्वस्नेही सर्वशक्तिमान्को, आकाश और पृथिवीमें व्यापक परमात्मा को, ऐश्वर्यमय, भजने योग्य, पालक पोषक जगदीश्वर प्रेममय जीवनके प्रभुको स्मरण करते हैं। उनका भजन करते हैं।

हम प्रातः ही भगवान्का गुणकीर्तन करते हैं।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम
वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चित्
राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥

(ऋ. ७।४१।२; यजु. ३४।३५; अथर्व. ३।१६।२)

हम प्रातः सकल ब्रह्मांडको धारण करने वाले, विजयशील परमैश्वर्यवान्, तेजस्वी सर्वशक्तिमान्, अमरत्वके रक्षक, विश्वमहिमामय परमात्माको स्मरण करते हैं। जिस परमेश्वर के सामने दरिद्र तथा निर्बल, शक्तिमान धनीमानी बडे बडे राजा भी जिसके द्वारे भिक्षा मांग रहें हैं।

भगं प्रणेतर्भग सत्यराधो
भगेमां धियमुदवा ददन्नः
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैः
भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥

(ऋ ७।४१।३; यजु. ३४।३६; अथर्व ३।१६।२;)

हे भगवान् उन्नायक भगवन्! अविनश्वर ऐश्वर्यवाले भगवन् हममें भी इस उन्नतिशील तथा सत्यज्ञानमय बुद्धि को पूर्णरूपसे प्रवाहित करो। हे भगवान्! हमें गौओं और अश्वोंसे समृद्ध करो, हम उत्तम मनुष्योंके साथ मिलकर उत्तम मनुष्योंके सहयोगी होकर उत्तम बनें।

उतेदानीं भगवन्तः स्याम,
उत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदित मघवन् त्सूर्यस्य
वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥

(ऋ ७।४१।४; यजु ३४।३७; अथर्व. ३।१६।४)

हे परमेश्वर! हम इस समय ऐश्वर्यसंपन्न हों और सायंकालके समय, मध्याह्नकालमें तथा सूर्योदयके समय ऐश्वर्य संपन्न हों। हम नित्य दिव्यजनोंकी सुमतिमें रहें।

भग एव भगवां अस्तु देवा-
स्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति,
स नो भग पुरएता भवेह ॥

(ऋ. ७।४१।५; यजु. ३४।३८; अथर्व ३।१६।५)

हे सकल ऐश्वर्य संपन्न! आप ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ही हमारे लिए ऐश्वर्यरूप होजावे, उसीसे हम ऐश्वर्यवाले हों, हे ऐश्वर्यरूप परमेश्वर, उस आपका ही सब संसार पुनः पुनः आह्वान करता है। हे ऐश्वर्यस्वरूप! आप हमारे सभी कर्मोंमें प्रथम स्मरण करने योग्य हो।

प्रातः जीवनका आरंभ भगवान्के स्मरणसे होता है, प्रातः सायं संध्या अग्निहोत्रमें भगवान्का भजन कीर्तन तथा राष्ट्रका हित चिन्तन किया जाता है। दोनों समय भोजन करते समय भगवान्का धन्यवाद किया जाता है। रात्रिको सोते समय मनमें शिव संकल्प धारण किये जाते हैं। इसप्रकार वैदिकसंस्कृतिमें प्रातः से रात्रीतक कभी भी भगवान्को नहीं भूलते, सदा भगवान्की देखरेखमें सब कर्तव्य किये जाते हैं, फलस्वरूप सारा जीवन निरंतर मंगलमय होता है। घर स्वर्गधाम बनता है

उषा दर्शनसे लाभ

समध्वरायोषसो नमन्त
दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो
रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु।

(ऋ ७।४१।६; यजु. ३४।३९; अथर्व. ३।१६।६)

पवित्र स्थिति प्राप्त करनेके लिए बुद्धिके समान इस हमारे यज्ञकी पूर्तिके लिए ये उषाएं हमे प्राप्त हों। जिस प्रकार वेगवान् घोडे रथको ले जाते है उसी प्रकार यह उषाकाल हमारे सामने ऐश्वर्यवान् प्रभुको ले आवें।

उषा समय परमात्माका ध्यान करनेसे सत्ज्ञानकी वृद्धि तेज बल ऐश्वर्यकी प्राप्ति तथा भगवान्का साक्षात्कार होता है।

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो
वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीना
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः

(ऋ ७।४१।७; यजु. ३४।४०; अथर्व. ३।१६।७)

ये भद्र उषाएं नित्य अश्वोंवाली, गोओंवाली उत्तम संतानवाली होकर चमकें। घी बहाती हुई सब प्रकारसे पूर्ण हुई हुई चमकें। हे उषाओ, तुम अपनी कल्याणी रक्षाओंसे हमारी नित्य रक्षा करो।

उषाएं सूर्य किरणोंसे प्राणशक्तियोंको विकसित करती हुई हृदयको प्रकाशित करती हे और मनुष्य अमृतरससे तृप्त होकर आत्मानन्द अनुभव करता है।

उषा आप स्वसुष्टमः सं वर्तयति
वर्तनिं सुजातता (साम.४।११।५; ऋ. १०।१६२।४)

उषा अपनी सुन्दर चमकसे अंधकारको दूर कर देती है और पथिकको सन्मार्गमें रखती है।

मनुष्य पथिक है उसे जीवनयात्रामें नित्य उषा दर्शनसे मेधा बुद्धि प्राप्त होती है और वह सन्मार्गमें चलकर अपनी जीवनयात्राको सुगम करता है और प्रकाश पाता है।

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं च तनयं च धीमहे। (यजु ३४।३३)

हे बल ऐश्वर्यवाली उषा ! तू हमारे लिए उस अद्भुत ऐश्वर्यको प्राप्त करा जिससे हम सुशील पुत्रपौत्र आदिको प्राप्त करें और उनका पालनपोषण कर सकें।

जिन घरोंमें उषासे पहले जागनेका स्वभाव हो जाता है वे घर सदा चमकते हैं, शुद्ध पवित्र रहते हैं। उन सुन्दर स्थानोंमें सभी कर्तव्यशील वृद्धयुवा बालकोंमें स्फूर्ति और चेतनता रहती है उषा बल और ऐश्वर्य देती हे यह सत्य है अनुभव सिद्ध है।

वैदिक संस्कृतिमें भगवान्में पूर्ण श्रद्धा है। इस संस्कृति में जीवन भर भगवानके व्रतमें व्रती होना है। भगवान्की यह विस्तृत पृथिवी यज्ञस्थली है। यहां हर पदार्थ पर उपकार में लगा हुआ है। भगवान्के रचे हुए सभी पदार्थ उपकारके व्रतका निर्देश कर रहे हैं। परोपकार करना भगवान्का व्रत है। भगवान् स्वयं पूर्ण हैं उनसे सृष्टि होती है फिर भी वह पूर्ण हैं उपकार करनेसे मनुष्यमें न्यूनता नहीं आती। अभिमान रहित उपकार कल्याणकारी है।

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन।
स्तोतारस्त इह स्मसि। (यजु. ३४।४१)

हे सबके पोषक परमेश्वर ! हम तेरे व्रतमें रहते हुए कभी कष्ट न पावें, तेरे गुणगान करनेवाले हम तेरे ही होकर इस जगत्में रहें।

जो मनुष्य भगवान्का होकर यहां रहता है और निस्वार्थ सेवा करता है उसे भगवान् ऐश्वर्यवान् और शक्तिमान् करते हैं। भगवान्का व्रत निभानेवाले भगवान की शरण पाते हैं जहां न भय है न शोक है, न संकट है वहां तो आनन्द ही आनन्द और निरंतर मंगल है।

भोजनके समय प्रार्थना

तत् सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि।
(ऋ. ५।८२।१)

हम सबके उत्पादक सर्व प्रकाशक सर्वप्रद सर्वोत्कृष्ट, सर्वव्यापक परमेश्वरके लिये भोजनको स्वीकार करते हैं हम सकल ऐश्वर्ययुक्त परम पूज्य प्रभुके सर्वश्रेष्ठ सबसे अधिक उत्तम सबके धारक दोषनाशक बलको धारण करें।

प्रातः काल भगवान्का स्मरण करके जागने तथा नियम पूर्वक व्यायाम, प्राणायाम, संध्या, अग्निहोत्र, करनेसे और भगवान्को अपने सामने अनुभव करते हुए सारे कर्तव्य करनेसे मनुष्य आधिव्याधिसे बचा रहता है और पापकर्म उससे नहीं होता। भगवान्को भूलनेसे ही मनुष्य पापमें गिरता है

अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे
विश्वा वामानि धीमहि। (यजु ५।८२।६)

हम लोग सर्व प्रकाशक सर्वप्रेरक परम तेजस्वी पुत्रके परम ऐश्वर्यरूप शासनमें रहकर सर्वहितार्थ पापसे रहित होकर हम सब दान करने भोग्य ऐश्वर्यको धारण करें।

पापी मनुष्यकी संपत्तिसे यज्ञरूप सर्व हितके कार्य नहीं हुआ करते। पाप रहित जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है उसमें मनुष्यका स्वभाव उदार होता है, वह कृपण नहीं होता। कभी कंजूसी नहीं करता। दानशील मनुष्यका ऐश्वर्य बढता है। ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि उसने पवित्र होकर उदारशील होकर ऐश्वर्यको यज्ञमें–सर्वमंगल कार्योंमें लगाया है। यह भगवान्के दिव्य गुणोंमें एक गुण है कि मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करके सर्वहितमें लगाए, इससे ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है।

आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे।
सत्यसवं सवितारम् (ऋ. ५।८२।७)

हम लोग विश्वके प्रकाशक सबके दाता और सर्वोपास्य समस्त शुभगुणोंके धारक समस्त सज्जनोंके पालक, सत्य ऐश्वर्ययुक्त सर्वोत्पादक सर्वरक्षक परम पिता परमेश्वरकी आज सुन्दर स्तुतियोंसे वन्दना करते हैं।

वैदिकसंस्कृतिमें भगवान्की वन्दनाका मुख्य स्थान है। मनुष्य शुद्ध पवित्र होकर भगवान्की स्तुति करता है और पापरहित जीवन व्यतीत करता है। फिर भी पापका प्रवाह

भयंकर होता हुआ भी अपने नाना प्रकारके प्रलोभनोंमें मनुष्योंको डालकर मनुष्योंको मोहित करता है और इन्द्रिय सुख पानेकी इच्छासे विलासिता तथा पापकर्ममें मनुष्य फंस जाता है। ऐसी अवस्थामें भी बलप्राप्तिके लिए मनुष्य भगवान्से प्रार्थना करता है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव। (यजु. ३०।३)

हे परमपिता, सर्व रक्षक, हे सर्व सुखोंके दाता, परमेश्वर! सब प्रकारके दुष्ट आचरणों और दुखदायी बुरे व्यसनोंको दूर कीजिये। जो सुखदायक, कल्याणकारी है उसे हमें प्राप्त करायें॥

भगवान्के आगे अपने दुर्व्यसनोंको स्वीकार करनेसे तथा उनसे प्रार्थना करनेसे मनुष्यमें बल आता है और वह पापों पर, दुष्कृत्योंपर विजय पाता है। पश्चात्ताप और दृढ निश्चयसे मनुष्य पापसे अलग होकर परम सुखलाभ करता है

वैदिक संस्कृतिमें मनुष्य सदाचार, धर्माचरण और यज्ञशील होनेसे न केवल आप उन्नत होता है अपितु अन्य सबकी, जिनसे उसका सम्पर्क होता है, उन्नतिमें भी सहायक होता है। वैदिक संस्कृतिमें सबका परमहित है, सभीकी उन्नति है, इसीलिए यह आदर्श संस्कृति है और इसे सभी मनुष्योंको अपनाना चाहिए।

ऐश्वर्यसम्पन्न राष्ट्र

मनुष्य समृद्ध हों, उदारहों, ऐश्वर्यका सद्व्यय करें, संपत्ति का सदुपयोग समझे, सर्वहितकी योजनाएं बनाए और उन्हें पूरी लग्नसे पूरी करें, और मंगल कार्योंमें ही अपना समय व्यतीत करें। मंगल कार्य वही है जो सबके हितोंकी दृष्टिसे सबके परम सुखकी कामनासे किये जाते हैं। इन कार्योंमें शिक्षा, स्वास्थ्यरक्षा, अन्नकी वृद्धि, आदि सभी उत्तम कार्य संम्मिलित हैं। राष्ट्र सुरक्षित तथा समुन्नत तभी होता है जब सबकी उत्कट इच्छा राष्ट्रको उन्नत करनेकी हो। समाज तथा राष्ट्रमें सबसे बडा स्वार्थ है। स्वार्थ पर अनुशासन हो इसीलिए शासनपद्धतिमें बनती है। स्वार्थसे ही चोरी, स्वार्थसे ही जनसंहार ' स्वार्थसेही झूठ कपट आदि व्यसन' स्वार्थसे ही सब पाप होते हैं। स्वार्थपर नियंत्रण करना परम आवश्यक है। व्यक्तित्व अवश्य उन्नत हो परन्तु दूसरों के अधिकारोंको दबाकर नहीं, व्यक्तिमें कार्य तथा विचारकी स्वतंत्रता अवश्य हो परन्तु उसी सीमातक जहांतक दूसरों के हितोंमें बाधा न पडे। हरएकको अधिकार है कि वह विचार तथा मतधारणमें स्वतंत्र हो किन्तु सब मनुष्योंको सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालनेमें परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियममें स्वतंत्र रहे। प्रत्येक को अपनी ही उन्नतिमें संतुष्ट न रहना चाहिए, किंतु सबकी उन्नतिमे अपनी उन्नति समझनी चाहिये। सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

जहां स्वार्थ बढ जाता है वहा परस्परकी प्रीति नहीं रहती। सत्यलोप हो जाता है। स्वार्थसिद्धि ही चतुराई समझी जाती है। धर्मको जीवनमें स्थान नहीं मिलता। धर्म केवल क्रियाकलापकी वस्तु रह जाता है। धर्मको कोई धारण नहीं करता, धर्मका ढोंग ही धार्मिक जीवन माना जाता है। ऐसा समाज एक पतित समाज है ऐसे समाजका उद्धार कठिन हो जाता है।

ऐसे समाजमें सर्वहितैषी,आत्मत्यागी मनुष्यका कोई कहना नहीं मानता। यदि ऊपरसे ऐसे नरश्रेष्ठका यश भी बखाना जाता है तो हृदयसे उसके शिक्षाकी अवहेलना ही होती है ऐसा समाज वास्तवमें समाज होता ही नहीं वह तो केवल मानवों की संख्यामात्र है वहां मानवताका ह्रास हो चुका है। ऐसे समाजमें सर्वहितकारी पुरुषश्रेष्ठको यातनाएं सहनी पडती है और अन्ततः उसका बलिदान हो जाता है। देवतुल्य उस मानवके पीछे तो लोग पछताते हैं और उसे याद भी करते हैं। उसकी प्रतिमाका भी आदर करते हैं परन्तु उसकी शिक्षा ग्रहण नहीं करते, ऐसी अवस्था परम शोचनीय है। जहां जीवन नहीं होता, जीवनका आभासमात्र होता है। लक्ष्मी और शोभा ऐसे समाजमें नहीं टिका करती। दरिद्र समाज हीनसे हीनतर और हीनतम अवस्थाको प्राप्त होता है और लोग दीन दुःखी रहते हुए अपने भाग्यको कोसते हैं।

लोगोंकी सामूहिक शक्ति ही समाजको दृढ करती है। लोगोंमें आगे बढनेकी रुचि हो और रुचि अनुसार पवित्र रहते हुए प्रगति हो तभी दक्षिण मार्गसे चलते हुए ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। ऐश्वर्यमे जातिहित, देशहित और राष्ट्रहितके लिए सभी कर्मफलका कुछ अंश भी त्याग करें तो देशमें शक्तिका उदय होने लगता है। उन्नत व्यक्तियोंका संगठन ही समाज है और उसीसे राष्ट्र उन्नत होते हैं। राष्ट्र है ही सामूहिक भावनाओंका केन्द्र। सबकी भावना उन्नतिकी ओर हो सभी राष्ट्रके लिए समाजके लिए त्याग करें तो उत्तरोत्तर उन्नति होती है और राष्ट्रकी शक्ति

स्थिर होती है और राष्ट्रकी ऊर्ध्वगति होती है । राष्ट्रमें गति हो तभी राष्ट्र सबल और सशक्त रहता है । कर्मण्य, कर्मठ, कर्तव्यशील मनुष्य ही समाज तथा राष्ट्रको ऐश्वर्यशाली और समृद्ध बनाते है । समृद्ध राष्ट्रके लोगोंमें यदि अभिमान और विलासिता न हो । उनके मनोरंजन पापरहित और निर्मल हों तो राष्ट्र सदा समृद्ध बना रहता है ।

अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम् ।
परा दुःष्वप्न्यं सुव (ऋ. ५।८२।४)

आज हे ज्योतिर्मय, हमें उत्तम समृद्धि प्रजाके समान प्रदान कर, हे सर्व प्रेरक, हमारे बुरे स्वप्न आनेके कारणको दूर कर ।

चिन्तित मनुष्यको बुरे स्वप्न आते हैं । चिन्ताका कारण दूर किये बिना स्वप्न दूर नहीं होते । सत्संगसे, उद्योगी यत्नशील मनुष्यके सम्पर्कसे मनुष्य अपने आपको ऊंचा उठनेका सामर्थ्य प्राप्त करता है और पुरुषार्थ करके निश्चिन्त होकर बुरे स्वप्नोंके कारणको दूर कर देता है ।

चिन्तारहित होकर वत्तचित्त होकर कार्य्य करनेसे भाग्य जाग जाता है और मनुष्य हर प्रकारसे उन्नत होता है मनुष्य अमरत्वका यात्री है वह क्यों अटके ? उसे तो अमरत्व प्राप्त करना है वह ऐश्वर्यमें क्यों अटके ? ऐश्वर्य भी तो साधनमात्र है यदि ऐश्वर्य ही साध्य हो जाय तो उपद्रव होगा, अनर्थ हो जायगा। ऐश्वर्य साधन ही रहना चाहिए । ऐश्वर्यवान् मनुष्य यदि ऐश्वर्यका मर्म समझे तो ऐश्वर्यका सदुपयोग करे और स्वयं उच्चतम उन्नति प्राप्त करे और सामूहिक नौर पर समाज और राष्ट्र भी उन्नत हो । बिना तप और श्रमके कोई उन्नति साध्य नहीं । स्व राष्ट्र भी तो निस्स्वार्थ तत्त्वदर्शी ऋषियोंने तप और दीक्षासे ही प्राप्त किया है । स्वराज्य भी सुराज्य हो यह भगवान्के व्रतोंके पालनसे ही संभव है । भगवान तथा भगवान्की दिव्य शक्तियां सभी परोपकार रत हैं मानवमें स्वार्थ अधिक है परोपकार दिखावके लिए है । पर उपकार वास्तवमें पराए लोगोंपर उपकार नहीं है वह तो जनसेवा द्वारा जनार्दन पूजा है और इसप्रकार अपना ही उपकार है । परका भाव न आवे, अन्धता दूर हो जाय और अनन्धता मन वचन कर्ममें स्पष्ट हो तो मनुष्य सेवा करता हुआ दान करता हुआ भी परोपकार न करेगा, कर्तव्य ही समझेगा कर्तव्य ही करेगा । शरीरके सभी अवयव कर्तव्यरत हैं । सारे देवता कर्तव्यरत हैं । वे परोपकार करते हैं पर परोपकार कहते नहीं । इसप्रकार जब मनुष्य सर्वहितम निजोहित समझकर कर्तव्य पालन करने लगेगा तो सुराज्य होगा और सभी सुखी होंगे । भूख, त्रास, रोग मृत्युसे सुराज्य में कोई पीडित न होगा, वह ऐश्वर्यवान राष्ट्र होगा, उसमें कोई दरिद्री न होगा, क्योंकि वहां कोई आलसी, प्रमादी, और अकर्मण्य न होगा ।

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियं
सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि ।
सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां
दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः ॥
(यजु० ५।६)

हे सर्वनियन्ता ! हे तेजस्वरूप ! तू व्रतोंका पालक है । मैं भी तेरी सहायतासे ही व्रतोंका पालक हूं । जो तेरा स्वरूप है वह मेरा हो. जो मेरा स्वरूप है वह तेरा हो । हम दोनों साथ साथ व्रतोंके पालक होवें । हे दीक्षापति ! तेरे अनुकूल मेरी दीक्षा हो । हे तपके पालक ! मेरा तप तेरे अनुकूल हो ।

राष्ट्रकी उन्नति तप और दीक्षापर अवलंबित है, क्योंकि राष्ट्रकी उत्पत्ति भी तप और दीक्षासे ही है । सत्य ही तप है । सत्य ही व्रत है, सत्यकी ही दीक्षा होती है सत्यमें स्थिति ही श्रद्धा है ।

अग्ने व्रतपते व्रत चरिष्यामि तच्छकेयं
तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।
(यजु. १।५)

हे व्रत पालक ईश्वर ! मैं व्रतका पालन करूं । मैं इसमें समर्थ होऊं । मेरा वह व्रत सिद्ध हो, अब मैं असत्यको छोडकर सत्यको प्राप्त होता हूं ।

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ।
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते (यजु २।२६)

हे स्वयं सत्तावान् जगदीश्वर ! आप अति प्रशंसनीय प्रकाशमय तेजके देनेवाले हो, अतः मुझे भी तेज प्रदान करो । मैं सदा सूर्यके आवर्तनके सदृश नियमपूर्वक आचरण करता हुआ जीवन व्यतीत करूं ।

व्रत निभानेके पश्चात् मनुष्यके भाव धन्यवाद और कृतज्ञताके होते हैं उसमें अहंकार और अभिमान नहीं होता—

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं ।
तन्मेऽराधीदमहं य एवास्मि सोऽस्मि ॥
(यजु. २।२८)

हे व्रतपति ईश्वर, आप व्रत पालन करानेवाले है । आपकी शरणमें आकर मैं व्रत पालन कर सका । आपने ही मेरे उस व्रतको सिद्ध कराया । अब मैं व्रतपालन द्वारा जैसा बन सका वैसा हूं ।

ये कृतज्ञताके भाव है जो व्रतके पूर्ण होनेपर व्रतीके हृदय से निकले है ।

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु
मा मा हिंसीः । नि वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय
प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥
(यजु. ३।६३)

हे राष्ट्रयज्ञ ! तू निश्चयसे कल्याणकारी है । स्वयंभू परमेश्वर तेरा पिता है । तेरे लिए नमस्कार है । तू मेरी रक्षा कर । दीर्घायुके लिए उत्तम अन्नके लिए, प्रजनन शक्ति के लिए, सुसन्ततिके लिए तथा उत्तम बल पराक्रमके लिए मैं निश्चयसे तेरा आश्रय लेता हूं ।

राष्ट्रयज्ञ पवित्र मनुष्योंके निस्स्वार्थ कर्तव्योंसे उन्नत होता है तथा उन मनुष्योंमें दीर्घायु, उत्तम अन्न सुसन्तान बल और पराक्रम देता है । राष्ट्र एक महान् शक्ति है इसे तुच्छ स्वभावके लोग धारण नहीं कर सकते । निष्पाप उत्तम कर्म करनेवाले उदार प्रकृतिके मनुष्य ही इसे धारण करते हैं और यह राष्ट्र उनमें सह ओज उत्पन्न करता है । सह ओजसे राष्ट्र चमकता है राष्ट्रके तेजसे राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्तिको शक्ति बढती है और यश और कीर्ति होती है । इसप्रकार सुसंपन्न और ऐश्वर्ययुक्त राष्ट्र विश्वमें आदर पाता है ।

शान्तिः

जिस शान्तिके लिए आज संसार लालायित है और वह प्राप्त नहीं हो रही और संसारके नर नारी ग्रस्त और भयभीत हैं उसका स्वरूप वैदिक संस्कृतिमें अद्भुत है -

ऐश्वर्य प्राप्त हो जाने पर विद्युत और अग्नि, अस्त्रों और रक्षासाधनों द्वारा हमें शान्तिदायक हों, ज्ञान विज्ञानसे हमें शान्ति हो, अन्नको प्राप्त करनेवाले जल हमें शान्ति दें, सेना तथा सेनापति हमें शान्ति दें, आचार्य और शिष्य, वैद्य और औषधियें हमें सुखमय जीवन दें और दुःख दूर करें ऐश्वर्य हमें सुखकारी हों, अनुशासन हमें सुख दे । हमारी बुद्धि हमें शान्ति दे, उत्तम शासक हमें शान्ति दें, प्रतिष्ठ न्यायाधीश हमें शान्ति दें, सत्यका उपदेशक हमें शान्ति दे, अन्न हमें शान्ति दे, सूर्य और अन्तरिक्ष हमें सुख दें, मेघ और पर्वत हमें शान्ति दें, विद्वान् हमें शान्ति दें । तेजधारी सैनिक हमें सुख दें, हमारे स्नेही मित्र हमें शान्ति दें, जितेन्द्रिय स्त्रीपुरुष हमें शान्ति दें, पुण्यात्माओंके पुण्यकर्म हमें शान्ति दें, सदा गमनशील वायु हमें शान्ति दें, विद्वानोंके श्रेष्ठकर्म हमें शान्ति दे, वासदेनेवाले घर हमें शान्ति दें, वर्षके बारह मास हमें शान्ति दें, समुद्रसे हमें सुख हो, जनतामें शान्ति हो हमारे यज्ञ (सर्वहितके कार्य) हमें शान्ति दें, चारों दिशाए हमें शान्ति दें, स्थिर पर्वत हमें शान्ति दें, नदियां हमें शान्ति दें, अखंड व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारियों और माता पिता पुत्र परिवारके सभी लोग हमें शान्ति दें, प्रभातवेला हमें शान्ति दे, मेघ तथा हमारी भूमि हमें शान्ति दे, सारे विद्वान्, हमारी विद्या तथा वाणी हमे शान्ति दें, पृथिवीके सभी पदार्थ हमें शान्ति दें, जलमें उत्पन्न सभी पदार्थ शान्ति दें, व्यापारी हमें शान्ति दें, सत्य व्यवहार और सत्य धर्मके पालक हमें शान्ति दें, अश्व हमें शान्ति दें, गौवें हमें शान्ति दें, धर्मात्मा अपने सुकृतोंसे हमें शान्ति दें, कला कौशल शिल्पमें हमें सिद्धहस्तलोग हमें सुख दें, सत्य ज्ञानी पुरुष कठिन अवसरोंमें तथा यज्ञोंमें हमारे सहायक हों, नौकाओंसे नदियों और समुद्रोंमें जलयानोंसे हमें सुख मिले, सर्व सुखदाता सर्व प्रकाशक प्रभु हमें शान्ति सुख दे । सत्यके जाननेवाले दीर्घायु, जीवनमुक्त यज्ञियोंके भी पूज्य सत्कारयोग्य उपकारशील, मनस्वी जन हमें शान्तिका उपदेश करें (ऋ० ७।३५)

जो यहां भयंकर है घोर है और जो इस जगतमें कठोरता है वह कल्याणरूप होजाय, जो यहां पाप है सब शान्त हो । हमारे निकट शान्ति सुख और कल्याण रहे । सब प्रकारकी शान्तियों के साथ मेरा शान्तिमय आत्मा भी शान्तरूप धरण करे, हमारे सभी काम शान्ति दें, शान्ति भी सच्ची शान्ति हो जिससे हृदय शान्त हों, आपसमें प्रेम हो, वह परम शान्ति मुझे प्राप्त हो, (यजु ३६।१७, अथर्व १९ ९।१।२, अथर्व १९।९।१४)

शान्तिका ऐसा व्यापकरूप मिलना कठिन है । हमारे सारे कार्य शान्ति देनेवाले हों, हमारे भाव, आचार, विचार संकल्प सभी लोककल्याणके लिए हों । हमारी वाणीसे, व्यवहारसे, आपसके बर्तावसे परस्पर सुख शान्ति प्राप्त हो यही वैदिक संस्कृतिका मूल मंत्र है । सभी सुसंस्कृत हों और

सबमें समृद्धि हो, शान्ति हो

रातके समय सोनेसे पहले स्मरण करने योग्य भाव—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । (यजु. ३४।१)

आत्माका साधक जो मनुष्यका मन जागते हुए दूरतक जाता है और वही सोते हुएका भी उसी प्रकार दूरतक जाता है। वह दूर दूरतक जाने वाला इन्द्रियोंका अद्वितीय प्रकाशक मेरा मन शिव संकल्पवाला हो ।

जाग्रत स्वप्न अवस्थामें जो दूर भागता रहता है
आत्म प्रेरित इन्द्रिय गणको सदा जो ज्योति देता है ।
वह मेरा मन निशिदिन भगवन् शुभ ही शुभ संकल्प करे।
श्रेष्ठ विचारोंसे युत होकर दुष्ट गुणोंको दूर करे ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।। (यजु० ३४।२)

जिस मनसे कर्मण्य मनस्वी दृढ निश्चयी धीर मनुष्य सर्वहितके आयोजनोंमें कार्य करते हैं और जो प्रजाओंके भीतर सब इन्द्रियोंकी सुव्यवस्था करनेवाला है वह मेरा मन शिव संकल्प वाला हो ।

ज्ञानी कर्मवीर जिस मनको सभी तथा शुभ कर्मोंमें, ।
सदा लगाते जो अदभुत है अन्दर गुप्त शक्ति सबमें, ।
वह मेरा मन नशिदिन भगवन् शुभ ही शुभ संकल्प करे ।
श्रेष्ठ विचारोंसे युत होकर दुष्ट गुणोंको दूर करे ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । (यजु. ३४।३)

जो मन ज्ञानका, स्मृतिका, और धारणाका साधन है और जो प्राणियोंके भीतर अमर अन्तर ज्योति है, जिसके विना कोई भी काम नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन शिव संकल्पवाला है ।

उत्तमज्ञान बोधका साधन, जो है अमृत ज्योति समान ।
जिसके विना न कुछ होता है सबके अन्दर जिसका स्थान ।।
वह मेरा मन निशिदिन भगवन् शुभ ही शुभ संकल्प करे
श्रेष्ठ विचारोंसे युत होकर दुष्ट गुणोंको दूर करे ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ (यजु. ३४।४)

जिस अमृत मनके द्वारा अतीत, वर्तमान, और भविष्यत कालके सब पदार्थ जाने जाते हैं, जिससे शिरकी सप्त प्राण-शक्तियोंमें जीवनरूपी यज्ञ संपन्न होता है वह मेरा मन शिव संकल्पवाला हो ।

भूत भविष्यत वर्तमान सब जिस मनने है ग्रहण किये,
सप्त इन्द्रिय होता जिस कारण ज्ञान यज्ञको रचे हुए । वह मेरा मन निशिदिन भगवन् शुभ ही शुभ संकल्प करे । श्रेष्ठ विचारोंसे युत होकर दुष्ट गुणोंको दूर करे ।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि
यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।। (यजु. ३४।५)

जिस मनमें ऋक् यजु और साममंत्र रथकी नाभिमें अरोंके समान प्रतिष्ठित हैं, जिसमें प्रजाओंका सकल चित्त ओत प्रोत है वह मेरा मन शिव संकल्पवाला हो ।

वेदोंके आश्रय है होता जिस मनको सारा विज्ञान ।
हैविचार केन्द्रित जिस मनमें रथनाभिमें अरे समान ।
वह मेरा मन निशिदिन भगवन् शुभ ही शुभ संकल्प करे।
श्रेष्ठ विचारोंसे युत होकर दुष्ट गुणोंको दूर करे ।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् -
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।। (यजु. ३४।६)

उत्तम सरथि बागोंसे (लगामोंसे) वेगवान् अश्वोंको (घोडोंको) जिसप्रकार नाना मार्गोंपर ले जाता है उसी प्रकार जो मन अपनी शीघ्र क्रिया करनेवाली प्रेरक प्रकृतियोंसे ज्ञान बलसे युक्त मननशील मनुष्योंको ले जाता है और जो हृदयमें स्थित अजर सदा समर्थ है और सबसे अधिक वेगवान् है वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो ।

इन्द्रियरूपी घोडोंको जो सारथिसम ले जाता है ।
हृदय स्थित जिस मनका अनुपम वेग न मापा जाता है ।
वह मेरा मन निशिदिन भगवन् शुभ ही शुभ संकल्प करे ।
श्रेष्ठ विचारोंसे युत होकर दुष्ट गुणोंको दूर करे ।

देवेन नो मनसा देव सोम रायो
भागं सहसावन्नभि युध्य। (यजु. ३४।२३)

हे सर्वशक्तिमन् प्रेममय प्रकाशस्वरूप देव दिव्यगुण संपन्न दिव्यमनसे हमें ऐश्वर्यके भागको प्राप्त कराइये।

दिव्यमनसे, दिव्य गुणवाले भावोंसे, दिव्य आचार, दिव्य विचारोंसे जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह ऐश्वर्य भी दिव्य होता है उस दैवी संपदमें मनुष्यका परमकल्याण है। शुभ संकल्पोंसे ही सदा शुभ कार्य हुए हैं जिनसे सबका मंगल हुआ है। रातको सोते समय सबके प्रति मंगल कामना करनेसे मनुष्यको शान्तिमय निद्रा आती है और अगले दिनके लिए शक्ति मिलती है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभागभवेत्।

सब सुखी हों सब निरोग हों सबका कल्याण हो कोई दुखी न हो

ऐसी भावनासे चित्त शान्त होता है और उत्तम वायुमंडल बनता है, जिस वातावरणमें सबके विचार शुद्ध होते हैं और सभी सद्भावनासे प्रेरित होकर सद्व्यवहार करते हैं। मनमें कल्याणकारी भावनाएं स्फुरित होती हैं और परस्पर सुख, शान्ति और आनंद होता है। समृद्धि और ऐश्वर्यकी कुंजी सद्भावना है एक दूसरेके लिए शुभ कामना है। सद् भावनामें स्थायी मेल होता है और परस्पर प्रेम बढता है कभी संदेह नही होता सब एक दूसरे पर विश्वास करते हैं कोई प्रतिज्ञा भंग नहीं करता, कोई विश्वासघात नहीं करता, सबमें सात्विक वृत्ति जाग्रत रहती है यही दिव्य जीवन है इसमें शान्ति, समृद्धि और शक्ति है।

आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे (यजु. ३।५४)

पुनः वह मनन शक्ति हमें सत्कर्मके लिए दक्षताके लिए सुन्दर जीवनके लिए और चिरकाल पर्यन्त सूर्यदर्शनके लिए प्राप्त हो।

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातं सचेमहि। (यजु. ३।५५)

अनुभवी दिव्य जन हमें पुनः मनन शक्ति दें जिससे हम व्रतोंसे युक्त जीवन बना सकें। व्रतोंमें मनुष्य उन्नत होता है।

+

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।
(यजु. १९।३०)

व्रतसे दीक्षाको प्राप्त होता है। दीक्षासे दक्षिणको प्राप्त करता है। दक्षिणासे श्रद्धा और श्रद्धासे सत्यको प्राप्त करता है।

व्रतसे सत्य नियमके पालनसे, मनुष्य सत्यका अधिकारी बनता है, सत्य प्रेमी होनेसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, उन्नति होती है। उन्नत होते हुए मनुष्यमें सत्य धारण करनेकी तीव्र इच्छा होती है वही श्रद्धा है। श्रद्धासे, सत्यज्ञान प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छासे सत्यका साक्षात होता है।

इसप्रकार अनुभूत सत्य सब कामनाओंकी पूर्ति करता है परम ऐश्वर्यवान् बनता है और बडे बडे यज्ञोंको पूर्ण करनेका सामर्थ्य देता है। सत्य ही धर्म है। सत्य ही कर्म है। सत्य ही शिव है, सत्य ही सुन्दर है। सत्य ही ज्ञान सत्य ही विज्ञान है। सत्य ही परम साधन है। सत्य ही परम बल है। सत्य ही परम शक्ति है। सत्यसे मन पवित्र होता है, सत्यसे बुद्धि उज्ज्वल होती है। सत्यसे प्रेम स्थिर होता है। सत्यसे हृदय पवित्र होता है और पवित्र हृदयमें अनुपम सामर्थ्य होता है। पवित्र हृदयमें ही भगवान्का अनुभव होता है, सत्य परम पावन है सत्य परम गति है, सत्य सर्वस्व है, सत्यका आश्रय परम आश्रय है, सत्य भगवान् है। और भगवान् सत्य है। सत्यमें ही मानवका सौन्दर्य है। सत्यमें ही मानवकी मानवताकी पूर्णता है। सत्य परम संपद है। सत्य अमर तत्त्व है। मर्त्यको अमर बनानेवाली सत्यकी ही सत्ता है। सत्यसे जीवन यज्ञ सफल होता है। सत्य जगतका आधार है। सत्य ही वह ज्योति है जिससे हृदयमें प्रकाश है। सत्यमें ही अमर जीवन है। सत्यमें ही अमर यश है। सत्य शाश्वत है। सत्य सनातन है। सत्य सदा बढता है, । सत्यका ह्रास नहीं होता, सत्यकी सदा विजय होती है। सत्यमें जीवनकी शोभा है सत्य ही श्री है। सत्य व्यापक है। सत्य ही अवलंबन है। सत्यका अवलंबन परम अवलंबन है।

सत्यमें ही शिवसंकल्प होते हैं। सत्यमें ही परस्पर हितकी भावना स्थिर रहती है। सत्य परम बंधु, सत्य परम रक्षक है। सत्य नित्य है सत्य सदा एकता रहता है सत्य अक्षय है। सत्यमें महानता है, सत्यमें विशालता है। सत्यमें ऐश्वर्य समृद्धि और शक्ति निहित है।

सत्यसे मन शुद्ध होता है और शुद्ध मनमें अनुपम शक्ति होती है।

मनुष्योंके परस्परकी शुभकामनामें अदम्य सामर्थ्य है। सत्य और प्रेमसे सभी कार्य्य सुफल होते हैं। सत्यमें स्थिर उन्नति और दीर्घायु है। सत्यमें भगवान्का अनन्त बल है। सत्यमें ही दिव्य शक्तियोंका विकास होता है। सत्यमें कीर्ति है प्रतिष्ठा है, सबका मान है। सत्य विश्वका आधार है। जो राष्ट्र सत्यपर चलता है वह ऐश्वर्यमें तथा सत्कर्ममें नाम पाता है। वैदिक संस्कृतिमें सत्य और ऋत ही ब्रह्मांड की केन्द्रियशक्ति है ऋत और सत्यसे ही सारी जगती सुनियमित है।

मनुष्य सत्यको जीवनमें धारण करे तो उसका अनन्त सत्यरूप भगवान्से संबंध निरंतरका हो जाता है और जो सामर्थ्य भगवान् अपने नियमोंमें वर्त रहे हैं उस सामर्थ्यको सत्यव्रती भगवान्से पाता है और महान कार्योंको सुगमतासे कर लेता है। उसे भगवान्से निरंतर प्रेरणा मिलती है और वह सभी कार्य्य निर्भ्रान्त करता हुआ सफल होता है और अपनी सफलता भी भगवान्हीको अर्पित करता है। इसप्रकार सत्य संकल्पवाले शुभ कामना युक्त मनुष्य संसारमें महान् कार्य्योंमें परस्परके सहयोगसे सफल होते हैं, और अमर यशके भागी बनते हैं।

सत्य, यश और शोभा यही जीवनयज्ञका क्रम है। मनुष्यने स्वार्थमें श्रीको पहला स्थान दिया है और श्री ही ध्येय बना लिया है। श्री तो सत्यके साथ होती है लक्ष्मी और शोभा तो सत्यमें है। सत्यके जीवन-कार्य्यमें रहनेसे, लक्ष्मी, शोभा और यश तीनों प्राप्त होते है। सत्य व्यापक है सत्यको सीमित नहीं किया जा सकता। समस्त जीवनमें सत्य हो तभी जीवनयज्ञ पूर्ण होता है। व्यापक सत्य हमारे राष्ट्रमें हो और सभी ऐश्वर्यवान् और शोभायुक्त तथा यशस्वी हों, यही कामना है॥

ओंकार विज्ञान

लेखक— श्री रणछोडदास 'उद्धव'

१६ उपास्य और जीवात्मा

प्रश्न-सोलहवें मन्त्रका रहस्य क्या है ?

उत्तर-सोलहवें मन्त्रमें भक्त देवसे प्रार्थना करता है कि-'हे पोषक'! एक दृष्टा! नियामक! तेजप्रदाता! प्रजापालक! तेरी किरणोंको एकत्र कर और एक ओर कर। जो तेरा अत्यन्त कल्याणकारी तेजोमय रूप है, वह तेरा रूप मैं देखता हूँ। जो यह प्राणोंमें पुरुष है, वह मैं हूँ।'

प्रश्न-एकर्षे, यम, सूर्य और प्रजापत्य इनका वैज्ञानिक तत्त्व क्या है ?

उत्तर-पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायुमय है और द्युलोक सूर्यमय अर्थात् आदित्यमय है। १२ आदित्योंमेंसे एक पूषा नामका आदित्य है। इस मन्त्रमें सूर्य शब्दसे उसी आदित्यका ग्रहण किया है। पृथिवीका पूषा 'एकर्षि' है, अंतरिक्षका आङ्गिरस वायुरूप पूषा 'यम' है और द्युलोकका आदित्यरूप पूषा 'सूर्य' है। ये तीनों प्राजापत्य यानी प्रजापतिकी संतान हैं। भूपिण्ड चित्याग्निमय है। इसमें अंगिरा नामका पूषाग्नि स्थित है। यही केन्द्रमें रहनेवाला पूषा पृथिवीका प्रजापति है। इसी प्रजापतिकी एकर्षि, यम और सूर्य (आदित्य) ये तीन अवस्थाएँ हैं। अग्नि, वायु और आदित्य ये तीनों एक ही पार्थिव अंगिराके विवर्त हैं अतएव तीनोंके लिए समष्टिरूपसे ऋषिने पहले 'पूषन्' शब्द कहा है। आगे जाकर इसके व्यष्टिरूप प्राजापत्यभावोंका दिग्दर्शन कराते हुए-'एकर्षे, यम, सूर्य एवं प्राजापत्य' यह कहा है। ये सब प्राणरूप हैं।

प्रश्न-कल्याणतमरूपसे कौनसा तत्त्व लिया है ?

उत्तर-तीनों लोकोंमें व्यापक पूषामें सत्यधर्मके अनुकूल और प्रतिकूल ये दो भाव हैं। पूषामें रहनेवाला हिरण्मय (देवरूप ज्योतिर्मय)-भाग सत्यधर्मके दर्शनका विरोधी है, कारण इसकी सत्तामें चाक्षुषकृष्णके दर्शन नहीं हो सकते। किन्तु तमोमय मूलभाग अनुकूल है, क्योंकि इसीकी सत्तामें चाक्षुषकृष्णके दर्शन होते हैं। पूषाका यह पार्थिव तमोमयरूप ही सत्यधर्मदृष्टिमें उपयोगी बनता हुआ हमारे लिए कल्याणतम है। सत्यधर्मके दर्शनमें यही रूप अपेक्षित है। तमोमय भूतभाग पूषाका मौलिकरूप है। हिरण्मयभाग आगन्तुक है और यह हिरण्मय सूर्यका भाग तो मेरा आत्मा है, यह तो स्वयं द्रष्टा है, उपासक है, उसे देखकर मुझे क्या लाभ ? वह तो स्वयं मैं हूं। मैं उस उपास्य कृष्णतत्त्व को देखना चाहता हूं, जो कल्याणतमरूप पूषासे ढका हुआ है।

सारांश यह है कि पृथिवीका अंगिराभाग पूषा है। ९,१५ और २१ भेदसे इसके एकर्षि, यम तथा सूर्य ये तीन प्राजापत्यरूप हैं। पूषा पृथिवी है। इसके साथ दिनका और रात्रिका भी संबंध है। दिन सूर्यका भाग है, यह चाक्षुषपुरुषका ढंकना होनेसे अकल्याणरूप है। रात्रिका घोरतम भी आगन्तुक होनेसे ढकना बनता हुआ अकल्याणरूप ही है। मौलिक छायाभाग ही इसका कल्याणतमरूप है। चाक्षुषपुरुषको आप न दिनकी धूपमें देखसकते हैं और न रात्रिके अन्धकारमें देख सकते हैं। वह छायामें दीखता है। सत्यधर्मदर्शनके लिए हमें पूषाके छायारूप इसी कल्याणतमरूप पर दृष्टि जमानी चाहिए अर्थात् छायामय भूतप्रधान पूषादेवताकी ही उपासना करनी चाहिए।

इस मन्त्रके अर्थकी व्याप्ति इतनी ही नहीं है, किन्तु उक्त अर्थके साथ-साथ ही यह मंत्र वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञरूप जीवदेव सत्यका भी निरूपण करता है। भूपिण्डपर स्थित एकर्षि अग्निप्रधान वैश्वानरका, यम वायुप्रधान हिरण्यगर्भका और सूर्य इन्द्रप्रधान सर्वज्ञका स्वरूप बताता है। इन तीनोंकी समष्टि देवसत्य है, यही प्राणात्मा

हूं और मर्त्याग्निभूतमय शरीर है। इस भौतिक पूषाभागका यह देवसत्यरूप अमृताग्नि ही कल्याणतम रूप है। सत्यधर्म-रूप विज्ञानकी उपासनाके द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता हूं। पूषाका कल्याणतम अमृतरूप 'मैं' (भोक्तादेवसत्य) हूं, यह अमृतभाग उस ईश्वरीय अमृतपुरुषसे अभिन्न है, मैं उसीका अंश हूं। वैश्वानर अग्नि, तैजसवायु एवं प्राज्ञ इन्द्र इन तीनोंकी समष्टि देवसत्यरूप जीवात्मा है। इस प्रकार 'अहं' भावमें अग्नि, वायु और इन्द्र ये तीनों प्रविष्ट हैं तथापि प्रधानता वायुकी ही है। वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है। क्योंकि चिदाभासको ही जीवात्मा कहा जाता है और चित्का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है। इस चित्तका प्रतिबिम्ब महान्पर ही स्थित है। गीतामें कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। (१४। ३) 'मेरी महत्—ब्रह्मरूप प्रकृति योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजका स्थापन करता हूं।' भृगुतत्त्व ही महद्ब्रह्म है। इसकी अप्, वायु और सोम ये तीन अवस्थाएं हैं। इन तीन अवस्थाओंके कारण ही वह प्रतिबिम्ब पानी, वायु और सोम इन तीन स्थानोंमें स्थित है।

अध्यात्मसंस्थामें वैश्वानर अपानसम्बन्धी है, प्राज्ञ प्राणसम्बन्धी है और मध्यस्थ वायुरूप तैजस व्यान सम्बन्धी है। जबतक मध्यस्थ व्यान वायु अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, तभीतक जीवन साधक वैश्वानर और प्राज्ञ स्थित रहते हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥
(कठोपनिषद् ५।५)

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगच्छति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥
(कठ० ५।३)

बीचमें बैठा हुआ यह तैजसवायु इस ओरसे पृथिवीका रस लेता है और उस ओरसे दिव्यरस लेता है। पृथिवीका भाग अर्थप्रधान होनेसे मर्त्य है और दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होनेसे अमृत है। मध्यस्थ वायु दोनों ओर झुकता है।

पृथिवीका रस 'इरा' नामसे प्रसिद्ध है। महर्षि ऐतरेयने इसके संबंधसे ही प्रधान पुरुषको 'इरामय' बतलाते हुए परोक्षभावसे इसे हिरण्मय कहा है। विज्ञान पुरुष भी हिरण्मय है और प्रज्ञान पुरुष भी हिरण्मय है, केवल स्वरूपमें अन्तर है। विज्ञान पुरुष हिरण्मय (अग्नि) मय होनेसे हिरण्मय है और प्रज्ञान पुरुष इरामय (पार्थिव-अन्नरसमय) होनेसे हिरण्मय है। (देखिए ऐतरेय आरण्यक २।७) सारांश पृथिवीका मर्त्य भौतिकरस 'इरा' कहलाता है।

जिस पुरुषका वायुमय आत्मा पार्थिवमर्त्य इराकी ओर अर्थात् पार्थिव संपत्तिकी ओर झुक जाता है, उसका वह आत्मा इराप्रधान बनता हुआ मृत्युरूप बन जाता है। यदि वायुमय आत्मा इराकी आसक्ति छोड़कर ज्ञानमूर्ति प्राज्ञका आश्रय लेता हुआ 'अनिर' (इरारहित) बन जाता है, तो अमृतप्राज्ञकी प्रधानतासे यह भी अमृतरूप बन जाता है। अनासक्तिरूप बुद्धियोग द्वारा जब आपका वायुभाग अनिर बन जायगा तब वह 'अमृत' बन जायगा। यही रहस्य "वायुरनिलममृतम्" में कहा है।

(१७) विश्व और शरीर

प्रश्न–सत्रहवें मन्त्रका क्या अर्थ है ?

उत्तर–१७ वां मन्त्र कहता है कि–'कर्म कर्तापुरुष! ॐ स्मरण कर, किए हुए कर्मका स्मरण कर, हे कर्म करनेवाले पुरुष! स्मरण कर, किए हुए कर्मका स्मरणकर।' पार्थिव धातु इरा है। इससे भौतिक शरीर बनता है, यही वाक्-रूपा भूतचिति है। अन्तरिक्षकी धातु वायु है, इससे ओज-बल बनता है, यही प्राणचिति है। दिव्यधातु इन्द्र है, इससे मन बनता है, यही देवचिति है। इसप्रकार त्रैलोक्यके तीनों विवर्तोंसे अध्यात्मके तीनों विवर्तोंका निर्माण होता है।

जिसप्रकार महाविश्व उस विश्वव्यापक ईश्वरका शरीर है, उसीप्रकार हमारे जीवात्माका यह भौतिकशरीर हमारा विश्व है। दोनोंका आकार समान है, तभी तो—

"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्"
(शतपथ ब्रा. २।९।१।)

'मनुष्य ईश्वरके बहुतही समीप है, ईश्वरसे मिलता-जुलता है।' जैसी स्थिति इस आध्यात्मिक पुरुषकी है, ठीक वही स्थिति उस आधिदैविक पुरुषकी है। केवल मध्यस्थ आधिभौतिक प्रपञ्चने दोनोंमें भेद उपस्थित कर रखा है। भागवतमें भी कहा है—

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥
(भा. २।१०।८)

आत्मसृष्टिका मूलस्तम्भ आठ अक्षरकी गायत्री है। प्राणतत्त्वका ही नाम अक्षर है और " प्रादेशमितः पुरुषः " (ऐतरेय-आरण्यक १।२।४) इस श्रुतिके अनुसार प्राणतत्त्व प्रादेश (अंगुष्ठ और तर्जनीके मध्यका स्थान) प्रमाणवाला है। यह अंगुली परिमाणकी अपेक्षासे १०॥ अंगुलका होता है। कहा है–अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ' (पुरुषसूक्त) अर्थात् प्रत्येक प्राण १०॥ अंगुलका है। गायत्रीके ८ प्राणोंके अनुसार मनुष्यका शरीर ८४ अंगुलका है। और ईश्वरका शरीर ७ बालिश्त कहा जाता है–– " संवेष्टिताणु घटसप्तवितस्तिकायः " (भागवत) ७ लोक ही ७ बालिश्त है। १ बालिश्तका स्थान १२ अंगुल होता है अतः उनके ८४ अंगुलका ही ईश्वर है। ईश्वरके ७ पर्वोंके ८ पर्व हो जाते हैं। पहलेके भू और पृथिवी (प्राणरूप) ये दो विभाग हैं। ' अष्टाक्षरा वै गायत्री ' ही ईश्वरका परिमाण होता है। ये आठों पर्व मर्त्य और अमृतके भेदसे दो दो भागोंमें विभक्त हैं––

अर्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्

अमृतभागोंकी समष्टि आत्मसंस्था है और मर्त्यभागोंकी समष्टि विश्वसंस्था है। विश्व क्षरप्रधान है और आत्मा अव्ययगर्भित अक्षरप्रधान है। क्षर भूतभाग है, भूत ही भूति है, भूति ही भस्म है और वही भस्मान्त विश्व है।

ठीक यही क्रम अध्यात्ममें है। अधिदैवतको अमृतमयी आत्मसंस्थासे आध्यात्मसंस्थाओंका उदय होता है और विश्व-संस्थासे शरीरका स्वरूप बनता है। हमारे शरीरका निर्माण यद्यपि भूपिण्डसे हुआ है, परन्तु भूपिण्ड पञ्च भूतात्मक है या सप्तलोकात्मक है, अतः उससे उत्पन्न शरीरमें भी विश्वके सभी भौतिक अंशोंका समावेश सिद्ध हो जाता है। पांवसे मस्तकतक शरीर भौतिक है। इसमें उक्त भूः भुवः आदि आठों पर्वोंका भोग हो रहा है। उक्त शरीरसंस्थाका निरूपण करता हुआ मन्त्रभाग हमारे सामने आता है– ' अथेदं भस्मातं शरीरम् '।

उक्त वाक्यसे उपनिषद्‌को यही बतलाना है कि– मध्यम वायुरूप आत्मा अनिल (अनिर) बनता हुआ अमृतभावको प्राप्त हो जाता है, परन्तु शरीर भस्मीभूत बनकर यहीं रह जाता है। इसप्रकार यह ईशोपनिषद् उपक्रममें षोडशीपुरुषसे आरम्भकर उपसंहारस्वरूप शरीरतक संपूर्ण आत्म विभागों का संक्षेपसे निरूपण करती हुई अपने ' सर्वोपनिषद् '। नामको सार्थक कर रही है।

(१८) ईश–उपनिषद्‌का सार

प्रश्न–अंतिम अठ्ठारहवें मन्त्रका क्या मतलब ?

उत्तर–इसमें संपूर्ण उपनिषद्‌का सार है। १ स्वयंभू २ परमेष्ठी, ३ सूर्य, ४ चन्द्रमा एवं ५ पृथिवी, ये पांच ईश्वरीय ब्रह्म सत्य है। और १ अव्यक्त, २ महान्, ३ विज्ञान, ४ प्रज्ञान और ५ शरीर; ये पांच जीवके ब्रह्मसत्य है। १ सर्वज्ञ, २ हिरण्यगर्भ और ३ वैश्वानर; इन तीनोंकी समष्टि ईश्वरी देवसत्य है एवं १ प्राज्ञ, २ तैजस और ३ वैश्वानर की समष्टि जीवदेवसत्य है। ये ब्रह्मसत्य और देवसत्य दोनों सत्यात्मा अग्निरूप है। देवसत्यकी अग्निता तो स्पष्ट ही है। उधर ब्रह्मसत्यके पांचों पर्वोंमें स्वयंभूवाक्–अग्नि वाला है, सूर्यदेव-अग्निमय है और पृथिवी अन्नाद–अग्निवाली है। मध्यके परमेष्ठ और चन्द्रमा अन्न–सोम-रूप होनेसे अग्निगर्भित होते हुए अग्निरूप ही है।

वेदाग्निमूर्ति षोडशीपुरुष भी अग्निविभूतिसे अलग नहीं है। इसप्रकार आत्मा, बलसत्य और देवसत्य इन सबका अग्निमयत्व सिद्ध हो जाता है। आत्मसत्यसे ब्रह्मसत्य सत्य है और ब्रह्मसत्यसे देवसत्य सत्य है, ' सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ' यह सत्यतत्त्व साक्षात् अग्नि है। संपूर्ण आत्मविभूतिका इसी अग्निसत्यसे निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

' हे अग्ने ! हमें उत्तममार्गसे अभ्युदयकी ओर ले चल। हे देव ! तू हमारे सब कर्मोंको जानता है। हमसे सब कुटिल पाप दूर कर। तेरी विशेष नमनपूर्वक (हम) स्तुति करते है।' मंत्रका अर्थ स्पष्ट है, केवल ' वयुन ' शब्दका विशेष अर्थ जान लेना आवश्यक है। आवरणवादके अनुसार विश्व ' वयुन ' है। सत्तादृष्टिसे, भातिदृष्टिसे और दोनों दृष्टिसे आप जो कुछ पदार्थ प्राप्त करते हैं और देखते हैं, वे वयुन हैं। विश्वरूप वयुन ईश्वरप्रजापतिका भोग्य पशु है, इसलिए वयुनको ' अन्न ' कहा जाता है। इस युनमें वय और वयोनाध ये दोनों विभाग हैं। प्रत्येक वस्तुमें वस्तु और उसका आकार, ये दो भाग रहते हैं। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका कोई आकार न हो। इस आकारसे वह वयरूप वस्तु घिरी रहती है, बंधी

रहती है । इसलिए बांधनेवाला यह आकारभाव 'वयोनाध' नामसे प्रसिद्ध है।

वयोनाधरूप इन्द्रसे छन्दित (सीमित) वस्तु भाव ही वय है । वय और वयोनाधकी समष्टिरूपसमूहही वयुन है । ऐसे अनन्त वयुनोंकी समष्टि विश्व है। विश्व एक महावयुन है और विश्वमें रहनेवाले अन्य सब वयुन छोटे वयुन हैं । इन सब वयुनोंको जाननेवाला अर्थात् स्वरूपसंपादक होनेसे ही अग्नि ' जातवेदा ' नामसे प्रसिद्ध है । इसी वयुनवित् विश्वमूर्ति अग्निका स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं .— " हे अग्ने ! आप सम्पति (आत्म सम्पति और विश्व सम्पति) के लिए हमें अच्छे मार्गसे ले चलिए । क्योंकि संसारकी वयनरूप जितनी भी सम्पत्ति है, उस सबके आप ही श्रेष्ठ ज्ञाता हैं । हमारे आत्माको कुटिल बनानेवाला (असन्मार्गमें ले जानेवाला) जो पाप्मा है, उसे हमसे अलग कीजिए । हे अग्ने ! हम आपके लिए बार-बार नम.-वाक्का उच्चारण करते हैं अर्थात् आपके अन्न बनते हैं । "

प्रश्न — नमः का अर्थ अन्न कैसे किया ?

उत्तर — स्वाहा, स्वधा और नमः आदि भेदसे अन्नके अनेक भेद हैं, इनमें मनुष्यका अन्न ' नमः ' है । हम आपको नमस्कार करते हैं, उसका तात्पर्य यही है कि हम आपके भोग्य (अन्न) बनते हैं। अग्नि अन्नाद (अन्न खानेवाला) है। अन्न इसकी प्रसन्नताका कारण है। आज हम स्वयं ' नमः ' बोलते हुए इस अग्निके नमःरूपका अन्न बन रहे हैं । इसप्रकार सर्वज्ञ सन्मार्गप्रवर्तक अग्निदेवको बार-बार नमस्कार करते हुए यह उपनिषद् समाप्त होती है ।

प्रश्न — ओ हो । इसमें तो पूर्णताको प्राप्त करनेका ज्ञान है । इसे मनुष्य क्यों नहीं अपनाते हैं ; उनके लिए सरांश सुना देंगे क्या ?

उत्तर— तत्त्वज्ञानके अभावसे मनुष्य अपनास्वरूप भूलता हुआ सम्पूर्ण जीवन फलकी आशासे भोगोंमें ही बिता देता है

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

(गी० २।४४) ' उस सकाम वाणी द्वारा हरे हुए चित्तवाले तथा भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तिवाले उन पुरुषोंके अन्तःकरणमें निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है । ' उन अविवेकके द्वारा दुःखसागरमें डूबे हुए प्राणियोंके लिए ही ईशोपनिषद् तैयार हुई है । उपनिषदका कथन केवल यही है कि— " तुम ईशदृष्टिसे भोगमार्गमें प्रवृत्त रहते हुए निष्कामबुद्धिसे जीवनपर्यन्त कर्म करते रहो " निष्काम भावसे कर्म करते करते कुछ कालमें तुम्हारा मन अनासक्त बन जायगा और प्रज्ञा स्थिर हो जायेगी। मनकी स्थिरतासे बुद्धि स्थिर हो जायेगी, बुद्धिकी स्थिरतासे चित्तप्रसाद होगा एवं ' प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ' (गीता) चित्तप्रसन्न होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है । इस उपनिषद्में आये हुए उपदेशोंका सार ६ वाक्योंमें सुनिए—

१ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः— ईशसे छोडे हुए भाग (ही) भोग करो ।

२ मा गृधः कस्य स्विद्धनम्— किसीकी सम्पत्तिपर नीयत मत डिगाओ ।

३ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्— काम करते हुए ही जीवित रहनेकी इच्छा करो ।

४ योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्— जो आदित्यमें (सूर्यमें) आत्मा है, वही तुम हो ।

५ क्रतो स्मर, कृतं स्मर— अपने इरादेको लक्ष्यमें रक्खो जो कर चुके हो उसे लक्ष्यमें रक्खो ।

६ अग्ने नय सुपथा राये— अपने बल (अग्निबल) का ठीक मार्गमें उपयोग करो ।

ईशके पहले मन्त्रमें वैराग्य, दूसरेमें धर्म, सोलहवेंमें ऐश्वर्य (भक्ति) और अठारहवेंमें ज्ञान- भगके द्वारा भगवत्प्राप्ति हो जाती है एवं मानव पूर्णेन्द्र बन जाता है।

उसके अन्दर अहंभावना नहीं है उसमें घमण्ड नहीं है, वह यह कभी नहीं सोचता कि जो कुछ वह कर या कह रहा है वही ठीक है। वह "श्रोता" (ऋ० ६।२३।४) भी है, वह दूसरोंकी भी बातें सुनता है, उसके इतने बडे ज्ञानी होनेका कारण ही यह है कि वह सुनता बहुत है। अतः जो मनुष्य अधिक सुनेगा वह विद्वान् और गम्भीर, बनेगा इसमें कोई भी सन्देह नहीं। यह इन्द्र "प्र-चेता' (ऋ० ७।३१।१०) भी है, जो कुछ भी सुनता है उसपर चित्तमें विचार भी करता है। प्रथम वह श्रवण करता है फिर उसपर मनन करता है। वह इन्द्र "आर्य" (ऋ० ५।३४।६.) है, हर काममें श्रेष्ठ है इसी कारण वह अर्य (ऋ०१।३३।३) भी है, अर्थात हमेशा प्रगति करता चलता है, उन्नत होता है। वह कभी भी "अ -प्रति इतः" (ऋ० १०।१११।३) उत्तम मार्गसे विचलित नहीं होता, अच्छे काम करनेमें कभी भी पीछे नहीं हटता। स्वयं आर्य होनेके कारण वह दूसरे आर्योंकी भी रक्षा करता है तथा उन्हें तेज और बल प्रदान करता है (ऋ० १।१०३ २)।

इसप्रकार उसकी कोशिश हमेशा यही रहती है कि राज्यमें ज्ञानका प्रसार सर्वदा होता रहे। यद्यपि ज्ञान प्रसारका काम शिक्षामन्त्री जातवेदा अग्निका है फिर भी इन्द्र ज्ञानसे द्वेष करनेवाले दुष्टोंका नाश करके ज्ञान प्रसारमें सहायक होता है। इतना होते हुए भी वह कभी अग्निके अन्य कामोंमें टांग नहीं अडाता। ज्ञानके क्षेत्रमें उसका काम केवल ज्ञानके शत्रुओंको नष्ट करनेतक ही सीमित है यहां इन्द्रका यह कर्म इस बातका साक्षी है कि परस्परके सहयोगसे एक राज्य कितनी शान्तिपूर्वक चल सकता है।

शत्रुरहित इन्द्र

इन्द्र रक्षामन्त्री अवश्य है, पर वह कभी दूसरेके राज्यपर स्वयं आक्रमण नहीं करता। इसीलिए इसे वेदमें "अ-शत्रु" (ऋ० १।१०।२८) कहा है। यह दूसरोंसे शत्रुता नहीं करता, इसके मनमें किसीके प्रति द्वेषभाव न होनेके कारण कोई इसका शत्रु नहीं बनता। यह 'अजातशत्रु (ऋ० ५।३४।१) है, और यदि कोई शत्रु बन भी जाये तो इन्द्र उसका नाश इसप्रकार करता है कि उसका होना और न होना एकसा हो जाता है। यह अकुटिल है, इसके व्यवहारमें छल कपट नहीं रहता। सबसे अच्छा व्यवहार करता है, बशर्ते कि इससे भी कोई छल-कपटका व्यवहार न करे। इसी कारण इससे सभी अभय रहते हैं। अपने चालचलनसे यह लोगोंमें भय उत्पन्न नहीं करता। (ऋ० ८।१।२) ; इसीलिये वेदोंमें इसे 'दिव्य शासः' (ऋ० ३।४७।५) दिव्य शासक कहा गया है। इसका शासन इतना सुदृढ है कि प्रजा किसी भी भयसे त्रस्त नहीं होती। सभी जगह शान्तिका पूर्ण साम्राज्य होता है, लिहाजा प्रजायें भी अपने अपने काममें शान्तिपूर्वक व्यस्त रहती हैं। इन्द्र एक आदर्श रक्षामन्त्री है। किसी भी राष्ट्रकी शान्तिका भार वहांके रक्षा मन्त्री पर ही होता है। राष्ट्रके बाहर कहीं भी लडाई चल रही हो पर प्रजाको यह न महसूस हो न पाये कि कहीं लडाई चल रही है।

वीर इन्द्र

यह ठीक है कि वह स्वयं कभी दूसरे देशोंपर आक्रमण नहीं करता, पर जब वृत्र, अहि, शम्बर आदि असुर उसके राज्यपर आक्रमण करते हैं, अपने स्वार्थवश इन्द्रको प्रजाको कष्ट देते हैं, वृत्र और अहि अपने स्वार्थके लिए पानीको रोक लेते हैं और उससे प्रजाओंको कष्ट होता है, तब मजबूर होकर उनसे इन्द्रको युद्ध करना पडता है और प्रजाओंकी रक्षा करनी पडती है। यों तो वह स्वभावतः शांति-प्रिय है, पर जब युद्ध करना पडता है तो वह बहुत भयंकर हो जाता है तब वह युद्धमें 'अदाभ्यः' (ऋ० ७।११४।२०) किसीसे। न दबनेवाला हो जाता है, उस समय उसका (अ-प्रतिष्कुतः ऋ० १।७।५६) प्रतिकार कोई नहीं कर सकता। उसके अन्दर शत्रुको हराने योग्य प्रचण्ड सामर्थ्य आ जाता है। तब उसके उस प्रचण्ड सामर्थ्यके आगे कोई ठहर नहीं सकता। इसलिए वह हमेशा अपराजित (ऋ० १।११।२) ही रहता है। भयंकरसे भयकर युद्धके होनेपर भी वह 'अ-भीरुः (ऋ० ४।२६.२) भयरहित बना रहता है और कभी भी पैर पीछे नहीं हटाता। युद्ध करनेमे उसका केवल एकही उद्देश्य रहता है—

दस्यवे हेतिं अस्य आर्ये सहोवर्धय द्युम्नं- (ऋ० १।१०३।२)

'दस्यु अर्थात् दुष्टोंपर हथियार फेंककर मारना अर्थात् उनका विनाश करना और आर्योंके बल और तेजको बढाना।' इसीलिए इन्द्रको 'अशस्ति-हा' (ऋ० ८।८६।२) अप्रशस्तों दुष्टोंका नाश करनेवाला कहा है। उसके पास संरक्षणके साधन अनन्त हैं (ऋ० १।५।६,) इसलिए वह

अपने साधनोंसे शत्रुओंका खूब विनाश करता है। वह एक साथ सौ-सौ वीरोंसे मुकाबला करता है, फिर भी वह 'अ-च्युत' एक कदम भी पीछे नहीं हटता। इसके विपरीत वह 'अच्युतों' अर्थात् अपनी जगहपर दृढतासे खडे होनेवाले शत्रुओंको भी 'च्यावयत्' च्युत् कर देता है अपने स्थानसे हिला देता है। यों तो सामान्यतया इन्द्र शस्त्रोंसे ही युद्ध करता है, पर जब कभी शत्रुओंपर उसे भयंकर क्रोध आता है तो रथके पहियेसे ही वह हजारों शत्रु सैनिकोंको साफ कर देता है। वह 'सत्राजित्' (ऋ० ८।६८।४) अर्थात् अनेकों शत्रुओंको एक साथ जीतनेवाला है। उसके इस भयंकर क्रोधसे डरकर विनाशसे बचनेके लिए जब शत्रु अपने नगरोंमें घुस जाते हैं तो वह उनके नगरोंको भी तोड डालता है। अतः वेदोंमे उसके 'पुरां दर्त्ता" (१।१३०।१०) पुरंदर (ऋ० १।(१०२।७); पूर्भित् (ऋ० ३।३४।१); पुरां भिन्दुः (ऋ० १।११।४) आदि विशेषण वाचक पद आये हैं, इन सब पदोंका एक ही अर्थ है, कि वह शत्रुओंके नगरोंको तोडनेवाला है। वह जहां ज्ञानियोंपर दया दिखाता है वहां शत्रुओंके साथ युद्ध करते समय वह 'अ-दय-वीर'(ऋ० १०।१०३।७) हो जाता है।

मायावी और दूरदर्शी इन्द्र

कई बार ऐसा होता है कि शत्रु सामनेके युद्धमें हार जाते हैं, तो छल कपटसे इन्द्रको हराना चाहते हैं, तो उस समय इन्द्र भी छल कपटका आश्रय लेता है। वृत्र, अहि, शम्बर आदि असुरोंमें शम्बर सबसे ज्यादा मायावी प्रतीत होता है, वह अपनी मायाके बलपर ही इन्द्रसे छिपता रहता है, पर इन्द्र भी जब छल कपटका आश्रय लेता है तो वह असुर झट पकडमें आ जाता है। इस सबका वर्णन वेद इसप्रकार करता है—

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्। ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ (ऋ० २।१२।११)

"इन्द्र पर्वतमें छिपकर रहनेवाले शम्बरको ढूंढ निकालता है तथा उसके साथ अहिको भी मार देता है।

इसी प्रकार मृग नामक असुर भी मायावी है, उसे भी इन्द्र मायावी होकर ही मारता है।"

यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीः॥ (ऋ० १।८०।७)

"हे इन्द्र! उस मायावी मृगको तूने मायासे ही मारा"। इसप्रकार इन्द्र मायाका भी आश्रय लेता है। यह वेदका कथन इस बातका साक्षी है कि राजनीतिमें छल कपटका आश्रय लेना कोई दोष व पाप नहीं है। अथवा यों कहा जा सकता है कि स्वार्थके लिये छल कपटका प्रयोग दोषकर हो सकता है, पर राष्ट्र व समुदायकी उन्नतिके लिए छल कपटका प्रयोग दोषकर नही है। क्योंकि रक्षामन्त्रीका यह कर्तव्य है कि वह किसी भी प्रकार राष्ट्रकी रक्षा करे। इन्द्रकी एक और विशेषता है कि यदि शत्रु मायासे एक रूप धारण करता है तो इन्द्र सैकडों रूप धारण करता है।

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इन्द्र मायाओंसे अनेक रूप धारण करता है और इसप्रकार अपने शत्रुओंका नाश करता है।

इन्द्र "कवि." (ऋ० १।११।४) भी है, कविका अर्थ है दूरदर्शी। इन्द्र दूर-दूर तककी बातें सोचता है उसकी दूरदर्शिताका परिचय वेदोंमें कई स्थानोंपर मिलता है। शत्रुओंका नाश करनेके पश्चात् कहीं आगे चलकर उसकी सन्ताने भी उत्पात न करें इसलिए इन्द्र असुरोंका सामूहिक नाश कर देता है।

गौओंका पालक इन्द्र

इन्द्र गौओंका पालक भी है। यह बात "गो पतिः (ऋ० १।१०१।४) गो-जित् (ऋ० २।२१।१) आदि विशेषण वाचक पदोंसे ज्ञात होती है। वह शत्रुओंको हराकर गायें लाता है। असुरगण देवोंकी गायें छीनकर रख लेते हैं, फिर इन्द्र उनके साथ युद्ध करके उनसे गायें वापिस लाता है। इसके अतिरिक्त वह गो जित् अर्थात् इंद्रियोंको भी जीतनेवाला है। यह स्वाभाविक है कि शत्रुको हरानेके बाद लूटमें कई चीजें प्राप्त होती हैं, उनमें शत्रुओंकी खूबसूरत पुत्रियां, पत्नियां भी प्राप्त होती है, उस समय रक्षामन्त्री, अन्य पदाधिकारी व सैनिकोंको सावधान रहना चाहिए कि उनकी नैतिकताका पतन न हो। इस दिशामे इन्द्र बडा सावधान है, जितेन्द्रिय है। इसलिए वह इन्द्रियोंका स्वामी अर्थात् इन्द्रियों पर शासन करता है। यही करण है कि वह सभी मनुष्योंका राजा है। चाणक्यने भी कहा है कि 'राज्यस्य मूलं इन्द्रियजयः राज्यका मूल जितेन्द्रियता है।

इन्द्र हमेशा वज्र धारण करता है और रथपर चढता है तथा सारे देशकी सुरक्षाकी देखभाल करता है।

इसप्रकार वेदने इन्द्रके रूपमें एक आदर्श रक्षामन्त्रीका रूप लोगोंके सामने रखा है। इसप्रकारके रक्षामन्त्रीके आश्रयमें ही देश उन्नत और समृद्धशाली होता है।

सन्ध्याका वैज्ञानिक क्रम

प्रत्येक आर्यका सायं प्रातः संध्याका अनुष्ठान दैनिक जीवनका एक आवश्यक अंग है। पर संध्याकी "सम्यक् ध्यायति" यह परिभाषा ही बता रही है कि संध्यामें ध्यान की भी जरूरत है। महर्षि द्वारा ग्रथित इस सध्याकी प्रणाली बडी वैज्ञानिक है। इसमें साधककी सर्वांगीण उन्नतिकी तरफ ध्यान दिया है, और मनुष्यको उसके साध्यकी तरफ इंगित किया है।

मनुष्यका साध्य और उसके साधन

प्रत्येक मनुष्यका साध्य तीन प्रकारके दुःखोंसे त्राण पाना है। यद्यपि यह साध्य सभी प्राणियोंका है। क्षुद्रतम कीट भी दुःखसे त्राण पाना चाहता है, पर मनुष्य, एक बुद्धियुक्त प्राणी होने नाते, इस साध्यको आसानीसे प्राप्त कर सकता है। इसी साध्यको सांख्यदर्शनकारने "दुःख त्रयाभिघातात्' तथा न्यायदर्शनकारने तदत्यन्तविमोक्षाऽपवर्गः" के शब्दोंमें कहा है। तीनबार शान्ति पदका बोलना भी इसी बातको प्रकट करता है। यह साध्य जितना कठिन है, उतने ही कठिन इस साध्यतक पहुँचानेवाले साधन भी हैं इन्हीं साध्य और साधनोंका वर्णन संध्याके मंत्रोंमें बडी कुशलतासे किया गया है। इन मन्त्रोंमें एक भी मंत्रको इधरसे उधर नहीं किया जा सकता, इतना नियंत्रित इनका क्रम है। अब हम इसी क्रमपर विचार करते है।

संध्याका क्रम

इस पूरी संध्याको सात भागोंमें बांटा गया है। जो इस-प्रकार है— (१) आचमन मंत्र, (२ अंग-स्पर्श, या मार्जन मंत्र, (३) अघमर्षण मंत्र, (४) मनसा परिक्रमा मंत्र, (५) उपस्थान मंत्र, (६) गायत्री मंत्र और (७) नमस्कार मंत्र। इन मंत्रोंके यदि जोडे बनाये जायें तो इस प्रकार बनेंगे, (१) आचमन मंत्र और अंग स्पर्श तथा मार्जन मंत्र, (२) अघमर्षण व मनसा परिक्रमाके मंत्र, (३) उपस्थान व गायत्री मंत्र, (४) नमस्कार मंत्र। इनमें नमस्कार मंत्र अकेला ही है। इसका भी कारण है, जिसे आगे विशद करेंगे। इन सभी मंत्रोंमें साध्य और साधनका वर्णन है। मनुष्यके लिए दुःखोंसे छूटनेका अन्तिम उपाय है कि वह स्वयंको परमात्माके हाथोंमें पूर्णतया सौंप दे, परमात्माको आत्म-समर्पण कर दे। और जब साधक आत्म-समर्पण कर देता है तो उसे परमात्माका विराट्रूप दिखाई देता है, और तब साधककी वाणी मूक हो जाती है और सिवाय उस परमात्माको 'नमस्कार' के और कोई भी शब्द उसकी वाणीसे नहीं निकलता। इसप्रकार नमस्कार या आत्मसमर्पण ही दुःखोंसे छूटनेका अन्तिम उपाय है। पर यह तो अन्तिम स्थिति है, जिसके आगे और कुछ नहीं। पर इस स्थितितक पहुँचनेके लिए मनुष्यको अन्य तीन स्थितियोंसे गुजरना पडता है जिन स्थितियोंका वर्णन उप-र्युक्त तीन जोडोंमें किया गया है। अतः नमस्कारको यही बतानेके लिए अकेला रखा है, कि वह अन्तिम साध्य है, जिस तक मनुष्यको पहुँचना है। अब हम अन्य मंत्रोंपर विचार करते हैं। इन जोडोंमें प्रथम मंत्र अर्थात् आचमन, अघमर्षण एवं उपस्थान मंत्र साध्यका वर्णन करते हैं और शेष मंत्र अर्थात् मार्जन, मनसा परिक्रमा एवं गायत्री मंत्र साधनका वर्णन करते हैं। इन मंत्रोंपर अब जरा विस्तारसे विवेचना करेंगे।

आचमन एवं अंग मार्जन मन्त्र

आचमन मंत्रमें "शंयो अभिस्रवन्तु नः" कहकर साध्यकी ओर इंगित किया है कि हमारे चारों ओर सुखकी वर्षा हो। यहां सुख शब्द ही इस बातका द्योतक है कि यहां भक्त सांसारिक सुखकी कामना कर रहा है। पर यह सुख है क्या ? इस प्रश्नका उत्तर इसी शब्दमें निहित है, सुखका अर्थ है सु+ख, संस्कृतमें 'ख' का अर्थ है इन्द्रियां, अतः सुख शब्द यह बताता है कि सांसारिक सुख (सु+ख)

इन्द्रियोंकी उत्तमता पर ही निर्भर है। मनुष्यको वेद कमसे कम सौ वर्ष जीनेकी आज्ञा देता है। इससे पूर्व मरनेका एक आर्यको अधिकार नहीं, पर इस सौ वर्षोंमें वह सदा कर्मरत रहे, निष्क्रिय होकर समाज या राष्ट्रके लिए भाररूप सिद्ध न हो, इसीलिए वेद आज्ञा देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।
(यजु० ४०।२;

" इस संसारमे मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे । " अब हमें सौ वर्ष जीना है और वह भी काम करते हुए, तो जबतक हमारी इन्द्रियें हमारा साथ नहीं देंगी, तबतक हम क्या काम कर सकेंगे ? इसलिए संध्याके इस प्रथम मंत्रमें बताया कि हमारी इन्द्रियें उत्तम हों या हमें सु+ख प्राप्त हो । इसप्रकार सु+ख अर्थात् उत्तम इन्द्रियरूप साध्यको प्राप्त करना प्रथम मन्त्रमें बताया है। और अगले मंत्र अगस्पर्श व मार्जनमें उसका साधन बता *दिया कि यदि तुम्हें सुख या इन्द्रियोंकी उत्तमता प्राप्त करनी है* तो इन्द्रियोंको पवित्र रखो। इस पवित्रताके विचारको मंत्रमें 'पुनातु' शब्द प्रकट कर रहा है। हमारे सिर, हमारी आंखे आदि सब इन्द्रियें पवित्र हों। इन्द्रियोंकी पवित्रता ही इन्द्रियोंकी उत्तमता है । अतः इन्द्रियोंकी पवित्रतासे ही सुख मिलता है। इसप्रकार सुख साध्य और इन्द्रियोंकी पवित्रता उसका साधन है । पर इन्द्रियोंकी पवित्रता हो कैसे सकती है ? इस प्रश्नका भी समाधान वेद कर देता है—

भद्रं कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ॥

' हम अपने कानोंसे अच्छा सुनें, आंखोंसे अच्छा देखें अर्थात् इन्द्रियोंका सदुपयोग करें ।" इन्द्रियोंके सदुपयोगसे उनकी शक्ति बढती है, और इसप्रकार सुखकी प्राप्ति हो सकती है। पर इन्द्रियोंका सदुपयोग किस प्रकार हो सकता है, अथवा हम इन्द्रियोंको अच्छे कामोंकी तरफ प्रेरित कैसे कर सकते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर निम्न वचन देता है—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति,
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति,
यत्कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते ।

'मनुष्य मनमें जो कुछ विचारता है, उसे वाणीसे कहता है, जो वाणीसे कहता है, उसे काम द्वारा व्यक्त करता है, और जैसा कर्म करता है, वैसा फल वह पाता है ।" अतः इन्द्रियोंको उत्तम मार्गपर लानेका सबसे सरल उपाय है, मनसे बुरी भावनाओंका चिन्तन न करना, दूसरे शब्दोंमें इस क्रियाको पापभावनाओंसे बचना भी कह सकते हैं। इसी साध्यको संध्याके अगले मन्त्र " अघमर्षण " में बताया है।

अघमर्षण और मनसा परिक्रमा

" अघमर्षण " का अर्थ है " पापोंको दूर करना " । यह भी मनुष्यका साध्य है । मनुष्य सुख चाहता है, इन्द्रियोंको शक्तिशाली बनाना चाहता है और वह यह भी जानता है कि इन्द्रियोंको शक्तिशाली बनानेके लिए पापभावनाओंसे बचना आवश्यक है; अतः " अघमर्षण " या पापभावनाओंसे बचा कैसे जाए ? इसका उत्तर " मनसा परिक्रमा " के मन्त्रोंमें निहित है । ' मनसा परिक्रमा "में यह बताया गया है कि साधक सभी दिशाओंमें मनको दौडाता है, पर सर्वत्र परमात्माको पाता है । वही एक परमात्मा पूर्व दिशामें अग्नि, दक्षिणमें इन्द्र, पश्चिममें वरुण, उत्तरमे सोम, नीचेकी दिशामे विष्णु और ऊपरकी दिशामें बृहस्पतिके रूपमें विद्यमान है तात्पर्य यह कि वह सर्वत्र व्याप्त है, एक अंगुल जगह भी उससे खाली नहीं है । अतः निश्चय है कि वह हमारे अन्दर भी है, और हमारी सभी आन्तरिक भावनाओं व क्रियाओंपर नजर रखता है । इसप्रकार पापभावनाओंसे बचने रूपी साध्यका साधन " मनसा परिक्रमा " द्वारा यह बताया कि यह अनुभव करो कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है और वह सब कुछ देख रहा है। इसप्रकार पाप भावनाओंसे बचाव हो सकता है । इस प्रसंगमें उपनिषद्के उस शिष्यका स्मरण आता है, जिसे उसके गुरुने एक कबूतर देकर कहा था कि इसे उस जगह मारना जहां तुम्हारे इस कार्यको कोई न देखे, और वह शिष्य यह सोचकर कि परमात्मा उसे सभी जगह देख रहा है, उस कबूतरको जीवित ही गुरुके पास लौटा लाता है । इसप्रकार पापभावनाओंसे बचाव हो सकता है । अतः " अघमर्षण मन्त्र " साध्य और " मनसा परिक्रम " साधन है ।

"अघमर्षण का दूसरा अर्थ है " पापके दुःखोंको सहन करनेकी शक्ति " । मनुष्य जितनी भी सावधानीसे चले, पर जाने अनजाने उससे पाप हो ही जाता है, और उस पापके दुःखरूपी फलको भुगतना पडता ही है। उस दुःखको सहन करनेकी शक्ति वह कहांसे प्राप्त करे ? इस साध्यका साधन " मनसा परिक्रमा " में बताया है कि सब जगह

आनन्दस्वरूप परमात्मा तुम्हारा रक्षक है, तो घबरानेकी क्या आवश्यकता है । इसप्रकार अघमर्षण मन्त्र साध्य और " मनसा परिक्रमा मंत्र " साध है ।

अब साधक पापोंसे बचकर इन्द्रियोंको उत्तम बनाकर सुख तो प्राप्त कर लेता है । पर ऐहिक सुखकी प्राप्ति ही तो उसका अन्तिम उद्देश्य नहीं है, क्योंकि ऐहिक–सुख तो अशाश्वत होते हैं, अतः वह आगे बढता है और शाश्वत-सुख को पानेका प्रयत्न करता है । पर शाश्वत सुख तो हमें तभी मिलेगा जब हम परमात्माके पास बैठेंगे । इस संध्यामें अगला क्रम रखा " उपस्थान " मन्त्रोंका । अग्निकी उष्णताको पानेके लिए जिसप्रकार अग्निके पास बैठना आवश्यक है, उसी प्रकार आनन्द प्राप्त करनेके लिए आनन्दमय परमात्मा के पास बैठना आवश्यक है ।

उपस्थान और गायत्री मन्त्र

" उपस्थान " का अर्थ है समीप बैठना । आनन्द प्राप्तिका इच्छुक साधक परमात्माके समीप जाकर बैठना चाहता है । इन मन्त्रोंमें उपस्थान साध्य है, और गायत्री साधन । परमात्माके पास जाकर बैठना । पर इस साध्यकी सिद्धि हो कैसे ? इसका साधन या मार्ग बताता है ' गायत्री मन्त्र ' । वह कहता है ।

" देवस्य भर्गः धीमहि " उस देवके शुद्ध तेजको प्रथम धारण करें । कितना व्यावहारिक मार्ग है । संसारमें किसी भी महापुरुषसे मिलनेके लिये स्वयंको उसके अनुरूप बनाना पडता है, तभी उस महापुरुषके पास जाया सकता है । यही व्यावहारिक मार्ग यहां पर भी है । यदि साधक परमात्मा के साथ बैठना चाहता है तो उसे प्रथम ' दिव्य गुणोंको या तेजस्विता ' को धारण करना पडेगा । पर यह " तेजस्विता " धारण कैसे की जा सकती है ? साधककी इस शंकाका समधान भी मंत्रका अगला भाग कर देता है ' धियो यो नः प्रचोदयात् " बुद्धिको उसकी ओर प्रेरित करो । यदि बुद्धि उस तेजस्विताकी तरफ प्रेरित होगी, तो तेजस्विताको धारण करना हो सकेगा, इसप्रकार " उपस्थान " (परमात्माके समीप बैठना) साध्य है और ' गायत्री ' (तेजस्विताको धारण करना) उसका साधन है ।

अन्तिम स्थिति–समर्पण अथवा नमस्कार मन्त्र

अब जब साधक परमात्माके पास बैठकर उसके विराट् स्वरूपका अवलोकन करता है, परमात्माको आत्मसमर्पण कर देता है, तब सिवाय " नमः नमः" के वह कुछ और बोल ही नहीं पाता, इसलिए अन्तिम मन्त्र रखा ' नमस्कार मंत्र ' और यहीं आकर साधकके साधनाकी समाप्ति है ।

इसप्रकार इन सन्ध्याके मन्त्रोंमें मानव-जीवन-दर्शनकी विवेचना बडे सुन्दर ढंगसे की गई है । इन मन्त्रोंमें एक भी मंत्रको हटाना या इधरसे उधर करना पूरी सध्याको विकृत करना है ।

इसप्रकार यह सन्ध्याका क्रम पूर्णतया वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक है ।

दानव

दानुका वास्तविक अर्थ देनेवाला है, ऐसा—

दानुरस्मा उपरा पिन्वते दिवः। (ऋ. १।५४।७)

(जो मनुष्य इन्द्रकी स्तुति करता है, उसे (दानुः) ऐश्वर्य देनेवाला इन्द्र द्युलोकसे पानी बरसाकर तृप्त करता है।)

करत् तिस्रो मघवन् दानुचित्रा ॥

(ऋ. १।१७४।७)

(ऐश्वर्यवान् इन्द्रने तीन भूमियोंको देने योग्य धनसे सुन्दर बनाया।)

इन दो मंत्रोंसे प्रतीत होता है। दानव शब्द दा-दाने धातुसे सिद्ध हुआ है।

स नः शक्रश्चिदा शकत् दानवाँ अन्तराभरः।

(ऋ. ८।३२।१२)

(वह (दानवान्) धन देनेवाला इन्द्र हमें समर्थ करे) ऋग्वेदके इस मंत्रमें इन्द्रको दानवान् (दाता) कहा गया है। तथा—

दानुः शये सहवत्सा न धेनुः॥ (ऋ. १।३२।९)

(इन्द्रके वज्रसे वृत्र और उसकी (दानुः) माता बछडे सहित गायके समान मर गए) इस मंत्रमें दानु शब्द वृत्रकी माताके लिए प्रयुक्त हुआ है। पर कहीं कहीं यही शब्द वृत्र और शम्बरके लिए भी आया है। जैसे—

अवाभिनद् दानुमौर्णवाभम्॥ (ऋ. २।११।१८)

[(दानुं) वृत्रको इन्द्रने मारा] इसमें दानु शब्द स्वयं वृत्रका वाचक है। और—

यः शम्बरं...जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः। (ऋ. २।१२।११)

(जिसने सोये हुए (दानु शम्बर) दानु शम्बरको मारा, वही इन्द्र है।) इस मंत्रमें 'दानु' शब्द 'शम्बर' के लिए आया है। मेरे विचारसे इन स्थलोंमें दानुका अर्थ राक्षस या दानव है। इस शब्दका यह अर्थ बिल्कुल ठीक है, क्योंकि वृत्र और उसकी मां दोनों ही राक्षस हैं। यहांपर देखने योग्य बात यह है कि इस शब्दका अर्थ दातासे दानव हो गया है।

दानव शब्दका प्रयोग केवल पांच स्थलोंपर हुआ है,केवल एकको छोडकर शेष पांचवें मण्डलमें आए हैं, बाकी एक दूसरे मण्डलमें आया है। पर सभी प्रसंग, जिनमें दानवका प्रयोग हुआ है, यह बताते हैं कि यह दानव इन्द्रद्वारा मारा गया। पर दानव कौन है? सचमुच यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसकी खोज आवश्यक है।

दानव छल, कपटसे भरपूर था और अपने छल कपट युक्त कार्योंके लिए प्रसिद्ध था जैसा कि इस मंत्रसे ज्ञात होता है—

नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत्॥

(ऋ २।११।१०)

(मायावी दानवकी मायाको इन्द्रने तोडा)। इन्द्र दानवका कट्टर शत्रु था। वह इन्द्रसे इतना डरता था; कि उसको देखकर दानव लम्बी सांसें लेने लगता था। दानवका स्वभाव पकडना, निगल जाना था—

जिगर्ति...प्रतिश्वसन्तं दानवं हन्॥

(ऋ. ५।२९।४)

(निगलनेवाले तथा लम्बी सांसें लेनेवाले दानवको इन्द्रने मारा।) इस मंत्रमें आए हुए 'जिगर्ति' शब्दसे दानवके स्वभावका पता चलता है। वह शक्तिशाली और बलवान् था, इसके इस गुणको—

उदु यदिन्द्रो महते दानवाय॥ (ऋ. ५।३२।७)

(इन्द्रने महान् दानवको मारनेके लिए वज्र उठाया।) इस मंत्रमें आया हुआ महत् शब्द प्रकट करता है। शुष्ण दानवका सबसे बडा योद्धा था, जैसा कि—

वृष प्रभर्मा दानवस्य भामं।
वज्रेण वज्री नि जघान शुष्णम्॥ ऋ. ५।३२।४४)

(दानवके (नाम शुष्णं) बहुत बडे योद्धा शुष्णको इन्द्रने वज्रसे मारा) इस मंत्रसे ज्ञात भी होता है। इतना सारा वृत्तान्त हमें दानवके विषयमें मिलता है।

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि,
त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् वः
सृजो वि धारा अव दानवं हन् ॥ (ऋ० ५।३२।१)

इस मंत्रमें एक घटनाका वर्णन है, यह घटना हमें दानवके वास्तविक अर्थके पता लगानेमें सहायक होगी। इस मंत्रमें बताया है, कि इन्द्रने पानीको रोक रखनेवाले बादलोंको तोडा। इन्द्रने दानवको मारकर पानीके दरवाजोंको खोला और पानीको प्रवाहित किया। यहांपर यह स्पष्ट हो गया कि दानव बादलोंके सिवाय और कोई नहीं है। सायणाचार्य की व्याख्यामें जो दानवको वृत्र कहा गया है, वह ठीक ही है, क्योंकि वृत्र बादलोंका दूसरा नाम है। उपर्युक्त वर्णनमें तथा हमारे विचारमें कोई विरोध नहीं है।

दानवके समान दानुको भी इन्द्रने मारा जैसा कि निम्न मंत्रमें वर्णित है—

जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः।
(ऋ० २।१२।११)

(इन्द्रने सोते हुए दानुको मारा।)

दानुका अर्थ धन है, जिसका कई जगह प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ—

आदित्या दानुनस्पती। (ऋ. २।४१।६)
वसूयाद् दानुस्पती ॥ (ऋ ८।८।१६)

इन दोनों मंत्रभागोंमें दानु (दानुन.-पती) धनके स्वामी का वाचक है।

सं या दानूनि मधुः ॥ (ऋ ८।२५।६)

इसमें दानु शब्दका अर्थ धन है।

प्र दानुदो दिव्यो दानु पिन्वः ॥ (ऋ. १।९७।२३)

इसमें भी (दानुदः-धन देनेवाला, दानु पिन्व -धनोंसे तृप्त करनेवाला) यह शब्द धनका ही वाचक है।

वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः ॥ ऋ ५।६८।५)

इसमें आए हुए दानुमत्याः शब्दका अर्थ सायणाचार्यने धन देनेके योग्य किया है। तथा—

दानुमद् वसु ॥ (ऋ. १।५१।४)

इस स्थलमें भी दानुका अर्थ देना है। इससे यह ज्ञात होता है कि दानु और दानव दोनों समानार्थक शब्द हैं और ये दोनों शब्द बादलोंके द्योतक है, जो कि जगत्का सबसे ज्यादा उपकार करनेवाले हैं। पानी बादलोंमें भरा रहता है। मनुष्य वर्षाके लिए उत्सुक रहते हैं। इन्द्र उनकी सहायताके लिए आता है, और वह अपने वज्र (बिजली) से बादलोंको मारता है, और तब पानी बरसता है। यह सब वेदका वर्णन काव्यालंकारका वर्णन है।

नहुष

ऋग्वेदमें जिसप्रकार ' मानुषी विशः ' शब्दका प्रयोग हम देखते हैं, उसीप्रकार ऋग्वेदके—

रथं मन्द्रा चिकेत नाहुषीषु विक्षु ॥
(ऋ १।१००।१६)

(इन्द्रका सुन्दर रथ मनुष्योंकी दृष्टिमें पडा।)

उत त्यदाश्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा।
अग्रे विक्षु प्रदीदयत् ॥ (ऋ. ८।६।२४)

(हे इन्द्र ! तुमने पहले जो घोडोंका समूह नहुषकी प्रजाओंको दिया था, उसीको हमें भी दो।)

इन दो मंत्रोंमें ' नाहुषीषु विक्षु ' तथा—
यदिन्द्र नाहुषीष्वां ओजो नृम्णं च कृष्टिषु ॥
(ऋ.६।४६।७)

(हे इन्द्र ! जो नहुषकी प्रजाओंमें धन है, उस धनको हमें दो।)

इस मंत्रमें ' नाहुषीषु कृष्टिषु ' का प्रयोग भी हमें मिलता है। इससे यह पता चलता है कि पहले नहुष नामकी एक पृथक् जाति विद्यमान थी। उनका यह नाम उनके राजा ' नहुष ' के कारण पडा था। इसीप्रकार—

अग्निः मनुषो नहुषो वि जाताः ॥ (ऋ. १०।८०।६)

(नहुषसे पैदा हुई प्रजायें भी अग्निकी स्तुति करती हैं।)

इस मंत्रमें आया हुआ ' नहुषः जाताः ' शब्द यह प्रकट करता है कि नहुषके वंशजोंका अस्तित्व था।

ये नाहुष युद्ध करनेमें बडे बहादुर और साहसी थे। इसीलिए इन्द्र घमण्ड करता है कि—

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः ॥ (ऋ. १०।४९।८

(मैंने नहुषके सात नगरोंको तोडा)

वे धनवान् थे। इन्द्र नहुषोंसे धन छीन छीनकर अपने भक्तोंको देता था; ऐसा—

यदिन्द्र नाहुषीष्वाँ ओजो नृम्णं च कृष्टिषु।
...... द्युम्न मा भर ॥ (ऋ. ६।४६।७)

(हे इन्द्र! जो नहुषकी प्रजाओंमें धन है, उसे हमें दो।)

इस मंत्रसे प्रकट होता है। वे उत्तम घोडोंके समूहोंके स्वामी थे, इसीलिए इन्द्रसे भक्त प्रार्थना करते थे कि—

उत त्यदाश्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा ॥
(ऋ. ८।६।२४)

(हे इन्द्र ! जो घोडोंका समूह नाहुषोंमें है उन्हें हमें लाकर दो।)

यह बहुत सम्भव है कि वे सरस्वती नदीके किनारे रहते हों, क्योंकि ऐसा कुछ संकेत ऋग्वेदके निम्न मंत्रमें मिलता है-

एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचि ··· ···
घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ (ऋ ७।९५।२)

(नदियोंमें पवित्र इस सरस्वतीने नहुषके लिए घी और पानीको दिया।)

नहुषकी प्रजायें अरट्व (घुमक्कडों और अक्षस (जुआरियों) से घिर गई थीं। वे सब इन्द्रके अनुयायियों द्वारा घृणा और अनादरकी दृष्टिसे देखे जाते थे इसका सम्भवतः मुख्य कारण यही था कि उन्होंने इन्द्रको हवि देनेसे इन्कार कर दिया था। वे मित्र और वरुणकी पूजा करते थे। उनके स्तोत्र कव्य कहे जाते थे ऋक् नहीं, जैसा कि—

कव्यैरधि सुवानो नहुष्येभिरिन्दुः ॥ (ऋ. ९।९१।२)

(नहुषोंके द्वारा यह सोम (कव्यैः) स्तोत्रोंके गानके साथ निचोडा जाता था।)

४२ अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन

शासनशक्तिका आधार अध्यात्म

वैदिककालीन ऋषि इस बातको अच्छी तरह जान गए थे कि जबतक शासनशक्ति अनुकूल नहीं होगी, तबतक मनुष्यकी उन्नति नहीं हो सकती। इसलिए शुद्ध अध्यात्म-विद्याके सिद्धांतका प्रतिपादन करते हुए और ईश्वरका वर्णन करते हुए भी उन्होंने ईश्वरका वर्णन शासकके रूपमें ही किया है। 'ईशा वास्यमिदं सर्वं।' (ईश उ १; यजु. ४०।१) यह वचन वस्तुतः अध्यात्मका वर्णन करता है। पर वह भी शासकका एक महत्त्वपूर्ण गुण दर्शाता है।

जो ईशानशक्तिसे युक्त होता है, वह इन सब पर शासन करता है, वही यहां रहता है, व्यापता है और शासन करता है। यह शब्दयोजना ध्यानपूर्वक द्रष्टव्य है। बहुतसे विद्वान् यह समझते हैं कि ऋषि तो अध्यात्मविद्यामें ही व्यस्त रहते थे, वे राज्यशासनकी तरफ ध्यान नहीं देते थे अथवा राज्यशासनकी तरफसे वे उदासीन रहते थे। पर यदि वास्तविकता पर जो नजर डाली जाए तो सबकुछ इससे विपरीत ही दिखाई देगा।

ईश्वरके गुणोंका वर्णन करते हुए भी उनका वर्णन ऋषि विश्वके शासकके रूपमें करते हैं। ऋषियोंने यह बात निश्चित कर दी है कि ईश्वरमें भी अमुक अमुक गुण हैं। उन्हें उच्छृंखल और मनमाना व्यवहार करनेवाला ईश्वर नापसन्द था। उन्हें तो वही ईश्वर पसन्द है कि जो न्यायी है, दयालु है और निस्पृह शासक है। वे ऋषि "ईश्वरकी मर्जी" को कोई महत्त्व देना पसन्द नहीं करते थे। उन्हें तो वही ईश्वर पसन्द था कि जो कर्मके अनुसार फल दे।

अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन

अध्यात्मके सब सिद्धान्त इसी कारण राज्यशासनके सिद्धान्त बनते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि ईश्वर राजाओंका भी राजा है। राजाओंका राजा कैसा हो? यह ऋषियोंने निश्चित किया और ऐसा वर्णन उन्होंने ईश्वरका किया।

इस दृष्टिसे राजा अथवा शासकको निर्दोष बनानेके लिए स्मृतिकारोंने जो नियम निश्चित किए, वे आज भी विचारणीय हैं।

देवोंका अध्यक्ष

देवोंके राजा इन्द्र और उपेन्द्र सत्कर्म करनेके बाद प्रजाओंकी सम्मतिसे अपने स्थान पर अधिष्ठित होते थे और यदि उनका आचरण सदोष होने लगता तो उन्हें स्थानभ्रष्ट होना पडता और उनकी जगह दूसरे इन्द्रकी नियुक्ति होती थी। प्रजापति भी प्रजा द्वारा नियुक्त होता था और दुराचरण करने पर उसे भी स्थानभ्रष्ट होना पडता था। इन सब व्यवस्थाओंको देखने पर यही निश्चय होता है कि ऋषि राज्यशासनकी ओरसे पूर्णतया सतर्क थे। सौ यज्ञ करनेके बाद कोई इन्द्रपदके योग्य समझा जाता था, उस पर भी उसे प्रजाका अनुमोदन प्राप्त करना पडता था। इन्द्रपदकी प्राप्तिके बाद भी उसे हमेशा सावधान रहना पडता था कि कहीं उससे दुराचारण न हो। आज हम देखते यह हैं कि एक नेता चुने जाने पर पांच वर्ष तक अपने स्थान पर चिपका रहता है और पांच वर्षके बाद भी वह चुनावको आगे ढकेल देता है। आजतक हमारे सामने कोई ऐसा उदाहरण नहीं आया है कि जब कोई नेता भ्रष्टाचारके कारण स्थानभ्रष्ट हुआ हो।

ऋषियोंके द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक नियम इतने सशक्त एवं सुदृढ थे कि आज हमें उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। ऋषियोंकी दृष्टिमें प्रजामतका बहुत मूल्य था—

स विशोऽनुव्यचलत् तं सभा च समितिश्च सेना
च सुरा च अनुव्यचलन्। (अथर्ववेद १५)

जो राजा प्रजाकी अनुमतिसे राज्यका कारभार चलाता हैं, उसके अनुकूल ग्रामसभा, राष्ट्रसमिति, सेना और खजाने होते हैं।

शासकोंका बल-सेना और खजाना

राजा या शासकका बल सेना और खजाने पर अवलम्बित होता है। जिस राजाका इन पर अधिकार नहीं होता वह कभी जुल्मी हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त वेदमंत्रने स्पष्ट-रूपसे ऐसा कहा है जो राजा प्रजाप्रिय होता है उसीके अनुकूल सेना और खजाना भी होता है। यदि शासक प्रजाके प्रतिकूल हो तो सेना उस शासककी मदद नहीं करती। फिर किसके बल पर वह प्रजा पर जुल्म ढा सकेगा?

ऋषियोंने शासनाधिकारको कभी भी अनियमित नहीं

रखा, इसके साथ ही ऐसे भी नियम बना दिये कि जिससे किसी एक व्यक्तिके पास अनियंत्रित धन संग्रह न हो। इन्होंने धनको व्यक्तिका न बताकर समाजका बताया। समाज या राष्ट्रकी उन्नतिके कार्यमें ही प्रजाके धनका उपयोग होना चाहिए। इसप्रकार ऋषियोंने राष्ट्रकी अर्थ-व्यवस्थामें भी एक आश्चर्यजनक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी।

मनुष्य व्यक्ति रूपमें समाजको एक इकाई है, और इस रूपमें वह मत्यधर्मा है, पर समाजकी दृष्टिसे वह अमर्त्य है—

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्या अमृतमश्नुते ।
(वा. य ४०)

" व्यक्ति अपने प्रयत्नोंसे व्यक्तिगत दुःखोंको दूर करता है और संभूति, समाज, संगठन या समुदायके रूपमें वह अमरत्व प्राप्त करता है। " मनुष्य धनसंग्रह चाहे जितना भी करे, पर वह सब संग्रहीत धन समाजकी उन्नतिके कार्य के लिए अर्पित कर दे इसीका नाम यज्ञ है।

वैदिक विज्ञान

वैदिकशासनव्यवस्थामें ये सभी बातें अन्तर्भूत थीं। पर आज लोग समझते यह हैं कि अध्यात्म विद्याका मतलब है जगत्यागकी विद्या। पर ऋषियोंकी दृष्टिमें अध्यात्मविद्या का अर्थ था संसारको उत्तम रीतिसे व्यवस्थित करनेवाली विद्या। प्राचीन और अर्वाचीन विचारोंमें यह अन्तर द्रष्टव्य है। इस अन्तरके और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते है।

मैं शक्तिशाली हूं

उपनिषदमें एक महावाक्य आता है " अहं ब्रह्मास्मि मैं ब्रह्म हूं। " ब्रह्म कहते हैं बड़ी भारी शक्तिको। यह शक्ति मैं हूं। अतः इस महावाक्यका अर्थ है कि मैं महाशक्ति हूं। प्रायः प्रत्येक मनुष्य समझता यह है कि " मैं निर्बल हूं। " उसकी इस मानसिक निर्बलताको मनुष्यने दूर कर दिया है और बताया है कि " तू निर्बल नहीं है, तू तो बड़े भारी सामर्थ्यसे युक्त है। महान् सामर्थ्यशाली ही मेरा अपना स्वरूप है। "

पर अपनेको सामर्थ्यशाली समझनेका परिणाम विपरीत हो गया। लोग समझते यह हैं कि जब मैं इतना सामर्थ्य-शाली हूं, तो मुझे काम करनेकी जरूरत ही क्या है। कितना विपरीत मार्ग है कि जबतक मनुष्य निर्बल है तबतक तो कार्य करता रहे और जब वह सामर्थ्यशाली हो जाए तब कार्य करना छोड दे।

ज्यादा जिम्मेदारी किस पर ?

वास्तविकता तो यह है कि निर्बल मनुष्य पर जिम्मेवारियां कम होती हैं और सामर्थ्यशाली पर अधिक। पर आजका हमारा तत्त्वज्ञान ही जब उल्टा है तो विचार उल्टे क्यों न हों ?

प्राचीन इतिहास हमें बताता है कि राजा जनक और राम और भगवान् कृष्णने अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेके बाद बड़े बड़े मानवोद्धारक काम किए। इनमेंसे कोई भी अध्यात्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद निष्क्रिय होकर बैठ नहीं गया।

पुरुषोत्तमकी स्थिति

आज तत्त्वज्ञानी सन्त महन्तका नाम सुनते ही एक ऐसे व्यक्तिका चित्र सामने आ जाता है कि जो पेट फुलाये गद्दी पर निष्क्रियावस्थामें बैठा रहता है। लोग भी यही समझते हैं कि वह ब्राह्मीस्थितिमें पहुंच गया है। इसलिए उसे अब कोई काम करनेकी जरूरत नहीं है। पर जो वस्तुतः सच्चा आत्मज्ञानी होगा और जो यह समझता होगा कि मैं ब्रह्म हूं, मैं एक बडी भारी शक्ति हू तो वह निस्सन्देह प्रजाहितके काम करेगा। उसकी आन्तरिक शक्ति ही उसे शान्त बैठने नहीं देगी। भगवान् कृष्ण १२५ वर्षकी अवस्था तक भी प्रजाहितके काममें तत्पर रहे। यह हो हमारे आदर्श पुरुष हैं और यही है पुरुषोत्तम।

क्षत्रिय भी एक तरफ राज्यशासनमें कुशल होते थे और दूसरी तरफ ब्रह्मज्ञानमें भी निष्णात। वसिष्ठ जैसे तत्त्व-ज्ञानी भी एक तरफ गुरुकुलमें हजारों तरुणोंको विद्यादान देनेका काम करते थे तो दूसरी तरफ रघुकुलके पौरोहित्यके कार्यको अपनाकर राज्यव्यवस्था पर भी नजर रखते थे। कोई भी प्राचीनकालीन तत्त्वज्ञानी निष्क्रिय नहीं दीखता। वे सब यही समझते थे कि राज्यशक्तिकी अनुकूलतामें ही समाजकी उन्नति सन्निहित है। वसिष्ठ जैसे ऋषि ही राज्य के सूत्रधार थे।

वस्तुतः आत्मज्ञान निष्क्रियता बढानेवाला नहीं है। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि यह विश्व एक जीवन है और मैं महान् सामर्थ्यसे युक्त हू, तब वह स्वयं जनहितके कार्मों की तरफ प्रेरित हो जाता है।

आजके विपरीत ज्ञानके कारण ज्ञानी जन राजनीतिसे दूर होकर समाजसे भी दूर होते जा रहे है। पर मनुष्यका जीवन एक कर्मक्षेत्र है, इसे अपने जीवनमें अनेक काम करने पड़ते हैं। ये काम वह ज्ञानप्राप्तिके बाद ही उत्तम रीतिसे कर सकता है। श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका ज्ञान देकर उससे युद्ध करवाया। अध्यात्मज्ञानसे पूर्व वह शिथिल एवं उदास था। पर अध्यात्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद ही उसमें क्षत्रियत्व एवं वीरता जाग उठी।

आत्मज्ञानका यह प्रत्यक्ष परिणाम है। आत्मज्ञान इस प्रकार राज्यशासन विद्याका एक अंग है। भारतीय संस्कृति में तो उसे राज्यशासनका आधार माना गया है।

३३ सामुदायिक जीवन

सामुदायिक जीवन

आज हमारा सामुदायिक जीवन खत्म हो चुका है और रह गया है केवल वैय्यक्तिक जीवन। समाजको भाड़में झोंक कर हम वैय्यक्तिक जीवनोन्नतिकी मृगमरीचिकाके पीछे पागल है। सब अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग गाते हुए चले जा रहे है।

वैदिककालीन ऋषि "बहुजनहिताय एव बहुजन-सुखाय" ही जीते और मरते थे। समाज संगठनके यज्ञको ही वे अपने जीवनका ध्येय समझते थे। उनकी करीब करीब सभी प्रार्थनाओंमें "नः" का बहुवचनी प्रयोग ही है। उन्हें पता था कि जो कुछ भला या बुरा होगा वह "मेरा" न होकर "हमारा" होगा

यज्ञदृष्टि

गांवपर यदि संक्रामक रोगका आक्रमण हो तो सम्पूर्ण गांवको स्वस्थ बनाये रखनेके लिए सम्पूर्ण गांवको स्वच्छ बनाये रखनेका प्रयत्न होना चाहिए। सारे गांवकी स्वच्छतामें घर की स्वच्छताका समावेश होता ही है। यह सामुदायिक दृष्टि "यज्ञ" के नामसे प्रसिद्ध थी। प्रत्येक यज्ञका परिणाम सामुदायिकहित ही है। प्रत्येक व्यक्ति दृढ संकल्प कर ले कि दूसरे समझें या न समझें, दूसरे मानें या न मानें, मैं तो सामुदायिक हितके काम अवश्य करूंगा। यही "निष्काम यज्ञ" है। पारिश्रमिकके लोभसे यह यज्ञ न करके अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए। इस "निष्काम यज्ञ" में सामुदायिक भावना किसप्रकार भरी हुई है, वह इस लेखमें देखेंगे।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।

"उस सवितादेवके श्रेष्ठ तेजका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी उत्तम बुद्धियोंको उत्तममार्गमें प्रेरित करे।"

(गायन्तं त्रायते) यह गायत्रीमंत्र गायन करनेवालोंकी रक्षा करनेवाला है, पर सामुदायिकरूपसे इसका गायन किया जाए, तभी यह रक्षा हो सकती है।

इस मंत्रमें "धीमहि" और "नः" ये दो पद बहुवचनी हैं। वैदिककालमें सामुदायिक प्रार्थना और सामुदायिक जप करनेकी पद्धति थी। सामुदायिक प्रार्थनामें "हम ध्यान करते हैं और वह हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा देता है" यह शब्दप्रयोग अर्थबोधकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। आज हम अकेले अकेले संध्या करते हैं। आज किसी भी हिन्दु परिवारमें ऐसी पद्धति नहीं देखी जाती कि जब उस परिवारके सदस्य इकट्ठे बैठकर प्रार्थना करते हों। अकेले संध्या तथा गायत्रीका जप करते हुए "(देवः भर्गस्य धीमहि) "देवके तेजका हम सब मिलकर ध्यान करते हैं" यह वाक्य कहना कहांतक युक्तिसंगत है, इसका विचार भी संध्या करनेवाला नहीं करता।

इस सामुदायिक प्रार्थनाको हमने वैय्यक्तिक प्रार्थना कर डाली। पारिवारिक उपासनाकी पद्धति खत्म हो गई, सामुदायिक प्रार्थनाके चिन्ह भी नहीं रह गए। सामुदायिक प्रार्थनासे हम इतनी दूर चले गए हैं। हम मन्दिरोंमें भी कभी प्रार्थनाके लिए संघटित नहीं होते। इस वैय्यक्तिक जीवनयापनके कारण सामुदायिक जीवनसे होनेवाले लाभों से हम वञ्चित ही रह जाते हैं।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥ अथर्व

"हमारे ब्राह्मणोंमें तेज रहे। हमारे क्षत्रियों, राजाओं और राजपुरुषोंमें तेज बढे। वैश्य और शूद्रोंमें तेज रहे और ऐसा तेज मुझमें भी रहे।"

हमारे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्रोंमें तेजस्विता बढे हमारे राष्ट्रके सभी लोग अत्यन्त तेजस्वी हों। यह प्रार्थना निस्सन्देह सामुदायिक है।

+

सबके लिए धान्य

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु । फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् । योगक्षेमो न कल्पताम् ।

" ठीक समयपर हमारे देशमें बरसात हो । हमारे देशमें ओषधि वनस्पतियां फलफूलवाली होकर परिपक्व हों और हम सबका योगक्षेम उत्तम रीतिसे चले । " यह भी सामुदायिक प्रार्थना है । यज्ञके अन्तमें यह प्रार्थना बोली जाती है । आज भी इस सामुदायिक प्रार्थनाका उत्तम उपयोग हो सकता है । और भी,

आपो हि ष्ठा मयोभुवः ता न ऊर्जे दधातन । शं नो देवीरभिष्टये । शं न आपो धन्वन्याः । शं न खनित्रिमा आपः । शिवाः न सन्तु वार्षिकी ।

" जल हमारा बल बढावे .. कुंवे, तालाब तथा बरसात का पानी हमारे लिए सुख देनेवाला हो । " इसमें भी " पानीसे हम सबका हित हो " कहकर सामुदायिक प्रार्थना की । तथा

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवरिहा ॥
(अथर्व. १।१६।४)

" यदि हमारेमेंसे किसीकी गाय मारेगा, घोडेका वध करेगा, अथवा मनुष्यका वध करेगा, तो हम तुझे सीसेकी गोलीसे बींध डालेंगे । " यह विचार भी सामुदायिक सुरक्षाके है । इसमें सीसेकी गोलीका उल्लेख है, उसका उपयोग किस तरह किया जाता था, यह संशोधनके लिए एक उत्तम मसाला है । इस शब्दके आधारपर कुछ लोग बन्दूककी भी कल्पना करते हैं । और भी देखिए—

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥
(अथर्व १।१८।१)

" सब प्रकारके दुश्चिन्ह हमसे दूर हों और कल्याणकारक चिन्ह हमारे पास आवें । अनुदारता हमसे दूर हो । "

यहांपर भी (नः) " हमारा " इसी शब्दका उल्लेख है, (मम) " मेरा " इस शब्दका नहीं । इसी तरह–

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
(अथर्व. १।१९)

' वेध करनेवाले शत्रु हमारे पास न आवें, " अर्थात् हमारे शत्रुओंको हमारा पता न लगे । हम सब उनके आक्रमणोंसे दूर रहकर सुरक्षित रहें ' यह सामुदायिक प्रार्थना सबकी सुरक्षाके लिए है । तथा—

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषीः ।
अथो सहस्वान् जंगिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥
(अथर्व. २।४।६)

" यह जंगिडमणि अपकृत्योंसे रक्षा करनेवाली, शत्रुओंको दूर करनेवाली और बल बढानेवाली है, वह हम सबकी आयु बढावे । " और भी देखिए—

धाता दधातु नो रयिं ईशानो जगतस्पतिः ।
स नो पूर्णेन यच्छतु । १ ॥
धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥
(॥ अथर्व० ७।१७)

" इस विश्वका पालक ईश्वर हम सबको धन देवे, वह हम सबको पूर्णतासे युक्त करे । वह हमारी दीर्घायुके लिए पूर्व दिशासे आनेवाले अक्षय तेजको प्रदान करे । हम सब मिलकर उस देवका ध्यान करते हैं । उस सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी उत्तम बुद्धि हमारे लिए सहायक हो । "

ऐसी प्रार्थनायें भला वैयक्तिक किसप्रकार हो सकती हैं । हमने यह सामुदायिक प्रार्थनायें करनी छोड दीं इसीलिए हम हो निर्बल गए ।

अब हम राष्ट्रगीतमें सामुदायिक प्रार्थनाके कुछ मंत्र देखेंगे । प्राचीनकालमें इस राष्ट्रगीतको ग्रामपत्तन और राष्ट्रके संरक्षण करनेके समय सामुदायिकरूपसे गाते थे । उस राष्ट्रगीतके कतिपयमंत्र इसप्रकार हैं ।

वैदिक राष्ट्रगीत

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठाः
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

" जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन लोगोंने बडे बडे पराक्रम किए, जिस मातृभूमिमें ज्ञानियोंने राक्षसोंको मार भगाया, जो हमारी मातृभूमि गाय, घोडे और

पक्षियोंका उत्तम निवासस्थान है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज प्रदान करे।" तथा–

यो नो द्वेषत्पृथिवी यः पृतन्यात् यो
अभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रंधय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

"हे मातृभूमि! जो हमसे द्वेष करता है, जो हमपर अपनी सेनायें भेजता है, जो मनसे हमें दास बनानेकी योजनायें बनाता है, जो हमारा वध करनेकी कोशिश करता है, उसका, हे मातृभूमि! पूर्णतया नाश कर डाल।" तथा–

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पंच मानवा।
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

"हे मातृभूमि! तुझसे उत्पन्न होकर तुझपर घूमनेवाले हम सब मनुष्य यहां एकत्रित हुए हैं। तू ही हम सब दोपाये और चौपाये प्राणियोंको धारण करती है। हम पांच प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) ये पांचों मनुष्य तेरे ही पुत्र हैं, इसलिए हम परस्पर भाई हैं)। उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे इन सबको तेजरूपी अमृत प्रदान करता है। तथा–

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भां
आशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

"हमारी मातृभूमिमें जो नगर हैं, उनका निर्माण देवोंने किया है। जिसके क्षेत्रोंमें हमारे लोग विशेष उद्योग करते हैं, ऐसी सभी खनिजपदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए प्रत्येक दिशामें रमणीय हो। भय देनेवाली न हो।"

आगे और भी देखिए—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रधारां नो दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती। ४५

"अनेक तरहकी भाषाओंको बोलनेवाले तथा विभिन्न धर्मावलम्बी लोगोंको एक घरके सदस्योंके समान धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि दूध दुहनेके समय शान्त रहनेवाली गायके समान धनरूपी दूधकी हजारों धाराओंको हमें प्रदान करे।"

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापाः
तं पन्थानं जयेमानमित्रं अतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

"हे मातृभूमि! जो तेरे मार्ग मनुष्यों और रथादियोंके आने जानेके लिए हैं, जिन मार्गोंपरसे जिस तरह सज्जन जाते हैं, उसी तरह दुष्ट भी आते जाते हैं, वे मार्ग हम सबके लिए शत्रुरहित और चोररहित हों। जो कुछ कल्याणकारक हो, उससे हमें सुखी कर।"

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम ते ॥ ५६ ॥

"जो ग्राम, जो अरण्य, जो सभा, जो संग्राम और जो समितियां हमारी मातृभूमिपर हैं, उन सबमें, हे मातृभूमि! तेरे बारेमें हम उत्तम वचन ही बोलें।"

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

(अथर्व. १२।१)

"हे मातृभूमे! तेरी सेवा करनेवाले हम निरोगी और आरोग्यशाली हों। तुझसे उत्पन्न हुए सब भोग्य पदार्थ हमें प्राप्त हों। हम ज्ञानी होकर दीर्घायुवाले हों और तेरे लिए आत्मसर्वस्वकी बलि देनेवाले हों।"

इसप्रकार वेदोंमें सार्वजनिक प्रार्थनायें भरी हुई हैं। इन प्रार्थनाओंमें कतिपय प्रार्थनायें राष्ट्रीयभावोंसे ओतप्रोत है, जैसे उपर्युल्लिखित मंत्र। उपर्युक्त मंत्रोंमें ४५ वां मंत्र भारत की आजकी राजनैतिक परिस्थितिका हूबहू चित्रण करता है। आज भारतमें विभिन्न भाषाभाषी तथा विभिन्न धर्मावलम्बी हैं तो सही, पर वे एक परिवारके सदस्योंकी तरह मिलजुलकर नहीं रह रहे। उनमें पारस्परिक झगडे एवं वैमनस्यता अपनी चरमसीमापर है। इतना ही नहीं, अपितु प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने अपने पृथक् पृथक् प्रान्त कायम करनेकी कोशिश कर रहा है। संभवतः अथर्वा ऋषिको इस बातका

ख्याल भी नहीं रहा होगा, कि आगे जाकर अखण्ड आर्यावर्त की स्थिति ऐसी हो जाएगी। जो वैदिकऋषियोंकी-कल्पनामें भी नहीं थी,वही आज इस भारतभूपर साकार हो रही है।

हिन्दुओंको वेदोंका अभिमान तो है, पर वेदोक्त सामुदायिक प्रार्थनाओंकी तरफसे वे पूरी तरह उदासीन हैं। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें सामुदायिक प्रार्थना, उपासना और सामुदायिक- कार्योंका महत्त्व अभी हिन्दु समझ नहीं पाये हैं। सामुदायिक बल संघटनसे ही प्राप्त हो सकता है और संघटन करनेके अनेक साधनोंमें सामुदायिक प्रार्थना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।

* * *

:३४: प्राचीन कथाओंकी विकृति

हमारे प्राचीन इतिहासोंमें ऐसी अनेकों कथायें हैं कि जो तत्त्वतः इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ लिये हुई हैं, कि जिनका उपयोग मानव जीवनके हर पक्षकी उन्नतिके लिए किया जा सकता है। पर ये ही कथायें आगे जाकर कितनी विकृत हो गई, यह देखना भी मनोरंजक साबित होगा।

परशुरामकी कथा

क्षत्रियवंशी राजाओंने परशुरामके पिताको बहुत सताया, उनका आश्रम लूट लिया, इसलिए परशुराम क्रुद्ध हो गए और उन्होंने क्षत्रियोंका भयंकर संहार किया। उस समय उन्होंने किसी भी दूसरी जातिकी सहायता नहीं ली। इस कथापरसे उस समय ब्राह्मणजातिकी वीरताका अनुमान सहजमेंही लगाया जा सकता है। उस समयके ब्राह्मण स्वसंरक्षणके कार्यमें समर्थ थे। उस समयके ब्राह्मण " शापादपि शरादपि " अपनी रक्षा करनेमें समर्थ थे। तत्कालीन ब्राह्मण ज्ञानप्रचारका काम तो करते ही थे, पर जब कभी युद्धका भी अवसर, आता तो वे युद्ध भी करते थे और अपने शत्रुओंका विनाश करते थे।

वसिष्ठ और विश्वामित्र

इन दोनोंकी कथा भी इसी परिप्रेक्ष्यसे द्रष्टव्य है। वसिष्ठ ऋषिके आश्रमपर क्षत्रियवंशी विश्वामित्रने आक्रमण किया। तब वसिष्ठके आश्रमके आसपास रहनेवाली भील, किरात, यवन, शक आदि जंगली जातियोंने विश्वामित्रका मुकाबला किया, पर विश्वामित्रकी वीरताके आगे वे टिक न सके। तब वसिष्ठ ऋषि स्वयं अपना ब्रह्मदण्ड नामक अस्त्र लेकर खड़े हुए और उन्होंने विश्वामित्रको निस्तेज कर दिया। एक बलाढ्य क्षत्रिय राजाको भी निस्तेज करने लायक शक्ति वसिष्ठके अन्दर थी।

नरनारायण

तीसरा उदाहरण-नरनारायण ऋषिके आश्रमपर भी इसी प्रकार तत्कालीन क्षत्रियोंने आक्रमण किया। तब नरनारायणने इषिकास्त्रसे उन क्षत्रियोंका प्रतिकार किया। इषिकास्त्रको छोड़ते ही सैनिक फटाफट छींकने लगे, और इन छींकोंके कारण सेना आगे बढ ही नहीं पाई, लिहाजा वह सेना पराभूत होकर पीछे लौट गई। महाभारतमें इस प्राचीन कथाका उल्लेख है।

इसप्रकार जब जब ब्राह्मणत्व पीडित हुआ, तब तब ब्राह्मणोंने शस्त्रास्त्रोंको धारण कर क्षत्रियोंके व्यवसायको अपनाया और ब्राह्मणत्वकी रक्षा की। पर ये कथायें आगे जाकर विकृत हो गईं, या कर दी गईं। उदाहरणार्थ—

रामायणकारका कथन है कि विश्वामित्रकी सेनाने म्लेच्छ, यवन, शबर और शक जातिके सैनिकोंका संहार कर दिया, तब वसिष्ठको ब्रह्मदण्ड धारण करना पडा और उसके द्वारा, उन्होंने विश्वामित्रको पराभूत किया। यहां रामायणकारके कथनानुसार म्लेच्छ यवनादि जातियोंका बल आर्यक्षत्रियों और ब्राह्मणोंके बलकी अपेक्षा निम्नस्तरका था। पर महाभारतमें इस कथामें परिवर्तन करके यह कहा गया कि म्लेच्छ, यवन, शबर तथा शकोंने विश्वामित्रकी सेनाका पूरी तरह संहार कर दिया। इसप्रकार महाभारतमें म्लेच्छयवनोंके द्वारा भारतीय क्षत्रियोंका पराभव दिखलाया गया। इसप्रकार इस कथामें शकादि विदेशी जातियोंकी शक्ति भारतीय आर्यक्षत्रियोंकी अपेक्षा बढचढकर बताई गई।

इन दोनों कथाओंमें जो फरक बताया गया है, उसपरसे हम यह अनुमान निकाल सकते हैं कि --

१ एक समय वह था कि जब आर्य अपने बलके सहारे शत्रुओंसे जूझते थे।

२. आगे चलकर वे यवनादि विदेशी सत्ताओंकी मदद लेने लगे। पर इस समयतक यवनोंका सामर्थ्य बहुत बढ नहीं पाया था। आर्य यवनोंका पराभव भी कर देते थे।

३. इसके बादसे यवनोंका प्राबल्य होता गया और आर्योंका ह्रास होता गया।

इस ह्रासका कारण मैं अस्थान अहिंसावृत्तिको ही मानता हूं। इस सीमातीत अहिंसावृत्तिके कारण भारतीय आर्य शूरवीरताकी वृत्तिसे दूर होते गए और ऐसी स्थिति आ पहुंची कि अब इन अजेय आर्योको भी अपनी सुरक्षाके लिए दूसरोंका मुह ताकना पड गया। इस परमुखापेक्षित्वका जो परिणाम होना था, वही हुआ, विदेशी आकर हिन्दुओंको लूटने लगे और अन्तमें वे स्वयं सत्ताधारी बन बैठे। हिन्दुओंमें भोलापन और भीरुता बढ गई और उन्होंने अपनी आदर्श कथाओंमें भी अहिंसावृत्तिके अनुसार परिवर्तन कर दिये। अपनी इस वृत्तिके कारण हिन्दु अनेक शतकोंतक दासताकी श्रृंखलाओंसे जकडे रहे।

इसीप्रकारकी कथा प्रजापतिकी भी है। जिसे हम पीछे पढ चुके हैं। प्रजापति अपनी दुहिताके पीछे दौडा उसके इस कुकर्मको राष्ट्रनेताओंने देखा और राष्ट्रसंघके द्वारा उसका वध करवाकर दूसरा प्रजापति नियुक्त किया।

वेदमें इस कथाको राजनैतिक स्वरूप दिया गया है। सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेः दुहितरौ सविदाने॥

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेः दुहितरौ संविदाने॥ अथर्व ७।१२।१

इस मंत्रमें ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति इन दोनोंको प्रजापतिकी दुहिता बताया गया है। ये दोनों राजाको ज्ञान देनेवाली हैं और प्रजापति प्रजाकी रक्षा करनेवाला है।

ग्रामसभा एवं राष्ट्रसमिति ये दोनों प्रजापति राजाकी दुहितायें हैं, ये दोनों (दूरे हिता) प्रजापतिसे दूर रहकर ही प्रजापतिका हित कर सकती हैं। पुत्री अपने पितासे जितनी अधिक दूर रहे उतनी ही वह हितकारिणी होती है और पत्नी जितनी अधिक पास रहे, उतनी ही अधिक हितकारिणी होती है।

प्रजापालक प्रजापति उपर्युक्त दोनों सभाओंको स्वातन्त्र्य प्रदान करके उनके सभासदोंसे ज्ञान एवं सलाह लेता रहे। पर जब वह अपने अधिकारोंका उल्लंघन करके इन सभाओंको अपनी मर्जीसे चलाना चाहता है, तो वह प्रजापति पदके अयोग्य हो जाता है। यही बात इस कथामें भी है।

वैदिककालके एक प्रजापतिने इन लोकसभाओंपर अनुचित रीतिसे अधिकार करना चाहा, तब राष्ट्रके नेताओंने उसका वध करके " अन्यं प्रजापति निरतक्षन् " (ऋग्वेद) दूसरे प्रजापतिकी नियुक्ति की। इसप्रकार इस सम्पूर्ण कथाका संक्षेपमें तात्पर्य यह है कि--

(१) एक देशमें प्रजापतिका शासन था।

(२) उस शासकने प्रत्येक गांवमें ग्रामसभा स्थापित की और वह सभा गांवकी व्यवस्था देखती थी।

(३) राष्ट्रकी व्यवस्थाके लिए उसने राष्ट्रसमितिकी स्थापना की और वह राष्ट्रका शासन चलाती थी।

(४) एक बार प्रजापतिने इन सभा और समितियोंके कार्योंमें विघ्न करने शुरु कर दिए।

(५) वह सभासदोंको पसन्द नहीं आया।

(६) अतः उन्होंने उस प्रजापतिको पदभ्रष्ट करके उसे मार डाला और--

(७) दूसरे प्रजापतिकी नियुक्ति की और वह राज्यशासन व्यवस्थित रीतिसे चलाने लगा।

इसप्रकार इस प्रजापतिकी कथाका तात्पर्य है। इस कथासे तत्कालीन राजनीतिके स्वरूपका पता चलता है।

३५ ब्रह्म और राक्षस

विश्वामित्र एक राजा था। उस समय भारतमें अनेक छोटे बडे राज्य थे। वे सभी आपसमें झगडते थे और उनमें जो प्रबल हो जाता, वही सबपर अपना अधिकार जमा लेता और स्वयंको सम्राट् घोषित कर देता। विश्वामित्र ऐसा ही राजा था।

उस समय राजाका क्षेत्र मर्यादित होनेके कारण किसी भी राजा या सम्राट्का अपने राज्यसे बाहर ज्यादा मान नहीं होता था। पर ब्राह्मणोंकी वैसी अवस्था नहीं थी। उनके सम्मानका क्षेत्र ज्यादा व्यापक था।

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

इस वचनका अर्थ उस समयकी परिस्थितिपर ध्यान दिए बिना समझमें नहीं आ सकता।

कल्पना कीजिए कि उत्तर भारतमें पचास राज्य हैं और उन सब राज्योंपर एक राजा है, पर इस राजाका अधिकार अपने राज्यकी सीमाओंतक ही रहेगा, पर काशीके एक पण्डितका अधिकार भारतके सभी राज्योंपर होगा।

आर्यावर्तके बाहर भी ब्राह्मण पंडितोंका अधिकार था। क्षत्रियोंका अधिकार राज्यशासनपर और ब्राह्मणोंका अधिकार धार्मिक विषयोंपर होता था। अतः इनके अधिकारों का परस्पर संघर्ष कभी नहीं होता था। इसप्रकार ब्राह्मणोंका सर्वत्र मान था, पर वैसा सम्मान क्षत्रियोंको प्राप्त होना अशक्य था।

काश्यपी पृथ्वी

पृथ्वीको " काश्यपी " कहा गया है अर्थात् यह सम्पूर्ण पृथ्वी काश्यप ऋषिकी है। यह सम्पूर्ण पृथ्वी किसी एक राजाकी कभी रही हो, ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। पर इस पृथ्वीको ब्राह्मणकी सम्पत्ति अवश्य बताई गई है।

ब्राह्मण स्वयं कभी राजा नहीं होते थे, वे राजाके पुरोहित बनते थे, पर राज्यके सब सूत्र इन्हीं ब्राह्मणोंके हाथोंमें होते थे। ये पुरोहित आजके पुरोहितोंकी तरह दर्भ और तिल लेकर दर-दर भटकते नहीं थे, अपितु राजाकी सेना, अस्त्र, भण्डार, कोष और राज्यकी सब औद्योगिक व्यवस्थाओंपर इन पुरोहितोंका अधिकार होता था। सन्धि और विग्रहका निश्चय भी पुरोहित ही करते थे, राजा तो केवल पुरोहितके आदेशोंका पालन करते थे।

पुरोहितका कर्तव्य

एषामहं आयुधा संदयामि
जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः। (अथर्व)

" जिनका मैं पुरोहित हूं, उनके शस्त्रास्त्र मैं तीक्ष्ण करता हूं " यह एक पुरोहितका कथन है। इसपरसे पुरोहित के अधिकारोंकी सीमाओंका अनुमान सहजहीमें लगाया जा सकता है। महाभारतमें गन्धर्व चित्रसेनने भी पाण्डवों से कहा था कि जबतक तुम किसी श्रेष्ठ पुरोहितका सहारा न लोगे, तबतक तुम्हें राज्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उस सलाहके अनुसार पाण्डवोंने धौम्यको अपना पुरोहित बनाया। इसप्रकार ब्राह्मणोंका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था। आज क्षत्रियोंका अधिकारक्षेत्र व्यापक हो गया है और ब्राह्मणोंका संकुचित।

प्राचीनकालमें उत्तर भारतमें ५०-५५ राजा थे और उन सबके पुरोहित ब्राह्मण ही थे और इन ब्राह्मणोंमें परस्पर एक सूत्रता थी। गुरु परम्परा, वेद परम्परा, विज्ञान परम्परा आदि सभी परम्परायें ब्राह्मणोंकी ही होती थीं और सब ब्राह्मणोंका सिद्धान्त भी एक ही होता था। इस वजहसे उस समय ब्राह्मणोंका मूल्य भी बहुत ज्यादा था और इसी वजहसे क्षत्रिय भी ब्राह्मणोंसे दबते थे। प्रत्यक्षरूपसे राज्याधिकारी न होते हुए भी ब्राह्मणोंने इसप्रकार अपना प्रभाव सबपर स्थापित कर रखा था। अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि सब पृथ्वीपर ब्राह्मणोंकी सांस्कृतिक सत्ता थी, और क्षत्रिय राजाओंकी सत्ता केवल अपने भूभागतक ही सीमित थी।

ब्रह्मबल क्षत्रबल

ब्राह्मणोंके इसी महत्त्वको देखकर विश्वामित्रके मुंहसे भी निकल पडा, धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलं और उन्होंने भी क्षत्रियत्वका अपना चोला उतार फेंका और वे ब्राह्मणवर्णमें घुस गए। इसके बाद ऐसे विश्वामित्र की प्रसिद्धि ब्राह्मणके रूपमें ही सर्वत्र हुई और ब्राह्मणोंमें भी सम्माग्य स्थानपर उनकी प्रतिष्ठा हुई। ब्राह्मण होनेके बाद उन्होंने ब्राह्मणके सांस्कृतिकार्यका अधिक प्रचार किया।

तत्कालीन ब्राह्मण यज्ञके द्वारा वैदिकधर्म और वैदिक-संस्कृतिका प्रचार करते थे। विश्वामित्र भी अपने समयके प्रतापी राजाओंमेंसे एक थे, अतः उनका प्रभाव अन्य राजाओंपर होना स्वाभाविक ही था। अतः विश्वामित्रको यदि केवल यज्ञ ही करना होता, तो वे किसी भी राजाके पास जाकर कहते कि मैं तुम्हारे राज्यमें यज्ञ करना चाहता हूं, तो संभवतः कोई भी राजा उनकी इस बातको अस्वीकार न करता; इसके विपरीत वह उनकी मदद ही करता। पर ये विश्वामित्र किसी भी वैदिकधर्मानुयायी आर्य राजाके राज्यमें जाकर यज्ञ नहीं करते। वे तो जाकर विधर्मी राक्षसोंके राज्यमें यज्ञ करते हैं और इस बातका आग्रह करते हैं कि यदि इस यज्ञमें राक्षस विघ्न डालें, तो आर्यराजा उन राक्षसोंका संहार करके उस यज्ञको यथा-सांग पूर्ण करें। प्रायः तत्कालीन सभी ब्राह्मणोंकी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। जिन देशोंमें आर्योंका राज्य होता, उस देशमें जाकर ये ब्राह्मण यज्ञ नहीं करते थे अपितु जहां राक्षसोंका राज्य होता, वहां जाकर ये ब्राह्मण अपनी पर्णकुटी बना लेते और यज्ञ करना शुरु कर देते थे। जब राक्षस इनके इन यज्ञोंमें विघ्न उपस्थित करते तो ये ब्राह्मण उन राक्षसोंकी निन्दा करते।

Statement about ownership of VAIDIC DHARMA (Hindi)
(Rule 8 From IV), Newspapers (Central) Rule, 1956

1. Place of Publication	:	SWADHYAYA MANDAL P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Bulsar]
2. Periodicity of Publication	·	MONTHLY 5 th of each Calendar Month
3 Printer's Name	:	VASANT SHRIPAD SATWALEKAR Swadhyaya Mandal, Bharat Mudranalaya,
Nationality	·	INDIAN
Address		P O ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist Bulsar]
4 Publisher's Name	:	VASANT SHRIPAD SATWALEKAR Secretary, Swadhyaya Mandal
Nationality	:	INDIAN
Address	:	P O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Bulsar]
5. Editor's Name	:	Shri. Shrutisheel Vishwamitra Sharma
Nationality	.	INDIAN
Address		P O ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Bulsar]
6. Name & Address of individuals who own the paper	:	Dr. SITARAM DAMODAR SATWALEKAR President– Swadhyaya Mandal.

I, Vasant Shripad Satwalekar, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

5 th March, 1969

Vasant S. Satwalekar
Signature of the Publisher

Regd No G 71

अल्प मूल्यमें] [अमूल्य उपहार

हमारा उद्देश्य
और
आपकी सहायता

आपकी यह लोकप्रियसंस्था स्वर्णजयन्ती मनाकर ५१ वें वर्षमें प्रविष्ट हुई है। इस शुभ अवसर पर " वेदोंका सर्वत्र प्रचार करके वैदिकधर्मके पांचजन्यका घोष गुंजाने " के उद्देश्यको पूरा करनेके लिए हमने श्री पं. श्री. दा. सातवलेकरजीके द्वारा सम्पादित चारों वेदसंहिताओंको रु. २०.०० के बजाय रु. १२.०० में देनेका निर्णय किया है। यह सुविधा चारों वेदोंके सम्पूर्ण सेटके खरीदनेवालेको ही मिल सकेगी। ग्राहकोंके आग्रहपर अल्पमूल्यकी इस सुविधाकी अन्तिम तारीख बढाकर ३०-४-१९६९ तक कर दी गई है।

साइज डबल क्राउन १६ पेजी, पृ. सं. १९००। मूल्य १२.०० रु. केवल (डा. व्य. २.५० पृथक्)। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा। आज ही मंगाइये।

व्यवस्थापक,
स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
जि. बलसाड)

ऑर्डर भेजते समय इस विज्ञापनका उल्लेख अवश्य करें।

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसाड]

वैदिकधर्म



श्री समर्थ रामदास स्वामी

फरवरी १९६९

५० पैसे



वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक २ : माघ : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु ६.५० डाक व्यय अलग रहेगा।

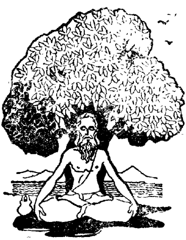
मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. बलसाड]

वैदिकधर्म

प्राणरक्षक वायु

उत वात पितासि न
उत भ्रातोत नः सखा ।
स नो जीवातवे कृधि ।। २ ।।

(अथर्व. १०।१८६।२)



(वात हे वायुदेव ! तू (पिता असि) हमारा पालक है। तू (उत न. भ्रातः उत नः सखा) हमारा भाई और मित्रके समान हमारा हित करनेवाला है। (सः) वह तू (नः जीवातवे कृधि) हमारी आयु दीर्घ कर।

यह वायु सबका पिता है। यही प्राण रूपसे सबका जीवन धारण करता है। यह मित्रके समान सबका हित करनेवाला है। यह जिस मनुष्य पर कृपा करता है वह दीर्घायुवाला होकर आनन्दसे रहता है।

वैदिक-संस्कृति

लेखक— श्री लालचन्द

▲

राष्ट्रयज्ञका आयोजन

ॐ भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि
पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे यजु ३।५)

ॐ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि
त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्
विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ (यजु १५।५४)

ॐ अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व
चेद्धवर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिः
ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥

ॐ समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा,
इदमग्नये इदं न मम ।

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ॥
अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥
इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ ३॥
इदमग्नये अंगिरसे इदन्न मम ॥

ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य सब प्रजाजनोंके हितके लिए, अपने तथा सन्तानों और पशुओं तकके हितके लिए महाऐश्वर्यकी प्राप्ति और सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिए विशाल पृथिवीपर जहाँ कि सभीको आश्रय मिलता है विशालताकी प्राप्तिके लिए, अन्नकी वृद्धिके लिए राष्ट्रयज्ञकी स्थापना करता हूं। हे नेता, तू जाग उठ, धर्माचरणको जान, तू सावधान रह, तू और ये प्रजाजन मिलकर सुखके देनेवाले उत्तम कर्म और पूर्ण करनेवाले कृषि उपयोग आदि कार्य इनका विस्तार कर। ऐक्य साधनाके पवित्र राष्ट्रयज्ञमें सभी विद्वान् दिव्यजन तथा राष्ट्रपति भी आकर विराजें।

स्वयंसेवकोंकी प्रतिज्ञा

इस व्यापक राष्ट्रयज्ञमें मैं समिधा हूं, हे राष्ट्र, तू मुझे स्वीकार कर, बढ और हमें बढा, प्रजाए बढें, पशु बढें, ब्रह्म-वर्चस बढे, अन्न बढे और अन्नसे पुष्ट हो इसलिए मैं आत्माहुति देता हूं, यह मेरा समर्पण राष्ट्रके लिए है मेरे लिए नहीं।

समिधा और घृतसे जैसे यज्ञाग्नि प्रज्वलित की जाती है इसी प्रकार इस राष्ट्रयज्ञमे हम अपनी आहुति देते हैं यह आहुति नेताके लिए है, मेरे लिए नहीं।

राष्ट्रयज्ञकी भावनारूप अग्नि प्रदीप्त हो रही है, यह अग्नि पावन है इसमें दोष भस्म होते है। आओ हम इसमें स्नेह और प्रेम द्वारा अपनी आत्माहुति देते हुए पवित्र होवें, तीव्र इच्छामे तीव्र राष्ट्रके उत्थानकी भावनासे प्रेरित होकर हम विशाल राष्ट्रके लिए अपनी बुद्धि, बल, कौशल, ऐश्वर्य, अर्पण करें, यह समर्पण व्यापक राष्ट्रके लिए है, मेरे लिए नहीं।

हे मेरे प्यारे राष्ट्र, तू स्नेहसे उन्नत होता है, तू महान् होकर प्रकाशित हो, तेरी कीर्ति लोकान्तरोंमें फैले, मैं तुझे आत्मार्पण करता हूं। यह भेट प्यारे राष्ट्रके लिए है, मेरे लिए नहीं।

अर्पण भावनासे प्रेरित होकर युवकयुवतियां राष्ट्रके लिए जीवन दें, राष्ट्रको अपना सर्वस्व अर्पित कर दें तो राष्ट्ररूप महायज्ञ पूर्ण होता है और विराट् राष्ट्रपुरुष प्रसन्न होता है। राष्ट्रकी उन्नति स्वार्थकी आहुतिके बिना संपन्न नहीं

हो सकती। स्वार्थ ही समाज अथवा राष्ट्रका महारोग है। राष्ट्रके लिए अपना आप अर्पण करनेसे राष्ट्र उन्नत होता है और मनुष्य अमर होता है। प्रजाकी सर्वांग उन्नति, पशुओंकी उन्नति, ब्रह्मतेजका विकास, अन्नकी बहुतायत, समृद्धि, ये सभी संपद् राष्ट्रके लिए अर्पण भावनासे तन मन धनसे लग जानेसे ही संभव है। राष्ट्र महादेव है इस देवकी प्रसन्नता होनेसे सभी प्रजा सुखी होती है। आओ, हम राष्ट्रके लिए जीना तथा राष्ट्रके लिए मरना सीखें और अपनी पवित्र हवि लिए हुए सदा उद्यत रहें। राष्ट्रयज्ञमें पवित्र, दोषरहित स्नेहकी हवि होती है। विशुद्ध प्रेमसे ही राष्ट्रयज्ञकी अग्नि प्रदीप्त होती है और सभी प्रकारकी शक्ति तथा कीर्ति प्राप्त होती है।

राष्ट्रमें बुद्धिबल, उत्साह और पराक्रम हो तभी राष्ट्रशक्ति बढती है और सभी प्राणी सुख पाते है, राष्ट्र विष्णु है, सबको पालता है, राष्ट्र सबका मस्तक है। राष्ट्र आधार है, राष्ट्र यज्ञरूप है, राष्ट्र सबको मिलानेवाला है, राष्ट्र व्यापक है, राष्ट्र सबके हितके लिए है।

विष्णोः रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो
विष्णोः स्यूरसि विष्णोः ध्रुवोऽसि।
वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ (यजु ५।२१)

राष्ट्र है ही रुद्रयज्ञ। इससे सबकी प्राणशक्ति बढती है, सबकी दीर्घायु होती है, सभी यशस्वी होते हैं, सभी सुखी होते है, सभी स्थिर होते हैं सभी उन्नत होते हैं। राष्ट्रके लिए सभीको अपने आपको योग्य, पवित्र, उत्तम और धर्मशील बनाना चाहिये। राष्ट्रका मान ही तो सबका मान है, राष्ट्रका अपयश सबका अपयश है। वर्चस्वी जन जब अपना तेज बल बुद्धि राष्ट्रको सेवामे लगा देंगे तो राष्ट्र अवश्य उन्नत होगा और सबका मान होगा।

मा भेर्मा सं विक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे
वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्।
पाप्मा हतो न सोमः। (यजु ६।३५)

भय मत कर, भयसे मत कांप, एक दूसरेका आश्रय होकर, हृष्टपुष्ट होकर, एक दूसरेका बल बढाओ। पापी मरता है, सत्पुरुष नहीं मरता।

राष्ट्रमें निर्भय होनेके लिए सभी हृष्ट पुष्ट हों, परस्पर एक दूसरेकी सहायता देते हुए सबकी शक्ति बढानेसे सभी सशक्त और उत्साही होकर भयरहित हो सकेंगे और उन्नत होंगे। यह निश्चय करना चाहिये कि पापी मरता है, सत्पुरुष नहीं मरता। पापी तो जीता हुआ भी मरासा ही है, सत्पुरुष मर कर भी जीता रहता है। सत्पुरुषका यश अमर होता है।

राष्ट्रमें असुरलोग भोग विलासमय जीवनमें अपना नाश करते हैं तथा अपने नीच कर्मोंसे जनतामें बुरी रुचि उत्पन्न करते हैं। विलासिता जहां राष्ट्रमें प्रवेश करती है तो जनताको मुग्ध करके उन्हें अपनी ओर खींचती है। राष्ट्रका ह्रास ऐश्वर्यसे नहीं होता, ऐश्वर्य प्राप्ति पर धनका सदुपयोग न करके भोग विलासमें पडनेसे राष्ट्र निर्बल होते हैं और उन्नति रुक जाती है। मनोरंजन आवश्यक है किन्तु मनोरंजन ऐसा न हो जिससे क्षुद्र वासनाओंको प्रोत्साहन मिले और लोग शक्तिको क्षीण करें। मनोरंजनमें मनकी शक्तिका विकास होना चाहिये। कार्य करनेसे जो थकान होती है वह दूर होजानी चाहिये न कि मनोरंजनसे गिरावट हो और मनुष्यका नैतिक पतन हो।

आसुरीवृत्तिवाले लोगोंमें अभिमान, आत्मश्लाघा तथा ईर्ष्या और घृणा करनेका स्वभाव होता है और फलस्वरूप समाजमें द्वेष बढता है। ऐसे लोग प्राय. विलासी, कामी और क्रोधी होते हैं और अपने बडप्पनकी ही कथाएं हांकते हैं आत्मसम्मान आवश्यक है, हीन और भीन समझना आत्मघात के समान पाप है। मनुष्य होकर आत्मविश्वास खो बैठना बहुत ही बुरा है। आत्मविश्वासकी कमीसे ही हीन-भावना का जन्म होता है कई लोग अपनी अज्ञानतामें हीन और दीन रहना भी नम्रताका विनयका एक आवश्यक अंग समझते हैं यह नितांत भूल है। हीनता और दीनता तमोगुणको प्रधानताको प्रकट करती है। अभिमान आसुरीभाव है जिसकी उपज रजस् गुणमें होती है, तो हीनपन तमोगुणका परिणाम है। उत्साहयुक्त होना, साहसयुक्त होना, समर्थ होना, योग्य होना यह उत्तम गति हैं जो सत्त्वगुणकी द्योतक है। आसुरीभावकी वृद्धिमें द्वेष और संघर्ष होते हैं बात बातमें मनमुटाव, बखेडे, झगडे और अडचन और एक दूसरेकी प्रगतिमें रुकावट डाली जाती है ऐसे लोग राष्ट्रके शत्रु हैं। राष्ट्रका परमहित तभी होगा जब राष्ट्रमें सत्त्वगुणप्रधान आत्मवान् मनुष्योंकी संख्या अधिक होगी। इस अवस्थाको लानेके लिए समाज तथा राष्ट्र दोनोंको ही सुशिक्षा तथा स्वस्थ वातावरण द्वारा जनताको प्रेरणा देना चाहिए। तमोगुणी लोग

प्रायः दैव पर निर्भर अकर्मण्य रहते हैं और ऐसे लोग किसी भी उन्नतिके कार्यमें सहयोग नहीं देते और जहां तक बस चलता है अन्य योग्य मनुष्योंका भी उत्साह मन्द कर देते हैं, ये लोग भी समाज तथा राष्ट्रके शत्रु जो सदा अवसादमें दबे हुए अपनी शक्तिका निरंतर ह्रास करते हैं, दैव पर निर्भर ऐसे तमोगुणी लोगोंसे भी राष्ट्रको हानि है। राष्ट्रकी शिक्षामें जनतंत्रकी आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन आवश्यक है जिसमें मिलकर कार्य करनेकी रुचि बढे और सबका परम हित हो।

वैदिक संस्कृति दैव पर निर्भर न रहकर पुरुषार्थकी प्रेरणा देती हुई एक स्वशक्तिमान सर्वेश्वर प्रभुका आश्रय स्वीकार करती है। वैदिक संस्कृतिमें भगवानमें विश्वास आवश्यक है। वैदिक संस्कृति भगवानकी व्यापकतामें निश्चय रखती हुई मनुष्यको कर्तव्यमें प्रेरित करती है। वैदिक संस्कृतिका प्रसार होनेसे लोगोंमें सत्य, प्रेम और एकता होगी और सभी मनुष्य उन्नत होंगे और धर्मशील होंगे।

परमात्माकी पूजा

परमात्मा सबमें है, आत्माका अन्तरात्मा, जीवनका जीवन, प्राणका प्राण, सर्वाधार सर्वाश्रय, सत् चित आनन्द, सत्यं शिवं सुन्दरम्, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर सबके अति निकट है और सारे ब्रह्मांडमें व्यापक है हम सब भगवानमें हैं, भगवान् हममें हैं ऐसे भाव वैदिक संस्कृतिमें हैं ये भाव मनुष्यको एक दूसरेके साथ मिलाते हैं सबमें समानता स्थिर करते हैं ऊंचनीचके विषम विचार इस प्रकार विलीन होते हैं और मनुष्योंमें परस्पर विश्वास और सद्व्यवहार होनेसे व्यापार और लेन देन बढता है और सभी सुखी होते हैं। सबमें एक परमात्माका होना, एक ऐसी गंभीर और दृढ भावना है कि मनुष्योंके आपसके मन मिल जाते हैं। एक परमात्माके उपासक होनेके नाते आपसके संबंध मधुर होते हैं और सभी एक दूसरेके हितेच्छुक हो जाते हैं। एक भगवानकी मिलकर उपासना करनेमें तो दिव्य प्रेमकी प्रेरणा सब पाते हैं, एक ही उपास्यदेवकी मिलकर आराधना और अर्चना करनेमें विलक्षण ऐसी शक्ति है वैदिक संस्कृति आदि संस्कृति होती हुई और विशेषतः एकेश्वर उपासनाके दृढ भाव होनेसे यह एक दिव्यसंस्कृति है इस संस्कृतिमें मानवताका पूर्ण विकास है।

वेदमें एक ईश्वरकी उपासनाके विषय कैसे सुन्दर भाव हैं उनसे तो वेद सुशोभित है। हम कुछ वेदके वचन उद्धृत करते हैं।—

> अग्निं स्तोमेन बोधय,
> समिधानो अमर्त्यम्। हव्या देवेषु नो दधत्।
> (ऋ० ५।१४।१)

परमात्माके गुणकीर्तनसे उसे जानो, वह तेजस्वरूप अमृतमय है। दिव्य जनोंमें वह सब उत्तम पदार्थ देता है

परमात्माके दिव्य गुणोंका चिन्तन करके उसे ही अपना आदर्श बनाकर उन गुणोंको धारण करो। वह सत्य है, सच्चे सदाचारी बनो, वह चित् है, ज्ञान प्राप्त करो, वह आनन्द है, शाश्वत अव्यय परमसुख लाभ करो, वह सत्यं है, अविनाशी है, अपना अमरत्व जानो, वह शिव है, अपनी चेतनतासे कल्याणमयी भावना स्थिर करो, वह सुन्दर है, अपने कर्तव्यका पालन करके जीवन सुन्दर बनाओ, वह सर्वेश्वर है, आत्माका ऐश्वर्य समझो और बुद्धि मन इन्द्रियों पर अपना प्रभुत्व करो, इन्द्रियलोलुप दुर्बल मन तथा मूढ मत बनो, वह अन्तर्यामी है, सबके हृदयोंमें एक दूसरेसे प्रेम करके प्रवेश करो, वह दयामय है, अपनी क्रूरता कठोरता छोडो, सबसे मीठा व्यवहार करो, आदि। परमात्माको आदर्श जानकर जब मनुष्य अपने व्यवहारमें उसके गुण वर्तता है तो परमात्मासे निकटता होती है उसकी उपासना का अधिकारी होता है और हर प्रकारका दिव्य ऐश्वर्य और दैवी संपद प्राप्त करता है।

> तमध्वरेषु ईडते देवं मर्ता अमर्त्यम्।
> यजिष्ठं मानुषे जने (ऋ० ५।१४।२)

मनुष्य हरएक मनुष्यके अन्दर वर्तमान उस अमर पूजनीय देवकी सत्कर्मोंके समय स्तुति करते हैं।

परमात्मा सब मनुष्योंमें विराजमान है, सबके हृदयोंमें वही पूज्य उपास्यदेव है। ऐसा जानकर सभी जनोंसे प्रेमसे वर्ताव करना धर्म है। यह व्रत मनुष्यका आधार है, यही सदाचार है, यही शिष्ट व्यवहार है, इसे ही श्रेष्ठता कहते हैं, इसीमें सबका हित है। सबमें हमारे प्रेममय भगवान् निवास करते हैं ऐसा अनुभव करके सबसे हित करना, सबसे प्रेमपूर्वक वर्ताव करना ही जनार्दनकी पूजा है। यह पूजा ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है, इससे सबका कल्याण होता है, भगवान् हृदयविहारी प्रसन्न होते हैं, सबकी कामनाएं पूरी होती हैं,

आनंदकी वर्षा होती है, यही यज्ञ है जिससे यज्ञपुरुष तृप्त होता है और सब आत्मप्रसाद पाते हैं।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (यजु. ३६।३)

परमात्म सत् चित् आनन्द है, उस सर्वप्रेरक, सर्वश्रेष्ठ प्रकाशस्वरूप परम मंगलमय प्रभुका हम ध्यान करें और उससे हमारी बुद्धि प्रेरित हो।

जब सर्व पूज्य परम उपास्यदेवका मनुष्य उपासक होता है और उसीको आदर्श जानकर उसके गुण धारण करता है तो मनुष्यके अन्दर शान्ति होती है, वह ऐश्वर्यवान् होता है, निर्भ्रान्त होकर यज्ञमय जीवन व्यतीत करता है और सबमें अपने प्रियतम भगवान्का अनुभव करता है ऐसी अनन्य अवस्थामें मनुष्य सत्ज्ञान प्राप्त करता है और उसे शोक और मोह नहीं होता वह रागद्वेषसे अलग रहता हुआ सबसे अभिन्नताका वर्ताव करता है, सबमें मिलकर अपने आपको बन्धनमुक्त अनुभव करता है।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ अधा ते सुम्नमीमहे । (ऋ. ८।९८।११)

हे सबको वास देनेवाले, अनन्त सुकृत करनेवाले, तू हम सबका पिता, तू ही माता है, हम तुझसे सुखकी कामना करते हैं।

परमात्मा सबका रक्षक, पालक, पोषक सबको मान देता है, किसीका तिरस्कार नहीं करता, इसीलिए वह सबका पिता और माता है, हम इसीसे सुख मांगते हैं, परमात्मा हमें अनंत सुख दे रहा है। एक सूर्यको देनेसे ही परमपिताने सबके लिए नित्य नवजीवनका प्रबंध किया है। परमात्मा अपने सुखोंकी वर्षा करता है। चन्द्रकी ज्योत्स्नासे सबको आनंद देता है। प्रातःकालकी ब्राह्ममुहूर्तकी उषासे सबमें कान्ति और दीप्ति देता है, उसके दान अनन्त हैं उसके कर्म अनंत हैं, वह सारी सृष्टिका उत्पादक और नियामक है, प्रेममय संचालक है उसके न्यायमें प्रेम है उसके प्रेममें न्याय है, वह सर्वज्ञ सबका हितकारी परमबन्धु है।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव । (अथर्व १३।४।१३)

उसको ही यह समस्तशक्ति पूर्णतासे प्राप्त है वह एक ही है, एकमात्र स्वयं समर्थ, और ऐश्वर्यमें एक अद्वितीय है।

वह सर्व शक्तिमान, सर्वेश्वर है।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि अप नः शोशुचदघम् ।। (ऋ १।९७।६)

तू निश्चयसे सर्व व्यापक है, सर्व द्रष्टा है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वेश्वर है, हमसे पाप अलग हो।

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
(ऋ (५।२४।१; यजु ३।२५; १५।४९; साम ४।११।२ तथा ७।७।२४।१)

हे ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर ! तू हमारा समीपतम रक्षक कल्याणकारी शिवरूप परम मंगलमय सर्वश्रेष्ठ सहायक है।

अग्निं मन्ये पितरं, अग्निं आपिं, अग्निं भ्रातरं, सदमित् सखायम् (ऋ १०।७।३)

मैं तेजस्वी ईश्वरको पिता मानता हूं, उसी तेजोमय प्रभुको बंधु, भाई और सदा ही मित्र मानता हूं।

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये । सखा सख्ये वरेण्यः । (ऋ १।२६।३)

जिसप्रकार पिता पुत्रको सहायता देता है, बंधु बंधुकी सहायता करता है और मित्र मित्रको सहायता देता है वैसे ही सर्वश्रेष्ठ परमात्मा सब प्रकारसे सहायता करता है।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् ऋषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।। (ऋ. १०।८१।१)

जो हमारा पिता परम दानी सर्वज्ञ परमात्मा सब भुवनों को जीवन देता रहता है, सारे लोकोंको और सारे प्राणियोंका अन्न जीवन बल आदि देता हुआ विराजता है।

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत् जामयो वयम् ।। (ऋ. १।३१।१८)

हे तेजस्वी प्रभो, तू विशेष बुद्धिवाला हमें सुमति देता है, तू हमारा पिता है, तू जीवन दाता है, हम तेरे बांधव हैं।

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
सखा सखिभ्यः ईड्यः ।।
(ऋ. १।७५।४; साम. १४।१।१।२)

हे तेजस्वी ईश्वर, तू लोगोंका बंधु प्रिय मित्र और सखाओंका प्रशंसनीय सखा परम हितकारी है।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।। (यजु ३२।१०)

वह परमेश्वर हमारा भाई है, पिता है, कर्मफल दाता,

विधाता है, वह सम्पूर्ण भुवनों तथा स्थानोंको जानता है।

यत्र देवा अमृत मानशानास्तृतीये धामन्नध्यै-
रयन्त ॥ (यजु. ३२।१०)

जिस तीसरे परमश्रेष्ठ धाममें ज्ञानी पुरुष अमृतानंदका अनुभव लेते हुए विचरते हे।

शरीर, मन और हृदय ये तीन धाम हे इनमें हृदय तीसरा धाम है जिसमें परमात्माका साक्षात् अनुभव किया जाता है। हृदय भक्तिका स्थान है। मन विचारका स्थान है और शरीर कर्मका स्थान है। ज्ञानियोंको अपने अमरपन का अनुभव भक्तिसे होता है।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद
भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥
(अथर्व. २।१।३; ऋ. १०।८२।३)

वह हमारा पिता तथा जनिता है, रक्षक तथा उत्पादक प्रेरक हे और बंधु है, वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है। वह अन्य देवोंके नाम धारण करनेवाला एक ही ईश्वर है। उसीके पास ज्ञानी लोग जाते हैं उसकी ही उपासना करते हैं।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत
विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावा-
भूमी जनयन देव एकः ॥ (ऋ. १०।८१।३)

वह विश्वकर्मा सर्वत्र विराजता है, सर्वत्र देखता है, सर्वत्र जगत्को धारण कर सर्वत्र पहुंचा हुआ है, वही एक अद्वितीय देव सर्वप्रकाशक, सर्वशक्तिमान् आकाश और भूमिको उत्पन्न करता हुआ सारे विश्वका संचालक है।

ओंकार विज्ञान

लेखक— श्री रणछोडदास 'उद्धव'

(१०) सूर्य और विज्ञानात्मा

प्रश्न– दसवें मन्त्रका वास्तविक अर्थ क्या है ?

उत्तर– 'वह आत्मतत्त्व विद्यासे अलग कहा जाता है, अविद्यासे भी अलग कहा जाता है। हम धीर-उदात्त लोगोंसे ऐसे विचार सुनते आये है, जिनने हमें उस विषयमें उपदेश दिया, अर्थात् धीर विद्वानोंका कहना है कि वह आत्मतत्त्व विद्या और अविद्या इन दोनोंसे अलग है।'

आपोमय महद्‌ब्रह्मके गर्भमें मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय स्थित है। कामना इसका नित्यधर्म है। इससे मातरिश्वाकी कृपासे वायुरूप पानीमें संघर्ष होता है। बात यह है कि ऋतुरूप परमेष्ठीका पानी वायुरूप ही है। यह चलवायु स्थिर मातरिश्वा वायुसे घिरा हुआ है। भीतर गतिवाला वायु अपना कार्य करता रहता है, वह मातरिश्वा की सीमातक जाकर वापस लौटता है। वह अपने गति स्वभावसे आपसमें टकरा जाता है। वायुके इसी संघर्षसे अग्निके परमाणु पैदा हो जाते हे। इसी अग्निकी बीजावस्था 'वाक्' नामकी तीसरी प्रकृति है। यह वाक्‌तत्त्व ही सूर्यके स्वरूपको बनानेवाली गायत्री मात्रिकवेद है। इसी वाग् रेतकी उस आपोयोनिमें आहुति होनेसे उक्त सहोजा अग्नि (वायुका संघर्षरूप बलप्रयोग 'सहोबल' कहा जाता है, उसी बलसे यह अग्नि उत्पन्न हुआ है, अतः इसे 'सहोजा' कहा जाता है) उत्पन्न हुआ है।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।

इत्यादि रूपसे मनुने जिस बीजका उल्लेख किया है, वह यही वाक्‌ब्रह्म है।

बीजवाला वाग्रेत अप्‌में आहुत होकर संघर्षसे अग्नि-रूपसे विकसित हुआ। सारे परमेष्ठीके समुद्रमें अग्नि परमाणुरूपसे व्याप्त हो गया, यही हिरण्मयाण्ड कहलाया। ये ही अग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' नामसे प्रसिद्ध हैं। ये ही धूमकेतु सूर्यपिण्डके जनक हैं। धूमकेतुका निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति करती है—

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि।
यतन्ते वृथगग्नयः (ऋ. ८।४३।४)

अर्थात् 'वायुसे प्रेरित धूमकेतुरूप अग्नि अन्तरिक्षमें अलग अलग मार्गसे जा रहे हैं।'

स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः।
धियो वाजाय हिन्वतु ॥ (ऋ. १।२७।११)

'पिण्डात्मक न होनेसे अनिमान अर्थात् सीमारहित ऋतरूप, (इधर-उधर व्याप्त) चन्द्रकान्तिके प्रकाशित वह धूमकेतु नामका अग्नि हमारी बुद्धि और कर्म (ज्ञान और कर्म) के लिए प्रसन्न बनें।' वैदिक वैज्ञानिक तत्त्वोंका स्पष्टीकरण महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म १८३ अध्यायके ९ से १७ श्लोकतक है।

कोई धूमकेतु क्रमसे केन्द्रमें संगठित होकर सूर्यपिण्डरूपमें परिणत हो गया है। वह अग्निपुञ्ज भ्रमणशील था, अतएव उससे उत्पन्न सूर्य भी अपने स्थान पर घूमता हुआ अपने उत्पादक परमेष्ठीके चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। सूर्यको, भ्रमणसे ही त्यक्त अंशोंसे आगे जाकर शनि, मंगल बृहस्पति, पृथिवी, बुध आदि अलग-अलग अनेक अग्निगोल उत्पन्न हुए हैं। पाश्चात्योंका प्रमाण देते हुए पं. मोतीलालजी लिखते हैं—

सृष्टिकी उत्पत्तिके संबंधमें पाश्चात्य जगत्‌में " तेजोमेघ को प्रधानता दी है। इस सिद्धान्तके आविष्कर्ता केन्ट और

लालाप्लसका कहना है कि "किसी समय सारा विश्व उष्ण वायुमय था। उस समय वायुरूप विश्व चक्रकी तरह चारों ओर घूम रहा था। आगे जाकर क्रमशः मध्यभागमें घनभाव का उदय होने लगा। बाहरके भागके सम्बन्ध विच्छेद हो जानेके कारण ज्योतिर्गोल टूट-टूट कर पृथक्-पृथक् हो गए। ये तप्त गोले जैसे जैसे ठंडे होते गए, वैसे-वैसे पिघलते गए, आगे जाकर यह घन बन गए। इनका बाह्यभाग तो कठिन हो गया एवं भीतरका भाग उष्णावस्थामें रहा। इसप्रकार अन्तरिक्षमें भूगोलोंकी उत्पत्ति हुई।

सूर्य १ ज्ञान, २ क्रिया और ३ अर्थकी मूर्ति है। ये ही तीनों भाव महद्ब्रह्ममें १ सत्त्व, २ रज और ३ तमरूपसे विकसित होते हैं। सत्त्व ज्ञानभावको विकसित करता है, इसमें आनन्द आता है। सत्त्वका प्रवर्तक सूर्य ही है, अतएव 'सत्त्वादधि महानात्मा' (कठोपनिषद् ६।७) इत्यादि रूपसे बुद्धिरूप सूर्यको या सूर्यरूपा बुद्धिको 'सत्त्व' कहा जाता है। जो धीर सदा प्रसन्न रहते हैं, विचारशील हैं, बुद्धिमान् हैं, उनमें सत्त्वकी ही प्रधानता है। ये सदा ज्ञानसे ही परिश्रम करते हैं, शरीरसे नहीं। जो सांसारिक धन्धोंमें रहते हैं, उनमें रजोगुणकी प्रधानता है। तथा भूल, आलस्य, अतिनिद्रा और निरर्थक समय खोना तमोगुण के लक्षण हैं। (देखिए गीता १४।६,७,८) इस प्रकार उक्त तीनों गुण प्रकृतिसे अर्थात् सूर्यके दर्शपूर्णमास द्वारा उत्पन्न होकर देहस्थित जीवात्मको बंधनमें डाल देते हैं। जैसा कि स्मृतिमें कहा है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(गी. १४।५)

पैदा हुए प्रकृतिसे ये सब सत, रज, तम, गुण पांडुकुमार।
ये देहीको इस शरीरमें बांधे जो हैं बिना विकार॥

इसप्रकार विद्या और अविद्यारूप सूर्यभगवान् विश्वके केन्द्रमें स्थित हैं। अध्यात्मसंस्थामें आनेवाला वही सूर्यका भाग-' विज्ञानात्मा, बुद्धि, चाक्षुषपुरुष एवं क्षेत्रज्ञात्मा" आदि नामोंसे प्रसिद्ध है।

(११) बुद्धियोग विज्ञान

प्रश्न– आत्मा अविद्यासे (कर्मसे) और विद्यासे (ज्ञानसे) भी अलग है यानी केवल कर्म भी बुरा है और केवल ज्ञान उससे भी बुरा है तथा इन दोनोंके सिवा कोई तीसरा मार्ग नहीं है। ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय ?

उत्तर– इस प्रश्नका उत्तर ग्यारहवां मन्त्र देता है—

'जो आत्मज्ञान और प्रकृतिक विज्ञान अर्थात् कर्म इन दोनोंको साथ–साथ जानता है, वह प्रकृतिविज्ञानसे मृत्युको दूर करके आत्मज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करता है।' यह ज्ञान और कर्मका एकीकरण भगवान्ने अर्जुनको भी कहा था परन्तु वास्तविक अर्थ न समझकर अर्जुनने प्रश्न किया—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
(गी. ३।१)

कर्म–अपेक्षा बुद्धिश्रेष्ठ है यदि मत यही तुम्हारा ईश।
तो फिर मुझको घोर कर्ममें क्यों प्रवृत्त करते जगदीश॥

इस प्रश्नका उत्तर भगवान्ने तीसरे अध्यायमें स्पष्ट किया है। भगवान्ने बतलाया है कि बुद्धियोग वास्तवमें न कर्मयोग है, न ज्ञानयोग है किन्तु इन दोनोंके समन्वित रूपका ही नाम बुद्धियोग है। बुद्धिमें ज्ञान और कर्म दोनों हैं। बुद्धिका ज्ञानभाग विद्या है और कर्मभाग अविद्या है। जिन दो निष्ठाओंका हमने उल्लेख किया है, वे वास्तविक दृष्टि से दो निष्ठा नहीं, किन्तु बुद्धियोग नामकी एक निष्ठा है। जो सांख्य (ज्ञान) है, वही योग (कर्म) है और जो योग है वही सांख्य है—

तत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(५।५)

जहां सांख्यवाले जाते हैं योगी भी पाते वह स्थान।
जिसने सांख्य, योग सम जाना उसने तत्त्व लिया पहचान॥

बुद्धि और मनकी प्रधानता और प्रधानतासे इच्छाके दो रूप हो जाते हैं। मनकी अप्रधानतासे बुद्धिकी स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। मनोराज्य ही रह जाता है। मन चन्द्रके सोमवाला होनेसे स्नेहगुणवाला है, अतः ऐसे मनकी कामना अवश्य ही स्नेहधर्मके कारण आसक्तिकी जननी है। उधर बुद्धिकी प्रधानतासे मन गौण बन जाता है। ऐसे मनकी कामना स्नेहमयी न रहकर बुद्धिके सम्बन्धसे तेजोमयी बन जाती है। तेजस्तत्त्व असंग है अतएव तेजोमयी कामना असंगभावमयी बनती हुई आसक्तिकी जननी नहीं बनती

यही तो बुद्धियोग है । बुद्धिप्रधाना इच्छा आत्माकी इच्छा है, ईश्वरकी इच्छा है ।

प्रश्न–फिर तो ब्रह्म और कर्म दोनों आत्माके स्वरूप हुए ?

उत्तर– हां, ब्रह्म और कर्म दोनों आत्माके स्वरूप हैं। ब्रह्म के लिए कर्म करो, कभी बन्धन न होगा। निवृत्तिकर्म-रूप अविद्याके द्वारा आत्मा पर आया हुआ मृत्युरूप कर्मका संस्कार हट जायेगा और अमृतात्माका साक्षात्कार हो जायेगा ।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनमृतत्व मानशुः '। (कैवल्य-उपनिषद्)

अर्थात् न कर्मसे, न प्रजासे और न धनसे अमृतत्व प्राप्त होता है, केवल त्यागसे ही अमृतत्व प्राप्त होता है, इत्यादिमें कर्मशब्द काम्य कर्मका ही वाचक है। सारांश यही कि मध्यस्थ विज्ञानात्मामें विद्या और अविद्या दोनों हैं। दोनों स्वतंत्र होकर बुरे हैं। मिलकर बंधनको हटानेमें समर्थ हैं। दोनोंके समत्वभावसे अव्ययके दोनों भागसमताको प्राप्त हो जाते हैं। यह समत्व ही सच्चा बुद्धियोग है ।

(१२) केवल नास्तिक–आस्तिककी निंदा

प्रश्न– बारहवें मन्त्रका रहस्य क्या है ?

उत्तर—' जो व्यक्ति केवल असंभूतिकी उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकारमें जाते हैं और इनसे अधिक अंधकारमें वे मनुष्य जाते हैं, जो केवल सम्भूतिमें ही रत हैं। ' अर्थात् चार्वाक-आदि केवल क्षणिक बलको ही प्रधान मानते हुए संसारको शून्य समझते हैं, वे तो शून्यरूप अन्धकारमें हैं ही, किन्तु आस्तिक बननेका गर्व करनेवाले जो महानुभाव क्षणिक बलका निरादर कर केवल सांसारिक अस्तिरूप विषयोंमें ही आसक्त रहते हैं, जो यह नहीं समझते कि जिनकी हमने सम्भूति अर्थात् उत्पत्ति समझ रक्खी है, उन सबका कुछ कालमें नाश होनेवाला है, ऐसे आसक्त पुरुष और भी अधिक आवरणमें हैं।' समित्येकी भावे ' के अनुसार समका अर्थ दो वस्तुओंका एकीभाव है ।

प्रश्न– यहां दो तत्व कौनसे हैं ?

उत्तर– यहां वे दो तत्व पूर्वपरिचित रस और बल ही हैं। इससे सत्ता या सत्तत्त्व लिया है और बलसे असत्तत्व लिया है। असत्बलमें जो सत्रसका संबंध है, वही बलकी सम्भूति है। सत्तारस अपने स्वरूपसे सर्वथा एक है और असत्बल ' मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ' के अनुसार नाना है। जबतक बल सत्तारूप एक रससे अलग रहता है, तबतक एकीभावसे शून्य रहता हुआ यह नानाभाववाला है। यही रससे युक्त होकर एकीभावको प्राप्त होकर सम्भूतिरूपमें बदल जाता है। ' रसबलयोः सद्रसतोः एकीभाव ' ही संभूति है ।

सत्तारस सम्भूति है और शुद्धबल असम्भूति है। बल आवरणरूप होनेसे ' तम ' है। ऐसी अवस्थामें जो असम्भूतिरूप केवल इस बलभागकी ही उपासना करते हैं वे सचमुच आवरणरूप अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं। बल असत्–नास्तिभाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्य अन्धकार है। ' असन्नेव स भवति असत् ब्रह्मेति वेद चेत् ' के अनुसार केवल असत्के उपासक स्वयं असत् बन जाते हैं। परन्तु वे और भी अधिक गहरे अन्धकारमें हैं, जो केवल रसरूप असम्भूतिकी ही उपासना करते हैं। रसका लक्षण बल है। बिना बलके केवल रसतत्त्व–

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
(मनु० १।५)

इस श्लोकके अनुसार सर्वथा अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य एवं प्रसुप्त तम है। जबतक बलका आश्रय नहीं लिया जाता, तबतक अपने रूपसे रस अनुपाख्यतम अर्थात् वर्णनरहित तम है। यह तम बलतमसे भी गहरा है। बल संसारका स्वरूप है, अतः इसकी उपासना करनेवाला आवरणरूपा सांसारिक संपत्ति तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु केवल रसरूप सम्भूतिका अनुयायी न इधरका रहता है, न उधरका। यही इसका अधिक अंधकार है ।

(१३) प्रज्ञानात्मा और चन्द्र

प्रश्न– प्रज्ञानात्माका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—इसका वर्णन तेरहवें मन्त्रमें किया कि ' विद्वान् लोग उस (प्रज्ञान-आत्मतत्त्व) को संभव अर्थात् जन्मसे अलग समझते हैं और असंभव अर्थात् मृत्युसे भी अलग कहते हैं। जिन वैज्ञानिकोंने हमारे लिए आत्मस्वरूप बतलाया है, उन धीर विद्वानोंके द्वारा हम यही सुनते आये हैं। '

संभूति अस्तित्व है और असंभूति नास्तितत्त्व है। सत्तावाला पदार्थ संभूति है और सत्तारसरहित पदार्थ असंभूति है। उत्पत्ति और विनाश दोनों भाव प्रत्यक्ष दीखते हैं। ये उत्पत्तिरूप सम्भूति और विनाशरूपा असम्भूति आत्माके धर्म नहीं है। प्रज्ञानात्मामें जो आत्म-अंश अर्थात् चिदंश है, वह न उत्पन्न होता है और न उसका कभी विनाश होता है। बलोंकी ही रसरूप आत्माके अनुग्रहसे सम्भूति (उत्पत्ति) होती है और रसकी त्यागावस्थामें बलोंकी ही असम्भूति (मृत्यु) होती है। सम्भूति और असम्भूति दोनों बलके धर्म हैं। वह इन दोनोंका आलंबन बनाता हुआ दोनोंसे अलग है।

आत्माका रसभाग सम्भूतिका अधिष्ठाता है और बलभाग असम्भूतिका अधिष्ठाता है। वह न शुद्ध रसरूप है और न शुद्धबलरूप है। उसका स्वरूप दोनोंसे विलक्षण है अर्थात् दोनोंकी समष्टि आत्मा है। इसीको नासदीय सूक्तमें 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (ऋ. १०।१९०।१) कहा है और गीतामें भी कहा है—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

(गीता ९।१९)

हे अर्जुन! मै ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत् भी हूं।

प्रश्न– सृष्टिमें चन्द्रका रसरूप कैसा है ?

उत्तर– संभूति अर्थात् सृष्टि आत्मा, प्रकृति एवं विकृति, इन तीन भागोंमें विभक्त है। इन तीनों सृष्टियोंका अधिष्ठाता सोमतत्त्व है। महदात्माके प्रकरणमें यह बतलाया है कि सोममूर्ति महान्में ही षोडशी आत्मा गर्भ धारण करता है 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' (गीता १४।३) आत्माके विकासकी भूमि केवल महत्सोम अर्थात् परमेष्ठीका सोम ही है। प्रकृति और ब्रह्मसे विश्वका निर्माण हुआ है, परन्तु अप्तत्वकी आहुतिसे। अप्तत्त्व साक्षात् सोम है। इसी सोमकी आहुतिसे सूर्यका विकास हुआ है, इसी सोमसे परमेष्ठीका विकास हुआ है, यही सोम अव्यक्त पुण्डीर स्वयंभूका जनक है, इसी सोमाहुतिसे भूपिण्ड बना है और इसी सोमका व्यक्त अंश चन्द्रमा है। इस प्रकार आग जाकर चन्द्रमा नाम धारण करनेवाला सोम ही सम्पूर्ण विश्वकी सम्भूति अर्थात् उत्पत्तिका कारण बन जाता है। सोमकी इसी सम्भूतिलक्षणा विभूतिका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

महत् तत् सोमोमहिषश्चकाराऽपां-
यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्
सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥ (ऋग्वेद ९।९७।४१)

(महानात्माका स्वरूप-संपादन करनके कारण) महिष अर्थात् महान् नामसे प्रसिद्ध सोमने यह महत् कर्म अर्थात् बडा भारी कार्य किया है, जो कि पानीके गर्भ बने हुए देवताओंका (सौर देवताओंका) वरण कर लिया है। आपोमय परमेष्ठी मण्डलमें स्थित विरल-अवस्थावाले सोमकी आहुतिसे ही ज्योतिर्मय सौर देवताओंका विकास हुआ है, इसीको "अपांद्गर्भोऽवृणीत देवान्" यह कहा है। दूषित भागको निकालनेके कारण 'पवमान' नामसे प्रसिद्ध इसी परमेष्ठीके ब्रह्मणस्पति–सोमने इन्द्र (सौर अमृतप्राण) में ओज (बलप्रदवीर्य) स्थापित किया है। इसी इन्दु अर्थात् सोमने सूर्यमें ज्योति उत्पन्नकी है। योनिस्थानीय अग्नि अपने स्थान पर स्थित रहता है, इसमें रेतःस्थानीय सोमकी आहुति होती है, इसीलिए सोमको ही ज्योतिका प्रवर्तक माना जाता है। यही नित्यका अग्निहोत्र है– "सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (शतपथ. २।२।५१)

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि संपूर्ण विश्वकी सम्भूति एवं विनाशका कारण सोम ही है। सोमकी इस व्याप्तिको लक्ष्यमें रखिए और सुप्रसिद्ध सोम अर्थात् चन्द्रपिण्ड पर दृष्टि डालिए, उपनिषद्के सम्भूति और विनाशका स्वरूप ज्ञात हो जायगा।

(१४) उपनिषद्का उपदेश

प्रश्न– चौदहवें मन्त्रका भावार्थ क्या है ?

उत्तर– श्रुति कहती है कि– 'जो धीर विद्वान् सम्भूति और विनाश इन दोनोंको एक बिन्दु पर स्थित देखता है, वह विनाशसे मृत्युको तैर कर संभूतिसे अमृतत्व प्राप्त करनेमें समर्थ होजाता है।' मृत्यु ही अमृतप्राप्तिका साधन है, अतः मिले हुए रूपकी ही उपासना करनी चाहिए। निष्कामभावसे मृत्युलक्षणवाले संसारकी उपासना करते हुए अमृतपर दृष्टि रखिए। यही आदेश है, यही उपदेश है। यही ब्राह्मी उपनिषद् है।

प्रश्न– इस उपनिषद्का प्रधान लक्ष्य क्या है ?

उत्तर– उपनिषद्का प्रधान लक्ष्य आत्मा है, अतएव प्रत्येक प्रकरणमें अन्तिम लक्ष्य अमृत–मृत्यु लक्ष्यवाला

आत्माही बन जाता है । आत्मस्वरूप जाननेके लिए आत्माकी सृष्टिका स्वरूप जानना भी आवश्यक हो जाता है, अतएव उपनिषद्को इसका भी स्वरूप बतलाना पड़ता है। यही कारण है कि उपनिषद् आत्मा और आत्माकी सृष्टि, इन दोनोंके किसी विशेषभावका निरूपण न कर सामान्य शब्दोंका उपयोग करती है।

उपनिषद् ऐसे अक्षर बोलती है, जिससे आत्मा और आत्मसृष्टि, इन दोनोंका स्वरूप वर्णित हो जाता है। उक्त तीनों मन्त्रोंसे जहां रस और बलवाले आत्माका ज्ञान होता है, वहाँ संभूति और विनाशवाली यज्ञरूपा चन्द्रकी सृष्टिका भी विज्ञान हो जाता है केवल अधिदैवतका ही नहीं, किन्तु अध्यात्मस्थितिका भी उन्हीं अक्षरोंसे स्पष्टीकरण हो जाता है। ईश्वरीय जगत्की अपेक्षासे, इस प्रकरणसे ब्रह्म सत्याक्षर रूप अन्नमय संभूति और विनाशके कारण 'चन्द्रमा' का ज्ञान होता है एवं अध्यात्मजगत्की अपेक्षासे मनुष्यके पुनर्जन्म के अधिष्ठाता प्रज्ञानात्माका परिचय हो जाता है। साथ ही दोनों विश्वके आधाररूप अमृत-मृत्युमय आत्माका बोध होजाता है।

(१५) उपासनाका उपाय

प्रश्न– पन्द्रहवें मन्त्रका परिचय क्या है ?

उत्तर– पन्द्रहवां मन्त्र उपासनाका उपाय बतलाता हुआ कहता है— 'हिरण्यपात्रसे अर्थात् स्वर्णसे सत्यका मुंह ढंका हुआ है। हे पूषा देव ! सत्यधर्मकी दृष्टिके लिए आप उस आवरणको हटाइए।' उपनिषद्के ज्ञानके लिए ब्रह्मसत्य और देवसत्यका स्वरूप जानना आवश्यक है। उसके लिए एक मन्त्र सुनिए—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति,
अनश्नन्नन्योभि चाकशीति ॥"

(मुंडक उपनि० ३।१।१)

'एक वृक्षकी एक शाखाके आग्रभागपर दो सुनहरी रंगके पक्षी बैठे हैं। दोनों सयुक् यानी जोडले हैं। दोनोंमें घनिष्ठ मित्रता है। इन दोनोंमेंसे एक पक्षी फलको चख रहा है, दूसरा पक्षी बिना खाए उस खानेवालेकी चौकसी कर रहा है।' जीवात्मा और परमात्माकी जोडी है। परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा जीव है। जीव और ईश्वर केवल देव सत्यका नाम है। स्वयम्भू आदि उपेश्वर है, अश्वत्थ महेश्वर है और परात्पर परमेश्वर है। स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और भूपिण्ड ये ईश्वरकी सामग्रियां हैं और अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान और शरीर ये जीवकी सामग्रियां हैं। कर्म भोगनेवाला और अन्य योनियोंमें जन्म लेनेवाला जीवात्मा केवल भोक्ता देव सत्य है। महान्, विज्ञान और अव्यक्तादिका कर्मभोगमे कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्ध महानात्माके लिए ही किया जाता है। कर्मके फल भोगनेवाला उक्त देवसत्य ही है। षोडशीपुरुष केवल अजन्मा ही है।

स्वयंभू– आदि पञ्चब्रह्मोंमेंसे सबसे अन्तका ब्रह्म 'अन्नाद' अग्नि अर्थात् भूपिण्ड और महिमापृथिवी है। महिमापृथिवीमें ही स्तोमके भेदसे तीन लोकका भेद उदय होता है, यह 'स्तोम्यत्रिलोकी' नामसे प्रसिद्ध है। इन्हीं तीनों अग्नियोंके सर्वहुतयज्ञसे १ वैश्वानर, २ हिरण्य-गर्भ एवं ३ सर्वज्ञ रूप ईश्वरीय देवसत्य है। ईश्वरीय देवसत्यका सर्वज्ञभाग अध्यात्ममें १ प्राज्ञ, हिरण्यगर्भभाग २ तैजस और वैश्वानर भाग ३ वैश्वानर नामसे प्रसिद्ध है। यही भूतात्मा है। इसका आधार सर्वभूतान्तरात्मा है। यह जीव भोक्तासुपर्ण है, वह ईश्वर साक्षीसुपर्ण है। जीव कर्मकर्ता और ईश्वर कर्मसाक्षी है। दोनों मित्र हैं और जोडले हैं। दोनों ब्रह्माश्वत्थकी शाखाके अग्रभागमें स्थित हैं। दोनोंका मूलाधार भूपिण्ड है।

सर्वज्ञभाग सहस्रशीर्ष है, हिरण्यगर्भभाग सहस्राक्ष है और वैश्वानरभाग सहस्रपात् है। अध्यात्म संस्थामें जीवनरूपसे यही दश अंगुलका उल्लंघन कर अर्थात् प्रादेश-मात्र बनकर स्थित ही रहता है। इसी देवसत्यका समष्टि रूपसे निरूपण पुरुषसूक्तके 'सहस्रशीर्षा०' मन्त्रमें है।

ईशोपनिषद्के १५ वें मन्त्रमें कहा है कि– 'सांसारिक सम्पत्ति 'हिरण्यपात्र' यानी संसार सुनहरा है। सुवर्ण (सम्पत्ति) ने आत्मतत्त्वको ढक रक्खा है। वित्तमोहसे मुग्ध मनुष्य हृदयमें स्थित सत्य आत्मतत्त्वके दर्शन करनेमें असमर्थ हो रहा है। इस पृथिवीकी सम्पत्तिका अधिष्ठाता पृथिवीका अभिमानी देवता 'पूषा' है। उसीकी उपासनासे भौतिक आवरण हट सकता है। हमें नम्रभावसे उसी देवतासे प्रार्थना करनी चाहिए कि– हे पूषन् ! आपने अपनी शक्तिसे सत्य-आत्मतत्त्वपर जो भौतिक सम्पत्तिरूप आवरण लगा रक्खा है, उसे हटाइए और हमारे आत्माको भौतिक बन्धनसे मुक्त कीजिए; जिससे हम आत्मस्वरूपको पहचान सकें।

मृत्युसे जीवनकी ओर

लेखक— प्रा. विष्णुदयाल, मॉरिशस

▲

एक समय आता है जब बन्धु-बान्धव, मित्र पडौसी युद्धमें संलग्न योद्धाको एक स्वरसे कहने लगते हे कि अब युद्धको इतिश्री होनी चाहिये, विजयी होना असम्भव हो गया। वे शत्रु सेना द्वारा जुटायी गई शक्ति व सामग्री देखकर घबरा उठते हैं।

ऐसे संकटके समयमें गीता सच्ची मित्रता करनेवाली सिद्ध होती है। जब अन्य सब मित्र हमारा साथ देना छोड देते हैं, यह मित्र बन जाती है। गीताके खुलते ही हम देखते है कि एक ओर अनन्त सैन्य बल है और दूसरी ओर मुट्ठी भर लोग, जिनके पास आत्मिक शक्ति है, जो अदृश्य है।

क्या आज भी बिलकुल वही दृश्य नहीं दिखाई दे रहा है? भौतिक शक्ति अपनी चरमसीमा पर पहुंची हुई है। मुट्ठी भर लोग जन-कल्याणके नाम पर शक्तिको कुण्ठित करनेका मार्ग दिखा रहे हैं, पर उनका चिल्लाना अरण्य-रोदन साबित हो रहा है। फिर भी कोई अकेले होकर भी संहार करनेवाली शक्तियोंसे जूझते रहते हैं वे ही सच्चे पथप्रदर्शक बना करते हैं। उन्हींका दर्शाया हुआ पथ अंगीकृत करके मानव बन जानेका सामर्थ्य आता है।

अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित असंख्य सैनिक विशाल रणक्षेत्रमें खडे होकर हमें प्रकम्पित कर देते हैं। लगता है कि उनके पास असीम शक्ति है, पर यह शक्ति आत्मिक शक्तिके सामने तुच्छ है। सैनिकोंको जहाजों पर चढाया जा सकता है, चाहे जहाजोंकी संख्या कितनी ही अधिक क्यों न हो। उनको चहुं ओर दीवार खडी की जा सकती है, चाहे ऐसी दीवार बनानेमें उतनी शक्तिका व्यय क्यों न करना पडे, जितना कि चीनकी दीवारका निर्माण करनेके लिए व्यय किया गया था। सारांश यह कि सेना सीमित है। इसके विपरीत आत्माकी शक्ति असीम है। जो अनन्त है वह शक्तिशाली है और जो सान्त है, वह शक्तिहीन। जो अदृश्य है, उसमें अतुल बल है और जो दृश्य है वह बलहीन है। वेदने "अनन्त क्या है" इसे समझानेके लिए कहा है— पूरेमेंसे पूरा लेकर भी पूरा ही बचा रहता है। +

अर्जुनको यही सत्य गीतामें समझाया गया है। आत्मिक शक्तिकी कोई नाप-तोल नहीं सकता। सिख गुरुका कथन ठीक था कि एक सच्चे शिष्यमें सवा लाख लोगोंका बल होता है। मनुष्यका निजी बल-अपना बल-आत्मिक बल ही है। यह असम्भवको सम्भव बना छोडता है। आत्मिक बलीने कभी नहीं कहा कि अमुक काम नहीं होगा, कमसे कम मुझसे न हो सकेगा। उसके मुखसे यह वाणी कभी नहीं निकली कि पहले ऐसा कडा काम न हुआ तो अब कैसे होगा?

अहिंसाका आश्रय लेकर संसारमें प्रथम बार बापूने पराधीनताके पाशमें आबद्ध एक बडे देशको मुक्त किया। हमारे बापूमें शारीरिक बल कितना था? पर उस शरीर में पडे हुए आत्माके बलको समस्त विश्वने देखा। उनके आत्मिक बलने एक चमत्कार कर दिखाया। जूझनेवाली परस्पर विरोधी शक्तियोंमें द्वेष हुआ करता है, किन्तु बापूने ऐसा संघर्ष किया कि विजयके समय विजयी और विजित एक दूसरेको गले लगाने लगे। उन्होंने युद्ध किया तो सही, पर वह युद्ध संहारक न था, सृजनात्मक

+ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

था, गलती करनेवालेकी गलतीको गलती बताओ, किन्तु उसे शत्रु न समझो यह था मन्त्र जो महात्माजीने हमें दिया।

क्या गीताने नहीं सिखाया कि हमारे शत्रु हमारे ही अन्दर हैं ? अन्दर यदि काम, क्रोध, लोभ शत्रु नहीं हैं तो किसे शत्रु कहा जायेगा ? ये नरकके तीन द्वार हैं। गीता हमें युद्ध करनेका आदेश देती है। वह युद्ध हमें अपनेसे करना चाहियें, बाह्य शत्रुओंसे नहीं। यह युद्ध अहर्निश हो तो हम अपनी निर्बलताओंसे मुक्त होकर नये इन्सान बन जायेंगे।

वर्तमान जगत् कर्ममें रत है, पर इस कर्मको हम ज्ञानीका कर्म नहीं कह सकते। यह ज्ञानीका कर्म होता तो विध्वंसात्मक न होता। कर्म करना है वो आत्मशुद्धिके लिए करना चाहिये और वह तब होगा जब अपने अन्दर बैठे हुए शत्रुसे युद्ध किया जायेगा। कार्यरत संसार अपने कार्यसे मुग्ध है। उसे इस कार्यके सिवा और कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता है। अर्जुन भी इसी भांति मोहमें फंसे हुए थे। ज्ञानी बनते ही उन्होंने कहा—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा" +

जो भटकता है, वह कभी न कभी सत्पथ पर आ जायेगा।

गीता हमारे मनमें आशाका संचार करती है। वह निराशावादियोंका ग्रन्थ नहीं है। हम सब कुछ भूल जाय और इतना ही याद रखें कि उपसंहारके रूपमें गीताने कहा है कि योगेश्वर और धनुर्धारी अर्थात् ज्ञान और कर्म जहां साथ पाये जाते हैं वहां पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है तो हमारी निद्रा भंग हो जायेगी।

दुनिया उन्नति करती जारही है, पर वह उन्नति सर्वांगीण नहीं है। सर्वांगीण प्रगति वह करेगा, जो ज्ञान उपलब्ध करके उसके अनुसार काम करेगा। ज्ञान और कर्म एक दूसरेके पूरक हैं। वे रेलकी दो पटरियोंके समान हैं। हमें दोनोंकी आवश्यकता है। निरा अध्यात्मवाद निष्प्राण है। उसी भांति अध्यात्मवादसे शून्य वीरता, वीरता न रहकर बर्बरता हो जाती है।

गीतोपदेश ग्राह्य है और व्यवहार्य भी। यदि इस कलिकालमें एक महापुरुषने उसे व्यवहारमें लाकर अपूर्व सेवा की तो कौन कह सकता है कि अन्य लोग उसे व्यवहारमें न ला सकेंगे ? गीताके अन्तिम श्लोक और उसके प्रथम श्लोकमें सादृश्य है। आरम्भमें मन्त्री संजयसे राजा धृतराष्ट्रने प्रश्न किया था। अन्तमें मन्त्री राजाको उत्तर दे रहे हैं।

यदि पूर्वाग्रहोंके कारण उनके मनोहर होने पर भी कृष्ण और अर्जुन नाम कुछ भाइयोंको पसन्द न आवें तो वे नामोंको भूलकर संजय द्वारा दिया गया उत्तर ही ध्यानसे पढ़ें। संजयने समग्र विश्वको सन्देश दिया है, किसी देश या जाति विशेषको नहीं।

जैसे गीताके आरम्भमें– न कृष्णकी चर्चा हुई थी और न अर्जुनकी, वैसे ही अन्तमें गुरु और शिष्य रंगमंचसे कूच कर जाते हैं, तब राजा धृतराष्ट्रको अन्तिम उत्तर दिया जाता

+ अर्जुनके इस कथनको, "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा" जिसका अर्थ है, "मेरा मोह नष्ट हो गया है और मेरी स्मृति जाग्रत हो गई है", डॉ० बलदेव शर्मा सक्षमते हैं जब यह लिखते हैं:—

"जो लोग गीताके सत्य अर्थको नहीं समझते, उन्हें यहां "स्मृति जाग्रत हो गई" यह उक्ति निरर्थक प्रतीत होगी। परन्तु यह उसी रहस्यको बताती है, जो कर्म विज्ञानका सारांश है। संस्कारोंके स्वभावानुरूप प्रवृत्तियोंको, मन तथा बुद्धिसे निकालनेका प्रयास उन्हें स्मृतिप्रवसे बाहर कर देता है। इसलिए, उनको स्मृतिमें फिरसे जाग्रत करना ही स्वभावानुकूल कर्म योगके लिए प्रधान लक्ष्य हो जाता है। साथ ही उनके विकृत रूप, जो मायामय होते हैं स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। उनके प्रवाहको जब अभीष्ट मार्ग मिल जाता है तब अन्य मार्गोंकी आवश्यकता नहीं रहती।

अमेरिकाके प्रसिद्ध तत्त्वानुशीलक डाक्टर ब्रिलने एकव्यक्तिको जो अपने जीवनसे असन्तुष्ट था, यह आमन्त्रणा दी कि यदि वह भंगियोंका धन्धा करे तो जीवनमें सन्तुष्टि और सफलता प्राप्त कर सकेगा"।

उस व्यक्तिने सत्परामर्शको स्वीकार किया और वह समाजका उपयोगी अंग ही नहीं बना बल्कि उसने मान भी प्राप्त किया।

उस व्यक्तिने वास्तवमें भंगियोंका धन्धा अपना लिया। परिणाम यह हुआ कि कुछ समय बाद उसे इस धन्धेमें सफलता मिली।

है। अन्तिम उत्तरमें यही संदेश है कि हम मानव देखते रहते हैं कि अन्य प्राणियोंमें भी आत्मा है। हम देखते आये हैं कि कई प्राणी हमारी अपेक्षा कहीं अधिक शारीरिक बल रखते हे, पर वे हमारे अधीन सहजमें हो जाया करते हैं।

हममें पाशविक और आत्मिक दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। यदि हमने आत्मिक बलको ऊपर उठाया और पाशविक बल उसके अधीन कर दिया तो समझें कि जीवन-संघर्षमें हम सफल होगये। गीताकी परिभाषामें विजयी वही है, जो सात्त्विक गुणोंको प्रधान बना छोडता है।

मानवतामें यही विशेषता है कि वह कर्मके साथ ज्ञानको जोड सकती है। ज्ञान जिस सदनमें निवास करता है, उसे आत्मा कहा जाता है। हमारी आत्मा जीवित-जागृत है जब कि अन्य प्राणियोंकी आत्मा मूर्छितसी है। यदि हमने अपने आत्माको जागरूक न रखा तो वह भी मूर्छित हो जायेगी, जिसके फलस्वरूप द्रुत गतिसे हम नाशकी ओर अग्रसर होंगे।

अर्जुनको दो भिन्न दशाओंमें पेश किया गया है। जब वे मोह से आक्रान्त थे तब एक दशा देखनेमें आती थी और जब उस मोहका नाश हुआ तो वे दूसरी दशामें पाये गये। हम सब अर्जुन ही तो हैं। हमें उस अर्जुनका अनुकरण करना है, जो स्मृतिको प्राप्त कर चुके थे। दूसरी दशामें दिखाई देनेवाले अर्जुन बनना सोतेसे जागना है मृतसे जीवित हो जाना है।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे

भगवान् कृष्णका व्यक्तित्व विभिन्न पक्षोंका अद्भुत सम्मिश्रण है। धर्मसंस्थापक, समाजसुधारक, योगेश्वर, महान् राजनीतिज्ञ, महान् दार्शनिक और महान् सांसारिकके रूपमें श्रीकृष्णका जीवन एक अद्वितीय महापुरुषका जीवन है। महाभारतमें एक महान् राजनीतिज्ञके रूपमें, गीतामें एक महान् दार्शनिकके रूपमें और श्रीमद्भागवतमें राधिका-रमण, गोपीजनवल्लभके रूपमें उनका दर्शन किया जा सकता है। समस्त व्रजभूमिमें तो वे "चोरजारशिरोमणि" के रूपमें ही जाने पहचाने जाते हैं। पर उनके वास्तविक दर्शन तो उनकी गीतामें ही किए जा सकते हैं।

गीताके कृष्ण एक महान् दर्शनिकके रूपमें ही हमारे सामने आते हैं। उन्हें हम एक धर्मसंस्थापकके रूपमें ही विशेष आदरका पात्र भी मानते हैं। महापुरुषोंका आविर्भाव धर्मसंस्थापना आदि किसी विशेष उद्देश्यको लेकर ही होता है, इस संसारके भोगविलासोंमें फंसनेके लिए नहीं। इसी उद्देश्यके लिए भगवान् कृष्णका भी अवतार हुआ था। वे स्वयं गीतामें अपने उद्देश्यको स्पष्ट कर देते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

"अर्जुन! सज्जनोंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश और धर्मको स्थापनाके लिए मैं प्रत्येक युगमें जन्म लेता हूं।"

"जब जब धर्मकी हानि होकर अधर्मकी उन्नति होनी शुरु हो जाती है, तब तब मैं उत्पन्न होता हूं।"

गीतोक्तधर्म किसी विशेष सम्प्रदाय, किसी विशेष जाति या किसी खास कौमसे सम्बन्ध नहीं रखता, वह एक सार्वजनिक धर्म है, वह सम्पूर्ण मानवताकी उन्नतिके लिए है। भगवान्की दृष्टिमें सर्वत्र और सब मनुष्योंमें परमात्मा का निवास होनेके कारण सब समान हैं। वे अर्जुनसे कहते हैं —

"हे अर्जुन! जो मुझमें सारे विश्वको देखता है और सब विश्वमें मुझे देखता है, वही मेरा भक्त है और वही मेरा प्रिय है।"

प्रत्येक मनुष्य उसी अमृतपिताके अमृत पुत्र हैं। इसी बातको अथर्ववेदके "अमृतस्य पुत्राः शृण्वन्तु सर्वे (हे अमर पिताके अमर पुत्रो! मेरी बात सुनो) इन शब्दोंमें व्यक्त की गई है। यजुर्वेदमें यही बात कही गई है—

जो सब प्राणियोंको अपने समान समझता है और सब प्राणियोंमें अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वह किसीसे भी घृणा या द्वेष नहीं करता।" (यजुर्वेद)

ये घृणा और द्वेषके भाव तो संकुचित मनोवृत्तिके नतीजे हैं, यही संकुचित मनोवृत्ति ही तो मनुष्योंमें परस्परिक वैमनस्यताका निर्माण करके एक दूसरेके बीचमें दिवारें उठाती है। इन दिवारोंको ढाकर सबको एक करना ही गीतोक्त धर्मका उद्देश्य है। गीताके अनुसार 'समत्व' ही योग है। केवल नाक बन्द करके प्राणायामकी सिद्धि करना ही योग नहीं है, योग है सबको समान दृष्टिसे देखना, और यही है वास्तविक धर्म। इसी धर्मकी स्थापना भगवान् कृष्ण करना चाहते थे। इस धर्मकी स्थापनाके मार्गमें जो विघ्न उपस्थित करे, उसको नष्ट करनेकी आज्ञा भगवान्ने दी है जो धर्मका शत्रु है वह मानवताका शत्रु है। इसीलिए भगवान्ने अपना सम्बन्धी होने पर भी शिशुपालका वध किया।

भगवान् कृष्णके सामने मानवताकी उन्नति ही एकमात्र उद्देश्य था। इसके लिए उन्होंने अर्जुनको प्रेरित किया।

उसे विश्वकी सेवा करनेके लिए प्रेरणा दी। गीताके ११ वें अध्यायमें विश्वरूप दर्शनका वर्णन है। अर्जुनकी प्रार्थना पर उन्होंने अपना विश्वरूपका दर्शन देकर इस बातकी शिक्षा दी– हे अर्जुन ! विश्वकी सेवा ही ईश्वरकी सच्ची सेवा है। मानवताकी सेवामें ही विश्वरूप परमेश्वर की सेवा है। उपनिषदोंका भी यही तत्त्वज्ञान है कि परमेष्ठी प्रजापति ही इस विश्वके रूपमें परिवर्तित हुआ है। अतः इस विश्वकी सेवा करना ही उस परमेष्ठी प्रजापतिकी पूजा है। इस तत्त्वज्ञानको भगवान् कृष्णकी गीताके अनन्य उपासक राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजीने अपने जीवनमें ढाला था। उन्हें कोढियोंमें भी परमात्माके दर्शन हुए और उन्होंने उनकी भी सेवा बडी आत्मीयतासे की। इसीलिए बापूको दीनबन्धु कहा जाता है। कवि रहीमने बहुत ही सुन्दर कहा है।

दीन ही सबको लखत है दीन ही लखे न कोय।
जो रहीम दीनहि लखे दीनबन्धु सम होय॥

दीन या पीडितको भी अपने समान समझकर उसकी सेवा करना ही तो दीनबन्धुत्व है और यही दीनबन्धुत्व गीताका धर्म है।

गीतोक्त धर्मकी दूसरी विशेषता है कर्ममें कुशलता। मनुष्य कर्म करनेकी दृष्टिसे कर्म करे, उसका फल तो स्वयं ही मिल जाता है। उसके लिए प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है। सब अपने कर्म सतत गतिसे करते जाएं और अपन कर्मसे राष्ट्रकी उन्नति करते जाएं।

यह गीतोक्त धर्म सारांशमें मानवताका धर्म है, जिसे एक लोकोत्तर मानव श्रीकृष्णने मानवताकी सेवाके लिए स्थापित किया था।

वेदोंमें गोमांस भक्षणका प्रश्न

ॐ

गोवधकी समस्या आज सारे राष्ट्रमें एक ज्वलन्त प्रश्न बनी हुई है। इस समस्या पर विचार करनेके लिए भारत सरकारने जो गोरक्षा समिति चुनावोंके पूर्व नियुक्त की थी अब उसमें भी काफी विवाद और मतभेद खडा हो गया दीखता है। इसी सिलसिलेमें एक प्रवाद भी खडा किया जा रहा है कि वेदोंमें गोमांस भक्षणका विधान है, वैदिक-कालमें ऋषि यज्ञमें गायका वध करके उसकी आहुति दिया करते थे और यज्ञशेषके रूपमें स्वयं भी खाया करते थे।

पाश्चात्य वेद मनीषियोंके विचारोंका यह दुष्परिणाम है। पर उन्होंने भी किस आधार पर इस बातकी पुष्टि की यह कहना कठिन है, क्योंकि वेदोंकी संहिताओंमें गोवध या गोमांस भक्षणका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

वेदों पर महाभारतकी साक्षी

वेदोंमें गायकी तो बात ही दूर, किसी भी पशुके वधका विधान नहीं है। वेदोंमें आये हुए अजमेध और अश्वमेध शब्द पारिभाषिक शब्द हैं। इनमें अजसे बकरेका और अश्वसे घोडेका अर्थ लेना असंगत होगा। इन पारिभाषिक शब्दोंका स्पष्टीकरण ब्राह्मणग्रन्थों और महाभारतमें किया गया है। "अज" शब्दका वास्तविक अर्थ बताते हुए महाभारतकार लिखते हैं --

"वेदोंमें विधान है कि अजोंसे यज्ञसंपन्न किया जाय पर अज संज्ञावाले बीज हैं, अतः बकरोंको मारना तुम्हारे लिये योग्य नहीं। जिस कर्ममें पशुओंका वध किया जाए, वह कर्म सज्जनोंके लिए धर्मस्वरूप नहीं है।"

(महाभा० शान्ति० अ० ३३७।४।५)

ये अज संज्ञक बीज क्या हैं ? इसका उत्तर "स्याद्वाद-मंजरी" में इसप्रकार दिया है :--

+

"वेदोंमें आये हुए अज शब्दका अर्थ अज्ञानी बकरा करते हैं और ज्ञानी इसका अर्थ तीन वर्ष पुराना चावल और जौ करते हैं।

इसी प्रकार अश्वमेधका अर्थ भी लोगोंने विकृत कर दिया है। अश्वमेधमें अश्व या घोडेको काटकर डालनेकी कल्पना ही अनार्य है। अश्वका अर्थ करते हुए शतपथ ब्राह्मणकार लिखता है :--

राष्ट्रं वा अश्वमेधः। वीर्यं वा अश्वः।

अश्वका अर्थ राष्ट्र है, अतः राष्ट्रको सामर्थ्यशाली बनाना ही अश्वमेध है।"

यज्ञमें सुरा और मांसकी आहुतिका प्रचलन धूर्तोंके करतूतोंका परिणाम है, वेदोंमें कहीं भी उसका उल्लेख नहीं है। महाभारतकार व्यास कहते हैं :--

यज्ञमें शराब, मछली, पशुओंका मांस आदि डालनेकी प्रथा धूर्तोंने प्रारंभ की है, इस सबका विधान वेदोंमें नहीं है।" (महाभा० शान्ति० अ० २६३।६)

वहीं पर व्यासने प्रश्न किया है :--

"यदि यज्ञमें पशुओंको मारने और पवित्र यज्ञवेदीको अपवित्र बनानेसे मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति होती हो तो नरककी प्राप्ति किसको होगी ?

वेदोंमें अध्वर शब्द

यज्ञमें पशुके वधका विधान बतानेवाले शब्दोंका वेदोंमें सर्वथा अभाव है। वैदिक साहित्यमें यज्ञके लिए "अध्वर" शब्द आया है, ध्वरका अर्थ है हिंसा और जिस कर्ममें हिंसा नहीं की जाती उसे अध्वर कहते हैं, अतः-यह कहना कि अध्वरमें पशुहिंसा होती थी, स्वयंमें एक वदतो व्याघात-दोष है।

इसीप्रकार वेदोंमें गायको " अघ्न्या " कहा है, इस पदका अर्थ भी अहन्तव्या अर्थात् न मारे जाने योग्य है। पारसियोंके जेन्दावस्तामें भी गायको आदरका स्थान माना गया है। अपने व्रतके दौरान व्रतके अंगके रूपमें प्रत्येक पारसीको गोमूत्र पीना पड़ता है। वेदोंमें भी गायका बड़ा सम्मान है। गायको जरा सा दुःख देना भी वेदोंको गवारा नहीं, ऋग्वेदका ऋषि कहता है :--

" हे अग्ने ! जो मनुष्य या पशुके मांसका भक्षण करता है, उस राक्षसका सिर काट दे। "

प्रख्यात वेदविद्वान् डा० राधाकुमुद मुखर्जी अपने ग्रंथ " एजुकेशन इन एनशियण्ट इण्डिया " के पृष्ठ ११ पर लिखते हैं–

" वैदिक धर्म कभी भी यज्ञमें पशुबली द्वारा रक्तसे सने हुए यज्ञ करनेका समर्थन नहीं करता। छान्दोग्य उपनिषद् (३ ६) में स्पष्ट लिखा है —

" वेदोंको, जो न खाते और न पीते हैं, हिंसा द्वारा प्राप्त मांस नहीं देना चाहिए। "

' यज्ञ परमात्माकी उपासनाके साधन हैं, ये आध्यात्मिक विचारोंसे परिपूर्ण हैं और आत्मसाक्षात्कारके क्षेत्रमें इन यज्ञोंका शैक्षणिक महत्त्व अत्यधिक है। "

वेदोंने पशु वधका विरोध किया

वेदसंहिताओंमें भी पशुवधका बड़ा प्रखर विरोध है।

" हे बुद्धिमान् पुरुष ! हिंसा मत करो, क्योंकि जो पशुओंकी हिंसा करते हैं, उनकी देवगण कभी भी सहायता नहीं करते। " (ऋग्वेद ७।३२।९)

" केवल उन्मत्त जन ही पशुओंकी हिंसा करते हैं। "
(अथर्व० ३।२८।१)

" जो कच्चा या पक्का मांस खाते हैं, या अण्डे इत्यादि खाते हैं, हम उन्हें नष्ट करते हैं। " (अथर्व ८।६२।३)

ऊपर दिए गए वेद संहिताओंके उद्धरण सर्वसाधारण पशुओंके वधका खण्डन करते हैं, पर इसके साथ ही अनेकों ऐसे मंत्र हैं जो गोवधका निषेध करते हैं :--

' हे मनुष्य ! अदिति अर्थात् अवध्य गौको मत मार। "
(यजुर्वेद १३।४३)।

" हे अघ्न्ये ! तू सर्वत्र घास खाती हुई और पवित्र पानी पीती हुई विचरण कर। " ' ऋ० १।१६४।४०)

यह अवध्य गाय हमारी महती समृद्धिके लिए बढ़े।

गायकी समृद्धिमें ही राष्ट्रकी समृद्धि है। गायोंमें राष्ट्र का ऐश्वर्य निहित है।

" जो गायोंको विष देते या मारते हैं, उन्हें अपने राज्यसे निकाल देना राजाके लिए एक आवश्यक कर्तव्य है। "
(अथर्व ८।३।१६)

ऋग्वेदमें गायोंको " रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, आदित्योंकी बहिन और अमृतका केन्द्र " बताया है इसलिए —

" हे मनुष्यो ! मैं तुमसे कहता हूं कि तुम निरपराध गाय को मत मारो। " (ऋ० ८।१०२।१५)

इस पर भी यदि कोई गोवध करे तो : —

अन्तकाय गोघातकम् (यजु० ३०।१८)

" उस गोहत्यारेको यमराजके पास भेज देना चाहिये। "

वेदोंमें ऐसे हत्यारेको केवल मृत्युदण्डका विधान है— हे मनुष्य ! यदि तू हमारी गायों, घोड़ों अथवा पुरुषोंको मारेगा, तो हम तुझे गोलीसे उड़ा देंगे। "
(अथर्व० १।१६।४)

" गायोंका नाम " अघ्न्या " है, इन्हें कौन मार सकता है ? जो गाय या बैलको मारता है, वह अत्यन्त अधम काम करता है। " (महा० शान्तिपर्व)

इसप्रकार अनेकों मंत्र और वचन गोवधका स्पष्ट निषेध करते हैं।

गोघ्न अतिथिका अर्थ क्या ?

इस शब्दने भी बड़ी भारी भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। पाश्चात्य विद्वानोंके अनुसार वैदिक कालमें जब अतिथि घर आता था, तो गोमांससे उसका सत्कार किया जाता था। इसीलिए अतिथिको गोघ्न अर्थात् गायको मारनेवाला कहा जाता था। पर यहां भी शब्दोंका अनर्थ कर दिया गया है। संस्कृत भाषामें " हन् " धातुका अर्थ मारना और रक्षा करना दोनों होता है। गोघ्न शब्दमें हन् धातु रक्षा वाचक ही है। क्योंकि वेदोंमें एक शब्द आता है, ' हस्तघ्न " जिसका अर्थ है दस्ताने। जब वीरगण बाण चलाते थे, तब धनुषकी डोरीकी रगड़से अपनी कलाइयोंको बचानेके लिए हाथोंमें चमड़ेके दस्ताने पहन लेते थे, इस प्रकार हाथोंको सुरक्षित रखनेके कारण दस्तानेको हस्तघ्न कहते थे। वही हन् धातुका रक्षावाचक, अर्थ गोघ्न अतिथिमें भी है। लोग अतिथियोंका गोदूधसे सत्कार करनेके लिये गौओंका पालन करते थे। इसप्रकार अतिथियोंके कारण गायोंकी भी सुरक्षा होती थी, इसीलिए उसे गोघ्न या गोरक्षक कहा जाता था।

उपर्युक्त सभी प्रमाणोंसे यह नितान्त स्पष्ट होता है कि वैदिक कालमें गोवध नहीं होता था, न वैदिक ऋषि ही गोमांस भक्षी थे, और न वेदोंमें ही यज्ञमें पशुबलि या गोबलिका विधान है।

तीर्थका स्वरूप और महत्त्व

☆

कोशकारने तीर्थ शब्दके " मार्ग, घाट, औषध, जलस्थान पवित्रक्षेत्र, साधन, योग्य पुरुष, गुरु, यज्ञ, मंत्री, " आदि अर्थ दिये हैं। संस्कृत साहित्यमें प्रायः इन सभी अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है।

तीर्थ शब्द संस्कृत व्याकरणके 'तृ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है तरना या तैरना। इसप्रकार तीर्थका अर्थ होगा 'तारण करनेवाला'। चूंकि नाव नदी पार कराती है इसलिए संस्कृतमें नावको भी तीर्थ कहा है। उपर्युक्त व्युत्पत्तिके साथ कोई भी चीज जो तारण कराती है, तीर्थ कही जा सकती है। विश्वकोशमें तीर्थ शब्दका प्रयोग विशेष रूपमें हुआ है, वहां लिखा है—

तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु।

अर्थात् शास्त्र, अध्वर, क्षेत्र, उपाय, उपाध्याय और मन्त्रियोंको तीर्थ कहा जाता है।"

प्रायः सभी तीर्थोंके अनुसार मनुष्यका मुख्य उद्देश्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही है। उपर्युक्त सभी तत्त्व मनुष्यों को दुःखोंसे तारण करनेवाले होनेके कारण तीर्थ कहलाते हैं। शास्त्रोंके अध्ययन, यज्ञ करने, पवित्र क्षेत्रोंमें जाकर--स्नान-ध्यान और गुरुके उपदेशोंसे मनुष्य दुःखसे पार हो सकता है। इसीलिए ये तीर्थ माने गये हैं। राजा भी अपने सुयोग्य मन्त्रीकी सलाह पर चलकर अनेक तरहके राष्ट्रीय संकटोंसे पार हो जाता है इसलिए उसे भी तीर्थका स्वरूप दिया गया है। हिन्दुधर्मशास्त्रोंने साधु या सज्जन पुरुषको भी तीर्थकी संज्ञा दी है। सत्संगकी महिमा सभी गाते हैं। साधुपुरुष लोगोंका सच्चा गुरु होता है। महात्मा श्री तुलसीदासजीने सत्संगतिको अत्यंत दुर्लभ वस्तु बताया है—

सुत दारा और लक्ष्मी पापीके भी होय।
सत्संगति और हरिकथा 'तुलसी' दुर्लभ दोय।

सत्संगतिकी महिमा गाते हुए महाकवि भर्तृहरिने लिखा है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चती वाचि सत्यम्
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं।
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

(नीतिशतक २३)

सत्संगति बुद्धिके अज्ञानको हर लेती है, वाणीमें सत्यता उत्पन्न करती है, सर्वत्र सम्मान बढ़ाकर मनुष्यकी उन्नति करती है। पापोंको नष्ट करती है। चित्तको प्रसन्न करती है। दिशाओंमें अर्थात् सर्वत्र यश फैलाती है। फिर बताओ सत्संगति मनुष्यके लिए क्या नहीं करती?

सज्जनोंका संग बहुत श्रेष्ठ और पुण्यदायक माना गया है, वस्तुतः तीर्थराजकी पदवी सज्जनको प्रदान की गयी है।

'क्व पुनः तादृशस्य तीर्थस्य साधोः संभवः'।

(उत्तररामचरितम् १)

सत्पुरुष जैसा तीर्थ और कहां संभव हो सकता है? सज्जन पुरुषोंकी संगति मनुष्यके लिए दुःखोंसे छूटनेका सर्वोत्तम उपाय है। कितने ही संत बिना शास्त्रोंके अध्ययनके बिना ही विद्वान् और श्रेष्ठ बन गये। कबीरदासजी सर्वथा अशिक्षित होते हुए भी साधुपुरुषोंकी संगतिमें बैठ बैठकर ब्रह्मज्ञानी बन गये और वे हिन्दी साहित्यके इतिहासमें एक महान् अध्यात्मवादी कवि माने गये। सज्जन पुरुषको ही वेदशास्त्रमें गुरुके पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। गुरुकी महिमा भी हिन्दु शास्त्रोंमें बहुत बड़े पैमाने पर गायी गायी है। गुरुको साक्षात् परब्रह्म माना गया है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

कबीरदासजीने तो गुरुको गोविंदसे भी अधिक पुण्य माना है--

गुरु गोविंद दोनों खडे काके लागूं पांय ।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताय ॥

इस प्रकार तीर्थ शब्दका अर्थ बडा व्यापक है। पर आज तीर्थ शब्द हरिद्वार, वाराणसी आदि पवित्र क्षेत्रोंके लिए रूढ हो गया है। इन सभी क्षेत्रोंके महत्त्वको प्रदर्शित करनेके लिए इनके साथ पौराणिक कथाएं जोड दी गयी हैं। भक्तजनोंकी श्रद्धा है कि इन पवित्र क्षेत्रोंमें जाकर वास या स्नान करनेसे वे पवित्र हो जाते हैं। पापप्रक्षालन की बात अतिशयोक्तिपूर्ण हो जाती है, पर इसमें संदेह नहीं कि इन क्षेत्रोंमें जानेसे मनुष्यका मन प्रसन्न हो जाता है और स्वयमेव भगवद्भक्तिकी तरफ दौडने लगता है। संभव है कि वह यहांके वातावरणका प्रभाव हो।

तीर्थ राष्ट्रीय एकताके केन्द्र

सुप्रसिद्ध वेद- व्याख्याता और मेरे गुरुवर्य पं. श्री. दा. सातवलेकर इन तीर्थोंकी नवीन व्याख्या करते हैं- उनका कहना है कि--

ये तीर्थ राष्ट्रीयभावनासे प्रेरित होकर स्थापित किये गये थे। भगवान् आद्यशंकराचार्यने उत्तरमें बद्रीनाथमठ, दक्षिणमें शृंगेरीमठ, पूर्वमें गोवर्धनमठ, तथा पश्चिममें द्वारका मठ इस प्रकार चारों कोनोंमें चार मठ स्थापित किये। इन मठोंकी स्थापनाके पीछे भगवान् शंकरका उद्देश्य भारतीय अध्यात्मवादकी सुरक्षा ही था। भारतमें नास्तिकताका प्रचार करनेवाले बौद्धधर्मको उखाडकर इन मठोंकी इसलिए स्थापना की कि इनके द्वारा उनके अनुयायी आस्तिकतत्त्वोंका प्रचार करते हुए भारतीय अध्यात्मको सुरक्षित रखें। उनका विश्वास था कि देशमें यह अध्यात्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो भारतीयोंमें एकताको बनाये रखता है। ईशोपनिषद्का वचन है--

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति ।
सर्वभूतेषु च आत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

" जो सब प्राणियोंको अपने अंदर और सब प्राणियोंमें अपने आपको देखता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता। जो यह जानता है कि जो आत्मा मुझमें है, वही अन्य सभी प्राणियोंमें है तो वह किससे द्वेष और घृणा करेगा ? " इस प्रकार सर्वत्र समान आत्मज्ञान या अध्यात्मतत्त्व ही सबको एकताके सूत्रमें बांध सकता है, इसी दृष्टिसे भगवान् शंकर अध्यात्मवादकी सुरक्षा चाहते थे एवं इसी हेतुसे उन्होंने चारों दिशाओंमें चार मठ स्थापित किये। पं. सातवलेकरजीकी तो यह धारणा है कि इन मठोंकी स्थापना भगवान् शंकरने इसलिए की कि यहांसे शत्रुओंके बाहरी आक्रमण पर नजर रखी जा सके। इन मठोंके द्वारा जगद्गुरुने भारतकी नाकेबंदी कर दी थी।

कन्याकुमारी और कैलाश

ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण तीर्थ माने जाते हैं। कन्याकुमारीके मंदिरमें हाथमें वरमाला लिए हुए एक कुमारीकी प्रतिमा है, जो कैलाशपर्वत पर स्थित भगवान् श्री शंकरके गलेमें वरमाला डालकर भगवान् श्री शंकरको अपना पति बनाना चाहती है। इस कल्पनाके पीछे भी राष्ट्रीय एकता का उद्देश्य स्पष्ट है। कन्याकुमारीकी कन्या वधू और कैलाशके शंकर वर या कहूं कि भारतकी ठेठ दक्षिणकी कन्या और ठेठ उत्तरका वर इन दोनोंके परस्पर मिलनेका अर्थ है भारतके उत्तर और दक्षिणका मिलाप। हमारे पूर्वज उत्तरसे लेकर दक्षिण तक भारतको अखण्ड देखना चाहते थे। दक्षिणके निवासी कैलास जाते थे और उत्तरके निवासी कन्याकुमारी। इस प्रकार परस्पर मेल-मिलाप रहता था जिससे की भारतीय प्रजामें एकता होती थी। एकताका संदेश देनेके लिए हमारे पूर्वजोंने हमारी कल्पनाको मूर्त रूप प्रदान किया।

वीरताके प्रतीक देव

हिन्दुओंके प्रायः सभी देव शस्त्रास्त्रधारी हैं। इन शस्त्रास्त्रधारियोंके द्वारा पूर्वपुरुषोंने अपनी सन्तानोंको वीरताका सन्देश दिया था। राम, कृष्ण, हनुमान्, दुर्गा सभी वीरताके प्रतीक हैं। इनमें कृष्णका स्वरूप कुछ ऐसा है, जो शृंगारिक व्याप्त है। पर कमर पर हाथ रखकर नृत्यमुद्रामें खडे हुए श्रीकृष्ण अनेक हिन्दू कवियोंके तिरस्कारके पात्र बने हैं। कथा है कि एक बार श्रीरामभक्त श्री तुलसीदासजी तीर्थयात्रा करते हुए वृंदावन गये। वहां उन्होंने एक मन्दिरमें भगवान् श्रीकृष्णकी नृत्यमुद्रामें एक शृंगारिक प्रतिमा देखी। उसे देखकर तुलसीजीने कहा--

तुलसी मस्तक तब नवे जब धनुष्यबाण लो हाथ।

अर्थात् तुलसीका सर तो तभी झुक सकेगा, जब आप हाथ

में धनुष्यबाण ले लोगे। और कहा जाता है कि उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण नर्तक कृष्णका रूप त्याग कर शस्त्रास्त्रधारी कृष्ण बन गये।

इसी तरह महाराष्ट्रमें कमर पर हाथ रखकर रखुमाबाई के साथ विहार करनेवाले श्री विठ्ठल भी समर्थ-रामदासके तिरस्कारके पात्र बने। महाराष्ट्रके प्राय सभी सन्त श्री विठ्ठलके उपासक रहे। पर समर्थने विठ्ठलका त्याग करके हनुमान्‌को अपना आराध्य देव बनाया। श्रीसमर्थ सच्चे अर्थोंमें एक राष्ट्रीय संत थे। समर्थने बलके प्रतीक हनुमान् जीकी मूर्तियां ही सर्वत्र स्थापित कीं और इन्हींकी पूजाका सर्वत्र प्रचार किया।

पं. सातवलेकरजीका मत है- आजकाल तीर्थक्षेत्र बने हुए स्वामी समर्थके मठ वस्तुतः देवताधिष्ठान न होकर सैनिक शिक्षाके केंद्र थे। स्वामीजी इन क्षेत्रोंमें शारीरिक शिक्षण देकर तरुणोंको बलशाली बनाते थे और आवश्यकता पडने पर शिवाजीको ये तरुण अर्पित कर देते थे। इस प्रकार स्वामी समर्थने सदा तीर्थके रूपमें शक्तिकी ही उपासना की।

वेदोंमें जितने देव हैं वे सभी शस्त्रास्त्रधारी और शूर-वीर हैं। सभी शत्रुओंके नाशक हैं। देवोंका राजा इंद्र अपनी शक्तिसे वृत्रासुर, बलासुर आदी अनेकों असुरोंका नाश करके राष्ट्रसंरक्षण करता है। इस प्रकार वैदिक ऋषियोंने देवताओंके वर्णन द्वारा राष्ट्रको वीरताका ही संदेश दिया है।

इन तीर्थस्थानोंमें देवोंकी उपासनाका उद्देश्य यही है कि देवोंने जो श्रेष्ठ एवं उत्तम कार्य किये, वही उपासकभी करें। जिस प्रकार श्रीरामने रावणको मारकर आर्य संस्कृतिकी रक्षा की एवं जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने कंस, शिशुपाल आदि दुष्टोंको मारकर सज्जनोंकी रक्षा की थी, उसी प्रकार उपासक भी दुष्टोंका नाश और सज्जनोंका परित्राण करके आर्यसंस्कृतिकी रक्षा करें। यही राष्ट्रीय सुरक्षाकी भावना तीर्थयात्रामें निहित है।

रक्षामन्त्री – इन्द्र

इस पृथ्वी पर चलनेवाले राज्यके समान ही इस महान् विश्वके राज्यका संचालन हो रहा है। इस विश्वके विभिन्न देवता विभिन्न पद सम्हाले हुए हैं और बडी ही तत्परतासे विश्व-राज्यको चलाते हैं। इस विश्वराज्यमें शिक्षामंत्रालय, रक्षामंत्रालय, स्वास्थ्यमंत्रालय आदि भिन्न भिन्न मंत्रालय हैं और तदनुसार मंत्री, उपमंत्री, सचिव आदियोंकी भी नियुक्तियां हैं। इनमें सबसे प्रमुख रक्षामंत्रालय है, जिसके अधिकारी निम्न हैं—

इन्द्र– रक्षामंत्री,
विष्णु (उपेन्द्र)– उपरक्षामंत्री,
रुद्र– सेनापति,
मरुत्– सैनिक,

इनमें सर्व प्रथम इन्द्र पर हम विचार करते हैं।

वेदप्रतिपादित सम्पूर्ण देवोंमें ‘ इन्द्र ’ सबसे प्रमुख है। वेदोंमें सबसे ज्यादा इसीके मंत्र हैं, इसका कारण यह है कि सारे विश्वराज्यकी सुरक्षाका भार इसीके कन्धों पर है। जिस प्रकार किसी राष्ट्रकी सुरक्षाका भार वहांके रक्षामन्त्री पर होनेसे उसका स्थान सबसे प्रमुख होता है, उसी प्रकार इन्द्र भी विश्वराज्यमें प्रमुख है। निरुक्तकारने इन्द्रका निर्वचन किया है ‘ इन् शत्रूणां दारयिता वा। द्रावयिता वा।’ इन्द्र शत्रुओंको फाड डालता है और भगा देता है इतना भयंकर इन्द्र है। राज्यकी आन्तरिक व बाह्य शत्रुओंसे रक्षा करना इसका कर्त्तव्य है। वह ज्ञानी भी है। उसको सुरक्षाके हर साधनोंका ज्ञान है।

ज्ञानी इन्द्र

इन्द्र स्वयं ऋषि है तथा ऋषियोंका बनानेवाला भी है। ‘ ऋषयो मंत्रद्रष्टारः ’ की व्युत्पत्तिके अनुसार वह स्वयं मंत्रद्रष्टा होते हुए दूसरोंको भी मन्त्रोंका ज्ञान कराता है। वह–

१ ऋषिः धीरः (ऋ० ५।२९।१)– विज्ञानी है तथा ‘धी–र.’ बुद्धियोंको देनेवाला और विचारोंको सुझानेवाला है।

२ ऋषिचोदनः (ऋ० ८।५१।३) ऋषियोंको प्रेरणा देनेवाला है।

३ कविवृधः (ऋ० ८।६३।४) ज्ञानियोंको बढाने-वाला है।

४ कवीनां कवितमः (ऋ० ६।१८।१४) ज्ञानियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ है।

५ विश्वस्य विद्वान् (ऋ० १।१२९।१०) सबको जाननेवाला है।

६ विश्वता धीः (ऋ० ८।३४।६) उसकी बुद्धि समानरूपसे चलती है।

इस प्रकार ज्ञानसे युक्त होनेके कारण वह “ गम्भीर ” (ऋ० २।२४।४) बडा ही गम्भीर है। जो बहुत विद्वान् होता है, वह स्वभावतः ही गम्भीर होता है। अतः इन्द्रका स्वभाव भी गम्भीर है, वह अपने कार्यमें सदा “ जागृविः ” (ऋ० ८।९२।३) जागृत रहनेवाला है। वह है तो वस्तुतः रक्षामन्त्री, पर कभी-कभी वह ज्ञानको सर्वत्र बढानेके भी कार्य करता है। वह “ विप्रस्य त्राता ” (ऋ० १।१२९।१०) ज्ञानियोंका रक्षक है, मुनियोंका मित्र है (ऋ० ८।१७।१४) वह ज्ञानियोंसे बहुत प्रेम करता है। पर जो कोई ज्ञान प्रसारके विरुद्ध कार्य करता है, उसे वह सर्वथा नष्ट कर देता है। जो ज्ञानसे द्वेष करते हैं, अथवा दुष्ट ज्ञानका प्रसार करते हैं, या सर्वत्र दुष्ट बुद्धि फैलाना चाहते हैं उन्हें वह समाप्त कर देता है। इसीलिए उसे वेदमें “ दुर्मतीनां भंगः ” (ऋ० ८।४६।१९) कहा है।

इसकारण तत्कालीन आर्य दिग्विजयी होते थे और कोई भी शत्रु उनकी तरफ टेढी नजरसे नहीं देख सकता था। उन्हींके वंशज आजके हिन्दु साधनमार्गकी तरफसे पूरी तरह उदासीन हे और इसी कारण उनकी अवस्था ऐसी हो गई है कोई भी आकर इन्हें गाली दे जाए, पर ये प्र स्तरमूर्ति बने बैठे रहते है, यह वस्तुतः इन हिन्दुओंके अपने ही कर्मोंका विपाक है।

हम प्रार्थना तो करते हे कि हमें श्रीराम अर्थात् सम्पत्ति देनेवाला राम चाहिए। पर सम्पत्ति हमारे पास आ भी जाए तो भी हमारी शूरवीरताके अभावमें वह हमारे पास टिकेगी किस तरह? इसलिए हमें जयराम अर्थात् विजय प्रदान करनेवाला राम चाहिए। पर कई बार ऐसा भी होता है कि जय भी पराजयके समान ही हानिकारक होती है, इसलिए (जय जय राम) विजय हितकारक विजय होनी चाहिए। इसीलिए हमें ऐसे रामकी आवश्यकता है कि जो हमें सच्ची विजय दिलवा सके। इसका मनन यदि हम करें, तो इमसे कितना महान् बोध हमें प्राप्त हो सकेगा।

इसप्रकार अनेक मंत्रका जप आजकल किया जा रहा है, पर उनके सन्देशकी तरफ कोई नहीं देखता। इसकारण इन निरर्थक प्रयत्नोंसे वैय्यक्तिक अथवा सामाजिक लाभ नही हो पाता।

तुकाराम और रामदास आदियोंके अभंगादि काव्योंमेंसे अनेक काव्य भजनीक गाया करते हे पर उनका भी कोई मनन नहीं करता। दरअसल इन सन्तोंके सभी काव्य जनता को मार्गदर्शन देनेवाले हे। पर ये उपदेश यदि प्रजाके आचरणमें ढल जाएं तो लोगोंकी अत्यन्त उन्नति होगी। साधनको उत्तमरीतिसे उपयोगमें लाये बिना सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती और सिद्धिकी प्राप्तिके बिना अभ्युदय होना संभव नहीं।

तात्पर्य यह कि मंत्रजप और नामजपमें वैय्यक्तिक और राष्ट्रीय उन्नतिकी योजना सन्निहित है और वह योजना उन उन मंत्रोंके अर्थोंके मननसे साधकोंके आगे प्रकट हो सकती है। यह बात ध्यानमें रखकर साधकर .निष्क्रियताको छोड-कर क्रियाशीलताको अपनायें और अपनी उन्नति करें।

ം ം ം

२९ रामराज्यमें अपहृत स्त्री

रामराज्यमें दुःखी आत्मा

वैदिककालमें समाज कठोर अनुशासनके अन्तर्गत था, पर आगे जाकर वह अनुशासन उसे बुरा लगने लगा और वह वैय्यक्तिक स्वातंत्र्यका अभिलाषी हो गया। इस वैय्यक्तिक स्वातंत्र्यके विचार भी इस सीमा तक जा पहुंचे कि प्रत्येक जीव स्वयंको स्वतंत्र मानने लग गया। परिणामतः उसका पारस्परिक सम्बन्ध बिल्कुल टूटसा गया। लोगोंकी मान्यता यह हो गई कि प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र है। वह स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, मरता और मुक्त होता है। वैदिककालमें लोग संघात्माके पूजक थे। इसी सघात्माको सूत्रात्मा भी कहते हैं।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुः। (गीता)

आत्मा सर्वगत और नित्य है। सर्वगत-सर्वव्यापक आत्मा सबके अन्दर अलग अलग कैसे हो सकती है? सबकी आत्मा ही सर्वगत होनेके कारण वह सबकी मिलकर एक ही आत्मा होगी। प्राचीनकालमें सबको " आत्मा " एक, सबका "कारण शरीर" एक माना जाता था, इसीकारण उनमें सामुदायिक जीवन प्रबल दिखाई देता था। पर सम्प्रति सभी आत्मायें वैय्यक्तिक हो जाने कारण भिन्न भिन्न हो गई और उसके कारण संघात्मा नष्टप्राय: हो गई। इस प्रकार हिन्दुसमाज अपने ही तत्त्वज्ञानके कारण असंघटित हो गया और आज भी वह उसी तरह असंघटित है।

सबकी आत्माओंको एक माननेवाला समाज और प्रत्येककी आत्मा भिन्न भिन्न माननेवाला समाज इन दोनोंमें एकात्मवादी समाज संघटित और नानात्मवादी समाज असंघटित होगा, यह स्पष्ट ही है।

वैदिकतत्त्वज्ञान एकात्मवादी था पर वही आगे जाकर नानात्मवादी हो जानेके कारण हिन्दुसमाज असंघटित हो गया। जब तत्त्वज्ञान ही फूट डालनेमें मूल कारण बन जाए तो फिर समाज किस तरह संघटित रहेगा? इस असंगठन के कारण प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थकी तरफ ही देखने लग गया और संघका विचार उस प्रमाणसे कम हो गया।

वैय्यक्तिक पवित्रताकी कल्पना भी इस व्यक्तिवादके कारण विकृत हो गई और संगठनके लिए आवश्यक

सामूहिक जीवनकी कल्पना भी त्याज्य समझी जाने लगी। इसका विचार करनेके लिए हम अपहृत स्त्रियोंको पुनः स्वीकार करनेके बारेमें कल्पनाओंकी जांच पडताल करें।

सीताका अपहरण

रावणने सीताका अपहरण किया। रावणके पास सीता छै महीने रही, इसके बाद भगवान् रामने रावण पर चढाई की और वे रावणको पराजित करके सीता वापस ले आये। रावण अनेक आर्यस्त्रियोंको भगा ले गया था। पर सीताके सिवाय अन्य स्त्रियां उसकी वशवर्तिनी हो गई। उस समयके राक्षसोंने आर्यस्त्रियों और कुमारिकाओंका सामूहिक अपहरण किया था, इस बातके प्रमाण हमें पुराणमें मिलते हैं। असुर और राक्षस विदेशोंसे आर्यावर्तमें आते, यहां सुखसे रहते, यहांकी आर्यस्त्रियोंका अपहरण करते और इसप्रकार आर्योंको कष्ट देते थे। इसप्रकार स्त्रियोंके अपहरणका प्रश्न आजका नहीं, बहुत पुराना है।

रावणके द्वारा सीताके अपहरणका समाचार सुनकर सभी आर्यराजा भारतकी ध्वजाके नीचे आकर एकत्रित हो गए और रावण पर आक्रमण करके सीताको वापस लानेका विचार करने लगे। इसका वर्णन रामायणके उत्तरकांडमें है। सीताके अपहरणसे सारा आर्यावर्त हडबडाकर उठ बैठा। उस समयके राजा सीताके अपहरणको सारे आर्यावर्तका अपमान समझते थे। पर रावणके द्वारा अपहृत अन्य आर्य स्त्रियोंके बारेमें ऐसा आंदोलन दृष्टिगोचर नहीं होता।

आज हजारों सीताओंका अपहरण हो गया, पर उन प्राचीन आर्योंके वंशजोंको कुछ बुरा नहीं लगा। ' उससे मुझे क्या लेना देना '-इसप्रकारका वैयक्तिक तत्वज्ञान हमें घेरे हुए है।

अन्तमें युद्ध करके राम सीताको रावणके कैदखानेसे छुडाकर अयोध्या ले आये। भगवान् रामचन्द्रका राज्यारोहणोत्सव बडे ही ठाठबाटसे हो गया और " रामराज्य " शुरु हो गया ' रामराज्य " मे सभी लोक सुखी थे। इस सुखका वर्णन रामायणमें ही नहीं अपितु आज भी लोग मुक्तकण्ठसे करते हैं। आज रामराज्यसे बढकर उत्तम राज्य और कोई नहीं माना जाता। रामराज्यका प्रभाव आजके जनमन पर है।

आज अपने नेता भी भारतमें " रामराज्य " की स्थापना करना चाहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि रामराज्यमें सभी उत्तम रूपसे सुखी थे। तथापि रामराज्यमें भी एक आत्मा दुःखी थी ही और वह आत्मा थी अपहृत स्त्रीकी।

रामराज्यमें अपहृत स्त्री

भगवान् राम सीताका हरण करनेवाले रावण तथा उनके साम्राज्यका नाश करके अपहृत सीताको वापस ले आये, पर उस स्त्रीको सुख देनेमें वे समर्थ नहीं हुए। भगवान् रामका मन तो सीताशुद्धिके बाद शंकारहित हो गया था। प्रथम तो उनके मनमें भी सीताके प्रति थोडी शंका उपजी थी, पर अग्नि परीक्षाके बाद सीताको शुद्ध जानकर रामने सीताको स्वीकार कर लिया और उसके बाद सीताके बारेमें रामके मनमें कोई शंका नहीं रह गई।

पर रामराज्यमें रहनेवाले धोबी इस अग्नि परीक्षाको भी माननेको तैय्यार नहीं थे। रामायणमें आया है कि एक धोबीने सीताकी शुद्धताके बारेमें संशय प्रकट किया था। पर सम्पूर्ण राज्यमें केवल एक धोबीके बकनेसे कौनसा राजा अपनी प्रियरानीका परित्याग कर देगा? अतः यह संभव प्रतीत नहीं होता। इसपरसे यही निष्कर्ष निकलता है कि केवल एक धोबी नहीं अपितु प्रजाका बहुमत सीताके विरुद्ध था।

उनका विचार यह था कि एक आर्यस्त्री एक राक्षसके राज्यमें ६ मास रहकर शुद्ध कैसे रह सकती है? उस आर्यस्त्री पर राक्षसने अत्याचार अवश्य किए होंगे। उनका यह विचार तत्कालीन परिस्थितिको देखकर निराधार भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वे प्रजायें असुरों और राक्षसोंके व्यवहारसे पूरी तरह परिचित थीं। इस अनुभवके आधार पर रामराज्यमें सीताके बारेमें जनमत यदि कलुषित भी हो गया हो तो भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं। सबसे पहले तो सीताको अपनानेके विषयमें रामका मन भी हिचकिचा रहा था। इसलिए उन्होंने भी अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी कि 'मैंने रावणका नाश अपने यशके लिए किया है, सीताके लिए नहीं '', पर बादमें अग्निपरीक्षाको देखकर सीताको अपनानेमें रामकी हिचकिचाहट जाती रही। राम उसे अयोध्या ले आये और राज्याभिषेकके अवसर पर अर्धांगिनीके रूपमें उसे अपने आधे आसन पर बिठलाया भी। यह सब यद्यपि हो गया फिर भी प्रजाका हृदय सीताकी तरफसे साफ नहीं था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि

सभी लोग सीताको अपवित्र मानते थे, पर जनतामें गुप्त-रीतिसे सीताके अपवित्रताकी बात फैलती जा रही थी ।

इस जनमतका स्फोट तो तब हुआ कि जब एक धोबीने निर्भयतासे कह दिया कि अपहृतस्त्रीको रामने अपने घरमें जगह दे दी तो क्या हुआ, मैं ऐसी स्त्रीको घरमें घुसने भी नहीं दूंगा । आर्योंमें स्त्रीशुद्धिके बारेमें जो कल्पना पहले थी, वही आज भी है । उस समयका जनमत इतना प्रबल था कि रामको भी अपनी प्रियतमा सीताका त्याग करना पडा ।

यदि अग्निपरीक्षा न हुई होती तो सीताको राम भी न अपनाते, फिर प्रजाकी तो बात ही क्या ? पर रामकी इस घटनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन राजा स्वेच्छाचारी न होकर पूरी तरह प्रजाके अनुकूल चलनेवाला था ।

इस प्रकार रामराज्यमें भी सीताकी आत्मा दुःखी ही रही । परिस्थिवश सीताको वाल्मीकि ऋषि अपने तपोवनमें ले आए । उसकी प्रसूति भी तपोवनमें ही हुई और उसके बच्चोंको भी शुद्ध और पवित्र माना । वाल्मीकिको सीताके अपहरणका सारा वृत्तान्त मालूम था । इसीलिए अपहृत स्त्रियोंकी समस्याको सुलझानेका ढंग ऋषि वाल्मीकिने लोगोंके सामने रखा । इस विषयमें ऋषिने जो धैर्य दिखाया, वह धैर्य राजा राममें भी नहीं था । सार्वजनिक मतको माननेके सिवाय और कोई मार्ग ही नहीं था । पर वाल्मीकि सदृश ऋषियोंके लिए यह एक राष्ट्रीय प्रश्न था और वे उसे राष्ट्रहितकी दृष्टिसे ही छुडाना चाहते थे । इसलिए उन्होंने सीताको पवित्र मानकर उसकी रक्षा और पालन करके लोगोंको यह बात बता दी कि सीता राजमहलमें रहनेकी अधिकारिणी है और उसके पुत्र भी राजपुत्र कहलानेके अधिकारी हैं ।

वाल्मीकि ऋषिका यह काम अपहृत स्त्रीकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है । अग्निपरीक्षाके बाद रामने सीताको अपनाया और उनके इस कामके लिए अयोध्याके वरिष्ठ लोगोंका अनुमोदन भी मिल गया होगा, पर निम्नस्तरकी जनता अग्निपरीक्षाको भी माननेके लिए तैय्यार नहीं थी और इस निम्नस्तरकी जनतामें राष्ट्रीय दृष्टिका होना संभव भी नहीं है ।

अपहृत स्त्री जबतक शुद्ध है और गुण्डोंके द्वारा जबतक उसका सतीत्व भंग न हो गया हो, तबतक उसे अपनानेमें कोई अधर्म नहीं है, यह मत राम तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारियोंका प्रतीत होता है । पर निम्नस्तरकी प्रजा यह माननेके लिए तैय्यार नहीं थी । उसका मत यही था कि स्त्री अपहृत हुई कि वह भ्रष्ट हो ही गई । आज भी अधिकांश लोगोंका यही मत है ।

वाल्मीकिऋषि इस बारेमें ज्यादा उदारवादी मतके थे । अपहृत स्त्रियोंको फिर स्वीकार करनेका प्रश्न राष्ट्रीयदृष्ट्या बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसप्रकारके अपहरणके लिए स्त्रियोंको दोषी नहीं ठहराया जा सकता, यह दोष वस्तुतः उन पुरुषोंका है कि जो अपनी स्त्रियोंका संरक्षण नहीं कर सकते । अपहरणके इस दोषसे स्त्रियोंको मुक्त करनेके लिए स्मृतिकारोंने विधान बना दिया है कि " रजसा शुध्यते नारी " अर्थात् मासिक रजोदर्शनके साथ ही स्त्री शुद्ध हो जाती है।

अहल्याका प्रश्न

रामने वनवासके कालमें अहल्याको शुद्ध बताकर गौतम ऋषिसे उसे अपनानेके लिए कहा । गौतमऋषि अहल्याको भ्रष्ट मानते थे । पर रामने उसे शुद्ध बताया और गौतमने भी उसे फिर स्वीकार भी कर लिया । अहल्या तो इन्द्रके द्वारा भ्रष्ट भी की जा चुकी थी । रामायणके अनुसार तो अहल्या भी इन्द्रके साथ समागम करनेके लिए उत्सुक थी । अतः अहल्या सीता जितनी निर्दोष नहीं थी । अहल्या और इन्द्र दोनों ही अपराधी थे । पर सीताकी बाबतमें सीता तो सर्वथा निरपराधिनी थी, उसमें अपराधी केवल रावण था । तथापि राम अग्निपरीक्षा होने तक सीताको स्वीकार नहीं करते । पर वही राम अहल्याको शुद्ध बताते हैं और गौतम भी उसे स्वीकार कर लेते हैं, यह कुछ उसी तरहकी बात है कि दूसरोंको घोडे पर बैठाकर खुश होते हैं, पर जब स्वयंके चढनेका समय आता है तो पचास बहाने बनाने लग जाते हैं ।

मासिक रजोदर्शन और कठोर प्रायश्चित्तके कारण अहल्या को तो शुद्ध मान लिया गया । पर सीताको इन दोनों उपायों का कोई लाभ न पहुंच सका । इतना ही नहीं, सीताकी पवित्रताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए अनेक कथाओंमें अनेक नवीन नवीन कल्पनायें आविष्कृत हुईं, उदाहरणार्थ–

१ सच्ची सीताको तो किसी दूसरी जगहमें छिपा दिया गया था । रावण कृत्रिम सीताको ही ले गया था ।

२ रावणवधके बाद सच्ची सीता अग्निसे बाहर निकली और उसे रामने स्वीकार किया।

३ रावणको यह शाप मिला हुआ था कि यदि किसी स्त्री पर उसकी इच्छाके विरुद्ध अत्याचार करेगा' तो उसके सिरके टुकडे टुकडे हो जाएगे, इसलिए रावण किसी स्त्री पर जबर्दस्ती आत्याचार नहीं करता था।

ऐसी अनेक कल्पनायें पुराणकारोंने घड ली है। इन सब कल्पनाओंके मूलमें यही तत्व है कि स्त्री अपहृत हुई कि वह अशुद्ध हो गई, अतः उसे फिरसे अपनाना धर्मविरुद्ध है। पर दूसरी तरफ यदि रामायणकालीन अहल्याकी कथाको सत्य मानें तो उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि स्त्री प्रायश्चित्त करने और रजोदर्शनके बाद शुद्ध हो जाती है। पर १४ वर्षके बाद रामने इस सिद्धान्तको सीताके विषयमें स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, अग्निपरीक्षाके बाद भी जनमतके विरुद्ध होने पर रामने सीताका परित्याग कर दिया। यहां पर यह सफाई दी जा सकती है कि रामके मनमें तो सीताको अपनानेकी इच्छा थी पर जनमतका सम्मानका करनेके कारण उन्हें अपनी इच्छाके विरुद्ध भी यह काम करना पडा। पर रामके इस कार्यसे अपहृत स्त्रियोंकी समस्या कुछ सुलझ नहीं पायी। इस समस्याका समाधान कृष्णावतारमें जाकर हुआ। वह किसतरह ? यह हम अगले लेखमें देखेंगे। वस्तुतः देखा जाए तो अहल्याके बारेमें रामने जो निर्णय दिया था, वही इस समस्याका समाधान था। पर सीताके विषयमें स्मृतिकारोंके विधानको स्वीकार करनेका साहस राम न कर सके। यह साहस हमें कृष्णमें दृष्टिगोचर होता है। अब आइए, हम कृष्णावतार की तरफ मुडे।

२७ स्त्रियोंका सामुदायिक अपहरण

कृष्णावतारकालमें अपहृत स्त्रियोंका प्रश्न

भगवान् श्रीकृष्णके समयमें भी अपहृत स्त्रियोंका प्रश्न सुरसाका मुंह हो गया था। एक असुर राजाने १६००० आर्यस्त्रियोंका अपहरण किया था। इस परसे ऐसा प्रतीत होता है कि उस कालमें सामुदायिक अपहरण होता था। भगवान् श्रीकृष्णने युद्ध करके उस दुष्ट असुरका नाश करके इन अपहृत स्त्रियोंको मुक्त किया। अपहृत स्त्रियोंके मुक्त होने तक उनके अपहरणका प्रश्न प्रजाके आगे रहता है, और वह यही चिल्लाती रहती है कि इन अपहृत स्त्रियोंकी मुक्ति होनी चाहिए। पर जब इन अपहृत स्त्रियोंकी मुक्ति हो जाती है, तब फिर सामने एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है कि उन अपहृत स्त्रियोंकी व्यवस्था किस प्रकार की जाए ? और यह प्रश्न बडा ही विकट होता है। जब भगवान् कृष्णने हजारों अपहृत कन्याओंको असुरोंके कंदखानेसे मुक्ति दिला दी तो उनके सामने भी इन कन्याओंके व्यवस्थाका प्रश्न आकर खडा हो गया।

१. अब कन्याओंकी क्या व्यवस्था की जाए ?

२ इन कन्याओंके मांबाप फिर इन कन्याओंको अपनाकर उनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करेंगे या नहीं ?

३. इनका विवाह उत्तम परिवारोंमें होकर वहां भी आदरपूर्ण स्थान मिलेगा या नहीं ?

४. ये समाजमें सन्मान भरा जीवन बिता सकेंगी या नहीं ?

५. यदि समाजमें इन्हें यथायोग्य स्थान न मिल सका तो ये अपना जीवन किस तरह गुजारेंगी ?

६ जिनका अपहरण जबर्दस्ती किया था, अब वे ही कन्यायें समाजमें तिरस्कारपूर्ण व्यवहारसे तंग आकर अपनी राजीखुशीसे तो कहीं फिर असुरोंके विलासकी सामग्री तो नहीं बन जायेंगी ? ऐसी दुःखद परिस्थिति को टालनेके लिए क्या करना चाहिए ?

आदि अनेकों प्रश्न भगवान् कृष्णके सामने भी आए ही होंगे और उन्होंने अपने मित्र और मंत्रियोंसे इन प्रश्नों पर विचार विमर्श किया भी जरूर होगा। वीर पुरुष अपनी वीरतासे अपहृत स्त्रियोंकी मुक्ति करता तो है, पर समाज पर वह अपने विचारोंको लाद नहीं सकता।

इन मुक्त हुई कन्याओंको भी पता था कि उन्हें अब अपने मांबापके घरमें सम्मानका स्थान मिलनेवाला नहीं है। इसके विपरीत मांबापके घर उनका तिरस्कार ही होगा। इस कारण उनका अब उत्तम परिवारमें विवाह भी होनेसे रहा। अतः उनका भविष्य दुःख, दैन्य अप्रतिष्ठा, अपमान और तिरस्कारोंसे भी भरा ही हुआ है, इसमें कोई शंका नहीं है। अपनी अवस्था इन कन्याओंके सामने स्पष्ट

हो गई थी। इसकारण उन्होंने अपने मांबापके घर जानेसे इन्कार कर दिया, जो कि स्वाभाविक ही था।

इन कन्याओंको जिन्होंने जन्म दिया, उन्हीं मांबापके घरोंमे इनके लिए यदि स्थान न हो, तो वे बेचारी कन्यायें जायें कहां ? सगे मां बाप जिन्हें नहीं अपना सकते उन्हें कौन अपनायेगा ? यदि थोडे समयके लिए राजा उनकी परवरिश कर भी ले फिर भी तो उन्हें एक स्थायी सहारा देनेवाले व्यक्तिकी जरूरत तो पडेगी ही। इन मातापिताके द्वारा परित्यक्त इन कन्याओंके साथ विवाह करनेके लिए कौन तैय्यार होगा ? कोई भी कुलीन जब इनसे शादी करनेके लिए तैय्यार नहीं होगा, तब इन कन्याओंकी समस्या कैसे हल होगी ?

यह एक विकट प्रश्न श्रीकृष्ण, उनके मंत्री और कन्याओंके सामने आकर खडा हो गया। इस प्रश्नने सबको व्याकुल कर दिया। श्रीकृष्णके अनुयायी छप्पन करोड यादव भी इन कन्याओंसे विवाह करनेके लिए तैय्यार नहीं थे। दूसरा भी कोई इनसे शादी करनेको तैय्यार नहीं था। यह सब देखकर उन आर्यकन्याओंने ही श्रीकृष्णसे कहा—

" जिन्होंने असुरोंके कैदखानेसे हमे छुडाया, उन्हींको हमने वर लिया है। वे श्रीकृष्ण ही हमारे पति हैं। न हम अपने मांबापके घर जायेंगी और न किसी दूसरेको ही अपना पति चुनेंगी। श्रीकृष्ण ही हमारे पति, सहारे, शरण्य और उपास्य देव हैं। "

इसके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता था। इस कारण उन सब अपहृत कन्याओंसे श्रीकृष्णको विवाह करना पडा। भगवान् श्रीकृष्ण प्रतापी थे अवश्य, पर उस समयकी प्रजा उन अपहृत कन्याओंके विवाहके बारेमे उनकी भी बात सुनने या माननेको तैय्यार नहीं थी।

"तत्कालीन प्रजाकी भी यही मान्यता थी कि कन्याओंका कन्यापन अपहरणके साथ ही नष्ट हो जाता है और ऐसी कन्याओंके लिए समाजमें कोई स्थान नहीं है। "

पर श्रीकृष्णको यह जनमत पसन्द नहीं आया। वे जानते थे कि कन्याओंका अपहरण एक राष्ट्रीय आपत्ति है और इस आपत्तिका निवारण राष्ट्रहितकी दृष्टिसे ही करना चाहिए। स्त्रियोंकी शुद्धता प्रति मास रजोदर्शनसे होती रहती है। अतः यदि ऐसी कन्याओंको समाजमें प्रतिष्ठाका स्थान मिल जाए तो वे समाजके लिए भूषणावह हो सकती हैं।

जिन स्त्रियोंका अपहरण हो जाता है, उनके मन भी पतित हो जाते हैं, यह मानना गलत है

जिन पुरुषों पर उन स्त्रियोंकी रक्षाका भार होता है, उन पुरुषोंसे उनकी रक्षा ठीक तरह नहीं हो सकी, यह उन पुरुषोंका दोष है। पुरुषोंको चाहिए था कि वे शत्रुओंका संहार करके उन स्त्रियोंकी रक्षा करते। अतः अपहृत होना स्त्रियोंका अपराध नहीं है।

उन पर गुण्डे अत्याचार करें, या उन्हें भ्रष्ट करें, उसमें भी उनका कोई दोष नहीं है। यह सब अपराध उन शक्तिहीन और निर्वीर्य पुरुषोंका ही है। अतः पुरुषोंके अपराधके लिए स्त्रियोंको दण्ड देना बडा भारी अन्याय होगा। इसलिए इन अपहृत स्त्रियोंको समाजमें पुनः प्रतिष्ठाका स्थान मिलना ही चाहिए। इस उदारवादी मतके श्रीकृष्ण थे।

उन कन्याओंका निश्चय, समाजकी परिस्थिति और उन कन्याओंको समाजमें स्थान दिलवानेकी आवश्यकता इन सबका विचार करके भगवान्ने उन सबका पाणिग्रहण स्वयं करनेका निश्चय किया और इसप्रकार श्रीकृष्णकी १६००० स्त्रियां हुईं।

इतनी स्त्रियोंको रखना श्रीकृष्ण सरीखे लोकोत्तर पुरुषके लिए दूषणावह समझनेवाले बतायें कि उस परिस्थितिमें इतनी कन्याओंको असुरोंके हाथोंमें जानेसे बचानेके लिए क्या उपाय किया जा सकता था ? इन कन्याओंको बचानेके लिए जो कुछ किया जा सकता था, वह श्रीकृष्णने किया। ऐसी कुलीन कन्याओंको नीच मनुष्योंके गलेमें बांधना ठीक नहीं था, और उच्चकुलके पुरुष उन्हें स्वीकार करनेके लिए तैय्यार नहीं थे, ऐसी परिस्थितिमें श्रीकृष्ण और करते भी क्या ? दोष देना आसान है, पर सामने आकर खडी हुई समस्याओंके समाधानके लिए उपाय बताना कठिन है। उपर्युक्त परिस्थितिमें उन कन्याओंको बेसहारा छोड देनेका मतलब था असुरोंको छूट दे देना कि वे आकर स्वेच्छापूर्वक इन कन्याओंको उठा ले जाएं। यदि यह छूट असुरोंको देनी ही थी तो फिर असुरोंसे उन्हें मुक्त करानेकी आवश्यकता ही क्या थी ?

आज भारतमें कोई कन्या यदि जरा भी इधर उधर हो

जाए, तो मांबाप उसे पुनः अपनानेसे इन्कार कर देते हैं। कोई भी हिन्दुसंस्था उन्हें अपनानेको तैय्यार नहीं होती, इसकारण वे कन्यायें अपनी ही खुशीसे परधर्मियोंका घर बसाने लगती हैं। सिन्धमेंसे हिन्दुओंकी बस्तियोंके अदृश्य होनेका यही कारण है। पाकिस्तान निर्माणमें पूर्व हिन्दु कन्यायें इसी तरह अपने घरसे निकाल दी जाती थीं। हिन्दुओंकी जातीय या धर्मीय पवित्रताकी कल्पना ही उनके नाशका कारण बनी। रामावतारके कालमें रामने अहिल्या के बारेमें गौतमको तो शिक्षा दी पर जब स्वय पर सीता विषयक संकट आ पडा तो उस अपनी ही शिक्षा पर वे अमल न कर सके।

रामावतारके समय भी ये असुर और राक्षस अनेक आर्य कन्याओंको भगा ले गए थे। उन आर्यकन्याओंमेंसे सिर्फ सीता ही, वापस लाई गई, पर वह भी अपने पतिके घरमें न रह सकी। जिन जनमतने सीता जैसी साध्वीको भी कष्ट देने और उसे घरसे निकलवा देनेमें भी संकोच नहीं किया, वह जनमत आज भी जैसा का वैसा ही है। उसी जनमतने १६००० कन्याओके प्रश्नको सुलझानेके समय श्रीकृष्णके सामने रोडे अटकाये थे।

श्रीकृष्णके सामने कोई दूसरा उपाय रहही नहीं गया था, इसलिए उन्होंने इतनी अपहृत स्त्रियोंके साथ शादी की और अपने समाजमें उनका दर्जा ऊंचा किया। इन अपहृत स्त्रियों का प्रश्न किसप्रकार छुडाया जाए, यह मार्ग श्रीकृष्णने दिखाया। श्रीकृष्णके द्वारा प्रस्तुत किए गए इस आदर्शका यह अर्थ नहीं है कि पुरुष अनेक विवाह करें. इसका अर्थ तो यह है कि इस पवित्रकार्यके लिए उच्चकुलके युवक आगे बढें।

आज पाकिस्तानमें ऐसी अपहृत आर्यकन्याओंकी संख्या हजारों है। जबतक वे वापस नहीं आती, तबतक वे पाकिस्तानियोंको भला बुरा कहते हैं। पर यदि वे सब वापस आजायें तो उनका उच्च और श्रेष्ठ परिवारमें प्रवेश मिलना कितना कठिन है यह बात उसी समय समझमें आ सकती है।

भगवान् श्रीकृष्णके समय उनका दर्जा सबसे श्रेष्ठ था। अपने और पराये लोगोंमें भी उनका बडा सम्मान था। विद्वत्ता, धन, ऐश्वर्य, योजकता, बुद्धि, शौर्य, सौन्दर्य, कुलीनता आदिमें उनकी बराबरी करनेवाला कोई दूसरा नहीं था। राजनीतिके क्षेत्रमें तो उन्होंने सभी भारतीय राजाओंको शतरजकी मोहरोंके समान अपने वशमें कर रखा था और कौरव--पाण्डवोंके संघर्षमें पाण्डवका नेतृत्व भगवान्के हाथों में ही था। इसकारण उस समय भगवान्को असामान्य महत्ता प्राप्त हो गई थी। उन्हें यद्यपि इतना भारी महत्त्व प्राप्त हो गया था, तथापि उन अपहृत कन्याओंके साथ विवाह करनेके लिए वे अपने अनुयायियोंको भी राजी नहीं कर सके। क्योंकि इस पुनर्विवाहके बारेमें तत्कालीन जनमत सर्वथा विरुद्ध था इसलिए उन्हें ही उन कन्याओंसे विवाह रचाना पडा।

इसप्रकार भगवान्ने समाजकी सुरक्षाका एक उपाय बताया। यह काम महापुरुष ही कर सकते हैं। मनुजीका कथन है –

> स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
> विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥
> (मनुस्मृति २।२४०)

स्त्रीरत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, सुभाषित और नाना तरह की शिल्पकला इन सबका ज्ञान मनुष्य कहींसे भी प्राप्त करे।

प्रथम तो प्रबन्ध ही ऐसा हो कि देशमें स्त्रियोंका अपहरण न हो सके। यदि भरपूर संरक्षणकी व्यवस्था के बावजूद भी गुण्डे शक्तिशाली होकर स्त्रियोंका अपहरण करने लगें, तो उन स्त्रियोंको छुडाकर लाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि वे अपहृत स्त्रियां भी अपने परिवारमें सम्मान-पूर्वक रह सकें। शारीरिक व्याधिके समान अपहरण भी एक राष्ट्रीय आपत्ति है।

अपहरणके इस दुष्ट कृत्यों पर एक ही रामबाण औषधि है और वह है अपने समाजको वीर और शूर बनाना।

जनमतकी परवाह न करते हुए सीताको अपने घरमें रखनेका साहस राम न कर सके। सीता अपवित्र नहीं थी। तथापि उसके प्रति प्रजाका मत निर्मल नहीं था और अन्तमें सीता-परित्यागकी दुर्घटना हो ही गई। पर कृष्णावतारमें इतनी स्त्रियोंके साथ शादी करने पर भी श्रीकृष्णके सामने जबान हिलानेका साहस किसीमें नहीं हुआ। शत्रुओंने उन पर भले ही कीचड उछाली हो, पर उनके अपने लोगोंने उन पर किसी तरहका कलंक नहीं लगाया। कृष्णावतारके

समयमें सब बुद्धिजीवियोंके विचारमें अपहृत स्त्रियोंकी समस्याको सुलझानेका यही एकमात्र उपाय था ।

रामकालमें सामुदायिक अपहरण नहीं होता था, ऐसा दीखता है। पर कृष्णावतारके समयमें सामुदायिक अपहरण होता था। भारतमें विदेशी असुर आकर कब्जा जमायें और यहांकी स्त्रियोंका अपहरण करके उन्हें भ्रष्ट करें, यह सभी बातें तत्कालीन समाजकी निर्बलताकी साक्षी देनेवाली हैं। श्रीकृष्णने ऐसे गुण्डोंका नाश किया और उन अपहृत कन्याओंको फिर समाजमें शामिल कर लिया। हिन्दुसमाज इन अवतारों पर श्रद्धा तो रखता है, पर इन अवतारोंके द्वारा दिए गए सन्देशोंको माननेके लिए तैय्यार नहीं होता, यही तो एक बड़ा भारी दुर्भाग्य है।

२८ गृहस्थाश्रमकी श्रेष्ठता

प्रवृत्ति-निवृत्तिका भ्रम

बुद्धोत्तरकालके बादसे प्रवृत्ति और निवृत्तिकी एक बड़ी भारी भ्रान्तिने हिन्दुसमाजको ग्रास बना रखा है। इस भ्रान्तिने आज सब पर अपना अधिकार जमा लिया है। इस कारण हिन्दुजातिके उद्धार कार्यमें आज बहुत विघ्न हो रहे हैं।

कोई कपड़ोंका उपयोग कम करता है और कम करते करते वह केवल लगोटी ही धारण करने लगता है। कोई कोई तो दिगम्बर ही हो जाता है। निवृत्तिकी कल्पनासे प्रेरित होकर मनुष्य कपड़ोंका जितना कम उपयोग करता है, उतना ही समाजमें उसका सम्मान बढ़ता जाता है। समाजमें सब कपड़ोंको पहननेकी अपेक्षा कम कपड़े पहननेवालेका, कम कपड़े पहननेवालेकी अपेक्षा लगोट पहननेवालेका और लंगोट पहननेवालेकी अपेक्षा दिगम्बर रहनेवालेका सम्मान ज्यादा होता है। ऐसा पुरुष ज्ञानी है या केवल ढोंगी ही है, यह कोई नहीं देखता। वह कपड़े कितनेप हनता है, इसीकी तरफ देखनेवालोंका ध्यान रहता है। वस्तुतः वस्त्रोंको पहननेसे या पहननेसे सन्तपनेका कोई सम्बन्ध नहीं है।

जगत्का त्याग असम्भव

कुछ लोग विरक्त होकर घर भी छोड देते हैं। पर वे यह नहीं समझते कि केवल वनमें जाकर इधर उधर भटकने मात्रसे संसारका त्याग नहीं हो जाता। जिस प्रकार नगरों और गांवोंमें जगह है, उसी तरह जंगलोंमें भी जगह है। इस शरीरके रहने तक संसारको छोड़ना असंभव है। इसलिए घर और बालबच्चोंको छोड़कर तो मनुष्य अपने कर्तव्य से ही भ्रष्ट होता है। कर्तव्य मनुष्यके पीछे सनातनकालसे लगा चला आ रहा है। अतः उसे छोड़कर उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। मनुष्यको चाहिए कि वह अपने कर्तव्य सावधानीसे करता चला जाए। पर आजके लोग उसको भूल गए और यह समझने लग गए कि उन कर्तव्योंको छोड़ देनेमें ही सन्तपन है। इसी कारण अनेकों वैरागी और उदासी भूमिके लिए भाररूप होकर भारतमें घूमते रहते हैं। पर भिक्षा मांगना और स्वेच्छापूर्वक घूमना सन्तपनका लक्षण नहीं है।

बुभुक्षाकी पीडा

मनुष्य चाहे घरमें रहे या जंगलमें, उसे भूख तो लगती ही है। वह भूख कभी छूटनेवाली नहीं है। अपनी भूखका निवारण गृहस्थी स्वयं करते हैं। पर—

"ये वैरागी और उदासी अपनी भूखके निवारणके लिए दूसरोंको पीसते हैं। अपनी भूखका निवारण मनुष्य दूसरेके परिश्रमके सहारे करे, यह एक बड़ी भारी दुर्बलता है। ऐसे दुर्बल वैरागी भारतमें एक करोड़ तो होंगे ही। इतनी बड़ी जनसंख्या जिस देशमें स्वयंके परिश्रमका सहारा लेकर भूखका निवारण नहीं कर सकती और पूर्णतया दूसरों पर अवलम्बित रहती है उस देशकी उन्नति कैसे हो, यह एक बड़ा भारी प्रश्न है। इस भारतमें ऐसे लोगोंका सम्मान भी अधिक ही होता है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। राष्ट्रीयताके भ्रान्तिकी यह एक चरम सीमा है।"

वैदिककालके ऋषियोंकी घोषणा थी—

नाहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।

"हे राजन्! मैं दूसरेके परिश्रम द्वारा सम्पादित अन्नोंका उपभोग न करूं।" स्वयंके परिश्रमसे अर्जित अन्नोंका ही उपभोग करूं। इन वैदिक सन्तोंकी तुलना आधुनिक सन्तोंके साथ करनेसे यह ज्ञान हो जाएगा कि कौन सन्त है और कौन भूभार।

घर और बालबच्चोंको त्यागकर भिक्षावृत्तिसे जीवन

गुजारनेका मतलब है संसारका परित्याग, इसप्रकारकी जो भ्रामक कल्पना है, वह एक राष्ट्रीय आपत्ति है। उपर्युक्त त्यागके साथ वस्त्रपरित्याग और समाजकार्यका परित्याग तो और भी अधिक राष्ट्रीय आपत्ति है। इस प्रकार भ्रामक कल्पनायें अभ्युदयके लिए सर्वथा विघातक हैं।

घर छोडना, कार्यका त्याग करना, सामाजिक कार्य न करना आदि बातें त्यागके रूपमें की जाती हैं, वह सच्चा त्याग नहीं है, वह सच्ची निवृत्ति नहीं है और वह सच्चा वैराग्य नहीं है। यह सब भ्रामक विचारसरणीका फल है।

अर्जुनकी गवाही

गीताकी शुरुआतमें ही अर्जुन कहता है कि– " मैं भिक्षा मांगकर उदर निर्वाह कर लूंगा, पर युद्ध करके राज्य प्राप्त करनेकी यह आफत मोल लेना मुझे पसन्द नहीं है। " पर अर्जुनके इस कथनका भगवान् कृष्णने प्रतिवाद किया और उसे युद्ध करके राज्य प्राप्त करनेके कार्यमें लगाया। क्योंकि मनुष्य आजीवन इस संसारका त्याग नहीं कर सकता, फिर भ्रान्त या पागल मनुष्यकी तरह जगपरित्यागकी भाषा बोलनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ?

वैदिकधर्ममें जगत्‌को क्षणभंगुर और दुःखदायी नहीं माना है। इसके विपरीत वह " सर्वं खलु इदं ब्रह्म " यह सारा संसार ब्रह्म है, इसी पक्षका समर्थक है। ब्रह्म सच्चिदानन्दमय है, इसलिए यह सारा विश्व ही सुख देनेवाला है। यदि यह जग ब्रह्म ही है, तो इसे त्यागनेका प्रश्न ही नहीं उठता। जो ईश्वरसे भिन्न हो, उसे छोडनेकी बात तो ठीक है, पर जो ईश्वररूप ही है, उसे क्यों और किसलिए छोडा जाए ? यह प्राचीन वैदिक विचारसरणी है। वैदिकधर्ममें विश्व छोडनेका विचार नहीं है उसमें तो विश्वमें आनन्दपूर्वक किसप्रकार रहा जा सकता है ? इसी बातका विचार है। वैदिकधर्ममें तो विश्वको त्यागनेकी भाषा भी नहीं है।

विश्वमें जन्म लेना ब्रह्ममें प्रकट होनेके समान ही सुखदायी है। यहां दीर्घजीवन प्राप्त करके आनन्दसे रहना है। मनुष्य विश्वकी सेवा करे और आनन्द प्राप्त करे। यहां दुःखका कोई कारण नहीं है। यदि हम कोई अपूर्व कल्पना करें तभी हमें दुःख होनेकी संभावना है, अन्यथा तो विश्व आनन्दमय है ही। इस आनन्दके महासागरमें दुःखके लिए अवकाश ही कहां है ? जगत्‌को दुःखमय तथा क्षणभंगुर माननेकी विचारसरणी संकीर्ण है, विचारोंकी इसी संकीर्णताके कारण हिन्दुओंका मन किसी भी विषयमें एक निश्चय नहीं कर पाता।

वैदिककालमें भी प्रवृत्ति और निवृत्तिके विचार अस्तित्व में थे। पर उस कालमें इन शब्दोंका भाव ही कुछ पृथक् था। वैदिककालमें इन शब्दोंसे कौनसा भाव अभिप्रेत था, यह अब देखेंगे।

उपनयनसंस्कार

आठवर्ष तक लडका ऐसी स्थितिमें होता है कि वह जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता है, जैसा चाहे वैसा खेल सकता है और उसके खेलोंको देखकर मांबाप उसकी प्रशंसा भी करते हैं।

पर यदि यही स्थिति उसके जीवनके अन्त तक रही, तो वह उसके जीवनका सत्यानाश कर देगी। इसलिए उसकी इस प्रवृत्तिको दूर करनेके लिए, बुरे मार्गसे हटानेके लिए तथा सन्मार्ग और सत्प्रवृत्तिमें प्रेरित करनेके लिए उस बालकका उपनयन किया जाता है। इसप्रकार उपनयनके द्वारा बटुको शुद्ध और उच्च साधनमार्ग प्राप्त होता है। स्वेच्छाचारी प्रवृत्तिका त्याग एवं संयमसे प्राप्त होनेवाली निवृत्तिके अवलम्बनका काम उपनयन से सिद्ध होता है। इसप्रकार उपनयनसे असत्प्रवृत्तिसे निवृत्ति होती है। उपनयन इसप्रकार वस्तुतः एक निवृत्ति मार्ग ही होती है। उसी समयसे खाने, पीने, आचरण करने, ओढने पहनने पर बंधन शुरु हो जाता है। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वैराचारकी तरफ ही होती है। इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको कम करने तथा श्रेष्ठ आचरणकी तरफ प्रवृत्त करनेका काम उपनयनका है। असत्प्रवृत्तिकी उन्नति संभव है। यही निवृत्ति वैदिकधर्ममें साध्य है।

विवाहसंस्कार

यह निवृत्तिका मार्ग उपनयनसे शुरु होकर विवाह संस्कार में भी अक्षुण्ण रहता है। विवाहके बाद पतिको चाहिए कि वह अपनी पत्नीसे ही सम्बन्ध करे और इतर स्त्रियोंको माता, बहिन और पुत्रीके समान माने। यह नियम भी मनुष्यको स्वेच्छाचारी प्रवृत्तिसे निवृत्त करनेके लिए ही है। गृहस्थाश्रम निवृत्तिमार्ग पर एक मंजिल है। स्वयंके भोग न बढाकर अतिथि अभ्यागतोंका सत्कार करना, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियोंका पालन पोषण करना, अन्यान्य सार्वजनिक उपयोगके साधन कुंवे तालाब आदि खुदवाना आदि कार्मोंमें स्वार्थभोगोंसे निवृत्ति और विश्वहितकी ओर प्रवृत्ति ही है।

मनुष्यमात्रमें भोग भोगनेकी प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। उस भोगकी प्रवृत्तिसे निवृत्त होना और विश्वका हित करना इस निवृत्तिका एक मुख्य उद्देश्य होता है। इसप्रकार गृहस्थाश्रम भी एक तरहसे निवृत्तिमार्ग ही है और यह निवृत्ति सर्वजनहिताय है। इस निवृत्तिसे विश्वरूप ईश्वरकी सेवा भी होती है। वैदिकधर्ममें आश्रम और वर्णकी व्यवस्था इस प्रकार सत्प्रवृत्ति उत्पन्न करके असत्प्रवृत्तिसे निवृत्त करती है।

पर आगे जाकर लोग इस वैदिकधर्मको ही प्रवृत्तिमार्ग और संसारसे दूर रहनेको ही निवृत्ति मार्ग मानने लगे। पर यह विचारधारा और मनुष्यसमाजकी अधोगति करने वाली होनेके कारण त्याज्य है।

वैदिकव्यवस्थामें संन्यासमार्गको आत्यन्तिक मार्ग कभी नहीं माना गया। कोई कोई ही संन्यास लेता था और वह भी केवल ब्राह्मणवर्णमें ही संन्यासग्रहण किया जाता था। पर वह भी विरले ही। वेदकालीन वसिष्ठ, वामदेव आदि ऋषि गृहस्थाश्रमी ही थे। याज्ञवल्क्य भी गृहस्थाश्रमी थे। कईयोंके तो एकसे अधिक स्त्रियां थीं। वैदिक देव भी स्त्रियोंको अपने साथ लेकर चलते थे। इन्द्रके साथ इन्द्राणी, वरुणके साथ वरुणानी, अग्निके साथ आग्नेयी आदि सभीको पत्नियां थीं। सायुध, सशक्तिक देवोंका आवाहन वैदिक ऋषि करते थे और स्वयं भी सायुध और सशक्तिक रहते थे।

वैदिक और पौराणिक देव प्रायः सपत्नीक ही थे। वैदिक ऋषि भी सांसारिक ही थे। इनमें बुद्धोत्तरकालके भिक्षुकोंके समान संसार त्यागनेवाला कोई नहीं था। पर उस समय भी असन्मार्गसे निवृत्ति और सन्मार्गकी तरफ प्रवृत्तिरूप प्रवृत्ति और निवृत्ति थी ही।

तथापि संसारका त्याग, पत्नी और बच्चोंका त्याग, राष्ट्रका त्याग, सार्वजनिक कार्यका त्याग अपने उत्तरदायित्वका त्याग आदि कुकल्पनायें उस समय अस्तित्वमें भी नहीं आई थीं।

उस समय तो उन लोगोंके सामने एक ही योजना थी कि पृथ्वीको स्वर्गधाम बनाकर यहां आनन्दसे रहें और मरणोत्तर भी सुख प्राप्त हो।

संसारमें दीर्घजीवन प्राप्त करने, रोग और अपमृत्यु दूर करने, वृद्धावस्था दूर करने, वार्धक्यमें भी तारुण्यको अक्षुण्ण बनायें रखने, जीवनमें सभी तरहके भयको दूर करने, खान पीनेके पदार्थोंकी कमीको दूर करने, शोक, दुःख और आपत्तियोंको दूर कर के जीवनको सुखपूर्वक व्यतीत करनेकी व्यवस्थाका ध्येय ऋषियोंने समाजके आगे प्रस्तुत किया था।

विनाशका विचार

जो ध्येय हिन्दुजातिके आगे था, उसे बौद्धोंने नष्ट कर दिया, यतिधर्मकी वृद्धि की। ससारको छोडो, संसारमें सभी कुछ असार है, अशाश्वत है, दुःखदायी है, अतः उनका त्याग करो, जीव अकेला ही जन्मता और मरता है, यहां कोई किसीका नहीं है, स्त्री नहीं चाहिए, बच्चे नहीं चाहिए, घर नहीं चाहिए, राज्य नहीं चाहिए, भीख मांगना अच्छा है, उससे जो भी मिले उसीमें सन्तुष्ट रह लेना चाहिए, जग एक कारागृह है, शरीर एक पिंजरा है, इससे मुक्त होना चाहिए। पर संसारमें रहते हुए यह नहीं छूट सकता इसलिए संसारका त्याग करना चाहिए। इसप्रकारके विघातक उपदेश आज हजारों वर्षोंसे हिन्दुओंके मनोंको विकृत करते चले आ रहे हैं।

बुद्धने इस विचारको उत्पन्न किया और अशोकने अपने राज्यके द्वारा उसे बढाया और साधुसन्तोंने उसे विस्तृत किया। इसकारण संसारकी तरफ तुच्छताकी दृष्टिसे देखने की प्रवृत्ति हिन्दुसमाजमें सर्वत्र दिखाई देती है। यह सुप्त और गुप्त प्रवृत्ति ही हिन्दुओंके न्हासका कारण है और जबतक यह प्रवृत्ति रहेगी, तबतक सामूहिकरूपसे हिन्दूजाति का उत्थान होना कठिन है।

मायावाद

बौद्धोंके दुःखवाद एवं अनास्तिकताका खण्डन करनेके लिए आचार्य शंकरने " ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या " का सर्वत्र प्रचार किया। बौद्धोंके खण्डनकी सीमातक तो शंकरका वाद मान्य हो सकता है, पर उनके मायावाद और जगन्मिथ्यावादने हिन्दुओंके जीवनपर जो अनिष्टकारी परिणाम किए, वह सीमातीत हो जानेके कारण अमान्य ही होंगे। हिन्दुओंने सोचा कि जब सारा जग ही मिथ्या है तो विदेशी भी मिथ्या ही हैं, उनका भारतपर साम्राज्य भी मिथ्या है।

ऐसी अवस्थामें इस मिथ्यासाम्राज्यके प्रतिकारकी आवश्यकता ही क्या है ? इतिहास साक्षी है, कि इस भारतमें असुर, राक्षस, हूण आदि अनेकों बर्बर जातियां आईं, पर उनका सफल प्रतिकार भारतीयोंकी ओरसे नहीं

हुआ। क्योंकि उन्होंने सोचा कि यह जगत् तो नश्वर है, फिर इस नश्वर जगत्पर कोई भी आकर अधिकार कर ले, उससे हमारा क्या बिगडता है। " कोऊ नृप होय हमें का हानि " के विचारने इस वीर जातिको नपुंसक बना दिया। बुद्धके बाद तो यह जाति निर्वाणप्राप्तिके पीछे पडकर अपना इहलोक और परलोक दोनों बिगाड बैठी। हिन्दू तो धोबीके जानवर बनकर रह गये जो न घरके रहे न घाटके। पर आज भी हिन्दु इसी भ्रमवादमें जकडे हुए हैं, वे स्वयंको आज भी नहीं जान पा रहे, यही तो एक महान् दुर्भाग्य है।

ø ø ø

२९ समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एक आर्यराट्

पिछले लेखमें हमने हिन्दुजातिकी जो अवस्था देखी वह गत हजार दो हजार सालोंसे है। बीच बीचमें कोई लोकोत्तर महापुरुष इस जातिमें उत्पन्न होता है और वह समाजकी उन्नतिकी योजना इस जातिके सामने प्रस्तुत करता है। उसके स्फुरणसे यह जाति थोडी अंगडाई लेकर हलचल करती है, पर जब संसारत्यागका नशा इसपर फिर सवार हो जाता है तो वह फिर करवट बदलकर खर्राटे भरने लगती है। निराशावादकी जडें इस जातिमें बहुत गहराईतक जाकर जम चुकी हैं अतः जबतक अन्तरमें वे जडें हरीभरी रहेंगी, तबतक यही अवस्था बरकरार रहेगी।

आजके हिन्दुसमाजमें न्यूनतम वस्त्रोंका उपयोग एक सम्मानात्मक चिन्ह है। इसके बावजूद भी यह कोई नहीं कहेगा कि देहको भस्मसे रंगनेसे आध्यात्मिक बल बढ जाता है और वस्त्रोंके उपयोगसे आध्यात्मिक बल कम हो जाता है। आध्यात्मिक शक्तिकी वृद्धिका इस ढोंगसे कोई सम्बन्ध नहीं। तथापि आधुनिक कालमें ये ढोंग महात्मापनके चिन्ह बन गये हैं। इससे नास्तिकताका प्रचार अवश्य हो गया और यही नास्तिकता कापालिक आदि अनेक पन्थोंके निर्माणका कारण बनी। उनमेंसे कितनोंने तो अघोरीपंथके भयंकर मार्गको भी स्वीकार कर लिया। आजके विभिन्न पंथ उन्हीं पंथके अवशेष हैं इसलिए उनका उच्छेद यथाशीघ्र होना चाहिए।

राष्ट्रमें एक करोड मनुष्योंको इसप्रकार भस्म लगाकर निष्क्रियताके जीवनको व्यतीत करने देना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। यह निश्चित है कि जबतक ऐसे लोगोंका समूह समाजमें रहेगा, तबतक वैदिकधर्मकी तेजस्वी ज्योति भारतमें प्रज्वलित नहीं होगी और सामुदायिक अभ्युत्थान भी सितारोंके आगेकी चीज ही रह जायेगी।

जगद्मिथ्यावादको समाजमें पनपने देना ही समाजके विनाशका कारण है। इस विनाशके कारणको एक तरफ पनपने दें और दूसरी तरफ समाजकी उन्नति भी करनेकी कोशिश करते रहें, यह बात नामुमकिन है, क्योंकि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं प्रकाश और अन्धकारकी तरह— समाजमें जबतक जगद्दुःखवाद, क्षणभंगुरवाद और मायावाद को माननेवालेका सम्मान होता रहेगा, तबतक राष्ट्रका सामूहिक अभ्युत्थान असंभव है।

वस्त्रत्यागकी पद्धतिके कारण होनेवाला स्थूलतम परिणाम है जुलाहोंकी दुरवस्था। त्यागीजनोंकी यह त्यागरूपी आपत्ति सबसे पहले तो इन्हीं गरीब जुलाहों पर फट पडेगी। इसके विपरीत वैदिककालमें सुन्दर सुन्दर वस्त्रोंका परिधान सम्मानका परिचायक था। इसकारण वैदिककालमें ६४ कलायें अपनी उन्नतिके शिखरपर थीं। उन कलाओंके कारण कारीगर भी खुशहाल थे। पर वस्त्रत्यागवादने आकर इन सबके धन्धोंपर कुल्हाडी मार दी। उसके कारण जुलाहे, कातनेवाले आदियोंके धन्धे बैठ गये। इसके विपरीत वैदिककालमें—

युवाः सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः

(जो युवक उत्तम वस्त्रोंमें लिपटकर सभामें आता है, वही सम्मान्य होता है) ऐसा माना जाता था। आज भी हिन्दुसमाजमें " सुवासिनी " (सौभाग्यवती) स्त्रियोंकी पूजा होती है। यह वैदिकपद्धति है। स्त्रियां रंगबिरंगे कपडे पहनें, अपने सौन्दर्यकी वृद्धि करें। वेदोंने स्त्रियोंके सम्मुख " उषा " का आदर्श रखा है। प्रातःकाल उषा प्रतिक्षण नवीन नवीन वेष (वस्त्र) बदलती रहती है। वह आकर्षक बननेका प्रयत्न करती रहती है। यह वैदिकस्त्रियोंका आदर्श है।

पुरुषोंके लिए आदर्श सूर्य है। सूर्य उत्तम रेशमी और चमकीले वस्त्र पहनकर आता है और अन्धकारको दूरकरके प्रकाशको फैलाता है। तरुण मनुष्य सूर्यके समान सुन्दर हो

और तरुणी उषाके समान आकर्षक और नटनेवाली हो। यह आदर्श बुद्धने ताकपर उठाकर धर दिया और सभी स्त्रीपुरुषोंका सिर मूंडकर उन्हें कुरूप बना दिया और ऊपरसे यह उपदेश दिया कि संसारका त्याग कर दो। तरुण तरुणियोंसे अशोभित वस्त्र धारण करवाये और कहा कि यही तुम्हारा आदर्श है।

उन्होंने लोगोंके सामने यह भावा प्रस्तुत की कि कपडे नहीं चाहिए, यथाशक्य कपडे न्यूनतम हों, वे भी जैसे भी हों, वैसे ही ठीक है, शोभाकी आवश्यकता नहीं, सौन्दर्यकी आवश्यकता नहीं। इस असार संसारमें इस शरीररूपी प्रेत की सजावट करनेकी क्या जरूरत है?

इसके विपरीत वैदिककालमें इस देहको " सप्तऋषि-का आश्रम " कहते थे। " सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे " (वा. यजु.) । इस शरीरको तैंतीस देवोंका पवित्र मन्दिर मानते थे। कितनी उदात्त कल्पना है!! उसी देहको भिक्षुक आगे चलकर अपवित्र पदार्थ मानने लगे। भला अपवित्र पदार्थकी सजावट कौन करेगा? हां, देवमन्दिरकी तो सजावट को भी जा सकती है। मानवी व्यवहारपर सिद्धान्तोंका इतना अधिक परिणाम होता है।

संसार, घर, पशु, रथ, राज्य, वस्त्र, अलंकार आदि कुछ भी नहीं चाहिए, इस सिद्धान्तने एक एक व्यवसायका भट्टा बैठा दिया। इससे राज, बढई, लोहार सभी मारे गए। अन्ततः राष्ट्रकी आर्थिक व्यवस्था भी डुलमुल हो गई। पर यह देशका सौभाग्य रहा कि इस निवृत्तिमार्गका इतना प्रचार होने पर भी देशकी सारी जनता इसमें नहीं जा फंसी, नहीं तो इस देशमें आज एक भी शिल्पी न मिलता। पर दीर्घकालसे इसप्रकारके निस्सार और राष्ट्रविघातक निवृत्तिका उपदेश होनेके कारण इस देशमें शिल्पशास्त्रकी जितनी उन्नति होनी चाहिए थी, उतनी नहीं हो पाई।

न जाने कितने हिन्दु सम्राट् हुए, कितने मुगल बादशाह हुए, उन सबने शिल्पशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्रको बढावा दिया। यदि सभी प्रजा इस निवृत्तिमार्गके झमेलेमें जा फंसती, तो इस देशमें कला अदृश्य हो जाती।

वैदिककालमें देवता ' सौन्दर्यवर्धक " (सुरूपकृत्नु) थे। वे (पेशः अपेशसे) सौन्दर्यहीन व्यक्तिको सौन्दर्य प्रदान करते थे। उनके इस कार्यके कारण शिल्पियोंको प्रेरणा मिलती थी।

वेदोंमें हम देखते ही हैं कि बढई, लोहार, ठठेरा, रथकार, कुम्हार, आदि सभी जातियोंको प्रणाम किया गया है। परमेश्वरकी कुशलता ही इन कारीगरोंमें कौशल्यके रूपमें अवतरित हुई है। इसलिए ये कारीगर ईश्वरीयगुणोंको धारण करने-वाले हैं। इसलिए वेदोंमें इन्हें वन्दनीय बताया गया है।

वैदिककालीन समाजमें इन कारीगरोंका स्थान अत्यन्त सम्मानपूर्ण था। समाजमें शिल्पियोंको उच्च और सम्मान-का स्थान होना उस समाजकी उच्चताका निदर्शक है।

पर जबसे समाजमें निवृत्तिकी कल्पना बढने लगी, तबसे इन शिल्पियोंका सम्मान भी घट गया। वेदोंमें शिल्पि-योंकी जो प्रतिष्ठा है, वह पुराणकालमें नहीं दीखती, क्योंकि अधिकतर पुराण बुद्धोत्तरकालके हे।

वैदिककालमें स्त्रियोंका मान पुरुषोंके समान था। पत्नीके अभावमें पुरुषको यज्ञ करनेका अधिकार नहीं था। इसप्रकार वैदिककालमें स्त्री उषाके समान नित नवीन रूप धारण करके पुरुषोंके साथ घूमनेवाली थी, पर पुराणकाल-में स्त्रीका रूप बदल गया। पुराणकालमें वे वेदाध्ययनके अधिकारसे वंचित कर दी गईं। वेदोंमें वैदिकसूक्तोंका गान करनेवाली स्त्रियां हम देखते ही हे। पर उन्हीं मन्त्रोंको गानेके लिए स्त्रियां अनधिकारिणी ठहरा दी गईं। इस कारण जो स्त्री वैदिककालमें पूज्य थीं, वे ही पुराणकालमें अधमसे भी अधम मानी जाने लगीं।

इसके कारण पता लगानेके लिए बहुत गहराई तक जानेकी जरूरत नहीं है। संसार त्याज्य हो गया, वह असार माना जाने लगा, गृहत्याग ही ध्येय हो गया, फिर संसारमें जन्म देनेवाली स्त्री महापापिनी समझी जाने लगी। संसारको असार बतानेवाले बुद्धभगवान्ने स्वयं स्त्री, पुत्र और राज्यका त्याग किया। सभी जैनी तीर्थंकर भी अकेले ही थे। यतिधर्मको आदर्श माननेके बाद स्त्रीको कौन पूछेगा ऐसी हालतमें स्त्रीका मान वैदिककालके समान कैसे रहेगा?

यतिधर्म वास्तविक धर्म नहीं है, वह तो वस्तुतः विश्वका उच्छेदक एक सम्प्रदाय है यह अस्वाभाविक है। इसीकारण जब बुद्धने स्वयं बौद्धविहारोंको व्यभिचारका स्थान बनते देखा तो उन्हें पश्चात्ताप करना पडा। पुरुष या स्त्री २२ या २५ वर्षतक व्रतस्थ रहकर ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है,

और वह आवश्यक भी है। पर यदि कोई स्त्री या पुरुषको आजन्म यतिधर्मपालनकी तरफ प्रेरित करना चाहे, तो यह असंभव है। इसके कारण शरीरपर भी अनिष्ट परिणाम होंगे। इसलिए वेदने मानवी आयुके २५-२५ वर्षके चार विभाग किए हैं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। जो वानप्रस्थ और संन्यासका पालन नहीं कर सकते, उनके लिए जीवनभर गृहस्थाश्रममें रहनेका ही विधान है, जो ठीक भी है।

शरीरका जो स्वभाव है शरीरकी जो मांग है, उसे नजरन्दाज करके जो नियम बनाये जाते हैं, वे किसीके लिए भी सहायक नहीं हो सकते। वैदिकधर्मकी आश्रमव्यवस्था एवं उनके नियम पर नजर डालें तो स्पष्ट हो जाएगा कि उन नियमोंसे किसीका अकल्याण नहीं होगा।

वैदिकसंस्कृतिमें सौन्दर्यका भान है, कलाकी उपासना है, मर्यादित भोग भोगनेकी आज्ञा है, व्यक्तिकी उन्नति होनेके लिए अवसर है, समाजका संगठन होकर राष्ट्रके बलको बढानेकी पूरी योजना है, सब स्त्रीपुरुषोंको जबर्दस्ती यतिधर्म पालन करनेकी अशक्य आज्ञा इस संस्कृतिमें नहीं है। इसके विपरीत गृहस्थधर्मकी ही प्रशंसा है। यतिधर्मकी प्रशंसा नहीं है।

वैदिककालमें असत्यपसे निवृत्ति और हीन संस्कारोंका निर्माण करनेवाले कार्योंसे विरक्ति आवश्यक समझी जाती थी। आज इन शब्दोंका जितना उपयोग किया जाता है अथवा आधुनिक ग्रंथोंमें इनका जितना आदर किया जाता है, उतना वेदोंमें नहीं था। " विरक्त, वैराग्य और निवृत्ति " ये शब्द ही वैदिकवाङ्मयमें नहीं हैं। बुद्धोत्तरकालके वाङ्मयोंमें इन शब्दोंको बढा चढाकर लिखा गया है। जबसे इन शब्दोंका प्रयोग शुरु हुआ है तबसे राजनीतिके क्षेत्रमें हिन्दुओं का पराभव ही हुआ है।

जगत्यागकी भाषा जबसे शुरु हुई, तभीसे राजनीतिके क्षेत्रमेंसे हिन्दु अदृश्य हो गया। वैदिककालमें तो " साम्राज्य स्वराज्य और महाराज्य " की घोषणा थी, " समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट् " का उद्देश्य था। पर आधुनिक त्यागवादने राष्ट्र और संसारका विध्वंस कर डाला।

आज हमें फिर स्वराज्य महाराज्य और समुद्रपर्यन्त पृथ्वी तक एक आर्यराजा प्रस्थापित करनेकी आवश्यकता है। उसका उपाय हम अगले लेखमें देखेंगे।

● ● ●

३० विराट् पुरुषके दर्शन

विश्वकी तरफ देखनेकी दृष्टि

विश्वकी तरफ देखनेकी प्राचीन आर्योंकी जो नजर थी, वह आज नहीं रही। इसकारण प्राचीन और अर्वाचीन भारतीयोंके जीवनमें बहुत फरक पड गया है। यह फरक इतना क्षुद्र नहीं है कि इसकी उपेक्षा कर दी जाए। इसलिए अपनी संस्कृतिका विचार करते समय इसका भी विचार आवश्यक है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(वा. यजु. ४०)

इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥ (ऋग्वेद)

" जब मनुष्य यह जान जाता है कि सब प्राणियोंकी आत्मा एक है तब उस एकत्वका अनुभव करनेवालेको मोह अथवा शोक नहीं होता। "

" इन्द्र अपनी शक्तिसे अनेकरूप धारण करता है। " इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट दीखता है कि वैदिककालमें परमेश्वर का व्यक्तरूप विश्व माना जाता था। उपनिषद्में भी कहा है कि—

सर्वं खलु इदं ब्रह्म। (छां उ.)
आत्मैवेदं सर्वम्। (मां. उ)

" सचमुच यह सब ब्रह्म है "। " यह सब आत्मा है। " ब्रह्मका अर्थ है महाशक्ति और आत्माका अर्थ है सबकी प्रेरक शक्ति। वही शक्ति इस विश्वके रूपमें हमारे सामने खडी हुई है। यह उपनिषदोंकी विचारसरणी है।

इसपरसे सिद्ध यह होता है कि यह विश्व सच्चिदानन्दरूप परमेश्वरका व्यक्तरूप होनेसे स्वयं भी सच्चिदानन्दरूप है।

गीतामें भी ' वासुदेवः सर्वं ' (गी. ७।१९) कहकर इस सब विश्वको वासुदेवका रूप बताया है। गीताके ११ वें अध्यायमें " विश्वरूप दर्शन " बताया है। इस दर्शनमें यह विश्व ईश्वरका रूप किस तरह है यह बताया गया है। इस प्रकार यह विश्वरूप विचारधारा वेदोंसे लेकर गीता तक सतत प्रवाहित होता आ रहा है।

विश्वरूपके सिद्धान्तको माननेवाला मनुष्य यही समझता था कि उसके ऊपरनीचे दांयेबायें अन्दर बाहर अर्थात् सर्वत्र ही प्रत्यक्ष ईश्वर विद्यमान है। विश्वकी ओर देखनेकी यह

आर्योंकी दृष्टि थी। उस कालमें विश्वको पवित्र मानकर उसकी सेवा करनेमें ही आनन्द प्राप्त करनेका तरीका बताया जाता था।

विचार मनुष्योंका निर्माता है। जैसे मनुष्यके विचार होंग वैसा ही वह बनेगा। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः' मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण बनता है इसलिए व्यक्ति और राष्ट्र विषयक विचार ऐसे हों कि जिससे व्यक्ति और राष्ट्रका निर्माण हो।

मनुष्य विचारोंका प्रतिबिम्ब होता है। इसलिए यदि किसी मनुष्यका विनाश करना हो तो उसके मनमें ऐसे विचार भर देने चाहिए कि 'तू अधम है, पापी है, तुझसे कुछ नहीं हो सकता, तू दास बनकर ही जन्मा है, तू गुलाम ही सदा रहेगा और गुलामके रूपमें ही मरेगा।' ऐसे निरुत्साही विचार जिसके मनमें भर दिए जाएंगे, वह कभी भी ऊपर नहीं उठ सकता। इसी तरह राष्ट्रमें भी यदि निरुत्साही विचार भर दिए जायें तो वह राष्ट्र अवश्य अवनत हो जाएगा।

इसके विपरीत "तू सामर्थ्यशाली है, तू यदि प्रयत्न करेगा तो निश्चयसे अपनी उन्नति कर सकेगा, तेरे अन्दर बडी भारी शक्ति है, उस शक्तिका विकास तेरी ही शक्तिसे होगा, तू भयभीत मत हो क्योंकि तू सामर्थ्यका केन्द्र है आदि उत्साही विचार मनुष्यके अन्तःकरणमें भर दिए जाएं तो मनुष्य प्रयत्न करेगा और यश भी प्राप्त करेगा। विचार इतने सामर्थ्यशाली होते हैं। यह रहस्य प्राचीन ऋषि जान गए थे। इसीलिए वे—

अहं इन्द्रो न पराजिग्ये। (ऋग्वेद)

"मै इन्द्र हूं, मेरा पराभव नहीं होगा" इस मंत्रका जप करनेके लिए कहते थे। पर आज लोग—

पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः।

इस तरहका अभद्र मंत्र जपते हैं। पापके दुःखभोगोंको भोगनेके लिए ही यह मनुष्य जन्मा है, ऐसा वे मानते हैं। जन्मको पापमूलक मानना हीनविचारोंकी चरमसीमा है। ऐसे हीनविचारवालोंकी कल्पना ही यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति पापोंका फल भोगनेके लिए है। ईसाईयोंने इस विचारको अपने धर्मका सहारा बनाकर लोगोंको उपदेश देना शुरू किया कि इन पापियोंका उद्धार करनेके लिए ही परमेश्वरने अपना पुत्र धरती पर भेजा है।

"अहं ब्रह्मास्मि" "मै महान् सामर्थ्यशाली हूँ, मै शक्तिका केन्द्र हूँ" माननेवाले ऋषियोंकी सन्तति "मै पापी हूँ" इस तरह माननेवाली हो गई यह आर्यजातिका दुर्भाग्य नहीं तो क्या है ?

ये जो अपवित्र और अनार्य विचार समाजमें घुस गए हैं, उन्हें यथाशीघ्र दूर करके प्राचीन आर्यविचारोंको अपने राष्ट्रमें फैलाना चाहिए।

ईश्वरका रूप होनेके कारण यह विश्व साधकके लिए संसेव्य है। विश्वरूपमें बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय प्रयत्न करना साधकका कर्तव्य है। इसकारण साधक न किसीसे द्वेष करता है और न किसीका तिरस्कार ही करता है। सबके प्रति प्रेम और आदर रखता है और प्रजाका हित करनेके लिए वह प्रयत्न करता है। इसकारण उसके आचरणमें गलती नहीं होती। क्योंकि जिस एक तत्त्वको जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जाता है, उसे वह जान लेता है। उसे एकबार यदि वह समझ ले तो उसे वह भूल नहीं सकता। ऐसा यह ज्ञान है। इसका वर्णन वेद और उपनिषदोंमें सर्वत्र है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥२॥
(ऋ. १०।९०)

इस विश्वरूपी ईश्वरका मुख ज्ञानी, बाहु शूरवीर, पेट और जांघ व्यापारी और कृषि करनेवाले और कर्मचारी पैर है। इस विश्वरूप देवके हजारों सिर, हजारों हाथ और हजारों पैर हैं और यह विश्वरूप देव सब भूमि पर फैला हुआ है।

इस वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्र उसके शरीरके अवयव है। सभी मनुष्य उस ईश्वरके शरीरके अवयव होनेके कारण सभी मानव उसके लिए समानरूपसे पूज्य हैं। इसी विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन विष्णु सहस्रनाममें इसप्रकार आया है।

सहस्रमूर्धा सहस्राक्षः सहस्रपात्
विश्वमूर्तिः अनेकमूर्तिः।

ये नाम उपर्युक्त वेदमंत्रोंके भाव ही व्यक्त करते हैं। गीतामें इसे विश्वरूप कहा है।

अर्जुनको भगवान्ने जो विश्वरूप दिखलाया, वह सब विश्वका रूप दिखाया और उसे समझाया कि यह एक परमेश्वरका रूप है। इस विश्वमें हमें अनेक और परस्पर विभिन्न अनन्त पदार्थ दिखाई देते हैं। मनुष्योंमें भी देश-भेदसे विभिन्न मानव दिखाई देते हैं। पर अज्ञानियोंको यह भिन्न भिन्न दिखाई देनेके कारण उनमें स्पर्धा उत्पन्न होती है और युद्ध होते हैं यह आज हम देख ही रहे हैं। प्रत्येक राष्ट्र पृथक् पृथक् और उनके हित अहित भी पृथक् पृथक् है, ऐसा समझनेके कारण ही युद्ध बढ रहे हैं और जबतक यह गैरसमझ रहेगी तबतक यह युद्ध होते ही रहेंगे।

संसारके राष्ट्रमें बडे बडे राष्ट्रनेता इन युद्धोंको कम करनेका प्रयत्न करते हैं, पर उनके प्रयत्नके बावजूद भी युद्धकी विभीषिका उत्तरोत्तर बढती जा रही है। इसका कारण सिर्फ इतना ही है कि उन्हें सब विश्वमें आध्यात्मिक एकताकी कल्पना नहीं है। वे लोग यही समझते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र पृथक् पृथक् है। इसी पृथक्त्ववादमें युद्धका बीज बोया हुआ है। उस युद्धबीजको यदि नष्ट करना हो तो सम्पूर्ण विश्वात्माका एकत्व और अखण्डत्व पूर्णतया समझ लेना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके सामने सिनेमाके समान विश्वरूप नहीं दिखाया, अपितु उसे यह समझा दिया कि इस विश्वके विभिन्न पदार्थोंमें एक अखण्ड विश्वात्मा ओत-प्रोत भरी हुई है और वह सब पदार्थ उसी विश्वात्माके विभिन्न रूप हैं।

यहां एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि विश्वरूप दर्शनसे सम्पूर्ण विश्वकी एकात्मता अर्जुन समझ गया फिर भी महाभारतका युद्ध तो होकर ही रहा। वह विश्वरूपदर्शन से भी नहीं टाला जा सका। ऐसा क्यों हुआ ?

इस शंकाका उत्तर यह है कि शरीरमें यदि फोडा हो जाए तो उसे काटना ही पडता है। शरीर भले ही अपना हो फिर भी उसे काटना ही पडता है। फोडा शरीर पर हुआ है और यह शरीर मेरा है, यह सोचकर कोई अपने शरीर पर फोडा रखे नहीं रहता।

इसीप्रकार विश्वरूपी या समाजरूपी शरीरपर जब अत्याचारी मनुष्य अत्याचार करने लगते हैं, तब उस शरीरका वह भाग काटकर अलग कर ही देना पडता है। एक प्राणीके शरीरपरके फोडेको काटकर जैसे शरीर को स्वस्थ किया जाता है, उसीप्रकार समाजरूपी शरीरके सडे हुए भागको भी काटकर अलग कर देनेसे समाजका शरीर स्वस्थ होकर समाज सुखी हो जाता है। इस दृष्टिसे युद्ध कभी कभी अनिवार्य भी हो जाता है।

जिस तरह भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूपदर्शन समझाया उसी तरह यदि कोई कौरवोंको भी यह ज्ञान दे देता तो उनकी अत्याचारकी प्रवृत्ति दूर हो जाती, लिहाजा महाभारतका युद्ध भी टल जाता।

वेद और उपनिषदोंका यह तत्त्वज्ञान यदि यूरोप अमेरिका आदि देशोंको भी दिया जाए तो उससे राष्ट्रीय पाप और अत्याचार न्यूनतम हो जायेंगे और उनके कारण होनेवाले युद्ध भी कम हो जाएगे, विश्वमें सर्वत्र सुख और शान्तिका साम्राज्य हो जाएगा।

३१ निर्द्वन्द्वका आधार

एक विश्वव्यापक जीवन

पिछले लेखमें हमने विश्वरूपके दर्शनका ज्ञान प्राप्त किया और यह भी जान लिया कि मानव, पशुपक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि तथा अन्य स्थावर जगत् उसी विश्वरूपके अंग है। विश्वरूपको एक जीवन मानना ही वैदिकधर्मका तत्त्व है।

नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

" इस विश्वमें एक जीवन है, यहां नाना पदार्थ नहीं है। जो यहां नानात्व देखता है उसे अनेक दुःख भोगने पडते हैं।"

यह सब मिलकर एक जीवन है। एक ही तत्त्वके विभिन्न-रूप हैं। यहां नानात्व है ही नहीं। यह अखण्डत्व जब समझमें आजाएगा, तब वैदिकधर्मका स्वरूप भी स्पष्ट हो जाएगा।

इस स्थान पर हमने " ईश्वर, आत्मा, परमेश्वर, परमात्मा " आदि शब्दोंका प्रयोग किया है, पर ये शब्द उतने योग्य नहीं हैं। " सत् तत्त्व ॐ " यह शब्द ऋषियोंको ज्यादा प्रिय था। इस शब्दके बाद ऋषियोंने

"ब्रह्म आत्मा " इन शब्दोंका उपयोग किया है। "तत्त्व " का अर्थ है " एक मूलतत्त्व " और " ॐ " का अर्थ है तीनों कालोंमें समानरूपसे रहनेवाला एक सत्यतत्त्व। " ब्रह्म " कहते हैं महान् सामर्थ्यशाली तत्त्वको और आत्मा नाम है सतत गति करनेवाले तत्त्वका। ये नाम ऋषियोंको प्रिय थे। जिससे विश्व उत्पन्न हुआ उस एक तत्त्वके ये विभिन्न नाम हैं।

इन सब शब्दोंका अर्थ यही हुआ कि " सामर्थ्यशाली एक तत्त्व है। इसी सत्तत्त्वसे सब विश्व बना है। यहां उस तत्त्वके अलावा और कुछ नहीं है। "

भयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ श्वे. उ. ॥

" परमात्मा–जीवन–प्रकृति ये तीन तत्त्व जहां मिलते हैं, वह तत्त्व ब्रह्म है। " अर्थात् इस सृष्टिके मूलमें जो तत्त्व है उसमें ' ईशभाव, जीवभाव और जडभाव " ये तीनों भाव है। इन तीनों भावोंका एकीकरण जहां होता है वह ब्रह्म है और वही ब्रह्म स विश्वका मूल है। इसप्रकार यह ब्रह्म ही विश्वरूपमें व्यक्त हुआ है।

इसीका नाम विश्व है। यह एक जीवन है। इसमें नाना जीवन नहीं हैं। हम संसारमें शिक्षक-शिष्य, राजा-प्रजा, अधिकारी–मातहत, धनी–निर्धन, ज्ञानी–अज्ञानी, मालिक-मजदूर ऐसे अनेकों विभिन्न वर्ग देखते हैं। इन वर्गोंमें हमेशा संघर्ष चलता रहता है। इन संघर्षोंका मूल कारण है द्वन्द्वकी भावना। इस द्वन्द्वकी भावनामें अखण्ड जीवन अदृश्य हो जाता है। पर जब अखण्ड जीवनका ज्ञान हो जाएगा तब उनका व्यवहार भी ज्ञानके समान हो जाएगा। उससे जीवनमें एक अद्भुत सामंजस्य उत्पन्न होगा और उस दिव्यजीवनसे मनुष्यको अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा।

द्वन्द्व और निर्द्वन्द्व

इस विश्वमें सर्वत्र द्वन्द्वोंके ही दर्शन होते हैं। शीत-उष्ण, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र आदि अनेकों तरहके द्वन्द्व हैं। इसके कारण मनुष्यको सुखदु:ख होते हैं। इस द्वन्द्वकी स्थितिको दूर कर दिया जाए और निर्द्वन्द्व भावको स्थिर किया जा सका तो मनुष्य शाश्वत आनन्द प्राप्त कर सकता है। इसका विचार प्रायः सभी मनीषियोंने किया और उन्होंने यह निश्चित किया कि द्वन्द्वकी स्थिति वस्तुतः एक ही जीवनके दो पक्ष हैं। जीवन एक है पर उसके पहलू दो हैं। ये दोनों पहलू पृथक् पृथक् नहीं हैं।

मनुष्य जब शीतोष्ण सहन करनेमें समर्थ हो जाता है तब उसे ठण्ड लगे तब भी दुःख नहीं होता या गर्मी लगे तब भी उसे कोई दुःख नहीं होता।

पर यह सहनशक्ति कहां तक बढाई जा सकती है, यही एक प्रश्न है। इसी तरह शत्रु–मित्र भी द्वन्द्व हैं। यदि हमारे पास स्वसंरक्षणके साधन भरपूर हों और उन्हें हम उचित रीतिसे उपयोगमें ला सकें तो हमें शत्रुओंका कोई भय नहीं रहेगा। इसके विपरीत वे शत्रु भी हमारे मित्र बन जायेंगे। पर यह हमारी शक्ति पर अवलम्बित है।

पृथकत्वताका अनुभव

पर आजकी विचारधारा पृथकत्वावादकी है। आजके सभी राष्ट्र, सभी व्यक्ति स्वयंको पृथक् पृथक् मान रहे हैं। पर उपनिषद्का वचन है।

यः इह नानेव पश्यति मृत्योः स मृत्युमाप्नोति ॥

जो इस संसारमें नानात्व देखता है, वह एक दुःखसे छूट कर दूसरे दुःखमें जा पडता है। आज राष्ट्रोंमें जो परस्पर युद्धकी बिभीषिका बढती जा रही है, इसके साथ ही शस्त्रास्त्रोंकी वृद्धि होती जा रही है, उससे युद्ध रुकनेके कोई आसार नजर नहीं आ रहे।

इस पर ऋषियोंने एक उपाय बताया कि यह विश्वरूप अखण्ड है, यह एक जीवन है। वैदिक ऋषियोंने भारतमें " वसुधैव कुटुंबकम् " की भावना प्रसारित की। पर इतनी परिपुष्ट नहीं हुई कि वह बढ सके। वह तो वहीं रुक गई और वैयक्तिक भाव बढने लगे। " वसुधैव कुटुंबकम् " की कल्पनामें आदेश यह है कि संसारके सभी लोगोंके साथ एक परिवारके सदस्योंकी तरह व्यवहार किया जाए। यह " वसुधैव कुटुंबकम् " की भावना पारस्परिक विद्वेषको कमी करनेके लिए ही है। पर इसमें भी कितने ही द्वेषके भावोंका दर्शन करते हैं। उनका कहना है कि परिवारमें भी तो भाई भाई आपसमें झगडते हैं, इसलिए सारी पृथ्वीको भी हम यदि एक कुटुम्ब मान लें तो भी तो इससे युद्धकी संभावना कम होनेवाली नहीं है। इसलिए सब पृथ्वीको एक परिवार मानने पर भी शान्ति स्थापित होनेवाली नहीं है। वास्तविक शान्ति तो तभी प्रस्थापित होगी कि जब इस विश्वको एक जीवन मान लें। उदाहरणार्थ—

इस शरीरमें जीवन एक है, तथापि इस शरीरमें करोडों पृथक् पृथक् अणुजीव हे। उनमेंसे प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रूपसे जीवित रहता है और स्वतंत्र रूपसे मर भी जाता है और उसका स्थान दूसरा अणुजीव ले लेता है। इस शरीरमें हाथ, पांव, आंख, नाक आदि अवयव भले ही पृथक् पृथक् हों, पर उन सबमें एक ही जीवन संचार करता रहता है। यह सब शरीर अखण्डित जीवनसे भरपूर होनेके कारण प्रत्येक अवयव अखण्ड शरीरके लिए और अखण्ड शरीरकी सुखसमृद्धिके लिए तत्पर रहता है। अवयवीके लिए समर्पित होना ही अवयवका धर्म है। जब प्रत्येक अवयव सम्पूर्ण शरीररूपी अवयवीके लिए समर्पित हो जाता है, तब उस समर्पणसे जो सेवा होती है, उससे अखण्ड जीवनमें सुख प्राप्त होता है। पर जब अवयव यह कहने लग जाए कि मैं अकेला ही रहूंगा। मैं शरीरके लिए कार्य नहीं करूंगा। शरीर बने या बिगडे मुझे क्या, मैं तो स्वतंत्र रहूंगा" तो यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि शरीरका जीवन नष्ट हो जाएगा और यहां दुःखके सिवाय कुछ भी नहीं रहेगा।

इसी प्रकार राष्ट्रमें भी प्रत्येक प्रान्त या गांव राष्ट्रके लिए आत्मकर्तव्य करने लग जाए तो राष्ट्र बलशाली और समृद्ध हो जाएगा। पर यदि प्रत्येक गांव और प्रान्त फूटने लग जाए और अपनी पृथक् पृथक् सत्ता कायम करने लग जाए तो उस राष्ट्रका विनाश भी निश्चित है।

ऋषिऋण

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप संनमन्तु
(अथर्व)

"विश्व कल्याणकी इच्छा करनेवाले ऋषियोंने आत्मज्ञानसे प्राप्त करनेके बाद दक्षतासे जो तप किया, उस तपकी मददसे राष्ट्रका निर्माण हुआ। बल और ओज बढा, इसलिए सब विद्वान् इसे नमन करें"। इसप्रकार राष्ट्रकी कल्पना ऋषियों की तपस्याका फल है। यह ऋषिऋण है। राष्ट्रका निर्माण करते समय उन्होंने राष्ट्रको विश्वके अखण्डरूपका एक अवयव निश्चित कर दिया था। पर आज वे विचार संसार में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

साम्यवाद

समाजवाद और साम्यवाद मनुष्योंको उस ध्येयकी तरफ ले चल सकते हैं, पर आजकल उन वादों पर रजोगुणका साया पडा हुआ है। इसकारण आज साम्यवाद मारपीट, जलाना आदि हिंसात्मक कृत्योंका पर्यायवाची बन गया है। सब मनुष्य समान हैं, सबकी आवश्यकतायें समान हे आदि जो मन्तव्य साम्यवादने संसारके आगे प्रस्तुत किए हैं, वे थोडे समयके बाद प्रजाको सुरुचिपूर्ण प्रतीत होने लगेंगे।

आजकलकी प्रवृत्ति

सहकारी संस्थायें, आदि सब सामुदायिक अखण्डजीवनके द्योतक हैं। यह मनुष्योंकी प्रवृत्ति धीरे धीरे मनुष्योंको उस ध्येयकी तरफ ले जा रही है। पर बुद्धिमान् व्यक्ति अभीतक राष्ट्रवादमें ही जकडे हुए हैं। इसलिए एक राष्ट्र अपनी हिंसात्मक शक्तिको बढाकर दूसरे राष्ट्रको निगल जानेके लिए तैय्यार है।

संसारमें ज्ञान बढ गया है, विद्याकी वृद्धि भी हो गई है, पर पृथ्वी पर मानवजातिका जीवन एक है, इसकी कल्पना भी नेताओंके मनमें अबतक नहीं उपजी है। इसके विपरीत राष्ट्राभिमानमें ही वृद्धि हुई है। राष्ट्रका अभिमान कुछ बुरा नहीं है, पर वह अखिल मानवजातिके लिए हितकारक होना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि राष्ट्र अखिल मानव-जातिका एक अवयव है। इसलिए राष्ट्ररूपी अवयवको चाहिए कि वह अवयवीरूप अखिल मानवजातिकी उन्नतिके मार्गमें रोडा न बने।

भारतीयोंका कर्तव्य

प्रथमतः भारतीयोंको चाहिए कि वे इस सिद्धान्तको समझ लें। वे इस सिद्धान्तकी उतनी गहराईतक पहुंच जाए कि उन्हें कोई शंका ही न रहे। अपने राष्ट्रीय जीवनमें उसे लाकर तदनुसार अपने राष्ट्रकी उन्नति करनी चाहिए और फिर देशविदेशमें अपने प्रचारक भेजकर उनके गलेके नीचे भी यह बात उतार देनी चाहिए। यह कार्य विश्वहितके लिए आवश्यक है।

[५६]

[ऋषिः- प्रजापतिर्वैश्वामित्रः, प्रजापतिर्वाच्यो वा। देवता- विश्वे देवाः। छन्दः- त्रिष्टुप्।]

५५४ न ता मिनन्ति मायिनो न धीरा व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि।
न रोदसी अद्रुहा वेद्याभिर्न पर्वता निनमे तस्थिवांसः ॥ १ ॥

५५५ षड्भाराँ एको अचरन् बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका ॥ २ ॥

५५६ त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्।
त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् ॥ ३ ॥

---

[५६]

अर्थ— [५५४] (देवानां व्रता प्रथमा ध्रुवाणि) देवोंके नियम श्रेष्ठ और शाश्वत हैं, अतः (ता न मायिनः मिनन्ति) उसका उल्लंघन न मायावी शत्रु कर सकते हैं, (न धीराः) और न बुद्धिमान् ही कर सकते हैं। (वेद्याभिः) सब तरहके ज्ञानसे सम्पन्न (अद्रुहा) द्रोह न करनेवाली (रोदसी) द्यु और पृथ्वी (न) उन नियमोंका उल्लंघन नहीं कर सकती, (तस्थिवांसः पर्वताः न निनमे) स्थिर रहनेवाले पर्वत भी कभी नहीं झुकते ॥ १ ॥

१ देवानां व्रता प्रथमा ध्रुवाणि— देवोंके नियम श्रेष्ठ और शाश्वत हैं।

[५५५] (अचरन् एकः) न चलनेवाला एक सूर्य (षट् भारान् बिभर्ति) छै भारोंको धारण करता है। (ऋतं वर्षिष्ठं) उस नियम पर चलनेवाले तथा अत्यन्त श्रेष्ठ सूर्यको (गावः उप आगुः) किरणें आकर घेर लेती हैं, (अत्याः महीः तिस्रः) सतत गमन करनेवाले विशाल तीन लोक (उपराः तस्थुः) सब लोकोंसे श्रेष्ठ होकर रहते हैं, इनमें (द्वे गुहा निहिते) दो लोक गुहामें छिपे हुए हैं, और (एका दर्शि) एक दिखाई देती है ॥ २ ॥

[५५६] (त्रिपाजस्यः वृषभः विश्वरूपः) तीन तरहके बलोंवाला, वीर, अनेक रूपोंवाला, (उत) और (त्रिउधा पुरुध प्रजावान्) तीन स्तनोंवाला, अनेक रूप रंगोंवाली, प्रजाओंसे युक्त (त्रि अनीकः) तीन सेनाओंवाला (महिनावान्) महिमाशाली वह सूर्य (पत्यते) उदय होता है। (स वृषभः) वह वीर्यशाली (शश्वतीनां) अनेकों वनस्पतियोंमें (रेतोधाः) अपने वीर्यको स्थापित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवोंके नियम हमेशा एकसे रहते हैं, इसीलिए वे श्रेष्ठ हैं। उन नियमोंका उल्लंघन न दुष्ट कर सकते हैं और न बुद्धिमान् सज्जन ही। द्यु और पृथ्वी आदि लोक भी उन नियमोंका उल्लंघन नहीं कर सकते। इसीलिए जब एक बार पर्वतोंको स्थिर कर दिया तो आजतक वे स्थिर हैं, कभी नहीं झुकते ॥ १ ॥

न चलनेवाला सूर्य छै ऋतुओंको धारण करता है। इस सूर्यको किरणें व्याप्त करती हैं। इसीके कारण द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी स्थिर हैं, इनमें द्यु और अन्तरिक्ष न दिखाई देनेके कारण गुहामें गुप्त हैं और एक लोक पृथ्वी दिखाई देता है ॥ २ ॥

इस सूर्यका बल प्रातः, मध्यान्ह और सायं इन तीन कालोंमें प्रकट होनेके कारण तीन तरहका है, द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी ये तीन स्तन सूर्यके हैं। इन तीनों लोकोंमें रहनेवाली शक्तियां उसकी तीन तरहकी सेनायें हैं। वह सूर्य वीर्यशाली है, इसीलिए वह महिमाशाली भी है। वह अपनी किरणोंके द्वारा समस्त ओषधियोंमें रसका आधान करता है। यह रस ही सूर्यका वीर्य है ॥ ३ ॥

५५७ अभीक आसां पदवीरबो॒ध्यादित्याना॑मह्वे॒ चारु॒ नाम॑ ।
आप॑श्चिदस्मा अरमन्त दे॒वीः पृथ॒ग् व्रज॑न्तीः॒ परि॑ षीमवृञ्जन् ॥ ४ ॥

५५८ त्री ष॒धस्था॑ सिन्धवस्त्रिः क॒वीना॑मु॒त त्रि॒मा॒ता वि॒दथे॑षु स॒म्राट् ।
ऋ॒ताव॑री॒र्योष॑णास्ति॒स्रो अप्या॒स्त्रिरा दि॒वो वि॒दथे॒ पत्य॑मानाः ॥ ५ ॥

५५९ त्रिरा दि॒वः स॑वित॒र्वार्या॑णि दि॒वेदि॑व॒ आ सु॑व॒ त्रिर्नो॒ अह्नः॑ ।
त्रि॒धातु॑ रा॒य आ सु॑वा॒ वसू॑नि॒ भग॑ त्रातर्धिषणे सा॒तये॑ धाः ॥ ६ ॥

५६० त्रिरा दि॒वः स॑वि॒ता सो॑षवीति॒ राजा॑ना मि॒त्रावरु॑णा सु॒पाणी॑ ।
आप॑श्चिदस्य॒ रोद॑सी चिदु॒र्वी रत्नं॑ भिक्षन्त सवि॒तुः स॒वाय॑ ॥ ७ ॥

अर्थ— [५५७] (आसां) इन वनस्पतियोंके (अभीके) पासमें (पदवीः अबोधि) इस सूर्यके चिन्ह जाने जाते हैं, मैं (आदित्यानां चारु नाम अह्वे) आदित्योंके सुन्दर नामोंका वर्णन करता हूँ । (देवीः आपः चित्) दिव्य जल भी (अस्मै अरमन्त) इस सूर्यके साथ रमण करते है, पर जब (पृथक् व्रजन्तीः) वे जल अलग अलग होकर चलने लगते हैं, तब (सीं) इस सूर्यको (परि अवृंजन्) त्याग देते हैं ॥ ४ ॥

[५५८] हे (सिन्धवः) नदियो ! तुम (त्रिषधस्था) तीन स्थानोंपर रहती हो, तथा (त्रिः कवीनां) तीन तरहके देव इन स्थानोंमें रहते हैं (उत) और (त्रिमाता) इन तीनों लोकोंका निर्माता सूर्य (विदथेषु सम्राट्) यज्ञोंमें सम्राट् होता है । (ऋतावरीः) जलोंसे युक्त (तिस्रः अप्याः योषणाः) तीन आकाशीय स्त्रियां (दिवः) द्युलोकसे (त्रि विदथे) तीन सवनोंवाले यज्ञमें (आ पत्यमानाः) आती हैं ॥ ५ ॥

[५५९] हे (सवितः) सबके प्रेरक सूर्य ! तू (दिवः) द्युलोकसे आकर (दिवे दिवे) प्रतिदिन (वार्याणि) चाहने योग्य धन (त्रिः आ सुव) तीनबार दे तथा (अह्नः नः त्रिः) दिनमें भी हमें तीनबार धन दे । हे (भग त्रातः) ऐश्वर्यवान् रक्षक ! तू (त्रिधातु रायः वसूनि) तीन तरहके ऐश्वर्य और धन (आ सुव) प्रदान कर । हे (धिषणे) सरस्वती ! हमें (सातये धाः) धनप्राप्तिके योग्य बना ॥ ६ ॥

[५६०] (सविता) सबका प्रेरक सूर्य (दिवः) द्युलोकसे (त्रिः सोषवीति) तीन प्रकारके धन प्रदान करे । (राजाना सुपाणी मित्रावरुणा) तेजस्वी और कल्याणकारी हाथोंवाले मित्र और वरुण, (आपः चित्) जल तथा (उर्वी रोदसी चित्) विशाल द्यावापृथिवी भी (सवाय) धनकी प्राप्तिके लिए (सवितुः रत्नं भिक्षन्त) सूर्यसे रत्न मांगते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— वनस्पतियोंके अन्दर सूर्यके द्वारा स्थापित रसको देखा जा सकता है । द्युलोकमें उत्पन्न होनेवाले जल वर्षाकालमें इस सूर्यके साथ रहते हैं, पर जब वर्षाकालके बाद वे जल सूर्यसे अलग होने लगते हैं, तब वे जल सूर्यसे दूर चले जाते हैं, फिर वे जल सूर्यको नहीं घेरते ॥ ४ ॥

द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी इन तीनों लोकोंमें द्यु स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथ्वी स्थानीय देवगण रहते हैं । इन तीनों लोकोंका निर्माता सूर्य यज्ञके तीनों सवनोंमें प्रकाशित होता है । और सरस्वती, इळा और भारती ये तीन देवियां इन यज्ञोंमें उपस्थित होती हैं ॥ ५ ॥

हे सूर्य ! तू प्रतिदिन हमारे पास आकर हमें तीनबार धनका दान दे, तू हमें सब तरहका ऐश्वर्य और धन प्रदान कर ॥ ६ ॥

सबको प्रेरणा देनेवाला सूर्य द्युलोकसे हमें तीन तरहके धन दे । तेजस्वी, कल्याणकारी हाथोंवाले मित्र, वरुण, जल और विशाल द्यावापृथ्वी भी उसी सूर्यसे धन आदि मांगते हैं ॥ ७ ॥

५६१ त्रिरुत्तमा दूणशा रोचनानि त्रयो राजन्त्यसुरस्य वीराः ।
ऋतावान इषिरा दूळभास--स्त्रिरा दिवो विदथे सन्तु देवाः ॥ ८ ॥

[५७]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- विश्वे देवाः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

५६२ प्र मे विविक्वाँ अविदन्मनीषां धेनुं चरन्तीं प्रयुतामगोपाम् ।
सद्यश्चिद् या दुदुहे भूरि धासे--रिन्द्रस्तदग्निः पनितारो अस्याः ॥ १ ॥

५६३ इन्द्रः सु पूषा वृषणा सुहस्ता दिवो न प्रीताः शशयं दुदुह्रे ।
विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः प्र वोऽत्र वसवः सुम्नमश्याम् ॥ २ ॥

अर्थ-- [५६१] (दूणशा उत्तमा) नष्ट न होनेवाले, उत्तम (रोचनानि त्रिः) प्रकाशस्थान तीन हैं, उनके कारण (असु-रस्य वीराः) जीवन देनेवाले परमेश्वरके वीर (ऋतावानः इषिराः दूळभासः) सत्यनिष्ठ, उत्साहपूर्वक कार्य करनेमें तत्पर और कभी भी न दबनेवाले होकर (त्रिः राजन्ति) तीन प्रकारसे प्रकाशित होते हैं । ये (दिवः वीराः) दिव्यवीर (विदथे) युद्धमें हमारे सहायक हों ॥ ८ ॥

[५७]

[५६२] (चरन्तीं) उत्तममार्गोंमें जानेवाली, (प्रयुतां) उत्तम ज्ञानसे युक्त (अगोपां) रक्षकसे रहित (धेनुं मे मनीषां) धारण करनेवाली, मेरी बुद्धिको (विविक्वान्) विवेकसे युक्त इन्द्रने (अविदत्) जान लिया है । (या) जो धेनु (सद्यः चित्) शीघ्र ही (भूरि धासे दुदुहे) बहुतसे अन्नको दुहती है, (अस्याः) इस धेनुके (तत्) उस महत्त्वकी (इन्द्रः अग्निः) इन्द्र और अग्नि (पनितारः) प्रशंसा करनेवाले हैं ॥ १ ॥

[५६३] (वृषणा सुहस्ता) बलवान् तथा उत्तम हाथोंवाले (इन्द्रः पूषा) इन्द्र और पूषा तथा अन्य देव (प्रीताः) प्रसन्न होकर (दिवः शशयं दुदुह्रे) द्युलोकसे मेघको दुहते हैं (यत्) क्योंकि (विश्वे देवाः) सभी देव (अस्यां रणयन्तः) मेरी इस स्तुतिमें आनन्द प्राप्त करते हैं, इसलिए हे (वसवः) वसुदेवो ! (वः) आपकी कृपासे मैं (अत्र) इस संसारमें (सुम्नं अश्याम) सुखको प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

भावार्थ-- इस मानवी कार्यक्षेत्रमें शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक ऐसे तीन प्रकाश केन्द्र हैं । सबको जीवन देनेवाले ईश्वरपर निष्ठा रखकर कार्य करनेवाले वीर इन तीन दिव्य तेजोंसे युक्त होकर सत्यनिष्ठ, बनते हैं । ऐसे वीर अपने कार्यको यथाशीघ्र समाप्त करते हैं और कोई भी उन्हें नहीं दबा सकता । इसलिए ये वीर तीनों क्षेत्रोंमें तेजस्वी और यशस्वी होते हैं । हमारे इस धर्मयुद्धमें ऐसे वीर हमारी सहायता करें ॥ ८ ॥

उत्तम मार्गमें जानेवाली उत्तम ज्ञानसे युक्त बुद्धि धारण करनेवाली होती है, ऐसी बुद्धि अनेक तरहके धनोंको प्रदान करती है । इसीलिए ऐसी बुद्धिकी इन्द्र और अग्निकी प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

जब इन्द्र और पूषा आदि देव प्रसन्न होते हैं, तब वे द्युलोकसे मेघोंको दुहकर पानी बरसाते हैं । वे सभी देव मेरी स्तुतिको सुनकर आनन्दित होते हैं, अतः उनकी दयासे मैं इस संसारमें हर तरहका सुख प्राप्त करूं ताकि यहां मेरा निवास उत्तम हो ॥ २ ॥

×

५६४ या जामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन् ।
अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि　　॥ ३ ॥
५६५ अच्छा विवक्मि रोदसी सुमेके ग्राव्णो युजानो अध्वरे मनीषा ।
इमा उ ते मनवे भूरिवारा ऊर्ध्वा भवन्ति दर्शता यजत्राः　　॥ ४ ॥
५६६ या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा अग्ने देवेषूच्यत उरूची ।
तयेह विश्वाँ अवसे यजत्रा ना सादय पायया चा मधूनि　　॥ ५ ॥
५६७ या ते अग्ने पर्वतस्येव धारा सश्चन्ती पीपयद् देव चित्रा ।
तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम्　　॥ ६ ॥

अर्थ—[५६४] (याः जामयः) जो स्त्रियां (वृष्णे) बलवान्‌के पास जाकर (शक्तिं इच्छन्ति) शक्तिकी इच्छा करती हैं और (नमस्यन्तीः) नम्र होकर जाती हैं, तब वे (अस्मिन् गर्भं) इस पुरुषमें गर्भ स्थापित करनेकी शक्ति है, ऐसा (जानते) जान लेती हैं। (वावशानाः धेनवः) कामवश हुई धेनुएं (महः वपूंषि बिभ्रतं) बडे शरीरको धारण करनेवाले अपने (पुत्रं अच्छा चरन्ति) पुत्रके पास सीधे जाती हैं ॥ ३ ॥

[५६५] (अध्वरे ग्राव्णः युजानः) यज्ञमें सोम कूटनेके पत्थरोंका उपयोग करता हुआ मैं (मनीषा) अपनी मननशील बुद्धिसे (सुमेके रोदसी) सुन्दर रूपवाली द्यु और पृथ्वीलोककी (अच्छ विवक्मि) सुन्दर स्तुति करता हूँ। हे अग्ने ! (भूरिवाराः) बहुतोंके द्वारा वरणीय, (दर्शताः) देखने योग्य, (यजत्राः) पूजाके योग्य (ते इमाः) तेरी ये ज्वालायें (मनवे) मनुष्यके कल्याणके लिये (ऊर्ध्वाः भवन्ति) ऊपरकी ओर चलें ॥ ४ ॥

[५६६] हे (अग्ने) अग्ने ! (ते) तेरी (या) जो (मधुमती) मधुरतासे युक्त, (सुमेधा) उत्तम बुद्धिवाली, (उरूची) सर्वत्र व्याप्त (जिह्वा) ज्वाला (देवेषु उच्यते) देवोंमें प्रशंसित होती है, (तया) उस ज्वालासे (विश्वान् यजमान् अवसे) सम्पूर्ण पूजनीय देवोंको रक्षाके लिए (इह सादय) यहां इस यज्ञमें स्थापित कर और उन्हें (मधूनि) मीठे सोमरस (पायय) पिला ॥ ५ ॥

[५६७] हे (देव अग्ने) दिव्य अग्ने ! (ते या) तेरी जो (चित्रा) उत्तम (असश्चन्ती) बुरे मार्गोंमें न जानेवाली बुद्धि (पर्वतस्य धारा इव) मेघसे निकलनेवाली वृष्टिकी धाराके समान (पीपयद्) सबको तृप्त करती है, हे (वसो जातवेदः) सबको बसानेवाले जातवेद अग्ने ! (तां प्रमतिं) उस उत्तम बुद्धिको (अस्मभ्यं रास्व) हमें दे, तथा (विश्वजन्यां प्रमतिं) सारे संसारका हित करनेवाली उत्तम बुद्धिको प्रदान कर ॥ ६ ॥

१ अग्ने ! विश्वजन्यां सुमतिं रास्व— हे अग्निदेव ! संसारका हित करनेवाली उत्तम बुद्धिको तू हमें प्रदान कर।

भावार्थ— जलरूपी स्त्रियां जब शक्तिशाली सूर्यके पास जाती हैं, तब उन्हें सूर्यकी शक्तिका ज्ञान हो जाता है और वह पृथ्वीरूपी धेनुमें वृष्टि जलरूपी अपने वीर्यका आधान करता है, तब वह पृथ्वी अनेकरूप धारण करनेवाले वृक्ष वनस्पतियोंको उत्पन्न करती है, वे वृक्ष वनस्पति ही पृथ्वीके पुत्र हैं ॥ ३ ॥

मैं इस यज्ञमें अपनी मीठी और सुन्दर वाणीसे द्युलोक और पृथ्वीलोककी स्तुति करता हूँ। हे अग्ने ! देखने योग्य तथा पूजाके योग्य तेरी ये ज्वालायें मनुष्यके कल्याणके लिए हमेशा ऊपरकी तरफ जलती रहें ॥ ४ ॥

इस अग्निकी ज्वाला मधुरतासे युक्त, उत्तम बुद्धिको प्रदान करनेवाली होनेके कारण सभी विद्वानोंमें प्रशंसित होती है। इसी ज्वालाके द्वारा सब देवों तक हवि पहुंचती है, इसीलिए वह अग्नि सब देवोंकी रक्षा करनेवाला है ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! तेरी बुद्धि सदाही उत्तम मार्गोंसे जानेवाली है और वह सबको तृप्त करती है, उसी बुद्धिको तू हमें प्रदान कर ताकि हम संसारका हित कर सकें ॥ ६ ॥

[५८]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- अश्विनौ । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

५६८ धेनुः प्रत्नस्य काम्यं दुहाना॒ऽन्तः पुत्रश्चरति दक्षिणायाः ।
आ द्योतनिं वहति शुभ्रयामो॒षसः स्तोमो अश्विनावजीगः ॥ १ ॥

५६९ सुयुग् वहन्ति प्रति वामृतेनो॒र्ध्वा भवन्ति पितरेव मेधाः ।
जरेथामस्मद् वि पणेर्मनीषां युवोरवश्चकृमा यातमर्वाक् ॥ २ ॥

५७० सुयुग्भिरश्वैः सुवृता रथेन दस्राविमं शृणुतं श्लोकमद्रेः ।
किमङ्ग वां प्रत्यवर्तिं गमिष्ठा॒ऽऽहुर्विप्रासो अश्विना पुराजाः ॥ ३ ॥

५७१ आ मन्येथामा गतं कच्चिदेवै॒र्विश्वे जनासो अश्विना हवन्ते ।
इमा हि वां गोऋजीका मधूनि प्र मित्रासो न ददुरुस्रो अग्रे ॥ ४ ॥

[५८]

अर्थ— [५६८] (प्रत्नस्य काम्यं) पुरातन इच्छाके अनुकूल (दुहाना धेनुः) दुही जाती हुई गौ और (दक्षिणायाः पुत्रः) दक्षिणामें दी गौका बछडा यज्ञस्थलके (अन्तः चरति) भीतर घूमता है (शुभ्रयामा) शुभ्र गतिवाला वीर (द्योतनिं आ वहति) ज्योतिको धारण करता है, (अश्विनौ) अश्विनौकी प्रशंसा करनेके लिए (स्तोमः) स्तोत्र (उषसः अजीगः) उषाके कारण जागृत हुआ है, उषःकालमें पढा जाता है ॥ १ ॥

[५६९] (वां प्रति) तुम्हें (ऋतेन सुयुक् वहन्ति) सरल मार्गसे तुम्हारे रथके घोडे यहां ले आते हैं । यहां (मेधाः) सब यज्ञ (पितरा इव) रक्षकोंके समान सबको (ऊर्ध्वाः भवन्ति) ऊँचा उठाते हैं, (पणेः मनीषां) व्यापारीकी [बहुत लाभ उठानेकी] इच्छाको (अस्मत् वि जरेथां) हमसे दूरकर क्षीण करो, हम (युवोः अव चकृम) तुम दोनोंका अन्न तैयार कर चुके इसलिए (अर्वाक् आ यातं) हमारे पास आ जाओ । [और उसका सेवन करो] ॥ २ ॥

[५७०] हे (दस्रौ !) शत्रुविनाशक अश्विदेवो ! (अद्रेः इमं श्लोकं) पर्वत (पर उगनेवाले इस सोम) के इस काव्यको (सुवृता रथेन) सुन्दर गतिवाले रथपरसे, (सुयुग्भिः अश्वैः) उत्तम शिक्षित घोडोंको जोतकर, आकर (शृणुतं) सुनते हैं (किं पुराजाः विप्रासः) कि, पूर्वकालमें उत्पन्न ज्ञानी लोग (वां) तुम्हें (अवर्तिं प्रति गमिष्ठा) दरिद्रताको हटानेके लिए जाते हैं ऐसा (आहुः अंग) बतलाते हैं ॥ ३ ॥

[५७१] (हे अश्विनौ) हे अश्विदेवो ! (आ मन्येथां) तुम (हमारे इस कर्मका) अनुमोदन करो (एवैः आगतं कच्चित्) घोडोंसे अवश्य आओ, क्योंकि (विश्वे जनासः हवन्ते) सभी लोग तुम्हें बुलाते हैं; (उस्रः अग्रे) सूर्योदयके पहले ही (इमा गोऋजीका मधूनि) इन गोरसमिश्रित मीठे सोमरसोंको (वां हि) तुम्हें ही (मित्रासः न प्र ददुः) मित्रोंके सामने ये याजक देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रातःकालमें गौका दोहन हो, यह इच्छा सदा मनमें रहे । इस कार्यके लिये गौ और बछडा यज्ञशालाके चारों ओर घूमता रहे । यशस्वी वीर तेजस्वी बनकर अपना कर्तव्य करे । प्रातःकालमें उषाके साथ अश्विदेवोंके स्तोत्रपाठ चलें ॥ १ ॥

तुम्हारे रथको घोडे जोते हैं, वे तुम दोनोंको सरल मार्गसे इस यज्ञस्थलमें ले आते हैं । जिस तरह मातापिता पुत्रकी सुरक्षा करते हैं, वैसे यज्ञ जनताकी सुरक्षा करके उनकी उन्नति करते हैं । व्यापार करनेवालोंकी बुद्धि अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी रहती है, वैसी बुद्धि हमारे पास न रहे, हममें उदारता रहे । हमारे द्वारा तैयार किया अन्न तुम यहां आकर सेवन करो ॥ २ ॥

अश्विदेव शत्रुका नाश करते हैं, सुन्दर रथको उत्तम घोडे जोतकर यज्ञमें आते हैं, और वेदके काव्यको सुनते हैं, उस काव्यका भाव यह होता है कि अश्विदेव जनताकी ' दरिद्रताको दूर करनेके लिये जनताके समीप जाते हैं ' ॥ ३ ॥

अश्विदेवोंको सब लोग बुलाते हैं, वहां वे घोडोंपर सवार होकर प्रातःकालमें जायें और मित्र जैसे याजकोंसे दिये गोरसमिश्रित सोमरस पीयें ॥ ४ ॥

५७२ तिरः पुरू चिदश्विना रजांस्याङ्गूषो वां मघवाना जनेषु ।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्दस्राविमे वां निधयो मधूनाम् ॥ ५ ॥
५७३ पुराणमोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जह्नाव्याम् ।
पुनः कृण्वानाः सख्या शिवानि मध्वा मदेम सह नू समानाः ॥ ६ ॥
५७४ अश्विना वायुना युवं सुदक्षा नियुद्भिश्च सजोषसा युवाना ।
नासत्या तिरोअह्न्यं जुषाणा सोमं पिबतमस्रिधा सुदानू ॥ ७ ॥
५७५ अश्विना परि वामिषः पुरूचीरीयुर्गीर्भिर्यतमाना अमृध्राः ।
रथो ह वामृतजा अद्रिजूतः परि द्यावापृथिवी याति सद्यः ॥ ८ ॥

अर्थ— [५७२] हे (मघवाना) ऐश्वर्यसंपन्न अश्विदेवो ! (पुरू रजांसि चित् तिरः) बहुतसे रजोगुणोंको भी पार करके (वां आंगूषः) तुम्हारी स्तुति (जनेषु) जनतामें हो जावे; हे (दस्रौ) शत्रुविनाशक वीरो ! (देवयानैः पथिभिः) देवता गण जिनपरसे चलते हैं ऐसे मार्गोंसे (इह आ यातं) इधर पधारो, क्योंकि (इमे मधूनां निधयः वां) ये मधुरसोंके भण्डार तुम्हारे लिए रखे हैं ॥ ५ ॥

[५७३] हे (नरा) नेता अश्विदेवो ! (वां पुराणं ओकः) तुम्हारा पुराना यज्ञस्थान तथा तुम्हारी (सख्यं शिवं) मित्रता कल्याणकारक है, (युवोः द्रविणं जह्नाव्यां) तुम्हारा धन नदीके पास रखा है; (पुनः) फिरसे (शिवानि सख्या) हितकारक मित्रता (कृण्वानाः) करते हुए (समानाः) समभावसे (सह नु) सब मिलकरही (मध्वा मदेम) मीठे रसपानसे हर्षित हों ॥ ६ ॥

[५७४] हे (सुदानू) अच्छे दानी अश्विदेवो ! तुम (नासत्या) सत्य पूर्ण (सुदक्षा) अच्छी शक्तिसे युक्त (अस्रिधा) बिना किसी क्षतिके (युवाना युवं) नित्य युवक तुम दोनों (वायुना नियुद्भिः च) वायु और घोडोंके साथ (सजोषसा) प्रीतिपूर्वक (तिरो अह्न्यं सोमं) कल निचोडकर रखे सोमको (जुषाणा पिबतं) आदरपूर्वक पान करो ॥ ७ ॥

[५७५] हे (अश्विना) अश्विदेवो ! (पुरूचीः इषः) बहुतसी अन्नसामग्रियाँ (वां परि ईयुः) तुम्हें चारों ओरसे प्राप्त होती हैं, (यतमानाः) प्रयत्नशील लोग (अमृध्राः) किसी प्रकारकी क्षति या रुकावट न पाते हुए (गीर्भिः) अपने भाषणोंमें तुम्हारी स्तुति करते हैं; (वां ऋतजाः) तुम दोनोंका सत्यके लिये उत्पन्न (अद्रिजूतः रथः ह) पर्वतकी लकडियोंसे बनाया रथ सचमुच (सद्यः द्यावापृथिवी) तुरन्त भूलोक तथा द्युलोकके (परि याति) चारों ओर प्रयाण करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— अश्विदेव, धूलीके मलिन स्थानोंसे पार होकर जनतामें स्तुतिको प्राप्त करें। शत्रुका नाश करें, देवोंके मार्गोंसे पधारें और मीठा अन्न सेवन करें ॥ ५ ॥

नेताओंका घर और उनका मित्रभाव कल्याणकारी हो, उनका धन सबका कल्याण करे। सब लोग समभावसे मीठे अन्नका सेवन करते रहें ॥ ६ ॥

अच्छे दानी बनो, सत्यका पालन करो, कार्यमें क्षति न रखो, तरुण जैसे उत्साही वीर बनो, घोडोंपर सवार होकर वायुवेगसे जाओ और कल तैयार किये सोमरसका पान करो ॥ ७ ॥

इन अश्विदेवोंका रथ चारों ओर जानेवाला है, उनके रथके लिए कहीं भी मार्गमें रुकावट नहीं होती। इसीलिए इन्हें चारों ओरसे अन्नसामग्रियां मिलती रहती हैं ॥ ८ ॥

५७६ अश्विना मधुषुत्तमो युवाकुः सोमस्तं पातमा गतं दुरोणे ।
रथो ह वां भूरि वर्पः करिक्रत् सुतावतो निष्कृतमागमिष्ठः ॥ ९ ॥

[५९]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- मित्रः । छन्दः- त्रिष्टुप्, ६-९ गायत्री ।]

५७७ मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ १ ॥
५७८ प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥ २ ॥

अर्थ— [५७६] हे (अश्विना, अश्विदेवो ! (युवाकुः सोमः) तुम्हारी कामना पूर्ण करता हुआ सोम (मधुषुत्तमः) मोठेपनको खूब बढ़ाता है, इसलिए (दुरोणे आगतं) घरपर पधारकर (तं पातं) उसका पान करो (वां रथः ह) तुम्हारा रथ अवश्य ही (भूरि वर्पः करिक्रत्) बहुत स्वीकरणीय तेज उत्पन्न करता हुआ (सुतावतः) निचोडनेवालेके (निष्कृतं आ गमिष्ठः) घर अत्यधिक रूपमें आ जाता है ॥ ९ ॥

[५९]

[५७७] (मित्रः) मित्र देव (ब्रुवाणः) आज्ञा देता हुआ (जनान् यातयति) मनुष्योंको अपने काममें नियुक्त करता है, (मित्रः पृथिवीं उत द्यां दाधार) मित्र ही पृथ्वी और द्युलोकको धारण करता है, (मित्रः) मित्र (अनिमिषाभिः) पलक न मारनेवाली आंखोंसे (कृष्टी आभि चष्टे) मनुष्योंके कामोंको देखता है, अतः हे मनुष्यो ! (मित्राय) मित्रके लिए (घृतवत् हव्यं जुहोत) घी युक्तसे हवि प्रदान करो ॥ १ ॥

१ मित्रः अनिमिषाभिः कृष्टीः अभि चष्टे— मित्र देव कभी भी पलक न मारते हुए मनुष्योंके कामोंको देखता रहता है ।

[५७८] हे (आदित्य मित्र) अदितिपुत्र मित्र ! (यः ते व्रतेन शिक्षति) जो तेरे नियमके अनुसार आचरण करता है, (सः मर्तः प्रयस्वान् अस्तु) वह मनुष्य धनवान् हो, (त्वा ऊतः) तुझसे रक्षित हुआ मनुष्य (न हन्यते न जीयते) न मारा ही जाता है और न जीता ही जाता है, (एनं) इसे (अंहः) पाप (न अन्तिकः अश्नोति) न पाससे व्यापता है, (न दूरात्) न दूरसे ॥ २ ॥

१ मित्र, यः ते व्रतेन शिक्षति सः मर्तः प्रयस्वान् अस्तु— हे मित्र ! जो तेरे नियमका पालन करता है, वह मनुष्य धनवान् होता है ।

२ त्वा ऊतः न हन्यते न जीयते— तुझसे सुरक्षित हुआ मनुष्य न मारा ही जाता है, और न जीता ही जाता है ।

३ एनं अंहः न अश्नोति— इसे पाप नहीं छू सकता ।

भावार्थ— अश्विनीदेवोंका रथ चारों ओर तेजको फैलाता हुआ दौडता है । ऐसे रथके द्वारा अश्विनौ जहां भी जाते हैं, वहीं चारों ओर आनन्दका वातावरण उत्पन्न होकर मानों सर्वत्र मीठे रसकी धारा बहने लगती है । मनुष्य भी इसी प्रकार सदा आनन्दमय होकर अपने चारों ओर मधुरता उत्पन्न करे ॥ ९ ॥

यह मित्र आज्ञा देते हुए मनुष्योंको अपने काममें नियुक्त करता है । यही सब लोकोंको धारण करता है तथा यह सदा ही मनुष्योंके कामोंको देखता रहता है, इससे कोई भी काम छुपा नहीं रहता ॥ १ ॥

जो मनुष्य मित्रके समान हित करनेवाले परमेश्वरके नियमोंके अनुसार चलता है, वह ऐश्वर्यवान् होता है । इसे कोई भी शत्रु न जीत ही सकता है और न मार ही सकता है । और कोई पाप कर्म भी नहीं करता ॥ २ ॥

५७९ अनमीवास इळया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः ।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥
५८० अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्याऽपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ४ ॥
५८१ महाँ आदित्यो नमसोपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः ।
तस्मा एतत् पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविरा जुहोत ॥ ५ ॥
५८२ मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि । द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६ ॥
५८३ अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः । अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥ ७ ॥

अर्थ — [५७९] (अनमीवासः) रोग रहित (इळया मदन्तः) अन्नसे आनन्दित होनेवाले, (पृथिव्याः वरिमन् मितज्ञवः) इस पृथ्वीके विस्तीर्ण क्षेत्रोंमें नम्र होकर चलनेवाले तथा (आदित्यस्य व्रतं उपक्षियन्तः) आदित्यके नियमके अनुसार आचरण करनेवाले (वयं) हम (मित्रस्य सुमतौ स्याम) मित्र देवकी उत्तम बुद्धिमें रहें ॥ ३ ॥

१ पृथिव्याः वरिमन् मितज्ञवः मित्रस्य सुमतौ— पृथ्वी पर विनम्र होकर चलनेवाले मनुष्य मित्रकी उत्तम बुद्धिमें रहते हैं ।

[५८०] (नमस्यः) नमन करने योग्य (सुशेवः) सेवाके योग्य (राजा) तेजस्वी (सुक्षत्रः) उत्तम बलवाला (वेधाः) अत्यन्त बुद्धिमान् (अयं मित्रः) सबका मित्र रूप यह सूर्य (अजनिष्ट) उदय हो गया है । (वयं) हम (तस्य यज्ञियस्य) उस पूजनीय सूर्यके (सुमतौ) उत्तम बुद्धिके और (भद्रे सौमनसे अपि) कल्याणकारी उत्तम मनके अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

[५८१] यह (महान् आदित्यः) महान् आदित्य (नमसा उपसद्यः) विनम्र होकर ही पासमें जाने योग्य है । (यातयज्जनः) मनुष्योंको अपने अपने काममें प्रेरित करनेवाला यह सूर्य (गृणते सुशेवः) स्तोताके लिए उत्तम सुखका देनेवाला है । (तस्मा पन्यतमाय मित्राय) उस अत्यन्त स्तुत्य मित्रके लिए (एतत् जुष्टं हविः) इस अत्यन्त प्रिय हविको (अग्नौ आ जुहोत) अग्निमें आहुति दो ॥ ५ ॥

[५८२] (चर्षणीधृतः देवस्य मित्रस्य) मनुष्योंको धारण करनेवाले इस दिव्य सूर्यकी (अवः) रक्षात्मक कृपा (सानसि) सबके द्वारा प्राप्त करने योग्य (द्युम्नं) धनदायक और (चित्रश्रवस्तमं) अनेक तरहके अन्नको प्रदान करनेवाली है ॥ ६ ॥

[५८३] (यः मित्रः) जिस सूर्यने (महिना) अपनी महिमासे (दिवं अभि बभूव) द्युलोकको व्याप लिया, वही (सप्रथाः) प्रसिद्ध यशवाला सूर्य (श्रवोभिः) अन्नादिके द्वारा (पृथिवीं अभि) पृथिवीको व्याप लेता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— रोगसे रहित होकर अन्नसे आनन्दित होनेवाले तथा विनम्रतापूर्वक व्यवहार करनेवाले एवं आदित्य सूर्यके समीप रहनेवाले हम मित्रकी उत्तम बुद्धिमें हम रहें ॥ ३ ॥

उदय होता हुआ सूर्य नमन करने योग्य, सेवा किए जाने योग्य, उत्तम बलवाला तथा उत्तम बुद्धिवाला है, जो इसके अनुकूल आचरण करता है, वह हर तरहका कल्याण प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

यह आदित्य देव महान् है, इसलिए इसके पास लोग नम्र होकर ही जाते हैं । यह सूर्य उदय होकर सबको अपने अपने काममें प्रेरित करता है । यह सूर्य स्तोताके लिए उत्तम सुखको देनेवाला है, ऐसे उस अत्यन्त स्तुत्य देवके लिए अग्निमें उत्तम आहुति देनी चाहिए ॥ ५ ॥

जिस प्रकार इस देवकी कृपा हो जाती है, वह हर तरहके धन तथा अन्न एवं यश प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

द्युलोकमें रहकर यह सूर्य अपने प्रकाशसे द्युलोकको व्याप लेता है और जब वह अपनी किरणोंसे जल बरसाकर अन्नको उत्पन्न करता है, तो वह पृथ्वीको भी अपनी महिमासे व्याप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

५८४ मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे । स देवान् विश्वान् बिभर्ति ॥ ८ ॥
५८५ मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्तबर्हिषे । इष इष्टव्रता अकः ॥ ९ ॥

[६०]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- ऋभवः, ५-७ इन्द्र ऋभवश्च । छन्दः- जगती ।]

५८६ इहेह वो मनसा बन्धुता नर उशिजो जग्मुरभि तानि वेदसा ।
याभिर्मायाभिः प्रतिजूतिवर्पसः सौधन्वना यज्ञियं भागमानश ॥ १ ॥
५८७ याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः ।
येन हरी मनसा निरतक्षत तेन देवत्वमृभवः समानश ॥ २ ॥

अर्थ— [५८४] (अभिष्टिशवसे मित्राय) शत्रुओं पर आक्रमण करनेके कार्यमें बलशाली मित्रके लिए (पंच जनाः) पांच मनुष्य (येमिरे) आहुति देते हैं। (सः विश्वान् देवान् बिभर्ति) वह सब देवोंको धारण करता है ॥८॥

[५८५] (मित्रः) मित्र (देवेषु आयुषु) देवोंमें और मनुष्योंमें (वृक्तबर्हिषे जनाय) आसन बिछानेवाले मनुष्यके लिए (इष्टव्रताः इषः अकः) व्रतों एवं नियमोंका पालन करनेवालोंके द्वारा चाहे जाने योग्य अन्नको प्रदान करता है ॥ ९ ॥

[६०]

[५८६] हे (प्रतिजूतिवर्पसः सौधन्वनाः) शत्रुओंपर आक्रमण करके अपना तेज प्रकट करनेवाले तथा उत्तम धनुषवाले वीर ऋभुओ ! (याभिः मायाभिः) जिन कुशलतापूर्वक किए जानेवाले कामोंके कारण तुम (यज्ञियं भागं आनश) यज्ञीय भागको प्राप्त करते हो, (तानि) उन कर्मोंको (नरः) जो मनुष्य (वेदसा अभि जग्मुः) ज्ञानपूर्वक करते हैं, उनके साथ (वः मनसा बन्धुता इह इह) तुम्हारा मनसे भाईचारा यहीं रहता है ॥ १ ॥

[५८७] हे (ऋभवः) ऋभुओ ! (याभिः शचीभिः) जिन शक्तियोंसे तुमने (चमसां अपिंशत) चमचोंको सुन्दर रूप दिया, (यया धिया) जिस बुद्धिसे तुमने (चर्मणः गां अरिणीत) चर्मसे भी गाय तैय्यार की, (येन मनसा) जिस मनसे (हरी निरतक्षत) घोडोंको बलवान् बनाया, (तेन देवत्वं समानश) इसीके कारण तुमने देवत्व प्राप्त किया ॥ २ ॥

भावार्थ— यह मित्र सूर्य अत्यन्त बलशाली है, इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांचों जन इसे आहुति प्रदान करते हैं । वह मित्र सब देवोंको धारण करता है ॥ ८ ॥

यह सूर्य देवों और मनुष्योंमें जो इस सूर्यका सत्कार आदि करते हैं उन्हींको यह अन्न प्रदान करता है, जिसे नियमका पालन करनेवाले ही प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

शत्रुओंपर आक्रमण करके अपना तेज प्रकट करनेवाले तथा उत्तम धनुष धारण करनेवाले ये ऋभु जिन कर्मोंको करके पूजाके योग्य बनते हैं, उन्हीं कर्मोंको जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक करते हैं, उनके साथ ये ऋभु मनसे भाईचारेका व्यवहार करते हैं ॥ १ ॥

ऋभुओंने अपनी शक्तिसे उत्तम उत्तम साधन बनाये, उन्होंने अपनी बुद्धिसे हड्डी और चमडेवाली गायको मांससे भरपूर करके हृष्टपुष्ट किया । इसी बुद्धिसे उन्होंने घोडोंको भी हृष्टपुष्ट किया, अपने इन्हीं कामोंके कारण उन्हें देवत्व प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

५८८ इन्द्र॑स्य स॒ख्यमृ॒भव॒: समा॑नशु॒र्मनो॒र्नपा॑तो अ॒पसो॑ दधन्विरे ।
सौ॒ध॒न्व॒नासो॑ अमृत॒त्वमेरि॑रे॒ वि॒ष्ट्वी शमी॑भिः सु॒कृत॑: सुकृ॒त्यया॑ ॥ ३ ॥

५८९ इन्द्रे॑ण याथ स॒रथं॑ सु॒ते सचाँ॒ अथो॒ वशा॑नां भवथा स॒ह श्रि॒या ।
न व॑: प्रति॒मै सु॑कृ॒तानि॑ वाघत॒: सौध॑न्वना ऋभवो वी॒र्या॑णि च ॥ ४ ॥

५९० इन्द्र॑ ऋ॒भुभि॑र्वा॒जव॑द्भिः॒ समु॑क्षितं सु॒तं सोम॒मा वृ॑षस्वा॒ गभ॑स्त्योः ।
धि॒येषि॒तो म॑घवन् दा॒शुषो॑ गृ॒हे सौ॑धन्व॒नेभि॑: स॒ह म॑त्स्वा॒ नृभि॑: ॥ ५ ॥

५९१ इन्द्र॑ ऋभु॒मान् वाज॑वान् मत्स्वे॒ह नो॒ऽस्मिन्त्सव॑ने॒ शच्या॑ पुरुष्टुत ।
इ॒मानि॒ तुभ्यं॒ स्वस॑राणि येमिरे व्र॒ता दे॒वानां॒ मनु॑षश्च॒ धर्म॑भिः ॥ ६ ॥

अर्थ— [५८८] (मनोर्नपातः अपसः ऋभवः) मनुष्योंको न गिरानेवाले, उत्तम कर्म करनेवाले ऋभुओंने (इन्द्रस्य सख्यं आनशुः) इन्द्रकी मित्रताको प्राप्त किया, और उसे (दधन्विरे) धारण भी किया, (सुकृतः सौधन्वनासः) उत्तम कर्म करनेवाले तथा उत्तम धनुष धारण करनेवाले ऋभुगण (शमीभिः सुकृत्यया विष्ट्वी) अपनी शक्तियों और उत्तम कर्मोंके कारण सर्वत्र व्याप्त होकर (अमृतत्वं एरिरे) अमृतत्वको प्राप्त किया ॥ ३ ॥

१ अपसः इन्द्रस्य सख्यं आनशुः— उत्तम कर्म करनेवाले ही इन्द्रकी मित्रताको प्राप्त कर सकते हैं ।

२ सुकृत्यया अमृतत्वं एरिरे— उत्तम कर्मसे ही अमृतको प्राप्त करते हैं ।

[५८९] हे (वाघतः सौधन्वनाः ऋभवः) बुद्धिमान् और उत्तम धनुषवाले ऋभुओ ! तुम (सुते) सोमके यज्ञमें (इन्द्रेण सचा) इन्द्रके साथ (सरथं याथ) एक ही रथपर बैठकर जाते हो, (अथ) और (वशानां) जो तुम्हारी कामना करता है, उसके पास (श्रिया सह भवथ) धन और ऐश्वर्यके साथ जाते हो, (वः सुकृतानि वीर्याणि च) तुम्हारे उत्तम कर्म और पराक्रमकी (न प्रतिमै) कोई उपमा नहीं है ॥ ४ ॥

१ वः सुकृतानि वीर्याणि च न प्रतिमै— इन ऋभुओंके उत्तम कर्म और पराक्रमकी कोई उपमा नहीं है ।

[५९०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (वाजवद्भिः ऋभुभिः) बलसे युक्त ऋभुओंके साथ तू (समुक्षितं सुतं सोमं) अच्छी तरह पवित्र करके निचोडे गए सोमको (गभस्त्योः आवृषस्व) हाथोंमें धारण कर । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (धिया इषितः) अपनी उत्तम बुद्धिसे प्रेरित होकर तू (सौधन्वनेभिः नृभिः) उत्तम धनुषोंको धारण करनेवाले मनुष्योंके साथ (दाशुषः गृहे मत्स्व) दानशीलके घरके जाकर आनन्दित हो ॥ ५ ॥

[५९१] हे (पुरुष्टुत इन्द्र) बहुतोंके द्वारा स्तुत इन्द्र ! (ऋभुमान्) ऋभुओंसे युक्त (वाजवान्) बलशाली तथा (शच्या) शक्तिसे युक्त होकर (इह) यहां (नः अस्मिन् सवने) हमारे इस यज्ञमें (मत्स्व) आनन्दित हो । (इमानि स्वसराणि) ये दिन और (मनुषः धर्मभिः) मनुष्यके कर्मोंके साथ (देवानां व्रता) देवोंके नियम भी (तुभ्यं येमिरे) तेरे कारण ही चलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— ये ऋभु मनुष्यको कभी भी अवनतिके मार्गोंमें प्रेरित नहीं करके, उसको गिराते या अवनत करते नहीं । अपितु हमेशा उसे उत्तम मार्गोंमें प्रेरित करके उसे उन्नत ही करते हैं । वे उत्तम कर्मोंके द्वारा इन्द्रकी मित्रताको प्राप्त करके उसे हमेशा टिकाये भी रहते हैं । वे अपने इन उत्तम कर्मोंके द्वारा ही अमृतत्वकी प्राप्ति करते हैं ॥ ३ ॥

यह ऋभु अपने पराक्रमके कारण इतने उन्नत हैं कि वे इन्द्रके साथ उसीके रथपर बैठकर यज्ञोंमें जाते हैं । जो उनके साथ मित्रता करते हैं, उनके पास ये ऋभु धन और ऐश्वर्य लेकर जाते हैं । इनके उत्तम कर्म और पराक्रम इतने महान् हैं कि उनकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! तू ऋभुओंके साथ यज्ञमें आकर इस निचोडे गए सोमको हाथोंसे धारण कर और इन उत्तम धनुर्धारी मनुष्य-ऋभुओंके साथ दानशीलके घरमें जाकर आनन्दित हो ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! तू ऋभुओंके साथ अपने बल और शक्तियोंसे युक्त होकर हमारे यज्ञमें आकर आनन्दित हो । हे इन्द्र ! मनुष्योंके और देवोंके कर्म भी तेरे ही कारण नियममें चलते हैं ॥ ६ ॥

५९२ इन्द्र॑ ऋभु॒भि॑र्वा॒जिभि॑र्वा॒जय॑न्नि॒ह स्तोमं॑ जरि॒तुरुप॑ याहि य॒ज्ञिय॑म् ।
श॒तं केते॑भिरिषि॒रेभि॑रा॒यवे॑ स॒हस्र॑णीथो अध्व॒रस्य॒ होम॑नि ॥ ७ ॥

[६१]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- उषाः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

५९३ उषो॒ वाजे॑न वाजिनि॒ प्रचे॑ताः॒ स्तोमं॑ जुषस्व गृण॒तो म॑घोनि ।
पु॒रा॒णी दे॑वि युव॒तिः पुर॑न्धि॒रनु॑ व्र॒तं च॑रसि विश्ववारे ॥ १ ॥

५९४ उषो॑ दे॒व्यम॑र्त्या॒ वि भा॑हि च॒न्द्रर॑था सू॒नृता॑ ई॒रय॑न्ती ।
आ त्वा॑ वहन्तु सु॒यमा॑सो॒ अश्वा॒ हिर॑ण्यवर्णां पृथु॒पाज॑सो॒ ये ॥ २ ॥

५९५ उषः॑ प्रती॒ची भुव॑नानि॒ विश्वो॒र्ध्वा ति॑ष्ठस्य॒मृत॑स्य के॒तुः ।
स॒मा॒नमर्थं॑ चरणी॒यमा॑ना च॒क्रमि॑व नव्य॒स्या व॑वृत्स्व ॥ ३ ॥

अर्थ— [५९२] हे (इन्द्र) इन्द्र! तू (वाजिभिः ऋभुभिः) बलवान् ऋभुओंके साथ (वाजयन्) सबको बलशाली बनाता हुआ (जरितुः) स्तोताके (इह यज्ञियं स्तोमं उप याहि) इस पूजनीय यज्ञमें आ हे (सहस्रणीथो) हजारों उत्तम मार्गोंको जाननेवाले इन्द्र! (शतं इषिरेभिः केतेभिः) सौ वेगवान घोडोंसे युक्त होकर (आयवे) मनुष्यको आयु प्रदान करनेके लिए (अध्वरस्य होमनि) हिंसारहित यज्ञमें आ ॥ ७ ॥

[६१]

[५९३] (वाजेन वाजिनि) अन्नसे अन्नवाली (मघोनि उषः) धनवाली उषा ! (प्रचेताः) ध्यान देती हुई (गृणतः स्तोमं जुषस्व) स्तोताओंके स्तोत्र श्रवण कर । हे (विश्ववारे देवि) सबके द्वारा स्वीकारके योग्य उषादेवी ! तू (पुराणी युवतिः) पुरातन होनेपर भी तरुणी तथा (पुरंधिः) बडी बुद्धिमती (व्रतं अनुचरसि) व्रतका अनुष्ठान करती है ॥ १ ॥

[५९४] (देवी उषः) उषादेवी ! (चन्द्ररथा) चन्द्रके समान सुंदर रथमें बैठनेवाली (सूनृता ईरयन्ती) मधुरवाणीको प्रेरित करनेवाली, (अमर्त्या विभाहि) अमर स्वरूपिणी तू प्रकाशित हो। (ये पृथुपाजसः हिरण्यवर्णाः) जो विशेष बलवान् तथा सुवर्णके समान रंगवाले और (सुयमासः अश्वाः) स्वाधीन रहनेवाले घोडे हैं वे (त्वा आ वहन्तु) तुझे यहां ले आवें ॥ २ ॥

[५९५] हे (उषः) उषा ! (विश्वा भुवनानि प्रतीची) सब भुवनोंके सन्मुख (अमृतस्य केतुः) अमृतक ध्वजके समान (ऊर्ध्वा तिष्ठसि) तू उच्च स्थानमें खडी रहती है । हे (नव्यसि) नित्य नवीन बननेवाली उषा ! (चक्रं इव) चक्रके समान (समानं अर्थं चरणीयमाना) एक ही अर्थ प्राप्तिके लिए चलनेवाली तू (आ ववृत्स्व) पुनः पुनः फिरती रह ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे इन्द्र ! तू बलवान् ऋभुओंके साथ सबको बलशाली बनाता हुआ स्तोताके इस पूजनीय यज्ञमें आ और मनुष्योंकी आयु बढा ॥ ७ ॥

यह उषा अन्नके साथ रहनेवाली, उत्तम अन्न तैय्यार करनेवाली, ऐश्वर्यवती, उत्तम अन्तःकरणवाली, सबसे श्रेष्ठ, तेजस्विनी, विशेष बुद्धिमती और तरुणी है, यह अपने नियमोंका पालन करती है ॥ १ ॥

यह उषा चन्द्रके समान सुन्दर और आल्हाददायक रथमें बैठती है, मधुर और शुभ भाषणकी प्रेरणा देती है और अमर है ॥ २ ॥

यह उषा अमरत्व प्राप्तिका ज्ञान देती है अर्थात् अमृतत्व प्राप्तिका ज्ञान प्राप्त कराती है, सब भुवनोंका निरीक्षण करती है । यह नई कन्याके समान सुन्दर दीखती है तथा एक ही ध्येयकी प्राप्तिके लिए हमेशा चक्रके समान घूमती रहती है । सिद्धिके प्राप्त होनेतक यह अपने प्रयत्नको नहीं छोडती ॥ ३ ॥

×

५९६ अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी ।
स्व१र्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद् दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः ॥ ४ ॥
५९७ अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम् ।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥ ५ ॥
५९८ ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात् ।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥ ६ ॥
५९९ ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश ।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥ ७ ॥

अर्थ— [५९६] (स्यूम इव अवचिन्वती) प्रकाश किरणके समान अन्धकारको दूर करनेवाली (मघोनी उषा) धनवाली (स्वसरस्य पत्नी) दिनकी पत्नी उषा (याति) चलती है। (स्वः जनन्ती) प्रकाशको प्रकट करनेवाली (सुभगा सुदंसा) भाग्यवाली सुंदरी (दिवः पृथिव्याः आन्तात्) द्युलोक और पृथिवीके अन्तिम भाग तक (आ पप्रथे) प्रकाशित होती है ॥ ४ ॥

[५९७] हे स्तोता लोगो ! (वः अच्छ) आप सबके सन्मुख (विभातीं देवीं उषसं) प्रकाशनेवाली उषादेवीकी (नमसा वः सुवृक्तिं प्रभरध्वं) नमस्कारपूर्वक तुम सब स्तुति करो। (मधुधा) मधुरताका धारण करनेवाली उषा (दिवि ऊर्ध्वं पाजः अश्रेत्) द्युलोकमें उच्च भागपर अपना तेज रखती है। (रण्वसंदृक् रोचना) रमणीय दर्शनवाली तेजस्विनी उषा (प्र रुरुचे) प्रकाशित हो रही है ॥ ५ ॥

[५९८] (ऋतावरी दिवः अर्कैः अबोधि) सत्यपालन करनेवाली यह उषा द्युलोकपर आनेवाले किरणोंसे जानी गई है। यह (रेवती) धनसंपन्न उषा (रोदसी चित्रं अस्थात्) द्यावापृथिवीपर विविध रंगवाली शोभाको स्थापित कर रही है। हे (अग्ने) अग्नि ! (आयतीं विभातीं उषसं) आनेवाली इस प्रकाशित उषाके प्रति (वामं द्रविणं भिक्षमाणः एषि) स्वीकरणीय धनकी अपेक्षा करता हुआ तू जाता है ॥ ६ ॥

[५९९] (वृषा ऋतस्य बुध्ने) बलवान् सूर्य दिनके प्रारंभमें (उषसां इषण्यन्) उषाओंको प्रेरित करता हुआ (मही रोदसी आ विवेश) विशाल द्यावापृथिवीमें प्रविष्ट हुआ है। (मित्रस्य वरुणस्य मही माया) मित्र और वरुणकी यह महती शक्ति (चन्द्रा इव भानुं पुरुत्रा विदधे) सुवर्णके सदृश रमणीय उषाके समान प्रकाश चारों ओर धारण करती है ॥ ७ ॥

भावार्थ— प्रकाशकी किरणोंके समान यह अन्धेरेको दूर करके सर्वत्र प्रकाश करती है, यह उषा अपने बलसे आगे बढनेवाले सूर्यकी पत्नी होकर सदा प्रगति करती है। यह उत्तम प्रकाशको प्रकट करती हुई उत्कृष्ट धन और ऐश्वर्यसे युक्त तथा उत्तम सुन्दरी है ॥ ४ ॥

यह प्रकाशनेवाली उषा मधुरताको धारण करनेवाली, सुन्दरी और तेजस्विनी है। ऐसी उषाकी प्रशंसा सर्वत्र होती है ॥ ५ ॥

उषा सत्यका पालन करनेवाली तथा द्युलोकमें अपनी किरणोंको फैलानेवाली है। शोभावाली यह उषा आकाशमें विविध रंगोंवाले चित्रोंको चितारती है। तब अग्नि भी पृथ्वी पर प्रज्वलित होती है। तब प्रतीत ऐसा होता है कि मानों अग्नि भी अपने तेजको प्राप्त करनेके लिए उषाके पास जा रहा हो ॥ ६ ॥

बलवान् पिता सूर्य, उत्तम कर्म जब प्रारंभ होते हैं, तब दिनके प्रारंभमें उषाओंको प्रेरित करता है और द्यु और पृथ्वीके मध्यमें अपनी प्रकाश किरणोंको विस्तृत करता है। सूर्य प्रथम उषाको भेजता है और तब स्वयं प्रकट होता है। उषःकालमें जो रमणीय प्रकाश फैलता है, वह सब मित्र और वरुणकी महिमा है ॥ ७ ॥

[६२]

[ऋषिः— गाथिनो विश्वामित्रः, १६-१८ जमदग्निर्वा । देवता— १-३ इन्द्रावरुणौ, ४-६ बृहस्पतिः, ७-९ पूषा, १०-१२ सविता, १३-१५ सोमः, १६-१८ मित्रावरुणौ । छन्दः- गायत्री, १-३ त्रिष्टुप् ।]

६०० इमा उ वां भृमयो मन्यमाना युवावते न तुज्या अभूवन् ।
क्व१ त्यदिन्द्रावरुणा यशो वां येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः ॥ १ ॥

६०१ अयमु वां पुरुतमो रयीयञ्छश्वत्तममवसे जोहवीति ।
सजोषाविन्द्रावरुणा मरुद्भिर्दिवा पृथिव्या शृणुतं हवं मे ॥ २ ॥

६०२ अस्मे तदिन्द्रावरुणा वसु ष्यादस्मे रयिर्मरुतः सर्ववीरः ।
अस्मान् वरूत्रीः शरणैरवन्त्वस्मान् होत्रा भारती दक्षिणाभिः ॥ ३ ॥

६०३ बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य । रास्व रत्नानि दाशुषे ॥ ४ ॥

---

[६२]

अर्थ— [६००] हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण ! (वां) तुम दोनोंके (मन्यमानाः भृमयः इमाः) शत्रुओंको संहार करनेवाले तथा घूमनेवाले शस्त्र (युवावते) तरुण मनुष्योंकी (तुज्याः न अभूवन्) हिंसा करनेवाले न हों । तुम (येन) जिससे (सखिभ्यः) अपने मित्रोंको (सिनं भरथः स्म) अन्न प्रदान करते थे, (त्यत्) वह (वां यशः) तुम दोनोंका यश (क्व) कहां है ? ॥ १ ॥

[६०१] हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण ! (रयीयन्) धनैश्वर्यकी इच्छा करता हुआ (अयं पुरुतमः) यह अत्यन्त श्रेष्ठ होता (अवसे) अपनी रक्षाके लिए (वां जोहवीति) तुम्हें बार बार बुलाता है । तुम दोनों (मरुद्भिः दिवा पृथिव्या सजोषौ) मरुत्, द्यु और पृथ्वीके साथ मिलकर (मे हवं शृणुतं) मेरी प्रार्थनाको सुनो ॥ २ ॥

[६०२] हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण देवो ! (अस्मे तत् वसु स्यात्) हमें वह धन प्राप्त हो, हे (मरुतः) मरुद्गण ! (अस्मे सर्ववीरः रयिः) हमें सब पुत्रपौत्रोंसे युक्त धनैश्वर्य प्रदान करो, (वरूत्रीः) सबके द्वारा वरण किए जाने योग्य देवशक्तियां (शरणैः) शरण देकर (अस्मान् अवन्तु) हमारी रक्षा करें तथा (होत्रा भारती) होत्रा और भारती (अस्मान्) हमारी रक्षा करें ॥ ३ ॥

[६०३] हे (विश्व देव्य बृहस्पते) सम्पूर्ण दिव्यतासे युक्त बृहस्पते ! (नः हव्यानि जुषस्व) हमारी प्रार्थनाओंको सुनो और (दाशुषे रत्नानि रास्व) दानशीलको रत्न प्रदान करो ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे इन्द्रावरुण ! तुम्हारे शक्तिशाली और सर्वत्र घूमनेवाले शस्त्रास्त्र तरुण मनुष्योंकी हिंसा न करें । तुम जिससे अपने मित्रोंको अन्न प्रदान करते हो वह तुम्हारा यश अथवा बल प्रकट करो ॥ १ ॥

हे इन्द्रावरुण देवो ! धन और ऐश्वर्यको पानेकी इच्छा करनेवाला यह श्रेष्ठ स्तोता अपनी रक्षाके लिए तुम्हें बुलाता है, तुम मरुत्, द्यु और पृथ्वी आदि देवोंके साथ आकर मेरी प्रार्थना सुनो ॥ २ ॥

इन्द्र, वरुण, मरुत्, वरूत्री, होत्रा, भारती आदि देव हमें धन, सुख और पुत्रपौत्र आदि देकर हमारी रक्षा करें ॥ ३ ॥

यह बृहस्पति मनुष्योंकी सब अभिलाषाओंको पूरी करनेवाला अनेक रूपोंवाला तथा वीर है । उसका ओज किसीके सामने नहीं झुकता, ऐसा वह बृहस्पति हमारी प्रार्थनाओंको सुनकर हमें धन प्रदान करे ॥ ४–६ ॥

६०४ शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत । अनाम्योज आ चके ॥ ५ ॥
६०५ वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम् । बृहस्पतिं वरेण्यम् ॥ ६ ॥
६०६ इयं ते पूषन्नाघृणे सुष्टुतिर्देव नव्यसी । अस्माभिस्तुभ्यं शस्यते ॥ ७ ॥
६०७ तां जुषस्व गिरं मम वाजयन्तीमवा धियम् । वधूयुरिव योषणाम् ॥ ८ ॥
६०८ यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स नः पूषाविता भुवत् ॥ ९ ॥
६०९ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १० ॥
६१० देवस्य सवितुर्वयं वाजयन्तः पुरंध्या । भगस्य रातिमीमहे ॥ ११ ॥
६११ देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः । नमस्यन्ति धियेषिताः ॥ १२ ॥

अर्थ – [६०४] हे मनुष्यो ! (अध्वरेषु) यज्ञोंमें (शुचिं बृहस्पतिं) पवित्र बृहस्पतिको (अर्कैः नमस्यत) स्तोत्रोंसे प्रणाम करो। मैं उससे (अनामि ओजः आ चके) शत्रुओंके सामने न झुकनेवाले ओजको मांगता हूँ ॥ ५ ॥

[६०५] मैं (चर्षणीनां वृषभं) मनुष्योंके मनोरथ पूर्ण करनेवाले (विश्वरूपं) अनेक रूपोंवाले (अदाभ्यं) किसीसे न दबनेवाले (वरेण्यं बृहस्पतिं) ग्रहण करने योग्य बृहस्पतिकी पूजा करता हूँ ॥ ६ ॥

[६०६] हे (आघृणे पूषन् देव) दीप्तिमान् पोषण देव ! (इयं नव्यसी सुस्तुतिः) यह नवीन और उत्तम स्तुति (ते) तेरे लिए है, इसलिए (अस्माभिः) हमारे द्वारा (तुभ्यं शस्यते) तेरे लिए ही की जाती है ॥ ७ ॥

[६०७] हे पोषक देव ! (मम तां गिरं) मेरी उस उत्तम वाणीको (जुषस्व) सुनो और (वाजयन्तीं धियं अव) बल प्राप्तिकी इच्छा करनेवाली इस बुद्धिकी उसी प्रकार रक्षा करो जिस प्रकार एक (वधूयुः योषणां इव) वधूकी कामना करनेवाला अपनी वधूकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

[६०८] (यः) जो पूषा (विश्वा भुवना) सारे भुवनोंको (अभि पश्यति) चारों ओरसे देखता है (च) और (सं पश्यति) अच्छी तरह देखता है, (सः पूषा) वह पोषक देव (नः अविता भुवत्) हमारी रक्षा करनेवाला हो ॥ ९ ॥

[६०९] हम (सवितुः देवस्य) सविता देवके (तत् वरेण्यं भर्गः) उस श्रेष्ठ, वरण करने योग्य तेजका (धीमहि) ध्यान करते हैं (यः) जो सविता (नः धियः) हमारी बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) उत्तम मार्गमें प्रेरित करे ॥ १० ॥

[६१०] (वाजयन्तः) धनकी अभिलाषा करनेवाले हम (पुरंध्या) अपनी श्रेष्ठ बुद्धिसे (सवितुः देवस्य) सविता देवसे (भगस्य रातिं ईमहे) ऐश्वर्यके दानको मांगते हैं ॥ ११ ॥

[६११] (धिया इषिताः विप्राः नरः) अपनी श्रेष्ठ बुद्धिसे प्रेरित होकर सत्कर्म करनेवाले ज्ञानी मनुष्य (सुवृक्तिभिः यज्ञैः) उत्तम रीतिसे किए गए स्तोत्रोंसे (देवं सवितारं नमस्यन्ति) तेजस्वी सविता देवकी अर्चना करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— यह पोषक देव तेजस्वी है, अतः अपनी तेजस्वितासे हमारी बुद्धियोंकी रक्षा करे। वह सारे भुवनोंको सब ओरसे और सम्यक् रीतिसे देखनेवाला है, सर्व द्रष्टा है। अतः वह हमारी प्रार्थनाओंसे प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करे ॥ ७-९ ॥

वह तेजस्वी परमात्मा सबका उत्पादक है और सबको उत्तम प्रेरणा देनेवाला है। वह बडा तेजस्वी है, जो मनुष्य इसके तेजका सतत ध्यान करके उसे धारण करता है, उसकी बुद्धि सदा उत्तम मार्गमें ही प्रेरित होती है ॥ १० ॥

सविता देव ज्ञानियोंकी बुद्धियोंको उत्तम बनाकर उन्हें सदा सन्मार्गमें ही प्रेरित करता है। जब ज्ञानी जन अपनी मेधासे उस सविता देवकी स्तुति करते हैं, तब वह उन्हें धनैश्वर्य प्रदान करके सम्पन्न बनाता है ॥ ११-१२ ॥

६१२ सोमो॑ जिगाति गातु॒विद् दे॒वाना॑मेति निष्कृ॒तम् । ऋ॒तस्य॒ योनि॑मा॒सद॑म् ॥ १३ ॥
६१३ सोमो॑ अ॒स्मभ्यं॑ द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे च प॒शवे॑ । अ॒न॒मी॒वा इष॑स्करत् ॥ १४ ॥
६१४ अ॒स्माक॒मायु॑र्व॒र्धय॑न्न॒भिमा॑तीः॒ सह॑मानः । सोमः॑ स॒धस्थ॒मास॑दत् ॥ १५ ॥
६१५ आ नो॑ मित्रावरुणा घृ॒तैर्गव्यू॑तिमुक्षतम् । मध्वा॒ रजां॑सि सुक्रतू ॥ १६ ॥
६१६ उ॒रु॒शंसा॑ नमो॒वृधा॑ म॒ह्ना दक्ष॑स्य राजथः । द्राघि॑ष्ठाभिः शुचिव्रता ॥ १७ ॥
६१७ गृ॒णा॒ना ज॒मद॑ग्निना॒ योना॑वृ॒तस्य॑ सीदतम् । पा॒तं सोम॑मृतावृधा ॥ १८ ॥

अर्थ— [६१२] (गातुवित् सोमः) श्रेष्ठ मार्गोंको जाननेवाला सोम (जिगाति) सर्वत्र जाता है और (देवानां निष्कृतं आसदं) देवोंके योग्य उत्तम आसनरूप (ऋतस्य योनिं) यज्ञके स्थानपर (एति) जाता है ॥ १३ ॥

[६१३] (सोमः) सोम (अस्मभ्यं) हमारे लिए (द्विपदे चतुष्पदे च पशवे) दोपाये और चौपाये पशुओंके लिए (अनमीवा इषः करत्) रोगरहित अन्न प्रदान करे ॥ १४ ॥

[६१४] (सोमः) सोम (अस्माकं आयुः वर्धयन्) हमारी आयुको बढाता हुआ और (अभिमातीः सहमानः) अभिमानियोंका पराभव करता हुआ (सधस्थं आसदत्) हमारे घरमें आकर रहे ॥ १५ ॥

१ सोमः अभिमातीः सहमानः— सोम अभिमानियोंको पराभूत करता है ।

[६१५] (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (सुक्रतू) उत्तम कर्म करनेवाले हैं, वे दोनों (नः गव्यूतिं) हमारी गायोंके समूहको (घृतैः उक्षतं) घीसे सींचें और (रजांसि) हमारे घरोंको (मध्वा) मधुरता युक्त पदार्थोंसे सींचें ॥ १६ ॥

[६१६] हे (शुचिव्रता) उत्तम और पवित्र कर्म करनेवाले मित्र और वरुण ! (उरुशंसा) महान् स्तुतिवाले (नमोवृधा) स्तुतियोंसे बढनेवाले, (द्राघिष्ठाभिः) विस्तृत वाणियोंसे युक्त तुम दोनों (दक्षस्य मह्ना राजथः) अपने बलकी महिमाके कारण शोभित होते हो ॥ १७ ॥

१ दक्षस्य मह्ना राजथः— ये देव अपने बलके महत्वसेही तेजस्वी हैं । तेजस्वी वे ही होते हैं, जो अपनेही बल पर निर्भर रहते हैं ।

[६१७] हे मित्र और वरुण ! (जमदग्निना गृणाना) जमदग्नि ऋषिके द्वारा प्रशंसित होते हुए तुम (ऋतस्य योनौ सीदतं) यज्ञके स्थानमें आकर बैठो और (ऋतावृधा) ऋतके कारण बढनेवाले तुम दोनों (सोमं पातं) सोमका पान करो ॥ १८ ॥

भावार्थ— सोम सभी मार्गोंको जाननेवाला होनेके कारण यज्ञमें देवोंके समान ही सम्मान पाता है। वह अपने भक्तोंको और उनके पशुओंके लिए रोगरहित अन्न प्रदान करके जो अभिमानी शत्रु होते हैं, उन्हें हराकर उन्हें नीचा दिखाता है ॥ १३-१५ ॥

मित्र और वरुण ये दोनों देव उत्तम कर्म करनेवाले हैं । वे हमारी गायोंको घी से और हमारे घरोंको मधुरता युक्त पदार्थोंसे भरपूर करें । वे दोनोंही पवित्र कर्म करनेवाले होनेके कारण महा बलशाली हैं, तथा अपने बलकी महिमाके कारण ही वे तेजस्वी हैं । इन तेजस्वी देवोंकी अग्निकी सदा पूजा करनेवाले ऋषि भी स्तुति करते हैं । वे अपने ऋत अर्थात् नियमोंका पालन करनेके कारणही वृद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ १६-१८ ॥

॥ इति तृतीयं मण्डलं समाप्तम् ॥



Regd No G. 71

अल्प मूल्यमें] [अमूल्य उपहार

हमारा उद्देश्य

और

आपकी सहायता

आपकी यह लोकप्रियसंस्था स्वर्णजयन्ती मनाकर ५१ वें वर्षमें प्रविष्ट हुई है। इस शुभ अवसर पर " वेदोंका सर्वत्र प्रचार करके वैदिकधर्मके पांचजन्यका घोष गुंजाने " के उद्देश्यको पूरा करनेके लिए हमने श्री पं. श्री. दा. सातवलेकरजीके द्वारा सम्पादित चारों वेदसंहिताओंको रु. २०.०० के बजाय रु. १२.०० में देनेका निर्णय किया है। यह सुविधा चारों वेदोंके सम्पूर्ण सेटको खरीदनेवालेको ही मिल सकेगी। शिवरात्री अर्थात् महर्षि दयानन्दके बोधोत्सवके पर्वतक ही यह सुविधा दी जायेगी।

साइज़ डबल क्राऊन १६ पेजी, पृ. सं. १९००। मूल्य १२.०० रु. केवल (डा. व्य. पृथक्)। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा। आज ही मंगाइये।

व्यवस्थापक,
स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
(जि. बलसाड)

ऑर्डर भेजते समय इस विज्ञापनका उल्लेख अवश्य करें।

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसाड]

वैदिकधर्म

जनवरी

१९६९

५० पैसे



त्रिंशज्जनवरी यस्य पुण्यस्मरणदायिका ।
अस्तु श्रद्धाञ्जलिस्तस्मै विश्ववन्द्यमहात्मने ॥

वैदिक धर्म

वर्ष ५० : अंक १ : पौष : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडळ, पारडी [जि. वलसाड]



संस्थापक एवं आद्यसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमणिका

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५-६२, विदेशके लिये रु. ६-५० डाक व्यय अलग रहेगा।

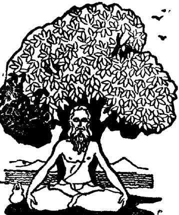
मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. वलसाड]

वैदिकधर्म

संरक्षक इन्द्र

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह
स्तुतः सधमादस्तु शूरः ।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीः
द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात्

(ऋ. ४।२१।१)



(द्यौः न) द्युलोकके समान तेजस्वी (यस्य तवीषीः पूर्वीः) इन्द्रके बल बहुतसे हैं, वह (इन्द्रः) इन्द्र (अवसे नः उप आ यातु) संरक्षणके लिए हमारे पास आवे तथा (स्तुतः) प्रशंसित होकर वह (इह सधमात् अस्तु) इस यज्ञमें हमारे साथ आनन्द प्राप्त करनेवाला हो और (अभिभूति क्षत्रं पुष्यात्) शत्रुओंको हरानेवाले बलको पुष्ट करे ।

वह इन्द्रके समान तेजस्वी और अत्यन्त बलशाली है । वह हमारे पास आकर हमारी रक्षा करे और हम जो यज्ञ करते हैं, उसमें आकर वह आनन्दित होकर हमारी शक्तिको पुष्ट करे ।

संपादकीय :

नया बरस हो मंगलकारी

सन् १९६८ का स्थान १९६९ ने ले लिया है। प्रत्येक नया वर्ष किन किन घटनाओंको अपने गर्भमें छिपाये रहता है, जानना मुश्किल ही नहीं मवंथ असंभव है। पर इतना अवश्य है कि गतवर्षका एकबार सिंहावलोकन कर लिया जाय तो अगले वर्षमें उससे अनेक तरहकी सहायता मिल सकती है।

१९६८ का वर्ष इतना तो निश्चित है कि जागतिक शान्तिके लिए उतना सुखमय न रहा, कि जितनी हमें आशा थी। अमेरिकामें मार्टिनलूथर किंगकी हत्यासे वस्तुतः अहिंसाकी ही हिंसा हुई ऐसा ही मं समझता हूं। उसके बाद राबर्ट केनेडीकी हत्या एक ऐसी राजनीतिका द्योतक है, कि जिससे विश्वकी उन्नति नहीं हो सकती।

भारतमें भी अनेक महापुरुषों एवं सन्तोंकी मृत्युसे ऐसा जबर्दस्त धक्का लगा कि जिससे यह लड़खड़ासा गया। किसी भी राष्ट्रमें राजनीतिक नेताकी मृत्युसे इतनी ज्यादा हानि नहीं होती, क्योंकि उस रिक्त स्थानको कोई अन्य नेता आकर भर ही देता है, पर धार्मिक सन्तोंके रिक्तस्थानको भरना असंभव हो जाता है।

भारत गतवर्ष राष्ट्रसन्त श्रीतुकडो और श्री रंगअवधूतके रूपमें दो महान् सन्तोंसे हीन हो गया और उसे सबसे बड़ा जो धक्का पहुंचा, वह था वेदमहर्षि पं. श्री. दा. सातवलेकरजीकी मृत्यु। भारतमें वेदसे एवं वैदिकसाहित्यका उद्धार करके वैदिकधर्मका प्रचार करना पण्डितजीका एकमात्र ध्येय था। उनकी मान्यता थी कि वैदिकधर्मसे ही भारत संसारका गुरु बन सकता है। इसीलिए वे वैदिकधर्मके प्रचार कार्यमें सदा तत्पर रहे।

उनका वियोग विशेष कर स्वाध्याय मण्डलको बहुत भारी पड़ गया। यह संस्था, जिसकी उन्होंने ही स्थापना की थी, उनके अभावमें निरीह सी हो गई। वे मण्डलके सर्वस्व थे।

फिर भी संस्था एक ऐसा संगठन होती है, कि जो सतत चलती रहती है। वह कभी बन्द नहीं होती। होनेवाले परिवर्तनोंका उस पर प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर उन परिवर्तनोंके कारण वह ठप्प ही हो जाए, यह संभव नहीं।

हमें प्रसन्नता है कि हम श्री पू. पण्डितजीके द्वारा लगाये गए वेदवृक्षको सींचनेके कार्यमें यथाशक्ति रत हैं। यदि यह और विशाल होकर सब पर अपनी छाया फैला सके, तो हम समझेंगे कि हमने श्री पू. पण्डितजीके प्रति अपने अवशिष्ट कर्तव्योंका पूर्णतया निर्वहण किया है।

पर इसमें हमें समस्त वेदप्रेमियोंकी हार्दिक सहायताकी आवश्यकता है। हम अपने पाठकोंसे यही कामना करते हैं कि वे इस संस्था एवं संस्थाके कार्यको अपना ही। यथाशक्ति सहयोग प्रदान करते रहें।

नये वर्षकी शुभकामनाओंके साथ।



हिन्दी-काव्य

गी ता वा णी

रचयिता— श्री गजाननसिंह चौहान 'नम्र', "साहित्य सदन",
मण्डलेश्वर (म. प्र.)

[२६१]

अहंकार कामना शक्तिके, रहते हैं जो परायण।
क्रोध-घमण्डमें खोये करते औरोंका निंदा-वर्णन ॥
अन्य शरीरोंमें स्थित जो करते प्रभुसे द्वेष सदा।
क्रूर-कर्मी पापी अधर्मोंको, देता आसुरी योनि सदा ॥
दुष्ट द्वेषी शूकर कूकरकी, पाते योनि हैं अज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२६२]

पार्थ ! मूढ वे मानव तनमें, पाते योनि हैं आसुरी।
प्राप्त नहीं वे होते मुझको, नीच गति पाते गहरी ॥
घोर नरकको वे पाते हैं, काम-क्रोध और लोभके वश।
इन्हीं तीनों नरकोंमें जाते, आत्म-विनाशी जीव विवश ॥
कामक्रोध-लालचही पतन है, इन्हें त्याग देवे ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२६३]

काम क्रोध और लोभ हैं तीनों, त्रय भांतिके द्वार नरक।
पूर्ण विकारोंसे विमुक्तही, करता आचरण श्रेष्ठ परख ॥
परम गतिको वह जाता है, प्राप्त मुझे होता आकर।
शास्त्र त्यागी कामनासे प्रेरित, पाता नहीं सिद्धि चलकर ॥
परमगति-सुख नहीं है पाता, कर्म हैं उसके मनमानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

श्रद्धात्रयविभागयोग

[२६४]

कर्म-अकर्ममें तेरे हेतु-शास्त्र व्यवस्था है आधार।
शास्त्र-विधिसे जो नियत है, वही कर्म कर श्रेष्ठ विचार ॥
प्रभुवचन सुन अर्जुन बोला-शास्त्रविधिको जो तजकर।
श्रद्धायुक्त देवोंका पूजन, करता शुद्ध हृदय लेकर ॥
सत्व-राजसी और तामसी, कौन दशा उनकी मानी ?
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२६५]

शास्त्रहीन संस्कार हैं जिनके, है स्वभावसे उर-श्रद्धा।
सात्विक-राजसी-तामसी,त्रय भांतिकी है श्रद्धा ॥
हृदय-रूप श्रद्धा होती है, हर मानवमें हे भारत।
यह मानव श्रद्धासे युक्त है,जान रहा जो है भारत ॥
जिसकी श्रद्धा होती है जैसी, वैसी सर्व उसने मानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२६६]

श्रद्धाके अनुसार है होता, हर मानवमें रूप अलग।
सात्विक देवोंको पूजते, असुर-यक्षको जन राजस ॥
भूत-प्रेत तामस हैं पूजते, शास्त्रविधिसे जो हैं हीन।
मन कल्पित तप घोर हैं करते, दम्भ-गर्व-अभिलाषालीन ॥
जो उरमें आसक्ति रखते, हैं बल कारण अभिमानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२६७]

वदन-इन्द्रिया-मनके रूपमें, पांच भूत हैं नभ परिणत।
हृदयलीन मुझ आत्म ईशको, कृश करनेमें जो हैं रत ॥
आसुरी स्वभाव है जिनका, वे हैं सब अज्ञानी जन।
त्रय स्वभाव और श्रद्धा कारण, करते भिन्न प्राणी भोजन ॥
उसी भांति होते प्यारे हैं, यज्ञ-दान-तप विज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२६८]

आयु-बुद्धि-शक्तिके प्रदाता, सुख-प्रीति-आरोग्य सहित।
चिकने और रससे पूरित हैं, रहते तन स्थिर विदित॥
ये स्वभाववश सबको प्यारे, होते हैं भोजन सुन्दर।
सात्त्विक जनको भी प्यारे, ये लगते भोजन सुन्दर॥
कड़वे-खट्टे-लवणयुक्त भी, करते भोजन कुछ प्राणी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२६९]

तीक्ष्ण-रूखे और अति गर्म हैं, दाहकारी किंचित भोजन।
दुख-चिंता और रोग प्रदाता, राजस-जन करते भोजन॥
रस रहित-अधपका-बदबूका, करते तामसी-जन भोजन।
अपवित्र-उच्छिष्ट बासी भी, खाते तामसी हैं भोजन॥
शास्त्रविधिसे पूर्ण यज्ञको, है सात्त्विक करते ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७०]

दंभ और फलकी इच्छासे यज्ञ होता वह है राजस।
अन्नदान और शास्त्ररहित जो करते यज्ञ होता तामस॥
बिना मंत्र-दक्षिणा-श्रद्धाके, यज्ञ कहाता है तामस।
विप्र-गुरु-सुर-ज्ञानी पूजते, रखते शुचि अपना अंतस॥
ब्रह्मचर्य-अहिंसा-सरलता, तप तनका होता ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७१]

जो उद्वेग नहीं करता है, होता प्रिय और हितकारक।
है यथार्थ वह भाषण सुन्दर, पठन शास्त्रोंका ईश्वर-जप॥
वेद आदिका जो अध्ययन है, कहलाता वाणीका तप।
हर्ष हृदयका शांतभाव नित, है स्वभाव चिंतन भगवत्॥
पावनता और मनका निग्रह, कहलाता मन-तप ध्यानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७२]

परम श्रद्धासे निष्कामी जन, करते यज्ञ फलको तजकर।
पूर्व कहो तीनों विधियोंको, सात्त्विक कहते सुन्दर॥
मान पूजा सत्कारके हेतु-किया जाता जो तप अर्जुन।
कहलाता पाखंड अनिश्चित, फलदाता थोडा अर्जुन॥
यहां कहाता है यह राजस, इच्छा फलका ही मानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७३]

मन-वाणी-तनको पीडा दे, हठसे करते मूढ जो तप।
या अनिष्ट करने औरोंका, किया जाता है तामस तप॥
दान देना कर्तव्य है मेरा, सहज भाव ले यह उरमें।
देश-काल और पात्रको मिलता, पार्थ श्रवणकर-रख उरमें॥
अकर्ता प्रत्युपकारको, देते दान सात्त्विक ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७४]

प्रयोजन प्रत्युपकारके क्लेश सहित जो करता दान।
सिद्ध करने संसार कर्मको, फल-इच्छासे करता दान॥
इस प्रकारका दान कहाता, राजस है बदले वाला।
तिरस्कार-सत्कार हीन कर, दिया दान तामस वाला॥
देश काल अयोग्य में देते, कुपात्रोंको बन दानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७५]

ब्रह्म-सच्चिदानंद नाम है, रूप ओम्-तत् और सत्के।
विप्र वेद और यज्ञ रचे हैं, उससे आदिमें इस जगके॥
शास्त्रविधिसे नियत क्रियाएं, वेद कथन करते सज्जन।
यज्ञ दान और तप कर्मोंमें, करते ॐ का उच्चारण॥
ईश्वरका तत् नाम कहाता, है उसका सब कुछ प्राणी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७६]

फलकी कामना तजकर करते, यज्ञ और तप क्रियाएं।
श्रेष्ठ पुरुष कल्याणके हेतु करते दानकी क्रियाएं॥
ईश्वरका सत् नाम कहाता, श्रेष्ठ सत्य भावना स्वरूप।
पार्थ! कर्म उत्तममें रहता, सत्य शब्द ही सूचक रूप॥
यज्ञ-दान और तपकी स्थिति, कहलाती सत्की ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२७७]

निश्चय पूर्वक ईश्वर हेतु-कर्म किया सत् कहलाता।
बिना श्रद्धाके किया हवन और दान असत् है कहलाता॥
तपा हुवा तप और कर्म भी, असत् रूप ही कहलाते।
मृत्यु बाद और इसी लोकमें, नहीं श्रेष्ठ फल वे पाते॥
ईश जाप निष्काम भावसे, करे शास्त्र विधिसे प्राणी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

संन्यासयोग

[२७८]

परम श्रद्धा उत्साह भावसे, करो प्रभुका नित चिंतन ।
श्रेष्ठ आचरण अपनाकरके, करो कर्म निष्काम सुजन ॥
अन्तर्यामी वासुदेव तुम, सुनो महाबाहो ! भगवन् !
त्याग और संन्यासतत्वको, कहो मुझे समझाय पृथक् ॥
पार्थ विनय सुन बोले माधव, सुनो ध्यानसे हे ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

२७९]

काम्य कर्मोंके त्यागको कहते, पंडित जन सुन्दर संन्यास ।
कर्मोंके फलत्यागको कहते, विवेकी मानव संन्यास ॥
दोषयुक्त सब कर्म होते है, अन्य विवेकी जन कहते ।
अत: त्यागनेयोग्य सभी हे, निज विचारसे वे कहते ॥
यज्ञ–दान-तपरूपी कर्म हे, नहीं त्यागने हित ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२८०]

त्याग विषयमें मेरा निश्चय, पार्थ ! भलीभांतिसे जान ।
सात्विक-राजस और तामस, त्रयभांतिके इनको जान ॥
यज्ञ-दान–तपरूपी कर्म हे, नहीं त्यागने योग्य कभी ।
किंतु करना कर्तव्य हैं उनका, हर भांतिसे योग्य सभी ॥
यज्ञ-दान और तप होते हैं , पावन कर्ताजन ज्ञानी + ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२८१]

यज्ञ–दान–तप श्रेष्ठ कर्मोंको करो, सदा आसक्ति–हीन ।
त्याग सर्वदा फलकी कामना, करना चाहिए कर्म प्रवीण ॥
किसी भांति भी योग्य नहीं हैं, नियत कर्मका करना त्याग ।
अत: मोहसे त्याग हैं करना, कहलाता है तामस–त्याग ॥
कष्ट रूप कर्मोंको जानकर करता त्याग है अज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।

[२८२]

शारीरिक पीडाके भयसे, कर्म त्यागता जो मानव ।
करके राजस त्याग न पाता, सही त्यागका फल मानव ॥
शास्त्रविधिसे कर्म है करता, नियम कर्म कर्तव्य समझ ।
आसक्ति-फल त्याग जो करता, वही सात्विक त्याग सहज ॥
कर्मलीन हो फलका तजना, त्याग सात्विक है मानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

+ फल और आसक्तिको त्यागकर कर्म करनेवाला मनुष्य ।

[२८३]

अशुभ कर्मोंसे द्वेष नहीं हैं, शुभमें है आसक्ति नहीं ।
सात्विक–पावन हैं ज्ञानी, त्यागी–शंकाहीन वही ॥
देहधारीके हेतु संभव, त्याग–योग्य सब कर्म नहीं ।
कर्मोंका फल त्याग जो देता, कहलाता वह त्यागी सही ॥
भला बुरा मिश्रित फल पाता, मृत्यु बाद कामी प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२८४]

त्यागी मनुजको कभी न मिलता, कर्मोंका फल भला बुरा ।
वे कहलाते कर्म नहीं हैं किये जाते उनके द्वारा ॥
पूर्ण कर्मोंकी सिद्धि हेतु, पच सांख्य-सिद्धांत बने ।
कर्ता–करण–आधार–चेष्टा, हेतु पांचवा दैव बने ॥
जन करता आरंभ कर्म है, हेतु शास्त्र-मन–तन-वाणी ॥
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता- वाणी ॥

[२८५]

शुद्ध रूप आत्माको कर्ता, निरख अपावन बुद्धिसे ।
न यथार्थ अज्ञानी देखता, अपनी मलिन बुद्धिसे ॥
' मै ' कर्ताका भाव नहीं है, विश्व वस्तुमे लिप्य नहीं ।
लिप्यमान नहीं कर्ममे होता, शुद्धहृदय है सुजन वही ॥
पाप-बंदी होता नहीं नाशक, मार लोकोंको वह प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२८६]

तीन कर्म प्रेरक कहलाते, ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय महान् ।
तीनोंके संयोगसे होती, कर्म–प्रेरणा उर बलवान् ॥
कर्ता-करण–क्रिया कहलाते, हैं कर्मोंके संग्रह तीन ।
ज्ञान कर्म और कर्ता होते, त्रय भांतिके भेद नवीन ॥
सांख्य शास्त्रमें भेद हैं वर्णित, श्रवण ध्यानसे कर ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

(२८७)

भिन्न भूतोंमें निरख ज्ञानसे, अविनाशी ईश्वरका भाव ।
अविभक्त समभावसे स्थित, देखे सात्विक होता भाव ॥
पूर्ण भूतोंके भाव अनेकों, ज्ञान द्वारा पहिचान अलग ।
जिसके द्वारा ठीक जानते, वह राजस है ज्ञान सजग ॥
तुल्य पूर्णताके आसक्त है, ज्ञान काम–तनमें प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२८८]

नाशवान क्षणभंगुर तनको, जान आत्मा बलशाली ।
सर्व भांति आसक्त जो होता, रहित होता युक्तिशाली ।।
तत्त्व अर्थसे रहित तुच्छ है, ज्ञान कहाता वह तामस ।
शास्त्रविधिसे नियत कर्मका, अनुसरण है सात्त्विक अंश ।।
राग-द्वेष तज कर्तापनको, हो अनचाही-फल प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२८९]

अति श्रमसे जो होता काम है, करते जिसे फलके चाही ।
अहंकारी मानव करते है, होता राजस कर्म वही ।।
हानि-हिंसा-परिणाम साथमें, तज सामर्थ्य विचार स्वयं ।
शुरु होता अज्ञानके द्वारा, तामस होता कर्म स्वयं ।।
गर्व और आसक्तिहीन है, कर्ता सात्त्विक वह मानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९०]

धैर्य युक्त होकर उमंगसे, कार्य सिद्धि-असिद्धिमें ।
शोक आदि विकार हीन है, वह सात्त्विक प्रसिद्धिमें ।।
आसक्तिसे युक्त है लोभी और कर्मोंका फल चाही ।
लिप्य हर्ष और शोकसे होता, वह अशुद्ध पर दुखदाई ।।
वह कर्ता राजस कहलाता, सुनो ध्यान देकर ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९१]

शिक्षा हीन विक्षेप युक्त है, धूर्त हृदय जो अभिमानी ।
औरोंकी जीविका मिटाता, करता शोक आलस मानी ।।
दीर्घसूत्री होता है कर्ता, कहलाता तामस कारण ।
बुद्धि और धारण शक्तिके, भेद तीन हैं गुण कारण ।।
कहा पूर्णता और विभागसे, श्रवण मेरेसे कर ध्यानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९२]

मार्ग प्रवृत्ति-निवृत्तिके, अपनाता जो जन अर्जुन !
कर्म और अकर्म जानता, अभय और भय भी अर्जुन ।।
मोक्ष और बंधनसे परिचित, तत्त्व बुद्धिसे जो होता ।
सात्त्विक बुद्धिका मानव, वह है सृष्टिमें होता ।
जो अजान अधर्म-धर्मसे, वह मानव है अज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९३]

अपरिचित अकार्य-कार्यसे, कहलाती बुद्धि राजस ।
धर्म मानता जो अधर्मको, कहलाती वृत्ति तामस ।।
पूर्ण अर्थ विपरीत मानता, होती तामसी वह बुद्धि ।
व्यभिचारके रहित धारणा, रखता ध्यान कर्ता योगी ।।
प्राण-इन्द्रियां-हृदय क्रियाएं, धारी है सात्त्विक ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९४]

पृथापुत्र जो आसक्तिसे, लिए हुए फलकी इच्छा ।
धर्म-अर्थ-कर्मोंको करता, वह होती राजस-इच्छा ।।
दुःख-निद्रा-भय और चिंताको, नहीं त्यागता जो दुर्जन ।
दुर्मेधासे होता प्रभावित, होती तामसी इच्छा मन ।।
सुख होते है तीन भांतिके, श्रवण करो भारत ! ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९५]

भजन ध्यान सेवा-साधनमें, करता रमण जो जन साधक ।
अंत दुःखोंका जो पाता है, होता पहिला सुख साधक ।।
विष समान वह होता पहिले, परिणाममें सुधा-सुखद ।
ईश बुद्धि प्रसादसे उपजा, होता सात्त्विक सुख एतद् ।।
विषय इंद्रियोंके सयोगका, भोग काल तक सुख मानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९६]

विषय-इन्द्रियोंका सुख होता, सुधा तुल्य पर अंत कटु ।
इसीलिए कहलाता राजस, भली भांतिसे सोच पटु ।।
भोग और परिणाममें करता, जो सुख मानवको मोहित ।
निद्रा आलस और प्रमादसे, होता तामस सुख प्रेरित ।।
पृथ्वी-स्वर्ग-देवतामें कोई, रहित नहीं इससे प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९७]

यावन्मात्र संपूर्ण सृष्टि है, त्रिगुणमयी मायाका विकार ।
वैश्य-विप्र-क्षत्रिय शूद्रके, कर्म भिन्न है वृत्ति-प्रकार ।।
पूर्व किये कर्मों के द्वारा संस्कार और हृदय-स्वभाव ।
गुणोंके अनुसार विभाजन, किया गया है शुद्ध स्वभाव ।।
दमन इन्द्रियोंका उर-निग्रह, शुद्धि बाह्य-भीतर मानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[२९८]

धर्म हेतु कर सहन कष्ट नित, रखता अंतर भाव क्षमा।
मन इन्द्रियां, शरीर सरलता, बुद्धि आस्तिक रखता महा॥
शास्त्र, विषय जो सहज जानता, आत्मतत्त्वका ज्ञाता प्रबल।
विप्र कार्य स्वभाविक ये हैं, भली भांतिसे शुद्ध सरल॥
धैर्य चतुरता तेज-वीरता, क्षत्रियके गुण हैं मानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[२९९]

नहीं पलायन करता युद्धसे, स्वामीभाव रखता दानी।
बिना स्वार्थके हित करता है, शास्त्र आज्ञाका हो मानी॥
पुत्र तुल्य प्रजाको मानता, करता पालन भली प्रकार।
शासनका आदेश मानता, लिए हुवे अंतरमें प्यार॥
शूरवीर क्षत्रियके गुण हैं, कर्म सहज ये अनुमानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३००]

क्रय-विक्रय गौपालन करना, कृषि कर्म चोखा व्यवहार।
स्वाभाविक ये गुण होते हैं, वैश्य मनुजमें भली प्रकार॥
सब वर्णोंकी सेवा करना, क्षुद्रका होता कर्म सहज।
अपने कर्मोंको ठीक है करता, ईशसिद्धिको पाता सहज॥
कर्मलीन हो मानवसिद्धि, कैसे पाता सुन ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०१]

सर्वभूत जिस ईशसे उपजे, जिससे व्याप्त है सर्व जगत।
अपने कर्म द्वारा ईश्वरको पाता पूजकर सिद्धि भगत॥
श्रेष्ठ आचरणसे अपनाया, तज औरोंका धर्म महान्।
सर्वभांति निज धर्म श्रेष्ठ है, गुणविहीन होकर भी जान॥
नियत किये स्व-धर्म-कर्मकर, पापमुक्त होता प्राणी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०२]

स्वाभाविक सदोष कर्म हैं, नहीं त्यागके योग्य कभी।
धुएंसे अग्नि दोषी है, इसी भांति हैं कर्म सभी॥
ज्ञानी सर्व आसक्तिहीन जो, रहित स्पृहा जयी हृदय।
सांख्य-योगके द्वारा पाता, नैष्कर्म्य सिद्धिको अभय॥
क्रियाहीन सच्चिदानन्दको, सिद्धि पाता होकर ज्ञानी॥
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०३]

शुद्ध हृदयकी सिद्धि प्राप्त है, सांख्य योगका अनुयायी।
प्राप्त सच्चिदानंद ब्रह्मको, तत्त्व-निष्ठा है सुखदाई॥
सर्व कथन संक्षिप्तमें कहता, श्रवण पार्थ कर देकर ध्यान।
शुद्ध बुद्धि एकांत प्रिय हो, शुद्ध देशमें टहल सुजान॥
मिताहारी मन-तनका विजयी, ब्रह्मनिष्ठ होता प्राणी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०४]

मन-वाणी शरीरके द्वारा, जिसे प्राप्त वैराग्य प्रबल।
परायण नित ध्यान योगमें, सात्त्विक वृत्ति हृदय-सरल॥
शब्द आदि विषयोंको तजकर, करके वशमें उर-पावन।
राग-द्वेष-बल-काम-अहं तज, दर्पहीन है जिसका मन।
संग्रह-त्यागी, ममताहीन है, शांत हृदय ईश्वर ध्यानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०५]

एकीभावसे ब्रह्मलीन वह, शांत हृदय स्थित हुवा।
शोक और अभिलाषाहीन हो, अंतरमें हर्षित हुवा॥
सर्वभूतोंमें वह समभावी, परम भक्ति मेरी पाता।
परम भक्ति और तत्त्वके द्वारा, मेरा ठीकसे है ज्ञाता॥
मुझे तत्त्व-भक्तिसे जानता, सह प्रभावके वह ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०६]

मुझे प्राप्त अनन्य भावसे, वह प्रवेश होता प्राणी।
वासुदेव उसकी दृष्टिमें, विद्यमान रहता ध्यानी॥
सदा करता संपूर्ण कार्मोंको, मेरे परायण निष्कामी।
श्रेष्ठ सनातन अविनाशी पद, पाता कृपासे अनुगामी॥
सर्व कर्मोंको सच्चे मनसे, पार्थ! मुझे दे हो ज्ञानी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०७]

बुद्धि रूप समत्व कर्मको, मेरे परायण हो निष्काम।
कर्मयोग अवलम्बन करके, मेरे ध्यानमें हो अविराम॥
इसप्रकार मेरेमें लीन हो, जन्म-मृत्यु सब संकटमें।
अनायास मुक्ति पायेगा, वचन मानकर संकटमें॥
होगा भ्रष्ट परमार्थसे अर्जुन, त्याग गर्वसे, मम-वाणी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०८]

अहंकारका अवलम्बनकर, करता इस भांति निश्चय।
नहीं करूंगा कभी समर में, मिथ्या है तेरा निश्चय॥
क्षत्रियपन स्वभाव आपसे, युद्ध लीनकर देगा स्वयं।
मोहसे त्यागा कर्म करेगा, स्वाभाविक बंध कर्म स्वयं।
तनरूपी मशीनमें बैठा, अविनाशी अन्तर्य्यामी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी॥

[३०९]

घुमा रहा अपनी मायासे, सर्व भूतोंको वह ईश्वर ।
तनरूपी मशीनमें बैठा, हृदय–देशमें परमेश्वर ।।
सर्व भांतिसे प्राप्त हो भारत, उस अनन्यकी दिव्य शरण ।
परम शांति और धाम परमका, सहज कृपासे होगा वरण ।।
गोपनीय यह अतिज्ञान था, बतलाया तव हित ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[३१०]

इस रहस्यमय ज्ञानका अर्जुन, भलीभांतिसे करके विचार ।
जैसा चाहता वैसा ही कर, अपनी भावनाके अनुसार ।।
शांतचित्त अर्जुन था बैठा, सुनकरके भगवान वचन ।
कहा प्रभुने तब अर्जुनसे, मेरी वाणी करो श्रवण ॥
गोपनीय रहस्य सुनाता, हे चिर प्रेमी-कल्याणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।।

[३११]

श्रद्धा–भक्ति निष्काम भावसे, मेरे ध्यानमें होकर लीन ।
विष्णु रूपका ध्यान हृदयकर, भलीभांतिसे वीर प्रवीण ।।
सर्वभूतोंके मुझ आश्रयको कर साष्टांग प्रणाम सरल ।
नेत्रोंमें सच्चिदानन्दका, रूप झलकता हो निश्छल ।।
मुझे मिलेगा सत्य वचन है, भक्त सखा तू है ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।।

[३१२]

सब कर्मोंका आश्रय तजकर, वासुदेवकी शरणमें आ ।
सर्व पापोंसे मुक्त करूंगा, शोक त्याग निर्भय हो जा ।।
गीतारूप रहस्य परमको, किसी कालमें कहना मना ।
जो नर भक्ति–तप विहीन है, श्रवण इच्छासे हीन बना ॥
जो करता मेरी निंदा को, उसे न कहना यह ' वाणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।।

[३१३]

उक्त दोषोंसे हीन जो मानव, है शुचि भक्ति श्रद्धावान् ।
उसे उमंग सहित सुनाना, भलीभांति ले प्रेम महान् ।।
परम प्रेमकर पुरुष भक्तोंमें, मर्म कहेगा गीताका ।
जनमें ले निष्काम भावना, पाठ करेगा गीताका ।।
भलीभांति व्याख्या प्रचारकर, मुझे प्राप्त होगा प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।।

[३१४]

अति प्रेमी नहीं उससे बढकर, भक्तजनोंमें है मेरा ।
परम प्रेमी पृथ्वीमें उससे, श्रेष्ठ न होगा भक्त मेरा ।।
धर्मरूप संवाद हमारा, गीता पढेगा श्रद्धामय ।
नित्य पाठीके ज्ञान यज्ञसे, पूजा जाऊंगा मैं निश्चय ।।
दोष–दृष्टिविहीन श्रवणसे, पाप–मुक्त होगा प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।।

[३१५]

प्राप्त करेगा श्रेष्ठ लोकोंको, कार्यकर्ता उत्तम ज्ञानी ।
तब माधवने कहा पार्थसे, सुनी ध्यानसे मम–वाणी ? ।।
हो एकाग्र सुनी क्या तुमने, मेरी शिक्षा सखे अतुल ।
जो उपजा अज्ञानके द्वारा, नष्ट हुवा क्या मोह समूल ? ।।
कहा पार्थने– हे अच्युत ! मिट गया मोह सब अज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।।

[३१६]

मोह मिटा स्मृति मिली है, शंका–हीन हुवा माधव !
करु आपकी आज्ञा पालन, सर्व भांतिसे अब माधव ।।
संजय तब धृतराष्ट्रसे बोला, सुना मैंने यह है संवाद ।
श्रीकृष्णने कहा पार्थसे, यह रहस्य--रोमांच विवाद ।।
दिव्य–दृष्टि श्री व्यास कृपासे, सुनी गुप्त सम्मुख वाणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[३१७]

श्रीकृष्ण योगीसे मैंने, साक्षात् यह किया श्रवण ।
यह रहस्य कल्याणकारी है, पार्थ--कृष्ण संवाद वचन ।।
इस अद्भुत संवादको करता, याद बहुत ले हर्ष वदन ।
श्रीहरिके अद्भुत स्वरूपको, करता याद अचरजसे मन ।।
बार-बार पुलकित होता हूं ध्यानरूप धर कल्याणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता--वाणी ।।

[३१८]

अधिक कहूं क्या आपसे राजन्, कहना इतना है सुन्दर ।
योगीश्वर श्रीकृष्ण जहां हैं, विश्वरूप धारी ईश्वर ॥
और धनुष गांडीवके धारी, जहां वीर हे पार्थ प्रखर ।
श्री है विजय-विभूति वहीं पर, अचल नीतिके सहित प्रवर
' नम्र ' नित्य श्रद्धा भक्तिसे, वासुदेव भजो प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ।।

[समाप्त]

पुनर्जन्म-सम्बन्धी घटनायें

लेखक— प्रा. विष्णुदयाल, मॉरिशस

फ्रांसीसी वीरबाला जानदार्क

बंगाल के कवि श्री गोपाल भौमिककी यह लाइन फ्रांसीसी वीरबाला जानदार्कके आगमन कालसे पूर्व फ्रांसमें बसनेवालोंपर पूर्णतः घटती है:—

" अपने घरोंमें ये बन चुके थे प्रवासी "

फ्रांस दासताकी शृंखलामें आबद्ध था, अंगरेजोंका वहां अखण्ड राज्य था।

केवल एक चमत्कार उस देशको बचा सकता था। वह चमत्कार हुआ जब दोमरेमी ग्राममें दिनांक ६ जनवरी १४१२ को जानदार्कका जन्म हुआ।

जान एक गडरियेकी पुत्री थी। वह किसी होटलमें नौकरी करती थी और होटलमें ठहरे हुए लोगोंके घोडोंपर सवार होकर उन्हें कुछ दूरी पर पानी पिलाने ले जाया करती थी। रविवारको तो वंजुके पेडोंके बीच उछलती-कूदती रहती थी मानो कि कोई वनदेवी वनकी शोभा बढा रही थी। वहांके लोगोंको लगा कि इन वंजु वृक्षोंके मध्यसेही फ्रांसके रक्षकका उद्भव होगा। किंवदन्ती थी कि जब वे कभी कभी मैदानोंकी निस्तब्धतामें अपने मेमनोंको चराने जाती थी, वहांपर देवता लोग उन्हें दृष्टिगोचर होते थे।

राजा सप्तम शार्लका जमाना था। एक दिन राजा अपने दरबारियोंके साथ साधारण पोशाक पहने बैठे थे जब कि इतनेमें यह चरवाहेकी पुत्री उनके सामने आई, उसने अचानक राजाको पहचान लिया, राजकार्यके विषयमें जब वह उनसे बातचीत करने लगी, ऐसा मालूम हुआ कि वह एक एक विषयका ज्ञान रखती थी, सारांश यह कि जानकी एक एक चेष्टा विस्मयोत्पादक थी।

उसने एक प्राचीन शस्त्र खोजा जिसका विस्तृत वर्णन करती रही, वह अन्ततः मिल ही गया और लोग अपनी आंखोंपर विश्वास न कर सके, जब यह देखा गया कि शस्त्रको पहलेसे किसीने न देखा होता तो इसतरह उसका वर्णन किया ही न जा सकता था।

उन दिनोंमें मध्ययुगके अंधकारका अखण्ड राज्य था, किसीने केवल कह दिया होता कि पूर्वजन्ममें इस फ्रांसीसी बालाने इस शस्त्रको देखा था तो उसकी जिह्वा काट दी जाती।

फ्रेंचभाषियोंको तो ज्ञात है कि अति प्राचीनकालसे फ्रांसीसी मानते आये थे कि पुनर्जन्म होता है, नहीं तो लडकोंका वे " रेने " नाम कभी न रखते, जिसका अर्थ है " फिर जन्मा "।

शस्त्रसे सुसज्जित जानके प्रकटीकरणके परिणामस्वरूप अन्धकारावृत रजनीमें जैसे प्रकाश फैल गया, अंग्रेजोंके पाँव उखड गये, " अंग्रेजीभाषी जातियोंके इतिहास " में चर्चिलने जानकी तुलना हजरत मुहम्मदके साथ की है। हजरत वस्तुतः जानके समकक्ष थे, दोनोंने सुप्त मानवमें एकाएक नवजीवन संचारित किया था। यहां यह कहना उचित होगा कि इन पंक्तियोंके लेखक उनके सिद्धांतोंके विषयमें कुछ कहना नहीं चाहते। वे दोनोंकी क्रान्तियोंका मूल्य ध्यानमें रखकर उनके संबंधमें लिख रहे हैं।

राजा शार्ल सप्तमको जानने रेंस ले जाकर उनका राज्याभिषेक करवाया, सब कोई चमत्कृत हो उठे।

पर ईसाईधर्मगुरु षड्यन्त्र रच रहे थे और उन्होंने आगमें जानको फिकवाकर ही दम लिया। उनकी प्रतिष्ठाको धक्का लग गया था। लोग कहने लग गये थे कि ईश्वरकी विशेष कृपा जानपर थी।

जब जानका शरीर राख होने लगा, एक अंग्रेज सैनिकको असह्य वेदना हुई। उसने कहा कि एक देवीको अग्निकी भेंट किया गया।

उस सैनिकका ही कथन ईसाई जगत् दोहराता रहा, षड्यन्त्र करनेवाले धर्मगुरुओंका नाम लिया जाता है तो केवल घृणा प्रकट करनेके लिये। राजा शार्लने, जीसने धर्म-गुरुओंके पक्षमें होकर जानको त्यागा, कृतघ्न मानवोंकी सूची बढायी। जानकी तो आज भी घरघरमे चर्चा है। अभी ज्ञात हुआ है कि रियोम नामक नगरकी नगरपालिका-के अजायबघरमें जानका एक बाल सुरक्षित है, वहीं पर उसका एक पत्र भी, जो उसकी हस्तलिपिमें है, विद्यमान है।

फ्रांसीसी बालिका मिन्ड

हमें बारबार पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी पुष्टि करनेवाली घटनाओंका वृत्तान्त पढनेका अवसर मिल रहा है। भारतमें शांतिदेवी प्रकट हुई थी और इस समय मिनुद्रुए नामकी बालिका फ्रेञ्च परिवारमें जन्म लेकर अपनी अद्भुत प्रतिभा-का परिचय दे रही है। दस सालकी उम्रमें पुस्तकें लिख रही है। पूर्वजन्मका ज्ञान उसमे न होता तो यह चमत्कार हो ही नहीं सकता था।

यह लघु लेख अधूरा रह जायेगा अगर यह न जोडा जाय कि कुछ इतिहासकार अब इस बातके अनेक प्रमाण उपस्थित करने लगे है कि जान आगमें नहीं जली थी, युद्धोत्तर फ्रांसमें पायी गई थी। उसका विवाह भी हो गया था। यह नई बात ईसाई जगत्को घबराहटमें डाल रही है।

ओंकार विज्ञान

लेखक— श्री रणछोडदास ' उद्धव '

▲

(गतांकसे आगे)

(७) मोहको मारनेका उपाय

प्रश्न— ईशके मन्त्रोंमें तो बडा ही आनन्द आता है इसलिए अध्ययनकी रुचि बढती जाती है । आज आप सातवें मन्त्रका अर्थ बतानेकी कृपा करेंगे क्या ?

उत्तर—छठे मन्त्रके कथनसे साधारण मनुष्योंको द्वैतका भ्रम हो सकता है। ' कर्मको ब्रह्ममें देखो और ब्रह्मको कर्ममें देखो ' ये अक्षर ब्रह्म और कर्म, इन दो तत्त्वोंकी सत्ता सिद्ध करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। जबतक द्वैत है, तबतक कम्प है। तबतक भय है। ' द्वितीयाद्वै भयं भवति ' जबतक भय है, तबतक अशान्ति है।' अशान्तस्य कुतः सुखम् ? इसी अशान्तिमूलक द्वैतके भ्रमको उखाडती श्रुति ' यस्मिन्सर्वाणि भूतानि ? इत्यादि कहती है—

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग अर्थात् निष्काम कर्मयोगका साधन करते–करते जिस समय आत्म साक्षात्कार हो जाता है, उस समय उस मुक्त योगीके लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्थासे युक्त उस ज्ञानीके लिए शोक कहां है? और मोह कहां है? एकत्व व्यापकताका मूल है। व्यापकतामें कम्प नहीं है। एक वस्तुका दूसरे स्थानकी ओर झुकना ही तो कम्प है । व्यापकतत्त्वके सिवा कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पको अवकाश मिले। ऐसी स्थितिमें आत्मामें स्थानसे हटनेका भय कैसे हो सकता है? ' यह या यह? इस भावसे मोह हो जाता है। चित्तकी चंचलतासे मोह होता है। मोहसे विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है कार्य और अकार्यकी विवेकता मारी जाती है। इसप्रकार मोहके साथ-साथ ही शोकका उदय हो जाता है। इस शोक और मोहसे छुटकारा पानेका उपाय है- अद्वैतकी उपासना करना। इसीसे मोहकलिलका नाश होगा । बुद्धिमें विज्ञाका उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी। स्मृति भी कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च
(गीता २.५२)

' मोह–कलिलसे जब यह तेरी बुद्धि स्वयं उतरेगी पार ।
श्रुत-श्रोतव्य सभी विषयोंसे तब होगा विरक्ति–स्वीकार ॥

श्रुतिका सारांश यही है कि– ब्रह्म और कर्म ये दो विवर्त हैं, भाति दो है, सत्ता एक है, इसलिए वास्तविक अद्वैत है। सत्ताका भेद ही द्वैतका कारण बनता है। श्रुतिका ' विजानतः ' शब्द बडा चमत्कार रखता है ' जानतः ' नहीं कहा, ' विजानतः ' कहा है। ब्रह्म व्यापक है, आत्मा एक है, कहीं भेद नहीं है इसप्रकार केवल शब्द ज्ञान ' जानतः ' से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अनुभव-युक्त तत्त्वज्ञानका ' विजानतः ' से सम्बन्ध है

श्रुति कहती है कि–तुमने सारी उपनिषदें पढ लीं, जीवन भर ब्रह्मैवेदं सर्वम्' आत्मैवेदं सर्वम् ' नेह नानास्ति किञ्चन ' का पाठ किया, परन्तु इस कोरे वाचिकज्ञानसे अर्थात् शब्दके श्रवणमात्रसे तुम्हे तबतक कदापि शान्ति नहीं मिल सकती। जबतक तुम यथार्थरूपसे उस ज्ञानपर स्थित न हो जाओ। जैसे तुम पानीको पानी समझ रहे हो, अग्निको अग्नि समझ रहे हो, इसीप्रकार कोरे शब्दके आडम्बरको छोडकर जिस दिन तुम अन्तरात्मासे अद्वैततत्त्वपर विश्वास कर लोगे, तभी शोक और मोहसे छुटकारा होगा।

जानना सामान्य ज्ञान है इसका मनसे सम्बन्ध है। विशेषरूपसे अर्थात् कार्य-कारणके सम्बन्ध–सहित जानना विशेषज्ञान है । विशेषरूपसे जानना यथार्थ जानना है, इसका बुद्धिसे सम्बन्ध है। ' यह ऐसा ही है ' यह विश्वास बुद्धिसे ही होता है। श्रद्धा करना मनका काम है और विश्वास करना बुद्धिका काम है। बुद्धियोग ही आत्माके विज्ञाभागमें प्रसादगुणका उदय करता हुआ शोक और मोहकी निवृत्तिका कारण बनता है ।

प्रश्न– इसके पहले मन्त्रमें द्वैतका निरूपण हुआ और यह मन्त्र अद्वैतका निरूपण कर रहा है, तो इसमें विरोध नहीं आता क्या ?

उत्तर–इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। अधिकारीके भेदसे श्रुतिने द्वैत और अद्वैत, इन दोनों भावोंका क्रमिक निरूपण किया है। क्योंकि प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हो जाने पर उत्तमश्रेणी प्राप्त होती है।

(८) परमेष्ठी या महानात्मा

प्रश्न– ८ वें मन्त्रका वास्तविक अर्थ क्या है ?

उत्तर–' अनेजदेकम् ' उस चौथे मन्त्रसे श्रुतिने द्विब्रह्म और षड्ब्रह्मका निरूपण करते हुए मातरिश्वाके द्वारा द्विब्रह्म षडब्रह्मका आधान बतलाया। आगे ३ मंत्रोंमें ब्रह्म–कर्मके सम्बन्धका वर्णन किया और ८ वें मन्त्रमें उसी मातरिश्वाको लक्ष्यमें रखकर शुक्रका निरूपण किया है। उस मातरिश्वाने अप्‌की उस ' अनेजदेजत् ' तत्त्वमें आहुति दी, इससे शुक्रका स्वरूप बना। उस शुक्रके चारों ओर वह मातरिश्वा व्याप्त हो गया।

" वह मातरिश्वा, कवि, मनीषी, परिभू स्वयंभू इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध है, उस कायारहित, व्रणरहित, स्नायु रहित, शुद्ध, पापरहित शुक्रके चारों ओर व्याप्त हो गया। "

' अनेजदेकम् ' वाला स्वयंभू–व्यापक है। वह एक है और पुण्डीर (छोटे) स्वयंभू अनन्त (सहस्र) हैं। इस योगमायावाले ससीम छोटे स्वयभूसे ही परमेष्ठीका उदय होता है। अव्यक्त स्वयभूमें अप् भी है, परन्तु वहां प्रधानता प्राणकी ही है। प्राण असंगतत्व है, अतः वह मैथुनी सृष्टिका कारण नहीं बनता। ऐसी परिस्थितिमें प्राणमय स्यंनभूको वास्तविक उपादानकारण नहीं माना जा सकता। सृष्टिका वास्तविक उपादान तो संसर्गधर्मवाला आपोमय परमेष्ठी ही है। अतएव शुक्र (उपादानकारण सूचक) शब्दकी समाप्ति परमेष्ठीपर ही माननी पडती है। यही एक शुक्रमूर्ति परमेष्ठीकी महत्ता है, इसीलिए इसे ' महान् ' कहा जाता है।

सचमुच परमेष्ठी ही सब पर्वोंकी अपेक्षा महान् है। प्राणमूर्ति स्वयंभू प्रजापतिके प्राणकी महत्ता इसी परमेष्ठीपर निर्भर है। पहले अपृतत्त्व सर्व बनता है, फिर प्राणको सर्वताका अवसर मिलता है। पानी ही प्राणकी प्रतिष्ठा है— ' अपोमयः प्राणः ' अध्यात्म संस्थामें जबतक शरीर में अप्‌तत्त्व (जल) स्थित रहता है, तभी तक प्राण अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। जैसा कि —

" यावद्धे प्राणेष्वापो भवति तावद्वाचा वदन्ति "
(शत० ५।३।५।१६)

इत्यादि श्रौतवचनसे स्पष्ट है। मातरिश्वा वायुके लपेटनेसे ही अवश्य स्वयंभूका उदय हुआ है। यह मातरिश्वावायु अप्‌का ही एक अंश है। इसलिए भी प्राणमयस्वयंभूकी अपेक्षा आपोमय परमेष्ठीको महान् कहा जा सकता है।

वैकारिक विश्वका उपादान भी परमेष्ठी ही है इसलिए विश्वकी अपेक्षासे भी यही महान् है। अव्यक्त अमूर्त था और यह मूर्त है —

मूर्तिरेव रयिः (प्रश्नोपनिषद् १)

सारी मूर्तिएँ अर्थात् मूर्तजगत् इसी रयिप्रधान परमेष्ठीके गर्भमें उत्पन्न हुआ है।

प्रश्न– मायायुक्त महेश्वरको छोडकर परमेष्ठी आदिको कैसे महान् कहा जा सकता है ?

उत्तर– केवल मायासे ही महेश्वर (अव्यय) का विकास नहीं होता। सृष्टिधारामें आते समय उसे भी इसीका आश्रय लेना पडता है। आत्मपुरुष इसीमें गर्भधारण करता है, इसीसे आगेकी मूर्तसृष्टि होती है। अप्‌के अप्, वायु और सोम ये तीन विवर्त हैं। चेतनाके आनेके ये ही तीन द्वार हैं। अतएव विश्वमें 'आप्य वायव्य और सौम्य ' ये तीन ही प्रकारकी जीवसृष्टि उपलब्ध होती है। इस जीव सृष्टिका अधिष्ठाता भी आपोमय परमेष्ठी ही है। इसप्रकार ईश्वर, जीव और विश्व ये सब इसीके आश्रित है –' सर्वमापोमयं जगत् ' परमेष्ठीके इसी महत्त्वको लक्ष्यमें रखकर ऋषियोंने इसे ' महानात्मा ' कहा है। अतः स्मृति कहती है—

मम योनिर्महद्‌ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
(गीता।१४।३)

' प्रकृति योनि है होती मेरी इसमें करता हूं में गर्भाधान।
फिर होता है इससे सारे भूतोंका संभव, यह जान॥ '

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥
(गीता १४।४)

सकल योनियोंमें होती हे विविध मूर्तियां, हे कौन्तेय ! ।
उन सबकी यह प्रकृति योनि है, मं हूं पिता बीजप्रद–ध्येय ॥

षोडशीपुरुष, अव्यक्त (स्वयंभू) एवं महान् (परमेष्ठी) इन तीनका स्वतंत्र अमृतविभाग है और सूर्यपिण्ड, चन्द्रपिण्ड तथा पृथिवीपिण्ड, इन तीनका स्वतंत्र मर्त्यविभाग है। एक ही शुक्रतत्त्व अमृत और मृत्युके भेदसे दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। 'स पर्यगात्०' यह आठवांमन्त्र शुक्ररूप इसी महद्ब्रह्मका निरूपण करता है।

(९) केवल कर्मी और केवल ज्ञानीकी निंदा

प्रश्न– नववें मन्त्रका भावार्थ क्या है ?

उत्तर– 'जो अविद्याकी उपासना करते हैं, वे गाढ अंधःकारमें जाते हैं और जो केवल विद्यामें रत हैं, वे तो उनसे भी अधिक अंधकारमें जाते हैं।' यह नवें मंत्रका सामान्य अर्थ है। इस मन्त्रसे तीन मन्त्रोंतक सूर्य और विज्ञानात्माका वर्णन है।

संपूर्ण विश्वमें ज्ञान और कर्मका साम्राज्य है। १ ज्ञान २ विज्ञान और ३ अज्ञान, इन तीन प्रकारके ज्ञानोंमेंसे ज्ञान ग्राह्य है तथा १ कर्म (आत्मीय कर्म), २ विकर्म (व्यावहारिक कर्म) और ३ अकर्म (निरर्थक कर्म), इन तीन प्रकारके कर्मोंमेंसे कर्म ग्राह्य है। शेष विज्ञान, अज्ञान, विकर्म और अकर्म त्याज्य है, यह रहस्यवेत्ताओंका सिद्धान्त है।

ज्ञान और कर्मके सम्बन्धमें भारतीय विद्वानोंमें दो मत चले आ रहे है। कर्मतत्त्वको ही प्रधानता देने वाले कर्मठोंका कहना हैं कि– आत्माकी प्रगति कर्मसे ही हो सकती है। कर्म करनेमें ही कल्याण है, क्योंकि संपूर्ण विश्व भी प्रजापतिका कर्म है। उसने कर्मसे ही यह विभूति प्राप्त की है। कर्म करते जाओ, ज्ञानका उदय अपने आप हो जायेगा–

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।
(गीता ४।३८)

अर्थात् 'उस ज्ञानको कुछ कालसे अपने आप योगके द्वारा अच्छी प्रकार शुद्ध– अंतःकरण हुआ पुरुष आत्मामें अनुभव करता है।' ज्ञानके लिए प्रयास करनेकी आवश्यता नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय कर्म (प्रवृत्तिकर्म) होना चाहिए। ये ही विद्वान् कर्मठ, कर्मयोगी या कर्मानिष्ठानुयायी नामोंसे प्रसिद्ध है।

दूसरा दल कहता है कि– कर्मसे कभी प्रगति नहीं हो, सकती। तुम्हारा यह कहना है कि प्रजापतिने कर्मसे यह विश्वविभूति प्राप्त की है, बिल्कुल असंगत है। प्रजापति विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है। वहाँ कर्मकी संभावना ही नहीं है। वह तो नित्य शुद्ध–बुद्ध–मुक्त है। तुम्हें जो कर्मप्रपञ्च (विश्व) दिखाई दे रहा है, वह 'रस्सीमें साँपके समान' बिलकुल भ्रम है। सारा विश्व एक मायाका मिथ्याजाल है। हम जानते है कि विद्यायुक्त कर्म श्रेष्ठ है, वह स्वर्गफल देनेवाला है। परन्तु वह भी आगे जाकर क्षणिक (वैषयिक) सुखकोटिमें आता हुआ दुःखका ही कारण बन जाता है। कर्म कर्म है, पाप्मा है, आवरक है। इससे ज्ञानमूर्ति आत्माका निःश्रेयस कभी संभव नहीं। सर्वकर्म–परित्याग–लक्षणवाला ज्ञानयोगरूप संन्याससे ही मुक्ति हो सकती है। ये 'ज्ञानी' 'ज्ञाननिष्ठानुयायी' या सांख्य आदि नामोंसे प्रसिद्ध है।

एक कहते हे--ज्ञान श्रेष्ठ और हे दूसरे कहते हे कि कर्म श्रेष्ठ है। एक कहते हे कि सारे कर्म छोडछाडकर जगलमें चले जाओ और दूसरे कहते हैं कि रातदिन कर्म (प्रवृत्ति-कर्म) करते रहो। लोकमें प्रचलित इन्हीं दो विरुद्ध निष्ठाओंका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं--

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।
(गीता ३।३)

दो प्रकारकी निष्ठा जनमें मैने पहिले किया बखान ।
ज्ञान-योग निष्ठा सांख्योंकी, कर्म–योग योगीकी जान ॥

ईशोपनिषद्की दृष्टिसे उक्त दोनों ही मार्ग पतनके कारण हैं। कर्मठ कर्ममें प्रवृत्त होते हुए वासना संस्कारसे आत्मा को आवृत कर रहे हैं। और ज्ञानी ज्ञानमे प्रवृत्त होते हुए भावनासे आत्माको आवृत कर रहे है। केवल अविद्यारूप कर्मको उपासना करते हैं, वे घोरतममें प्रविष्ट होते हैं—

अंधंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

विद्याके उपासकोंकी दशा अविद्याके उपासकोंसे भी बुरी है। इन्हें न लौकिक सुख है, न आत्मानंद। इसी अभिप्रायसे श्रुतिने इनके लिए कहा है—

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।

इस मन्त्रमें ज्ञानयोगी और कर्मयोगी इन दोनोंकी निंदा है।

वैदिक-संस्कृति

लेखक— श्री लालचन्द

ओ३म्

(गतांकसे आगे)

संगठन

वैदिकसंस्कृतिमें मिलकर कार्य करनेके भाव सबसे प्रथम मानवको मिले हैं। संगठन ही सफलताका बीजरूप है, जहां संगठन है, सर्वहितका दृढ संकल्प है वहां श्री, विजय और विभूति सदा निवास करती है। शोभा है ही संगठित समाजमें। जहां विषमता है। एक दूसरेके हित आपसमें मेल नहीं खाते, वहां स्वार्थ ही पनपता है और मानव चाहे संख्यामें कितने भी अधिक हों, सुसंगठित अल्पसंख्याके आगे भी मात खाते हैं। मिलकर कार्य करना अति आवश्यक है। स्वार्थभावनासे तो हमारी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती। अनुमान कीजिये यदि मुख कंठ उदर आदि केवल अपने तक ही भोजन रखें और पाचनक्रिया न हो तो मनुष्यका जीवन संकटमें पड जाय। शरीरमें सभी अवयव मिलकर आत्माके लिए क्रियाशील हैं तभी यह जीवन चल रहा है। एकदूसरेके लिए कार्य करना ही देवपन है। अपना ही पेट भरना असुरपन है। जहां मनुष्योंमें स्वार्थ बढा, सारे ही उपद्रव समाजमें होने लगते हैं और समाजशक्ति छिन्नभिन्न हो जाती है।

प्रार्थना

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥
(ऋ० १०।१९१।१)

हे सारे सुखोंके बरसानेवाले, ज्ञानके प्रकाशक प्रभो, तू सारे तत्वोंको मिलाता है और धरती पर अपनी शक्तियोंसे चमक रहा है वह तू हमें सब प्रकारके ऐश्वर्य दे।

भगवान्‌का उत्तर—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
(ऋ० १०।१९१।२)

हे मनुष्यो, परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो, परस्पर मिलकर प्रेमसे बातचीत करो, अपने मनोंको शुभ संस्कारोंसे सुसंस्कृत करो, जैसे प्राचीन समयके बुद्धिमान् मनुष्य अपने कर्तव्योंको एक मतसे करते थे वैसा तुम भी किया करो।

समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
(ऋ० १०।१९१।३)

तुम्हारे विचार मिलकर हों, विचारके लिए तुम्हारी समितिमें समान भाव हों, तुम्हारा मनन मिलकर हो, निश्चय मिलकर हो, मैं तुम्हें एकताका रहस्य बता रहा हूं, मैं तुम्हें सबको एकसा अन्न देकर पालता हूं।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
(यजु. १०।१९१।४)

तुम्हारे संकल्प और प्रयत्न मिलकर हों, तुम्हारे हृदय परस्पर मिले हुए हों, तुम्हारे अन्तःकरण मिले रहें, जिसमें परस्पर सहायतासे तुम्हारी भरपूर उन्नति हो सके।

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं,
समानं व्रतं, समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥
(अथर्व. ६।६४)

एक दूसरेको भली प्रकार जान लो, सब संगठित हो जाओ, आपसका संपर्क बढाओ, तुम सबका एक ही व्रत हो, एक ही कर्तव्य हो, एकचित्त तुम सब धारण करो।

एक व्रत होना, एक ही उद्देश्य होना, परम आवश्यक है। एक उद्देश्यसे ही संगठन संभव होता है और स्थिर रहता है। आपसका मेलजोल बढानेसे, एक दूसरेको भली प्रकार

जाननेसे ही मिलकर काम करनेकी शक्ति होती है। संगठनके लिए आपसका एक स्थान पर मिलना अति आवश्यक है। इसीसे परस्पर विचार तथा सकल्पकी एकता होती है।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट,
संराधयन्तः सुधराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त,
एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥
(अथर्व. ३।३०।५)

श्रेष्ठोंका आदर करनेवाले बनो, उत्तम विचार करनेवाले बनो, आपसमें विरोध मत करो, उत्तम प्रकार मिलकर कार्यसिद्धितक यत्न करो, कार्यकी जिम्मेवारी समझते हुए आगे बढो, एक दूसरेसे मीठा भाषण करते हुए आओ, आप सबको मैं एक ध्येयसे चलनेवाले और एक मनवाले करता हूं।

समानी प्रपा, सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
(अथर्व- ६।३०।६)

आप सबका जलपान करनेका स्थान एक हो तथा आप सब एक साथ बैठकर भोजन करो, एक उद्देश्यके लिए तुम सबको मैं जोडता हूं।

हम सब एक साथ भोजन करें, खानपानमें भेद न हो तो अवश्य प्रेम बढता है। आपसके भेद अवश्य मिटाने चाहिये, आपसके भेदसे शक्तिका ह्रास होता है। एक ध्येयसे एक मनोभावसे कार्य करनेमें सहयोग उत्पन्न होता है उसमें अदम्य शक्ति होती है।

राष्ट्रभावना

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ (अथर्व १९।४१।१०)

आत्मसुख प्राप्त किये हुए ऋषियोंने लोक कल्याणकी इच्छा करते हुए प्रारंभमें तपका अनुष्ठान किया और दीक्षाको ग्रहण किया । उस तप और दीक्षासे राष्ट्र उत्पन्न हुआ तथा राष्ट्रीय बल और ओज भी उत्पन्न हुआ। इसलिए इस राष्ट्रके सामने देव भी ठीक प्रकार झुकें, राष्ट्रका सम्मान करें, उसका सत्कार करें।

राष्ट्रकी उत्पत्ति निस्वार्थ आप्तकाम तत्त्वदर्शी पुरुषोंके अनथक यत्नसे हुआ करती है।

आत्मत्यागी महापुरुष लोककल्याणकी इच्छासे सर्वहितके लिए निजी हितोंकी आहुति दिया करते हैं, उस महान् यज्ञसे राष्ट्र उन्नत होता है, राष्ट्रीयहितके लिए अपने स्वार्थोंको समर्पित किया जाता है तभी राष्ट्र उन्नत होता है। राष्ट्रके उन्नत होनेमें सभीकी उन्नति है। राष्ट्रके गौरवमें सबका गौरव है, राष्ट्र सशक्त है तो सभीका यश है, सभीकी कीर्ति है। राष्ट्रोन्नति होते हुए सारी राष्ट्रकी प्रजा भी उन्नत होती रहे इसलिए राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिके अंदर कुछ सद्गुण रहने चाहिये।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥
(अथर्व० १२।१।१)

महान् सत्य, कठोर सत्याचरण, व्रत ग्रहण, कष्ट सहन, अनुभवज्ञान, निस्वार्थ कर्म ये पृथिवीको धारण कर रहे हैं। भूत और भव्यको धारण करनेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए विस्तृत लोकको, विशाल क्षेत्रको बना देवे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां
यस्यां उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति
पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥
(अथर्व १२।१।२)

जिस हमारे राष्ट्रके विचारशील मनुष्योंमें परस्पर द्रोह भाव नहीं है, उनमें एक्यभाव है और उनमें उच्चता नीचता तथा समताके विषयमें झगडे नहीं हैं तथा जो हमारी मातृभूमि नाना प्रकारके वीर्योंसे युक्त ऋषियोंको उपजाती है वह हमारी मातृभूमि हमारी कीर्तिका साधन होवे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥
(अथर्व. १२।१।५)

जिस मातृभूमिमें हमारे पूर्वजोंने विविध कर्तव्य किये थे

और जिसमें देवोंने असुरोंको हराया था तथा जो गौओं घोडों और पक्षियोंका विशेष निवास स्थान है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देव।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥
(अथर्व. १२।१।१५)

हे मातृभूमि, ये सब मनुष्य तुझसे ही उत्पन्न हुए हैं और तुझ पर ही चलते है, तू ही मनुष्यों तथा पशुओंको पालती है, जिन प्राणियोंके लिए अमृतमय प्रकाश उदय होनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे फैलाता है वे ये हम पांच प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं।

ज्ञानी,, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और श्रमजीवी सभी राष्ट्रमें अपने अपने कर्तव्य करते हुए राष्ट्रको उन्नत करते हैं। सभीके मिलकर देश हितके लिए कर्तव्य करनेसे राष्ट्र उन्नत होता है।

पृथिव्या अकरं नमः। (अथर्व. १२।१।२६)
पृथिवीको मैं नमस्कार करता हूं।

यो नः सेदुरप्रिये तं नि देध्मः।(अथर्व १२।१।३०)
देशद्रोही पर सदा आपद् डालेंगे।

पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि। (अथर्व. १२।१।३०)
हे मातृभूमि, मैं अपने आचार विचारसे सर्वथा शुद्ध हूं। मुझे कोई छलकपट नहीं है।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥
(अथर्व. १२।१।४२)

जिस हमारी मातृभूमिमें धान जौ आदि अन्न होता है, यह पांच प्रजाएं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) जिसकी हैं उस वर्षासे प्रसन्न होनेवाली, बादलसे पालित भूमिको नमस्कार हो।

मातृभूमिका वन्दन, उसकी सुरक्षा संपादन करना है, जिस प्रकार भूमिमाता अपने सभी पुत्रोंको समान रूपसे प्यार करती है, उसी प्रकार सारे मनुष्य परस्पर प्रेमभावसे व्यवहार करते हुए मातृभूमिको नमस्कार करें।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥
(अथर्व १२।१।१२)

भूमि मेरी मानकरनेवाली माता है, मैं पृथिवीपुत्र उसका त्राण करनेवाला हूं।

पुत्र वही है जो माताका त्राण करे, माताको सदा निश्चिंत और अभय रखे। माताकी रक्षा करना पुत्रका कर्तव्य है, माता सदा पुत्रका मान करती है। हमारी मातृभूमि हमारी माता है, हम उसकी सदा रक्षा करें।

अथर्ववेदके द्वादशकांडका प्रथमसूक्त पृथिवीसूक्त जिसमें ६३ मंत्र हैं, राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको मनन करना चाहिए। इसमें राष्ट्रके प्रति सद्भावना है। इसी प्रकार ऋग्वेदके प्रथम मंडलका ८० वां सूक्त स्वराज्यसूक्त- स्वराज्यके संरक्षण पर आदेश देता है।

अपः मरुत्वतीः जीवधन्याः ॥ ४ ॥

प्रजाओंको प्राणशक्ति सम्पन्न और जीव धन्य बना।

स्वराज्यं अनु अर्चन् वृत्रं हनः अपः जयाः ॥ ३ ॥
स्वराज्यका संरक्षण करता हुआ अज्ञानको, देशद्रोहीको मार और प्रजाओंके मनको जीत।

वेदमें आदेश है कि मनुष्य आत्मशक्तिका विकास करके राष्ट्रकी सेवा करे और देशद्रोहियोंके दमन करनेमें सहायक हो।

पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसे जने।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥
(ऋ० ८।६१।२८; साम० ५।२।३)

हे आत्मन्, तू विकसित होकर राष्ट्रमें प्रकट हो और हमें कीर्तिसम्पन्न बना, सब द्वेषियोंका नाश कर।

विकसित आत्मशक्ति सदा विजय, कीर्ति, यश, शोभा तथा लक्ष्मी लाती है।

जिस राष्ट्रमें आत्मवान् मनुष्य अधिक संख्यामें रहते हैं, वहां तेज, बल, ओज, वर्चस् सभी सद्गुण उन्नत होते हैं, ऐसे राष्ट्रमें महान् ऐश्वर्यशक्ति विकसित होती है, वहां जीवनकी वृद्धि होती है। वहांकी जनतामें आत्मसम्मान होता है. वहां कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिससे देशका अपयश हो। ऐसे राष्ट्रमें द्वेष करनेवालोंकी दाल नहीं गलती, वहां द्वेष नहीं टिक सकता, परस्परका द्वेष ही उन्नति में बाधा डालता है। द्वेषी लोग देशद्रोहतक करनेमें लजाते

नहीं । संसार भरके पापोंमें देशद्रोह महापाप है । वह पाप आपसके द्वेषोंसे पनपता है । आपसके द्वेषसे बडा कोई भी राष्ट्रका शत्रु नहीं । शत्रु है ही मूर्तिमान द्वेष, वह ईर्ष्याका पुत्र है । ईर्ष्यालु लोग आपसके मनुष्योंको उन्नत होता हुआ नहीं सह सकते । ईर्ष्यालु लोग परस्परकी उन्नति नहीं देख सकते, वह अन्धता बढाते हैं आपसमें द्वेष और द्रोह फैलाते हैं ।

मातृभूमिको पुण्यभूमि बनानेके लिए, अपने राष्ट्रको निष्कंटक बनानेके लिए, ऐसे कांटोंको उखाडनेका सामर्थ्य बढानेके लिए अपनी आत्मशक्ति विकसित करना परम आवश्यक है, तभी हम देशद्रोहियोंका दमन कर सकेंगे । आत्मशक्तिका सारे राष्ट्रमें विकास हो ।

शासन

ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना
असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्ति,
अग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥ (यजु. २।३०)

जो लोग नाना रूपधारण करनेवाले कपटी, केवल इंद्रियोंके भोगोंमें रमण करते हैं और पाशविक बलसे लोगोंके अधिकार हरण करते हैं त्याज्य स्वार्थोंकी पूर्ति करते हैं और नीच वासनाओंको पूरा करते हैं, केवल शरीरमय जीवनमें ही रहते हैं उन क्रूर लोगोंको नेता इस लोकसे निकाल दे ।

ऐसे भी तमस्,राजस् गुणोंमेंही रमण करनेवाले अत्याचारी, दुराचारी, कर्मचारी, क्रूर लोग हैं जो कपटसे भले लोगोंको ठगते हैं और अपना स्वार्थ पूरा करते हैं ऐसे कठोर लोग राष्ट्रके शत्रु होते हैं इन्हें राष्ट्रसे बाहिर निकाल देना चाहिये। यदि वे सुधरने योग्य नहीं । ऐसे लोग अपने दुराचारसे राष्ट्रकी शक्तिका ह्रास करते हैं । ऐसे अपराधियोंके योग्य अनुशासनमें रखकर सुधारना चाहिये और जो बार बार अपराध करें और राष्ट्रको हानि पहुंचावें उन्हें राष्ट्रसे निकाल देना ही ठीक है ।

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य ।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ (यजु. ३।३०)

हे ज्ञानके स्वामी, अदानशील अराति शत्रुका अनिष्ट चिन्तन और धूर्तता हमतक न पहुंचे, तू हमें बचा ।

धूर्तलोग सदा बुरा चाहते हैं, वे ईर्ष्या करते हैं, स्वयं कभी दान नहीं करते और न कभी दानीलोग उन्हें भाते हैं ऐसे द्रोही राष्ट्रके शत्रुसे अपनी रक्षा करनी चाहिये । सावधान रहकर अपनी शक्ति बढा कर ऐसे नीच प्रकृतिके लोगोंसे अलग रहना चाहिये, राष्ट्रका हित कभी नहीं चाहते, ऐसे लोग दबे रहें तभी लोकहित है ।

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥ (यजु. ३।३१)

राष्ट्रमें रक्षाविभाग, न्यायविभाग और युद्धविभाग इन तीनों द्वारा नीति न्याय और शत्रुदमन द्वारा द्रोहियों तथा शत्रुओंको वशमें करके प्रजापालन कार्य हो ।

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु ।
ईशे रिपुरघशंसः ॥ (यजु. ३।३२)

पापकर्मकी शिक्षा देनेवाला षड्यन्त्रकारी देशद्रोही और शत्रु प्रजाओंके घरों और मार्गोंमें कभी बल न पकडे ।

राष्ट्रमें ऐसा सुप्रबन्ध हो कि चोर डाकू तथा पापीजन कभी बल न प्रकट कर सकें, ऐसे उपद्रवी जनोंको सदा वशमें रखा जावें तभी प्रजा सुखी होगी और व्यापार बढेगा और सब समृद्ध होगा ।

आ गन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् ।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥
(यजु ३।३८)

हे नेता, हे सम्राट्, तू धन, ऐश्वर्य, अन्न और बलका सब ओरसे एकत्र कर और हमें प्राप्त करा ।

वही राष्ट्र श्रेष्ठ है जहां प्रजा धन धान्य सकल ऐश्वर्य सम्पन्न है और जहां बल है । राष्ट्रको सदा समृद्ध और शक्ति युक्त होना चाहिये । राष्ट्रमें प्रजाकी समृद्धि और शक्ति ही राष्ट्रकी समृद्धि और शक्ति है ।

नेताके गुण

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः ।
(यजु. ३।४०)

नेता लक्ष्मी और ऐश्वर्य प्राप्त करे और प्रजाको पुष्ट करने योग्य कर्मोंका साधक, ऐश्वर्यवान् और प्रजाके बल और ज्ञानको बढानेवाला है ।

अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥
(यजु. ३।४०)

जिस नीतिसे प्रजामें शक्ति बढे और ज्ञान बढे और ऐश्वर्य बढे वही नीति ठीक है ।

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्ज बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि
मनसा मोदमानः ॥ (यजु. ३।४१)

सेनाध्यक्ष गृहस्थियोंसे कहता है कि आप लोग मत डरो, हम सैनिकोंसे भय मत करो, मत कांपो, दिलमें मत घबराओ, सब हम विशेष बल और शक्तिका प्रदर्शन करते हुए शुभ मनसे उत्तम बुद्धिसे युक्त होकर प्रसन्न मनसे गृहोंके पास आवें ।

यह आवश्यक है कि गृहस्थियोंमें सुरक्षाकी भावना स्थिर करनेके लिए सैनिकोंका राजमार्ग अथवा नगरके बाजारों तथा प्रान्तोंतकमें भ्रमण हो जिसमें प्रजाको राष्ट्र सेनाका बोध हो और उनमें सुरक्षाकी भावना स्थिर हो और उनमें आश्वासन हो, राष्ट्रशक्ति पर भरोसा हो ।

आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे ।
आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥
(यजु. ४।५)

उत्तम सुख और उत्तम फल देनेवाला राष्ट्र सुव्यवस्था रूप महायज्ञमें मैं उत्तम विद्वान् पुरुषोंको बुलाता हूं । ज्ञानी पुरुष यज्ञीयभाव रखते हुए हमारी आशायें पूरी करें ।

राज्यशासनके लिए योग्य उदार विद्वान् पुरुषोंको आदर से निमंत्रित करना चाहिए । ऐसे मंत्रिगण हो अपने ज्ञान विज्ञान तथा धर्माचरणसे राष्ट्रहितमें समर्थ होते हैं

प्रजाका कर्तव्य

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥
(यजु. ४।८)

सब लोग नेताकी मित्रताको चाहें और सब धन ऐश्वर्यके प्राप्त करनेके लिए पूरे यत्नशील हों और सभी शरीरकी पुष्टि और बलवृद्धि चाहें । धनको सदुपयोगमें ही लगावें ।

राष्ट्रके सभी लोग नेतामें पूर्ण विश्वास और श्रद्धा करें । नेता प्रजा द्वारा चुना जाता है । ऐसे नेताके प्रति प्रेम रखने और उसकी नीतिमें विश्वास करनेमें ही नेताका उत्साह बढता है और वह निस्वार्थ आत्मत्यागसे राष्ट्रहित करता है । राष्ट्रके सभी जन बल बढावें । और ऐश्वर्य बढावें ।

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥
(यजु. ४।२८)

हम लोग पापरहित कल्याण मार्गपर चला करें । जिस मार्गपर चलते हुए सब द्वेष दूर होते हैं और नाना प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ।

राष्ट्रके सभी लोग सन्मार्गगामी हों, आपसके द्वेष दूर करें और ऐश्वर्य प्राप्त करें । ऐश्वर्य प्राप्तिका साधन सदाचार और धर्माचरण ही है । पापरहित होकर ही मनुष्य सत्यमें व्रती होता है और उत्साहसे और लगनसे ऐश्वर्य प्राप्त करता है ।

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि ।
ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥ (यजु. ५।३०)

हे राष्ट्रमें आनंद प्रसार करनेवाले नेता ! तू ऐश्वर्यवान् राष्ट्रको सूत्रके समान सीकर उसे दृढ करनेवाला है । तू ऐश्वर्यके पदको स्थिर करनेवाला है । राष्ट्र ऐश्वर्यमय है, राष्ट्र मान देनेवाला है ।

राष्ट्रनेता अपनी कुशल नीतिसे ज्ञानी शूरवीर, व्यापारी, कारीगर, श्रमजीवी सभीको एक सूत्रमें पिरोकर सबको मानो सीकर एकतामें दृढ करता है । जिस प्रकार वस्त्रके टुकडोंको सीकर उपयोगी तथा दृढ करते हैं उसी प्रकार राष्ट्रनेता भी अपनी ऐक्य नीतिसे राष्ट्रके भिन्न भिन्न भागोंमें समस्त राष्ट्रके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है तथा पृथक् राष्ट्र भागोंको मिलाकर उन्हें दृढ करता है ।

राष्ट्र है ही ऐश्वर्यरूप । राष्ट्र इन्द्र है राष्ट्र वैश्वदेव है, राष्ट्र सब लोगोंको मान देता है और सबसे मान चाहता है । जो लोग राष्ट्रका मान करते हैं और उस वैश्वदेवको अपनी हवि देते रहते हैं राष्ट्र उनकी प्रतिष्ठा बढाता है ।

यह सोमरस स्वादमें तीखा होता था। इसके इस गुणको वेदके " तीव्राः सोमासः (ऋ. १।२३।१), तीव्रं सोमं (ऋ. ५।३७।४) आदि पद प्रकट कर रहे हैं। इसीलिए इसमें जल, मधु, गायका दूध, दही अथवा जौका आटा मिलाकर पिया करते थे। रसमें मधु और दूध मिलानेका वर्णन अनेक मंत्र-भागों और पदोंमें है।

आशीर्वन्तः- दूधमिश्रित (ऋ. १।२३।१),
मधुमन्तः- शहदवाले (ऋ. १।१३५।१),
गवाशिरम्- गोदुग्ध मिश्रित (ऋ. ८।१०१।१०),
गोभिः श्रीणाः इन्दवः- गोदुग्ध मिश्रित,
गोरभसं (ऋ. १।१२१।८),
गाः अपः अधुक्षन्-गोदुग्ध और जल मिश्रित (ऋ. २।३६।१),
गोभिः अक्तं (ऋ ४।२७।५),
गोसखायं (ऋ ५।३७।४)
गो ऋजीकं (६।२३।७),
गोभिः श्रीतः (ऋ. ८।८२।५) आदि कई पद इसकी पुष्टि करते हैं।

वेदमें अंशके लिए पूर्णका प्रयोग

यहां सम्भवतः पाठकोंको यह संदेह हो सकता है कि अद्रि, अवि, गो आदि पदोंके शब्दार्थ तो पहाड़, बकरी और गाय होते हैं और हमने इन पदोंके अर्थ पत्थर, बकरीके लोम और गायका दूध कैसे कर दिये ?

पर यह वस्तुतः वेदकी शैलीकी विशेषता है कि उसमें अंशके लिए भी पूर्णका प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए ऋग्वेदमें एक मंत्र आया है।

वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद्गौ-
स्ततो वयः प्रपतान्पुरुषादः। (ऋ० १।२७।२२)

" गाय वृक्ष पर बैठी हुई चिल्लाती है और उससे नरभक्षक पक्षी उडते हैं "। पर इस शाब्दिक अर्थसे कुछ भी समझमें नहीं आता। अतः इसका वास्तविक अर्थ यह है-(वृक्षे वृक्षे) हर धनुष पर (नियता) चढी हुई (गौः) ज्या अर्थात् धनुष की डोरी (अमीमयत्) चिल्लाती है और (ततः) उससे (पुरुषादः वयः) पुरुष-भक्षक बाण (प्रपतान्) उडते हैं। वृक्षकी लकडीसे धनुष बनता है। अतः उसे धनुष न कहकर वृक्ष कह दिया, इसीप्रकार बाणोंके वेगको बढानेके लिए उनके पीछे पक्षियोंके पंख लगा देते हैं, अतः यहां बाण न कहकर उन्हें पक्षी ही कह दिया, इसीप्रकार यहां भी पत्थरोंके लिए, लोमोंके लिए और दूधके लिए अद्रि, अवि, और गो शब्दोंका प्रयोग हुआ है। गो शब्द जैसे वेदमें दूधका वाचक है, वैसे गायके मूत्र, चर्म, गोबर आदिका भी वाचक है।

सोममें जौका आटा मिलाना

सोमरसके तीखेपनको कम करनेके लिए उसमें जौका आटा भी मिलाया जाता था। इसका वर्णन वेदमें इसप्रकार है-

यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे।
वातापे पीव इद्भव॥

" हे सोम ! तेरा जो दुग्धमिश्रित और (यवाशिर) जौका आटा मिलाया हुआ रस है, उसका हम सेवन करते हैं उससे (वातापे) हे शरीर ! (पीव इत् भव) तू पुष्ट बन।'

सोममें दही मिलाना

इसके साथ ही कहीं-कहीं वेदमंत्रोंमें सोमरसमें दही मिलानेका भी वर्णन है-

सोमासो दध्याशिरः- दहीसे मिश्रित सोमरस हैं। (ऋ० १।५।५)

इमे आयात इन्दवः सोमासो दध्याशिरः
सुतासो दध्याशिरः (ऋ० १।१३७।२)

" हे मित्रावरुण ! (आयात) तुम इधर आओ (इमे सोमासः दध्याशिरः) ये सोमरस दही मिश्रित हैं।" इसीप्रकार " दध्याशिरः " (ऋ० ७।३२।४; ५।५१।७) " दध्ना " (ऋ. ८।२।९) आदि पद हैं।

ये वर्णन भी सोमके पेय होनेकी बात सिद्ध करते हैं, क्योंकि प्रभु-भक्तिमें जौका आटा, दही आदि मिलानेकी बात असम्भव है।

शक्तिप्रद सोम

ये सोमरस पेय थे, और "मन्दिनः" (ऋ० १।३४।२) मदाय (ऋ० १।१३५।१), मादयस्व (७।२९।५), मदन्तु (८।४५।२४), मत्सराः-आनन्द देनेवाले या मस्त बनानेवाले थे। पर यह मस्ती शराबकी मस्ती नहीं थी और पीनेवालेकी शक्ति नष्ट करनेवाला पेय नहीं था, अपितु

शरीरको पुष्ट बनाकर शक्तिशाली बनाता था। धातापे ! पीव इत् भव—हे शरीर ! तू पुष्ट बन (ऋ० १।१८७।९) ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन सजोषा रुद्रैस्तृपदा वृषस्व- हे इन्द्र ! सोमसे तृप्त होकर तू स्तोत्र करनेवाले वीर मरुतोंके संघके साथ रुद्रोंके साथ मिल-जुलकर अपना बल बढा (ऋ० ३।३।२२)।

इसप्रकार शक्तिप्रद यह सोम है, इसको पीकर इन्द्रने द्यावापृथिवीको और सूर्यको तथा बहुत सी धनराशियोंको- ठीक प्रकार हिलाया (ऋ० ८।५२।१०)। ऋग्वेद के १०वें मण्डलका ११९ वां सूक्त भो इस सोमकी शक्तिका वर्णन करता है। इसको पीकर पीनेवाला बहुत शक्तिवाला बन जाता है। इसीलिए इसे वेदमें कई जगह अन्धस्, श्रवस् क्षीर अन्नके नामसे भी पुकारा गया है।

अग्नि और सोम

वेदोंमें अग्निषोमीय देवताके अनेक सूक्त हैं। इन दोनों देवताओंका स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् है। इनको अन्नाद और अन्नकी संज्ञा भी प्रदान की जा सकती है। शतपथ ब्राह्मणमें सोमको अन्न कहकर पुकारा गया ही है। (सोमो वै अन्नम्) अग्नि अन्नाद है, क्योंकि इसे हमेशा अशना अर्थात् भूख लगी रहती है, इसमें यदि हमेशा आहुति दी जाती रहे, तभी यह उत्तम रीतिसे काम करता है। मानवी शरीरमें जठराग्नि अन्नाद है। इसमें यदि अन्नकी आहुति न डाली जाए तो यह शरीरस्थ पदार्थोंको ही भस्म करने लगता है। इसीलिए इसे अन्न देना पडता है। प्राणाग्नि भी अन्नाद है, जिसमें श्वासोच्छ्वासकी आहुतियां हरदम पडती रहती हैं इन्हीं आहुतियोंके कारण वह प्राणाग्नि जीवित रहती है, आहुतिके अभावमें इस प्राणाग्निके उपशमन हो जानेका अर्थ है मृत्यु। आधिदैविक क्षेत्रमें अन्नाद सूर्य है, जिसमें प्रजापति हमेशा सोमकी आहुति देता रहता है। इसी सोमकी आहुतिके कारण यह सूर्य हमेशा प्रदीप्त रहता है। प्रजापति जिस क्षण इसमें सोमकी आहुति देना बन्द कर देगा उसी क्षण इस विश्वका विनाश हो जायगा।

यह सोम वस्तुतः एक प्रकारका जीवन रस है, या कहें कि एक प्रकारका रस है, जिसे पीकर मनुष्य उत्साही और क्रियाशील हो जाता है।

इस सोमको सुरा या शराब कहना नितान्त अनुचित है। सुरामें एक तरहका नशा होता है, जो मनुष्यके मस्तिष्कको असन्तुलित करके उसे उन्मत्तसा बना देता है, इसके विपरीत यह सोम जीवनमें एक प्रकारका उत्साह उत्पन्न करता है। इन्द्रने इसी सोमको पीकर उत्साहमें भरकर वृत्र आदि असुरोंका संहार किया था। इसको पीनेसे वीरता उत्पन्न होती है। अतः पाश्चात्य वेदमनीषी इसे जो सुराका पर्यायवाची समझते हैं, वह गलत है।

इसप्रकार यह सोम एक सात्त्विक पेय था, शराबकी तरह तामसिक नहीं।

अतः सोमको केवल प्रभु-भक्ति या आत्मतत्त्व ही नहीं कहा जा सकता, सोमका अर्थ वह भी हो सकता है। यह एक पेय भी है जिसे ऋषि और ऋत्विग्गण यज्ञमें पीकर आनन्दित तथा बलशाली होते थे।

वेदार्थ करनेमें प्रकरणका महत्त्व

●

किसी मंत्र अथवा श्लोककी व्याख्या करनेमें प्रकरणका कितना और क्या महत्त्व है, इसे हर कोई जानता है। "प्रकरण" का शाब्दिक अर्थ है किसी भी व्याख्याको उत्कृष्ट बनाना। एक मंत्रकी व्याख्या प्रकरणको दृष्टिमें न रखकर भी की जा सकती है और रखकर भी, पर जो सौष्ठव और सरलता प्रकरणानुसार की गई व्याख्यामें आता है, वह प्रकरणकी अवहेलना करकेकी गई व्याख्यामें कभी भी नहीं आ सकता। यही नहीं, अपितु प्रकरणके अनुसार न चलनेवाला व्याख्याकार अर्थका अनर्थ भी कर जाता है। इस कथनके साक्षात् उदाहरण हमारे सामने उव्वट और महीधर हैं। जिन्होंने प्रकरणकी उपेक्षा कर वेदमंत्रोंकी व्याख्या की और उससे जो अर्थका अनर्थ हुआ तथा उस अनर्थसे वैदिक सिद्धान्तों पर जो कठोर आघात पहुँचे, और उन आघातों से वेदोंकी कैसी विकृत अवस्था हुई, तथा उन विकृत वैदिक सिद्धान्तोंका वेदके पाश्चात्य विद्वानोंके मस्तिष्कपर जो प्रभाव पडा, उन सबसे हर एक वेदवित् पूर्णतया परिचित ही होगा। इसीलिए महर्षि दयानन्दने वेदभाष्य करनेमें सबसे ज्यादा जोर प्रकरण पर दिया। "सत्यार्थप्रकाश" के प्रथम पृष्ठपर ही महर्षिने प्रकरणके महत्त्वपर प्रकाश डाला है और "सैन्धवमानय" के उदाहरणको प्रस्तुत कर अपना मन्तव्य प्रकट किया है। "सैन्धव" के घोडा और नमक दोनों अर्थ होते हैं, यह सही है, पर यदि एक नौकर स्वामीके सामने यात्राके समय नमक और भोजनके समय घोडा लाकर रख दे, तो वह नौकर निश्चयसे महामूर्ख समझा जाएगा, क्योंकि उसे प्रकरणका ज्ञान नहीं है। इसीप्रकार एक महान् विद्वान् वेदोंका ज्ञाता भी यदि वेद-मंत्रोंका अर्थ प्रकरणानुसार नहीं करेगा, तो विद्वन्मण्डलीमें वह या उसका भाष्य कभी भी आदृत नहीं हो सकता और जब साधारण शास्त्रका श्लोक भी प्रकरणकी अनुपस्थितिमें अपने गूढार्थ-को प्रकट नहीं करता, तो एक वेदमंत्रका प्रकरणविहीन अर्थ कैसे अपने गूढार्थको प्रकाशित कर देगा, यह सहज ही समझमें आनेवाली बात है। इसीलिए निरुक्तकारने प्रथम ही चेतावनी दे दी थी, कि "प्रकरणशः एव मंत्राः निर्वक्तव्याः" प्रकरणके अनुसार ही मंत्रोंकी व्याख्या होनी चाहिए। पर साथमें निरुक्तकारने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि वेदमंत्रोंकी व्याख्या करना हर व्यक्तिके सामर्थ्यकी बात नहीं है। मन्त्रोंका द्रष्टा तो एक तपस्वी या ऋषि ही हो सकता है सामान्य जन नहीं "न ह्यनृषेरतपसो वा प्रत्यक्षमस्ति" पर खेदका विषय यह है कि आजका विद्वत्समाज यास्कके इन दोनों कथनोंपर ध्यान न देते हुए वेदमंत्रोंके मनमाने अर्थ करनेमें व्यस्त है। इस दोषके भागी सभी समाज हैं। अभी थोडे दिन पूर्व एक प्रसिद्ध विद्वान् (जिनका पूर्ण विवरण नीचे दे रहा हूं) द्वारा किए गए एक वेदमंत्रके अर्थपर मेरी दृष्टि गई जिनका शब्दार्थ तो ठीक है पर मंत्रार्थ प्रकरण विरुद्ध होनेसे उस अर्थका अनर्थ हो गया है।

पण्डितशिरोमणि श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुके सम्पादकत्व-में प्रकाशित मासिक "वेदवाणी" वेदांक नवम्बर दिसम्बर १९६० के अंकमें श्री पं० शिवपूजन सिंहजी "पथिक" बी० ए० ने "अथर्ववेदीय अन्त्येष्टि मन्त्रोंपर विचार" प्रस्तुत करके सबसे अन्तमें अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इस लेखमें अथर्ववेदके केवल निम्नलिखित मंत्रपर ही विचार है —

> ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः
> सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥

इस मंत्रपर विद्वान् लेखकने कुछ चुने हुए विद्वानों (श्री सायण, श्री जयदेव, श्री पण्डित सातवलेकर, श्री पण्डित मनसारामजी "वैदिक तोप" तथा श्री क्षेमराज) के भाष्यका उल्लेख कर अपना खण्डन-मण्डनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है जिसमें लेखकके विचारसे श्री सायण, श्री

+

जयदेव तथा श्री पं० सातवलेकरजीका अर्थ युक्तियुक्त नहीं है और श्री पं० मनसारामजी " वैदिक तोप" और पं० क्षेमराज आदियों द्वारा किया गया अर्थ उचित है। उपरोक्त व्याख्याकारोंमें श्री पं० सातवलेकरजीके अर्थपर लेखकका सारा ध्यान केन्द्रित हुआ है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि लेखमें स्थल-स्थलपर श्री पं० सातवलेकरजीके ही अर्थका खण्डन किया है। इसमें आश्चर्य इस बातका नहीं है कि लेखकने श्री सातवलेकरजीके अर्थका खण्डन किया, आश्चर्य तो इस बातका है कि उन्होंने श्री पं० मनसारामजीके अर्थका मण्डन किया है। यह सम्भव है कि पं० सातवलेकरजीका अर्थ शतप्रतिशत युक्तियुक्त न हो, पर पं० मनसारामजीके अर्थके अनुचित होनेमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इस विषयमें दोनोंके द्वारा किए गए अर्थ द्रष्टव्य है। इनको पढकर प्रत्येक विज्ञ अर्थके प्रकरणानुसार औचित्य और अनौचित्यको समझ सकता है।

१— श्री पं० सातवलेकरजी— (ये निखाता) जो शव गाडे गए है (ये परोप्ता:) जो उपर छोड दिये हैं, (ये दग्धाः) जो जला दिये गये है अथवा (ये च उद्धृताः) जो ऊपर वृक्षादिपर टांग दिए गए है, (तान् सर्वान् पितॄन् उन सब पितरोंको हे अग्ने ! (हविषे अत्तवे आवह) हवि भक्षणके लिए ले आओ।

२—श्री पं० मनसारामजी—यजमान पुरोहितसे कहता है कि हे विद्वन् ! (ये निखाताः) जो पदार्थ जमीनमें गाडे गये हैं (आलू मूली, गाजर आदि) और (ये परोप्ताः) जो पदार्थ बोये जाते है (गेहूं, चावल आदि) (ये दग्धाः) जो पदार्थ भूनकर खाये जाते हैं (चने, मक्की आदि) (ये च उद्धृताः) जो पदार्थ बाहर निकाले जाते है (सिघाडे, कमलगट्टे) इन सब पदार्थोंको निमंत्रण में साधु महात्मा आदि पितरोंको खाना खिलानेके लिए लाकर दे।

ये दोनों ही अर्थ पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत हैं, इन दोनोंमें शब्दार्थ सम्बन्धी दोष भले ही न हों, पर प्रकरण सम्बन्धी महान् दोष मनसारामजीके अर्थमें अवश्य है। यह मंत्र अन्त्येष्टि संस्कारका है, उस समय खाने-पीनेका क्या प्रसंग ? अथवा इस मंत्रका प्रकरण अन्त्येष्टिके बादके दिनोंका माना जाए तो श्री पं० जीको तेरहवींके दिनका संस्कार और ब्राह्मण भोज अथवा श्राद्ध आदि मान्य होने चाहिए जिन दोनोंका महर्षिने बडी कठोरतासे खण्डन किया है।

यद्यपि शब्दार्थ ठीक है, व्याकरणकी भी कोई गल्ती दिखाई नहीं देती, पर प्रकरणके प्रतिकूल अर्थ होनेके कारण यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता, अथवा जैसे कगन हाथके बजाय पैरमें और हार गलेके बजाय कमरमें पहननेसे शोभा नहीं देता, उसीप्रकार यह मन्त्रार्थ भी प्रकरणानुसार न होनेसे शोभादायक प्रतीत नहीं होता।

श्री पं० जीने इस मंत्रका यह अर्थ किस आधारपर किया, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ और नहीं यह मेरी समझमें आया कि श्री पं० शिवपूजन सिंहजीने इस मन्त्रार्थका समर्थन किस आधारपर किया।

प्रकरणविहीन मंत्रार्थ अपने पूरे पूरे अर्थको प्रकट नहीं कर सकते, यह बात निश्चित है। पर इसप्रकारके प्रयत्नसे एक बातका भय अवश्य बढ जाता है कि इसप्रकार वेदमंत्रोंका प्रकरण–विहीन या यथा कथंचित् अर्थ वेदोंकी प्रतिष्ठा बढानेके बजाए देशी या विदेशी विद्वानोंके मस्तिष्कमें वेदोंके प्रति इसप्रकारका दृष्टिकोण न पैदा कर दे जैसा कि पूर्वके विदेशी विद्वानोंका दृष्टिकोण हम देखते आ रहे हैं।

अतः इसप्रकारके प्रयत्नसे वेदोंकी प्रतिष्ठामें वृद्धि होनेके स्थानपर उसमें कमी होनेकी सम्भावना ही अधिक है।

जैनदर्शनमें नीतिशास्त्र

▲

'दृश् दर्शने'— धातुसे सिद्ध हुए दर्शन शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है। व्यापक इस दृष्टिसे कि उसमें प्रायः सभी प्रकारके ज्ञानोंका समावेश हो जाता है। इसलिए प्राचीन दार्शनिक परिभाषामें सभी ज्ञान-विज्ञानोंको दर्शन कहा गया है। 'दर्शन' का वास्तविक अर्थ है 'सत्यतत्त्वका साक्षात्कार।' मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओंसे अतृप्त होकर एक ऐसे तत्त्वकी शरणमें जाना चाहता है, जहां उसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो। इसी अतृप्त-भावना एवं शाश्वत सुख-प्राप्तिकी अभिलाषाने दर्शनको जन्म दिया। यही आगे जाकर एक पृथक् शास्त्र बन गया। इस शास्त्रमें मनविषयक, आचारविषयक आदि सभी ज्ञानोंका समावेश होता था, पर आगे जाकर जब इन विषयों पर पृथक् पृथक् रूपसे विस्तृत विचार किया जाने लगा, तो इस दर्शनशास्त्रकी शाखायें भी विभिन्न हो गईं। मन-सम्बन्धी बातोंका विचार मनोविज्ञानके अन्तर्गत किया जाने लगा, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातोंका विचार अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) के अन्तर्गत होने लगा, इसी प्रकार आचार या व्यवहारका-विचार आचारशास्त्रके अन्तर्गत होने लगा। यही आचार-शास्त्र दार्शनिक परिभाषामें 'नीतिशास्त्र' कहा जाता है, अंग्रेजीमें इसके लिए 'ईथिक्स' (Ethics) शब्द है। प्रायः हर धर्म या दर्शनके अन्दर इस शास्त्रका अपना प्रधान स्थान होता है, अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस शास्त्रके बिना किसी दर्शनको खडा करना बिना नींवके महल खडा करनेके समान है। अतः जिस धर्ममें यह शास्त्र जितना विशाल होगा, उतना ही वह धर्म दृढमूल होगा।

जैन दार्शनिक इस तथ्यसे भलीभांति परिचित थे, इसीलिए इस शास्त्र पर उन्होंने अत्यधिक जोर दिया। विशेषतः जैन और बौद्धदर्शनमें आचारशास्त्रका बहुत वर्णन है। जैनका अध्यात्मवाद भी नीतिशास्त्रसे प्रभावित है। डॉ. राधाकृष्णन् अपने ग्रंथमें लिखते हैं—

In metaphysics Jainism opposed to all theories which do not emphasis ethical responsibilities.[1]

मनुष्यके स्वतंत्र कर्तृत्वमें नीतिशास्त्रका अपना एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। मनुष्य हर तरहके कर्म करनेके लिए स्वतंत्र है। सरल शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शनके अनुसार मनुष्य अपने भाग्यका स्वयं निर्माता है, भाग्य मनुष्यका निर्माता नहीं। परमात्माके द्वारा संसारकी उत्पत्ति अथवा प्रकृतिके अन्दरसे संसारका विकास अथवा इस संसारके विनाश आदि सिद्धान्तों पर जैन-दार्शनिकोंने इसी कारण खण्डनात्मक टीका की है कि यह सभी विषय भाग्यवाद पर ही निर्भर रहते हैं। जैननीतिशास्त्रके अनुसार मनुष्यका एकमात्र उद्देश्य दुःखोंसे मुक्ति पाना ही है। जिन पदार्थोंसे दुःखको निवृत्ति नहीं होती, जैननीतिशास्त्रकी दृष्टिसे उन पदार्थोंका कोई मूल्य नहीं। यह प्रकृति अथवा परमात्मा मनुष्योंके दुःखोंका निवारण नहीं कर सकते, इसीलिए जैननीतिशास्त्रमें इनका कोई महत्त्व नहीं।[2] इस संसारमें कोई गरीब है; दुःखी है, तो कोई धनी है, सुखी है, इस प्रकार संसारमें विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, अतः यह मानना कि किसी बुद्धियुक्त तत्त्वने पंच महाभूतोंको उत्पन्न करके इस विभिन्नतासे युक्त संसारको उत्पन्न किया, नीति शास्त्रकी दृष्टिसे बिलकुल निरर्थक है।[3] यदि वह कहा जाए कि आत्मा तो उदासीन है, अतः इसकी संसारकी विभिन्नतासे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं, तो इस प्रकारके कल्पनाजन्य सिद्धान्तोंमें नैतिक सिद्धान्तोंका मूल्य ही क्या रहता है?[4] उदाहरणार्थ—प्रश्न है कि एक मनुष्य उत्तम कर्म क्यों करे?

---

1. Indian Philosophy. Ist Vol. P. 317
२. सूत्रकृतांग— १।१।३।५-९
३. सूत्रकृतांग—१।१।१।७-१०, ११-१२; २।१।१६।१७
४. उपर्युक्त— १।१।१।१३

उत्तम है पुण्यके लिए। पुण्यका प्रलोभन ही मनुष्यको उत्तम कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। फिर प्रश्न उठता है कि पुण्यका प्रयोजन क्या है ? उत्तर मिलता है— सुखकी प्राप्ति। सुखकी प्राप्तिके लिए पुण्यके संचयार्थ मनुष्य उत्तम कर्म करनेकी तरफ प्रेरित होता है। पर यदि आत्माका सुख या दुःखसे कोई प्रयोजन ही न हो अथवा कहा जाए कि सुख दुःख दोनोंसे वह उदासीन है तो दुःखोंसे मुक्त होनेका वह प्रयत्न ही क्यों करे और उस अवस्थामें वह पुण्य-संचयके लिए उत्तम कर्मोंकी तरफ प्रेरित ही क्यों हो ? और तब नैतिक सिद्धान्तोंका मूल्य ही क्या रह जाएगा ?

नीतिशास्त्रके सिद्धान्तों पर दूसरा आक्रमण जिसने किया है, वह है भाग्यवाद। प्रश्न उठता है कि यदि यह संसार परमात्माने बनाया है तो वह इतना पक्षपाती क्यों है कि एक आदमी तो सुखोंमें लोट रहा है जब कि दूसरा जिन्दगी भर दुःखोंका बोझा लादे येन-केन प्रकारेण जी रहा है। इसका उत्तर भाग्यवादी देते हैं कि यह तो अपना अपना भाग्य है। पर इस भाग्यवादमें नैतिक सिद्धान्त बेकार हो जाते हैं। यदि भाग्य ही मनुष्यके सुख-दुःखोंका निर्णायक है, तो मनुष्य कर्मोंको करनेका प्रयत्न क्यों करे ? यदि भाग्यमें होगा, तो बिना कर्म किए ही सुख मिल जाएगा। भाग्यमें नहीं होगा, तो हजार प्रयत्नोंके बावजूद भी वह सुख मिलनेवाला नहीं है, तो फिर मनुष्योंके प्रयत्नोंकी नैतिकदृष्ट्या कीमत ही क्या रही ?[1] पर नीतिशास्त्रमें कर्मोंका बड़ा भारी महत्त्व है। नीतिशास्त्रके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मोंके आधार पर अपनेको बना या बिगाड़ सकता है।[2] इस विषयमें डॉ० राधाकृष्णन्‌ने विचार मननीय है—

The fatalist Theory (भाग्यवादी सिद्धांत) that all things are fixed by nature, obviously leaves no room for individual effort. Ethical values require that the individual can make or unmake himself in the world and the soul has a self identity, which it preserves even in the ultimate condition.[3]

जैननीतिशास्त्र कर्मवादी है, भाग्यवादी नहीं। उसके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मोंके आधार पर 'अर्हत्' बन सकता है। मनुष्यके अन्दर योग्यता रहती है, ज्ञान रहता है, पर वह अज्ञानसे ढंका रहता है, यही दुःखोंका कारण है। अतः यदि इन दुःखोंसे कोई मुक्ति पाना चाहे तो उसे चाहिए कि वह प्रथम अपनी आत्मशक्तिसे इन सांसारिक विषयों पर विजय प्राप्त करे। जब आत्मा अपनेको गिरानेवाले दुर्गुणोंसे ऊपर उठ जाती है, तब वह उस स्थान पर पहुंच जाती है कि जहां मुक्तात्मायें रहती हैं। मनुष्यकी अन्तरात्माको उत्तम मार्गमें प्रेरित करना ही मुक्तिका एकमात्र उपाय है। ये कर्म ही हैं जो मनुष्योंको उन्नत अथवा अवनत करते हैं।

कर्म-सिद्धान्त

जैनशास्त्रोंमें कर्म-सिद्धान्त पर बड़े विस्तारसे विवेचना की गई है। जीव अपने कर्मोंके गुणदोषके आधार पर ही देव, असुर, मनुष्य या जानवर बनता है। जब मनुष्यके पिछले कर्मोंका विनाश हो जाता है और नये कर्म भी निरुद्ध हो जाते हैं, तब जीव निष्कर्म होकर मुक्तात्मा बन जाता है, पर इस स्थिति तक पहुंचनेके लिए ही जीवको नैतिकताकी आवश्यकता होती है। जैनागमोंमें आठ तरहके कर्मोंका वर्णन है, जिनमेंसे चार घातिक कर्म हैं जो आत्मिक गुणोंका विघात करते हैं—

(१) ज्ञानावरणीय– यह कर्म सत्यज्ञानको ढक कर मनुष्योंको अज्ञानकी ओर प्रेरित करता है। सत्यका मुख हमेशा ढका रहता है, अतः उसे कोई-कोई ही जान पाता है। ईशोपनिषद्‌के ऋषिका कथन है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे पूषा देव ! सत्यका मुख सोनेके ढक्कनसे ढका हुआ है, अतः उसे तू हटा दे, ताकि हम सत्यधर्मका दर्शन कर सकें।" वस्तुतः यह ज्ञानावरणीय कर्म ही वह सोनेका ढक्कन है, जिससे सत्यतत्त्व ढका हुआ है।

(२) दर्शनावरणीय– यह कर्म सत्यदर्शनको ओझल करके मनुष्योंको भ्रान्ति युक्त एवं असत् मार्गका दर्शन कराता है। निद्रा प्रमाद आदि इसी दर्शनावरणीय कर्मका परिणाम है। इस कर्मसे प्रेरित होकर जीव इस संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है।

१. उपर्युक्त— १।१।२।१-५
२. उपर्युक्त १।१।३।१।१
३. Indian philosophy, I Vol. P. 312

(३) अन्तराय– यह कर्म सुख और दुःखका उत्पादक है। आत्मा वस्तुतः अनन्त वीर्यमय है, आनन्दमय है। उपनिषद् का ऋषि कहता है—

आनन्दात् एव इमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं एव प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।

अर्थात् ये सब प्राणी आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही जीवित रहते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार आत्माका स्वभाव आनन्दमय ही है, पर जब वह इन कर्मोंसे प्रभावित होता है, तब वह अपने मूल स्वभावको छोडकर सुख और दुःखका अनुभव करने लगता है। पर जब वह उस अन्तिम तत्त्वका दर्शन कर लेता है, तब वह वीतशोक होकर इन सुख–दुःखोंसे ऊपर उठकर अपने मूल स्वभाव आनन्दमयताका दर्शन करने लगता है और उसकी अनन्तशक्ति प्रकट हो जाती है।

(४) मोहनीय– आत्माके प्रयत्न सदा श्रद्धा एवं उत्तम व्यवहारकी तरफ ही होते हैं, पर कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो इसे इसकी श्रद्धा और सद्व्यवहारके मार्गसे भटका देते हैं, ऐसे कर्मोंको जैनागममें " मोहनीय " कहा गया है।

चार अघातक कर्म भी जीवमें नाना प्रकारके विकार उत्पन्न करते हैं किन्तु घातिया कर्मोंकी तरह नहीं, अतएव यहां उनका उल्लेख नहीं किया जाता है।

इस प्रकार इन आठ तरहके कर्मोंके कारण आत्मा संसारमें अनेक प्रकारके सुख-दुःखोंको भोगता है। इन्हीं कर्मोंके विपाकका विनाश एव भविष्यमाण कर्मोंके निरोधके लिए नीतिशास्त्रकी आवश्यकता होती है। डॉ॰ राधाकृष्णन्के शब्दोंमें—

The apparatus of morality is necessary to bring obout the reformation of man's natnre and prevent the formation of new karma.,[1]

नैतिकसिद्धान्तोंका आचरण करके मनुष्य इन कर्मोंसे छूट सकता है। मनुष्य कर्मबन्धनके कारणभूत जो कर्म करता है, उन कर्मोंको जैनागममें " आस्रव " कहा है। " द्रव्यसंग्रह " के टीकाकार श्री नेमिचन्द्रके अनुसार ये आस्रव भावास्रव और कर्मास्रव या द्रव्यास्रव रूपसे दो प्रकारके हैं। मनुष्य जो कुछ सोचता है, वह भी एक तरहकी मानसिक क्रिया ही है। इस मानसिक क्रियाके परिणामस्वरूप जो कर्म आत्माके साथ बद्ध होते हैं वे "भावास्रव" कहलाते हैं। कर्मपरमाणुओंका आत्मामें आना द्रव्यास्रव या कर्मास्रव है। इस प्रकार आस्रव निरन्तर होता रहता है। जिन कर्मोंका फल भोग लिया जाता है, वे नष्ट हो जाते हैं। इसे जैन–परिभाषामें " निर्जरा " कहते हैं। मनुष्य यदि चाहे तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान इन पांच प्रकारके सत्यज्ञानोंकी सहायतासे आस्रव-कर्मोंका निरोध कर सकता है और इस प्रकार कर्मके बंधनोंसे छूटकर निर्वाणका अधिकारी बन सकता है। श्री उमास्वाति कृत " तत्त्वार्थसूत्र " मे इन पांच प्रकारके ज्ञानोंकी विवेचना विस्तारसे की गई है।

यदि मनुष्य इन सांसारिक दुखोंसे मुक्ति पाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह " त्रिरत्न " का आचरण करे। वे " त्रिरत्न " ये हैं–

(१) सत्यतत्त्वमें विश्वास।
(२) सत्यका ज्ञान।
(३) शुद्ध चरित्र।

इसी "त्रिरत्न" को 'पंचास्तिकाय' के रचयिताने सत्यमार्ग, सत्यज्ञान और सत्यचारित्र्यके शब्दोंमें व्यक्त किया है। " वास्तविक तत्त्वकी सत्तामें श्रद्धा रखना ही सत्यमार्ग है। तात्त्विक प्रकृतिका संशयातीत ज्ञान ही सत्यज्ञान है और सांसारिक विषयोंकी ओरसे उदासीन होकर ऐषणाओंसे रहित होना ही सत्यचारित्र्य है। "[2] ये तीनों मिलकर एक ही मार्गको प्रकाशित करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "भूमा व सुखं नाल्पे सुखमस्ति।" सांसारिक दुखोंसे मुक्ति पाकर भूमा सुख या शाश्वत आनन्दको प्राप्त करना ही दर्शनोंका मुख्य उद्देश्य है। यही उद्देश्य जैनदार्शनिकोंके सामने भी था। पर इस दर्शनकी विशेषता यह है कि जहां अन्य दर्शनोंने अध्यात्मशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया, वहां जैनदर्शनने नीतिशास्त्रके सिद्धान्तों पर भी उतना ही बल दिया है। जैनदार्शनिक इस बातसे अच्छी तरह परिचित थे कि निःश्रेयसका लाभ मनुष्यके अभ्युदय पर ही निर्भर है। सरल

१. Indian Philosophy. 1 Vol.P, 325
२. पंचास्तिकाय पृ० ११५

शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य, जिसका इहलोक बिगड़ा हुआ है, निर्वाणका अधिकारी कभी भी नहीं हो सकता। और यह लोक सदाचार और सद्व्यवहारसे ही सुधर सकता है। इसी कारण दूरदर्शी जैनदार्शनिकोंने आचारशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया।

पांच महाव्रत

जैनदर्शनके अनुसार पांच महाव्रतोंका विस्तार ही समग्र नीतिशास्त्रका मूलाधार है। वे पांच महाव्रत इस प्रकार हैं–

(१) अहिंसा–यह अहिंसा न हिंसाके रूपमें केवल निषेधात्मक ही नहीं है, उसका एक विधेयात्मक रूप भी है और वह है– "सब प्राणियोंके प्रति दया करना।"

(२) सत्याचरण- कायेन, मनसा और वाचा कभी भी असत्याचरण न करना।

(३) सम्मान्य व्यवहार- कभी चोरी न करना, दूसरोंको कष्ट न देना आदि।

(४) वाणी, विचार और कर्मोंमें अव्यभिचारिता।

(५) ममता, मूर्च्छा, आसक्तिका परित्याग।

इन्हीं पांच महाव्रतोंको योगदर्शनमें पांच यमके नामसे कहा गया है—

तत्राहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

इस प्रकार मानसिक शान्ति प्राप्त करानेवाले सभी कर्म जैनदर्शनके अनुसार विधेय हैं।

जैनागमके अनुसार हिंसा सबसे बड़ा पाप है और सब प्राणियोंके प्रति दयाभाव ही सबसे बड़ा पुण्य है। सबके प्रति दया करना ही परमात्माकी सच्ची भक्ति है। अंग्रेजी कवि कालेरिजके शब्दोंमें—

He prayeth well, who loveth well
Both man, bird and beast.
He prayth best, who loveth best
All things both great and small.
(Coleridge)

जैनधर्मका नीतिशास्त्र बौद्धधर्मकी अपेक्षा ज्यादा कठोर है। जैनदार्शनिकोंके अनुसार "सन्तोष ही सर्वोत्तम शिव" (highest good) है और सुखकी लालसा ही पापका मूल है।[1] इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह सुख और दुःखसे उदासीन रहे। वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहकर उनसे स्वतन्त्र रहे। 'जो मनुष्य बाह्य पदार्थोंकी अभिलाषा करता है, वह सुख और दुःखका अनुभव करता है और अपनी आत्मा पर अपना अधिकार गंवा बैठता है। उस पर कामनायें या ऐषणायें शासन करने लगती हैं और बाह्य पदार्थ ही उसके चरित्रके निर्णायक बन जाते हैं "[2] इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहे।

जैनदर्शन या धर्म रूढ़िवादी नहीं है, वह अपने धर्मके प्रति हठवादी नहीं है। वह यह नहीं कहता कि अमुक प्रकारके वेषके धारक ही निर्वाणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके विपरीत वह कहता है कि किसी भी पंथका अनुयायी नीतिशास्त्र या आचारशास्त्रके नियमोंका सम्यक् पालन करके निर्वाणका अधिकारी बन सकता है। अपने ग्रंथ "सम्बोधसत्तरी" में रत्नशेखर कहते हैं–" भले ही कोई श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या किसी भी धर्म का अनुयायी, जो अपनी आत्मका साक्षात्कार कर लेता है, वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। "

इसी प्रकार जैनधर्म वर्णव्यवस्थाका विरोधी नहीं है। पर यहां पर भी वर्णका निर्णायक नीतिशास्त्र ही है। "मनुष्य अपने ही कर्मोंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है... जो कर्मोंको अनासक्तभावसे करता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं।[3] जैन परिभाषाके अनुसार ब्राह्मण एक सम्मान्य पदवी है, जो एक उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मणतरको भी दी जा सकती है।[4] वंशाभिमान पापका कारण होता है।" (सूत्रकृतांग)

इस प्रकार जैनदर्शनमें नीतिशास्त्र बहुत ऊंचे स्तर पर स्थापित है और जैनदार्शनिकोंने इसे अपने दर्शनका आधार माना है।

---

१. आचारांग सूत्र २२ पृ० ४८
२. पंचास्तिकाय पृ० १६३
३. Sacred Book of the East XIV P. 140
४. Ibid XXII P! XYX

यह सोमरस स्वादमें तीखा होता था । इसके इस गुणको वेदके " तीव्राः सोमासः (ऋ. १।२३।१), तम्रिं सोमं (ऋ. ५।३७।४) आदि पद प्रकट कर रहे हैं । इसीलिए इसमें जल, मधु, गायका दूध, दही अथवा जौका आटा मिलाकर पिया करते थे । रसमें मधु और दूध मिलानेका वर्णन अनेक मंत्र-भागों और पदोंमें है ।

आशीर्वन्तः- दूधमिश्रित (ऋ. १।२३।१),
मधुमन्तः- शहदवाले (ऋ. १।१३५।१),
गवाशिरम्- गोदुग्ध मिश्रित (ऋ. ८।१०१।१०),
गोभिः श्रीणाः इन्दवः- गोदुग्ध मिश्रित,
गोरभसं (ऋ. १।१२१।८),
गाः अपः अधुक्षन्-गोदुग्ध और जल मिश्रित (ऋ. २।३६।१),
गोभिः अक्तं (ऋ. ४।२७।५),
गोसखायं (ऋ. ५।३७।४)
गो ऋजीकं (६।२३।७)
गोभिः श्रीतः (ऋ. ८।८२।५) आदि कई पद इसकी पुष्टि करते हैं ।

वेदमें अंशके लिए पूर्णका प्रयाग

यहां सम्भवतः पाठकोंको यह संदेह हो सकता है कि अद्रि, अवि, गो आदि पदोंके शब्दार्थ तो पहाड, बकरी और गाय होते हैं और हमने इन पदोंके अर्थ पत्थर, बकरीके लोम और गायका दूध कैसे कर दिये ?

पर यह वस्तुतः वेदकी शैलीकी विशेषता है कि उसमें अंशके लिए भी पूर्णका प्रयोग होता है । उदाहरणके लिए ऋग्वेदमें एक मंत्र आया है ।

वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद्गौ-
स्ततो वयः प्रपतान्पुरुषादः । (ऋ० १०।२७।२२)

" गाय वृक्ष पर बैठी हुई चिल्लाती है और उससे नरभक्षक पक्षी उडते हैं " । पर इस शाब्दिक अर्थसे कुछ भी समझमें नहीं आता । अतः इसका वास्तविक अर्थ यह है-(वृक्षे वृक्षे) हर धनुष पर (नियता) चढी हुई (गौः) ज्या अर्थात् धनुष की डोरी (अमीमयत्) चिल्लाती है और (ततः) उससे (पुरुषादः वयः) पुरुष-भक्षक बाण (प्रपतान्) उडते हैं । वृक्षकी लकडीसे धनुष बनता है । अतः उसे धनुष न कह-कर वृक्ष कह दिया, इसीप्रकार बाणोंके वेगको बढानेके लिए उनके पीछे पक्षियोंके पंख लगा देते हैं, अतः यहां बाण न कहकर उन्हें पक्षी ही कह दिया, इसीप्रकार यहां भी पत्थरोंके लिए, लोमोंके लिए और दूधके लिए अद्रि, अवि, और गो शब्दोंका प्रयोग हुआ है । गो शब्द जैसे वेदमें दूधका वाचक है, वैसे गायके मूत्र, चर्म, गोबर आदिका भी वाचक है ।

सोममें जौका आटा मिलाना

सोमरसके तीखेपनको कम करनेके लिए उसमें जौका आटा भी मिलाया जाता था । इसका वर्णन वेदमें इसप्रकार है-

यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे ।
वातापे पीव इद्भव ॥

" हे सोम ! तेरा जो दुग्धमिश्रित और (यवाशिर) जौका आटा मिलाया हुआ रस है, उसका हम सेवन करते हैं उससे (वातापे) हे शरीर ! (पीव इत् भव) तू पुष्ट बन । '

सोममें दही मिलाना

इसके साथ ही कहीं-कहीं वेदमंत्रोंमें सोमरसमें दही मिलानेका भी वर्णन है—

सोमासो दध्याशिरः- दहीसे मिश्रित सोमरस हैं । (ऋ० १।५।५)

इमे आयात इन्दवः सोमासो दध्याशिरः
सुतासो दध्याशिरः (ऋ० १।१३७।२)

" हे मित्रावरुण ! (आयात) तुम इधर आओ (इमे सोमासः दध्याशिरः) ये सोमरस दही मिश्रित हैं ।" इसीप्रकार " दध्याशिरः " (ऋ० ७।३२।४; ५।५१।७) " दध्ना " (ऋ. ८।२।९) आदि पद हैं ।

ये वर्णन भी सोमके पेय होनेकी बात सिद्ध करते हैं, क्योंकि प्रभु-भक्तिमें जौका आटा, दही आदि मिलानेकी बात असम्भव है ।

शक्तिप्रद सोम

ये सोमरस पेय थे, और "मन्दिनः" (ऋ० १।३४।२) मदाय (ऋ० १।१३५।१), मादयस्व (७।२९।५), मदन्तु (८।४५।२४), मत्सराः-आनन्द देनेवाले या मस्त बनानेवाले थे । पर यह मस्ती शराबकी मस्ती नहीं थी और पीनेवालेकी शक्ति नष्ट करनेवाला पेय नहीं था, अपितु

शरीरको पुष्ट बनाकर शक्तिशाली बनाता था। वातापे! पीव इत् भव—हे शरीर! तू पुष्ट बन (ऋ० १।१८७।९) ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन सजोषा रुद्रैस्तृपद् वृषस्व- हे इन्द्र! सोमसे तृप्त होकर तू स्तोत्र करनेवाले वीर मरुतोंके संघके साथ रुद्रोंके साथ मिल-जुलकर अपना बल बढा (ऋ० ३।३।२२)।

इसप्रकार शक्तिप्रद यह सोम है, इसको पीकर इन्द्रने द्यावापृथिवीको और सूर्यको तथा बहुत सी धनराशियोंको- ठीक प्रकार हिलाया (ऋ० ८।५२।१०)। ऋग्वेद के १०वे मण्डलका ११९ वां सूक्त भी इस सोमकी शक्तिका वर्णन करता है। इसको पीकर पीनेवाला बहुत शक्तिवाला बन जाता है। इसीलिए इसे वेदमें कई जगह अन्धस्, श्रवस् और अन्नके नामसे भी पुकारा गया है।

अग्नि और सोम

वेदोंमें अग्निषोमीय देवताके अनेक सूक्त हैं। इन दोनों देवताओंका स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् है। इनको अन्नाद और अन्नकी संज्ञा भी प्रदान की जा सकती है। शतपथ ब्राह्मणमें सोमको अन्न कहकर पुकारा गया ही है। (सोमो वै अन्नम्) अग्नि अन्नाद है, क्योंकि इसे हमेशा अशना अर्थात् भूख लगी रहती है, इसमें यदि हमेशा आहुति दी जाती रहे, तभी यह उत्तम रीतिसे काम करता है। मानवी शरीरमें जठराग्नि अन्नाद है। इसमें यदि अन्नकी आहुति न डाली जाए तो यह शरीरस्थ पदार्थोंको ही भस्म करने लगता है। इसीलिए इसे अन्न देना पडता है। प्राणाग्नि भी अन्नाद है, जिसमें श्वासोछ्वासकी आहुतियां हरदम पडती रहती हैं इन्हीं आहुतियोंके कारण वह प्राणाग्नि जीवित रहती है, आहुतिके अभावमें इस प्राणाग्निके उपशमन हो जानेका अर्थ है मृत्यु। आधिदैविक क्षेत्रमें अन्नाद सूर्य है, जिसमें प्रजापति हमेशा सोमकी आहुति देता रहता है। इसी सोमकी आहुतिके कारण यह सूर्य हमेशा प्रदीप्त रहता है। प्रजापति जिस क्षण इसमें सोमकी आहुति देना बन्द कर देगा उसी क्षण इस विश्वका विनाश हो जायगा।

यह सोम वस्तुतः एक प्रकारका जीवन रस है, या कहें कि एक प्रकारका रस है, जिसे पीकर मनुष्य उत्साही और क्रियाशील हो जाता है।

इस सोमको सुरा या शराब कहना नितान्त अनुचित है। सुरामें एक तरहका नशा होता है, जो मनुष्यके मस्तिष्कको असन्तुलित करके उसे उन्मत्तसा बना देता है, इसके विपरीत यह सोम जीवनमें एक प्रकारका उत्साह उत्पन्न करता है। इन्द्रने इसी सोमको पीकर उत्साहमें भरकर वृत्र आदि असुरोंका संहार किया था। इसको पीनेसे वीरता उत्पन्न होती है। अतः पाश्चात्य वेदमनीषी इसे जो सुराका पर्यायवाची समझते हैं, वह गलत है।

इसप्रकार यह सोम एक सात्त्विक पेय था, शराबकी तरह तामसिक नहीं।

अतः सोमको केवल प्रभु-भक्ति या आत्मतत्त्व ही नहीं कहा जा सकता, सोमका अर्थ वह भी हो सकता है। यह एक पेय भी है जिसे ऋषि और ऋत्विग्गण यज्ञमें पीकर आनन्दित तथा बलशाली होते थे।

वेदार्थ करनेमें प्रकरणका महत्त्व

किसी मंत्र अथवा श्लोककी व्याख्या करनेमें प्रकरणका कितना और क्या महत्त्व है, इसे हर कोई जानता है। "प्रकरण" का शाब्दिक अर्थ है किसी भी व्याख्याको उत्कृष्ट बनाना। एक मंत्रकी व्याख्या प्रकरणको दृष्टिमें न रखकर भी की जा सकती है और रखकर भी, पर जो सौष्ठव और सरलता प्रकरणानुसार की गई व्याख्यामें आता है, वह प्रकरणकी अवहेलना करकेकी गई व्याख्यामें कभी भी नहीं आ सकता। यही नहीं, अपितु प्रकरणके अनुसार न चलनेवाला व्याख्याकार अर्थका अनर्थ भी कर जाता है। इस कथनके साक्षात् उदाहरण हमारे सामने उव्वट और महीधर हैं। जिन्होंने प्रकरणकी उपेक्षा कर वेदमंत्रोंकी व्याख्या की और उससे जो अर्थका अनर्थ हुआ तथा उस अनर्थसे वैदिक सिद्धान्तों पर जो कठोर आघात पहुँचे, और उन आघातों से वेदोंकी कैसी विकृत अवस्था हुई, तथा उन विकृत वैदिक सिद्धान्तोंका वेदके पाश्चात्य विद्वानोंके मस्तिष्कपर जो प्रभाव पडा, उन सबसे हर एक वेदवित् पूर्णतया परिचित ही होगा। इसीलिए महर्षि दयानन्दने वेदभाष्य करनेमें सबसे ज्यादा जोर प्रकरण पर दिया। "सत्यार्थप्रकाश" के प्रथम पृष्ठपर ही महर्षिने प्रकरणके महत्त्वपर प्रकाश डाला है और "सैन्धवमानय" के उदाहरणको प्रस्तुत कर अपना मन्तव्य प्रकट किया है। "सैन्धव" के घोडा और नमक दोनों अर्थ होते है, यह सही है, पर यदि एक नौकर स्वामीके सामने यात्राके समय नमक और भोजनके समय घोडा लाकर रख दे, तो वह नौकर निश्चयसे महामूर्ख समझा जाएगा, क्योंकि उसे प्रकरणका ज्ञान नहीं है। इसीप्रकार एक महान् विद्वान् वेदोंका ज्ञाता भी यदि वेद-मंत्रोंका अर्थ प्रकरणानुसार नहीं करेगा, तो विद्वन्मण्डलीमें वह या उसका भाष्य कभी भी आदृत नहीं हो सकता और जब साधारण शास्त्रका श्लोक भी प्रकरणकी अनुपस्थितिमें अपने गूढार्थ-को प्रकट नहीं करता, तो एक वेदमंत्रका प्रकरणविहीन अर्थ कैसे अपने गूढार्थको प्रकाशित कर देगा, यह सहज ही समझमें आनेवाली बात है। इसीलिए निरुक्तकारने प्रथम ही चेतावनी दे दी थी, कि "प्रकरणवश एव मंत्राः निर्वक्तव्यः" प्रकरणके अनुसार ही मंत्रोंकी व्याख्या होनी चाहिए। पर साथमें निरुक्तकारने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि वेदमंत्रोंकी व्याख्या करना हर व्यक्तिके सामर्थ्यकी बात नहीं है। मन्त्रोंका द्रष्टा तो एक तपस्वी या ऋषि ही हो सकता है सामान्य जन नहीं "न ह्यनृषेरतपसो वा प्रत्यक्षमस्ति" पर खेदका विषय यह है कि आजका विद्वत्समाज यास्कके इन दोनों कथनोंपर ध्यान न देते हुए वेदमंत्रोंके मनमाने अर्थ करनेमें व्यस्त है। इस दोषके भागी सभी समाज हैं। अभी थोडे दिन पूर्व एक प्रसिद्ध विद्वान् (जिनका पूर्ण विवरण नीचे दे रहा हूं) द्वारा किए गए एक वेदमंत्रके अर्थपर मेरी दृष्टि गई जिनका शब्दार्थ तो ठीक है पर मंत्रार्थ प्रकरण विरुद्ध होनेसे उस अर्थका अनर्थ हो गया है।

पण्डितशिरोमणि श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुके सम्पादकत्व-में प्रकाशित मासिक "वेदवाणी" वेदांक नवम्बर दिसम्बर १९६० के अंकमें श्री पं० शिवपूजन सिंहजी "पथिक" बी० ए० ने "अथर्ववेदीय अन्त्येष्टि मन्त्रोंपर विचार" प्रस्तुत करके सबसे अन्तमे अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इस लेखमें अथर्ववेदके केवल निम्नलिखित मन्त्रपर ही विचार है —

> ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धृताः
> सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥

इस मंत्रपर विद्वान् लेखकने कुछ चुने हुए विद्वानों (श्री सायण, श्री जयदेव, श्री पण्डित सातवलेकर, श्री पण्डित मनसारामजी "वैदिक तोप" तथा श्री क्षेमराज) के भाष्यका उल्लेख कर अपना खण्डन-मण्डनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है जिसमें लेखकके विचारसे श्री सायण, श्री

+

जयदेव तथा श्री पं० सातवलेकरजीका अर्थ युक्तियुक्त नहीं है और श्री पं० मनसारामजी " वैदिक तोप" और पं० क्षेमराज आदियों द्वारा किया गया अर्थ उचित है। उपरोक्त व्याख्याकारोंमें श्री पं० सातवलेकरजीके अर्थ-पर लेखकका सारा ध्यान केन्द्रित हुआ है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि लेखमें स्थल-स्थलपर श्री पं० सातवलेकरजी-के ही अर्थका खण्डन किया है। इसमें आश्चर्य इस बातका नहीं है कि लेखकने श्री सातवलेकरजीके अर्थका खण्डन किया, आश्चर्य तो इस बातका है कि उन्होंने श्री पं० मनसारामजीके अर्थका मण्डन किया है। यह सम्भव है कि पं० सातवलेकरजीका अर्थ शतप्रतिशत युक्तियुक्त न हो, पर प० मनसारामजीके अर्थके अनुचित होनेमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इस विषयमें दोनोंके द्वारा किए गए अर्थ द्रष्टव्य हैं। इनको पढकर प्रत्येक विज्ञ अर्थके प्रकरणानुसार औचित्य और अनौचित्यको समझ सकता है।

१— श्री पं० सातवलेकरजी— (ये निखाता) जो शव गाडे गए हैं (ये परोप्ता) जो उपर छोड दिये हैं, (ये दग्धाः) जो जला दिये गये हैं अथवा (ये च उद्धताः) जो ऊपर वृक्षादिपर टांग दिए गए हैं, (तान् सर्वान् पितॄन् उन सब पितरोंको हे अग्ने ! (हविषे अत्तवे आवह) हवि भक्षणके लिए ले आओ।

२—श्री पं० मनसारामजी—यजमान पुरोहितसे कहता है कि हे विद्वन् ! (ये निखाताः) जो पदार्थ जमीनमें गाडे गये है (आलू, मूली, गाजर आदि) और (ये परोप्ताः) जो पदार्थ बोये जाते है (गेहूं, चावल आदि) (ये दग्धाः) जो पदार्थ भूनकर खाये जाते हैं (चने, मक्की आदि) (ये च उद्धता) जो पदार्थ बाहर निकाले जाते है (सिंघाडे, कमलगट्टे) इन सब पदार्थोंको निमंत्रण में साधु महात्मा आदि पितरोंको खाना खिलानेके लिए लाकर दे।

ये दोनों ही अर्थ पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत है, इन दोनों-में शब्दार्थ सम्बन्धी दोष भले ही न हों, पर प्रकरण सम्बन्धी महान् दोष मनसारामजीके अर्थमें अवश्य है। यह मंत्र अन्त्येष्टि संस्कारका है, उस समय खाने-पीनेका क्या प्रसंग ? अथवा इस मंत्रका प्रकरण अन्त्येष्टिके बादके दिनों का माना जाए तो श्री पं० जीको तेरहवींके दिनका संस्कार और ब्राह्मण भोज अथवा श्राद्ध आदि मान्य होने चाहिए जिन दोनोंका महर्षिने बडी कठोरतासे खण्डन किया है।

यद्यपि शब्दार्थ ठीक है, व्याकरणकी भी कोई गल्ती दिखाई नहीं देती, पर प्रकरणके प्रतिकूल अर्थ होनेके कारण यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता, अथवा जैसे कंगन हाथके बजाय पैरमें और हार गलेके बजाय कमरमें पहननेसे शोभा नहीं देता, उसीप्रकार यह मंत्रार्थ भी प्रकरणानुसार न होनेसे शोभादायक प्रतीत नहीं होता।

श्री पं० जीने इस मंत्रका यह अर्थ किस आधारपर किया, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ और नहीं यह मेरी समझमें आया कि श्री पं० शिवपूजन सिंहजीने इस मंत्रार्थ का समर्थन किस आधारपर किया।

प्रकरणविहीन मंत्रार्थ अपने पूरे पूरे अर्थको प्रकट नहीं कर सकते, यह बात निश्चित है। पर इसप्रकारके प्रयत्नसे एक बातका भय अवश्य बढ जाता है कि इसप्रकार वेदमंत्रों-का प्रकरण-विहीन या यथा कथंचित् अर्थ वेदोंकी प्रतिष्ठा बढानेके बजाए देशी या विदेशी विद्वानोंके मस्तिष्कमें वेदोंके प्रति इसप्रकारका दृष्टिकोण न पैदा कर दे जैसा कि पूर्वके विदेशी विद्वानोंका दृष्टिकोण हम देखते आ रहे हैं।

अतः इसप्रकारके प्रयत्नसे वेदोंकी प्रतिष्ठामें वृद्धि होनेके स्थानपर उसमें कमी होनेकी सम्भावना ही अधिक है।

जैनदर्शनमें नीतिशास्त्र

'दृश् दर्शने '— धातुसे सिद्ध हुए दर्शन शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है। व्यापक इस दृष्टिसे कि उसमें प्रायः सभी प्रकारके ज्ञानोंका समावेश हो जाता है। इसलिए प्राचीन दार्शनिक परिभाषामें सभी ज्ञान-विज्ञानोंको दर्शन कहा गया है। 'दर्शन' का वास्तविक अर्थ है 'सत्यतत्त्वका साक्षात्कार।' मनुष्य संसारिक विषय-वासनाओंसे अतृप्त होकर एक ऐसे तत्त्वकी शरणमें जाना चाहता है, जहां उसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो। इसी अतृप्त-भावना एवं शाश्वत सुख-प्राप्तिकी अभिलाषाने दर्शनको जन्म दिया। यही आगे जाकर एक पृथक् शास्त्र बन गया। इस शास्त्रमें मनविषयक, आचारविषयक आदि सभी ज्ञानोंका समावेश होता था, पर आगे जाकर जब इन विषयों पर पृथक् पृथक् रूपसे विस्तृत विचार किया जाने लगा, तो इस दर्शनशास्त्रकी शाखायें भी विभिन्न हो गई। मन-सम्बन्धी बातोंका विचार मनोविज्ञानके अन्तर्गत किया जाने लगा, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातोंका विचार अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) के अन्तर्गत होने लगा, इसी प्रकार आचार या व्यवहारका-विचार आचारशास्त्रके अन्तर्गत होने लगा। यही आचार-शास्त्र दार्शनिक परिभाषामें 'नीतिशास्त्र' कहा जाता है, अंग्रेजीमें इसके लिए 'ईथिक्स' (Ethics) शब्द है। प्रायः हर धर्म या दर्शनके अन्दर इस शास्त्रका अपना प्रधान स्थान होता है, अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस शास्त्रके बिना किसी दर्शनको खडा करना बिना नींवके महल खडा करनेके समान है। अतः जिस धर्ममें यह शास्त्र जितना विशाल होगा, उतना ही वह धर्म दृढमूल होगा।

जैन दार्शनिक इस तथ्यसे भलीभांति परिचित थे, इसीलिए इस शास्त्र पर उन्होंने अत्यधिक जोर दिया। विशेषतः जैन और बौद्धदर्शनमें आचारशास्त्रका बहुत वर्णन है। जैनका अध्यात्मवाद भी नीतिशास्त्रसे प्रभावित है। डॉ. राधाकृष्णन् अपने ग्रंथमें लिखते हैं—

In metaphysics Jainism opposed to all theories which do not emphasis ethical responsibilities.[1]

मनुष्यके स्वतंत्र कर्तृत्वमें. नीतिशास्त्रका अपना एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। मनुष्य हर तरहके कर्म करनेके लिए स्वतंत्र है। सरल शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शनके अनुसार मनुष्य अपने भाग्यका स्वयं निर्माता है, भाग्य मनुष्यका निर्माता नहीं। परमात्माके द्वारा संसारकी उत्पत्ति अथवा प्रकृतिके अन्तरसे संसारका विकास अथवा इस संसारके विनाश आदि सिद्धान्तों पर जैन-दार्शनिकोंने इसी कारण खण्डनात्मक टीका की है कि यह सभी विषय भाग्यवाद पर ही निर्भर रहते हैं। जैननीतिशास्त्रके अनुसार मनुष्यका एकमात्र उद्देश्य दुःखोंसे मुक्ति पाना ही है। जिन पदार्थोंसे दुःखको निवृत्ति नहीं होती, जैननीतिशास्त्रकी दृष्टिसे उन पदार्थोंका कोई मूल्य नहीं। यह प्रकृति अथवा परमात्मा मनुष्योंके दुःखोंका निवारण नहीं कर सकते, इसलिए जैननीतिशास्त्रमें इनका कोई महत्त्व नहीं।[2] इस संसारमें कोई गरीब है; दुःखी है, तो कोई धनी है, सुखी है, इस प्रकार संसारमें विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, अतः यह मानना कि किसी बुद्धियुक्त तत्त्वने पंच महाभूतोंको उत्पन्न करके इस विभिन्नतासे युक्त संसारको उत्पन्न किया, नीति शास्त्रकी दृष्टिसे बिलकुल निरर्थक है।[3] यदि वह कहा जाए कि आत्मा तो उदासीन है. अतः इसको संसारकी विभिन्नतासे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं, तो इस प्रकारके कल्पनाजन्य सिद्धान्तोंमें नैतिक सिद्धान्तोंका मूल्य ही क्या रहता है?[4] उदाहरणार्थ—प्रश्न है कि एक मनुष्य उत्तम कर्म क्यों करे?

---

1. Indian Philosophy. Ist Vol. P. 317

२. सूत्रकृतांग— १।१।३।५-९

३. सूत्रकृतांग—१।१।१।७-१०, ११-१२; २।१।१६।१७

४. उपर्युक्त— १।१।१।१३

उत्तम है पुण्यके लिए। पुण्यका प्रलोभन ही मनुष्यको उत्तम कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। फिर प्रश्न उठता है कि पुण्यका प्रयोजन क्या है ? उत्तर मिलता है— सुखकी प्राप्ति। सुखकी प्राप्तिके लिए पुण्यके संचयार्थ मनुष्य उत्तम कर्म करनेकी तरफ प्रेरित होता है। पर यदि आत्माका सुख या दु:खसे कोई प्रयोजन ही न हो अथवा कहा जाए कि सुख दु:ख दोनोंसे वह उदासीन है तो दु:खोंसे मुक्त होनेका वह प्रयत्न ही क्यों करे और उस अवस्थामें वह पुण्य-संचयके लिए उत्तम कर्मोकी तरफ प्रेरित ही क्यों हो ? और तब नैतिक सिद्धान्तोंका मूल्य ही क्या रह जाएगा ?

नीतिशास्त्रके सिद्धान्तों पर दूसरा आक्रमण जिसने किया है, वह है भाग्यवाद। प्रश्न उठता है कि यदि यह संसार परमात्माने बनाया है तो वह इतना पक्षपाती क्यों है कि एक आदमी तो सुखोंमें लोट रहा है जब कि दूसरा जिन्दगी भर दु:खोंका बोझा लादे येन-केन प्रकारेण जी रहा है। इसका उत्तर भाग्यवादी देते हैं कि यह तो अपना अपना भाग्य है। पर इस भाग्यवादमें नैतिक सिद्धान्त बेकार हो जाते हैं। यदि भाग्य ही मनुष्यके सुख-दु:खोंका निर्णायक है, तो मनुष्य कर्मोको करनेका प्रयत्न क्यों करे ? यदि भाग्यमें होगा, तो बिना कर्म किए ही सुख मिल जाएगा। भाग्यमें नहीं होगा, तो हजार प्रयत्नोंके बावजूद भी वह सुख मिलनेवाला नहीं है, तो फिर मनुष्योंके प्रयत्नोंकी नैतिकदृष्ट्या कीमत ही क्या रही ?[१] पर नीतिशास्त्रमें कर्मोंका बड़ा भारी महत्त्व है। नीतिशास्त्रके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मोंके आधार पर अपनेको बना या बिगाड सकता है।[२] इस विषयमें डॉ० राधाकृष्णनने विचार मननीय है—

The fatalist Theory (भाग्यवादी सिद्धांत) that all things are fixed by nature, obviously leaves no room for individual effort. Ethical values require that the individual can make or unmake himself in the world and the soul has a self identity, which it preserves even in the ultimate condition.[३]

जैननीतिशास्त्र कर्मवादी है, भाग्यवादी नहीं। उसके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मोके आधार पर ' अर्हत् ' बन सकता है। मनुष्यके अन्दर योग्यता रहती है, ज्ञान रहता है, पर वह अज्ञानसे ढंका रहता है, यही दु:खोंका कारण है। अतः यदि इन दु:खोंसे कोई मुक्ति पाना चाहे तो उसे चाहिए कि वह प्रथम अपनी आत्मशक्तिसे इन सांसारिक विषयों पर विजय प्राप्त करे। जब आत्मा अपनेको गिरानेवाले दुर्गुणोंसे ऊपर उठ जाती है, तब वह उस स्थान पर पहुंच जाती है कि जहां मुक्तात्मायें रहती हैं।. मनुष्यकी अन्तरात्माको उत्तम मार्गमें प्रेरित करना ही मुक्तिका एकमात्र उपाय है। ये कर्म ही हैं जो मनुष्योंको उन्नत अथवा अवनत करते हैं।

कर्म-सिद्धान्त

जैनशास्त्रोंमें कर्म-सिद्धान्त पर बडे विस्तारसे विवेचना की गई है। जीव अपने कर्मोंके गुणदोषके आधार पर ही देव, असुर, मनुष्य या जानवर बनता है। जब मनुष्यके पिछले कर्मोंका विनाश हो जाता है और नये कर्म भी निबद्ध हो जाते हैं, तब जीव निष्कर्म होकर मुक्तात्मा बन जाता है, पर इस स्थिति तक पहुंचनेके लिए ही जीवको नैतिकताकी आवश्यकता होती है। जैनागमोंमें आठ तरहके कर्मोंका वर्णन है, जिनमेंसे चार घातिक कर्म हैं जो आत्मिक गुणोंका विघात करते हैं—

(१) ज्ञानावरणीय– यह कर्म सत्यज्ञानको ढक कर मनुष्योंको अज्ञानकी ओर प्रेरित करता है। सत्यका मुख हमेशा ढका रहता है, अत: उसे कोई-कोई ही जान पाता है। ईशोपनिषद्के ऋषिका कथन है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

"हे पूषा देव ! सत्यका मुख सोनेके ढक्कनसे ढका हुआ है, अतः उसे तू हटा दे, ताकि हम सत्यधर्मका दर्शन कर सकें।" वस्तुतः यह ज्ञानावरणीय कर्म ही वह सोनेका ढक्कन है, जिससे सत्यतत्त्व ढका हुआ है।

(२) दर्शनावरणीय– यह कर्म सत्यदर्शनको ओझल करके मनुष्योंको भ्रान्ति युक्त एवं असत् मार्गोका दर्शन कराता है। निद्रा प्रमाद आदि इसी दर्शनावरणीय कर्मका परिणाम है। इस कर्मसे प्रेरित होकर जीव इस संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है।

१. उपर्युक्त— १।१।२।१-५
२. उपर्युक्त १।१।३।१।
३. Indian philosophy, IVol. P. 312

(३) अन्तराय– यह कर्म सुख और दुःखका उत्पादक है। आत्मा वस्तुतः अनन्त वीर्यमय है, आनन्दमय है। उपनिषद् का ऋषि कहता है—

आनन्दात् एव इमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं एव प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।

अर्थात् ये सब प्राणी आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही जीवित रहते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार आत्माका स्वभाव आनन्दमय ही है, पर जब वह इन कर्मोंसे प्रभावित होता है, तब वह अपने मूल स्वभावको छोडकर सुख और दुःखका अनुभव करने लगता है। पर जब वह उस अन्तिम तत्त्वका दर्शन कर लेता है, तब वह वीतशोक होकर इन सुख–दुःखोंसे ऊपर उठकर अपने मूल स्वभाव आनन्दमयताका दर्शन करने लगता है और उसकी अनन्तशक्ति प्रकट हो जाती है।

(४) मोहनीय– आत्माके प्रयत्न सदा श्रद्धा एवं उत्तम व्यवहारकी तरफ ही होते हैं, पर कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो इसे इसकी श्रद्धा और सद्व्यवहारके मार्गसे भटका देते हैं, ऐसे कर्मोंको जैनागममें " मोहनीय " कहा गया है।

चार अघातक कर्म भी जीवमें नाना प्रकारके विकार उत्पन्न करते हैं किन्तु घातिया कर्मोंकी तरह नहीं, अतएव यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जाता है।

इस प्रकार इन आठ तरहके कर्मोंके कारण आत्मा संसारमें अनेक प्रकारके सुख-दुःखोंको भोगता है। इन्हीं कर्मोंके विपाकका विनाश एव भविष्यमाण कर्मोंके निरोधके लिए नीतिशास्त्रकी आवश्यकता होती है। डॉ॰ राधाकृष्णनके शब्दोंमें—

The apparatus of morality is necessary to bring obont the reformation of man's nature and prevent the formation of new karma.,[१]

नैतिकसिद्धान्तोंका आचरण करके मनुष्य इन कर्मोंसे छूट सकता है। मनुष्य कर्मबन्धनके कारणभूत जो कर्म करता है, उन कर्मोंको जैनागममें ' आस्रव '' कहा है। '' द्रव्यसंग्रह '' के टीकाकार श्री नेमिचन्द्रके अनुसार ये आस्रव भावास्रव और कर्मास्रव या द्रव्यास्रव रूपसे दो प्रकारके हैं। मनुष्य जो कुछ सोचता है, वह भी एक तरहकी मानसिक क्रिया ही है। इस मानसिक क्रियाके परिणामस्वरूप जो कर्म आत्माके साथ बद्ध होते हैं वे "भावास्रव'' कहलाते हैं। कर्मपरमाणुओंका आत्मामें आना द्रव्यास्रव या कर्मास्रव है। इस प्रकार आस्रव निरन्तर होता रहता है। जिन कर्मोंका फल भोग लिया जाता है, वे नष्ट हो जाते हैं। इसे जैन–परिभाषामें " निर्जरा " कहते हैं। मनुष्य यदि चाहे तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान इन पांच प्रकारके सत्यज्ञानोंकी सहायतासे आस्रव-कर्मोंका निरोध कर सकता है और इस प्रकार कर्मके बंधनोंसे छूटकर निर्वाणका अधिकारी बन सकता है। श्री उमास्वाति कृत "तत्त्वार्थसूत्र" में इन पांच प्रकारके ज्ञानोंकी विवेचना विस्तारसे की गई है।

यदि मनुष्य इन सांसारिक दुखोंसे मुक्ति पाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह " त्रिरत्न " का आचरण करे। वे " त्रिरत्न " ये हैं–

(१) सत्यतत्त्वमें विश्वास।
(२) सत्यका ज्ञान।
(३) शुद्ध चरित्र।

इसी "त्रिरत्न" को 'पंचास्तिकाय' के रचयिताने सत्यमार्ग, सत्यज्ञान और सत्यचारित्र्यके शब्दोंमें व्यक्त किया है। " वास्तविक तत्त्वकी सत्तामें श्रद्धा रखना ही सत्यमार्ग है। तात्त्विक प्रकृतिका संशयातीत ज्ञान ही सत्यज्ञान है और सांसारिक विषयोंकी ओरसे उदासीन होकर ऐषणाओंसे रहित होना ही सत्यचारित्र्य है। "[२] ये तीनों मिलकर एक ही मार्गको प्रकाशित करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं– "भूमा व सुखं नाल्पे सुखमस्ति।" सांसारिक दुखोंसे मुक्ति पाकर भूमा सुख या शाश्वत आनन्दको प्राप्त करना ही दर्शनोंका मुख्य उद्देश्य है। यही उद्देश्य जैनदार्शनिकोंके सामने भी था। पर इस दर्शनकी विशेषता यह है कि जहां अन्य दर्शनोंने अध्यात्मशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया, वहां जैनदर्शनने नीतिशास्त्रके सिद्धान्तों पर भी उतना ही बल दिया है। जैनदार्शनिक इस बातसे अच्छी तरह परिचित थे कि निःश्रेयसका लाभ मनुष्यके अभ्युदय पर ही निर्भर है। सरल

१. Indian Philosophy. 1 Vol.P, 325
२. पंचास्तिकाय पृ० ११५

शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य, जिसका इहलोक बिगडा हुआ है, निर्वाणका अधिकारी कभी भी नहीं हो सकता। और यह लोक सदाचार और सद्व्यवहारसे ही सुधर सकता है। इसी कारण दूरदर्शी जैनदार्शनिकोंने आचारशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया।

पांच महाव्रत

जैनदर्शनके अनुसार पांच महाव्रतोंका विस्तार ही समग्र नीतिशास्त्रका मूलाधार है। वे पांच महाव्रत इस प्रकार हैं–

(१) अहिंसा–यह अहिंसा न हिंसाके रूपमें केवल निषेधात्मक ही नहीं है, उसका एक विधेयात्मक रूप भी है और वह है– "सब प्राणियोंके प्रति दया करना।"

(२) सत्याचरण- कायेन, मनसा और वाचा कभी भी असत्याचरण न करना।

(३) सम्मान्य व्यवहार– कभी चोरी न करना, दूसरोंको कष्ट न देना आदि।

(४) वाणी, विचार और कर्मोंमें अव्यभिचारिता।

(५) ममता, मूर्च्छा, आसक्तिका परित्याग।

इन्हीं पांच महाव्रतोंको योगदर्शनमें पांच यमके नामसे कहा गया है—

तत्राहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

इस प्रकार मानसिक शान्ति प्राप्त करानेवाले सभी कर्म जैनदर्शनके अनुसार विधेय हैं।

जैनागमके अनुसार हिंसा सबसे बडा पाप है और सब प्राणियोंके प्रति दयाभाव ही सबसे बडा पुण्य है। सबके प्रति दया करना ही परमात्माकी सच्ची भक्ति है। अंग्रेजी कवि कालेरिजके शब्दोंमें—

He prayeth well, who loveth well
Both man, bird and beast.
He prayth best, who loveth best
All things both great and small.
(Coleridge)

जैनधर्मका नीतिशास्त्र बौद्धधर्मकी अपेक्षा ज्यादा कठोर है। जैनदार्शनिकोंके अनुसार "सन्तोष ही सर्वोत्तम शिव" (highest good) है और सुखकी लालसा ही पापका मूल है।[1] इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह सुख और दुःखसे उदासीन रहे। वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहकर उनसे स्वतंत्र रहे। 'जो मनुष्य बाह्य पदार्थोंकी अभिलाषा करता है, वह सुख और दुःखका अनुभव करता है और अपनी आत्मा पर अपना अधिकार गंवा बैठता है। उस पर कामनायें या ऐषणाये शासन करने लगती हैं और बाह्य पदार्थ ही उसके चरित्रके निर्णायक बन जाते हैं"[2] इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहे।

जैनदर्शन या धर्म रूढिवादी नहीं है, वह अपने धर्मके प्रति हठवादी नहीं है। वह यह नहीं कहता कि अमुक प्रकारके वेषके धारक ही निर्वाणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके विपरीत वह कहता है कि किसी भी पंथका अनुयायी नीतिशास्त्र या आचारशास्त्रके नियमोंका सम्यक् पालन करके निर्वाणका अधिकारी बन सकता है। अपने ग्रंथ "सम्बोधसत्तरी" में रत्नशेखर कहते हैं–"भले ही कोई श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या किसी भी धर्मका अनुयायी, जो अपनी आत्मका साक्षात्कार कर लेता है, वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है।"

इसी प्रकार जैनधर्म वर्णव्यवस्थाका विरोधी नहीं है। पर यहां पर भी वर्णका निर्णायक नीतिशास्त्र ही है। "मनुष्य अपने ही कर्मोंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है... जो कर्मोंको अनासक्तभावसे करता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं।[3] जैन परिभाषाके अनुसार ब्राह्मण एक सम्मान्य पदवी है, जो एक उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मणतरको भी दी जा सकती है।[4] वंशाभिमान पापका कारण होता है।" (सूत्रकृतांग)

इस प्रकार जैनदर्शनमें नीतिशास्त्र बहुत ऊंचे स्तर पर स्थापित है और जैनदार्शनिकोंने इसे अपने दर्शनका आधार माना है।

---

१. आचारांग सूत्र २२ पृ० ४८
२. पंचास्तिकाय पृ० १६३
३. Sacred Book of the East XIV P. 140
४. Ibid XXII P. XYX

ब्रह्मचारियोंको यदि केवल शस्त्रास्त्रोंकी ही शिक्षा दी जाए तो वे क्रूर और अत्याचारी होकर दूसरों पर बिना कारण आक्रमण करने लगेंगे। इस अनर्थको टालनेके लिए ही इस योगासनकी शिक्षामें "यम और नियम" की शिक्षा दी जाती थी। इसमें "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह" की भी शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार एक आर्य तरुण स्वसंरक्षणमें समर्थ होता था तो भी इसकी वृत्ति अनाक्रमककी ही होती थी। उनकी वृत्ति होती थी कि यदि उन पर कोई दूसरा आक्रमण करता था, तो वे पीठ नहीं दिखाते थे, इसके विपरीत वे शत्रुका समूलोन्मूलन करके ही दम लेते थे, पर वे स्वयंमात्र किसी दूसरे पर आक्रमण नहीं करते थे।

हम यदि बलवान् हों और हमारे पास युद्धके साधन भी भरपूर और उत्तम हों, तो शत्रु हम पर आक्रमण ही नहीं करेगा। यदि हम निर्बल हों तो शत्रुओंको हम पर आक्रमण करनेका प्रोत्साहन मिलता है। अतः यदि हम बलवान् हों तभी हमारे राष्ट्रमें शान्ति स्थापित हो सकती है। यही भारतीय संस्कृतिका सिद्धान्त है।

२० सन्तप्त जगत्को स्थायी शान्तिका सन्देश

अब तकके ४-५ लेखोंमें हमने वैदिककालकी शिक्षा पद्धति पर विचार किया। अब इस लेखमें हम यह देखेंगे कि तरुण पीढीको सक्षम बनानेके लिए प्राचीन ऋषि किन साधनोंका आश्रय लेते थे।

योगसाधनकी शिक्षा

गुरुकुलमें प्रविष्ट विद्यार्थीको योगसाधन भी सिखाया जाता था। आज इसकी तरफ कोई नजर भी नहीं डालता आजके लोगोंका विचार यह है कि संसारसे विरक्त लोग ही योगसाधन करें। पर यह विचार बहुत ही दोषपूर्ण है। वास्तविकता तो यह है कि जो इस संसारमें सुखसे रहना चाहें, उन्हींके लिए यह योगसाधन है। संसारमें हमें रहना है, सुखसे रहना है। हमारा शरीर सदा नीरोग रहे, दीर्घायु प्राप्त हो, वृद्धावस्थामें शरीर सबल रहे, उत्साह अविच्छिन्न रहे, कार्य क्षमता बढे, इसके लिए योगसाधन आवश्यक है। इस कारण आजके शिक्षाक्रममें योगसाधनका समावेश अवश्य करना चाहिए। राष्ट्रनिर्माण करनेकी योजनामें इसके बिना प्रगति होनी असंभव है। इसलिए दीर्घदर्शी ऋषियोंने अपने गुरुकुलीय शिक्षाक्रममें इस योगसाधनका समावेश किया था।

योगसाधनाके आठ अंग हैं। इनमेंसे प्रत्येक अंग विभिन्न शारीरिक शक्तियोंको बढानेवाला है। वे आठ अंग "यम-नियम- आसन - प्राणायाम- प्रत्याहार- धारणा-ध्यान और समाधि" ये हैं। इनमेंसे यमनियमका विचार अन्तमें करूंगा, बाकी छ अंगोंका विचार प्रथम करूंगा।

१ आसन

आसन वस्तुतः शारीरिक व्यायाम है। इन आसनोंसे शरीरमें रुधिराभिसरण ठीक होकर स्नायुयें दोषरहित होती हैं। शरीरका आरोग्य और बल बढता है। शरीरकी आयु और आरोग्यको बढानेके लिए व्यायामका उत्तम उपयोग होता है।

२ प्राणायाम

शरीरके प्राणोंको बल मिले, इसलिए प्राणायामकी आवश्यकता होती है। इस प्राणायामसे शरीरके अन्दर स्थित सब मल नष्ट हो जाता है। छाती और पेट पर इसका परिणाम प्रत्यक्ष होता है, रक्त शुद्धि पर भी प्रत्यक्ष परिणाम होता है और उत्साह-वृद्धि पर अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। प्राणायाम करनेवालेको जल्दी ही इसका अनुभव होता है।

३ प्रत्याहार

स्वार्थी भोगेच्छासे मनको परावृत कर उसे प्रशस्त कर्ममें लगाना चाहिए, यही इस अनुष्ठानका उद्देश है। स्वार्थी और भोगलालसाके कारण कालाबजार कितना बढ गया है, इसे देखनेसे पता चलेगा कि राष्ट्रनिर्माणमें इस अनुष्ठानका कितना महत्त्व है।

४-५ ध्यान-धारणा

मनकी धारणाशक्ति बढानेके कार्यमें इसका उपयोग होता है। मन यदि समर्थ हो तो मनुष्य महत्त्वपूर्ण काम कर सकता है। मनको समर्थ बनानेके लिए इन दोनों साधनोंका उपयोग होता है। इसी दृष्टिसे ये महत्त्वपूर्ण हैं।

समाधि

यह स्थिति ऐसी है कि जिसमें मनोवृत्तिके शान्त तथा

चित्तकी एकाग्रताके होने पर अपनी अन्तःशक्तिके प्रकाशका अनुभव होता है ।

ये छहों योगांग मनुष्यकी शक्तिको विकसित करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं । आध्यात्मिक उच्च भूमिकाके अनुभव को छोडकर या यदि हम व्यावहारिक दृष्टिसे देखें, तो भी हमें इस बातका कायल होना पडेगा कि तरुणोंको दिए जानेवाले शिक्षाक्रममें इन योगांगोंका समावेश अवश्य होना चाहिए और वह भी उन्हें आठवें वर्षसे ही दिया जाना चाहिए । तभी यह शिक्षा उत्तम हो सकेगी ।

इस योगके अगोंके बारेमें आध्यात्मिकताका जो भय जनतामें निष्कारण फैला हुआ है, उसे दूर करना चाहिए । अपने ऐहिक सुखप्राप्तिके लिए इनका उपयोग किसप्रकार किया जा सकता है अनुभवके आधार पर निश्चय करके इस योगसाधनाका समावेश आजकी शिक्षा पद्धतिमें किया जाए। इसका शिक्षापद्धतिमें समावेश करने पर ही इसका महत्त्व नवीन पाढीको समझमें आयेगा ।

अब हम " यम नियम " पर विचार करें । यम भी पांच हैं और नियम भी पांच हैं । वे किसप्रकार मानव-जीवनके लिए उपयोगी हो सकते हैं, इस पर अब विचार करेंगे ।

पांच नियम

१ शुद्धता- स्वच्छता - निर्मलता । मन, इन्द्रिय, शरीर अन्न, वस्त्र, घर, गली, गांव आदिको यथाशक्ति स्वच्छ रखनेसे आरोग्यप्राप्ति होती है । आरोग्यप्राप्तिके लिए इन सबकी स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है । स्वच्छता उत्तम रीतिसे हो तो आरोग्य और दीर्घायुकी भी प्राप्ति हो सकती है ।

२ सन्तोष- मनमें सन्तोष रखना, उद्विग्नताको दूर करना । जिस स्थितिमें ईश्वर रखे उसीमें सन्तुष्ट रहनेकी वृत्ति धारण करके मनको उद्विग्न न होने देनाही सन्तोष है । यह भी नीरोगताके लिए आवश्यक है ।

३ तप- कष्ट सहनेकी आदत डालना । शरीरको बिल्कुल सुखमय बना देना भी खतरनाक है । शीत-उष्ण सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहनेकी शक्ति भी मनुष्यके अन्दर होनी चाहिए । उत्तम कार्य करते समय जो परिश्रम करना पडता है, उस परिश्रमसे मनुष्य टूट न जाए । मनुष्यको इस प्रकारकी आदत डालनी चाहिए कि वह १०-१२ घंटे प्रतिदिन न थकते हुए काम कर सके । तभी मनुष्यकी उन्नति हो सकती है । इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य बचपनसे ही ऐसी आदत डाले । शिक्षाव्यवस्थामें भी इस प्रकारके कार्यक्रमका समावेश हो ताकि विद्यार्थी अध्ययन करते समय शारीरिक श्रमका भी अभ्यास करते रहें । मनुष्यकी उन्नतिके लिए इस अभ्यासकी अत्यन्त आवश्यकता होती है ।

४- स्वाध्याय- अध्यापन, ज्ञानप्राप्ति, अपनी उन्नतिके लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करना । अपने सामर्थ्यको जानना । ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना ।

५ ईश्वर-प्रणिधान- परमेश्वर पर श्रद्धा रखकर उसकी भक्ति करना, ईश्वरकी सेवा करना । ईश्वर विश्वरूप है । मनुष्य उसकी सेवा करे । इसकी सहायतासे मनुष्यका बल बढता है ।

इन पांच नियमोंसे मनुष्योंकी वैय्यक्तिक शक्तिका विकास होता है, इसलिए मनुष्य इनका अनुष्ठान अवश्य करे । अब हम यम पर विचार करें ।

पांच यम

१ अहिंसा-काया-वाचा-मनसा भी दूसरोंको कष्ट न हो इसप्रकारका व्यवहार करना चाहिए । यह मनुष्यका सर्वप्रथम और मुख्य कर्तव्य है । गीताने दैवीसम्पत्तिके लक्षणोंमें सर्वप्रथम गणना अहिंसाकी की है । वैदिकधर्म भी अहिंसाको दैवीसम्पत्तिमें प्रमुख मानता है । चार वर्णोंमें ब्राह्मण और चार आश्रमोंमें सन्यासी अहिंसक ही माना जाता है । वैदिकधर्म यज्ञ प्रधान है । और यज्ञके नामोंमें -अ-ध्वर शब्द " अ-हिंसा " का द्योतक है । यद्यपि सभी हिन्दू देवी देवता शस्त्रधारी हैं, और सभी यज्ञोंमें शस्त्रधारी संरक्षकको रखना पडता है, तथापि दूसरों पर बिना कारण आक्रमण करनेकी आज्ञा वैदिकधर्म कभी नहीं देता । इसके विपरीत वेदकी आज्ञा है ।—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । (यजुर्वेद)

" सब प्राणी मेरी तरफ मित्रकी दृष्टिसे देखें, मैं भी सब प्राणियोंकी ओर मित्रकी नजरोंसे देखूं, हम सब भी मित्रकी नजरोंसे ही देखें । " विश्व कोही परमेश्वरका रूप माननेवाला भला किसतरह दूसरे पर आक्रमण करेगा ? वैदिकधर्म स्वभावतः ही अहिंसक है । पर जब दूसरा शत्रु आक्रमण

करता है, तब यह धर्म जागकर सिंहनाद करने लगता है और उस शत्रुका प्रतिकार करता है। तात्पर्य यह हुआ कि जहां तक संभव हो सके वहांतक अहिंसाका पालन किया जाए। अहिंसा मानवीधर्म है। अहिंसा ही दैवीसम्पत्तिका प्रमुख लक्षण है। यह वैदिकधर्मका मत है।

" अहिंसा एक निषेधात्मक रूपहै। इसका विधेयात्मक रूप है सबका हित करना। इस मानवी हितके लिए वैदिकधर्म भरसक कोशिश करता है। यज्ञ विश्व कल्याणकी दृष्टिसे ही किया जाता है।

मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि

यह वैदिकधर्मका दृष्टिकोण है। पर यदि कोई आक्रमण करेगा तब यह शान्त नहीं रह सकता। आपत्तिके समय आत्मरक्षाकी शिक्षा देनेके लिए शस्त्रधारी देवी–देवताओंके आदर्श इस धर्मके अनुयायियोंके सामने हैं। स्वयं अहिंसक रहो पर यदि गुण्डोंका आक्रमण हो तो भी " राम राम " जपते हुए बैठे मत रहो, उस समय ईंटका जवाब पत्थरसे देनेके लिए हमेशा तैय्यार रहो। सदा सावधान रहो, अपनी असावधानीके कारण गुण्डोंके अधीन मत होओ, वीर बनो पर बिना कारण किसीका गला न काटो, अहिंसक बनो पर चूडियां पहन कर न बैठो, असावधानीमें मत रहो।

२ सत्य– सत्यका पालन करना दूसरा यम है। सभी व्यवहारोंमें सत्यका पालन हो। सत्य अहिंसाकी जोडी है।

३ अस्तेय– चोरी न करना दूसरोंकी धन सम्पत्ति न चुराना किसी भी कारण दूसरेका माल न लूटना।

४ ब्रह्मचर्य- प्रथम आयुमें ब्रह्मचर्यका पालन करना, गृहस्थाश्रममें नियमित ब्रह्मचर्यका पालन करना, वानप्रस्थ और संन्यासमें तो ब्रह्मचर्यका पालन करना होता ही है।

५ अपरिग्रह- अपने पास अत्यधिक भोगसाधनोंका संग्रह न करना। इस, संग्रहवृत्तिसे समाजमें कईयोंको भोगके साधन नहीं मिल पाते, लिहाजा समाजमें अशान्तिका निर्माण होता है। समाजमें शान्तिकी स्थापनाके लिए अपरिग्रहवृत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। विश्वशान्ति भी इसी अपरिग्रह वृत्तिसे हो सकती है।

ये पांच यम हैं। मनुष्यके वैय्यक्तिक कर्तव्य पांच नियमों के द्वारा बताए गए हैं और मनुष्य अपने समाजमें किसतरहका व्यवहार करें यह बात इन पांच यमोंके द्वारा बताई गई है। गुरुकुलमें भर्ती किए गये लडकेको योगसाधन प्रारंभसे सिखाया जाता था। और उनमें यम–नियम भी सिखाये जाते थे। गुरुकुलमें १२ वर्ष मुख्यतः दूसरी विद्याओंके साथ अनुशासनकी विद्या भी सिखाई जाती थी।

आजका सदोष मार्ग

आज विश्वविद्यालयोंमें शुल्क देकर विद्यार्थी आते हैं और शुल्क देकर विज्ञान पढते हैं। विज्ञान मनुष्यके हाथमें बडा भारी शक्ति देता है। एक अणुबम ही बडे बडे नगर उध्वस्त कर देता है। इतनी विशाल शक्ति इस विद्यामें है। अणुशक्ति जिसप्रकार विध्वंसक कार्य करती है, उसी तरह वह विधायक कार्य भी करती है। जो फीस देता है, उसके हवाले विशालशक्तिका यह भण्डार कर दिया जाता है इस विज्ञानको सीखनेवाला अहिंसाका पालन करनेवाला है या नहीं, उसमें अस्तेयकी भावना कितनी है, उसमें अपरिग्रह वृत्ति है भी या नहीं, इन बातोंकी तरफ ध्यान दिये बिना ही जो फीस दे, उसके हाथोंमें इतनी विशालशक्तिको सौंप देना कहां की बुद्धिमानी है ?

गुरुकुलोंमें यह देखा जाता था कि विद्यार्थी यम नियमोंका पालन करनेवाला है या नहीं। उनमें जो कसौटी पर उतरता था, उसे शस्त्रास्त्र और शक्तिकी विद्या सिखाई जाती थी। जो नियम यमोंका पालन नहीं करते थे, उन्हें यह शक्ति विद्या नहीं सिखाई जाती थी।

आज जो युद्धका संकट संसार पर छा रहा है, और सर्वत्र युद्धकी बिभीषिका नजर आ रही है, उसका कारण ही यह है कि आज यह विद्या अधिकारी और अनधिकारी दोनोंको दी जाती है।

भारतका महत्त्वपूर्ण सन्देश

सभी राष्ट्रके विचारशील लोगोंकी अभिलाषा यही है कि जिसप्रकार भी हो विश्वयुद्ध टल जाए, पर विश्वयुद्धके इस संकटका प्रतिकार किसप्रकार किया जाए, यह बात उनकी समझमें नहीं आती। ऐसे समय भारतीयसंस्कृति यह महत्त्वपूर्ण संदेश दे रहा है,– " मनुष्यो ! यदि तुम चाहते हो कि विश्वयुद्ध न होकर जगत्में चिरशान्तिकी स्थापना हो तो इस शान्तिकी नीव शिक्षामें ही डालो। ऋषि गुरुकुलमें योगसाधन और यमनियम सिखाते थे, वही पाठ्यक्रम तुम

गुरु करो और उसमें जो शमदमसम्पन्न हो उसीको यह शक्तिविद्या सिखाओ। '' आजके सन्तप्त जगत्‌को स्थायी-शान्ति स्थापनाके बारेमें यही भारतीयसंस्कृतिका सन्देश है।

२१ राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था

कोई भी संस्कृति हो यदि उसकी अर्थव्यवस्था ठीक हो और वह हमेशा टिकने लायक हो तो ही वह संस्कृति उत्तम मानी जा सक्ती है। आर्योंकी संस्कृति ऐसी ही संस्कृति थी। हमने पिछले लेखोंमें यह देख ही लिया है कि धनके बिना भी मनुष्यकी तीन चौथाई आयु सुखसे और निश्चिन्ततासे बीत जाती थी। इस कारण अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि नियमोंका पालन अनायास ही होता था।

आज हमारा जीवन योरोपीय पद्धतिके अनुसार चलनेके कारण जन्मसे लेकर मृत्यु तक जीवनसे पैसेका सम्बन्ध बना ही रहता है। इसी कारण जीवनमें स्पर्धा बढती है और स्पर्धाके साथ व्यय भी बढता जाता है। आवश्यकतायें, भी बढती जाती हैं, इन्हीं सबके कारण मनुष्यमें शान्ति नहीं है घोर चिन्ताका सर्वत्र साम्राज्य है। दिन पर दिन मानवी जीवन कष्टदायक होता जा रहा है। यदि हम प्राचीन भारतीयोंके समान धनसे कोई सम्बन्ध न रखते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करना सीख सकें, तो निस्संशय हमारा जीवन सुख और समृद्धिसम्पन्न हो सकेगा। इस दृष्टिसे भी प्राचीन भारतीयोंकी अर्थनीति पर भी विचार करना होगा।

धन किसका ?

भारतीयसंस्कृतिमें धन किसका समझा जाता था, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उस समयका सिद्धान्त यही था कि सब धन प्रजापतिका ही है। "कस्य धनं" इस पदमें 'क" का अर्थ प्रजापति है। प्रजापतिके " परमेश्वर, यज्ञ, प्रजापालक राजा, प्रजापालक संस्था " आदि अनेकों अर्थ हैं। हम इनमेंसे कोई भी अर्थ लें तो भी उससे यही भाव व्यक्त होता है कि " धन व्यक्तिका नहीं होता " यही भाव यहा ध्यानमें रखने योग्य है। धन पर किसी व्यक्ति की सत्ता नहीं चलती।

व्यक्ति अर्थसम्पादन करे, थोडे समय तक उसका संग्रह भी अपने पास करे, पर अन्तमें वह उस धनको यज्ञके लिए दे डाले। वह सदाके लिए उस धनका स्वयं उपभोक्ता नहीं हो सकता।

सब प्रजायें यज्ञके साथ उत्पन्न हुई हैं (सह यज्ञः प्रजा। गीता ; इसलिए प्रजाका जीवन यज्ञ करनेके लिए ही है। जहां सारा जीवन ही यज्ञके लिए हो वहां सारा धन भी यज्ञके लिए ही है यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्यकी उत्पत्ति ही यज्ञके लिए हुई होनेके कारण यज्ञ मनुष्यके जीवनका एक भाग है, इसलिए अपना सर्वस्व यज्ञके लिए समर्पित करना चाहिए।

वेदोंमें इसका सविस्तर वर्णन है। उस सबको यहां देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। हमें तो यहां सिर्फ यही भारतीय संस्कृतिका तत्त्व देखना है कि (पुरुषो वै यज्ञः) पुरुष यज्ञ है, उसका सर्वस्व यज्ञके लिए है, उसका धन भी यज्ञके लिए है, इसलिए यज्ञके काममें ही उसका व्यय होना चाहिए।

शतक्रतु बनें

जैसे देखा जाए तो वेदकी व्यवस्थाके अनुसार मनुष्यको गुरुकुलीय जीवन समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके बाद १०० वर्षतक जीना चाहिए। और प्रतिवर्ष एक यज्ञ करके १०० वर्षोंमें १०० यज्ञ करने चाहिए और इस प्रकार "शतक्रतु" बनना चाहिए। वह जिस आश्रममें रहे उस आश्रमके अनुसार यज्ञ करे, पर उसका सारा जीवन यज्ञमय हो, इस बातका वह हमेशा ध्यान रखे।

इसप्रकार अपना स्व यज्ञके लिए समर्पित करना है। इसीलिए कहा है कि धन प्रजापतिका है और वह प्रजापतिके लिए ही समर्पित होना चाहिए। अर्थात् धन यज्ञके लिए है, इसीलिए यज्ञके लिए अर्पित किया जाना चाहिए धनपर व्यक्तिकी सत्ता नहीं है उस पर तो समष्टि या समाजकी सत्ता है। उपनयन हो जानेके बादसे मृत्युतक यज्ञ किये जाने होते है और अधिकतर यज्ञ समाजके हितके लिए ही हैं।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति मर्त्य अर्थात् मरणधर्म है भले ही वह सौ वर्षके बाद मरे पर वह मरेगा अवश्य, वह शाश्वत नहीं है। शाश्वत तो समाज रहता है। इस समष्टिको समाज, राष्ट्र, समष्टि, जनता, प्रजा या कुछ भी कहें, यही समष्टि शाश्वत-रूपसे टिकनेवाली है। व्यक्ति नश्वर और समाज अविनश्वर

या अमर है। उदाहरणार्थ– हिन्दु व्यक्तिश मरणशील है पर हिन्दुसमाज अमर है, इसीतरह न जाने कितने मनुष्य पैदा हुए और मर गए पर मानवजातिपर उनके मरने जीनेका कोई प्रभाव नहीं पडा, वह वैसी ही शाश्वत है।

विचारहीन व्यक्ति ही धनको अपना बताता है और वह " मेरा धन, मेरा धन " कहते हुए मर भी जाता है। उसके बाद उसका लडका भी " मेरा धन, मेरा धन " करते करते मर जाता है। इसीप्रकार हर मनुष्य " मेरा धन, मेरा धन " चिल्लाते हुए मर जाता है और फिर उसके धनपर दूसरा अधिकार कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धनपर व्यक्तिका स्वामित्व हो ही नहीं सकता। तब स्वामित्व किसका है ? उत्तर है कि व्यक्ति समाज की इकाई है और वह समाज शाश्वत रहनेवाला है, इसलिए वह धन समाजका ही धन है।

इसी विचारपरम्पराको यदि हम और आगे ले चलें, तो अन्तमें हमें यही कहना पडेगा कि पृथ्वीपरका सारा धन मानवसमाजका ही है। पर समस्त मानवसमष्टिपर विचार करना कठिन होगा, उसपर विचार करते समय अनेक तरहके उलझे हुए प्रश्न भी उत्पन्न हो सकते हैं इसलिए हम स्वयंको राष्ट्रसमष्टितक ही सीमित रखकर विचार करेंगे।

व्यवहारमें कायदेकानूनके अनुसार यद्यपि धनपर व्यक्ति का स्वामित्व माना जाता है, तथापि अन्तिम अधिकार राष्ट्रका ही होता है। यदि कोई बिना उत्तराधिकारीके मर जाता है तो उसकी जायदाद अपने आप सरकारकी हो जाती है। प्रजापर विभिन्न कर लगानेका जो अधिकार सरकारको दिया जाता है, वह इसी बातका द्योतक है कि धनपर राष्ट्रका या कहूं कि राष्ट्रकी प्रजाका अधिकार है। योरोपमें और संप्रति भारतमें भी अत्यधिक धनपतिको आमदनीपर ८० या ९० प्रतिशत इन्कमटैक्स भरना पडता है। यह प्रमाण भी धनपर राष्ट्रके स्वामित्वका ही निदर्शक है। धन प्रजापति–राजाका है, इसलिए वह करके रूपमें अपना भाग प्रजासे ले लेता है। और उसका भी उपयोग वह अपने लिए नहीं अपितु प्रजाकी उन्नतिके कार्योंमें करता है।

धन प्रजाका है

वस्तुत: तो सब धन प्रजाका ही है। प्रजापालकसंस्था प्रजाओंकी प्रतिनिधि है। इसलिए वह प्रजाकी उन्नतिके लिए ही धन वसूल करती है धन वसूल करनेके तरीके कुछ भी हों, यहां मुख्य मुद्दा यह है कि धन किसी एक व्यक्तिका न होकर सब समाजका है। यही विचार वैदिकयज्ञसंस्थाका जनक है।

विश्व और सर्व ये दोनों शब्द ईश्वरवाचक हैं। " सर्व " यह ईश्वरका स्वरूप है। इसलिए हमने जो यह कहा है कि धन ईश्वरका है, तो उसका मतलब है कि धन सर्वका है। इस प्रकार व्यक्तिके पासका धन सर्वका है और उसे सर्वके लिए समर्पितकर देना ही यज्ञ है।

व्यक्ति सर्वके लिए है

व्यक्ति भी स्वयंके लिए न होकर सबके लिए है। शरीरमें ही देखिए, आंख स्वयंके लिए न होकर सब शरीरके लिए है। इसीप्रकार नाक, कान, हाथ, पांव, पेट आदि अवयव स्वयके लिए न होकर शरीरके लिए हैं। यदि प्रत्येक अवयव स्वयके लिए जीने लग जाए, तो वह जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक अवयवको शरीरके लिए आत्मसर्वस्वका समर्पण करना ही पडता है। आंख, नाक, कान आदि अवयवोंको शरीररक्षाके लिए जीवित रहना पडता है। यदि वे शरीरकी चिन्ता न करके अपने अपने लिए जीने लग जाए, तो शरीरकी मृत्यु हो समझनी चाहिए। इसलिए यहां हमें जीवनका नियम यही दीखता है कि प्रत्येक अवयव समर्थ बने और अपनी शक्ति सब शरीरके पोषणके लिए अर्पित करे।

इसीप्रकार प्रत्येक व्यक्ति समर्थ बने और सम्पूर्ण समाजके लिए अपने जीवनका यज्ञ करे। इसीका नाम जीवन है। यज्ञ इसप्रकार अनुभवसे सिद्ध होनेवाला है। प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतया समाजपर आश्रित रहता है। समाजकी सहायताके बिना कोई जीवित भी नहीं रह सकता यह जो समाजका ऋण व्यक्तिपर लदा हुआ है, उससे व्यक्तिको उऋण होना ही चाहिए, यही यज्ञ है।

व्यक्ति बचपनमें सर्वथा परावलम्बी होता है। बडा होने पर भी उसे अनेकों तरहसे समाजका आश्रय लेना ही पडता है। समाजकी-समूहकी-परमेश्वरकी शक्ति प्राप्त करके ही व्यक्ति-एक- मनुष्य जीवित रहता है, उसे सबको समाजके लिए अर्पित कर दे, यह उसका कर्तव्य ही है।

ब्राह्मण अपने ज्ञानको, क्षत्रिय अपने बलको, वैश्य अपने

धनको और शूद्र अपनी कर्मशक्तिको राष्ट्रके लिए समर्पित कर दे इसीका नाम यज्ञ है। मनुष्यके साथ ही यज्ञ उत्पन्न हुआ है, यह जो कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है। यज्ञका होना उन्नति है और यज्ञका बन्द होना अवनति है।

इसका साक्षात् अनुभव करनेके लिए हमें दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। अपने शरीरमें ही इसका अनुभव किया जा सकता है। जबतक प्रत्येक अवयव शरीरके लिए अपनी शक्ति समर्पित करता रहता है, तभी तक शरीरका आरोग्य टिका रह सकता है। पेटमें अन्नके पडनेपर वह उसे पचाकर उसका रक्त बनाकर रक्तको सारे शरीरमें फैला देता है। पर यदि पेट उस अन्नको न पकाकर अपने पास ही इकट्ठा करके रख ले, तो उसका यह स्वार्थ शरीरके नाशका कारण ही बनेगा। पेट फूलने लगेगा, और उससे अनेकों रोगोंकी उत्पत्ति होगी और अन्तमें उसकी मृत्यु ही हो जाएगी। एक अवयवका स्वार्थ इसप्रकार समस्त शरीरके नाशका कारण बन जाता है। इसीप्रकारका अनुभव अन्य सभी इन्द्रियोंके बारेमें भी आएगा, शरीरमें रुधिराभिसरण ठीक तरह न हो और वह एक ही जगह इकट्ठा होकर रह जाए, तो वहां सूजन पैदा हो जाएगी और अनेकों समस्यायें उठ खडी होंगी।

यदि एक ही अवयव अपना कर्तव्य न करे, तो ऐसी अवस्था हो जाती है फिर यदि सभी अवयव अपने स्वार्थकी पूर्ति करनेमें लग जाएं, तो इस शरीरकी क्या अवस्था होगी, यह सहज अनुमेय है।

शरीरके समान ही राष्ट्रकी स्थिति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये राष्ट्रके अवयव हैं। ये अवयव यदि राष्ट्रकी सेवाके लिए अपनी शक्तिका अर्पण करते रहें, तभी राष्ट्रकी स्थिति उत्तम रह सकती है। पर यदि ये लोग स्वार्थी होकर केवल आत्मार्थ ही सब कुछ करने लग जाएं और राष्ट्रका धन अपने उपभोगके लिए खर्च करने लग जाएं, अपने धनसे यज्ञ न करके उससे स्वार्थ सिद्धि करने लग जाये, तो राष्ट्रका नाश हुए बिना नहीं रहेगा।

ब्राह्मण अपने ज्ञानसे राष्ट्रको ज्ञानी बनायें, क्षत्रिय राष्ट्रकी उत्तम रीतिसे रक्षा करे। वैश्य उत्पन्न बढाकर राष्ट्रको समृद्धशाली करे। कारीगर अपनी कलाकी उन्नति करे। इसप्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रके लिए अपने जीवनका अर्पण करे, तो राष्ट्रकी उन्नतिमें देरी नहीं लगेगी।

सर्वप्रथम स्वय समर्थ बने और अपने सामर्थ्यको राष्ट्रके लिए समर्पित कर दे। क्योंकि असमर्थ मनुष्य यदि अपना सर्वस्व भी राष्ट्रके लिए अर्पित कर दे तो भी उसका कुछ लाभ नहीं हो सकता।

इतने लम्बे विवेचनसे यह नियम निश्चित हुआ कि धन व्यक्तिका नहीं है, वह राष्ट्रका है। इसलिए उसका उपयोग भी राष्ट्रके लिए ही होना चाहिए। व्यक्ति अपने पास रखे अवश्य, पर राष्ट्रके धरोहरके रूपमें ही और यथोचित समय पर उसे जनतोपयोगी काममें खर्च करे। व्यक्ति अपना धन राष्ट्रपतिको या सरकारको दे और वह उस धनका उपयोग राष्ट्रकी उन्नतिके कामोंमें करे। जब प्रजा और शासक एक विचारके हों, तभी उत्तम समझना चाहिए। अथवा व्यक्ति अपना धन उत्तम शिक्षा संस्थाओंको दानस्वरूप दे दे। ग्रंथ प्रकाशनके लिए दान दे, उत्तम शिष्योंको छात्रवृत्ति दे, स्कूल, अस्पताल, नदियोंपर पुल, तालाब, बांध, कुंए, घाट आदि बांधकर अपने धनका सदुपयोग करे।

सभी प्राणी "साक्षात् परमेश्वरके स्वरूप" हैं ईश्वर ही मानों मानवोंस्वरूपमें प्रकट हुआ है। उसकी सेवा करनी चाहिए। उसे स्वकर्मसे करना है। अर्पण बुद्धिसे उसे करना है।

धन विश्वरूपी प्रजापतिका है। उसीकी सेवामें खर्च होना चाहिए। वह उसे ही समर्पित करना है। यही विश्वात्माका यजन है। यहां इस बातको ध्यानमें रखना चाहिए कि इसमें यद्यपि यहां "राष्ट्र" शब्द रखा है, पर सब पृथ्वीभरका धन पृथ्वी भरके लोगोंके लिए है, यही इसका अर्थ है यह विषय आसानीसे समझमें आ जाए, इसलिए हमने राष्ट्र शब्दका उपयोग किया है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रसे पृथक् नहीं है। सब मानवजाति मिलकर प्रजापतिका रूप है। इस अखण्ड विश्वरूपकी सेवा होनी चाहिए।

२२ प्राचीन एवं अर्वाचीन भक्तिमार्ग

अवतारका सन्देश

प्रचलित "हिन्दुधर्म" तथा प्राचीन "वैदिकधर्म" में कितना फरक पड गया है, यह द्रष्टव्य है। भगवान् रामचन्द्र एवं भगवान् कृष्णकी भक्ति आज भारतभरमें प्रचलित है। कोई भी गांव या हिन्दुका घर ऐसा नहीं मिलेगा कि जहां इन महापुरुषोंके प्रति आदरभावना न हो। वैष्णव सम्प्रदाय-

ने रामभक्ति और कृष्णभक्तिको केवल भारतमें ही नहीं अपितु भारतसे बाहर भी फैलाया और आज भी वह किसी न किसी रूपमें दृष्टिगोचर होती ही है। यह हमारे लिए अभिमानकी बात अवश्य है। पर साथ ही हमें यह भी देखना पड़ेगा कि हम उन दिव्य पुरुषोंके सन्देशको मानकर तद्वत आचरण कर भी रहे हैं, या नहीं।

प्राचीन एवं अर्वाचीन भक्ति

प्राचीन भक्ति एवं अर्वाचीन भक्तिके स्वरूपपर प्रथम विवेचन करना चाहिए। श्रीरामके भक्त हनुमान् तथा श्रीकृष्ण के भक्त अर्जुन ये दोनों भक्तशिरोमणिके रूपमें प्रसिद्ध हैं। पर उनकी भक्ति अर्वाचीन पद्धतिकी तरह नहीं थी।

आजकी भक्ति

आजकल तो केवल नामजप ही भक्तिका एक सर्वोच्च प्रकार माना जाता है। कोई "राम राम" जपता है तो कोई "कृष्ण कृष्ण" जपता है अथवा तो कोई "जय जय राम कृष्ण हरे" जपता है, इसप्रकार अनेक नाममंत्रोंका जपना ही भक्ति है, ऐसा लोग समझते हैं। चाहे माला लेकर जप किया जाए, अथवा तालियां बजा बजाकर जप किया जाए, पर वह होता नामोंका उच्चारण ही है। ऐसा जो करता है, उसे ही भक्तिमार्गी अथवा भक्त समझा जाता है। ऐसे लाखों भक्त पंढरपुर आदि तीर्थक्षेत्रोंमें एक निश्चत दिनपर जमा होते हैं, यह हम देखते ही हैं।

इसीका एक दूसरा ढग बहुतसे भक्तोंने शुरु किया है। पगडी, धोती, अंगरखा आदि वस्त्रोंपर "राम" का नाम छपा रहता है। उत्तरप्रदेशमें ऐसी रामनामी चादरोंको ओढना महान् भक्तका लक्षण समझा जाता है। उनका ख्याल यह है कि ऐसे वस्त्रोंको पहननेपर नामको न जपनेपर भी उसका जप हो जाता है और उससे पुण्यकी प्राप्ति होती है। नींदके वक्तपर भी ऐसे वस्त्रोंको ओढनेपर पुण्यकी प्राप्ति होती है, ऐसा उनका विचार है।

प्रार्थनाकी दीवार

हिमालय और तिब्बतके बौद्धोंमें हमने इसकी अपेक्षा भी सहजमें ही होनेवाले नामजपका एक ढंग देखा। हिमालयमें "प्रार्थनाओंकी दीवार" है ये दीवारें करीब छाती जितनी ऊंची होती हैं और इन दीवारोंके पत्थरोंपर "ओं मणि पद्मे हुं" यह मंत्र खुदा हुआ होता है। इन दीवारोंको भावुक यात्रियोंने बंधवाया है। इन दीवारोंको अपने हाथोंसे छूते हुए चलना पडता है।

हिमालकी ऊंचाईपर चढनेके वक्त इन दीवारोंका सहारा मिलता है, साथ ही इन दीवारोंपर केवल हाथ फिरानेसे पुण्य भी मिलता है। मंत्रोंके उच्चारणकी कोई जरूरत नहीं यात्री केवल इन दीवारोंपर ही हाथ फिरा दें, बस, इसीसे पुण्यका संग्रह हो जाता है।

इसीप्रकार इन बौद्धोंने "प्रार्थनाचक्र" भी तय्यार किए हैं। हाथमें लेकर घुमानेके लिए तांबा, पीतल और चांदीके बने हुए दो इंच उंचे और आठ इंच घेरेके सुन्दर नक्काशीदार चक्र तैय्यार किए हुए वहां मिलते हैं। अपनी इच्छाके अनुसार ये चक्र लोग खरीदते हैं, और घुमाते रहते हैं। इन चक्रोंमें करीब ५०० से लेकर १००० तक ऊपर दिए गए मंत्रको एक कागजमें लिखकर उस कागजको उन चक्रोंमें रख देते हैं। उन चक्रोंको एकबार घुमानेसे उतना जप हो जाता है, ऐसा वे लोग समझते हैं। मुंहसे उच्चारण करनेके कष्टको उठानेकी भी कोई जरूरत नहीं है। ध्यान कहीं भी हो, हाथका चक्र घूमता रहे, तो वे समझते हैं कि पुण्यका संचय होता रहता है।

हिमालय और तिब्बतके बुद्धमन्दिरोंमें मन्दिरोंके छोटे बडेके अनुसार छोटेबडे चक्र भी रहते हैं। मैंने बडेसे बडा प्रार्थनाचक्र करीब आठ फीट उंचा और पन्द्रह फीट घेरेका देखा है। वहांके एक भक्तने कहा कि इसमें १ लाख मंत्र छापकर भरे हुए हैं। इस चक्रको घुमानेके लिए यांत्रिक सुविधा भी है। इसलिए अल्प प्रयत्नसे ही यह चक्र घूमने लगता है और हर फेरेके साथ एक लाख मंत्रजपका पुण्य घुमानेवालेको मिल जाता है।

प्रथम अन्य भक्तके द्वारा किए गए जपको इस चक्रसे बाहर निकाल फेंकना पडता है। इसलिए अपना जप शुरु करनेसे पहले वह भक्त उस चक्रको १०–१५ बार उलटा घुमाता है और समझता है कि अन्यके द्वारा किया गया जप निकल गया और फिर वह उस चक्रको सीधा घमाता है।

भारतीय भक्तों तक यह योजना अभी पहुंची नहीं, इसी-लिए इन्हें नामजपकी गर्जना करनी पडती है अथवा मन ही

मन नाम जपना पडता है। पर बौद्धोंने इस कष्टको भी दूर कर दिया और उन्होंने "प्रार्थनाचक्र" की युक्ति खोज निकाली। स्वर्गप्राप्तिका यह सुगम उपाय बौद्धोंने खोज निकाला है।

भारतमें ब्राह्मणके द्वारा मंत्रजप करवानेकी पद्धति है। ब्राह्मणको दक्षिणा देकर उसके बदलेमें उसके द्वारा किए गए नामजपका पुण्य लिया जा सकता है, ऐसा उनका ख्याल है। पर बौद्धोंकी योजना इसको भी मात करनेवाली है।

जपका महत्त्व

मानसिकशक्तिकी वृद्धिके लिए मंत्रजपका साधन सरलतम साधन है। जपसे मानसिक एकाग्रता होती है और अर्थके सहित जप करनेसे मानसिक शक्तिकी वृद्धि होती है, इसमें कोई संशय नहीं। पर "प्रार्थनाभित्ति" और "प्रार्थनाचक्र" के उपयोगकी जो रीति है, उससे क्या कुछ और कितना कुछ प्राप्त हो सकता है, यह सहजगम्य है। ये आधुनिक भक्तिके प्रकार अपने देशमें रूढ हैं।

स्वर्गप्राप्तिके साधनोंको सुगमतम करनेकी यह स्पर्धा यहां दिखाई देती है। "वैदिकधर्मी" भी जप करते थे, अब उनका भी ढंग देखें।

जपस्तदर्थभावनम्

वैदिककालमें जप उस मंत्रकी अर्थभावनाको मनमें स्थिर करके किया जाता था। अहं ब्रह्मास्मि "मैं ब्रह्म हूं" मैं निर्बल नहीं" "मैं आनन्दमय हूं" इस अर्थको मनमें सतत जाग्रत रखना ही जपमें मुख्य बात है। जपके साथ मनकी एकाग्रता ही मुख्य है। मनकी यह एकाग्रता ही शक्तिसंचयका एक साधन है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे भी सिद्ध हो सकता है, कि ऐसे जपसे मनकी शक्ति बढेगी। "मैं निर्बल हूं" इसीप्रकारके विचार जिसके मनमें सदा रहते हैं वह निर्बल ही होता जाता है। इसके विपरीत यदि वह "अहं इन्द्रो न पराजिग्ये" मैं इन्द्र हूं, मेरा पराभव नहीं हो सकता, इस ऋग्वेदके मंत्रका जप किया करे, तो उसे अपनी मानसिक शक्तिके बढनेका अनुभव भी आ सकता है। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य मंत्रपाठ करे, इसका अर्थ मनमें स्थिर करे, उसके विरोधी विचारको मनमें न आने दे, शक्तिवर्धक भावोंको ही मनमें सदा रखे इसप्रकारके कष्टसाध्य सतत अनुष्ठान सतत बक्षतासे करनेकी जरूरत है। मनमें विपरीत भावना आई कि अनुष्ठान बिगड जाता है। इसके अलावा यह अनुष्ठान स्वयं करना पडता है। इसप्रकार वैदिकधर्ममें स्वयं करनेकी प्रवृत्ति है।

आज लोगोंमें यह कुत्सित विचार घर करता जा रहा है कि बुद्ध भगवानने आकर लोगोंको इस जगड्वालसे छुडाया और लोगोंके लिए निर्वाणप्राप्तिका मार्ग सुगम कर दिया। पर यदि मानविकशास्त्रकी दृष्टिसे लोग विचार करेंगे, तो उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि अपने मनकी शक्ति बढानेके लिए मनुष्यको स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए। यह बात प्रार्थनाभित्ति या प्रार्थनाचक्रसे सिद्ध होने वाली नहीं है।

वैदिकधर्मके कठोर अनुशासनसे तंग आकर लोग बौद्धोंके सुगम साधनकी तरफ मुड गए। गुरुपर विश्वास किया कि तारण हो गया, कितना सुगम उपाय है!! ईसाई और मुसलमान इन धर्मोंने इस उपायका प्रसार किया। उम्रभर चाहे जो करो, पर अपने अन्तिम क्षणोंमें पैगम्बरपर विश्वास कर लो तो तुम सब पापोंसे पार हो जाओगे। ऐसे उपदेश देनेवाले अनेक पंथ निकल आए। जनता तो सीधा और सरल मार्ग ही पसन्द करेगी। पर इस सरल मार्गसे जनताका नाश ही हुआ है।

वैदिकधर्म वस्तुतः अनुष्ठानका धर्म था। उसका उद्देश्य ही यह था कि लोगोंको कडे अनुशासनमें रखकर उनकी उन्नति की जाए। कठोर अनुशासनसे लोग घबडाकर सरल मार्ग खोजने लग जाते हैं। बुद्धने सरल मार्ग खोज निकाला, और वह सरलता बढते बढते "प्रार्थनाभित्ति" और "प्रार्थनाचक्र" में परिणत हो गई, ईसाई और मुसलमान इससे एक कदम और आगे बढ गए और उन्होंने यह प्रचार करना शुरु कर दिया कि तुम सिर्फ अपने पैगम्बरपर ही विश्वास रखो, तुम्हारा बेडापार हो जाएगा। यह मार्गको सरल बनानेकी स्पर्धा है।

लोगोंको स्वर्गकी चाह थी। वह इतने सरल उपायसे मिलने लग जानेपर कष्टसाध्य मार्गकी तरफ भला किसकी प्रवृत्ति होगी? इसकारण समाजके आलसी लोगोंके मन विचलित होने लगे और वे इस सरल मार्गकी तरफ सरकने लगे। इसप्रकार अपने समाजकी क्षीणता होते देखकर हिन्दु धर्मीय साधुसन्तोंने केवल नाम जपसे स्वर्ग अथवा मुक्तिके मिलनेकी घोषणा करके क्षीण होते हुए हिन्दुसमाजको अपने ही धर्ममें रोके रखा।

दो पाठशालाएं

पर इसका परिणाम समाजपर क्या पडा, इस बातको समझनेके लिए हम एक उदाहरण लें। एक विद्याप्रचारके प्रेमीने एक स्कूल खोला और वहां नियम ऐसा बना दिया कि जो इस स्कूलमें ९० प्रतिशत अंक प्राप्त करेंगे, वे ही छात्र उत्तीर्ण माने जायेंगे। इसी स्कूलके बगलमें एक दूसरेने भी एक नया स्कूल चलाया और उसने यह घोषणा कर दी कि इस स्कूलमें जो भी विद्यार्थी आयेगा, वह उत्तीर्ण हो जाएगा। इसके कारण पहला स्कूल उजड गया और दूसरा स्कूल बस गया। पर जब सामन यह प्रश्न आएगा, कि विद्वान् मनुष्य किस स्कूलमेंसे निकलेंगे तो सबकी नजर पहलेवाले स्कूलपर ही पडेगी।

इसी तरह बौद्धोंका सरल मार्ग, प्रार्थनाभित्ति, प्रार्थनाचक्र और केवल विश्वास आदि सरल उपाय मनुष्योंका तारण करानेवाले न होकर उत्तम अनुशासन ही मनुष्योंका तारण कर सकेगा। हमारा देश जो जागृत नहीं हो पर रहा अथवा भरसक कोशिशके बावजूद भी वह स्वहित पराङ्मुख ही दीखता है, इसका कारण यही है कि वह सरल मार्गोंके चक्करमें पड गया है।

प्राचीनकालमें जपके अनुष्ठानका अर्थ था अर्थकी भावनाका मनमें विचार करके तदुनरूप आचरण करना। उदाहरणार्थ–

"गोपाल" भगवान् श्रीकृष्णका नाम है। उसका अर्थ है, गायोंका पालन करनेवाला। "गोपाल" का नाम जपें गोपालनका अर्थ मनमें रखकर स्वयं भी गायका पालन करें, गायोंमें उत्तम गुणोंको बढायें, गायोंकी नस्लोंको सुधारें। ऐसा करनेसे ही भगवान् प्रसन्न होंगे और अपने जीवनमें हमें गायका दूध पीनेको मिलेगा, हम पुष्ट होंगे, आरोग्य-सम्पन्न होंगे। इसके विपरीत यदि हम "गोपाल" के नामसे अंकित दीवारपर हाथ फिराते चले जाएं, अथवा "गोपाल" के नामसे अंकित कागजोंसे भरे हुए चक्रोंको घुमाते रहें अथवा करोडों लोग मिलकर "गोपाल" नामकी गर्जना करें, तो उससे क्या होनेवाला है? ऐसे उपायोंमें अपनी उन्नतिको सन्निहित समझनेवाला समाज भला किसतरह उन्नत हो सकता है।

इसीतरह 'राम' का अर्थ है (रमयति इति रामः) जनताको आनन्द देनेवाला। जनताके दुःखोंको दूर करनेवालेका नाम "हरि" है (दुःखं हरति इति हरिः) इसप्रकार प्रत्येक नाम प्रत्येक मनुष्यको एक एक कर्तव्यका उपदेश करता है। इसप्रकार हजारों नाम है, और इन नामोंके द्वारा मानवी उन्नतिका एक और परिपूर्ण कार्यक्रम मनुष्योंके आगे रखा हुआ है। उसकी तरफ न देखकर और तदनुरूप आचरण न करके केवल नामोंकी रटन्तविद्या मनुष्यका तारण किसतरह कर सकती है?

अगले लेखमें हम आदर्श भक्तोंके चरित्रपर विचार करेंगे।

२३ आदर्श भक्तोंका स्वरूप

दो आदर्श भक्त

अर्वाचीन एवं प्राचीन भक्तिमार्गके तुलनात्मक अध्ययनके मार्गको प्रशस्त करनेके लिए हम प्रथम प्राचीन मार्गको देखें, भगवान् श्रीकृष्णका काल ५००० वर्ष और भगवान् रामचन्द्र का काल उससे भी पूर्वका है। भगवान् रामके बारेमें यह प्रसिद्ध है कि वे वैदिकधर्मकी मर्यादाकी स्थापना करने आए थे। भगवान् कृष्णके जीवनमें नियमभंग कहीं दीख भी पड जाए, पर भगवान् रामका जीवन बिल्कुल वैदिकधर्मकी मर्यादाकी सीमओंमें बंधा हुआ है।

इन दो अवतारी पुरुषोंके दो भक्त प्रसिद्ध हैं। इन्हें भक्तशिरोमणि, भक्तश्रेष्ठ या आदर्शभक्त समझा जाता है। ये दोनों भक्त हैं हनुमान् और अर्जुन। रामके भक्त हनुमान् और श्रीकृष्णके भक्त अर्जुन दोनों ही आदर्श भक्त हैं। वाल्मीकि रामायणमें हनुमान्का और महाभारतमें अर्जुनका चरित्र है। इन दोनोंके चरित्रका यदि पाठक मनन करें, तो वे समझ जाएंगे कि इन दोनों भक्तोंके भक्तिकी रीति आजकी तरह नहीं थी। हनुमान् "राम" के नामका जप नहीं करते थे, अर्जुन भी "कृष्ण" का जप करते हुए समय नहीं गवाते थे।

उस समय "प्रार्थनाभित्ति" या "प्रार्थनाचक्र" की कल्पना भी लोगोंके मस्तिष्कमें उपजी नहीं थी। दूसरेके द्वारा जप करवानेकी पद्धति भी उस समय नहीं थी। और ऐसा भी कहीं उल्लेख नहीं है कि हनुमान् और अर्जुन कहीं बैठे बैठे राम और कृष्णका जप करते रहे हों। आज जो जो

पद्धतियां प्रचलित हैं, उनमेंसे एकका भी सहारा इन दोनोंमेंसे किसीने लिया हो, ऐसा वर्णन न रामायणमें मिलता है, न महाभारतमें। फिर इन भक्तोंका भला आचरण कैसा था ?

भक्तोंका आचरण

श्रीरामके आविर्भावके पूर्व दुष्ट रावणके साम्राज्यका नाश करके भारतवर्षको स्वतंत्र करनेकी योजना ऋषियोंने बनाई थी और उस योजनाको पूर्ण करनेका भार ऋषियोंने श्रीरामपर सौंप दिया था। इस योजनामें भक्त हनुमान्ने अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था और अपना काम पूरी तत्परता एवं दक्षतासे किया। श्रीरामने शत्रुके साम्राज्यका नाश करके देशको मुक्त करना ही अपना उद्देश्य बना लिया था। उस कामके लिए हनुमान्ने अपना जीवन समर्पित कर दिया और भरपूर प्रयत्नके द्वारा उस उद्देश्यको सफल बनानेके लिए जो भी और जितना भी कुछ आवश्यक था, उसे किया।

ऋषियोंके द्वारा ग्रह किए गए और रामके द्वारा अंगीकृत राष्ट्रोद्धारके कार्यमें अपना जीवन हनुमान्ने समर्पित कर दिया और किसी प्रकारके बदलेकी आशा न करते हुए अपने धन-मन-तनसे उस कार्य को पूरा किया। अपने सुखकी परवाह न करते हुए राष्ट्रकार्यमें हनुमान्ने अपना जीवन लगा दिया। हनुमान्की भक्तिका स्वरूप यह था।

अर्जुनकी भक्तिका मार्ग भी वैसा ही था। भगवान् श्रीकृष्णने भारतवर्षमें आसुरीवृत्तिके राजाओंको नष्ट करके भारतको दैवीशासनके नीचे लानेकी योजना बनाई थी। वीर अर्जुनने इस योजनामें अपना सर्वस्व समर्पित करके इस योजनाको सफल एवं सुफल बनाया। यह अर्जुनकी भक्ति थी।

हनुमान्ने या अर्जुनने नाममंत्रके जपमें अपना समय नहीं गंवाया और ऐसा वर्णन रामायण तथा महाभारतमें है भी नहीं। इसके अलावा यदि हनुमान् या अर्जुन राम और कृष्णका नामजप करते या नामघोष करते, तो इन विभूतियों को अपने भक्तोंका यह काम पसन्द भी न आता।

आजका भक्तिमार्ग राम और कृष्णको पसन्द आना संभव भी नहीं था। क्योंकि आज जैसे निष्क्रिय भक्त उस समय होते, तो राष्ट्रोद्धारकी योजना कौन पूरी करता ? और यदि वे योजनायें पूरी न होतीं, तो इन अवतारोंका सन्मान कौन करता ?

इन दोनों भक्तोंने राष्ट्रोद्धारके कार्यके लिए अपना जीवन पूर्णतया समर्पित कर दिया था। यही उनकी भक्ति थी। आज जिसे भक्ति कहते हैं, वैसी भक्ति उनकी नहीं थी। ५००० वर्ष पूर्वके भक्तिमार्गमें और आजके भक्तिमार्गमें इतना अन्तर पड गया है। इसीकारण प्राचीन भक्तोंने अपने राष्ट्रकी उन्नति की ओर आजके भक्त राष्ट्रोन्नतिका विचार भी नहीं करते। इतना जमीन आसमानका अन्तर भक्तिमार्गोंकी कल्पनामें पड गया है। प्राचीन भक्तिमार्गका कार्यक्रम "बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय" का था, पर आजके भक्त सार्वजनिक हितके प्रति पूरीतरह उदासीन हैं।

भक्तिका अर्थ

"भज-सेवायां" धातुसे निष्पन्न भक्तिका अर्थ है "जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करना" यही ईश्वरभक्ति है। विश्वरूप परमेश्वरका रूप है। ईश्वर मनुष्यके चारों ओर प्रत्यक्षरूपमें विचरता है। उसकी सेवा करना या सार्वजनिक हितके लिए अपना जीवन समर्पित करना ही भक्ति है। यही सच्चा भक्तिमार्ग है। इसी भक्तिमार्गका आचरण हनुमान्ने रामावतारके समय और अर्जुनने कृष्णावतारके समय किया था और अपने जन्मको सार्थक करके दिखाया था।

बुद्धोत्तरकालमें स्वर्गप्राप्तिके सरलतम साधनोंके आविष्कारोंकी मानों एक होडसी लग गई और उस होडमें से आजका मार्ग अर्थात् निष्क्रिय भक्तिमार्ग निकला। हम जिसकी भक्ति करते हैं, उसका स्वरूप यह विश्व है और इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले विश्वरूपकी सेवा करना हमारा धर्म है। यही सच्चा भक्तिमार्ग है। यह बात आजके भक्त पूरीतरह भूल गए हैं। इसकारण आजके भक्तोंके द्वारा कोई भी जनहितका काम नहीं हो पाता।

सनातनका अर्थ

यहां "सनातनधर्म" का अर्थ भी देखना आवश्यक है। "सन् संभक्तौ" के अनुसार सन् धातुका अर्थ उत्तम भक्ति करना है। उत्तम भक्तिका अर्थ है विश्वरूप देवकी उत्तम सेवा करना। "सना" मतलब "सेवा" और वह सेवा भी विश्वरूप ईश्वरकीही। इसप्रकार "सनातन" का अर्थ है जनताके हितके लिए किए जानेवाले सेवाभावका विस्तार या प्रसार। ऐसी सेवा करनेवालोंकी संख्या बढाना

और इस प्रकारके स्वयंसेवकोंकी संख्या बढाकर लोगोंमें सार्वजनिक सेवा करनेकी वृत्ति बढाना ही सनातन धर्म है।

इसप्रकार विचार करनेपर यह ज्ञात हो जाएगा कि सनातन धर्ममें हनूमान् और अर्जुन जैसे भक्तोंको निर्माण करनेका गुण था। पर बादमें जब वैय्यक्तिक नामोंके आधार-पर पंथोंका निर्माण हुआ और सुगम मार्गको स्पर्धा शुरु हो गई, तभीसे सार्वजनिक सेवाकी वृत्ति कम हो गई और लोग वैय्यक्तिक उन्नतिमें ही आनन्द मानने लगे। भक्तिका सार्वजनिक स्वरूप तो नष्ट हो गया और उसका वैय्यक्तिक रूप रह गया। सार्वजनिक दृष्टिसे यह बडा भारी अधःपात था और इसी अधःपातका परिणाम आज भारतको भोगना पड रहा है।

भगवान् कृष्णने गीतामें स्पष्ट कहा है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

अपने कर्मसे उस विश्वरूप देवकी पूजा करनेपर मनुष्य उत्तम सिद्धि प्राप्त करता है। अपने कर्मसे इस ईश्वरकी पूजा करनी है। स्वकर्मका अर्थ है अपनी ज्ञातिके या गुणके अनुसार कर्म। जो ज्ञानी हो वह अपने ज्ञानसे इस विश्वरूपी ईश्वरकी सेवा करे, अज्ञानियोंको ज्ञान देकर विद्वान् बनाये। जो शूर हो, वह अपने शौर्यसे राष्ट्रकी सेवा करे। गुण्डोंके उपद्रवोंको शान्त करके समाजकी रक्षा करे। जो व्यापारी-वृत्तिका हो वह कृषिके द्वारा विपुल धान्य उत्पन्न करके राष्ट्रकी सेवा करे। वह गोरक्षा करे और व्यापार करके समाजकी सेवा करे। जो कारीगर हों, वे अपनी कारीगरीसे समाजकी सेवा करें। यही "स्वकर्मणा अभ्यर्चा" है। स्कूलमें यदि शिक्षक अपनी श्रेणीके विद्यार्थियोंको उत्तम रीतिसे विद्यादान देता है, तो उसको वह ईश्वरसेवा ही है और वही उसकी सच्ची भक्ति है।

अर्जुनने अपनी वीरता एवं शक्तिसे जनताकी सेवा की और तत्कालीन दुष्टोंका संहार करके जनताजनार्दनको प्रसन्न किया। हनुमान्ने भी ऐसा ही किया। यह प्राचीनकालका भक्तिमार्ग है।

यह भक्तिमार्ग, यह ईश्वर सेवाका मार्ग जीवित समाजमें ही हो सकता है। आजका भक्तिमार्ग मनुष्यको जगत्की स्पर्धासे दूरकर निष्क्रियतामें शान्ति खोजनेकी प्रवृत्तिकी ओर प्रेरित करता है। पर प्राचीनकालीन भक्तिमार्ग इसके विपरीत था। उदाहरणके लिए हम अर्जुनको ले सकते हैं।

अर्जुन युद्धसे निवृत्त हो रहा था। हो ही नहीं रहा था, बल्कि हो ही गया था। संघर्ष छोडकर जंगलमें जाकर कन्दमूल खाकर "हरि हरि" रटनेके लिए वह तैय्यार हो गया था। पर भगवान्ने उसे इस अधःपातके मार्गमें ऊपर उठाया और भयकर घनघोर युद्धमें उसे खडा किया और उसके द्वारा एक महान् संहारक युद्ध करवाया और अपने कर्मसे परमेश्वरकी पूजा किसप्रकार की जा सकती है, यह उस अर्जुनके द्वारा करवाकर संसारको दिखलाया।

यही भक्ति अर्जुनकी भक्ति है। श्रीकृष्णने भारतको मानवसमाजके शत्रुओंके शिकंजोंमेंसे मुक्त कराकर उसे धर्मराज्यमें स्थापित कराकर उसे आनन्दसाम्राज्यका सुख प्राप्त करानेकी योजना बनाई थी। इस योजनाको पूर्ण करनेके लिए युद्धके द्वारा शत्रुओंका संहार करवाना अत्यन्त आवश्यक था। ऐसे काम करनेवाले भक्तोंकी उन्हें आवश्यकता थी। वैसा भक्त अर्जुनके रूपमें उन्हें मिल गया और उसने दुष्टोंका संहार करनेके लिए युद्ध किया।

दुष्टोंका संहार, सज्जनोंका पालन और मानवधर्मकी पुनः प्रस्थापना ये तीन ईश्वरके कार्य हैं। ये काम करनेके लिए उसे भक्तोंकी आवश्यकता होती है। भक्तोंसे वह यह काम करवाता है और इसके कारण भक्तोंका जीवन कृतार्थ होता है। जो भक्त इन त्रिविध कामोंके लिए अपना जीवन समर्पित करेंगे, वे कृतकृत्य हो जायेंगे। भक्त दुष्टोंका संहार, सज्जनोंका पालन और धर्मकी संस्थापनाका कार्य करें इसीसे ईश्वर प्रसन्न होगा।

पर यह कार्यक्रम आधुनिक भक्तोंने विकृत कर दिया। आधुनिक भक्त इन सार्वजनिक हितके कामोंको तो करते ही नहीं, इसके विपरीत वे देवोंसे ही अपना काम करवाते हैं।

महाभारतमें भी अर्जुनके रथ देवने हांके ये वःांपर भी देवको मेहनत करनी पडी, यह ठीक है। पर वहां उसको यह मेहनत राष्ट्रमें रहनेवाले दुष्टोंका संहार करनेके लिए ही थी। देवकी राष्ट्रीय योजनाकी सिद्धिके लिए वह एक आवश्यक कर्तव्य था। उस समय दुष्टोंने राष्ट्रमें अपना संगठन मजबूत बना लिया था, और वे सज्जनोंको पीडा देते थे। दुष्टोंके उस संगठनको तोडना राष्ट्रहितकी दृष्टिसे आवश्यक था। इसप्रकार राष्ट्रहितके लिए जो युद्ध आवश्यक था, उसे करनेके लिए वीर अर्जुनको तैय्यार करना और

उसके द्वारा युद्ध करवाना सार्वजनिक हितके कार्य थे। भक्त अर्जुनको वे कार्य करने थे। इसलिए अर्जुनकी मदद-के लिए अनुकल परिस्थितिका निर्माण करना ईश्वरका एक कर्तव्य ही था। सार्वजनिक हितका काम करनेवाले देशभक्त-के लिए ऐसी अनुकूल परिस्थिति मिलती ही है।

पर आजकी भक्तिगाथाओंमें हम पढते' यह है कि भगवान्ने अमुकके घर जाकर पीसा, रसोई बनाई इत्यादि। इन गाथाओंमें भक्तोंने अपने भगवान्से ऐसे ही काम अधिक करवाये हैं। ये सभी बातें निष्क्रियता बढानेवाली है।

एक भक्त राष्ट्रहितके लिए अपना जीवन समर्पित कर रहा है, उसकी मदद करना दूसरी बात है और केवल ताली पीट पीटकर नाम लेनेवाले भक्तके यहां गेहूं पीसना दूसरी बात है। राष्ट्रोद्धारकी दृष्टिसे इस पर विचार करने-पर प्राचीन भक्तिमार्ग और अर्वाचीन भक्तिमार्गमें अन्तर दिखलाई पड जाएगा।

नाममहात्म्य बढानेकी दृष्टिसे ऐसी बेसिरपैरकी कथाये अर्वाचीनयुगमें रची गई है। मार्गको सुगम बनानेकी स्पर्धाने इन उपायोंके प्रति प्रजामें कुछ विश्वास उत्पन्न किया होहोगा। पर इसके साथ ही समाजका अधःपतन भी बहुत हो गया है, इसमें कोई शंका नहीं है।

३४ नामजपसे राष्ट्रीय अभ्युदय

प्राचीन और अर्वाचीन भक्तिमार्ग

गत लेखमें हम यह देख चुके है कि आदर्श भक्तोंने भक्ति कैसी की और उसके द्वारा उन्होंने राष्ट्रका उद्धार किसतरह किया, इसके साथ ही यह भी देखा कि भक्तिकी अर्वाचीन और प्राचीन पद्धतिमें कितना अन्तर है। आज जो लोग भक्तिमार्गसे जाना चाहते है, वे ईश्वरका नाम जपते है।

प्राचीनकालमें भी नाम जपते थे। पर प्राचीनकालमें उस नामजपके साथ ही तद्वत् आचरण भी करते थे। आज उस कार्यक्रमकी जानकारी भी भक्तोंको नहीं है।

उस कालमें नामजप एक विशेषप्रकारके वैय्यक्तिक और राष्ट्रीय कार्यक्रमका सूचक था। इसलिए उस समय नामजप उन्नतिके साधनमार्गके रूपमें प्रजाके लिए उपयोगी पडता था। आज तो नामजप केवल नाममात्रके लिएही रह गया है। उस उस नामके द्वारा बताये गए कार्यको आज भक्तजन जानते भी नहीं। इसकारण इस नामजपकी अवस्था बन्ध्या गायके समान हो गई है। बन्ध्या गाय चारा तो भरपूर खाती हैं, पर दूध बूंद भर भी नहीं देती। उसी तरह आजका नामजप समय तो खूब खाता है, पर उससे वैय्यक्तिक अथवा राष्ट्रीय उन्नतिमात्र नहीं होती।

नामजपसे क्या सिद्ध होता था, यह हम पहले देखें। विष्णुसहस्रनामका नाम कई लोगोंने सुना होगा। इसमें जप करनेके लिए ईश्वरके एक हजार नाम दिए गए है। यह स्तोत्र नामजप करनेके लिए है। विष्णुके ये नाम बारबार जपने चाहिए, ऐसा इसमें कहा है। महर्षि व्यासके द्वारा रचित इस स्तोत्रपर श्रीमत् शंकराचार्यका भाष्य है।

अर्थका मनन

(जपः तदर्थभावनम्) अर्थका मनन करते हुए जप करना चाहिए। अत: नामजपका अर्थ है ईश्वरके नामके अर्थका मनन। इस अर्थका मनन आज कोई नहीं करता, पर नामका उच्चारणमात्र बारबार करते हैं। प्राचीन और अर्वाचीन जपकी पद्धतिमें इतना फरक पड गया है। अर्थ शब्दकी आत्मा है। उस आत्माकी तरफ आज उपेक्षा हो रही है, और अक्षरोंकी तरफ अर्थात् आत्माके शरीरके प्रति लोगोंका झुकाव है। इसी विपर्यासके कारण नामजपके फलमें भी विपर्यास है।

प्राचीनकालमें थोडासा तप करनेपर भी उसका यथायोग्य फल मिल जाता था, पर आज वर्षोंतक भी जप करनेपर भी कुछ वैय्यक्तिक अथवा राष्ट्रीय उत्कर्ष हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

आज अपने भारतमें करोडों भक्तिमार्गी दिखाई देते हैं। उनका अधिकांश समय इस नामजपमें चला जाता है। यह समय भारतराष्ट्रके उद्धारके कार्यमें साधक होना चाहिए। यदि उसका उपयोग न हो, तो उससे जो हानि होती है, वह राष्ट्रीय हानि है। पर एक स्वतंत्र राष्ट्रकी इसप्रकार हानि होना अभीष्ट नहीं है। प्राचीन पद्धतिसे भक्तोंका और भक्तिसे राष्ट्रका उत्थान होता था। वैसा कुछ अर्वाचीन पद्धतिसे नहीं होता।

इसलिए प्राचीनकालीन भक्तिसे क्या होता था, उसे हम देखें। हनुमान् और अर्जुनने जो भक्तिका मार्ग अपनाया, उस भक्तिके कारण राष्ट्रको नया जीवन प्राप्त हुआ। अब विष्णुसहस्रके जपकी फलश्रुति, जो व्यासने बताई है, हम देखें –

वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्यात् शूद्रः सुखमवाप्नुयात्
॥ १२३ ॥

"ब्राह्मण ज्ञानसम्पन्न होंगे, क्षत्रिय विजयी होंगे, वैश्य धनधान्यासम्पन्न होंगे और शूद्र सुखी होंगे।" इसप्रकार नामजपसे राष्ट्रमें ज्ञान-विज्ञान, शौर्य- वीर्य, धनधान्य और सुखोंकी समृद्धि होगी, इसप्रकार आजसे पांचहजार वर्ष पूर्वके इतिहास लेखक महर्षि व्यासका कथन है।

इसीप्रकार व्यासका यह भी कहना है कि इस नामजपसे धर्म, अर्थ और कामकी भी प्राप्ति होती है (श्लोक १२४), तथा

यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च।
अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥१२६॥

"यश, स्थायी रहनेवाला धन, उत्तमश्रेय और अपनी जातिमें प्रधानत्व इस नामजप करनेवालेको प्राप्त होता है।" आज यदि यह प्राप्त होने लगे, तो भला उसे कौन न चाहेगा ? तथा

न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विन्दति।
भवत्यरोगो द्युतिमान् बलरूपगुणान्वितः ॥ १२७ ॥

"मनुष्य निर्भय होता है, वीर्य और तेज प्राप्त करता है। निरोगी होता है तथा बल, सुन्दरता और तेजस्वितासे युक्त होता है।" ये लाभ यदि नामजपसे होते हों, तो वे आज भी आवश्यक हैं। तथा-

रोगार्तो मुच्यते रोगात् बद्धो मुच्येत बंधनात्।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥१२८॥

"रोगी रोगोंसे मुक्त होता है, भयभीत भयसे मुक्त होता है और आपत्तिसे मनुष्य छूट जाता है।"

दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुषः ॥ १२९ ॥

"मनुष्य अनेक कठिन आपत्तियोंसे मुक्त हो जाता है" तथा—

भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ॥ १४२॥

"जो ईश्वरका भजन करता है, उसका पराभव नहीं होता।"

इसप्रकार नामस्मरणकी फलश्रुति व्यासने कही है। केवल फलश्रुतिपर ही किसीतरहका अनुमान करना धोखेकी बात भी हो सकता है, यह हमें मालूम है, और यदि ऐसे अनुमान हम निकालें भी, तो वह पाठकोंको पसन्द नहीं आएगा, इस बातसे भी हम पूरीतरह परिचित हैं। पर हमारा कहना तो केवल यही है, कि यहां जो परिणाम बताये गए हैं यदि वे हमारे राष्ट्रमें हों, तो वे अभीष्ट ही हैं। जिन उपायोंसे इसतरहके परिणाम अपने राष्ट्रमें हों उन उपायोंका अवलम्बन हमें अपने राष्ट्रमें करना चाहिए। ऊपर नामजपकी जो फलश्रुति कही है, उसका वैयक्तिक और सामाजिक दृष्ट्या वर्गीकरण इसप्रकार किया जा सकता है।

वैयक्तिक लाभ

१ ज्ञान, शौर्य, धन और सुखोंकी प्राप्ति।
२. यश, श्रेय और शोभाकी प्राप्ति।
३. निर्भयता, वीर्य, तेज, निरोगिता और बलकी प्राप्ति।
४. कठिन आपत्तियोंसे पार होना।
५ कभी भी पराभव न होना।
६. जातिका नेता बनना।

राष्ट्रीय लाभ

१. राष्ट्रमें ज्ञान, शौर्य ऐश्वर्य और सुखसमृद्धिकी विपुलता।
२. राष्ट्रके यश, श्रेय और शोभाकी वृद्धि,
३. राष्ट्रमें निर्भयताकी वृद्धि, पराक्रम करनेकी शक्तिकी वृद्धि, राष्ट्रके पौरुषशक्तिकी वृद्धि, राष्ट्रके आरोग्यमें वृद्धि होकर वीर्यजीवनके मर्यादाकी वृद्धि।
४. राष्ट्र पर यदि कोई आपत्ति आये, तो उसका दूर होना।
५ राष्ट्रका पराभव न होना और पारतंत्र्य न होना।
६ राष्ट्रका संसारका नेता बनना।

इन वैय्यक्तिक और राष्ट्रीय लाभोंको देखकर कोई भी यह कहेगा, कि ये लाभ अपने राष्ट्रको अवश्य ही प्राप्त होने चाहिए। पर ये लाभ नामजपसे प्राप्त होंगे, यह बात आज कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता। इसके विपरीत आज के तरुण यही कहेंगे कि इन नामजप करनेवालोंने राष्ट्रकी हानी ही की है और उनके इस कथनको असत्य सिद्ध करना एक बहुत कठिन काम है।

पर व्यासने जो लिखा है, वह बिना समझे बूझे ही लिख डाला हो, ऐसा नहीं हो सकता। व्यासका महाभारत उनकी प्रतिभाकी साक्षी है। अतः हमें यही मानना पडेगा कि व्यास जिस नामजपकी इतनी प्रशंसा कर रहे हैं, वह जप करनेकी पद्धति कुछ दूसरी ही होगी।

इतिहासका निरीक्षण

हम इतिहासकी दृष्टिसे देखें, तो हम यही निष्कर्ष निकालेंगे कि भक्तश्रेष्ठ हनुमान् और अर्जुनने जो भक्ति की, उसीसे राष्ट्रका कल्याण हुआ। व्यासने जो लाभ बताये है, वे अर्जुन और हनुमान्के भक्तिमार्गसे ही हुए हैं। रावणके साम्राज्यको नष्ट करनेकी योजनामें हनुमान्ने प्रयत्न किया और कौरवोंके साम्राज्यका नाश अर्जुनने किया। इन दोनों भक्तोंने जो किया उसीके कारण तत्कालीन भारतका अभ्युदय हुआ। ऊपर दी गई लाभोंकी सूचीमें "बन्धनसे मुक्त होना", "भयसे मुक्त होकर निर्भय होना" "पराभव न होना" "और" नानाविध संकटोंसे मुक्त होना" आदि लाभ हमें प्रत्यक्ष दीखते हैं। ये लाभ हनुमान् और अर्जुनकी भक्तिसे ही हुए हैं। रावण और कौरवोंके जुल्मी साम्राज्यसे भारतकी मुक्तता इन भक्तोंके प्रयत्नसे ही हुई है। इस इतिहासका यदि हम अध्ययन करें, तो हम समझ जायेंगे कि व्यासने नामभक्तिसे होनेवाले जिन सुपरिणामोंका वर्णन किया है, और जो लाभ बतलाये हैं, वे सर्वांशमें सत्य हैं। यह बात व्यासने कुछ बिना समझे बूझे नहीं लिख दिया है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि इस प्राचीन भक्तिकी रीति कौनसी थी? ये प्राचीन भक्त कौनसी रीतिसे भक्ति करते थे? आजकी भक्तिके ढंगसे सब परिचित ही हैं। ईश्वरके नामका बारबार उच्चारण करना, तालियां बजाकर नामजप करना, ताल और लयमें भजन गाना आदि आधुनिक भक्तिके प्रकार हैं। इसके अनेकविध भेद हमने पहले एक लेखमें देखे ही हैं।

प्रार्थनाचक्र, प्रार्थनाभित्ति, दूसरेके द्वारा जप करवाना, स्वयं भी जप करना आदि जपके प्रकार व्यासके समय नहीं थे। व्यासके समयमें भी लोग नामजप करते थे, पर वह—

जपः तदर्थभावनम्

"जप उसके अर्थकी भावनाको मनमें स्थिर करके किया जाता था। उसके अर्थमें जपकर्ताका मन बिल्कुल तन्मय हो जाता था, उसके अर्थसे जपकर्ताका मन बिल्कुल ओतप्रोत हो जाता था।" पर आजके भक्त नामके अर्थका विचार भी नहीं करते, केवल तोतेकी तरह नाम रटते रहते हैं। शब्दके अर्थरूपी आत्माकी तरफ उनकी उपेक्षा ही रहती है। जपमें "अर्थभावना" मुख्य है, पर उसकी तरफ आजके भक्तोंका ध्यान नहीं है।

मुख्यभागकी यदि उपेक्षा हो तो उससे मिलनेवाला फल भी किस तरह मिल सकेगा? इसी कारण अनेक वर्षोंतक भजन करनेसे भी उससे मिलनेवाला फल नहीं मिल पाता। समय खर्च होता है, शक्ति खर्च होती है, पर फल नहीं मिलता।

मनोरंजन

आजके नामजपसे करने और सुननेवालोंका मनोरंजन होता है और उसके तल्लीनतासे प्राप्त होनेवाला आनन्द भी थोडा बहुत मिल जाता है। मनकी एकाग्र करनेके लिए और छोटे बडे तथा ज्ञानी-अज्ञानी मनुष्योंको एकत्र लानेके कार्यमें इस नामजपका उपयोग होता है। क्योंकि विद्वत्तासे पूर्ण प्रवचन अज्ञानियोंके समझमें नहीं आता और जो अज्ञानियोंके समझमें आसकती है, उसे ज्ञानी पसन्द नहीं करते, लिहाजा समाजमें नीचेके स्तरके लोग नीचे ही और उच्चस्तरके लोग ऊंचे ही रह जाते हैं। इतना ही उनमें अन्तर बढता जाकर उस समाजकी अवस्था बिगडती चली जाती है।

अर्वाचीन भजन पद्धतिसे ये सब स्तरके लोग एकत्र होकर कुछ न कुछ श्रद्धासे करते हैं। मन मूर्च्छितके समान उसमें तल्लीन हो जानेके कारण उसमें कुछ अभौतिकभाव भी उत्पन्न होते हैं। यह सब ठीक है। पर समाजमें निम्न-स्तरके लोगोंको ज्ञान देकर उपर उठाना अत्यन्त आवश्यक है। समाजमें निम्नस्तरके लोगोंको नीचे ही और उच्चस्तरके लोगोंको ऊंचा ही रखना राष्ट्रीय हितकी दृष्टिसे उचित नहीं है।

यदि यह मान भी लिया जाए कि समाजमें तो ये स्तर हमेशा रहेंगे ही, अतः उन्हें एकत्र लानेके लिए आजका नाम-जपका कार्यक्रम उपयोगी है, यह नामके भजन भी मनमें उच्चभावोंका निर्माण कर सकते हैं, तोभी यहीं पर अपनी गतिको रोक देना ठीक नहीं है। व्यासकालीन नामजपका व्यक्ति और राष्ट्रपर होनेवाला जो इष्ट परिणाम है, उससे अपने राष्ट्रको संयुक्त करना चाहिए।

अगले लेखमें हम यह देखेंगे कि अर्थके मननसे जो स्फूर्ति मनमें उत्पन्न हो सकती है, उसका परिणाम राष्ट्रके जीवन पर किस प्रकार हो सकता है।

० ● ०

१५ नामजपमें अभ्युदयका कार्यक्रम

पिछले लेखमें हम देख चुके हैं कि भक्तिका प्राचीन मार्ग वैय्यक्तिक और राष्ट्रीय अभ्युदयकी तरफ ले जानेवाला भक्तिमार्ग था, और आधुनिक मार्ग केवल वैय्यक्तिक मनो-मूर्छनाका निर्माण करके क्षणिक सुख देनेवाला होनेके कारण उसमें राष्ट्रीय उन्नतिका कोई कार्यक्रम नहीं है। हमने प्राचीन भक्तिमार्गके जो फल पिछले लेखमें देखे हैं, वे फल हमें वैय्यक्तिक और राष्ट्रीय क्षेत्रमें पूर्णतया प्राप्त हो सकें, इसके लिए आजके भक्तिमें किन किन सुधारोंकी आवश्यकता है, इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर हम इस लेखमें विचार करेंगे।

शब्द और अर्थ

शब्द कोई भी हो, वह अपने साथ अर्थको लेकर चलता है। शब्द और अर्थकी जोडी सनातन और शाश्वत है। "वागर्थौ ... पार्वतीपरमेश्वरौ" इस प्रकार जो कालिदासने कहा है, वह बिल्कुल ठीक है। प्रत्येक शब्दका अपना अर्थ होता है, और वह शब्दके साथ ही प्रकट होता रहता है। इस सिद्धान्तसे प्राचीन भक्तिमार्गी पूर्णतया परिचित थे। पर आजके भक्त केवल अक्षरोंको ही जानते हैं और अर्थकी पूरी तरह उपेक्षा कर देते हैं।

शब्दोंका अर्थ किसी न किसी कर्तव्यकी सूचना देता है। यदि लोग यह बात समझ लें तो जो शब्द या अक्षरसमुदाय मंत्रके रूपमें जपा जाता है, उसका भी अपना एक अर्थ है और उससे किसी कर्तव्यकी सूचना मिलती है, अतः उसके अर्थोंका मनन करना चाहिए, यह सहज ही में समझा जा सकता है।

मननके लिए मंत्र

मंत्र मननके लिए होता है। शब्द अर्थज्ञानके लिए होता है। इसका तात्पर्य है कि शब्दका उच्चारण करते ही उसका अर्थ ध्यानमें आजाए और अर्थका मनन करके उससे अपने कर्तव्यका बोध लें। निरुक्तमें यास्क जो मन्त्रकी "मंत्रो मननात्" ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं, उसका यही तात्पर्य है।

जो नामजप किया जाता है, जो परमेश्वरका नाम लिया जाता है, वह मंत्र है अर्थात् इस नामरूप मंत्रका मनन करना ही चाहिए।

मननके बिना केवल शब्दोच्चार "मंत्र" का जप नहीं कहलाता, वह तो केवल शब्दोंका गुंजनमात्र होगा। मननसे अपनी उन्नतिका मार्ग समझा जा सकता है। केवल उच्चारणसे परिश्रम होगा पर उससे जीवनकी सार्थकता नहीं हो सकती।

प्राचीन भक्तिका मार्ग यह है- "ईश्वरका नाम मंत्र है, मत्रका अर्थ जानकर उसका मनन करना चाहिए, उस मननसे जिसप्रकार अपना जीवन सार्थक हो, वैसा कोई कार्यक्रम अपने जीवनमें क्रियान्वित करना चाहिए। इस पद्धतिसे मनुष्य अपनी उन्नति किसतरह कर सकता है, इसे हम देखें-

"राम" ईश्वरका नाम है। यह पवित्र और तारक है। इसका अर्थ है "आनन्द देनेवाला"। राम दशरथके पुत्र और दशमुखके साम्राज्यको उध्वस्त करके उसके कैदखाने में बन्द ३३ करोड देवोंको मुक्त करनेवाले दिग्विजयी है।" यह उस "राम" शब्दका मनन है। रामनामके मंत्रसे यह भाव बताया गया है। इस परसे जीवनका जो कार्यक्रम निकलता है, वह इसप्रकार है—

"हम भी ऐसा आचरण करें कि जिससे दूसरोंका आनन्द बढे, जनताको सुख हो। इस दस इन्द्रियरूपी घोडोंवाले रथ पर हम चढें और इस रथ पर अपना शासन चलायें, इस रथके घोडे हमें नष्ट न कर सकें। उन्हें हम अपने अधीन रखें। यदि हमारी ये दसों इन्द्रियां अपना भोग बढा रही हों और उसके लिए वे प्रजाको दुःख देती हों, तो उनका वह दुष्ट व्यवहार बन्द किया जाए और उन्हें इस ढंगसे सुशिक्षित किया जाए, ताकि वे सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करके जनता जनार्दनको प्रसन्न करें।"

भगवद्भक्त हनूमान्ने यही काम अपनी पूरी जिन्दगीमें किया। अर्जुन पहले हिचकिचा रहा था, पर भगवान् गीताके उपदेशके द्वारा उसे रास्ते पर ले आए और उसे भी इस कार्यमें लगा दिया। एक "राम" शब्दका मनन करनेसे इतना बडा वैय्यक्तिक और राष्ट्रीय उन्नतिसाधक कार्यक्रम हमारे सामने आकर उपस्थित होजाता है। मंत्र अर्थ जानकर मननके लिए होते हैं, पूर्वाचार्योंके कथनकी उपेक्षा करके ये भक्तिमार्गी केवल उच्चारे गए शब्द ही हमें तार देंगे, ऐसा समझते हैं। साधनमार्गकी इससे अधिक उपेक्षा और क्या हो सकती है? प्राचीनकालमें साधकोंका सारा ध्यान साधन पर ही केंद्रित होता था।

मंत्रके मननसे यह लाभ होता है। यह थी प्राचीन–कालीन मंत्रजपकी पद्धति। हम और भी दूसरे मन्त्रजपके उदाहरण लें और उससे अभ्युदयका कार्यक्रम भक्तोंके सामने किसप्रकार उपस्थित होता है, वह देखें—

' गोपालकृष्ण '' के नामका जप बहुतसे लोग करते हैं। इसका अर्थ– है '' गायोंका पालन करनेवाला कृष्ण ''। भगवान्‌के अवतारके मुख्य उद्देश्योंमें गोपालन भी एक है। ऐसी अवस्थामें कृष्णकी भक्ति करनेवाले गायका पालन नहीं करेंगे, अथवा भैंसका दूध पीयेंगे, तो श्रीकृष्ण उन पर किसतरह प्रसन्न होंगे ? पर आजकी पद्धति ऐसी है कि एक तरफ रोज '' कृष्ण कृष्ण '' जपते रहें और दूसरी तरफ गायोंकी दुर्दशाको देखा अनदेखा करते रहें। इतना करनेपर भी वे यही समझते रहें कि हम कृष्णकी भक्ति कर रहे हैं। पर इस '' गोपालकी भक्ति '' के कारण अपने ऊपर आनेवाले कर्तव्यके भारको वे नहीं पहचानते, यह एक आश्चर्य ही है।

विष्णुसहस्रनाम '' में शूर और शूरसेन '' ये भगवान् कृष्णके नाम हैं। भगवान् स्वयं शूर थे और उनके पास शूरवीरोंकी सेना थी। इसलिए कृष्णके इन नामोंसे हमें यह ज्ञान मिलता है कि हम स्वयं भी शूर बनें और अपने पास शूरवीरोंकी सेना भी रखें। राष्ट्रमें भी शूर पुरुषोंके दल तैय्यार किए जाने चाहिए। यह राष्ट्र संरक्षणका कार्यक्रम इन नामों परसे सूचित होता है।

'' शूरजनेश्वर '' यह नाम हमें इस बातकी सीख देता है कि हम अपने अनुयायियोंमें शूरवीरोंको भर्ती करें। उनके नामोंमेंसे '' ऊर्जित शासनः '' यह नाम तेजस्वी राज्य-शासनकी शिक्षा देता है। हमारा राज्यशासन भी इसीप्रकार प्रभावशाली हो। वह कमजोर होकर उपयोगी नहीं हो सकता। विष्णुका '' विष्वक् सेनः '' यह नाम इस भावको लिए हुए है कि उनकी सेना विभिन्न जगहों पर मोर्चाबन्दी किए हुए थी। इस नामके मननसे हम इस बातकी शिक्षा मिलेगी, कि अपने राष्ट्रके संरक्षणके लिए हमें भी अनेक जगहों पर अपनी सेनायें सुसज्जित रखनी चाहिए।

'' शत्रुजित्, शत्रुतापन और शत्रुघ्न '' ये नाम इस बातके बोधक हैं कि शत्रुओंके साथ युद्ध कितना प्रभावशाली हो। हमारी तैय्यारी इतनी हो कि हमारी सेनाको देखकर ही शत्रु डर जाएं। यदि ऐसा समय आभी जाए, तो हम शत्रुओं का पूरी तरह संहार कर सकें।

'' चतुर्व्यूह '' यह नाम विष्णुकी चारों प्रकारकी व्यूह-रचनामें प्रवीणताका परिचायक है। '' जितामित्रः '' नाम विष्णुकी युद्धचातुरीको बतलाता है। ऊपर वर्णित मार्गके अनुसार अपनी सेनाको तैय्यार करके हमें यही काम सिद्ध करना है कि हमें दुःखी करनेके लिए शत्रु अवशिष्ट ही न रहें।

इसप्रकार विष्णुके एक हजार नाम '' विष्णु सहस्रनाम '' में बताये हैं। वे सभीके सभी नाम भक्तोंके लिए मार्गदर्शक हैं। आवश्यकता सिर्फ इस बातकी है कि मनुष्य उन नामोंका मनन करके तद्वत् आचरण करे।

पुरुषका पुरुषोत्तम

ईश्वर '' पुरुषोत्तम है। '' इस नाम परसे भक्त यह समझ सकता है कि श्रेष्ठ पुरुष या उत्तम पुरुष किस तरह बना जा सकता है। पुरुषको '' पुरुषोत्तम '' बनना है। यदि नरका नारायण बनना है, तो फिर यह कौन कहेगा कि पुरुषोत्तमका वर्णन पुरुषके लिए मार्गदर्शक नहीं हो सकता ? केवल '' विष्णु सहस्रनाम '' में ही नहीं, वरन् अन्य धर्म-शास्त्रोंमें भी पुरुषोत्तम वाचक जितने शब्द आए हैं, वे भी पुरुषको पुरुषोत्तम बनानेके कार्यमें पथप्रदर्शक हो सकते हैं।

पुरुषोत्तम विश्वका निर्दोष शासक है, इसलिए उसका वर्णन एक निर्दुष्टशासकका ही वर्णन है। इसलिए उसका वर्णन राज्यशासकोंके लिए मार्गदर्शक हो सकता है। प्रजातंत्रीय राष्ट्रमें सभी प्रजायें स्वयंशासक होती हैं इसलिए ईश्वरका वह वर्णन सभीके लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

वैदिक और पौराणिक ग्रंथोंमें जो जो ईश्वरका वर्णन है, वह इस दृष्टिसे माननीय है। आज भक्तिमार्गी ईश्वर-का नाम जपते हैं पर उन नामोंसे मिलनेवाली शिक्षाकी तरफ वे जरा भी ध्यान नहीं देते। इसलिए वे भले ही सालों तक तप करते रहें, फिर भी वे रहते ठनठनपाल ही हैं। इस शोचनीय परिस्थितिको दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

आज वे लोग '' श्री राम जय राम जय जय राम '' इस मंत्रको भी जपते दिखाई देते हैं। लोगोंका विचार है कि इन शब्दोंको अनेकबार जपनेसे तारण हो जाता है। पर यदि कोई यह कहे कि ग्रामोफोन पर इस नामका रेकॉर्ड चढा दिया जाए, तो उस ग्रामोफोनका भी तारण हो जाएगा तो ये ही भक्तिमार्गी उसकी हंसी उडाने लगेंगे। पर यदि मनुष्य ग्रामोफोनके समान ही इन शब्दोंका उच्चारणमात्र करता रहे तो वह मनुष्य भवसागरसे तर जाएगा, ऐसा वे भक्तिमार्गी अवश्य मानते हैं।

४९५ हंसाइव कृणुथ श्लोकमद्रिभि- र्मदन्तो गीर्भिरध्वरे सुते सचा ।
देवेभिर्विप्रा ऋषयो नृचक्षसो वि पिबध्वं कुशिकाः सोम्यं मधु ॥ १० ॥

४९६ उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्व- मश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः ।
राजा वृत्रं जङ्घनत् प्रागपागुद- गथा यजाते वर आ पृथिव्याः ॥ ११ ॥

४९७ य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम् ।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥ १२ ॥

४९८ विश्वामित्रा अरासत ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे । करदिन्नः सुराधसः ॥ १३ ॥

अर्थ – [४९५] हे (विप्राः ऋषयः नृचक्षसः कुशिकाः) बुद्धिमान्, दूरदर्शी तथा मनुष्योंका हित करनेवाले कुशिक ऋषिके पुत्रों ! (अध्वरे अद्रिभिः सुते) यज्ञमें पत्थरोंसे सोमको निचोडने पर (सचा) एक साथ बैठकर (हंसाः इव) हंसोंके समान (गीर्भिः श्लोकं कृणुथ) एक स्वरसे स्तोत्र बोलो और (सोम्यं मधु पिबध्वं) उत्तम तथा मीठे सोमरसको पीओ ॥ १० ॥

१ हे विप्राः ! सचा श्लोकं कृणुथ— हे ज्ञानी लोगो ! साथ बैठकर स्तोत्र पाठ करो ।

[४९६] हे (कुशिकाः) कुशिक ऋषिके पुत्रो ! (उप प्र इत) पास आओ (चेतयध्वं) उत्साहित होओ, तथा (सुदासः अश्वं राये प्र मुंचत) सुदासके घोडेको ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिए खोल दो । (राजा) तेजस्वी इन्द्रने (प्राग् अपाग्, उदग्) सामनेसे, पीछेसे तथा ऊपरसे (वृत्रं जंघनत्) शत्रुको मारा, (अथ) बादमें (पृथिव्याः वरे) पृथ्वीके उत्तम स्थानमें वह (यजाते) यज्ञ करता है ॥ ११ ॥

१ उप प्र इत, चेतयध्वम्— पास आकर बैठो और उत्साहित हो जाओ ।

२ राजा प्राग्, अपाग्, उदग् वृत्रं जंघनत्— राजाने सामनेसे, पीछेसे तथा ऊपरसे शत्रुको मारा है ।

[४९७] (यः अहं) जिस मैंने (इमे उभे रोदसी इन्द्रं अतुष्टवम्) इन दोनों द्यावापृथिवीकी तथा इन्द्रकी स्तुति की, उस (विश्वामित्रस्य) विश्वामित्रका (इदं ब्रह्म) यह स्तोत्र (भारतं जनं रक्षति) भरत कुलमें उत्पन्न जनोंकी रक्षा करता है ॥ १२ ॥

१ इदं ब्रह्म भारतं जनं रक्षति— यह ज्ञान भारतीय जनोंका रक्षण करता है ।

[४९८] (विश्वामित्राः) विश्वामित्रोंने (वज्रिणे इन्द्राय) वज्रधारी इन्द्रके लिए (ब्रह्म अरासत) स्तोत्र बनाया । वह इन्द्र (नः सुराधसः करत् इत्) हमें उत्तम धनवान् करता ही है ॥ १३ ॥

भावार्थ— ऋषियोंके पुत्र बुद्धिमान्, दूरदर्शी तथा मनुष्योंका हित करते थे और वे सब समाजमें संगठन करके देशकी उन्नति करते थे ॥ १० ॥

जब इन्द्रने चारों ओरके शत्रुओंको मारा, तभी वह यज्ञ कर सका । इसी प्रकार जो राजा अपने चारों ओरके शत्रुओंको नष्ट करता है, तभी वह पृथ्वीके ऊंचे स्थानमें बैठ सकता है अर्थात् अपनी तथा अपने राष्ट्रकी उन्नति कर सकता है ॥ ११ ॥

विश्वसे प्रेम करनेवाला मनुष्य भरणपोषण करनेवालेकी हर तरहसे रक्षा करता है । तथा वीर पराक्रमी इन्द्रकी स्तुति करता है, और उसके गुणोंको अपनेमें धारण करता है ॥ १२-१३ ॥

४९९ किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् ।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥ १४ ॥
५०० ससर्परीरमतिं बाधमाना बृहन्मिमाय जमदग्निदत्ता ।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम् ॥ १५ ॥
५०१ ससर्परीरभरत् तूयमेभ्योऽधि श्रवः पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु ।
सा पक्ष्या नव्यमायुर्दधाना यां मे पलस्तिजमदग्नयो ददुः ॥ १६ ॥

अर्थ— [४९९] हे (मघवन्) इन्द्र ! (कीकटेषु गावः ते किं कृण्वन्ति) अनार्य देशोंमें रहनेवाली गायें तेरा क्या लाभ करती हैं ? तेरे लिए (न आशिरं दुह्रे) न दूध दुहती हैं, (न घर्मं तपन्ति) और न यज्ञकी अग्निको प्रदीप्त करती हैं । तू (प्रमगन्दस्य वेदः नः आ भर) सूदखोरके धनको हमारे लिए ले आ । तथा (नः) हमारे लिए तू (नैचाशाखं रन्धय) नीच जातियोंके मनुष्यको वशमें कर ॥ १४ ॥

१ कीकटः— अनार्योंका देश " कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः " (नि. ६।३२)

२ प्रमगन्दः— सूदखोर, " मगन्दः कुसीदी " (नि. ६।३२)

३ प्रमगन्दस्य वेदः नः आभर— सूदखोरके धनको हमारे पास ले आ ।

४ नः नैचाशाखं रन्धय— हमारे लिये नीच मनुष्का नाश कर ।

[५००] (जमदग्निदत्ता) जमदग्निके द्वारा दी गई तथा (अमतिं बाधमाना) अज्ञानताको नष्ट करनेवाली (ससर्परी) वाणी, विद्या (बृहत् मिमाय) बहुत जोरसे आवाज करती है । (सूर्यस्य दुहिता) सूर्यकी पुत्री उषा (देवेषु) देवोंको (अमृतं अजुर्यं श्रवः) अमरता देनेवाली तथा क्षीणतासे रहित अन्नको (आ ततान) प्रदान करती है ॥ १५ ॥

१ जमदग्निः— आंख— " चक्षुर्वै जमदग्निः ऋषिः जगत्पश्यत्यनेन । "

[५०१] (यां) जिसे (मे) मुझे (पलस्तिजमदग्नयः ददुः) पलस्ति जमदग्नियोंने दिया, (सा) वह वाणी-विद्या (पक्ष्या) उत्तम पक्षवाली तथा (नव्यं आयुः दधाना) नवीन आयुको धारण करनेवाली है । (पांचजन्यासु कृष्टिषु श्रवः) पंचजनोंसे युक्त मनुष्योंमें जो धन है, उसे (ससर्परी) विद्या (एभ्यः) इन पंचजनोंसे (तूयं अधि अभरत्) शीघ्र ही ले आई ॥ १६ ॥

भावार्थ— जिस अनार्य देशोंमें इन्द्रादि देवोंके लिए न दूध दिया जाता है और न यज्ञ ही किया जाता है, जहांके मनुष्य ही सारा दूध घी खा जाते हैं, वहां गायोंका कुछ भी फायदा नहीं होता । गायोंका संरक्षण आर्यदेशोंमें इसीलिए होता था कि उसके दुग्ध और घृतसे वे देवोंको हवि प्रदान करते थे और इसीमें गायोंकी सार्थकता थी । इन्द्र सूदखोरोंका शत्रु है, राष्ट्रके सूदखोर विनाशक हैं इसीलिए इन्द्र इनका नाश करता है । इसी प्रकार वह नीच जातियोंके लोगोंको भी नष्ट करता है ॥ १४ ॥

आंख आदि इन्द्रियोंसे प्राप्त की गई विद्यासे अज्ञानताका नाश होता है और जिस समय संसारका चक्षु सूर्य उदय होता है, तब सारा अन्धकार दूर होकर सर्वत्र प्रकाश हो जाता है, इस प्रकार सूर्य भी विद्याका प्रदाता है । इस सूर्यकी पुत्री उषाके उदय होनेपर सभी यज्ञ प्रारंभ हो जाते हैं और उन यज्ञोंमें देवोंको हवि दी जाती है, यह हवि अमरता प्रदान करनेवाली तथा क्षीणतासे रहित होती है ॥ १५ ॥

विद्या सदा ही नवीन और आयु दीर्घ करनेवाली होती है । इसी विद्यासे हर तरहके धनकी एवं अन्नकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

५०२ स्थिरौ गावौ भवतां वीळुरक्षो मेषा वि वर्हि मा युगं वि शारि ।
इन्द्रः पातल्ये ददतां शरीतो ररिष्टनेमे अभि नः सचस्व ॥ १७ ॥
५०३ बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः ।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ॥ १८ ॥
५०४ अभि व्ययस्व खदिरस्य सार मोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम् ।
अक्ष वीळो वीळित वीळयस्व मा यामादस्मादव जीहिपो नः ॥ १९ ॥
५०५ अयमस्मान् वनस्पति र्मा च हा मा च रीरिषत् ।
स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात् ॥ २० ॥

अर्थ— [५०२] (गावौ स्थिरौ भवतां) रथमें जुते हुए बैल स्थिर हों, (अक्षः वीळु) रथकी धुरा दृढ हो (ईषा मा वि वर्हि) रथका दण्ड न टूटे, (युगं मा विशारि) जुआ न टूटे (पातल्ये शरीतः) रथका अक्ष टूटनेसे पहले ही (इन्द्रः ददतां) इन्द्र उस रथको ठीक कर दे, हे (अरिष्टनेमे) न टूटे हुए अक्षवाले रथ ! (नः अभि सचस्व) हमें तू प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[५०३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (नः तनूषु बलं धेहि) हमारे शरीरोंमें बल स्थापित कर, (नः अनुळुत्सु बलं) हमारे बैल आदि पशुओंमें बल दे तथा (जीवसे) दीर्घकालतक जीनेके लिए (तोकाय तनयाय बलं) हमारे पुत्र और पौत्रोंमें बल दे, (हि) क्योंकि (त्वं बलदा असि) तू बलका प्रदाता है ॥ १८ ॥

[५०४] हे इन्द्र ! (खदिरस्य सारं) खैरकी लकडीसे बनाये गए इस रथके दण्डेको (अभिव्ययस्व) दृढ कर, तथा (स्पंदने) इस रथके चलते समय (शिंशपायां) शिंशपाकी लकडीसे बनाये गए इस रथकी धुरामें (ओजः धेहि) बल स्थापित कर । हे (वीळो वीळित अक्ष) स्वयं दृढ तथा हमारे द्वारा भी दृढ किए गए अक्ष ! (वीळयस्व) तू और ज्यादा दृढ हो, और (यामात्) चलते हुए (अस्मात्) इस रथसे (नः मा अव जीहिपः) हमें नीचे मत गिरा ॥ १९ ॥

[५०५] (अयं वनस्पतिः) वनस्पति अर्थात् लकडीसे बना हुआ यह रथ (अस्मान् मा हा) हमें नीचे न गिराये, (मा च रीरिषत्) न दुःख दे । (आ गृहेभ्यः) हमारे घर पहुंचने तक यह (स्वस्ति) हमारा कल्याण करे तथा (आ विमोचनात्) घोडोंको खोलने तक यह (अवसै आ) हमारी रक्षा करे ॥ २० ॥

भावार्थ— रथमें जोते जानेवाले बैल, अक्ष, दण्ड, जुआ आदि सभी अंग दृढ हों और इन्द्र भी उस रथको दृढ बनाये रहे, ऐसा दृढ रथ हमें प्राप्त हो । यह शरीर भी एक रथ है, जिसमें इन्द्रियां ही घोडे या बैल हैं, जो इस रथमें जुते हुए हैं । नाभि, इस रथकी अक्ष या धुरा है । पृष्ठवंश इस रथका दण्ड है, दोनों स्कंधभाग इस रथके जुए हैं इन्द्र जीवात्मा है । यह जीवात्मा इस शरीररूपी रथके सब अंगोंको सुदृढ बनाये ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! तू हर तरहके बलोंको देनेवाला है, इसलिए तू हमारे पशु, हमारे शरीरों और हमारे पुत्र पौत्रोंको बल प्रदान कर, ताकि वे सब दीर्घकालतक आनंदसे जी सकें ॥ १८ ॥

हे इन्द्र ! तू इस रथको हर तरहसे दृढ कर । इस रथके अक्ष दृढ हों ताकि भागते समय इस रथपरसे मनुष्य गिर न जाए । इसी प्रकार इस शरीररूपी रथके भी सब अंग दृढ हों, ताकि यह मनुष्य शीघ्र न मरे ॥ १९ ॥

लकडियोंसे बना हुआ यह रथ न तो हमें नीचे ही गिराये और न दुःख दे अर्थात् यह रथ इतनी दृढतासे बनाया गया हो कि वह रास्तेमें ही टूट न जाए । घर पहुंचकर वहां घोडोंको खोलनेतक यह मनुष्यकी रक्षा एवं उसका कल्याण करता रहे ॥ २० ॥

×

५०६ इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य याच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ २१ ॥
५०७ परशुं चिद् वि तपति शिम्बलं चिद् वि वृश्चति ।
उखा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति ॥ २२ ॥
५०८ न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः ।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति ॥ २३ ॥
५०९ इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकितुर्न प्रपित्वम् ।
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्यावाजं परि णयन्त्याजौ ॥ २४ ॥

अर्थ— [५०६] हे (शूर, मघवन् इन्द्र) शूर तथा ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! तू (अद्य) आज (बहुलाभिः श्रेष्ठाभिः ऊतिभिः) अनेक तरहके श्रेष्ठ संरक्षणके साधनोंसे (यात्) शत्रुओंको मार और (नः जिन्व) हमें आनन्दित कर । (यः) जो (नः द्वेष्टि) हमसे द्वेष करता है उसे (अधरः सस्पदीष्ट) नीचे गिरा दे, तथा (यं उ द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं, (तं उ प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड दें अर्थात् वह मर जाये ॥ २१ ॥

[५०७] वह इन्द्र (परशुं वि तपति) फरसेको तीक्ष्ण करता है, और उससे (शिम्बलं चित् वि वृश्चति) अपने बलका दुरुपयोग करनेवाले दुष्टको काटता है । तथा (येषन्ती उखा चित्) चूनेवाली थालीके समान (प्रयस्ता) हिंसकशत्रु (फेनं अस्यति) अपने मुंहसे फेन गिराता है ॥ २२ ॥

[५०८] (जनासः) वीर मनुष्य (सायकस्य न चिकिते) बाण या शस्त्रास्त्रोंके दुःखको कुछ भी नहीं समझते, वे (लोधं) लोभी शत्रुको (पशु मन्यमानाः) पशु मानकर (नयन्ति) जहां चाहे वहां ले जाते हैं । वे (वाजिना) बलवान्के द्वारा (अवाजिनं) निर्बलको (न हासयन्ति) हंसी नहीं उडवाते, तथा (गर्दभं पुरः अश्वान् न नयन्ति) गधेके आगे घोडे नहीं ले जाते ॥ २३ ॥

१ जनासः सायकस्य न चिकिते— वीर जन शस्त्रास्त्रके दुःखको कुछ नहीं समझते ।

२ लोधं पशु मन्यमानाः नयन्ति— लोभी शत्रुको पशु मानकर जहां चाहे वहां ले जाते हैं ।

३ वाजिना अवाजिनं न हासयन्ति— बलवान्के द्वारा निर्बलको कष्ट नहीं देते ।

(५०९) हे (इन्द्र) इन्द्र ! (इमे भरतस्य पुत्राः) ये भरतके पुत्र (अपपित्वं चिकितुः) शत्रुको क्षीण करना ही जानते हैं (न प्रपित्वं) उसे समृद्ध करना नहीं । ये वीर (नित्यं) सदा ही (आजौ) युद्धमें (अश्वं) अपने घोडेको (अरणं न) युद्धका क्षेत्र न होने समान (हिन्वन्ति) दौडाते हैं और (ज्यावाजं परि नयन्ति) अपने धनुषकी डोरीके बलको सर्वत्र प्रकट करते हैं ॥ २४ ॥

१ भरतस्य पुत्राः अपपित्वं चिकितुः न प्रपित्वं— ये भरतके पुत्र शत्रुको क्षीण करनाही जानते हैं, उन्हें समृद्ध बनाना नहीं ।

२ आजौ अश्वं हिन्वन्ति— वे युद्धमें अपने घोडेको प्रेरित करते हैं ।

३ ज्यावाजं परि नयन्ति— अपने धनुषके बलको सर्वत्र प्रकट करते हैं ।

भावार्थ— हे शूरवीर इन्द्र ! तू आज अनेक तरहके संरक्षणके साधनोंसे हमारे शत्रुओंको मारकर हमारी रक्षा कर और हमें आनन्दित कर । जो हमसे द्वेष करता है, या जिससे हम द्वेष करते हैं, वह नष्ट हो जाए ॥ २१ ॥

यह इन्द्र अपने शस्त्रको तीक्ष्ण करके उससे अपने बलका दुरुपयोग करनेवाले दुष्टको काटता है, तब वह दुष्ट अपने मुंहसे फेन गिराता हुआ मर जाता है ॥ २२ ॥

वीर जब शत्रुओंसे युद्ध करते हैं, तब शस्त्रास्त्रोंके लगनेके कारण होनेवाले दुःखोंकी जरा भी परवाह नहीं करते, अपितु वीरतासे लडकर जो लोभी शत्रु होते हैं, उन्हें पशुकी तरह बांधकर ले जाते हैं, पर जो निर्बल होकर उनके पास आता है, उस पर अपने बलका प्रयोग नहीं करते, तथा जो गर्दभ आदि निकृष्ट वाहनोंपर बैठकर लडने आता है, उससे ये वीर अश्व आदि उत्कृष्ट वाहनोंपर बैठकर लडने नहीं जाते ॥ २३ ॥

[५४]

[ऋषि- प्रजापतिर्वैश्वामित्रः, प्रजापतिर्वाच्यो वा। देवता- विश्वे देवाः। छन्दः- त्रिष्टुप्।]

५१० इमं महे विदथ्याय शूषं शश्वत् कृत्व ईड्याय प्र जभ्रुः ।
शृणोतु नो दम्येभिरनीकैः शृणोत्वग्निर्दिव्यैरजस्रः ॥ १ ॥

५११ महि महे दिवे अर्चा पृथिव्यै कामो म इच्छञ्चरति प्रजानन् ।
ययोर्ह स्तोमे विदथेषु देवाः सपर्यवो मादयन्ते सचायोः ॥ २ ॥

५१२ युवोर्ऋतं रोदसी सत्यमस्तु महे षु णः सुविताय प्र भूतम् ।
इदं दिवे नमो अग्ने पृथिव्यै सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम् ॥ ३ ॥

---

[५४]

अर्थ— [५१०] (महे) महान् (विदथ्याय) यज्ञके साधक तथा (ईड्याय) स्तुतिके योग्य अग्निके लिए स्तोता गण (इमं शूषं) इस स्तोत्रको (शश्वत् कृत्व) बार बार (प्र जभ्रुः) करते हैं, वह अग्नि (दम्येभिः अनीकैः) शत्रुओंके विनाशक किरणोंसे युक्त होकर (नः शृणोतु) हमारी प्रार्थनाओंको सुने तथा (दिव्यैः अजस्रः अग्निः) अपने दिव्य तेजोंसे निरन्तर प्रकाशित होनेवाला अग्नि (शृणोतु) हमारी स्तुति सुने ॥ १ ॥

[५११] (विदथेषु) यज्ञोंमें (ययोः स्तोमे) जिन द्यावापृथिवीके स्तोत्रमें (सपर्यवः देवाः) पूजाके योग्य देव (सचायः मादयन्ते) इकट्ठे होकर आनन्दित होते हैं, उन (महि दिवे पृथिव्यै) महान् द्युलोक और पृथ्वीलोकके लिए (महि अर्च) महान् स्तोत्र बनाओ, क्योंकि (मे कामः) मेरी कामना (प्रजाजन् इच्छन्) सबको जानता हुआ और सब भोगोंकी इच्छा करता हुआ (चरति) सर्वत्र विचरता है ॥ २ ॥

[५१२] हे (रोदसी) द्यावापृथिवी ! (युवोः ऋतं) तुम दोनोंके नियम (सत्यं अस्तु) सत्य होते हैं, तुम दोनों (नः महे सुविताय) हमारी श्रेष्ठ उन्नतिके लिए हमें (प्रभूतं) समर्थ बनाओ। (अग्ने दिवे पृथिव्यै) अग्नि, द्युलोक और पृथिवीलोकके लिए (इदं नमः) यह नमस्कार हो, मैं इन सभी देवोंकी (प्रयसा सपर्यामि) अन्न या हविसे पूजा करता हूँ और (रत्नं यामि) रत्न मांगता हूँ॥ ३ ॥

भावार्थ— भरत अर्थात् भारतके वीर पुत्र इतने वीर होते हैं कि उनके कारण उनके शत्रु सदा क्षीण ही होते हैं। ये वीर कभी निर्बल हों और उनके शत्रु समृद्ध हों, ऐसा अवसर ही कभी नहीं आता। ये वीर अपने घोडोंको युद्धभूमिमें भी ऐसा दौडाते हैं कि मानों वे युद्धभूमिमें न होकर किसी खाली मैदानमें हों अर्थात् वे जिधर जाते हैं उधर ही शत्रुओंका सफाया हो जाता है और इस प्रकार वे युद्धमें अपने धनुषका बल प्रकट करते हैं ॥ २४ ॥

इसी अग्निसे यज्ञका काम सिद्ध होता है, इसीलिए सब ऋत्विग्गण इस अग्निकी स्तुति करते हैं। इसकी किरणें शत्रुओंका दमन करनेवाली अथवा गृहको प्रकाशित करनेवाली हैं। इसका तेज भी दिव्य है ॥ १ ॥

यज्ञोंमें किये जानेवाले स्तोत्रोंसे सभी देव आनन्दित होते हैं। ऋत्विग्गण द्यु और पृथिवीकी भी स्तुति करते हैं। ये दोनों ही महान् और तेजस्वी हैं। इनकी स्तुति करके मेरा मन सब भोगोंको प्राप्त करना चाहता है ॥ २ ॥

द्यावापृथिवीके नियम कभी भी असत्य नहीं होते, ये हमेशा अपने नियममें चलते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी नियमोंमें चलता हुआ सामर्थ्यशाली और उन्नतिशील होता है और इन देवोंकी कृपासे वह रत्न भी प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

५१३ उतो हि वां पूर्व्या आविविद्र ऋतावरी रोदसी सत्यवाचः ।
नरश्चिद् वां समिथे शूरसातौ ववन्दिरे पृथिवि वेविदानाः ॥ ४ ॥
५१४ को अद्धा वेद क इह प्र वोचद् देवाँ अच्छा पथ्याऽका समेति ।
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥ ५ ॥
५१५ कविर्नृचक्षा अभि षीमचष्ट ऋतस्य योना विघृते मदन्ती ।
नाना चक्राते सदनं यथा वेः समानेन क्रतुना संविदाने ॥ ६ ॥
५१६ समान्या वियुते दूरेअन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके ।
उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम ॥ ७ ॥

अर्थ— [५१३] हे (ऋतावरी) सत्य नियमोंके अनुसार चलनेवाली (रोदसी) द्यावापृथिवी ! (वां) तुम दोनोंको (पूर्व्याः सत्यवाचः) पूर्व ऋषियोंकी सत्य वाणियां या सत्यज्ञान (आविविद्रे) जानता था और हे (पृथिवि) पृथिवी ! (शूरसातौ समिथे) शूरवीरोंके एकत्रित होकर लडनेवाले युद्धमें (नरः चित्) वे वीर पुरुष भी (वां वेविदानाः) तुम दोनोंको जानते हुए (ववन्दिरे) तुम्हारी वन्दना करते हैं ॥ ४ ॥

[५१४] (का पथ्या देवान् अच्छा समेति) कौनसा मार्ग देवोंकी तरफ सीधा जाता है, (कः अद्धा वेद) इसे निश्चयपूर्वक कौन जानता है (कः इह प्रवोचत्) उसका वर्णन यहां कौन कर सकता है ? क्योंकि (एषां) इन देवोंका (परेषु गुह्येषु व्रतेषु) उत्कृष्ट तथा छिपे हुए जो स्थान हैं, इनमेंसे (या अवमा सदांसि) जो नीचेके स्थान हैं, वे ही (ददृश्रे) दिखाई देते हैं ॥ ५ ॥

[५१५] (कविः नृचक्षाः) दूरदर्शी ज्ञानी तथा सबको देखनेवाला सूर्य (अभि सीं अचष्टे) इन दोनों लोकोंको चारों ओरसे देखता है । (विघृते) रसोंको धारण करनेवाली, (मदन्ती) आनन्द प्रदान करनेवाली, (समानेन क्रतुना संविदाने) समान कर्मसे सबको जाननेवाली ये दोनों (ऋतस्य योना) ऋतके स्थानमें, (यथा वेः) जैसे पक्षियोंके कई घोंसले होते हैं, उसी प्रकार (नाना सदनं चक्राते) अनेक प्रकारके स्थान बनाते हैं ॥ ६ ॥

[५१६] (समान्या) समान रहनेपर भी (वियुते) एक दूसरेसे अलग (दूरे अन्ते) जिनका अन्तभाग एक दूसरेसे बहुत दूर है, ऐसी (जागरूके) सदा जाग्रत रहनेवाली ये दोनों द्यावापृथिवी (ध्रुवे पदे तस्थतुः) अविनाशी स्थानमें रहती हैं, (युवती) सदा तरुण रहनेवाली (स्वसारा) ये दोनों बहनें (भवन्ती) जब पैदा होती हैं, (आत्) तभीसे इनके लिए (मिथुनानि नाम) जुडवें नाम (ब्रुवाते) बोले जाने लगते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— सत्य नियमोंके अनुसार चलनेवाली इन द्यु और पृथिवीको सत्यवाणी बोलनेवाले ऋषि जानते थे और आज भी युद्धमें लडनेवाले वीर इन दोनों देवियोंको बुलाते हैं ॥ ४ ॥

देवोंके जो उत्कृष्ट और छिपे हुए स्थान हैं, उन्हें कोई नहीं जानता, पर जो स्थूल स्थूल स्थान हैं उन्हींको मनुष्य देखते हैं, इसलिए उन देवोंतक पहुचनेवाला जो सीधा मार्ग है, उसे कौन जानता है और उसका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥५॥

दूरदर्शी ज्ञानी तथा सबको देखनेवाला सूर्य इन द्यु और पृथिवीको चारों ओरसे देखता है । ये दोनों लोक रसोंको धारण करते हैं और अपने रसोंसे सबको आनंदित करते हैं तथा ऋतके स्थानमें अनेक जगह बनाते हैं ॥ ६ ॥

ये दोनों द्यावापृथिवी संसारके पालनपोषणरूप कर्मको एक समान करनेपर भी एक दूसरेसे अलग हैं, इनके छोर भी एक दूसरेसे बहुत दूर हैं । ये दोनों बहिनें जब अस्तित्वमें आती हैं, तभीसे रोदसी, द्यावापृथिवी, आदि जुडवें नामोंसे इन्हें सम्बोधित किया जाने लगता है ॥ ७ ॥

५१७ विश्वेदेते जनिमा सं विविक्तो महो देवान् बिभ्रती न व्यथेते ।
एजद् ध्रुवं पत्यते विश्वमेकं चरत् पतत्रि विषुणं वि जातम् ॥ ८ ॥
५१८ सना पुराणमध्येम्यारान्महः पितुर्जनितुर्जामि तन्नः ।
देवासो यत्र पनितार एवैरुरौ पथि व्युते तस्थुरन्तः ॥ ९ ॥
५१९ इमं स्तोमं रोदसी प्र ब्रवीम्यृदूदराः शृणवन्नग्निजिह्वाः ।
मित्रः सम्राजो वरुणो युवान आदित्यासः कवयः पप्रथानाः ॥ १० ॥
५२० हिरण्यपाणिः सविता सुजिह्वस्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानः ।
देवेषु च सवितः श्लोकमश्रेरादस्मभ्यमा सुव सर्वतातिम् ॥ ११ ॥

अर्थ— [५१७] (एते) ये दोनों द्यावापृथिवी (विश्वा इत् जनिमा सं विविक्तः) सभी प्राणियोंको स्थान प्रदान करती हैं। ये दोनों (महः देवान् बिभ्रती) बडे बडे देवोंको धारण करती हैं, फिर भी (न व्यथेते) कभी दुःखी नहीं होती। (एजत्) चलनेवाला तथा (ध्रुवं) स्थिर (विश्वं) विश्व (एकं पत्यते) एकके आश्रयमें रहता है और दूसरेमें (पतत्रि) पक्षीगण (चरत्) उडते हुए (विषुणं वि जातं) चारोंसे प्रकट होते हैं ॥ ८ ॥

[५१८] हे द्युलोक ! (महः) महान् (पितुः) सबका पालन करनेवाली (जनितुः) सबको उत्पन्न करनेवाली तेरा तथा (नः) हमारा (तत् सना पुराणं जामिः) वह सनातन और पुराना सम्बन्ध मैं (आरात् अध्येमि) अब याद करता हूँ। (यत्र अन्तः) जिसके मध्यमें (उरौ व्युते पथि) विस्तीर्ण और प्रकाशित मार्गमें (पनितारः देवासः) स्तुति करनेवाले देव (एवैः तस्थुः) अपने साधनोंसे युक्त होकर रहते हैं ॥ ९ ॥

[५१९] हे (रोदसी) द्यावापृथिवी ! (इमं स्तोमं प्र ब्रवीमि) मैं इस स्तोत्रको कहता हूँ इसे (ऋदूदराः) सरल मनवाले (अग्निजिह्वाः) अग्निको अपना मुख बनानेवाले, (सम्राजः) अत्यन्त तेजस्वी (युवानः) तरुण (कवयः) ज्ञानी और (पप्रथानाः) अत्यन्त प्रसिद्ध यशवाले (मित्रः वरुणः आदित्यासः) मित्र, वरुण और आदित्य (शृणवत्) सुनें ॥ १० ॥

[५२०] (हिरण्यपाणिः सुजिह्वः सविता) सुनहरी किरणोंवाला, उत्तम रूपवाला सूर्य (दिवः) द्युलोकसे (विदथे आ पत्यमानः) यज्ञमें आकर (त्रिः) तीनों सवनोंको पूर्ण करता है। हे (सवितः) सूर्यदेव ! (देवेषु श्लोकं अश्रेः) विद्वानोंमें बैठकर स्तुतिको सुन और (अस्मभ्यं सर्वतातिं आ सुव) हमें सब प्रकारका धन दे ॥ ११ ॥

भावार्थ— ये दोनों द्यावापृथिवी पशु, पक्षी आदि प्राणियों और सूर्य, चन्द्र, तारक आदि बडे बडे देवोंको भी धारण करती हैं पर वे कभी श्रान्त नहीं होती। इनमेंसे एक पृथ्वी पर चलनेवाले पशु मनुष्य आदि तथा स्थिर रहनेवाले पत्थर, वृक्ष आदि रहते हैं और द्युमें उडनेवाले पक्षी आदि रहते हैं ॥ ८ ॥

इस द्युलोकमें रहनेवाले सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि देव अपने संरक्षणके सभी साधनोंसे युक्त होकर रहते हैं। इन देवों और मनुष्योंका सम्बन्ध बहुत पुराना और हमेशा रहनेवाला है। इन देवोंसे मनुष्यका सम्बन्ध यदि टूट जाए तो मनुष्यकी मृत्यु निश्चित है ॥ ९ ॥

मित्र, वरुण और आदित्य ये देवगण सरल मनवाले, अत्यन्त तेजस्वी, दूरदर्शी, तरुण, ज्ञानी और अत्यन्त यशस्वी हैं ॥ १० ॥

उत्तम किरणोंवाले और उत्तम रूपवाले इस सूर्यकी किरणें जब यज्ञशालामें आकाशसे उतरती हैं, तब यज्ञ शुरू होकर सूर्यके अस्त होने तक वह यज्ञ चलता रहता है, और इन्हीं सूर्यदेवके कारण प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और सांयसवन ये तीनों सवन चलते हैं ॥ ११ ॥

५२१ सुकृत् सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात् ।
पूषण्वन्त ऋभवो मादयध्व—मूर्ध्वग्रावाणो अध्वरमतष्ट ॥ १२ ॥

५२२ विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः ।
सरस्वती शृण्वन् यज्ञियासो धाता रयिं सहवीरं तुरासः ॥ १३ ॥

५२३ विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन् ।
उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वी—र्न मर्धन्ति युवतयो जनित्रीः ॥ १४ ॥

५२४ इन्द्रो विश्वैर्वीर्यैः पत्यमान उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
पुरंदरो वृत्रहा धृष्णुषेणः संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः ॥ १५ ॥

अर्थ— [५२१] (सुकृत् सुपाणिः) उत्तम कर्म करनेवाला और उत्तम हाथोंवाला (स्ववान्) धनसम्पन्न और (ऋतावा) नियमोंका पालन करनेवाला (देवः त्वष्टा) त्वष्टा देव (नः तानि धात्) हमें उन धनोंको प्रदान करे। हे (ऋभवः) ऋभु देवो ! (ऊर्ध्वग्रावाणः) सोम पीसनेके लिए पत्थरको उठाये हुए ऋत्विगोंने (अध्वरं अतष्ट) यज्ञको उत्तम रीतिसे सम्पन्न किया है। इसलिए हे (पूषण्वन्तः) पोषण करनेवाले ऋभुओ ! तुम उस सोमसे (मादयध्वं) आनन्दित हो ॥ १२ ॥

[५२२] (विद्युद्रथाः) बिजलीके रथवाले (ऋष्टिमन्तः) शस्त्र धारण करनेवाले, (दिवः) तेजस्वी, (मर्याः) शत्रुओंको मारनेवाले, (ऋतजाताः) नियमोंपर चलनेवाले (अयासः) वेगवान् (यज्ञियासः मरुतः) पूजाके योग्य मरुद्गण और (सरस्वती) सरस्वती (शृण्वन्) हमारी प्रार्थनाओंको सुने। हे (तुरासः) फुर्तीले मरुतो ! हमें (सहवीरं रयिं धात) सन्तानसे युक्त धनको प्रदान करो ॥ १३ ॥

[५२३] (पूर्वीः युवतयः) बहुतसी सदा तरुणी रहनेवाली (जनित्रीः) सबको उत्पन्न करनेवाली (ककुहः) दिशायें (यस्य न मर्धन्ति) जिसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करती, वह विष्णु (उरुक्रमः) महान् पराक्रमवाला है। उसी (पुरुदस्मं विष्णुं) अत्यन्त रूपवान् विष्णुके पास (अर्काः स्तोमासः) पूजाके योग्य स्तोत्र (यामनि ग्मन्) यज्ञमें उसी प्रकार जाते हैं, (कारिणः भगस्य इव) जिस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाले धनवान्के पास जाते हैं ॥ १४ ॥

[५२४] (इन्द्रः) इन्द्र (विश्वैः वीर्यैः पत्यमानः) सभी तरहके बलसे सम्पन्न होकर आता हुआ (उभे रोदसी) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोकको (महित्वा आ पप्रौ) अपनी महिमासे भर देता है। (पुरंदरः) शत्रुओंकी नगरियोंको तोडनेवाला, (वृत्रहा) वृत्रको मारनेवाला (धृष्णुषेणः) विजयी सेनावाला वह तू, हे इन्द्र ! (भूरि पश्वः संगृभ्य) बहुतसे पशुओंको इकट्ठा करके (नः आभर) हमें भरपूर दे ॥ १५ ॥

भावार्थ— त्वष्टादेव उत्तम कर्म करनेवाला, उत्तम हाथोंवाला, नियमोंका पालन करनेवाला है, वह हमें हर तरहके धन प्रदान करे। हे ऋभुओ ! तुम यज्ञमें सोम पीकर आनन्दित होओ ॥ १२ ॥

ये मरुद्गण बिजली जैसे तेजस्वी रथवाले, शस्त्रधारी, शत्रुओंको मारनेवाले और नियमोंपर चलनेवाले और इसीलिए पूज्य हैं। ये और सरस्वती देवी हमें धन प्रदान करें ॥ १३ ॥

सबको उत्पन्न करनेवाली दिशायें भी इस विष्णुकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकतीं, क्योंकि वह विष्णु महापराक्रमी है। जिस प्रकार समाजका हित करनेवाले किसी धनवान्की प्रशंसा सभी करते हैं, उसी तरह इस इन्द्रकी सभी प्रशंसा करते हैं ॥ १४ ॥

इन्द्र अपने सभी तरहके बलसे सम्पन्न होकर अपनी महिमासे द्यु और पृथ्वी इन दोनों लोकोंको भर देता है। वह इन्द्र शत्रुओंकी नगरियोंका विनाशक है और शत्रुओंका भी संहारक है। इसकी सेना हमेशा विजय प्राप्त करती है ॥ १५ ॥

५२५ नासत्या मे पितरा बन्धुपृच्छा सजात्यमश्विनोश्चारु नाम ।
युवं हि स्थो रयिदौ नो रयीणां दात्रं रक्षेथे अकवैरदब्धा ॥ १६ ॥
५२६ महत् तद् वः कवयश्चारु नाम यद्ध देवा भवथ विश्व इन्द्रे ।
सख ऋभुभिः पुरुहूत प्रियेभि-रिमां धियं सातये तक्षता नः ॥ १७ ॥
५२७ अर्यमा णो अदितिर्यज्ञियासो-ऽदब्धानि वरुणस्य व्रतानि ।
युयोत नो अनपत्यानि गन्तोः प्रजावान् नः पशुमाँ अस्तु गातुः । ॥ १८ ॥

अर्थ— [५२५] हे (नासत्या) अविनाशी अश्विनौ देवो ! (बन्धुपृच्छा) भाईकी तरह प्रेम करनेवाले अपने उपासकोंकी परवाह करनेवाले तुम दोनों (मे पितरा) मेरे पालन करनेवाले हो । (अश्विनोः) इन अश्विनौ देवोंका (सजात्यं नाम) जन्मसे ही फैलनेवाला यश (चारु) सुन्दर है । हे अश्विनौ ! (युवं हि रयिदौ स्थः) तुम दोनों धनके प्रदाता हो, इसलिए (नः रयीणां) हमें धन प्रदान करो । (अदब्धा) आलस्यसे रहित तुम दोनों (अकवैः दात्रं रक्षेथे) बुरे कर्मोंसे दाताकी रक्षा करते हो ॥ १६ ॥

१ अश्विनोः सजात्यं नाम चारु— अश्विनौ देवोंका जन्मसे ही उत्पन्न हुआ यश उत्तम है ।

२ अदब्धा अकवैः दात्रं रक्षेथे— आलस्यसे रहित ये दोनों अश्विनौ देव दुष्ट कर्मोंसे दाताकी रक्षा करते हैं ।

[५२६] हे (कवयः) ज्ञानी देवो ! (वः तत् नाम) तुम्हारा वह यश (महत् चारु) महान् और उत्तम है, (यत्) जिसके कारण (विश्वे) तुम सब (इन्द्रे) इन्द्रके अनुशासनमें रहकर (देवाः भवथ) देव होते हो । हे (पुरुहूत) बहुतोंके द्वारा बुलाये जानेवाले इन्द्र ! (प्रियेभिः ऋभुभिः) अपने प्रिय ऋभुओंके साथ तू (सखा) हमारा मित्र हो, तथा (सातये) ज्ञान और धनकी प्राप्तिके लिए (नः इमां धियं) हमारी इस बुद्धिको (तक्षत) तीक्ष्ण कर ॥ १७ ॥

१ इन्द्रे देवाः भवथ— इन्द्रके अनुशासनमें रहकर देव बना जा सकता है ।

२ सातये इमां धियं तक्षत— ज्ञानकी प्राप्तिके लिए हमारी बुद्धि तीक्ष्ण हो ।

३ कवयः नाम महत् चारु— दूरके परिणामोंका विचार करके काम करनेवालोंका यश महान् और उत्तम होता है ।

[५२७] (अर्यमा अदितिः यज्ञियासः) अर्यमा, अदिति और पूजाके योग्य देव (नः) हमारी रक्षा करें, (वरुणस्य व्रतानि अदब्धानि) वरुणके नियम अनुल्लंघनीय हैं । (नः गन्तोः) हमारे मार्गसे (अनपत्यानि) सन्तानको न देनेवाले कर्मोंको (युयोत) दूर करो, ताकि (नः गातुः) हमारा मार्ग (प्रजावान् पशुमान् अस्तु) सन्तानों और पशुओंसे युक्त हो ॥ १८ ॥

१ वरुणस्य व्रतानि अदब्धानि— वरुणके नियम अनुल्लंघनीय हैं

२ नः गन्तोः अनपत्यानि युयोत— हमारे मार्ग सन्तानको न देनेवाले कर्मोंसे रहित हो ।

३ नः गातुः प्रजावान् पशुमान् अस्तु— हमारा घर सन्तानों और पशुओंसे युक्त हो ।

भावार्थ— इन अश्विनौसे जो भाईकी तरह प्रेम करता है उसकी ये हर तरहसे परवाह करते हैं और उसका पालन करते हैं । ये दोनों जब जन्मे थे, तभीसे इन्होंने उत्तम कर्म करने शुरु कर दिए और तभीसे इनका उत्तम यश चारों ओरसे फैलने लगा । ये दाताको धन प्रदान करते हैं और दुष्ट कर्मोंसे उसकी सदा रक्षा करते हैं ॥ १६ ॥

ज्ञानी और दूरके परिणामोंको भी सोचकर काम करनेवाले देवोंका यश महान् और उत्तम होता है । जो भी इन्द्रके अनुशासनमें रहकर काम करता है, वह देव बन जाता है । अतः मनुष्यको चाहिए कि वह इन्द्र और अन्य देवोंका मित्र बने तथा ज्ञानकी प्राप्तिके लिए अपनी बुद्धिको तीक्ष्ण तथा सूक्ष्म विचारोंका दर्शन करनेवाली बनाये ॥ १७ ॥

हम वरुणके नियमोंके अनुसार चलें, ताकि सभी देव हमारी रक्षा करें । हम कोई भी ऐसा काम न करें कि जिससे हम सन्तानहीन हों, इसके विपरीत हम ऐसे मार्गसे चलें कि जिससे हमारे घर पुत्र पौत्रों और पशुओंसे भरा रहे ॥ १८ ॥

५२८ देवानां दूतः पुरुध प्रसूतो ऽनागान् नो वोचतु सर्वताता ।
शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रैरुर्व१न्तरिक्षम् ॥ १९ ॥
५२९ शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः ।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम् ॥ २० ॥
५३० सदा सुगः पितुमाँ अस्तु पन्था मध्वा देवा ओषधीः सं पिपृक्त ।
भगो मे अग्ने सख्ये न मृध्या उद् रायो अश्यां सदनं पुरुक्षोः ॥ २१ ॥
५३१ स्वदस्व हव्या समिषो दिदीह्यस्मद्र्य१क् सं मिमीहि श्रवांसि ।
विश्वाँ अग्ने पृत्सु ताञ्जेषि शत्रूनहा विश्वा सुमना दीदिही नः ॥ २२ ॥

अर्थ— [५२८] (पुरुध प्रसूतः) अनेक तरहसे उत्पन्न होनेवाला (देवानां दूतः) देवोंका दूत अग्नि (अनागान् नः) पापसे रहित हम लोगोंको (सर्वताता वोचतु) हरतरहसे उपदेश दे। (पृथिवी द्यौः उत आपः) पृथिवी, द्युलोक और जल (सूर्यः नक्षत्रैः उरु अन्तरिक्षं) सूर्य और नक्षत्रोंसे विस्तृत अन्तरिक्ष (नः शृणोतु) हमारी प्रार्थना सुने ॥१९॥

१ देवानां दूतः अनागान् नः वोचतु— देवोंका दूत ज्ञानी पापसे रहित हमें उपदेश करे।

[५२९] (वृषणः) जल बरसा कर (ध्रुवक्षेमासः) निश्चयसे मनुष्योंका कल्याण करनेवाले तथा (इळया मदन्तः) वनस्पति आदिसे मनुष्योंको आनन्दित करनेवाले (पर्वतासः) पर्वत (नः शृण्वन्तु) हमारी प्रार्थना सुनें तथा (अदितिः) अदिति देवी भी (आदित्यैः) आदित्योंके साथ (नः शृणोतु) हमारी प्रार्थना सुने तथा (मरुतः) मरुत् देव (नः भद्रं शर्म यच्छन्तु) हमें कल्याणकारी सुख और स्थान प्रदान करें ॥ २० ॥

१ वृषणः पर्वतासः ध्रुवक्षेमासः— जल बरसानेवाले पर्वत निश्चयसे मनुष्योंका कल्याण करनेवाले हैं।

[५३०] हमारे (पन्थाः) मार्ग (सदा सुगः पितुमान् अस्तु) सदा ही सरलतासे जाने योग्य और अन्नसे युक्त हों, हे (देवाः) देवो! (ओषधीः) अन्न तथा अन्य वनस्पति आदियोंको (मध्वा सं पिपृक्त) मधुरतासे युक्त करो। हे (अग्ने) अग्ने! (सख्ये) तेरी मित्रतामें रहनेवाले (मे भगः) मेरा ऐश्वर्य (न मृध्याः) नष्ट न हो, (उत्) इसके विपरीत (रायः) धन और (पुरुक्षोः सदनं) बहुत अन्नसे भरपूर घरको (अश्याम्) प्राप्त करूं ॥ २१ ॥

१ पन्थाः सदा सुगः पितुमान् अस्तु— हमारे मार्ग सदा ही सरलतासे जाने योग्य तथा अन्नसे भरपूर हों।

२ ओषधीः मध्वा सं पिपृक्त— अन्न वनस्पतियां मधुरतासे युक्त हों।

[५३१] हे (अग्ने) अग्ने! (हव्या स्वदस्व) हविके योग्य पदार्थोंका भक्षण कर, और (इषः सं दिदीहि) अन्नको प्रदान कर, (श्रवांसि) अन्नोंको (अस्मद्र्यक्) हमारी ओर (सं मिमीहि) प्रेरित कर। (पृत्सु) युद्धोंमें (तान् विश्वान् शत्रून्) उन सब शत्रुओंको (जेषि) जीत, तथा (सुमनाः) उत्तम मनवाला होकर तू (विश्वा अहा) सभी दिन (नः दिदीहि) हमारे लिए प्रकाशसे युक्त कर ॥ २२ ॥

१ विश्वा अहा नः दिदीहि— सब दिन हमारे लिए प्रकाशसे युक्त और सुखकर हों।

भावार्थ— अनेक तरहसे उत्पन्न होनेवाला तथा देवोंका दूत होकर आनेवाला ज्ञानी पापसे रहित हम लोगोंको उत्तम उपदेश करे। ज्ञानी मनुष्य प्रथम मातासे उत्पन्न होता है फिर सरस्वती देवीके गर्भसे उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् समाजके गर्भसे बाहर आकर सभी श्रेष्ठ पुरुषोंको अपना ज्ञान प्रदान करता है। समाजके लोगोंको उत्तम कर्मका उपदेश देता है ॥१९॥

पर्वतोंके ऊपर वृक्ष होते हैं इन वृक्षोंसे बादल टकरा कर बरसते हैं और बरसातके जलसे अन्नकी उत्पत्ति होकर उससे मनुष्य पुष्ट होकर आनन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पर्वत निःसन्देह मनुष्यका कल्याण करते हैं। वे पर्वत, अदिति, आदित्य और मरुत् आदि देव हमारी प्रार्थनाको सुनकर हमें कल्याणकारी सुख और स्थान प्रदान करें ॥ २० ॥

हम जिस मार्गसे भी जायें, वह मार्ग सरलतासे जाने योग्य और कांटें तथा विघ्नोंसे रहित हो, हम जहां भी और जिस मार्गसे भी जायें, वहां हमें भरपूर अन्न मिले तथा हम जिस अन्नको खायें वह मधुरतासे भरा हुआ हो। हम अग्निकी मित्रताको प्राप्त करें, ताकि हम धन और उत्तम स्थानको प्राप्त कर सकें ॥ २१ ॥

[५५]

[ऋषिः– प्रजापतिर्वैश्वामित्रः, प्रजापतिर्वाच्यो वा । देवताः– विश्वे देवाः । छन्दः– त्रिष्टुप् ।]

५३२ उषसः पूर्वा अध यद् व्यूषु– र्महद् वि जज्ञे अक्षरं पदे गोः ।
व्रता देवानामुप नु प्रभूषन् महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १ ॥

५३३ मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः ।
पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्त– र्महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २ ॥

५३४ वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः शम्यच्छा दीद्ये पूर्व्याणि ।
समिद्धे अग्नावृतमिद् वदेम महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ३ ॥

---

[५५]

अर्थ— [५३२] (यत्) जब (पूर्वाः उषसः) बहुतसी उषायें (वि ऊषुः) प्रकाशित हो गईं, (अध) उसके बाद (अक्षरं महत्) यह अविनाशी महान् ज्योति (गोः पदे) जलके स्थानमें (वि जज्ञे) प्रकट हुआ । तब यज्ञकर्ता (प्रभूषन्) अपनेको अच्छी तरह अलंकृत करके (देवानां व्रता उप) देवोंके कर्मोंको करने लगा । (देवानां) देवोंका यह (एकं महत् असुरत्वं) एक महान् पराक्रम है ॥ १ ॥

[५३३] हे (अग्ने) अग्ने ! (अत्र) यहां (देवाः) देवगण (नः मा जुहुरन्त) हमारी हिंसा न करें । (पदज्ञाः पूर्वे पितरः मा) हमारे उत्तम मार्गको जाननेवाले प्राचीन पितर भी हमारा अनिष्ट न करें । (पुराण्यः सद्मनोः अन्तः) प्राचीन स्थानोंके बीचमें (महत् केतुः) महान् प्रकाश उत्पन्न होता है, (देवानां एकं महत् असुरत्वं) यह देवोंका एक महान् पराक्रम है ॥ २ ॥

[५३४] (मे कामाः पुरुत्रा पतयन्ति) मेरे मनोरथ अनेक तरहसे दौडते हैं, इसीलिए मैं (शमि) यज्ञमें (अग्नौ समिद्धे) अग्निके प्रज्वलित होनेपर (पूर्व्याणि अच्छ दीद्ये) उत्तम कर्मोंको अच्छी तरह करता हूँ (ऋतं वदेम) हम सत्य ही कहते हैं कि यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् पराक्रम है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! तू उत्तम पदार्थोंका भक्षण कर और उत्तम अन्न हमें भी दे, हमारे सभी शत्रु नष्ट हों तथा हमारे लिए सभी दिन सुखकर और प्रकाशसे युक्त हों ॥ २२ ॥

जब पहले अनेक उषायें आकर चली गईं तब महान् ज्योतिरूप सूर्य जलोंके स्थान आकाशमें प्रकट हुआ, सूर्योदयके बाद ही यज्ञकर्ता पवित्र और भूषित होकर यज्ञादि दिव्यकर्म करने लगा । इन कर्मोंमें देवोंका असुरत्व अर्थात् प्राण छिपा हुआ है । यज्ञादि करनेसे दिव्य प्राण प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

हे अग्ने ! इस संसारमें उत्तम तेजस्वी पुरुष हमारा अनिष्ट न करें, तथा उत्तम मार्गोंको जाननेवाले ज्ञानी भी हमारा अनिष्ट न करें । यह देवोंका ही पराक्रम है कि अनन्तकालसे चली आनेवाली द्यावापृथ्वीके मध्यमें महान् ज्योतिरूप सूर्य प्रकाशित होता है ॥ २ ॥

मनुष्यके मनोरथ अनेक तरहके होते हैं, उन मनोरथोंको पूर्ण करनेके लिए उसे चाहिए कि वह उत्तम कर्म करे और देवोंके पराक्रमको सदा ध्यानमें रखे ॥ ३ ॥

५३५ समानो राजा विभृतः पुरुत्रा शये शयासु प्रयुतो वनानु ।
अन्या वत्सं भरति क्षेति माता महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ४ ॥
५३६ आक्षित् पूर्वास्वपरा अनूरुत् सद्यो जातासु तरुणीष्वन्तः ।
अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ५ ॥
५३७ शयुः परस्तादध नु द्विमाताऽबन्धनश्चरति वत्स एकः ।
मित्रस्य ता वरुणस्य व्रतानि महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ६ ॥
५३८ द्विमाता होता विदथेषु सम्राळन्वग्रं चरति क्षेति बुध्नः ।
प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ७ ॥

अर्थ— [५३५] (समानो राजा) एक ही राजा (पुरुत्रा विभृतः) अनेक तरहसे धारण किया जाता है। वह (शयासु शयः) यज्ञोंमें सोता है तथा (वनानु प्रयुतः) वनोंमें अलग अलग पडा रहता है। (अन्या वत्सं भरति) एक अपने बच्चेका पालन करती है तो (माता) दूसरी माता (क्षेति) उसे केवल धारण करती है, यह सब (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् कृत्य है ॥ ४ ॥

[५३६] यह अग्नि (पूर्वासु) अत्यंत प्राचीन वनस्पतियोंमें रहता है और (अपरा अनूरुत्) नवीन वनस्पतियोंमें भी प्रकाशित होता है, तथा वह (सद्यः जातासु तरुणीषु अन्तः) नवीन उत्पन्न हुई तरुणियोंमें भी रहता है, (अप्रवीताः अन्तर्वतीः सुवते) किसीके द्वारा वीर्यसिंचन न होनेपर भी गर्भवती होकर उत्पन्न करती हैं, यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् आश्चर्यजनक कर्म है ॥ ५ ॥

[५३७] (परस्तात् शयुः) पश्चिममें सोनेवाला (अध नु) और (द्विमाता) दो माताओंवाला (एकः वत्सः) एक बच्चा (अबन्धनः चरति) बिना किसी बन्धन या विघ्नके विचरता है। (ता व्रतानि) वे सब काम (मित्रस्य वरुणस्य) मित्र और वरुणके हैं। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् कर्म है ॥ ६ ॥

[५३८] (द्विमाता) दो माताओंवाला (होता) होता (विदथेषु सम्राट्) यज्ञोंका सम्राट् (अनु अग्रं चरति) सबसे आगे चलता है और (बुध्नः क्षेति) सबसे श्रेष्ठ होकर रहता है। इसके लिए (रण्यवाचः) सुन्दर वाणियां (रण्यानि प्र भरन्ते) सुन्दर और रमणीय स्तुतियोंको करती हैं। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक अद्भुत कार्य है ॥ ७ ॥

भावार्थ— एक ही तेजस्वी अग्नि अनेक तरहसे प्रकाशित होता है, वह यज्ञमें तो एक यज्ञाग्निके रूपमें रहता है, और अलग अलग लकडियोंमें अलग अलग रूपसे रहता है। एक माता अरणी तो उसे केवल धारण करती है और दूसरी माता यज्ञवेदि उसे हवि आदि देकर पुष्ट करती है। इसी तरह राष्ट्रमें एक ही राजा अनेक रूपोंको धारण करता है। वह कभी शय्यापर सोता है अर्थात् सुखोंका उपभोग करता है तो कभी वनमें अर्थात् युद्धके मैदानमें जाता है। उसकी अपनी माता तो उसे गर्भमें धारण करती है, पर उसकी दूसरी माता प्रजा उस राजाका पालनपोषण करती है ॥ ४ ॥

यह अग्नि अत्यन्त प्राचीन और जीर्णशीर्ण वृक्षोंमें रहता है, तथा जो हरेभरे वृक्ष हैं, उनमें भी रहता है, और जो पौधे नये ही उगे हैं, उनमें भी रहता है। इन वनस्पतियोंमें कोई भी वीर्यका सेवन नहीं करता, फिर भी ये गर्भवती होकर फल और फूलोंको उत्पन्न करती हैं ॥ ५ ॥

पश्चिममें अस्त होनेवाले सूर्यकी द्यु और पृथिवी ये दो मातायें है और उनका यह बच्चा बिना किसी विघ्न या बाधाके आकाशमें विचरता है। यह सब महिमा मित्र और वरुण आदि देवोंकी है ॥ ६ ॥

यह अग्नि दो अरणियोंसे उत्पन्न होनेके कारण दो माताओंवाला है, वह अग्नि या अग्रणी होनेके कारण सबसे आगे चलता है इसीलिए वह सबसे श्रेष्ठ है। जो सबसे आगे रहकर काम करता है, वह श्रेष्ठ होता है और सब उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ७ ॥

५३९ शूरस्येव युध्यतो अन्तमस्य प्रतीचीनं ददृशे विश्वमायत् ।
अन्तर्मतिश्चरति निष्षिधं गोर्महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ८ ॥

५४० नि वेवेति पलितो दूत आ स्वन्तर्महांश्चरति रोचनेन ।
वपूंषि बिभ्रदभि नो वि चष्टे महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ९ ॥

५४१ विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः ।
अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १० ॥

५४२ नाना चक्राते यम्या वपूंषि तयोरन्यद् रोचते कृष्णमन्यत् ।
श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ११ ॥

अर्थ— [५३९] (अन्तमस्य) पासमें रहनेवाले तथा (युध्यतः शूरस्य इव) युद्ध करनेवाले शूरवीरके समान तेजस्वी अग्निके सामने (आयत् विश्वं) आनेवाले सारे प्राणी (प्रतीचीनं ददृशे) पराङ्मुख हुए हुए दिखाई देते हैं। (मतिः) बुद्धिमान् यह अग्नि (गोः निष्षिधं) जलोंको धारण करनेवाले आकाशके (अन्तः) अन्दर (चरति) विचरता है। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् पराक्रम है ॥ ८ ॥

[५४०] (पलितः दूतः) अत्यन्त प्राचीन तथा दूत यह अग्नि (आसु वेवेति) इन वनस्पतियोंमें व्याप्त है, तथा (रोचनेन) अपने तेजसे (महान्) यह महान् अग्नि (अन्तः चरति) इन वनस्पतियोंके अन्दर घूमता है और जब (वपूंषि बिभ्रत्) शरीरको धारण करता है, तभी (नः अभि वि चष्टे) हमें वह दिखाई देता है। (देवानां एकं महत् असुरत्वं) यह देवोंका एक महान् पराक्रम है ॥ ९ ॥

[५४१] (अमृता प्रिया धामानि दधानः) अविनाशी और प्रिय लोकोंको धारण करनेवाला (गोपाः विष्णुः) पालन करनेवाला विष्णु (पाथः परमं पाति) अपने मार्गसे कल्याणकी रक्षा करता है। (अग्निः) अग्नि (ता विश्वा भुवनानि वेद) उन सम्पूर्ण भुवनोंको जानता है। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् कर्म है ॥ १० ॥

[५४२] (यम्या) जुडवीं दो स्त्रियां (नाना वपूंषि चक्राते) अनेक तरहके रूपोंको प्रकट करती हैं। (तयोः) इनमें (अन्यत् रोचते) एक तेजस्विनी है और (अन्यत्) दूसरी (कृष्णं) काली है। (यत् श्यावी अरुषी च) जो काली और गोरी अथवा तेजस्विनी स्त्रियां हैं, वे (स्वसारौ) दोनों आपसमें बहिने हैं। यह (देवानां एक महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् कर्म है ॥ ११ ॥

भावार्थ— जब यह अग्नि धधकने लगती है, तब इसकी ओर आनेवाले सभी प्राणी इससे दूर भागने लगते हैं। यह अग्नि विद्युत्के रूपमें आकाशमें रहता है ॥ ८ ॥

वह अग्नि सभी वृक्ष आदि वनस्पतियोंमें व्याप्त है और सभी वृक्षोंमें उसका तेज घूम रहा है, पर वह मनुष्योंको दिखाई तभी देता है कि जब वह अरणीसे घिसे जानेपर ज्वालारूप शरीर धारण कर लेता है ॥ ९ ॥

सबका पालन करनेवाला व्यापक विष्णु सब अविनाशी लोकोंको धारण करता है और सदा कल्याणमय कर्मों और मार्गोंकी रक्षा करता है। अग्नि सभी भुवनोंका ज्ञाता है ॥ १० ॥

दिन और रातरूपी दो जुडवीं बहने हैं, उनमें रात काली और दिन गोरी और प्रकाशयुक्त है। काली और गोरी होनेपर भी ये परस्पर प्रेमसे व्यवहार करती हैं ॥ ११ ॥

५४३ माता च यत्र दुहिता च धेनू सबर्दुघे धापयेते समीची ।
ऋतस्य ते सदसीळे अन्तर्महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १२ ॥
५४४ अन्यस्या वत्सं रिहती मिमाय कया भुवा नि दधे धेनुरूधः ।
ऋतस्य सा पयसापिन्वतेळा महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १३ ॥
५४५ पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा ।
ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान् महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १४ ॥
५४६ पदेइव निहिते दस्मे अन्तस्तयोरन्यद् गुह्यमाविरन्यत् ।
सध्रीचीना पथ्या३ सा विषूची महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १५ ॥

अर्थ– [५४३] (यत्र) जहां (माता च दुहिता च) माता और पुत्री दोनों (धेनू) तृप्त करनेवाली (सबर्दुघे) अमृतको दुहनेवाली हैं, वे दोनों (समीची) एक साथ मिलकर (धापयेते) अपना दूध पिलाती हैं। (ते) वे दोनों (ऋतस्य सदसि अन्तः) ऋतके स्थानमें रहती हैं, मैं उनको (ईळे) स्तुति करता हूँ। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् कार्य है ॥ १२ ॥

[५४४] (अन्यस्याः वत्सं) दूसरेके बच्चेको (रिहती मिमाय) चाटती हुई प्रसन्नतासे शब्द करती है। यह (धेनुः) गाय (कया भुवा) किस स्थानसे (ऊधः नि दधे) अपने स्तनोंको दूधसे भरती है ? (सा इळा) वह पृथ्वी (ऋतस्य पयसा पिन्वते) ऋतके दूधसे पुष्ट होती है। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् कर्म है ॥ १३ ॥

[५४५] (पद्या) पैरसे उत्पन्न होनेवाली पृथ्वी (पुरुरूपा वपूंषि) अनेक रूपवाले शरीरोंको (वस्ते) धारण करती है और (त्र्यविं रेरिहाणा) तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले सूर्यको चाटती हुई (ऊर्ध्वा तस्थौ) सबसे ऊंचे स्थान पर खडी रहती है, (विद्वान्) विद्वान् मैं (ऋतस्य सद्म वि चरामि) ऋतके स्थानमें संचार करता हूँ। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वे) देवोंका एक महान् कर्म है ॥ १४ ॥

१ पद्या— विराट् पुरुषके पैरसे उत्पन्न हुई पृथ्वी– " पद्भ्यां भूमिः "

[५४६] (दस्मे) सुन्दर रूपवाली दोनों (अन्तः) अन्तरिक्षमें (पदे निहिते) पैर रखती हैं, (तयोः) उनमें (अन्यत्) एक (गुह्यं) छिपी हुई है (अन्यत् आविः) दूसरी प्रकट है। इन दोनोंका (सा पथ्या) वह मार्ग (सध्रीचीना) एक होते हुए भी (विषूची) अलग अलग विभक्त है। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक अद्भुत कर्म है ॥ १५ ॥

भावार्थ— सबको उत्पन्न करनेवाली माता यह पृथ्वी और दूर दूर रहनेवाली दुहिता द्यु दोनों ही सारे विश्वको तृप्त करनेवालीं, अमृतमय पदार्थोंको देनेवालीं तथा सारे संसारको अपना रस प्रदान करनेवालीं हैं, ये दोनों नियममें रहती हैं ॥ १२ ॥

इन दोनों माताओंमें एक माता पृथ्वी दूसरे द्युलोकके बच्चे अर्थात् सूर्यकी किरणोंको चाटती हुई प्रसन्न होती है। यह पृथ्वी अपने स्तनोंको सूर्यकी किरणोंके द्वारा बरसाये गए जलसे पूर्ण करती है फिर उस दूधसे मनुष्योंको पुष्ट करती है ॥ १३ ॥

विराट् पुरुषके पैरोंसे उत्पन्न हुई यह पृथ्वी लाल, हरा, नीला आदि अनेक रूपोंको धारण करती हुई द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी इन तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यकी किरणोंको चाटती है, इसीलिए सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। विद्वान् ज्ञानी मनुष्य इस सूर्यके लोकमें विचरता है ॥ १४ ॥

सुन्दर रूपवाली दोनों दिन और रात अन्तरिक्षमें संचार करती हैं, उनमें एक रात्री काली होनेके कारण छिपी हुई रहती है और दूसरी यी दिन प्रकाशयुक्त होनेके कारण सबको दिखाई देती है। इन दोनों दिन और रातका मार्ग यद्यपि अन्तरिक्ष ही है, पर दिनमें पुण्यशाली मनुष्य विचरते हैं, तो रातमें चोर, डाकू आदि पापी विचरते हैं ॥ १५ ॥

५४७ आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १६ ॥

५४८ यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन् यूथे नि दधाति रेतः ।
स हि क्षपावान् त्स भगः स राजा महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १७ ॥

५४९ वीरस्य नु स्वश्व्यं जनासः प्र नु वोचाम विदुरस्य देवाः ।
षोळ्हा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १८ ॥

५५० देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १९ ॥

अर्थ— [५४७] (अशिश्वीः) बच्चोंसे रहित, (सबर्दुघाः) अमृतको दुहनेवाली, (शशया) तेजयुक्त (अप्रदुग्धा) न दुही गई (युवतयः धेनवः) तरुणी गायें (नव्यानव्या भवन्तीः) प्रतिदिन नवीन नवीन होती हुई (धुनयन्तां) दोहन करें । यह (देवानां एक महत् असुरत्वं) देवोंका एक अद्भुत काम है ॥ १६ ॥

[५४८] (यत् वृषभः) जो वीर (अन्यासु रोरवीति) दूसरी दिशाओंमें रहकर गरजता है, (सः) वह (अन्यस्मिन् यूथे) किसी दूसरे ही झुण्डमें जाकर (रेतः नि दधाति) अपने वीर्यको स्थापित करता है । (सः हि) वह गरजनेवाला (क्षपावान्) पालन करनेवाला (सः भगः) वह ऐश्वर्यवान् तथा (सः राजा) वह सबका राजा और तेजस्वी है । यह (देवानां एकं महद् असुरत्वं) देवोंका एक महान् अद्भुत काम है ॥ १७ ॥

[५४९] हे (जनासः) मनुष्यो ! (वीरस्य सु अश्व्यं) इस वीरके उत्तम पराक्रमकी (नु प्रवोचाम) हम प्रशंसा करें, (अस्य) इसके इस पराक्रमको (देवाः विदुः) देव भी जानते हैं, (षोळ्हा युक्ता) छै छै घोडोंसे युक्त होनेपर भी (पंचपंचा वहन्ति) पांचपांच घोडे ही इसे ढोते हैं। (देवानां एकं महत् असुरत्वं) यह देवोंका एक महान् अद्भुत काम है ॥ १८ ॥

[५५०] (सविता) सबको उत्पन्न करनेवाला (विश्वरूपः) अनेक रूपोंवाला (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव (पुरुधा प्रजाः जजान) अनेक तरहकी प्रजाओंको उत्पन्न करता है और (पुपोष) इनको पुष्ट भी करता है (इमा विश्वा भुवनानि अस्य) ये सारे भुवन इसी त्वष्टा देवके हैं, यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् अद्भुत काम है ॥ १९ ॥

भावार्थ— शिशुओंसे रहित होती हुई भी अमृतको दुहनेवाली, तेजयुक्त, न दुही गई सूर्यकिरण रूपी गायें प्रतिदिन नवीन होकर अमृत प्रदान करें ॥ १६ ॥

मेघरूपी वीर गरजता तो दूसरी जगह अर्थात् आकाशमें है, पर वर्षाजलरूपी अपने वीर्यका सिंचन करता है दूसरी जगह अर्थात् पृथ्वीमें है । इस प्रकार जल बरसाकर वह पृथ्वीका पालन करता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥ १७ ॥

इस मंत्रमें अध्यात्मका वर्णन है । इस आत्मारूपी इन्द्रका पराक्रम बहुत ही महान् है, उसकी सभी प्रशंसा करते हैं और अन्य देवगण भी इसके पराक्रमको अच्छी तरह जानते हैं यद्यपि इस आत्माके रथ इस शरीरमें पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन और पांच कर्मेन्द्रियां और मन इस प्रकार छै छै घोडे जुते हुए हैं, पर इस आत्माको पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां रूपी ५–५ घोडे ही ढोते हैं ॥ १८ ॥

सबको उत्पन्न करनेवाला अनेक रूपोंवाला त्वष्टा देव अनेक तरहकी प्रजाओंको उत्पन्न करता है और उनका पालन पोषण भी करता है । ये सभी लोक इसी त्वष्टाने बनाये हैं ॥ १९ ॥

५५१ मही समैरच्चम्वा समीची उभे ते अस्य वसुना न्यृष्टे ।
शृण्वे वीरो विन्दमानो वसूनि महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २० ॥

५५२ इमां च नः पृथिवीं विश्वधाया उप क्षेति हितमित्रो न राजा ।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २१ ॥

५५३ निष्षिध्वरीस्त ओषधीरुतापो रयिं त इन्द्र पृथिवी बिभर्ति ।
सखायस्ते वामभाजः स्याम महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ— [५५१] इन्द्र (मही) महान् तथा (समीची) परस्पर मिलजुलकर चलनेवाली (चम्वा) इन द्युलोक और पृथ्वीलोकको (सं ऐरत) अच्छी तरह प्रेरित करता है। (ते उभे) वे दोनों (अस्य वसुना नि ऋष्टे) इस इन्द्रके तेजसे व्याप्त हैं। मैंने (वीरः वसूनि विन्दमानः शृण्वे) वीरको ही धनोंको प्राप्त करते सुना है। यह (देवानां एकं महद् असुरत्वं) देवोंका एक महान् अद्‌भुत काम है ॥ २० ॥

१ वीरः वसूनि विन्दमानः शृण्वे— मैंने वीरको ही धन प्राप्त करते सुना है।

[५५२] (हित मित्रः राजा न) जिस प्रकार अपनी प्रजाओंका मित्रके समान हित करनेवाला एक राजा सदा ही अपनी प्रजाके पास रहता है, उसी प्रकार इन्द्र भी (नः इमां पृथिवीं क्षेति) हमारी इस पृथ्वीके पास रहता है और हम भी (विश्वधायाः उप) इस विश्वका पालन करनेवाली भूमिके पास रहें। (वीराः पुरःसदः शर्मसदः) इस इन्द्रके सहायक वीर मरुत् हमेशा आगे बढनेवाले तथा कल्याण करनेवाले हैं। यह (देवानां एकं महत् असुरत्वं) देवोंका एक महान् अद्‌भुत काम है ॥ २१ ॥

१ वीराः पुरःसदः शर्मसदः— वीर हमेशा आगे बढनेवाले तथा कल्याण करनेवाले हों।

[५५३] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ओषधीः उत आपः) औषधियां और जल (ते) तेरेही कारण (निष्षिध्वरी) ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं। (पृथिवीः) पृथिवी भी (ते रयिं बिभर्ति) तेरे ही ऐश्वर्यको धारण करती है, अतः, हे इन्द्र ! (ते सखायः) तेरे मित्र हम (वामभाजः स्याम) उत्तम धनके भागी हों, यह (देवानां एकं महद् असुरत्वं) देवोंका एक महान् कर्म है ॥ २२ ॥

भावार्थ— मिलजुलकर चलनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक इन्द्रके द्वारा प्रेरित होकर चलते हैं, वे दोनों ही लोक इन्द्रके तेजसे व्याप्त हैं। ऐसा इन्द्र भी वीर होकर ही धनोंको प्राप्त करता है। इसलिए मनुष्य भी वीरता पूर्ण पराक्रम प्रदर्शित करके ही धन पानेकी इच्छा करे। लक्ष्मी वीर पुरुषको ही वरण करती है निर्बलको नहीं ॥ २० ॥

अपनी प्रजाओंका हित करनेवाला एक राजा जिस प्रकार हमेशा अपनी प्रजाके पासही रहता है, उसी प्रकार यह इन्द्र भी हमेशा इस पृथ्वीके पास रहता है। इस इन्द्रके सहायक वीर मरुत् हमेशा आगे बढनेवाले तथा कल्याण करनेवाले हैं। वीर भी हमेशा आगे बढनेवाले और प्रजाका कल्याण करनेवाले हों। वे कायर और अत्याचारी न हों ॥ २१ ॥

औषधियां और जल इसी इन्द्रके ऐश्वर्यके कारण समृद्धिशाली हैं। पृथ्वीमें भी जो कुछ ऐश्वर्य है, वह भी इसी इन्द्रके कारण है। अतः ऐसे धनवान् इन्द्रके मित्र हम भी उत्तम धनके स्वामी हों ॥ २२ ॥

Regd. No. G. 71

मुद्रक और प्रकाशक– व. श्री. सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. ' स्वाध्याय-मंडल (पारडी) ' पारडी [बलसार